वैदिक कोश

पं. चन्द्रशेखर उपाध्याय

एवं

श्री अनिल कुमार उपाध्याय

वैदिक कोश

पं. चन्द्रशेखर उपाध्याय
एवं
श्री अनिल कुमार उपाध्याय

1

NAG
PUBLISHERS

वैदिक कोश

भाग १

पं० चन्द्रशेखर उपाध्याय
एवं
श्री अनिल कुमार उपाध्याय
I.A.S.

NAG
PUBLISHERS

नाग प्रकाशक

११ ए/यू. ए. जवाहर नगर,
दिल्ली-११० ००७

THIS PUBLICATION HAS BEEN BROUGHT OUT WITH THE FINANCIAL ASSISTANCE FROM RASHTRIYA SANSKRIT SANSTHAN, NEW DELHI.

NAG PUBLISHERS

(i) 11A/U.A. (Post Office Building), Jawahar Nagar,
Delhi 110 007.
(ii) Sanskrit Bhawan, 12,15, Sanskrit Nagar,
Plot No. 3, Sector 14, Rohini, New Delhi - 110 085
(iii) Jalalpur Mafi, Chunar, Dist. Mirzapur, U. P.

© Author

ISBN 81-7081-292-5

FIRST EDITION : 1995

Price : Rs. 442.00 (3 vol. Set)

PRINTED IN INDIA

Published by Surendra Pratap for Nag Publishers,
11A/U.A., Jawahar Nagar, Delhi-110007 and printed at
G. Print Process, 308/2, Shahzada Bagh, Dayabasti,
Delhi-110035.

Laser Typesetting By:
Compu-Media-The D.T.P. People,
43, Bunglow Road, Kamla Nagar, Delhi-110 007
Phone : 2911869

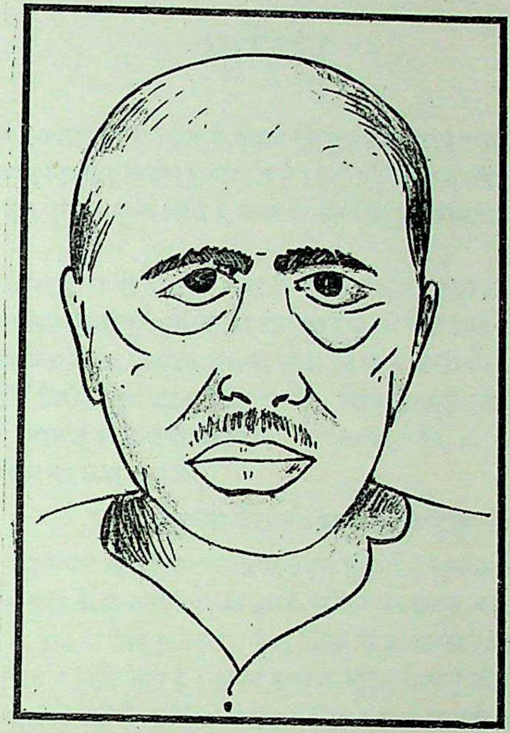

पं चन्द्रशेखर उपाध्याय

जन्म - ११ जनवरी १९०६, ग्राम पैगा, जिला-भोजपुर (बिहार)

निधन - १२ जुलाई १९७६

शिक्षा - एम.ए. साहित्याचार्य, विशारद

कार्यकाल - १९३२ से १९६१ तक बिहार शिक्षा सेवा में कार्यरत । १९६१ से १९६८ तक जनता उच्च विद्यालय, तेनुअज, नटवार, (जिला-रोहतास) के प्रधानाचार्य । ।

साहित्यिक सेवा - पं चन्द्रशेखर उपाध्याय की प्रारंभ से ही हिन्दी एवं संस्कृत साहित्य में गहरी अभिरुचि थी । पूर्णकालिक सरकारी सेवा के साथ साथ साहित्य का गहन अध्ययन एवं कई ग्रन्थों का सृजन चलता रहा । इनकी प्रारम्भिक प्रकाशित पुस्तकें हैं- १. बाल रचना विकास तथा २. प्रतिवेश पाठ की पाठन प्रणाली । इनके अलावे इनके सामयिक निबन्ध तथा फुटकर कविताएं तत्कालीन विभिन्न पत्र पत्रिकाओं में प्रकाशित हुए थे ।

'वैदिक शब्दकोष' जो लगभग दो हजार पृष्ठों का विशाल ग्रन्थ है, इनके सम्पूर्ण सक्रिय जीवन के परिश्रम की परिणति है । एक अन्य महत्वपूर्ण ग्रन्थ 'भास नाटकचक्र ' , जो भास के सम्पूर्ण नाटकों का अनुवाद है, प्रकाशनाधीन है ।

श्री अनिल कुमार उपाध्याय ने जिन्होंने इस ग्रन्थ का सम्पादन किया है, बिहार कैडर के भारतीय प्रशासनिक सेवा के पदाधिकारी हैं । ये अभी बिहार सरकार में सचिव, ऊर्जा विभाग के पद पर कार्यरत हैं । ये पं. चन्द्रशेखर उपाध्याय के पौत्र हैं ।

भूमिका

वेद भारतीय तत्त्वज्ञान का आधारग्रन्थ है । इस तत्त्वज्ञान का दर्शन साक्षात्कृतधर्मा ऋषियों ने किया । वस्तुतः यह अध्यात्मशास्त्र के तत्त्वों से सुसम्पन्न विशाल, विमल शब्दराशि है । इसी की व्याख्या और विश्लेषण के लिये अनेक शास्त्रों का उदय हुआ । यह भारत की एक ऐसी अमूल्य निधि है, जिस पर इस देश की संस्कृति और सभ्यता तथा आचार-विचार अवलम्बित हैं ।

समस्त पुराण, स्मृति और अन्य शास्त्र भी वेद की गरिमा के गुणगान और उसका आधार लेकर प्रवृत्त हुए हैं । शतपथ ब्राह्मण में कहा गया है कि धन-धान्य से परिपूर्ण पृथिवी का दान करने से जो फल प्राप्त होता है, वही फल वेद के अध्ययन से भी प्राप्त होता है । वेद का अध्येता मानव शाश्वत अक्षय्य लोक को प्राप्त करता है-

“यावन्तं ह वै इमां पृथिवीं वित्तेन पूर्णां ददत् लोकं जयति- त्रिभिस्तावन्तं जयति, भूयांसं च अक्षय्यं च य एवं विद्वान् अहरहः स्वाध्यायमधीते, तस्मात् स्वाध्यायोऽध्येतव्यः” ।(शत० ब्रा० ११ ।५ ।६ ।१)

उपनिषद्वाक्यों में एक स्थान पर कहा गया है-

“सर्वा वै देवता वेदविदि ब्राह्मणे प्रतिष्ठिताः” ।

यह समस्त ज्ञान वस्तुतः मानव मात्र के कल्याण के लिए प्रवृत्त हुआ है । मानवमात्र का यह स्वभाव है कि वह सुख प्राप्त करना चाहता है और हठात् दुःख के प्राप्त होने पर भी उसके परिहार का प्रयत्न करता है । वह सदा से सुख की प्राप्ति एवं दुःख की निवृत्ति के उपायों के ज्ञान के लिए सचेष्ट है । सुख किसी के प्रयत्न का साक्षात् विषय नहीं है अपितु वह फल है । इस फल के उद्देश्य से ही प्रयत्न किये जाते हैं । मानव सुख के मुख्य साधनों की जिज्ञासा के लिए आतुर रहता है । ये सुख के साधन केवल प्रत्यक्षदृष्ट ही नहीं हैं, क्योंकि प्रत्यक्ष में दिखने वाले साधनों के रहते हुए भी बहुतों को सुख की अनुभूति नहीं देखी जाती । धनिक हो या गरीब, राजा हो या रंक, सभी सुख की खोज में भटकते देखे जाते हैं । सुख के साधनों में बाह्य उपकरणों की प्राप्ति भी सापेक्ष है । किन्हीं को ये साधन अनायास ही प्राप्त हो जाते हैं, किन्हीं को प्रयत्न करने पर भी प्राप्त नहीं होते । उनका कोई न कोई नियामक होता है । उसके विषय में तार्किकों का तर्क भी मौन है, फिर उपमान की तो बात ही क्या ? बचा शब्द, शब्दों में लौकिक शब्द केवल लौकिक ज्ञान को विषय बनाता है, न कि अलौकिक को । अतः अलौकिक उपाय के प्रदर्शन अर्थात् ज्ञान के लिए अलौकिक शब्द का ही आश्रय लेना होगा और वह शब्द है ‘वेद’ । इसीलिये कहा गया है-

प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न बुध्यते ।
एतं विदन्ति वेदेन तस्माद् वेदस्य वेदता ॥

आचार्य भगवान् श्रीशङ्कर ने भी कहा है-

“सर्वोऽप्ययं वेदः प्रत्यक्षानुमानाभ्यामनवगतेष्टानिष्टप्राप्तिपरिहारोपायप्रकाशनपरः, सर्वपुरुषाणां निसर्गत एव तत्प्राप्तिपरिहारयोरिष्टत्वात्” । इति ।

इसका सार यह है कि प्रत्यक्ष और अनुमान से जिस उपाय को नहीं जाना जा सकता, उसको वेद के माध्यम से जाना जा सकता है । यही वेद की वेदता है ।

भारतीय संस्कृति धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष-ये चार पुरुषार्थ स्वीकार करती है । इन चार पुरुषार्थों के मध्य मोक्ष ही चरम पुरुषार्थ है, क्योंकि वह आत्यन्तिक सुखस्वरूप है, अतएव नित्य है । अवशिष्ट तीनों पुरुषार्थ नश्वर होने पर भी पुरुष की कामना के विषय होने के कारण वे पुरुषार्थ माने जाते हैं । ये पुरुषार्थ अनित्य सुखरूप एवं अनित्य साधन होने के कारण अनित्य हैं । वेद दोनों के ही उपायों का प्रदर्शन करता है । ऐहिक और पारलौकिक सुख का साधन धर्म है तथा मोक्षरूप नित्य सुख का साधन तत्त्वज्ञान है । दोनों ही केवल वेद मात्र से समधिगम्य हैं । जैसे धर्म की वेदैक समधिगम्यता-

"वेदो धर्ममूलम्" (गौ०ध०सू०)
"उपदिष्टो धर्मः प्रतिवेदम्" (बौ० ध० सू०)
"श्रुतिस्मृतिविहितो धर्मः" (वा.ध.)
"वेदोऽखिलो धर्ममूलम्" (मनु०)
"चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः (जै. सू.)

इत्यादि अनेक स्मृति-वचनों से सिद्ध है। इसी प्रकार तत्त्वज्ञान भी वेद से ही सम्भव है। भगवान् शङ्कर ने अपने ब्रह्मसूत्र-शाङ्कर भाष्य में कहा है-

"योऽसावुपनिषत्स्वेवाधिगतः पुरुषोऽसंसारी ब्रह्म"।

पुनः वहीं पर कहा है कि आत्मा तो 'अहंप्रत्यय' का विषय भी होता है। ऐसी स्थिति में आत्मा भी उपनिषद् से ही गम्य है। अत एव **"तत्तु समन्वयात्"** इस सूत्र तथा इसके भाष्य के माध्यम से-

"सदेव सोम्येदमग्र आसीत्, एकमेवाद्वितीयम्"। (छा०)
"आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्"। (ऐत:)
"तदेतद् ब्रह्मापूर्वमपरमनन्तमिदमबाह्यम्" "अयमात्मा ब्रह्म सर्वानुभूः"। (बृह०)
"ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्तात्"। (मुण्डक.)

इत्यादि समस्त वेदवाक्यों का तात्पर्य अद्वैत ब्रह्म में ही प्रतिपादित किया गया है। ब्रह्म ही तत्त्व पदार्थ है, क्योंकि वही यथार्थ है। **"तत्त्वं ब्रह्मणि याथार्थ्ये"** इस कोशवाक्य के अनुसार तत्त्व नाम ब्रह्म का है। ब्रह्म के ज्ञान से ही मोक्षरूप परम पुरुषार्थ की प्राप्ति होती है। **"तमेव विदित्वा......"** इत्यादि श्रुति में एवकार से मोक्ष के अन्य साधनों का निषेध किया गया है। अतएव **"आत्मा वाऽरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यः"** इस वेदवाक्य में वेदान्त श्रवण को आचार्यों ने विधि माना है और यह स्वीकार किया है कि सुखसाधन का ज्ञान वेद से ही सम्भव है। अतः वेद की उपादेयता निर्विवाद सिद्ध है।

भारतीय आचार्यों ने ईश्वर के विरोध को तो सहन कर लिया, किन्तु वेद का आंशिक विरोध भी उनके लिये सह्य नहीं हुआ। आस्तिकता और नास्तिकता का मूल वेद को ही स्वीकार किया गया। ईश्वर को मानें या न मानें। किन्तु जिन्होंने वेदों का प्रामाण्य स्वीकार किया, उनको आस्तिक और जिन्होंने वेद का प्रामाण्य स्वीकार नहीं किया, उनको नास्तिक कहा गया। आचार्य पाणिनि के अनुसार आस्तिक और नास्तिक शब्द की सिद्धि **"अस्ति नास्ति दिष्टं मतिः"** इस सूत्र से होती है, जिसका अर्थ है- जो परलोक, अर्थात् जन्मान्तर को मानता है, वह आस्तिक है और जो परलोक एवं जन्मान्तर को नहीं मानता, वह नास्तिक है। परलोक, अर्थात् जन्मान्तर का निर्णय भी वेद के ही अधीन है। अतएव भगवान् शङ्कराचार्य ने कहा है-

"न चासति जन्मान्तरसम्बन्धात्मास्तित्वविज्ञाने जन्मान्तरेष्टानिष्टप्राप्तिपरिहारेच्छा स्यात्, स्वभाववादिदर्शनात्। तस्माज्जन्मान्तरसम्बन्ध्यात्मास्तित्वे जन्मान्तरेष्टानिष्टप्राप्तिपरिहारोपायविशेषे च शास्त्रं प्रवर्तते। (ब्र०सू०भा०)

नाचिकेतोपाख्यान में कहा है-

"येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्येऽस्तीत्येके नायमस्तीति चैके"।

मनुष्य की मृत्यु के उपरान्त जीवात्मा रहता है या नहीं रहता? यह प्रश्न उपस्थापित कर उसका उत्तर देती हुई श्रुति कहती है-

"अस्तीत्येवोपलब्धव्यः"।

अर्थात् यह जीवात्मा मृत्यु के अनन्तर भी 'अस्ति' (है) इसी प्रकार ज्ञातव्य है। इसी प्रसङ्ग में कहा गया है।

"यथा च मरणं प्राप्य"।

इस रूप में प्रारम्भ कर—

“योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः ।
स्थाणुमन्येऽनुसंयन्ति यथाकर्म यथाश्रुतम्” ।

इसका अभिप्राय यह है कि मनुष्य अपने कर्म एवं ज्ञान के अनुसार शरीर धारण करने हेतु कुछ भिन्न योनि को प्राप्त करते हैं और कुछ स्थाणु भाव को प्राप्त हो जाते हैं । इस प्रकार स्पष्ट रूप में भिन्न-भिन्न योनियों में जन्मान्तर का ही निरूपण है ।

भारतीय संस्कृति का मूल आधार भी वेद ही है । संस्कारों से विहीन प्राणी मनुष्य नहीं कहा जा सकता, संस्कारों से युक्त होने पर ही वह मनुष्य कहा जाता है । अड़तालीस या सोलह संस्कारों का विधान वेद करता है । संस्कारों से युक्त प्राणी विवेकपूर्वक कार्य करता है । विवेकहीन मनुष्य और पशु में कोई अन्तर नहीं है । माता, पिता तथा आचार्य के प्रति समादर भाव की शिक्षा वेद द्वारा ही प्राप्त होती है । भारत भूमि के निवासी अपठित व्यक्ति के द्वारा किया गया व्यवहार भी शिष्टानुमोदित होने पर वेदोपदिष्ट ही माना जाता है, क्योंकि वेदवाक्य उपलब्ध न होने परं शिष्टाचार ही प्रमाण माना जाता है । जैसा कि कहा गया है-

“यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः ।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ।। (गीता)
“धर्मज्ञसमयः प्रमाणम्, तदलाभे शिष्टाचारः प्रमाणम्” । (वा.ध.)

इसी प्रकार आपस्तम्बधर्म सूत्र भी कहता है–

“नहि धर्माधर्मौ चरत आवां स्व इति न देवगन्धर्वाः, न पितर इत्याचक्षतेऽयं धर्मोऽयमधर्म इति, यं त्वार्याः क्रियमाणं प्रशंसन्ति स धर्मो यं गर्हन्ते सोऽधर्मः” । इति । (आ०ध०सू०)

वेद स्वयं कहता है-

“अथ यदि ते कर्मविचिकित्सा वृत्तविचिकित्सा वा स्यात्, ये तत्र ब्राह्मणाः संमर्शिनः युक्ता अयुक्ता अलक्षा धर्मकामाः स्युः । यथा ते तत्र वर्तेरन्, तथा तत्र वर्तेथाः” इति ।

जिस प्रकार परमेश्वर सर्वत्र समान है, उसी प्रकार उनका वैदिक धर्म भी साक्षात् या परम्परया प्राणिमात्र का परम उपकारी है । वेद की यह महती विशेषता है कि वह मानवमात्र के हित का उपदेश देता है । **“सत्यं वद,” “धर्मं चर”, स्वाध्ययान्मा प्रमद” “मातृदेवो भव, पितृ देवो भव, आचार्यदेवो भव”** इत्यादि उपदेश किसी के लिए भी हानिकारक नहीं हैं, चाहे वह किसी भी सम्प्रदाय का हो, **“सत्यं वद”** आदि आचार सबके लिए आदरणीय तथा हितकर हैं ।

भाषा की दृष्टि से भी वेद परमेश्ववर के समान सर्वसाधारण है । विश्व के विभिन्न धर्म-ग्रन्थ भिन्न-भिन्न देशों की भाषाओं में हैं, किन्तु ‘वेद’ संस्कृत-भाषा में निबद्ध है । संस्कृत-भाषा किसी देशविशेष या प्रदेशविशेष या सम्प्रदायविशेष की भाषा न होकर ‘देवभाषा’ है । ‘देवभाषा’ सभी के लिये समान है । कुछ लोग इसे आर्यों की भाषा कहते हैं, किन्तु यह कथन सर्वथा व्यर्थ है, क्योंकि आर्य लोग तो मनुष्य ही थे और यह भाषा मनुष्यों की न होकर ‘देवभाषा’ है । इसीलिए वाल्मीकि रामायण में -

“अवश्यमेव वक्तव्यं मानुषं वाक्यमर्थवत् ।
मया सान्त्वयितुं शक्या नान्यथेयमनिन्दिता ।।
यदि वाचं प्रदास्यामि द्विजातिरिव संस्कृताम् ।
रावणं मन्यमाना मां सीता भीता भविष्यति” ।।

इत्यादि हनुमान् जी के वाक्यों द्वारा संस्कृत-भाषा तथा मानुषी भाषा (सामान्य जन की अन्य भाषा) का स्पष्ट अन्तर दिखाया गया है । अतः देवभाषा में निबद्ध वेद की अलौकिकता स्पष्ट ही है । वैदिक संस्कृत अत्यन्त उच्च कोटि की है । देवभाषा संस्कृत को लोकोपयोगी बनाने के लिए महर्षि पाणिनि ने सूत्ररूप में कुछ नियमों की रचना की, परन्तु वैदिक संस्कृत में उन नियमों का प्रयोग सम्भव न होने के कारण भगवान् पाणिनि ने वेद के अनुसार ही वैदिक व्याकरण की भी

रचना की । अतः संस्कृत-भाषा में भी वैदिक संस्कृत का अपना एक प्रमुख स्थान है । इस प्रकार भाषा की दृष्टि से वेद का सर्वोच्च स्थान है ।

वेद का मानव जीवन से इतना दृढ़ सम्बन्ध है कि जन्म से मृत्युपर्यन्त सभी स्थितियों में वह मानवजीवन का साथ देता है । वेद मानव को सही मार्ग पर चलने का उपदेश देता है । वेद ईश्वर की आज्ञा है । **"श्रुतिस्मृतिर्ममैवाज्ञे"** इत्यादि वाक्यों से ईश्वर ने वेद को अपनी आज्ञा कहा है । इसीलिए वह शास्त्र कहा जाता है । भगवान् भाष्यकार ने कहा है-

"महतः ऋग्वेदादेः शास्त्रस्यानेकविद्यास्थानोपबृंहितस्य प्रदीपवत्सर्वार्थावद्योतिनः सर्वज्ञकल्पस्य योनिः कारणं ब्रह्म, न हीदृशस्य शास्त्रस्य ऋग्वेदादिलक्षणस्य सर्वज्ञगुणान्वितस्य सर्वज्ञादन्यतः सम्भवोऽस्ति, यथोक्तमृग्वेदादिशास्त्रम्"। इत्यादि।

उक्त भाष्य-वाक्य की व्याख्या करते हुए वाचस्पति मिश्र कहते हैं-

"चातुर्वण्यस्य चातुराश्रम्यस्य च यथायथं निषेकादिश्मशानान्तासु ब्राह्ममुहूर्तोपक्रमप्रदोषपरिसमापनीयासु नित्यनैमित्तिककाम्यकर्मपद्धतिषु च ब्रह्मत्वे च शिष्याणां शासनात् शास्त्रमृग्वेदादि"।

अतएव तैत्तिरीय श्रुति में स्पष्ट कहा गया है ।

"एष आदेशः, एष उपदेशः, एषा वेदोपनिषत्, एतदनुशासनम्" इत्यादि।

वेद को परम उपादेय मानकर शास्त्रकारों ने वेदाध्ययन की भूरि-भूरि प्रशंसा की है । आदित्य द्वारा उपदिष्ट "शुक्लयजुर्वेद" के मुख्य अध्येता, मन्त्रद्रष्टा, ब्रह्मर्षि , योगी याज्ञवल्क्य ने मुक्तकण्ठ से वेद को कल्याणकारक कहा है-

"यज्ञानां तपसां चैव शुभानां चैव कर्मणाम् ।
वेद एव द्विजातीनां निःश्रेयसकरः परः ।।
मधुना पयसा चैव स देवाँस्तर्पयेद् द्विजः ।
पितृन्मधुघृताभ्यां च ऋचोऽधीते हि योऽन्वहम् ।।
यजूंषि शक्तितोऽधीते योऽन्वहं स घृतामृतेः ।
प्रीणाति देवानाज्येन मधुना च पितृंस्तथा ।।
स तु सोमघृतैर्देवांस्तर्पयेद् योऽन्वहं पठेत् ।
सामानि तृप्तिं कुर्याच्च पितृणां मधुसर्पिषा ।।
मेदसा तर्पयेद्देवानथर्वाङ्गिरसः पठन् ।
पितृंश्च मधुसर्पिभ्यामन्वहं शक्तितो द्विजः" ।। (याज्ञ०स्मृ० २ ।४०-४४)

भगवान् मनु ने भी वेद की प्रशंसा में कहा है-

"वेदमेव सदाभ्यसेत्तपस्तप्स्यन् द्विजोत्तमः ।
वेदाभ्यासो हि विप्रस्य तपः परमिहोच्यते ।। (मनु. २ ।१६६)
योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम् ।
स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः ।। (तदेव-२-१६८)
वेदप्रदानाचार्यं पितरं परिचक्षते ।
न ह्यस्मिन्युज्यते कर्म किञ्चिदामौञ्जिबन्धनात् ।। तदेव-२ ।१७१)
चातुर्वर्ण्यं त्रयो लोकाश्चत्वारश्चाश्रमाः पृथक् ।
भूतं भव्यं भविष्यच्च सर्वं वेदात्प्रसिद्ध्यति ।। तदेव-१२-९७)
वेदशास्त्रार्थतत्त्वज्ञो यत्र तत्राश्रमे वसन् ।
इहैव लोके तिष्ठन् स ब्रह्मभूयाय कल्पते" ।। तदेव-१२ ।१०२,
"श्रेयःसाधनता ह्येषां नित्यं वेदात्प्रतीयते" । (श्लो०वा)

"सर्वेषां तु स नामानि कर्माणि च पृथक् पृथक् ।
वेदशब्देभ्य एवादौ देवादीनां चकार सः ॥ (विष्णुपुराण- ५ ।६२)

वेद ही समस्त संस्कृतवाङ्मय का आधारभूत है । **"वेदो ज्ञानराशिः"** यह कथन पूर्णतः तथ्य है । समस्त भारतीय ग्रन्थों में प्राचीनतम ग्रन्थ वेद ही है । परवर्ती सभी धर्मग्रन्थों तथा समस्त शास्त्रों का उत्पत्ति-स्थान भी वेद ही है । भारत के सभी शास्त्र एवं समग्र कलाएँ तो वेदमूलक हैं ही, साथ ही प्राचीन काल से परम्पराप्राप्त सामाजिक व्यवस्था का मूल भी वेद ही है ।

वेद का स्वरूप

वेद के स्वरूप पर दृष्टिपात करने पर वेद का विपुल स्वरूप, विराट् कलेवर सामने आता है । वेद-शब्द की उत्पत्ति 'विद्' धातु से होती है । महर्षि पाणिनि के अनुसार विद् धातु अनेक अर्थों में वर्णित है- 'विद् ज्ञाने, विद् विचारणे, विद्लृ लाभे, विद् सत्तायाम्' (ज्ञान, विचारण, सत्ता एवं लाभ) । इसमें यदि ज्ञान तथा विचारण को एक ही माना जाय, तो भी ज्ञान, सत्ता और लाभ ये तीन अर्थ विद् धातु के होते ही हैं । करणादि अर्थ में विहित घञ्प्रत्यान्त वेद शब्द के ज्ञान, ज्ञान का साधन, ज्ञान का अधिकरण, सत्ता, सत्ता का साधन, सत्ता का अधिकरण एवं स्थिति, स्थिति का साधन, स्थिति का अधिकरण आदि अनेक अर्थ होने पर भी ज्ञान एवं ज्ञान का साधनरूप अर्थ ही प्रसिद्ध हैं । तदनुसार वेद समस्त ज्ञान-विज्ञानों का आकर है । ज्ञान के साधनादि का निरूपक होने पर भी मुख्य रूप से वेदशब्द ज्ञानराशि के वाचक शब्दसमुदायरूप ग्रन्थविशेषों में ही प्रयुक्त होता है ।

वेद का कलेवर अत्यन्त विशाल है, क्योंकि वैदिक परिधि के अन्तर्गत चार वेद, चार उपवेद, वेदों की सहस्रों शाखाएँ, ब्राह्मणभाग, तत्तत् श्रौतसूत्र, धर्मसूत्र, अङ्ग एवं उपाङ्ग इत्यादि सभी समाविष्ट हैं ।

ऋग्, यजुः, साम तथा अथर्व-ये चार वेद प्रसिद्ध हैं । इनमें भी **"त्रयो वेदा अजायन्त" "त्रयी सांख्यं योगः"** इत्यादि उक्तियों के अनुसार प्राचीनकाल में ऋग्, यजुः साम-यह वेदत्रयी ही प्रसिद्ध थी, किन्तु भगवान् वेदव्यास ने कुछ भाग अलग कर उसे 'अथर्व' संज्ञा दे दी तथा वेदों का चतुर्धा विभाग कर अपने सुमन्तु, जैमिनि, वैशम्पायन तथा पैल्वल नामक शिष्यों को क्रमशः अथर्व, साम, यजुः और ऋग्वेद का उपदेश दिया । इनमें यजुर्वेद के आचार्य वैशम्पायन के प्रमुख शिष्य याज्ञवल्क्य थे, किन्तु किसी कारणविशेष से वैशम्पायन अपने शिष्य याज्ञवल्क्य से रुष्ट हो गये और उनसे अपने द्वारा प्रदत्त विद्या लौटाने को कहा । गुरु के आदेशानुसार याज्ञवल्क्य ने अधीत वान्तसंहिता नामक यजुर्वेदविद्या का वमन कर दिया । अन्य शिष्यों ने तित्तिर (तित्तिर) पक्षी का रूप धारण कर उक्त संहिता को आत्मसात् कर लिया । तित्तिर के रूप से गृहीत होने से वह तैत्तिरीय-संहिता कही गई । पश्चात् याज्ञवल्क्य ने भगवान् आदित्य की उपासना कर नवीन यजुर्वेद संहिता प्राप्त कर ली । इनमें वैशम्पायन के द्वारा पूर्व उपदिष्ट विद्या मन्त्र तथा ब्राह्मण भाग- दोनों मिश्रित होने से 'कृष्णयजुर्वेद' नाम से एवं याज्ञवल्क्य के प्रति आदित्य द्वारा उपदिष्ट विद्या यज्ञानुष्ठानादि विनियोज्य मन्त्रों का सङ्कलन होने से 'शुक्लयजुर्वेद' नाम से प्रसिद्ध है । इस प्रकार यजुर्वेद के दो सम्प्रदाय, दो धाराएँ प्रसिद्ध हुईं ।

वैदिक शाखाओं के विषय में अनेक मतभेद हैं तथा उन शाखाओं के अवान्तर भेदविस्तार भी विवादग्रस्त ही हैं, अतः हमें उस विवाद में न पकड़कर शाखाओं की संख्या के विषय में व्याकरण महाभाष्य के प्रणेता भगवान् पतञ्जलि के वाक्य को ही उद्धृत करना उचित प्रतीत होता है -

"एकशतमध्वर्युशाखाः सहस्रवर्त्मा सामवेदः ।
एकविंशतिधा बाह्वृच्यं नवधाथर्वणो वेदः" । (पस्पशा०)

इस वाक्य के अनुसार यजुर्वेद की एक सौ एक, सामवेद की एक हजार, ऋग्वेद की इक्कीस और अथर्ववेद की नौ शाखाएँ हैं ।

यहां यह अवश्य ज्ञातव्य है कि शाखाशब्द अवयवविशेष का वाचक नहीं है जैसे रामायण के छः काण्ड हैं या महाभारत

के १८ पर्व हैं। ये काण्ड तथा पर्व उनके अवयव हैं, क्योंकि एक काण्ड दूसरे काण्ड से एवं एक पर्व दूसरे पर्व से सम्बद्ध है, अतएव उन सभी काण्डों के समुदाय का नाम 'रामायण' तथा पर्वों के समुदाय का नाम 'महाभारत' है और वे एक-एक ग्रन्थ हैं, परन्तु वेद की ये शाखाएं परस्पर सापेक्ष तथा सम्बद्ध नहीं है, अपितु सभी स्वतन्त्र हैं। अत: जिस वेद की जितनी शाखाएं हैं, सब का समुदाय एक नहीं है, अपितु प्रत्येक शाखा ही उस वेद के नाम से व्यवहृत होती है और उस एक शाखा के अध्ययन से भी वेदाध्ययन का विधान पूर्ण मान लिया जाता है। अतएव पतञ्जलि मुनि के उक्त वाक्य के अनुसार शाखाओं की संख्या के उपलब्ध न होने पर भी सभी वेदों की जो अत्यन्त अल्पीयसी संख्या प्राप्त होती है, उसमें किसी एक शाखा का अध्ययन भी **"स्वाध्यायोऽध्येतव्य:" "ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्म: षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च"** इत्यादि विधिवाक्यों का विषय हो जाता है, किन्तु दुर्भाग्य से अथवा युग के प्रभाव से उपर्युक्त संख्याक तत्तद्वेदीय शाखाओं में भी अधिकतर शाखाएं विलुप्त प्राय हो गई हैं। प्रत्येक वेद की कतिपय शाखा ही आजकल उपलब्ध है। जैसे शुक्ल एवं कृष्ण उभय प्रकार के यजुर्वेद की एक सौ एक शाखाओं में से केवल पांच शाखाएं ही उपलब्ध हैं। शुक्लयजुर्वेद की — काण्व और माध्यन्दिनी तथा कृष्णयजुर्वेद की तैत्तिरीय, कठ एवं मैत्रायणी। सामवेद की एक हजार शाखाओं में कौथुमी, जैमिनीया और राणायनीया शाखाएं ही उपलब्ध हैं। ऋग्वेद की इक्कीस शाखा में से दो ही शाखाएं प्राप्त होती हैं-एक वाष्कला और दूसरी शाकला। इसी प्रकार अथर्ववेद की नौ शाखाओं में पिप्पलाद एवं शौनक दो शाखाएं ही उपलब्ध होती हैं।

"मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्" (आप. श्रौ.सू. २४।१।३१) इस आपस्तम्ब श्रौतसूत्र के अनुसार मन्त्रब्राह्मणात्मक शब्दराशिविशेष का नाम वेद है। वेद के मन्त्रभाग को संहिता भाग कहते हैं। दूसरे का नाम ब्राह्मणभाग है। उपर्युक्त वेद के लक्षण में मन्त्र और ब्राह्मण दोनों का ही समावेश है।

पूर्वमीमांसा के अनुसार मन्त्र उसे कहते हैं जिसमें द्रव्य, देवता और क्रिया-कलाप आदि का वर्णन हो और ब्राह्मण उसे कहते हैं जो उन मन्त्रों का यथोचित विनियोग और प्रयोग बतलाते हुए स्वरूप का परिचय कराता है। अतएव मन्त्रभाग के साथ ब्राह्मणभाग प्राय: अनिवार्य रूपेण रहता है। जैसे शुक्लयजुर्वेदीय माध्यन्दिन और काण्व दोनों शाखाओं के ब्राह्मण भी पृथक् हैं, जिनका नाम 'शतपथ' रूप से प्रसिद्ध है। कृष्णयजुर्वेदीय शाखाओं में भी ब्राह्मण लगा हुआ है। यह अवश्य है कि उनमें मन्त्र और ब्राह्मण भागों को पृथक् पृथक् नहीं किया गया है। संहिता में ही पहले कुछ मन्त्र देकर उसी प्रपाठक में ब्राह्मण भी कहे गये हैं। किसी-किसी प्रपाठक या काण्ड में दोनों भाग एक साथ ही वर्णित हैं और कहीं-कहीं भिन्न रूप से। यद्यपि तैत्तिरीय शाखा में मन्त्र और ब्राह्मण भाग पृथक् पृथक् कहे गये हैं, तथापि अनेक मन्त्र ब्राह्मण भाग में और अनेक ब्राह्मण मन्त्रभाग में पाये जाते हैं। मैत्रायणीसंहिता और कठसंहिता में केवल मन्त्रभाग ही मिलता है, ब्राह्मण भाग उपलब्ध नहीं होता। इसी प्रकार अन्य वैदिक शाखाओं की भी स्थिति है।

सभी वेदों में कर्मकाण्ड, उपासनाकाण्ड, तथा ज्ञानकाण्ड-तीन काण्ड होते हैं। कर्मकाण्ड एवं उपासनाकाण्ड में यज्ञादि कर्म-कलाप तथा बाह्य देवार्चनादि का विधान कहा गया है और अन्तिम ज्ञानकाण्ड में तत्त्वज्ञान, अर्थात् आत्मा के यथार्थ स्वरूप का वर्णन मिलता है। जैसे सम्प्रति उपलब्ध यजुर्वेदीय माध्यन्दिन शाखा (संहिता) के ४० अध्यायों में ३९ अध्याय कर्मकाण्ड एवं उपासनाकाण्ड हैं तथा अन्तिम अर्थात् ४० वां अध्याय ज्ञानकाण्ड है। इस ज्ञानकाण्ड के वेद का अन्तिम भाग होने से इसका ही वेदान्त शब्द से व्यवहार किया जाता है। आत्मविद्या का प्रतिपादक होने से उसे उपनिषद् नाम से व्यवहृत करते हैं वही "ईशावास्योपनिषद्" कहा जाता है। यद्यपि कहीं-कहीं उपनिषद् रूप ज्ञानकाण्ड के मध्य भी प्राणादि उपासनाओं का विधान उपलब्ध होता है, किन्तु वह प्रासङ्गिक होता है। उसका भी अन्तिम परम तात्पर्य आत्मतत्त्व के विवेचन में ही है। अत: प्राधान्येन ज्ञान का ही वर्णन होने से वह ज्ञानकाण्ड ही माना जाता है।

"अपौरुषेयं वाक्यं वेद:" (अपौरुषेय वाक्य ही वेद है) इस प्रकार भी वेद का लक्षण प्राप्त होता है। वेद के अपौरुषेयत्व के विषय में न केवल भारतीय तार्किक, दार्शनिक ही, अपितु पाश्चात्य विद्वान् भी इसमें प्रतिपन्न हैं। इस विषय पर आधुनिक पाश्चात्य विद्वानों का कहना है कि वेदों की रचना ईसा पूर्व ४००० वर्ष की है। मन्त्र और ब्राह्मण रूप से दो भागों में विभक्त इस वेदराशि- जिसे आर्यों के धर्मग्रन्थों में सर्वोच्च स्थान प्राप्त है- की रचना आर्यावर्त्तनिवासी बहुत विषयों के ज्ञाता प्राचीन

महाज्ञानी किसी महर्षि की है । इनमें पहले मन्त्रभाग की रचना हुई है, तत्पश्चात् ब्राह्मण भाग की । सर्वप्रथम 'ऋग्वेद' की रचना की गयी, अतएव वह संसार के वाङ्मय में सबसे प्राचीन 'ऋग्वेद' है । 'यजुर्वेद' आदि अन्य वेद तो बाद के हैं ।

पाश्चात्य विद्वानों का उक्त मत भ्रमपूर्ण एवं कपोलकल्पित होने से अप्रामाणिक है, अतएव भारतीय दार्शनिकों की दृष्टि में उसका कोई स्थान नहीं है । यदि किसी प्राचीन महर्षि के द्वारा वेदों की रचना होती, तो यह सम्भव ही नहीं था कि वेदों के रचयिता का संस्मरण न होता । जैसे अतिप्राचीन 'वैशेषिकसूत्र' आदि ग्रन्थों के रचयिता का स्मरण आज़ भी निर्विवाद रूप में जागृत है । यदि वेद पौरुषेय होता, तो सामान्य जन को भले ही उसके रचयिता का स्मरण न होता, किन्तु अतिप्राचीन सर्वज्ञकल्प भगवान् बादरायण व्यास, उनके शिष्य भगवान् जैमिनि, योग आदि दर्शनों के आचार्य पतञ्जलि, मीमांसा के आचार्य काशकृत्स्न-जिनका अतिप्राचीनरूप से महाभाष्यादि ग्रन्थों में महर्षि पतञ्जलि, पाणिनि तथा कात्यायन आदि ने उल्लेख किया है- को तो अवश्य ही वेद के रचयिता का स्मरण होता और इनमें से किसी एक ने तो वेदों को महर्षि-प्रणीत माना होता । इनमें से किसी ने भी वेदों को पौरुषेय नहीं माना है ।

महर्षि जैमिनि ने **"उक्तं तु शब्दपूर्वकम्"** इत्यादि सूत्रों के द्वारा वेद के पौरुषेयत्व का खण्डन करते हुए कहा है कि साम्प्रतिक वेदाध्यायी नियमतः गुरुमुख से ही वेदाध्ययन करते देखे जाते हैं एवं उनके गुरु ने भी अपने गुरु के मुख से अध्ययन किया है, न कि पुस्तक आदि का अवलोकन कर स्वयं ही । सदैव इसी प्रकार की अध्ययनपरम्परा अनादिकाल से चली आ रही है । इसे ही अनुमानाकार में भट्टपाद ने 'श्लोकवार्तिक' में कहा है ।

"वेदस्याध्ययनं सर्वं गुर्वध्ययनपूर्वकम् ।
वेदाध्ययनसामान्यदधुनाध्ययनं यथा" ।। (श्लो० वा० ३६६)

अर्थात् सभी वेदाध्ययन गुरुकृत वेदाध्ययनपूर्वक ही होता है, वेदाध्ययन होने से, जैसा कि आधुनिक वेदाध्ययन । शाबर भाष्यकार भी स्पष्ट कहते हैं-

"एतस्मात्कारणादवगच्छामो न कृत्वा सम्बन्धं व्यवहारार्थं केनचिद् वेदाः प्रणीता इति, यद्यपि च विस्मरणमुपपद्येत तथापि न प्रमाणमन्तरेण सम्बद्धारं प्रतिपद्येमहि । यथा विद्यमानस्यापि अनुपलम्भनं भवतीति नैतावता विना प्रमाणेन शशविषाणं प्रतिपद्यामहे" । (शा. भा. १ ।१ ।५)

(इस कारण से हमें यह ज्ञात होता है कि सम्बन्धकृत व्यवहार के लिए किसी ने वेदों का प्रणयन नहीं किया । यद्यपि कर्ता का विस्मरण हो सकता है, तथापि प्रमाण के बिना निबद्धा (कर्ता) को हम नहीं मान सकते । जैसे विद्यमान की भी अनुपलब्धि होती है । किन्तु इस प्रकार प्रकट प्रमाण के विना शशशृङ्ग को हम स्वीकार नहीं कर सकते ।)

इसी प्रकार 'शास्त्रदीपिका' में पार्थसारथि ने स्पष्ट शब्दों में कहा है-

"येऽपि पौरुषेयतां मन्यन्ते, तेऽपि नैव परम्परया तत्र कर्तृविशेषस्मरणं शक्नुवन्ति वदितुम्, सामान्यतोदृष्टेन कर्तारमनुमाय स्वाभिमतं कर्तारं तत्र निक्षिपन्ति । केचिदीश्वरम्, अन्ये हिरण्यगर्भम्, अपरे प्रजापतिम् । न चायं नानाविधो विवादः परम्परया कर्तरि मन्वादिवत् स्मर्यमाणे कथञ्चिदिव कल्पते । न हि मानवे, भारते, शाक्यग्रन्थे वा कर्तृविशेषं प्रति कश्चिद् विवदते । तस्मात् स्मर्तव्यत्वे सति अस्मरणाद् दृश्यादर्शनबाधितं सामान्यतो दृष्टं न शक्नोति कर्तारमवसादितुम्" । (शा.दी. १ ।१ ।८)

(अर्थात् जो लोग वेदों को पौरुषेय मानते हैं, वे भी 'परम्परा द्वारा वेद में अमुक कर्ता का हमें स्मरण होता है" ऐसा नहीं कहते, किन्तु सामान्यतः दर्शन (देखने) से कर्ता का अनुमान कर मनमाने कर्ता को वेद पर लादते हैं । कोई ईश्वर को, कोई हिरण्यगर्भ को और कोई प्रजापति को वेदकर्ता मान लेते हैं । यह विविध प्रकार का विवाद परम्परा द्वारा मनु आदि के समान स्मर्यमाण किसी कर्ता के सम्बन्ध को किसी प्रकार भी ठहरा नहीं सकता । मनुस्मृति, महाभारत अथवा किसी बौद्धग्रन्थ के कर्ता के विषय में कोई भी विवाद नहीं करता । अतः स्मरणीय होने पर भी स्मरण न होने से दृश्य के अदर्शन से बाधित सामान्यतोदृष्ट किसी कर्ता को अवगत (अवधारित) कराने में समर्थ नहीं हो सकता) ।

इससे सिद्ध है कि वेद का निर्माता कोई नहीं है, अनादिकाल से वेदाध्ययन की परम्परा चली आ रही है। अत: वेद 'अपौरुषेय' ही है।

यद्यपि न्यायवैशैषिक आदि भारतीय दर्शनकार भी वेद को ईश्वर से उपदिष्ट मानकर वेद में पौरुषेयत्व को सिद्ध करने का प्रयास करते हैं, तथापि उत्तरमीमांसा के पर्यालोचना से एक मध्य मार्ग भी सामने आता है, जिससे मीमांसा एवं न्याय दोनों शास्त्रों का सामञ्जस्य भी बना रह सकता है और वेद का अपौरुषेयत्व भी।

वह मार्ग यह है कि वेद परमेश्वर के द्वारा उपदिष्ट अवश्य है, किन्तु रचित नहीं है। रचना उसे कहते हैं जो प्रमाणान्तर से अर्थ को उपलब्ध कर पूर्व उच्चारणादि से निरपेक्ष उपदेश दिया जाय या कहा जाय। अतएव चित्सुखाचार्य ने कहा है-

"श्रुतीनामीश्वराज्जन्म केवलं श्रुतिषु श्रुतम्।
मानान्तरोपलब्धेऽर्थे रचना तु न मीयते" ॥ (चि. १)

अभिप्राय यह है कि सजातीय उच्चारण-अनपेक्ष उच्चारण का विषय होना पौरुषेयत्व है और सजातीय उच्चारण-सापेक्ष उच्चारण का विषय होना ही अपौरुषेयत्व है। सृष्टि के आदिकाल में ब्रह्मा के प्रति या महर्षियों के प्रति वेद का उपदेश परमेश्वर ने पूर्वकल्पीय वेद का स्मरण कर तत्सापेक्ष ही किया है। अत: वह अपौरुषेय है।

"तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे।
छन्दांसि यज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत" ॥

"त्रयो वेदा अजायन्त" "ऋग्वेद एवाग्नेरजायत, यजुर्वेदो वायोः, सामवेद आदित्यात्" " इदं सर्वमसृजत् ऋचो यजूंषि सामानि"। इत्यादि श्रुतिवाक्यों से वेद के ईश्वरोपदिष्ट होने में किसी को भी विप्रतिपत्ति नहीं हैं। मीमांसा के आचार्य श्री भट्टपाद ने भी स्वयं-

"यत्नत: प्रतिषेध्या नः पुरुषाणां स्वतन्त्रता"।

(हम मीमांसक वेद के उपदेश में पुरुष अर्थात् परमेश्वर की स्वतन्त्रता का प्रयत्नपूर्वक निषेध करते हैं)।

इत्यादि कहते हुए आनुमानिक ईश्वर को न मानने पर भी वैदिक ईश्वर को पुरुष-शब्द से स्वीकार कर वेद के उपदेश में उसके स्वातन्त्र्य का ही निषेध किया है। अतएव भट्टपादोक्त **"विशुद्धज्ञानदेहाय"** इत्यादि मङ्गल भी यथाश्रुत ही सङ्गत हो जाता है।

आप्तोक्ततया वेद के प्रामाण्य के स्वीकर्ता न्यायादि दर्शन के आचार्यों को भी उक्त मार्ग के मानने में कोई विप्रतिपत्ति नहीं है, क्योंकि उक्त रूप से भी वेद के ईश्वरोक्त होने से उसके प्रामाण्य की लेशमात्र भी क्षति नहीं है। अतएव-

"सर्वज्ञात्सर्वशक्तेश्च मत्तो वेदः समुत्थितः।
अज्ञानस्य ममाभावादप्रमाणा न च श्रुतिः ॥
युगान्तेऽन्तर्हितान् वेदान् सेतिहासान्महर्षयः।
लेभिरे तपसा पूर्वमनुज्ञाता स्वयंभुवा" ॥

इत्यादि पुराणवचनों की सङ्गति हो जाती है।

उपर्युक्त सभी वेद अर्थत: अत्यन्त दुरधिगम्य हैं। वेदों के तात्पर्य का ज्ञान करना अत्यन्त कठिन कार्य है। अत एव-

"कश्छन्दसां योगमावेद धीरः" (वेदों के तात्पर्य का ज्ञान कौन धीमान् कर सकता है?)
"विभेत्यल्पश्रुताद्वेदो मामयं प्रहरिष्यति।

इतिहासपुराणैश्च कृतोऽयं निश्चयः पुरा" ॥ (स्क० पु. रेवा., १।२१)
"इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्।
विभेत्यल्पश्रुताद्वेदो मामयं प्रहरेदिति" ॥ (महाभारत)

इत्यादि वाक्य वेदार्थ के दुरधिगम होने का संकेत करते हैं । वेदों के दुरधिगमत्व का एक प्रमुख कारण यह भी है कि वेदों में प्रयुक्त पद एवं वाक्य लौकिक संस्कृत भाषा में प्रयुक्त एवं व्यवहार में प्रचलित पदों तथा वाक्यों की अपेक्षा विलक्षण तथा नूतन हैं और जब तक तद् घटक पद-पदार्थ का ज्ञान न हो, तब तक तत्प्रतिपाद्य पदार्थ का ज्ञान भी होना सम्भव नहीं है । न केवल वेदार्थ के विषय में ही यह नियम है, अपितु सभी वाङ्मय में यह साधारण नियम है कि पद-पदार्थ ज्ञान के बिना वाक्यार्थ ज्ञान नहीं हो सकता तथा पद-पदार्थ का ज्ञान शक्तिग्रह के बिना नहीं हो सकता । अतएव पदार्थ-ज्ञान के लिए पद-पदार्थ के सम्बन्ध रूप शक्तिग्रह को अत्यावश्यक मानकर आचार्यों ने-

"शक्तिग्रहं व्याकरणोपमानकोशाप्तवाक्याद् व्यवहारतश्च ।
वाक्यस्य शेषाद् विवृतेर्वदन्ति सान्निध्यतः सिद्धपदस्य वृद्धाः" ।।

इस पद्य में शक्तिग्रहों का संग्रह किया है । इन शक्तिग्राहकों में एक प्रमुख शक्तिग्राहक 'कोश' है, जो कि अत्यन्त आवश्यक है । अनेक रूढ़ एवं व्याकरणादि से अव्युत्पन्न शब्द उपलब्ध होते हैं, जिनका शक्तिग्रह व्याकरणादि से सम्भव नहीं है । वहां एकमात्र कोश ही शक्तिग्राहक होता है और उससे तत्तत्पदों से तत्तत्पदार्थ का ज्ञान हो पाता है । अतएव वेदार्थज्ञान के लिए भी कोश अत्यन्त आवश्यक है । यद्यपि-

"कोषोऽस्त्री कुड्मले खडगपिधानेऽर्थौघदिव्ययोः" । (अमर०)
"कोशोऽस्त्री कुड्मले पात्रे दिव्ये खड्गपिधानके ।
जातिकोशेऽर्थसंघाते पेश्यां शब्दादिसङ्ग्रहे " ।। (मेदिनी)

इत्यादि कोशवचनों के आधार पर कोश या कोष शब्द अनेकार्थक है, तथापि प्रकृत में कुश् या कुष् धातु से घञ्प्रत्यय से निष्पन्न कोश या कोष शब्द का **'कुश्यन्ते संश्लिष्यन्ते संगृह्यन्ते शब्दपर्यायाः शब्दा वा यत्र यस्मिन् ग्रन्थे'** इस व्युत्पत्ति के अनुसार शब्दपर्यायज्ञापक ग्रन्थविशेष में प्रयोग किया गया है ।

वेदार्थ ज्ञान में सहायता के उद्धेश्य से वैदिक शब्दों के संग्रह हेतु पं. श्रीचन्द्रशेखर उपाध्याय रचित "वैदिक कोश" अपने आप में नूतन एवं सफल प्रयास है । यद्यपि सर्वथा निर्दोष एवं परिपूर्ण कहना ईश्वर के अतिरिक्त सृष्टि-प्रक्रिया में सम्भव नहीं है । तथापि इस दिशा में अन्य विद्वानों के द्वारा किये गये ग्रन्थात्मक प्रयासों में इनका यह प्रयास कुछ विशेषताओं से परिपूर्ण है । चिन्तामणि शर्मा काशीकर द्वारा सम्पादित "श्रौतकोश", जिसमें अतिरात्र, उक्थ्य, वाजसनेय आदि शब्दों का विस्तार से विवरण दिया गया है । लाहौर के विश्वबन्धु शास्त्री द्वारा सम्पादित "वैदिक शब्दार्थ पारिजात" एवं "वैदिकपदानुक्रमकोष," जो अनेक भागों में प्रकाशित हैं, आदि कोशों में तत्तत् स्थलों के प्रायः अङ्कमात्र ही दिये गये हैं । इनमें संस्कृत-माध्यम से ही उल्लेख किया गया है, हिन्दी में नहीं, किन्तु प्रकृत कोश में मन्त्रों के उद्धरण आवश्यकतानुसार पूर्णांश में दिये गये हैं । इस कोश की पद्धति से अध्येता को मूल उद्धरण स्पष्ट दृष्टिगत हो जाते हैं ।

हिन्दी में वेद के प्रायः सभी पदों का पारम्परिक अर्थ प्रस्तुत करने वाला यह प्रथम ग्रन्थ है । मैक्डानल एवं कीथ की वैदिक इण्डेक्स तथा तदनुगामी डा. सूर्यकान्त के वैदिक कोष में मात्र नामों (संज्ञाओं) तथा विशिष्ट विषयों का ही वर्णन है । संज्ञा, क्रिया, निपात आदि सभी पदों की प्रकृति-प्रत्ययात्मक व्युत्पत्ति यथासाध्य इस कोश में प्रदर्शित की गयी है । मन्त्रों के उदधृत अंश का अनेकत्र हिन्दी में अर्थ भी दिया गया है, जिससे पद की प्रसङ्गगत अर्थसङ्गति स्पष्ट हो ज़ाती है । पदों के एकाधिक अर्थ होने पर सभी अर्थों को सप्रमाण उदधृत किया गया है । आर्यसमाज के अभिमत अर्थ को भी पृथक् दिखाया गया है ।

कतिपय पदों में मैक्डानल एवं कीथ के इण्डेक्स तथा डा. सूर्यकान्त के कोश से बहुत ही अधिक सामग्री इस कोश में दी गई है, यथा पृष्ठ-७६ में 'अनुमतिः' शब्द में १४ उद्धरणाङ्क इस कोश में दिये गये हैं । जबकि डा. सूर्यकान्त के कोश में मात्र ४ ही उद्धरण दिये गये हैं । इसी प्रकार हंसराज "वैदिक श्रौतकोश" में मात्र ब्राह्मण -ग्रन्थों के मूल उद्धरणों पर विशेष बल दिया गया है । जबकि इस कोश में विद्वान् लेखक ने संहिता और ब्राह्मण दोनों के उद्धरणों का उल्लेख किया है । इस प्रकार नानाविध विशेषताओं से युक्त यह "वैदिक कोश" सभी वेदार्थ-जिज्ञासुओं के लिए अत्यन्त उपादेय है ।

ज्ञान या उसके सम्बन्ध में कोई प्रयत्न अन्तिम नहीं होता। उसका एक प्रवहमान धारा के रूप में आदर है। एक सोपान दूसरे सोपान की ओर प्रवृत्त करता है। प्रस्तुत प्रयास भी कोश के क्षेत्र में इसी प्रकार का अग्रिम, अतएव सफल प्रयास है। इसके लेखक परम श्रद्धाभाजन **पण्डित श्री चन्द्रशेखर उपाध्याय** बिहार की वैदुष्य-परम्परा के एक प्रतिनिधि विद्वान् थे, जिन्होंने बिना किसी साधन-सम्पदा के केवल अपनी तपस्या के आधार पर इस विशाल ज्ञान-भाण्डागार को प्रस्तुत किया। अनेक विश्वविद्यालयों में शोधसहायकों की सहायता से प्रवर्तित परियोजनाएँ भी इतना मौलिक योगदान नहीं कर पातीं हैं, जो पूज्य पण्डित उपाध्याय जी ने किया है। यह केवल उनकी वेदों में विद्यमान आस्था और उसी के प्रतिफल के रूप में प्राप्त शक्ति का प्रत्यक्ष फल है। एक शिक्षक और प्रधानाचार्य के रूप में बाल-रचना-विकास, भास के सम्पूर्ण नाटकों के अनुवाद से लेकर वेद जैसी गम्भीर ज्ञानराशि पर उनकी लेखनी ने जो चमत्कार पूर्ण प्रस्तुति की है, उसके उपलक्ष्य में मैं उनके प्रति अपनी श्रद्धा और सम्मान अर्पित करता हूं तथा उनकी स्मृति में नमन करता हूं। वास्तव में इसी प्रकार के विद्वानों के बल पर हमारी प्राचीन विद्याएं और शास्त्र जीवित रहे हैं तथा विकसित हुए हैं। वे उस त्यागमूर्ति आचार्यों की परम्परा के इस शताब्दी में एक वन्दनीय महापुरुष थे।

यह शब्दकोश श्री चन्द्रशेखर जी के सुपुत्र **श्री सर्वानन्द उपाध्याय, श्री अरुण कुमार उपाध्याय** एवं पौत्र **श्री अनिल कुमार उपाध्याय** तथा परिवार के अन्य सदस्यों की भूमिकाओं का मूर्त्तरूप है। इसे एक प्रकार से तीन पीढ़ी का अमृत कहा जाय तो कोई विशेष अतिशयोक्ति नहीं होगी। सम्पत्ति से भी बढ़कर इसकी सुरक्षा और संभाल योग्य पुत्र और पौत्र ही कर सकते हैं।

इसके सम्पादक श्री उपाध्याय जी के पौत्र **श्री अनिल कुमार उपाध्याय** ने ऋषि-ऋण और पितृ-ऋण से मुक्त होने का जो अभिनन्दनीय प्रयास किया है, वह आने वाली सन्ततियों के लिए भी प्रेरणा का विषय रहेगा। श्री अनिल जी ने अपने यौवन का महत्वपूर्ण भाग सत्ता के सुख-साम्राज्य की परवाह न करते हुए इस साधना में व्यतीत किया और इस रूप में इस ग्रन्थ की प्रस्तुति की। यह प्रमाण है उनकी ऊर्जा का । वे बिहार सरकार के ऊर्जा-सचिव हैं। एक कुशल आई.ए.एस. के रूप में राज्य और केन्द्र सरकार के अनेक पदों को वे सुशोभित कर चुके हैं; लेकिन इस ग्रन्थ की प्रस्तुति में उनकी जिस दैवी ऊर्जा के दर्शन होते हैं, वह अपने आप में एक उत्तम निदर्शन है। मैं उनको इस प्रयास की सफलता के लिए बधाई देता हूं और इसके प्रकाशक वैदिक और संस्कृत वाङ्मय के अनन्य सेवक आयु. **श्री सुरेन्द्र तथा नरेन्द्र** को अपने आशीर्वाद प्रदान करता हूं।

वाराणसी
अक्षय-तृतीया,
वि.सं. २०५३
(२०.४.१९९६ ई.)

मण्डन मिश्र
कुलपति
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय

प्राक्कथन

वैदिक साहित्य के अध्ययन एवं अन्वेषण के क्रम में प्रस्तुत विशद 'वैदिक शब्दकोष' एक महत्त्वपूर्ण योगदान है। लगभग दो हजार पृष्ठों के इस ग्रन्थ के आकार प्रकार एवं सामग्री की दुरूहता से इस बात का अनुमान लगाया जा सकता है कि इस ग्रन्थ के लेखन में कितना परिश्रम हुआ होगा। इस के लेखक मेरे पितामह (स्व.)पं. चन्द्रशेखर उपाध्याय (१९०६-१९७६) बिहार सरकार के शिक्षा विभाग में कार्यरत थे। सरकारी सेवा यदि उनके लिए जीविका थी तो संस्कृत की सेवा स्वधर्म और तपस्या। पूर्णकालिक सरकारी सेवा के साथ वे संस्कृत और हिन्दी साहित्य के गहन अध्ययन एवं रचनाकर्म में जुड़े रहे। इसी प्रयास की सबसे महत्त्वपूर्ण कृति है यह 'वैदिक शब्दकोष' जो पं. उपाध्याय के सम्पूर्ण सक्रिय जीवन के परिश्रम की परिणति है।

वेद न सिर्फ भारतीय वरन् सम्पूर्ण विश्व संस्कृति तथा साहित्य के प्राचीनतम ग्रन्थ के रूप में समादृत हैं। भारतीय आर्ष परम्परा वेदों को अपौरुषेय, नित्य और शाश्वत मानती है। प्राचीन मन्त्रद्रष्टा ऋषियों को यह ज्ञान उद्भूत हुआ। भारतीय संस्कृति और धर्म के ये मूल स्रोत तथा सर्वोच्च प्रमाण के रूप मेंप्रतिष्ठित हैं। इसलिए वेदों के अध्ययन का अत्यधिक महत्व है। पाश्चात्य विद्वान् भी, जिन्होंने वेदों के ऐतिहासिक तथा विश्लेषणात्मक अध्ययन की परम्परा स्थापित की, वेदों की प्राचीनता एवं मानव इतिहास को समझने के लिए इसके महत्त्व को स्वीकार करते हैं। फलतः प्राचीन काल से निरन्तर वेदों के अध्ययन की अटूट परम्परा बनी हुई है।

भारत में यह विशाल वैदिक साहित्य हजारों वर्षों तक गुरु से शिष्य को मौखिक शिक्षा से हस्तान्तरण की परम्परा के माध्यम से सुरक्षित रहा। कालान्तर में कई मन्त्रों के अर्थ या उनमें प्रयुक्त शब्दों के अर्थ विस्मरित होने लगे थे। अतः शब्दों के अर्थ को संकलित करने की आवश्यकता महसूस की गई। इस उद्देश्य से ऋषियों ने निघण्टुओं की रचना की जिनमें कठिन वैदिक शब्दों को संकलित किया गया। निघण्टु कई थे। इस परम्परा का प्रतिनिधि ग्रन्थ यास्क का निघण्टु तथा निरुक्त है, जो अभी भी उपलब्ध है। इसका रचनाकाल ईसा पूर्व छठी शताब्दी बताया जाता है। निरुक्त में वैदिक शब्दों के संकलन, उनकी व्युत्पत्ति तथा अर्थ दिए गए हैं, साथ ही मन्त्रों के सन्दर्भ भी दिए गए हैं। निरुक्त की महत्ता इसी से स्पष्ट है कि ६ वेदांगों में, जिनका अध्ययन वेदों को समझने के लिए आवश्यक समझा जाता है, इसकी गणना होती है।

इसके बाद वैदिक साहित्य के अध्ययन की दिशा में सबसे महत्वपूर्ण ग्रन्थ सायणाचार्य की टीका है (१४ वीं सदी)। सायण ने भी यास्कीय निरुक्त को महत्त्वपूर्ण आधार माना है। १९ वीं सदी में जब पाश्चात्य विद्वानों ने बड़े पैमाने पर अपनी पद्धति से वेदों का अध्ययन, अनुवाद, व्याख्या और प्रकाशन प्रारंभ किया तो उन्होंने वेदों के अगाध समुद्र में दिशा निर्देश के लिए सायण को सबसे महत्त्वपूर्ण प्रकाश स्तम्भ माना। इस दौर में पुनः शब्दों और उनके अर्थ संकलित करने की एक धारा चली। इस दिशा में ग्रॉसमैन का Vedic Vocabulary और बाटलिंक तथा रॉथ का Sanskrit Dictionary महत्त्वपूर्ण प्रयत्न थे। लेकिन इन ग्रन्थों में वैदिक शब्दों की सम्पूर्ण सूची नहीं थी। मैक्समूलर ने जिनका वैदिक अध्ययन में अप्रतिम योगदान है सभी वैदिक शब्दों का संकलन प्रारम्भ किया था लेकिन उन्होंने यह कार्य अति दुष्कर मानकर छोड़ दिया था, और कहा कि यह कार्य संभवतः अगली सदी में किसी विद्वान् द्वारा सम्पन्न हो पायेगा।

तदनन्तर वैदिक अध्ययन में विभिन्न प्रकार के कोषों के संकलन हुए हैं। इनमें ब्लूमफील्ड का Vedic Concordence सबसे महत्त्वपूर्ण कृति है, जो वैदिक मन्त्रों की उनके संदर्भ के साथ अकारादि क्रम में सूची है। मैकडॉनल और कीथ का Vedic Index of Names and Subjects भी एक मूल्यवान ग्रन्थ है। १९२६ में डी.ए.वी कालेज लाहौर द्वारा प्रकाशित और हंसराज कृत 'वैदिक कोष' भी इसी परम्परा की कृति है। परन्तु यह ग्रन्थ उस समय तक प्रकाशित मात्र १५ ब्राह्मण ग्रन्थों पर आधारित

है। विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान, होशियारपुर, द्वारा प्रकाशित तथा विश्वबंधु कृत 'वैदिक पदानुक्रम कोष' में पदों की सूची तथा संदर्भ है, परन्तु अर्थ नहीं दिए गए हैं। उल्लिखित ग्रन्थों के अतिरिक्त भी कई कोष ग्रन्थ हैं।

इस प्रकार संस्कृत तथा विशेषकर वैदिक साहित्य के अनुसन्धान में कोष एवं शब्दकोष ग्रन्थ लिखने की प्राचीन काल से परम्परा रही है। हर कोष ने अपने समय की किसी कमी को पूरा किया है और वैदिक अध्ययन की दिशा में एक योगदान दिया है। प्रस्तुत शब्दकोष की विशिष्टता है कि इसमें वैदिक शब्दों की सूची अत्यन्त विशाल है, तथा शब्दों के अर्थ के साथ उन मन्त्रों को उद्धृत किया गया है जिनमें वे प्रयुक्त हुए हैं। मन्त्रों का स्थान निर्देश संहिता के अतिरिक्त ब्राह्मण, आरण्यक तथा उपनिषद् आदि अन्य वैदिक ग्रन्थों का भी दिया गया है। इससे इस ग्रन्थ की उपादेयता बढ़ गई है और हमें विश्वास है कि यह कोष ग्रन्थों की परम्परा में एक महत्त्वपूर्ण कड़ी के रूप में स्थापित होगा।

इतने विशद् ग्रन्थ का प्रकाशन कई लोगों के अथक प्रयास एवं सर्वोपरि ईश्वरीय कृपा से ही सम्भव हो सकता था। पं. उपाध्याय ने अपने जीवन काल में भी इसके प्रकाशन के अथक प्रयत्न किए। उनके निधन के १९ वर्ष बाद ही यह कार्य संपन्न हो सका, इसी से स्पष्ट है कि यह कितना दुरूह था। जब हमलोग इसके प्रकाशन की आशा छोड़ चुके थे, तब यह दैवी संयोग ही था कि मैं अपने दिल्ली में पदस्थापन की अवधि (१९९०-१९९५) में नाग प्रकाशन के श्री नरेन्द्र जी के सम्पर्क में आया जिन्होंने इसके प्रकाशन में अभिरुचि दिखलाई। इस महान् कार्य के लिए वे साधुवाद के पात्र हैं। यह कार्य अत्यन्त व्ययसाध है, और बिना आर्थिक अनुदान के यह संभव नहीं था। हम मानव संसाधन मन्त्रालय, भारत सरकार के आभारी हैं, जिनके अनुदान से इसका प्रकाशन संभव हो सका।

इतने वर्षों तक इस ग्रन्थ की विशाल पाण्डुलिपि को संभालकर रखने में पंडित उपाध्याय के पुत्र श्री सर्वानन्द उपाध्याय (मेरे पिता) तथा श्री अरुण कुमार उपाध्याय, एवं उनके भतीजे श्री सतीशचन्द्र उपाध्याय की सतर्कता, लगन और समर्पण अविस्मरणीय है। सौभाग्यवश पाण्डुलिपि लगभग पूर्णतः अक्षुण्ण थी और अन्ततः इसके प्रकाशन की देखरेख का दायित्व मेरे कन्धों पर आया।

पूरी पाण्डुलिपि को ध्यान से पढ़ना, मन्त्रों की शुद्धता की मूल पाठ से जांच करना, उनका संदर्भ अंकित करना और प्रूफ ठीक करना यह सब कार्य अत्यन्त श्रमसाध्य था। संस्कृत हमारी संस्कृति की वाहिनी है। सरकारी नौकरी में रहते हुए मुझे इस रूप में संस्कृत की सेवा करने का अवसर मिला यह मेरे लिए एक सौभाग्य की बात है। इसमें मेरी पत्नी रेणु ने जो संस्कृत में एम.ए हैं, और मेरे पितामह का इन पर विषेष स्नेह था, अमूल्य सहयोग दिया।

इस प्रकार यह ग्रन्थ वेद के जिज्ञासुओं और अध्येताओं के समक्ष अब प्रस्तुत है। यह संभव है कि इसमें कुछ त्रुटियां या अपूर्णता रह गई हो। पूर्णता की चेष्टा में कई वर्ष और लग सकते थे और प्रकाशन भी अनिश्चित हो जाता। इसलिए हमने यह श्रेयस्कर समझा कि उपलब्ध पाण्डुलिपि को यथासंभव परिमार्जिन और संशोधित कर प्रकाशित कराया जाय। वैदिक अध्ययन अनन्त काल तक चलता रहेगा। भविष्य में विद्वानों के सहयोग से इस ग्रन्थ के और परिवर्द्धित तथा परिमार्जित संस्करण निकलें यह सम्भव है। हमें विश्वास है कि यह कोष अपने आप में एक महत्त्वपूर्ण संदर्भ ग्रन्थ प्रमाणित होगा। इसी विश्वास के साथ हम इस ग्रन्थ को संस्कृत परिवार को समर्पित करते हैं।

अनिल कुमार उपाध्याय

संकेत सूची

अ.	अथर्ववेद संहिता
आप.गृ.सू.	आपस्तम्भ गृह्य सूत्र
आप.ध.सू.	आपस्तम्भ धर्म सूत्र
आप.मं.पा.	आपस्तम्भ मंत्र पाठ
आप.श्रौ.सू.	आपस्तम्भ श्रौत सूत्र
आश्व.श्रौ.सू.	आश्वलायन श्रौत सूत्र
आ.सं.	आरण्यक संहिता
ईश.उप.	ईश उपनिषद्
ऐ.आ.	ऐतरेय आरण्यक
ऐ.ब्रा.	ऐतरेय ब्राह्मण
ऋ.	ऋग्वेद संहिता
ऋ.खि.	ऋग्वेद खिलसूक्त
कठ. उप.	कठोपनिषद्
का.श्रौ.सू.	कात्यायन श्रौत सूत्र
का.सं.	काठक संहिता
का.सं.(अश्व)	काठक संहिता (अश्वमेध ग्रंथ)
कौ.सू.	कौशिक सूत्र
कौ.ब्रा.	कौषीतकि ब्राह्मण
कौ.ब्रा.उप.	कौसीतकि ब्राह्मण उपनिषद्
गो.ब्रा.	गोपथ ब्राह्मण
गो.गृ.सू.	गोभिल गृह्य सूत्र
गौ.ध.शा.	गौतम धर्म शास्त्र
जा.उप.	जाबाल उपनिषद्
जै.उप. ब्रा.	जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण
जै.ब्रा.	जैमिनीय ब्राह्मण
तै.आ.	तैत्तिरीय आरण्यक
तै.आ.(आंध्र)	तैत्तिरीय आरण्यक (आंध्र)
तै.उप.	तैत्तिरीय उपनिषद्
तै.ब्रा.	तैत्तिरीय ब्राह्मण
तै.सं.	तैत्तिरीय संहिता

ना.ध.शा.	नारद धर्म शास्त्र
नील. उप.	नीलरुद्र उपनिषद्
नृसिंह पू.ता.उप.	नृसिंह पूर्व तापनी उपनिषद्
नृसिंह उ.ता.उप.	नृसिंह उत्तर तापनी उपनिषद्
पंच.ब्रा.	पंचविंश ब्राह्मण
पा.गृ.सू.	पारस्कर गृह्य सूत्र
प्रश्न.उप.	प्रश्न उपनिषद्
पा.	पाणिनि (अष्टाध्यायी)
बौ.ध.शा.	बौधायन धर्म शास्त्र
ब्रह्म उप.	ब्रह्म उपनिषद्
ब्र.आ.उप	बृहदारण्यक उपनिषद्
गीता	भगवद्गीता
महा.ना.उप.	महानारायण उपनिषद्
मा.ध.शा.	मानव धर्म शास्त्र
मा.श्रौ.सू.	मानव श्रौत सूत्र
मुण्डक उप.	मुण्डक उपनिषद्
मै.सं.	मैत्रायणी संहिता
वाज.सं.	वाजसनेयि संहिता
वाज.सं. (का.)	वाजसनेयि संहिता (काण्व)
वै.सू.	वैतान सूत्र
श.ब्रा.	शतपथ ब्राह्मण
शां.श्रौ.सू.	शांखयन श्रौत सूत्र
शां.गृ.सू.	शांखयन गृह्य सूत्र
ष.ब्रा.	षड्विंश ब्राह्मण
साम	सामवेद
साम.मं.ब्रा.	साम मंत्र ब्राह्मण
साम.वि.ब्रा.	साम विधान ब्राह्मण
ज.दे.श.	जयदेव शर्मा
दया	दयानन्द
पा.	पाणिनि
या	यास्क

वैदिक कोश

अ

अकनिष्ठासः - (१) मरुद्गण जो परस्पर एक दूसरे से कनिष्ठ नहीं है (२) मनुष्य (३) शिष्यगण ।
'अज्येष्ठासो अकनिष्ठास एते'
ऋ. ५.६०.५

अकम् - न कम् = अकम् । क का अर्थ सुख है । सुख का अभाव दुःख है ।
'नि वा अमुं लोकं जग्मुषे किञ्चनाकम्'
(इस लोक को जानने वाले के लिए कोई दुःख नहीं है ।)

अकल्प - अन्येभ्यः अधिकः-सबसे श्रेष्ठ, इन्द्र परमेश्वर
'अकल्प इन्द्रः प्रतिमानमोजसा'
ऋ. १.१०२.६

अकव - (१) अकुत्सित (२) उत्तम
'दात्रं रक्षेथे अकवैरदब्धा'
ऋ. ३.५४.१६
(३) अनिन्दनीय
'युवं राधोभिरकवेभिरिन्द्र'
ऋ. ६.६०.३ मै.सं. ४.१३.७; २०८.२, का.सं. ४.१५ तै.ब्रा. ३.६.८.१.

अकवचः - कवच के बिना सैनिक
'यश्च कवची यश्चाकवचः'
अ. ११.१०.२२

अकवा - (१) अनिन्दनीय , उत्तम (२) अनल्प सामर्थ्य (४) कभी कुत्सित बात न करने वाले ।
'प्रप्र जायन्ते अकवा महोभिः'
ऋ. ५.५८.५, मै.सं ४.१४.१८; २४७.१४, तै.ब्रा. २.८.५.७

अकवारिः - (१) अविद्यमान शत्रु, जिसका कोई शत्रु न हो ।
'अकवारिं दिव्यं शासमिन्द्रम्'
ऋ. ३.४७.५; ६.१९.११, वा.सं. ७.३६, तै.स. १.४.१७.१ मै.सं. १.३.२१; ३७.१३, का. सं. ४.८, श.ब्रा. ४.३.३.१४ तै.ब्रा. २.८.३.४
(२) अकव + अरी । कभी कुत्सित मार्ग में न जाने देने वाले ।
'अकवारी चेतति वाजिनीवती'
ऋ. ७.९६.३

अकविः - अविद्वान्
'अयं कविरकविषु प्रचेता'
ऋ. ७.४.४

अक्खलीकृत्य - विनम्र होकर ।
'अक्खलीकृत्या पितरं न पुत्रः'
ऋ. ७.१०३.३

अक्त -(१) प्रकाशित (२) पूर्ण (३) व्याप्त (४) युक्त
'ऋतेन हि ष्मा वृषभश्चिदक्तः
ऋ. ४.३.१०

अक्तु - (१)प्रकाश
'शिरिणायां चिदक्तुना महोभिः'
ऋ. २.१०.३
(२) अंजति मृत्युं नयति इति । मृत्यु कारक अस्त्र ।
'यो मर्त्यः शिशीते अत्युक्तिभिः'
ऋ. १.३६.३
(३) रात्रि
'वि द्यामेषि रजस्पृथ्वहा मिमानो अक्तुभिः पश्यञ्जन्मानि सूर्य ।'
ऋ. १.५०.७; अ १३.२.२२; २०.४७.१९; नि. १२.२३.
(सूर्य दिनों के साथ रात्रियों को उत्पन्न करता हुआ तथा सभी जीवों को देखता हुआ या अनुग्रह करता हुआ जाता है)
'विशामक्तोरुषसः पूर्वहूतौ'
ऋ ७.३९.२ वा.सं ३३.४४, नि. ५.२८
(४) सब पदार्थों को प्रकट करने वाला तेजस्तत्त्व
'अक्तुनाह्नां वयुनानि साधत्'
ऋ. २.१९.३

अक्नोपन - अक्नू , अग्नू , अग्नि - क्नुयी (शब्द करना या उन्द करना) + युक् (णि) + ति = अक्नोपन ।

य का लोप और गुण हुआ है । क्नोपयति । न क्नोपयति = अक्नोपन (स्नेह नहीं करता है) विशेष प्रकार से रुक्ष होने वाला ।

अथवा, अ + क्नुयी + क्विन् = अग्न् , अग्नि सभी चीजों को भस्म कर देता है ।

क्नोपन शब्द का स्पष्ट अर्थ कोपनाना है । गाय का कोपनाना आज भी प्रसिद्ध है ।

अक्र - आङ् + क्रम् + उ = अक्र । आङ् का अ । दूसरों से इस पर आक्रमण किया जाता है या दूसरों पर यह आक्रमण करता है । (१) प्राकार -दुर्ग (२) दुर्ग-दयानन्द ।

'अक्रो न बभ्रिः समिथे महीनाम्'

ऋ. ३.१.१२ नि. ६.१७

वेदों में प्राकार या दुर्ग के अर्थ में ही यह शब्द प्रयुक्त हुआ है । इन दिनों प्रचलित अखाड़ा या अखारा इसी 'अक्र' का बिगड़ा रूप प्रतीत होता है ।

(३) अन्यैः आक्रान्तः-दया. ।

जो बाधक कारणों या पीड़ाओं से क्रान्त न हो ।

'इन्धानो अक्रो विदथेषु दीद्यत्'

ऋ. १.१४३.७ तै. ब्रा. १.२.१.१३ आप श्रौ.सू. ५.६.३

तेज या वीर्य रक्षा से तेजस्वी होता हुआ शिष्य बाधक कारणों या पीड़ाओं से क्रान्त न हो कर ज्ञान प्राप्ति के अवसरों में चमके ।

(४) ऊपर उठा हुआ सूर्य ।

'उदु स्वरुर्नवजा नाक्रः'

ऋ.४.६.३

अक्रत - अकृषत, करते हैं, बोलते हैं ।

'यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत'

ऋ. १०.७१.२ नि. ४.१०

अक्रविहस्ता - (१) अहिंसक एवं अकृपण, (२) दयालु, दानशील हाथ वाले (३) मित्रावरुण, (४) राजा और अमात्य (५) स्त्री पुरुष

'अक्रविहस्ता सुकृते परस्पा ।'

ऋ. ५.६२.६

अक्रव्यादग्निः- (१) क्रव्याद् अग्नि से भिन्न आहवनीय अग्नि और गृह्याग्नि (२) इन अग्नियों के समान पवित्र कार्य करने वाला और लोगों का घर बसाने वाला राजा ।

'यो मे द्वेष्टि तमद्धि अग्ने अक्रव्यात्'

अक्ष- अश् (व्याप्त्यर्थक) । एक कितव दूसरे कितव के प्रति अक्ष से ही धन फेंकता है । अतः यह अक्ष कहलाया । अथवा 'अश्नुवत एनान् या अभ्यश्नुवत एभिः' जुआ खेलने वाले इन अक्षों को व्याप्त करते हैं । अर्थ-(१) जुआ खेलने का पाशा (२) यान का अञ्जन करने वाला धुरा (३) अक्षर भी अक्ष के समान व्यञ्जनों को धारण करता है (४) अञ्ज (गत्यर्थक) + स = अक्ष (५) संस्कृत कोषों में अक्ष इन्द्रियवाची भी है । (६) क्रीड़ा शील कर्मेन्द्रिय चर पुरुष ।

आधुनिक अर्थ (१) धुरी लोहे की छड़ या लकड़ी जो किसी वृत्ताकार चीज के बीच पिरोयी रहती है और जिस पर वह गोल वस्तु घूमती है (२) गाड़ी (३) पहिया (४) तराजू की डांडी (५) पृथ्वी के भीतरी केन्द्र से होती हुई दोनों ध्रुवों पर निकलती हुई एक कल्पित रेखा (६) द्यूत पाश (७) रुद्राक्ष माला बनाने का एक प्रकार का बीज (८) १६ माशे के बराबर तौल जिसे कर्ष भी कहते हैं (९) विभीतक नामक एक पौधा, (१०) एक प्रकार का सर्प, (११) गरुड़ (१२) आत्मा, (१३) ज्ञान, (१४)कानूनी कार्रवाई, (१५) जन्मान्ध, (१६) समुद्री नमक (२०) विभीतक नामक फल बहेरा ।

'पांसूनक्षेभ्यः सिकता अपश्च'

अ. ७.१०९.२

अक्षकामा - (१) इन्द्रियों की कामना रूप ।

'अक्षकामा मनोमुहः'

अ. २.२.५

अक्षण्वत् - अक्षि + मतुप् = अक्षण्वत् । 'छन्दस्यपि दृश्यते' पा ७.१.७६ से मतुप् में नुट् का आगम बहुवचनों में 'अक्षण्वन्तः' ।

चक्षिङ् धातु के क् का लोप, ष् का क् और स् का ष होता है । चक्षिङ् का ख्याङ् आदेश होता है (बाहुलकात् चक्षिङः ख्याञ्) । पृषोदर आदि शब्दों के समान च का लोप होकर अक्षि शब्द बनता है । अर्थ-आंखवाला । ब्राह्मण ग्रन्थों में आंख के लिए 'तस्मा देते व्यक्त तरा' आया है । उणादि कोष में अशुङ् (व्याप्ति) से अक्षि बना समझा गया है ।

'अक्षण्वन्तः कर्णवन्तः सखायः'

ऋ. १०.७१.७; नि.१.९

(आंख या कान वाले चित्र)

(२) द्रष्टा, ज्ञानी ।
‘पश्यदक्षण्वान्न नं वि चेतदन्धः’

अक्षण्वान् - ज्ञानी
‘पश्यदक्षण्वान्न विचेतदन्धः’
ऋ. १.१६४.१६ अ. ९.९.१५ तै.आ. १.११.४ नि. ५.१; १४.२०

अक्षत्र - निर्बल, चेतनाहीन ।
‘केनेदमन्यन्नक्षत्रम्’
अ. १०.२.२२

अक्षद्रुग्ध - इन्द्रियों के लोभ के कारण प्रजाओं में नाना प्रकार के द्रोह उत्पन्न करने वाला
‘अक्षद्रुग्धो राजन्यः’
अ. ५.१८.२

अक्षपराजय - इन्द्रियनाशक रोग
‘अथो अक्षपराजयम्’
अ. ४.१७.७

अक्षर - (१) जिसका नाश न हो । नञ् + क्षि + उ = उरञ् = अक्षर (२) अक्ष एव अक्षरम् (३) अक्ष + रञ् (४) नञ् + क्षर + अच्
‘ततः क्षरत्यक्षरं तद् विश्वमुप जीवति’
ऋ. १.१६४.४२ तै.ब्रा. २.४.६.१२ नि ११.४१
(उस माध्यमिक वाक् गौरी से जल गिरता है, वह जल विश्व को जिलाता है) ।
(२) ओम् वाच्य ब्रह्म
‘ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदुः’
ऋ.१.१६४.३९ अ. ९.१०.१८ गो. ब्रा. १.१.२२ तै. ब्रा. ३. १०.९.४ तै. आ. २.११.१ श्वे. उप. ४.८. नृसिहं पूर्व ता. उप. ४ .२, नि. १३.१०
(३) ओम् शब्द वाच्य ब्रह्म अक्षर है-शाकपूणि
(४) सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत्
‘एतद् ह्येवाक्षरं ब्रह्म एतदेवाक्षरं परम् । एतदेवाक्षर ज्ञात्वा यो पदिच्छति तस्य तत्’
(४) आदित्य - शाकपूणि का पुत्र ।
(५) ओंकार रूप परमात्मा ।
‘अक्षरेण प्रतिमिमीते अर्कम्’
अ. १८.३.४०
‘अक्षरेण प्रति मिम एताम्’
ऋ. १०.१३.३

अक्षरपंक्तिः - (१) अक्षर ब्रह्म का ज्ञान (२) अखण्ड ब्रह्मचर्य की परिपक्वता (३)यहलोक
‘अक्षरपंक्तिश्छन्दः’
वाज. सं. १५.४ तै.सं ४.३.१२.३ मै.सं २.८.७; १११.१५. का.सं. १७.६ श.ब्रा. ८.५.२.४

अक्षरा - (१) मेघोदकों से युक्त (२) न नाश होने वाली नदी (३) सदा सुखी प्रजा
‘सहस्रपाथा अक्षरा समेति’
ऋ. ७.१.१४ तै.ब्रा. २.५.३.३

अक्षराज - (१) पाशों को खेलने वालों में राजा (२) इन्द्रियों का स्वामी जीव ।
‘अक्षराजाय कितवम्’
वाज. सं ३०.१८, तै. ब्रा. ३.४.१.१६

अक्षवृत्त - जुआखोरी में होने वाला पाप ।
‘यदक्षवृत्तमनुदत्तं न एतत्’
अ. ६.११८.२ मै.सं ४.१४.१७; २४५.१३, तै.आ. २.४.१

अक्षणयाध्रुक - टेढ़ेमेढ़े तरीके से अप्रत्यक्ष रूप से विरोध करने वाला ।

अक्षणयावा - आंख के इशारे से आगे बढ़ने वाला
‘आक्षणयावानो वहन्त्यन्तरिक्षेण पततः’
ऋ. ८.७.३५

अक्ष्य - आंखों का हितकारक
‘पर्वतस्यास्यक्ष्यम्’
अ. ४.९.१

अकाय- स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीरों से रहित
‘स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणम्’
वाज. स. ४०.८

अकामकर्शनः - (१) सत् संकल्प को कृश नहीं करने वाला यथोचित्त विवेकी परमेश्वर ।
‘शिक्षानरः प्रदिवो अकामकर्शनः’
ऋ. १.५३.२ अ. २०.२१.२
(हे परमेश्वर; तू शिक्षा देने वाला नायक आचार्य के समान आदि गुरु है । तू काम अर्थात् सत् संकल्पों को कृशन करने वाला यथोचित विवेकी है ।
(२) कामना या आशा का विधान न करने वाला

अक्षाः- अश् धातु के लिङ् का रूप ‘अक्षीष्ट’ की जगह या ‘क्षर’ (संचलनार्थक धातु) के ‘अक्षरीत’ की जगह या ‘क्षि,’ (निवास करना), के अक्षैषीत् की जगह में प्रयुक्त वैदिक प्रयोग ।
(१) व्याप्त हुआ चला या निवास किया अर्थ

है । निघण्टु में 'सोमो अक्षाः' ऐसा प्रयोग है ।

'अनूपे गोमान् गोभि रक्षाः'

ऋ. ९.१०७.९; साम. २.३४८; नि. ५.३.

जलप्राय देश में गोस्वामी गायों के साथ निवास करता है -शाकपूणि ।

यह अश् (व्यापना) के लुङ् के प्रथम पुरुष एकवचन का रूप है परन्तु लट् (वर्तमान) में प्रयुक्त हुआ है। अर्थ है (२) पार पाता है । (३) व्याप्त होता है । (४) द्यावा पृथ्वी ।

'नान्तरिक्षं नाद्रयः सोमो अक्षाः'

ऋ. १०.८९.६ नि. ५.३

जिस परमात्मा या इन्द्र की महिमा न अन्तरिक्ष पाते न पर्वत उसकी महिमा पाते अर्थात् शांत आत्मा पाता ।

अकितवः - छल कपट से रहित पुरुष

'ईर्यताया अकितवम्'

वाज. सं. ३०.८

अक्रिः-नञ् + कृ + इक् = अक्रिः । अर्थात् अकर्त्ता क्रिया में अकुशल पुरुष ।

'नू चिन्नु मर्ते अक्रौ'

ऋ. १.१२०.२

अक्षि - (१) आंख। 'अक्षण्वत्' (२) सर्वव्यापक, (३) सर्वाधिष्ठता (४) सर्वद्रष्टा

'प्रतिपाणायाक्षये'

अ. १९.५२.३

अक्षित- (१) अक्षीण, (२) न सूखने वाला,

'अक्षितं जनपानम्'

(न सूखने वाला कूप) (३) यक्ष्मा जिसने अभी पूर्ण रूप से जड़ न पकड़ी हो ।

'तदक्षितस्य भेषजम्'

अ. ७.७६.४

(४) कभी क्षीण न होने वाला ।

'अक्षितास्त उपसदोऽक्षिता सन्तु राशयः'

अ.६.१४२.३

'विश्वायुर्धेह्यक्षितम्'

ऋ. १.९.७; अ. २०.७१.१३.

(५) क्षयरहित अन्न, शालि आदि धान्य

'कुयवं च मेऽक्षितं च मे'

वाज.सं. १८.१०; मै.सं. २.११.४; १४२.१ का.सं. १८.९

अक्षिता - (१) अनुपक्षीण जो क्षीण न हुई हो

'धात दधातु दाशुषे प्राची जीवा तु मक्षिनाम्'

ऋ. ७.१७.२ आश्व. श्रौ.सू. ६.१४.१६ शां. श्रौ.सू. ९.२८.३ आश्व.गृ.सू. १.१४.३.शां.गृ.सू. १.२२.७, नि. ११.११

(धाता हवि देने वालों को प्रवृद्ध या पूर्वकाल के समान अक्षुण जीविका दे) ।

(२) अक्षीण सम्पत्ति के रूप में विराजमान गोमाता ।

'अक्षितामुप जीवति ।'

अ. १८.४.३२

अक्षितावसु - (१) अक्षय धन से सम्पन्न पुरुष (२) इन्द्र (३) परमेश्वर ।

'विभूतिमक्षिता वसुम्'

ऋ. ८.४९.६

अक्षिति - (१) नाश न होना

'समुद्रस्य त्वा क्षित्या उन्नयामि

वाज. स. ६.२८; श.ब्रा. ३.९.३.२७

(२) कभी क्षय न होने वाली सम्पत्ति ।

'अक्षितिं भूयसीम्'

अ. १८.४.३७

(३) कभी क्षीण न होन वाली सूर्य की रश्मियां

'यथा देवा अंशुमाप्यायन्ति यमक्षितिमंक्षिताः पिवन्ति'

नि. ५.११

(सूर्य की रश्मियां क्षीण नहीं होतीं और वे ही चन्द्रमा में भी प्रवेश करती हैं)। (४) पृथ्वी से अतिरिक्त वायु, अग्नि , आकाश, जल, आत्मा और मन आदि पदार्थ, (५)आत्मा आकाश काल आदि पदार्थों का नित्यभाव (६) द्यौलोक में गगनचारी सूर्यादि प्रकाशमान लोक ।

'अक्षितिश्च क्षितिश्च या'

अ. ११.७.२५

अक्षितोतिः - (१) अक्षय रक्षा-सामर्थ्यवाला (२) जिसका ज्ञान क्षीण न हो (३) जिसकी रक्षा शक्ति क्षीण न हो ।

'द्युक्षो राजा गिरामक्षितोतिः'

ऋ. ६.२४.१

(४) अक्षय रक्षा करने वाला रक्षक पुरुष

'जनीयन्तो जजिदामक्षितोतिम्'

ऋ. ४.१७.१६

'सत्राजितोधनसा अक्षितोतयः'

ऋ. ८.३.१५ अ. २०.१०.१; २०.५९.१ साम. १.२५१, २.७१२, मै.सं. १.३.३९; ४६,६ आप. श्रौ.सू. १३.२१.३

‘अक्षितोतिः सनेदिमम्’

ऋ. १.५.९ अ. २०.६९.७

अक्षिपत् - (१) अक्षि + पत् + क्विप्। आंखों का झेंपना, पलक मारना ।

‘नहि मे अक्षिपच्चना’

ऋ. १०.११९.६

अक्षिभू - (१) आखों का देखा प्रमाण, प्रत्यक्ष प्रमाण ।

‘सत्यस्याक्षिभुवो यथा’

अ. २०.१३६.४ वाज. सं. २३.२९, शां श्रौ. सू. १२.२४.२.१

अक्ष्लिली - अपनी ही इन्द्रियों में लीन पुरुष

‘अक्ष्लिली पुच्छिलीयते ।’

अ. २०.१३४.६

अकुत्र- अन्यत्र कहीं नहीं ।

‘माकुत्रा नो गृहेभ्यो धेनवोगुः’

ऋ. १.१२०.८

(हमारे घरों से गौएं अन्यत्र कहीं न जांय ।

अकुध्रग् - तुच्छ, निर्बल

‘माकुध्रगिन्द्र शूर वस्वी’

ऋ. १०.२२.१२

अकुप्यन् - क्रोध न करने वाला ।

‘अकुप्यन्तः कुपायकुः’

अ. २०.१३०.८

अकुमार - जो कुमार नहीं हो (२) पंचविंशतिवर्षातीतः - दया. (३) कुमार दशा अर्थात् बाल्यभाव को त्यागा हुआ (४) जो कुत्सित काम क्रोधादि से त्रस्त नहीं ।

अक्षु - फन्दा ।

‘इन्द्रश्चाक्षुजालाभ्याम्’

अ. ८.८.१८.

अक्षत् - (१) भोजन द्वारा भूखादि मिट जाना ।

‘अन्नं च मेऽक्षुच्च मे’

वाज. सं. १८.१० तै. सं.४.७.४.२ का.सं.१८.९

अक्षुः - सब तत्त्वों का द्रष्टा विद्वान् ।

‘जूर्णो वामक्षुरंहसोयजत्रा’

ऋ. १.१८०.५

अक्षुध्य - भूख से पीडित न होने वाला ।

‘अक्षुध्या अतृष्या स्त’

अ. ७.९०.४

अक्षुम् - जाल जिसे मकान में लगाया जाता है।

‘अक्षुमोपशं विततम्’

अ. ९.३.८

अकूपार - अकुत्सित महान् मार्ग का पार करने वाला-आदित्य (२) महापार विस्तीर्णपार समुद्र (३) न कूपं ऋच्छति (जो कूप के पास न जाए) कच्छप, कछवा। कच्छप तालाब आदि में ही रहता है। मुखरूपी सम्पुट में जो अपनी रक्षा करे वह कच्छप या मुख सम्पुट से जल पीये । खम् आकाशं छादयति इति खच्छन्द-खच्छ-कच्छः- अथवा कूपं ऋच्छति इति कूपारः । न कूपारः अकूपारः । जो कूपार न हो वह अकूपार अर्थात् कच्छप है । कूप + ऋ + अण = कूपार (४) कम् उदकम् तेन छादयते (उससे जल आच्छादित होता है) अथवा

‘केन जलेन छाद्यते स कच्छः अनूपदेशः
अथ कच्छः स्यादनूपे तुन्नकद्रुमे नौकांगे
पुंसि वारायां चीरिकायाञ्च योषिति ।’

- मेदिनी कोश

(५) प्रभूत धन वाला (६) जिसका पार अकुत्सित है (७) अकुपरण = प्रभूत । पृ + घञ् = पार । अकुत्सित पारः पालनम् पूर्ण वा यस्य स अकुपारः। अकुपार एव अकूपारः।

(जिसका पालन अकुत्सित हो वह अकुपार या अकूपार है।

‘विद्याम तस्य ते वयमकूपारस्य दावने ।’

ऋ. ५.३९.२ साम. २.५२३.नि ४.१८

(हम तेरे उस प्रभूत धन के दान का अंश प्राप्त करें ।)

आधुनिक अर्थ -(१) समुद्र, (२) सूर्य, (३) बड़ा कछुआ जिसकी पीठ पर पृथ्वी टिकी मानी जाती है (४) पत्थर, चट्टान (८) जिसका परिणाम बुरा न हो (९) समुद्रवत् अपार ।

अकृत्तरुक् - अकृत्ता रुक् यस्य । कभी नष्ट न होने वाली कान्तिवाला ।

‘अकृत्तरुक् त्वया युजा वयम्’

ऋ. १०.८४.४, अ. ४.३१.४

अकृन्तन् - काता । कृन्त् (सूत कातना) का लङ् प्रथम पुरुष बहुवचन का रुप ।

‘ग्नास्त्वा कृन्तन्’

मै.सं. १.९.४; १३४.८ का.सं. ९.९, पंच.ब्रा. १.८.९, ला.श्रौ.सू. २.८.२३, आप. श्रौ.सू. १४.२२.४, नि. ३.२१ ।

हे वस्त्र, स्त्रियों ने सूत रुप में तुझे काता) ।

अकृष्टपच्य - बिना हल जोते उत्पन्न होने वाला अन्न ।

‘अकृष्टपच्याश्च मे’

वाज. सं. १८.१४

अकृष्ण - शुद्ध निष्पाप शुल्क वस्त्रधारी ।

‘ब्रह्माकृष्णश्च नोऽवतु’

वाज. स. २३.१३

अकृण्वत - अर्थ-किया । ‘अकुर्वत’ का वैदिक प्रयोग ।

‘अकृण्वत श्रवस्यानि दुष्टरा

ऋ. १०.४४.६, अ. २०.९४.६, नि ५.२५

(जिन्होंने यहां दुस्तर श्रवणीय कर्म किये ।)

अकृणोत् - अजनपत् , अकरोत् (उत्पन्न किया या किया)

‘श्वात्रमग्निश्कृणोज्जातवेदाः’

ऋ. १०.८८.४; नि. ५.३.

अकृत - (१) नहीं किया गया, (२) असंस्कृत, (३) सजावट से हीन, (४) टूटा, (५) ढहा (६) ढिमलाया, (७) उत्तम कर्मफल से रहित ।

‘मा नो अकृते पुरुहूत योनौ
इन्द्र क्षुध्यद्भ्यः वय आसुतिं दाः’

ऋ. १.१०४.७

हे परमेश्वर, मुझे टूटे फूटे घर में न रख या उत्तम कर्म फल से रहित पशु आदि योनि में मुझे मत डाल।

अकृधु - कृधु का अर्थ ह्रस्व या लघु । कृती + कु = कृतु = कृधु (त का ध) यह बड़े में से काटा गया है अतः कृधु कहलाया ।

‘निकृतमिव मन्त्र भवति ।
यो अस्कृधोयुरजरः स्ववर्वान्’

ऋ. ६.२२.३, अ. २०.३६.३, नि. ६.३

(जो पुत्र दीर्घायु, अजर और बलवान हो)

अकृधु से अस्कृधु सुट् के आगम से हो गया है । पृषोदरादि शब्दों के समान इसकी व्युत्पत्ति सिद्ध हुई है ।

अकृष्टपच्य - जो अन्न बिना खेती किए होता है।

‘अकृष्टपच्ये अशने धान्ये यः’

अ. ५.२९.७

अकृषीवला - (१) कृषीबल से रहित वनस्थवृत्ति (२) कष्टों के आवरण से रहित- वनस्थवृत्ति

‘बह्वन्नामकृषीवलाम्’

ऋ. १०.१४६.६ तै. ब्रा. २.५.५.७

अकेतु - ज्ञान रहित ।

‘केतुं कृण्वन्नकेतवे’

ऋ.१.६.३ अ. २०.२६.६ वाज.सं. २९.३७ तै.सं. ७.४.२०.१, मै.सं. ३.१६.३; १८५.८ तै.ब्रा. ३.९.४.३

(ज्ञान रहित को अज्ञान देने वाला)

अक्षेत्रवित् - (१) क्षेत्र या मार्ग को न जानने वाला (२) क्षेत्र आदि कृषि विद्या को न जानने वाला (३) देह या प्रकृति को नहीं जानने वाला ।

‘अक्षेत्रवित् क्षेत्रविदं ह्यप्राट्’

अ. १०.३२.७

(४) जो क्षेत्रमिति का ज्ञान न रखता हो ।

‘अक्षेत्रविद् यथा मुग्ध’

ऋ. ५.४०.५

अक्तोः - (१) अतिथिः (२) रात्रि का अतिथि चन्द्रमा । (३) चन्द्रमावत् आह्लादक परमेश्वर ।

‘होतारमक्तोरतिथिं विभावसुम्’

ऋ. १०.९२.१

अखर्व - (१)बहुत अधिक (२) गर्व रहित, विनय से युक्त ।

‘मन्त्रमखर्वं सुधितं सुपेशसम्’

ऋ. ७.३२.१३ अ. २०.५९.४

अखेद्रयामः - (१) अटूट वेगवाला, (२) निरन्तर गाने वाला ।

‘यातेमखिन्द्रयामभिः’

ऋ. १.३८.११

अगन - भविष्यान्

‘तां वहन्त्वगत स्यानु पन्थाम्’

अ. १४.२.७४

अगद - नीरोग

‘अथ त्वमगदश्चर’

अ. ४.१७.८

अगन् - गया, अगमत् का वैदिक रूप है ।

‘कमगन् जनयोपनः’

ऋ. १०.८६.२२, अ. २०.१२६.२२, नि. १३.३

(वह संसार का मोहने वाला कहां गया)

अगव्यूतिक्षेत्र - (१) बिना मार्ग का क्षेत्र, (२) निवास भूमि (३) देह रूप क्षेत्र जिसमें आ जाने पर जीव को जन्म मरण बाधा से छूटने का मार्ग नहीं मिलता।

'अगव्यूतिक्षेत्रमागमन्म देवाः।'

ऋ. ६.४७.२०

अगस्त्यः - (१) ये धर्मात् अन्यत्र न गच्छन्ति ते अगस्तयः (जो धर्म से अन्यत्र नहीं जाते वे अगस्ति कहे जाते हैं)। तेषु साधुः अगस्त्यः। ऐसा करने में जो सिद्ध है वह अगस्त्य है (२) एक ऋषि का नाम (३) धर्मात्मा-दया, (४) सूर्य-दया.। अगस् +अस्त = अगस्तः। सूर्य अनेक दोषों को दूर करता है।

' तत् ते जन्मोतैकं वसिष्ठाऽगस्त्यो
यत्त्वा विश आजभार'

ऋ. ७.३३.१०.

सायण ने अगस्त्य को इन्द्र या वसिष्ठ का पुत्र माना है। जयदेव शर्मा न इसका अर्थ वासकतम जल किया है। (५) अग + स्त्य। वृक्षादि स्थावर पदार्थों को उखाड़ देने वाला वायु (६) वायुवत् बलशा स्त्री (७) अभेद्य अन्धकार को दूर करने वाला ज्ञान प्रकाश (८) अगस्ति का अर्थ, विज्ञान है, अतः अगस्त्य का अर्थ 'विज्ञाने साधुः,' विज्ञान में कुशल हुआ।

'किं नो भ्रातरगस्त्य सखा सन्नति मन्यसे'

ऋ. १.१७०.३

(९) अगान् वृक्षान् अस्यति इति अगस्ति। पर्वतादि को भी उखाड़ देने में समर्थ।

'कण्वः कक्षीवान् पुरुमीढ़ो अगस्त्यः'

अ. १८.३.१५

(१०) त्रातव्य व्यवहार में साधु (दया) (११) ज्ञान देने में कुशल पुरुष (१२) वेदोक्त कर्म

'अगस्त्ये ब्रह्मणा वावृधाना'

ऋ. १.११७.११

ज्ञान में कुशल पुरुष तथा वेदाक्त कर्म के आश्रय में रह कर वेद और ब्रह्मचर्य द्वारा बढ़ते हुए, अथवा, सूर्य के आश्रय पर जल से और ज्ञानी पुरुष के आश्रय पर ब्रह्मज्ञान से बढ़ते हुए। (१३) स्थावर, (१४) पर्वत,(१५) वृक्ष

'यथोत कृत्व्य धने अशुं गोष्वगस्त्यम्'

ऋ. ८.५.२६

अगस्तिः - अग + ति (सुट्) = अगस्ति (१) ज्ञातव्य (२) पाप नाशक धर्मोपदेशक आचार्य (३) अगस्ति नामक ऋषि।

'यावङ्गिरसमवथो यावगस्तिम्'

अ. ४.२९.३

अग्नयः - अग्निवत् ज्ञान के प्रकाश में प्रकाशमान विद्वान्।

'समग्नयो विदुरन्यो अन्यम्'

ऋ. १२.३.५०

अग्नायी - (१) अग्नि की पत्नी स्वाहा।

'इहेन्द्राणीमुपह्वये वरुणानीं स्वस्तये
अग्नायीं सोम पीतये'

ऋ. १.२२.१२ नि. ९.३४

'इन्द्राण्यग्नाय्यश्वनीराट्'

ऋ. ५.४६.८ मै.सं. ४.१३.१०,२३१.१० तै.ब्रा. ३.५.१२.१, नि. १२.४६

(२) अग्नि या सेनापति की स्त्री (३) अग्रणी पुरुष की स्त्री।

अग्नाविष्णू - (१) अग्नि और विष्णु (२) राजा और मन्त्री (३) राजा और सेनापति (४) यजमान और पुरोहित, (५) अग्नि और सूर्य ।

'अग्ना विष्णू महि तद् वां महित्वम्'

अ. ७.२९.१ तै. सं. १.८.२२.१, मैं. सं. ४.११.२:, १६५.१६, का. सं. ४.१६, शां. श्रौ. सू. २.४.३

अग्न्याधेय - अग्नि आधान योग्य यज्ञ कर्म।

'अग्न्याधेयथोदीक्षां'

अ. ११.७.८

अग्न - आगे वाला, श्रेष्ठ।

'अग्रमग्रमिद् भजते वसूनाम्'

ऋ. १.१२३.४

जो वस्तु व्यक्त हो आंखों के आगे हो वह अग्न है। आगे इसी का अपभ्रंश है।

अग्रणीति - अग्रनीति, सर्वश्रेष्ठ नीति (२) युद्ध में आगे बढ़ती हुई सेना।

'प्रवायवः पान्ति अग्रणीतिम्'

ऋ. २.११.१४

अग्नम् - (१) सबसे मुख्य तत्त्व मन।

'ततो अग्रमजायत'

ऋ. १०.१३५.६

(२) श्रीर्वै राष्ट्रस्य अग्रम् श्रियमेव एनां गमयति (३) मुख्य पद

'अग्रं वृक्षस्य रोहतः'

वाज.सं. २३.२४.तै.सं. ७.४.१९.३, मै.सं. ३.१३.१: १६८.५ का.सं. (आश्व) ४.८. श.ब्रा. (मा.) १३.२.९.७; ५.२.५ तै.ब्रा. ३.९.७.४

अग्रभरणा - (१) समुद्र जिसमें कुछ पकड़ा नहीं जा सकता (२) मोक्ष की स्थिति जिसमें आत्मा कर्म के बन्धन में नहीं रह जाता ।

अगाम - (१) आ गये हैं, (२) प्राप्त किया है, (३) भटक गए हैं ।

'इममध्वानं यमगाम दूरात्'

ऋ. १.३१.१६ ला.श्रौ सू. ३.२.७

(अग्निहोत्रादि रूपी तेरी सेवा को छोड़ जो हम दूरदेशी मार्ग पर भटक गए हैं- सा. । इस संसार मार्ग को जिसे हमने आप से दूर हो कर प्राप्त किया है -(दया.) ।

अगिरोकस् - (१) जिस वाणी में स्थान न मिले (२) जिसके बल पराक्रम का वर्णन न किया जाए ।

अग्निः - (१) अग्रणी भवति (यज्ञ में अग्नि अगुवा बनते हैं । अग्र + नी + क्विप् = अग्नी (रेफ़ और अ का लोप) मनुष्योपकारी कार्यों में अग्नि अग्रेसर है ।

(२) अङ्ग + नी = अग्नी । सभी वस्तुओं को अग्नि अपने अंक में मिला लेता है । आत्मसात् कर लेता है। अतः अग्नि कहलाया (अङ्ग नयति सन्त ममानः)

(३) विद्युत् (४) सूर्य, ।

'आ पुत्रा अग्ने मिथुनासो अत्र
सप्त शतानि विंशतिश्च तस्थुः'

ऋ. १.१६४.११ अ. ९.९.१३

(५) परमेश्वर (६) विद्वान् (७) सेनानी -(दया.) स्वामी जी ने 'अग्रणी' व्युत्पत्ति से ये अर्थ निकाले हैं । (८) अग्नि सभी देवताओं का वाचक है (अग्निः सर्वाः देवताः) जैसे इन्द्र, मित्र, वरुण, गरुत्मान् मातरिश्वा -(९) 'अग्निर्वैदेवानां सेनानी' में अग्नि को देवों का सेनानी माना गया है । (१०) 'यदिन्द्रश्च' आदि वचनों में अग्नि को राजा कहा गया है । अग्रणी से अग्नी एवं अग्नि हो गया है जो वस्तुतः परमेश्वर का वाचक है । - (दया.)

(११) स्थौला हठीवि (निरुक्तकार) के मत से अग्नि रुक्ष या शुष्क करने वाले हैं । 'न क्नोपयति न स्नेहयति इति अग्निः' क्नुपी धातु स्नेहार्थक है ।)

(१२) शाकपूणि के मत से अग्नि उणादि कोष में गत्यर्थक 'अगि+नि' से बना है । अग्नि गतिशील है । पदार्थों का व्यञ्जक है और दाहक है । इसी प्रकार परमेश्वर भी है । अग्नि शब्द इण् , अञ्ज, दह, या णीञ् धातुओं से भी सिद्ध होता है । इण् से अ, अञ्ज या दह से ग, और णीञ् से नी लेकर 'अग्नी' बनता है । अयन +अञ्जन +नी = अजनी = अग्नि ।

'अग्निमीडे पुरोहितं यज्ञस्व देवमृत्विजम् ।
होतारं रत्नधातमम् ।'

ऋ. १.१.१

(१३) वानप्रस्थ को भी अग्नि कहते हैं ।

'मूरा अमूर न वयं चिकित्वो
महित्वमग्ने त्वमङ्ग वित्से'

ऋ. १०.४.४, नि. ६.८

हम मूढ़ विद्यार्थी जगत पिता की महिमा नहीं जानते । हे अगूढ़ मित्र वनस्थ आप उसका महत्व जानते हैं । (१४) अग्नि तीन हैं- (१) गार्हपत्य (वनस्पति), (२)दक्षिणाग्नि (शमित) और (३) आहवनीय (देव अग्नि) । विवाह काल में जिस अग्नि में यज्ञ किया जाता है उसी को गृहस्थ अपने घर ला कर सदा प्रदीप्त रखता, बुझने नहीं देता और उसी अग्नि को प्रदीप्त कर भोजन बनाता है । दक्षिणाग्नि से यज्ञ काल में ऋत्विज आदिकों को दक्षिणा रूप में खाद्य पदार्थ देने के लिए तैयार किए जाते हैं । आहुति के लिए स्थायी पाक भी इसी से बनता है । इसका दूसरा नाम 'अन्वाहार्यपचन' है । यज्ञ में देवपूजा संगतिकरण और दान के तीन आवश्यक विधान हैं । बिना दक्षिणा के यज्ञ अपूर्ण रहता है । जिसमें अग्निहोत्र आदि .यज्ञ किये जाते हैं, वह आहवनीय है । पूर्वकाल में अग्नि की रक्षा आवश्यक थी । इन दिनों वह बात नहीं रही ।

(१५) शत्रु हन्ता राजा -(दया.) ।

'अयाते अग्ने समिधा विधेम
प्रतिस्तोमं शस्यमानं गृभाय'

ऋ. ४.४.१५, तै.सं. १.२.१४.६, मै.सं. ४.११.५:१७४.७, कां.सं. ६.११; नि. ३.१२

सायण ने यहां अग्नि अर्थ ही किया है । आप की इस छलरहित नीति से हम जिन जिन प्रशंसनीय कार्यों को करें उन्हे आप स्वीकार करें । गर्भ सम्बन्धी रोग दूर करने वाला अग्नि नामक एक औषधि ।

‘अग्निष्टं ब्रह्मणा सह’

ऋ. १०.१६२.२; अ. २०.९६.१२

(१६) गर्भ ।

‘प्रजननं वा अग्निः’

वै.सू. १.३.१.४

गर्भ में वीर्य-सेचन अग्नि में चरु डालने के समान ही है।

‘यद् वां पक्वं परिविष्टमग्नौ’

अ. १२.३.७, ६.१२२.३

(१७) योषा

योषा वाव गोतमाग्निः । तस्या उपस्थ एव समित् । यत् उपमन्त्रयंते स धूमः । यज् अन्तः करोति त अङ्गाराः । अभिनन्दाः विस्फुतिगां तस्मिन् एतस्मिन् नग्नो देवो रेतो जुह्वति । तस्य आहुतेः गर्भ सम्पद्यते । छा-४.८

(स्त्री अग्नि है, कामांग काष्ठ, परस्पर प्रेम धूम, भोग ज्वाला, सुख विस्फुलिगं, वीर्यदान आहुति है)

(१८) अग्नि तत्त्व, सूर्यताप, अग्निबीज; आग्नेय पदार्थयुक्त ब्रायोनिया आदि जैसी ओषधि । अग्निकः चित्रक । अग्निजः अग्निजारः । अग्निगर्भा तेजस्विनी । अग्निगर्भः सूर्यकान्तः । अग्निजिह्वा कलिकारी । अग्निज्वाला घातकी महाराष्ट्रीया अग्निदमनी । अग्निधनेनानिम्बः। अग्निभाषा ज्योतिष्मती । अग्नि मन्थः। अग्निबल्लभः राजा सर्वकश्च अग्निवीर्यं सुवर्णम् । अग्नि सम्भवः कसुम्भम् । अग्निसहायः परावक्ता अग्निसारो रसाञ्जनम् अग्निः चित्रकः भल्लकः सुवर्णञ्च इत्येते पदार्थाः वातदोष शमन्तः भवन्ति ।

‘अग्निष्टच्छोचन्नप बाधतामितः’

ऋ. ७.५०.२

अग्निजिह्वः - अग्निज्वाला के समान ज्ञान प्रकाश करने वाली वाणी बोलने वाला ।

‘ये अग्निजिह्वा ऋतसाप आसुः’

ऋ. ६.२१.११

अग्निजिह्वा - आग की लपटों वाली ।

‘अग्निजिह्वा धूमशिखा’

अ. ११.९.१९

अग्निजिह्वाः - मरुतों का विशेषण (१) विद्वानों को प्रमुख प्रवक्ता रखने वाले, (२) विद्युत् रूप जिह्वा से युक्त (३) अग्नि की लपटों की ज्वाला से युक्त (४) देवताओं की संज्ञा वे अग्नि जिह्वा वाले हैं ।

‘अग्निजिह्वा मनवः’

ऋ. १.८९.७; वाज.सं. २५.२०.

(५) समस्त पदार्थों को प्रकाशित करने वाली उपेदशप्रदवाणी से युक्त ।

ऋदूदराः श्रृणवन्नग्निजिह्वाः’

ऋ. ३.५४.१०

अग्निजिह्व - जिह्वा का अग्रभाग

‘सरस्वत्या अग्रजिह्वाया’

वाज. स. २५.१ मै. सं. ३.१५.१:, १७७.८

अग्नित् - (१) अग्नि को प्रकाशित करने वाला (२) अपने समान अन्य विद्वान् और तेजस्वी को उत्पन्न करने वाला (३) अग्नियों को प्रज्वलित एवं उनसे यज्ञ करने वाला (४)अग्नि ।

‘तव नेष्ट्रं त्वमग्निदृतायतः’

ऋ. २.१.२; १०.९१.१०

अग्नितपाः - अग्नि के समान प्रकाशमान ।

‘बृहस्पतिरग्नितपोभिरर्कैः’

ऋ. १०.६८.६; अ. २०.१६.६,

अग्नितपः - (१) अग्नि अथवा आचार्य के अधीन ब्रह्मचर्यादि द्वारा तपस्या करने वाला (२) शत्रु को तपाने वाला ।

‘अग्नितपो यथासथ’

ऋ. ५.६१.४

अग्नितेजाः - अग्नि के समान तेजस्वी ।

‘संशितोऽग्नितेजाः’

अ. १०.५.२५

अग्निदग्धः - (१) आग में जलकर मरा हुआ, (२) अग्नि के समान तीव्र ताप से स्वयं जाज्वल्यमान (३) अग्नि द्वारा अपने अज्ञान एवं पापादि को भस्म करने वाला (४) अग्नि होत्र करने वाला नरेश ।

‘ये अग्निदग्धा ये अनग्निदग्धाः’

ऋ. १०.१५.१४ अ. १८.२.३५, तै.ब्रा. ३.१.१.७;

आश्व श्रौ.सू. २.१९.२२

अग्निधः – अग्नि को धारण करने वाला ।

'अग्निधं वा घृतदक्षं दमूनसम्'

ऋ. १०.४१.३

अग्निधान् – अग्निशाला (२) अग्नि का स्थान (३) ईश्वरोपासना (४) देवपूजा

'आष्ट्रीपदं कुणुते अग्निधान'

ऋ. १०.१६५.३ अ. ६.२७.३.

'वासयातः पर्यग्निधानात्'

अ. १२.३.३५

अग्निमिन्ध – (१) यज्ञ के सात ऋत्विजों में एक आग्नीध्र नामक ऋत्विज् (२) अग्रणी नायकों को या विद्वान् ब्राह्मणों को मान, दान आदर से सदा उत्साहित और उत्तेजित करने वाला (३) राजा को विशेष ज्ञान से उज्ज्वल करने वाला

'होता अध्वर्यु रावया अग्निमिन्धः'

ऋ. १.१६२.५ वाज सं. २५.२८; तै.सं. ४.६.८.२, मै.सं. ३.१६.१; १८२.६ का.सं. (अश्व.) ६.४.

अग्निनेत्र – राज सभा में आगे विराजने वाला अग्निवत् नायक पुरुष ।

'अग्निनेत्रेभ्यो देवेभ्यः पुरः सद्भ्यः'

वाज.सं. ९.३५., श.ब्रा. ५.२.४.५

अग्निमूढ – (१) अग्रणी सेनापति के स्वभाव से मोहित (२) मार्गभ्रष्ट ।

'तेषां वो अग्नि मूढानाम्'

अ. ६.६७.२, साम. २.१२२१

अग्नि ज्योतिः – भौतिक अग्नि परमात्मा ज्योति का प्रतिनिधि है ।

'अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः'

साम. २.११८१, वाजसं सं. ३.९, मैं.सं. १.६.१०: १०२. ११; १.८.१: ११५.२; १.८.५: १२१.१; २.७.१६: ९९.४ का.सं. ४०.६ ऐ.ब्रा. २.३१.४; ३२.१; ३७.१७; ५.३१.४, कौ.ब्रा. २.८; १४.१, जै.ब्रा. १.४. ष.ब्रा. १.४.९, श.ब्रा. २.३.१.३०, ३२,३६, तै.ब्रा. २.१.९.२ तै.आ. ४.१०.५; ५.८.१० आश्व श्रौ. सू. २.३.१६;५.९.११, शां.श्रौ.सू. २.९. १, ७.९.२, ला. श्रौ.सू १.८.१४; आप श्रौ. सू. ६.१०.८; १५.१२.८, १६.२३.१०,

अग्निरूपः – (१) अग्निवत् तेजस्वी पुरुष

'अभिप्रयन्तु नरो अग्निरूपाः'

ऋ. १०.८४.१; नि. १०.३०

(२) अग्नि के तुल्य योद्धा (३) कवचधारी

अग्निष्वात्त – (१) जिसने यज्ञ या सोमपान नहीं किया है । (२) अग्नि या अग्रणी रूप से स्वीकृत (३) ज्ञानी, विद्वान्, आचार्य आदि पदों का भोग करने वाला (४) अग्निवत् तेजस्वी राजा द्वारा स्वीकृति (५) उत्तम पदों पर प्राप्त (६) पितरों का एक विशेषण (७) सूर्यरूप अग्नि से उत्तम रूप से परिपक्व (८) ज्ञानी पुरुषद्वारा परीक्षित (९) जठाराग्नि द्वारा सुपाचित ।

'अग्निष्वात्ताः पितर एह गच्छत'

ऋ. १०.१५.११, अ. १८.३.४४ तै. सं. २.६.१२.२, मै.सं. ४. १०.६: १५७:१०, का. सं. २१.१०, आश्व श्रौ.सू. २.१९.२२ वाज. स. १९.४९

'शतरुद्रियाणामग्निष्वादत्तानाम्'

वाज.सं. २१.४३.

(१०) जिसने अग्नि विद्युत आदि का विज्ञान प्राप्त किया हो (११) तापदायक तेजों से सम्पन्न ।

'ये वा अयज्वानो गृहमेधिनः ते पितरो अग्निष्वात्ताः'

तै. ब्रा. १९.९.६

अग्निवासाः – बाहर भीतर सर्वत्र अग्नि से आच्छादित पृथ्वी ।

'अग्निवासाः पृथिव्यसितज्ञः'

अ. १२.१.२१, गो.ब्रा. १.२.९ कौ.सू. १३७.३०

अग्निशाल – अग्नि के लिए गृह ।

'हविर्धानमग्निशालम्'

अ. ९.३.७

अग्निश्रियः – विद्युत् की विशेष शोभा को धारण करने वाले मरुत ।

'अग्निश्रियो मरुतो विश्वकृष्टयः'

ऋ. ३.२६.५ तै. ब्रा. २.७.१२

अग्निषोभीय – अग्नि और सोम विभाग का ।

'द्विरूपा अग्निषोमीया'

वाज सं. २४.८, मै. सं. ३.१३.९: १७०.६

अग्निषोमीय पशुः – पशु जो यज्ञ यूप मे बांधा जाता है ।

'य एवाग्नीषोमीयः पशुर्बध्यते'

अ. ९.६.६

अग्नीषोमौ – (१) जलों का अग्निस्वरूप अंश उदजन है जो स्वयं ज्वलनशील है और जो तेजाब बनाने में सहायक है और दूसरा स्वरूप सोम

है जो ओष उत्पन्न करता है । और ज्वलन में सहायक है वह ओषधियों में ओष उत्पन्न करने से सोम है (२) अग्नि और सोम ।

'अग्नीषोमौ बिभ्रत्याप इत् ताः'

अ. ३.१३.५, तै.सं. ५.६.१.३ मै.सं. २.१३.१:१५३.१ का.सं. ३५.३,३९.२

अग्निष्टोम - (१) अग्नि, (२) सूर्य (३) संवत्सर (४) प्रतिष्ठा प्राप्ति ।

'स वा एषोऽग्निरेव यदग्निष्टोमः
तं यदस्तुवंस्तस्मादग्निस्तोमः'

ऐ.ब्रा. ३..४३

'यो ह वा एष सूर्यस्तपति एषोऽग्निष्टोमः एष साहूः'

गो.ब्रा. ३.४.१०

'अग्निष्टोमो वै संवत्सरः'

ऐ.ब्रा. ४.१५

'अग्निष्टामन वै देवा इमं भूलोकमजयन्
प्रतिष्ठा वा अग्निष्टोमः'

श.ब्रा. ३.३.३.२

'साग्निष्टोममतिद्रव'

अ. १०.९.८

अग्रिमा - श्रेष्ठ, सर्वप्रथम उत्तम वाणी

'समुद्रमासामव तस्थे अग्रिमा'

ऋ. ५.४४.९

अग्रिय - (१) अग्रे गमनम् (आगे जाना) । तृतीयैकवचन में 'आ' जोड़कर अग्रिया बना । अर्थ है आगे जाने से । (२) अग्रे सम्पादिनः, अग्रे सम्पादन इति (आगे सम्पादन करने वाले) (३) अग्र +घ = अग्रिय । अग्रिय +जस् =अग्रियः - सर्वश्रेष्ठ

'अभूत विश्वे अग्रियोतवाजाः'

ऋ. ४.३४.३, नि. ६.१६.

(हे अन्नो या ऋभुवो, आप अग्रगामी बनें) - हे ब्रह्मचारियो, तुम सब अग्रगति से ज्ञानी बनो, शीघ्र ज्ञान सम्पादक श्रेष्ठ एवं बलवान् बनो -(दया.)

अग्रियः - अग्र +ह =अत्युत्तम ।

'अयं ते स्तोमो अग्रियः'

ऋ. १.१६.७

अग्नीध्र - (१) अग्नि रखने का स्थान चूल्हा, (२) विनीत (३) प्रति अंग से झुकने वाले शिष्य को धारण करने वाला आचार्य (४) श्रौत यज्ञ का एक ऋत्विक् ।

'पिबाग्नीध्रात् तव भागस्य तुष्णुहि'

ऋ. २.३६.४ अ.२०.६७.५

अग्नीपर्जन्या - अग्नि और मेघ ।

'अग्नीपर्जन्याववतं धियं मे

ऋ. ६.५२.१६

हे अग्नि और पर्जन्य, तुम दोनों मेरे यज्ञ रूपी कर्म की रक्षा करो, पर्यन्य (मेघ) अन्न उत्पन्न करता है और विधान करता है ।

अग्नीषोमा - (१) तेज और चन्द्र (२) अध्यापक और परीक्षक (३) वारणारव्य वायु और विद्युत् (४) आचार्य और विद्वान् ।

'अग्नीषोमा य आहुतिं यो वां दाशद् हविष्कृतिम्

ऋ. १.९३.३ मै.सं. ४.१४.१८ २४८.६ तै.ब्रा. २.८.७.१० शां श्रौ.सू. ५.१९.१४ कौ.सू ५.१

अगुरिः - (१) दुस्साध्य, नहीं चलने योग्य - (२) गम्य, प्राप्य ।

'दूरे ह्यध्वा जगुरिः पराचैः

ऋ. १०.१०८.१, नि. ११.२५

(यह मार्ग दूरी पर है और बहुत चलने वालों के लिए भी दुस्साध्य है । - पराङ्मुख चलने वालों से ही गम्य या प्राप्य है ।

अग्रु - सर्वाग्रणी (२) आजन्म ब्रह्मचारी अविवाहित ।

'ये अग्रवः शशमानाः परेयुः'

अ. १८.२.४७

(३) अग्रणी, नायक ।

'वेत्युग्रुर्जनिवान्वा अति स्पृधः'

ऋ. ५.४४.७

(४) आगे बढ़ने वाला ।

'जनीयन्तोन्वग्रवः'

ऋ. ७.९६.४ साम. २.८१०. आश्व श्रौ.सू. ३.८.१

अग्रू - (१) आगे आई हुई ।

'दश स्वसारः अग्रुवः समीचीः'

ऋ. ३.२९.१३ का.सं. ३८.१३. तै. ब्रा. १.२.१.१९ आप श्रौ. सू. ५.११.६

(२) नदी, नाड़ी ।

'सप्तस्वसारो अग्रुवः'

ऋ. १.१९१.१४

(३) प्रबल वेग से जाने वाली नदी ।

(४) विवाह के अवसर पर आगे चलने वाली स्त्री ।

'प्रायुवो नभन्वो न वक्वा'

ऋ. ४.१९.७

(५) अग्रगामी ।

(६) कन्या ।

'अस्या इच्छन्नग्रुवै'

अ. ६.६०.१

'तमग्रुवः केशिनीः सं हि रेभिरे'

ऋ. १.१४०.८

अगृभीतशोचि : – (१) न स्पर्श करने योग्य ज्वाला वाला अग्नि (२) अपरिचित या प्रत्यक्ष चक्षुओं से नहीं देखने योग्य तेजवाला प्रभु (३) असह्य ज्वाला वाला अग्नि (४) असह्य तेजस्वी ।

'चरिष्णुधूममगृभीतशोचिषम्'

ऋ. ८.२३.१ सोम १.१०३

अगृभीत – किसी इन्द्रिय से कभी न ग्रहण करने योग्य (२) चक्षु आदि साधनों से अग्राह्य (३) अविज्ञेय ।

'अयं कृतुरगृभीतो'

ऋ. ८.७९.१, तै.ब्रा. २.४.७.६ आश्व.श्रौ.सू. २.१८.१५

'एता नयामे अगृभीतशोचिषः'

ऋ. ५.५४.५

अगृभ्णत् – अगृह्णन् –ग्रहण किया ।

'अपामुपस्थे महिषा अगृभ्णत्

ऋ. ६.८.४ नि. ७.२६, कौ.ब्रा. २१.३

अग्नेर्घासः – अग्नि को अपने भीतर धारण करने वाली औषधि ।

'अग्नेर्घासो अपांगर्भः'

अ. ८.७.८

अग्नेस्तनूः – अग्नि का स्वरूप, योग्य पुरुष

'अग्नेस्त नूरसि विष्णवे त्वा'

वाज.सं. ५.१., मै.सं. १.२.६:१६.३;३.७.९: ८८.८, का.सं. २.८, श.ब्रा. ३.४.१.९,

अग्नेः पूर्वेभ्रातरः – अग्निरूप आत्मा को धारण करने वाले पूर्व के विद्वान् जन ।

'अग्नेः पूर्वे भ्रातरो अर्थमेतम्'

ऋ. १०.५१.६

अग्न्येध – अग्नि को अधिक प्रदीप्त करने वाली ।

'प्रभायाअग्न्येधम्'

वाज. सं. ३०.१२, तै.ब्रा. ३.४.१.८

अग्रे – आगे (२) सृष्टि के पूर्व ।

'हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे'

ऋ. १०.१२१.१, अ. ४.२.७, वाज.सं. १३.४, २३.१, २५.१०,, वाज सं. (का.) २९.३३, तै.सं. ४.१.८.३, २.८.२, ५.५.१.२. मै.सं. २.७.१५: ९६.१३, २.१३.२३: १६८.५; ३.१२ १६:१६५.१ का.सं. १६.१५, २०.५, ४०.१, का.सं.(अ श्व) ५.११, पंच ब्रा. ९.९.१२, श.ब्रा. ७.४.१.१९, १३.५.२.२३, आश्व.श्रौ.सू.२.१७. १५, ३.८.१ आप श्रौ. सू. १४.२९.१, १६.७.८, २१.४, २२.३, १७.७. १, २०.२.२, १९.१२, नि. १०.२३

(सृष्टि के पूर्व परमात्मा से हिरण्यगर्भ उत्पन्न हुआ)

अग्रेगः – सब के आगे जलने वाला आत्मा, नायक ।

'अग्रेगो राजाप्यस्तविष्यते'

ऋ. ९.८६.४५ साम २.९६६

अग्रेगाः – सब से आगे चलने वाला

'वायुरग्रेगा यज्ञप्रीः'

वाज सं. २७.३१, का.सं. १०.१२. तै.ब्रा. २.४.७.६, आश्व श्रौ.सू. २.१२.५, ५.१०.४, शां. श्रौ. सू. ७.१०.९

अग्रेगुवः – अन्तरिक्ष मे व्यापक जल ।

'देवीरापो अग्रेगुवः'

वाज.सं. १.१२, वाज. सं. (का) १.४.२, श. ब्रा. १.१. ३.७

अग्रेपुवः – वातावारण को पवित्र करने वाले जल ।

'देवीरापो अग्रेगुवः अग्रेपुवः'

वाज. सं. १.१२

अग्रेवधः – आगे आए शत्रुओं को मारने वाला ।

'नमो अग्रेवधाय च'

वाज. सं. १६.४०, तै.सं. ४.५.८.१, मै.सं. २.९.७: १२६.३, का. सं. १७.१५

अगोता – भूमि और इन्द्रियों मे बल का न होना ।

'मागोतायै सहसस्पुत्र
मा निदेऽपद्वेषांस्या कृधि'

ऋ. ३.१६.५

(८) इन्द्रियों के भीतर शिथिलता प्राप्त कराने वाला रोग ।

'अगोतामनपत्यताम्'

अ. ४.१७.६

अगोपाः - (१) बिना ग्वाले की गौ (२) अपने से अन्य किसी की रक्षा के लिए अपेक्षा न करने वाला रोग ।

अगोरुध - (१) वाणी पर रोक न डालने वाला ।

'अगोरुधाय गविषे'

ऋ. ८.२४.२०, अ. २०.६५.२, आश्व गृ.सू. १.१.४.

(२) अपनी ज्ञान किरणों को न रोक रखने वाला, ज्ञान किरणों का प्रसार करने वाला (३) गौ और भूमियों पर स्वत्व नहीं रखने वाला (४) लोगों की भूमि आदि न छीनने वाला दानशील राजा

अगोह्य - (१) अग्राह्य पुरुष, (२) अग्राह्य पदार्थ ।

'अगोह्यस्य यदसस्तना गृहे
ददद्येदमृभवो नानु गच्छथ'

ऋ. १.१६१.११, नि. ११.१६

(घर में जब जाकर रहो या सोवो तब अग्राह्य पुरुष या अग्राह्य पदार्थ के इस दुश्चरित्र का अनुगमन मत करो)

(२) नहीं छिपने योग्य, (३) प्रकट, (४) उज्ज्वल (५) अमृत स्वरूप आत्मतत्त्व ।

'आगोह्यं यच्छ्रवयन्त ऐतन'

ऋ. १.११०.३

(कभी न छिपने योग्य सूर्य- प्रकाशवत् आत्म तत्त्व या परम ज्ञान प्रदान करो जिसे स्वयं गुरुमुखों द्वारा श्रवण कराने की इच्छा करते हुए आगे बढ़ो)

(६) अगुहनीय, आदित्य (७) सबके लिए गोचर कभी छिप कर नहीं रहने वाला

'सत्राजिदगोह्यः'

ऋ. २०.६४.१ ऋ. ८.९८.४, साम १.९३, २.५९७

अगौः - मूकजन ।

'उक्थञ्चन शस्यमानम्
अगोररिरा चिकेत ।'

ऋ. ८.२.१४

अघ - पाप (१) राक्षस । आगत्य हन्तारः (आकर हनन करने वाले)। आङ् + हन् +उ= अघ (अन्येष्वपि दृश्यते पा. ३.२.१०१) पृषोदरादिवत् आस का ह्रस्व और ह का घ ।

'इन्द्रासोमा समघशंसमभ्यघम्
तपुर्ययस्तु चरुरग्निवां इव ।'

ऋ. ७.१०४.२, नि. ६.११

(हे इन्द्र और सोम, पाप की प्रशंसा करने वाले तथा पाप करने के निमित्त उद्यत राक्षस को आप दोनों साथ हो कर हटावें)

'अप नः शोशुचदघम्'

ऋ. १.९७.१-८, अ. ४.३३.१-८, वाज.सं. ३५.६,२१, तै. आ. ६.१० .१, ११.१, शां. श्रौ. सू. ४.२.९, आप श्रौ सू. १४.२२.१,२, आश्व गृ.सू. ४.६.१८, शां.गृ.सू. ४.१७.५ कौ.सू. ९.२, पा. गृ.सू. ३.१०.११,याज्ञ. धर्म. ३.३

(३) संचालित करता है ।

'सहस्रं महिषाँ अघः'

ऋ. ८.१२.८

अघद्विष्टा - पाप से द्वेष करने वाली । पापी का विरोध करने वाली ।

'अघद्विष्टा देवजाता'

अ. २.७.१

अघन्तपुः - हिंसा रहित स्वयं नष्ट न होने और शत्रु को नाश करने वाला शत्रु-सन्तापक उपाय या शस्त्र ।

'रक्षोयुजे तपुरघं दधात'

ऋ. ६.६२.८

अघमारः - (१) दुष्टों को पाप अपराध के कारण मारने वाला (२) पाप रुप निमित्त से मारने वाला अधमार देवता ।

'यमो मृत्युरघमारः'

अ. ६.९३.१

अघयजनम् - अघ अर्थात् पाप को दूर करने वाला ।

'तस्य सर्वस्यांहसो अघयजनमसि'

मै.सं. १.१०.२ : १४२.३ (उन सभी पापों को तू दूर करने वाला है)

अघल - अघ या कष्ट को लाने वाला ।

'मृत्योर्वै अघला दूताः'

अ. ८.८.१०

अघरुद - (१) पापों के कारण रोने वाली स्त्री ।

'परो यन्त्व अघरुदो विकेश्यः'

अ. ११.२.११

(२) बुरी तरह से रोने वाला बन्धुजन ।

'मा त्वाघरुदो रुदन्'

अ. ८.१.१९

अघविष - (१) पाप रूपी विष से पूर्ण (२) पाप पूर्ण नीच व्यक्ति ।

अघविषा - (१) पाप से पूर्ण हत्याकारी सेना
'त्रायध्वं नो अघविषाभ्यो वधात्'
अ. ६.९३.३
(२) पाप रूपी विष से भरी ।
'आविष्टिताघविषा'
अ. ५.१८.३

अघशंस् - अघ +शंस् +क्विप् । पाप की प्रशंसा करने वाला ।

अघहारः - (१) सब से प्रबल आघातकारी पुरुष ।
'द्रात्वेषामघहारो विविद्धः'
अ. ६.६६.१
(२) पापी ।
'मैषां मोच्यघहारश्च नेन्द्र'
साम २.१२१४

अघ्नत् - अहिंसक ।
'अघ्नते विष्णवे वयम्'
ऋ. ८.२५.१२

अघ्न्य - कभी नाश न होने वाला आत्मा ।
'प्रशंसा गोष्वघ्न्यं क्रीडं यच्छर्धो मारुतम्
जम्भे रसस्य वावृधे'
ऋ. १.३७.५
(२) विनाश न होने वाला रथ (३) विनाश न करने योग्य शरीर रूपी रथ (४) अविनाशी आकाशरूपी रथ ।
'न्यघ्नस्य मूर्धनि
चक्रं रथस्य येमथुः।
परिद्यामन्यदीयते'
ऋ. १.३०.१९
तुम दोनों विनाश न होने वाले दृढ़ रथ के सिर पर अग्र भाग पर एक और चक्र लगाओ जिससे यह आकाश में भी चला जाये ।
रक्षा योग्य देहरुपी रथ के शिरोभाग में अन्य इन्द्रियों से भिन्न क्रिया करने वाले मनरूप साधन को नियमित करते हो । इस महान् आकाश से सिर पर एक सूर्य रुप चक्र लगा है जौ आकाश में घूमता है ।

अघा - मघा नक्षत्र ।
'अघासु हन्यन्ते गावः'
ऋ. १०.८५.१३
मघा नक्षत्रों में सूर्य की किरण मारी जाती हैं, अर्थात् मन्द हो जाती हैं ।

अघाद् - अघ या अत्याचारों को खा जाने वाली ।
'अघादघविषा भव'
अ. १२.५.५९

अघायन् - (२) पापचारी ।
'विश्वस्मात् सीमघायत उरुष्य'
ऋ. ४.२.६
(२) अघ इव आचरति इति अघायति । पापाचरण - दया (३) परोपकारी - सा. ।
'उरुष्याणो अघायतः समस्मात्'
ऋ. ५.२४.३ वाज.सं. ३.२६, मै. सं. १.५.३:६९.१३ का.सं. ७.१, श. ब्रा. २.३.४.३१, आप श्रौ.सू. ६.१७.८, नि.५.२३

अघायु - (१) हत्या करने का इच्छुक ।
'परेणाघायुरर्षतु'
अ. ४.३.२, १९.४७.७.
'नि मर्त्यादघायोः'
ऋ. १.२७.३, साम २.९८६

अघाश्व - (१) घोड़े के समान ऊपर उछल कर आक्रमण करने वाला सर्प ।
'अघाश्वस्येदं भेषजम्'
अ. १०.४.१०
(२) एक वैदिक राजा (३) कभी न मरने वाला अश्व का स्वामी ९४) अमृत चेतन जीव
'यमश्विना ददथुः श्वेतमश्वम्
अघाश्वाय शश्वदित् स्वस्ति'
ऋ. १.११६.६
हे शीघ्रगामी रथों के संचालन करने में कुशल शिल्पियो, तुम दोनों अघाश्व नामक राजा को श्वेत चमकता हुआ या अतिवेगशाली मार्ग-साधन देते ही वह सदा कल्याण कारक हो । अथवा, हे प्राण और अपान, तुम दोनों अमृत चेतन जीव को श्वेत अश्व या व्यापक अनादि आनन्दमय ब्रह्म का साक्षात्कार कराते हो ।

अघ्न्या - न मारने योग्य (१) रक्षा करने योग्य गौ ।
'पतिं वो अघ्न्यानाम्'
ऋ. ८.६९.२, साम २.८६२, ऐ. आ. १.३.५.४, ५.१.६.५
(२) अहन्तव्या (नहीं मारने योग्य) या अघघ्नी (अघ, पाप या दुर्भिक्ष नष्ट करने वाली) । अ +हन् +यत् +डीष् =अघ्न्या । अथवा अघ +हन्

+यत् +टाप् =अघ्न्या । अर्थ है (३) गौ, (४) वाक् (५) मेघ महाभारत में भी लिखा है ।

'अघ्न्येति गवां नाम क एतां हन्तुमर्हर्ति
वस्तुतः गौ सनातन से अघ्न्या है ।
सूयवसादे भगवती हि भूया
अधा वयं भगवन्तः स्याम ।
अद्धि तृणमघ्न्ये विश्वदानीं
पिब शुद्धमुदक्माचरन्ती ।'

ऋ. १.१६४.४०, अ.७.७३.११, ९.१०.२०. का श्रौ.सू. २५.१.१९. आप. श्रौ.सू. ९.५.४, नि.११.४४

(६) गौ के समान कभी न जोड़ने योग्य स्त्री

'प्रजानत्यघ्न्ये जीवलोकम्

अ. १८.३.४

'एवा ते अघ्न्ये मनोऽधि'

अ. ६.७०.३

अघ्न्यानांपतिः - (१) कभी न नाश होने वाली पंचभूतों की सूक्ष्म तन्मात्राओं का भी पालक परमात्मा, (२) गौओं का पति-साँढ़ ।

'पिता वत्सानां पतिरघ्न्यानाम्'

अ. ९.४.२,४, तै.सं. ३.३.९.२ मै.सं. २.५.१०:६१.१६; ४.२.१०:३३.१७ का.सं. १३.९, विष्णुस्मृति ८६.१३

अघोर - सौम्य, प्रसन्न

'अघोरेण चक्षुषा मित्रियेण'

अ. ७.६०.१, १४.२.१२, का. सं. ३८.१३,आप श्रौ. सू. १६.१६.४, आप मं. पा. १.७.१०

अनघ्न्यौ - एक दूसरे को पीडित न करते हुए वर वधू ।

'अघ्न्यौ शूनमारताम्'

ऋ. ३.३३.१३

अङ्कस् - अञ्चितं कुटिलं स्थानम् (कुटिल स्थान अञ्चित है) अञ्च् +असुन् =अङ्कम् (सर्व धातुभ्योऽसुन्-उणादि-च् का क्). अथवा, अकि +असुन् =अङ्कस् । अर्थ-मार्ग का टेढ़ा मेढ़ा घुमाव । (२) चिह्न ।

'पथामङ्कास्यन्वापनीफणत्'

ऋ. ४.४०.४, वाज सं. ९.१४, तै. सं. १.७.८.३,- मै. सं . १.११.२:१६३.३, का. सं. १३.१४, श. ब्रा. ५.१.५.१९, नि. २. २८

(मार्गों में टेढे मेढ़े घुमावों को पारकर जाता है) ।

अङ्क - रोग का चिह्न, लक्षण

'अङ्कान् समङ्कान् हविषा विधेम'

अ. १.१२.२

अङ्काः - मार्ग मे स्थान स्थान पर अङ्कित मार्ग (२) बाह्य पदार्थों के भीतर ज्ञान ग्रहण करने की इन्द्रियाँ ।

'ऊष्मण्यापिधाना चरूणाम
अङ्काः सूनाः परि भूषन्त्यवश्वम्'

ऋ. १.१६२.१३ वाज.सं. २५.३६, तै.सं. ४.६.९.१३ मै.सं. ३.१६.१ : १८३.५ कां. सं. (अश्व) ६.४

अङ्काङ्क - (१) आपः, (२) गणितविद्या

'अङ्काङ्कं छन्दः'

वाज सं. १५.५, तै.सं. ४.३.१२.३, मै.सं. २.८.७: ११२.४, का.सं. १७.६, श.ब्रा. ८.५.२.६

अङ्की - टेढ़ा अंकुशाकार बांस या लग्गी लिए हुआ मनुष्य, (२) ज्ञानवान् आत्मा ।

'वृक्षं पक्वं फलमङ्कीव
धूनुहीन्द्र सम्पारणं वसु'

ऋ. ३.४५.४

अंकुश - (१) शासन (२) इन्द्र का हस्त ।

'यस्तेऽकुशो वसुदानः'

अ. ६, ८२.३

'अञ्च् या आङ् +कुच से निपातन द्वारा सिद्ध । आकुचित झुका हुआ)।

अङ्कुप - (१) प्रजा की कुटिल कूटनीति (२) कुटिलाचार (३) आप ।

'अङ्कुपं छन्दः'

वाज. सं. १५.४, तै सं. ४.३.१२.२, मै. सं. २.८.७: ११.१४, का सं. १७.६, श.ब्रा. ८.५.२.४

अङ्कुशी - अंकुश वाला (२) वशीकरण साधनों से सम्पन्न ।

'अक्षास इदं कुशिनो नितोदिनः'

ऋ. १०.३४.७

अङ्कून् - चिह्न या अपने आदर्श ध्वजा के अनुकूल श्रेष्ठ पुरुष ।

'यमङ्कूयन्तमानयन्नमूरम्'

ऋ. ६.१५.१७

अङ्ग - लोक में गतिकर्मक 'अंग +अच् =अंग' वेद में गति कर्मक 'अञ्च् या अंक से अंग बना है । वेद में इस का अर्थ 'क्षिप्त' होता है और लोक में अच्छा, सचमुच आदि स्वीकृति सूचक

अव्यय (२) 'ही' अर्थ में भी इसका प्रयोग होता है। जैसे त्वमङ्ग वित्से (तू ही जानता है)।

'कदा नः शुश्रुवद् गिर इन्द्रो अङ्ग'

ऋ. १.८४.८, अ. २०.६३.५, साम. २.६९३, नि ५.१७

(३) सर्वमित्र ।

'क्षिप्रञ्च पुनरर्थे च संगमासूययोस्त था
हर्षे सम्बोधने चैव ह्यंग शब्द प्रयुज्यते ।'

(४) संज्ञा होने पर इसका अर्थ शरीर है (५) नाटक की पंच संधियों मे एक (६)छः का परिचायक (७) वर्तमान भागलपुर के आस पास के देश का प्राचीन नाम ।

'वैध्येन समारभ्य भुवने शान्तगं शिवे'

'तावदंगाभिधो देशो यात्रायां नहि दुष्यति'

(८) प्रजाजन - (दया.) ।

(९) निर्बल शरीर वाला (१०) अंगदेश वासी ।

'अंगेभ्यो मगधेभ्यः'

अ. ५.२२.१४

(११) शरीर ।

'गृहाणाङ्गनन्यप्वे परेहि'

ऋ. १०.१०३.१२, अ. ३.२.५, साम. २.१२११ , वाज.स. १७.४४, नि. ९.३३

अङ्गज्वर - अंगों में ज्वर संताप उत्पन्न करने वाला ।

'अङ्गभेदमङ्गज्वरम्'

अ. ९.८.५

अङ्गभेद - (१) शरीर में होने वाली पीड़ा ।

'अंगभेदो अंगज्वरः'

अ. ५.३०.९

(२) अंगों के फूटने की तीव्रवेदना वाला रोग ।

'अंगभेदो विसल्पकः'

अ. १९.४४.२

अंगल - अंग +र (मतुप अर्थ में) =अंगल । र् का ल् । इस शब्द का लोक में प्रयोग नहीं दीख पड़ता । अ के स्थान में म कर देने से मंगल बनता है । अर्थ है- अंगों के साथ हो सुख देने वाला जैसे दधि, अक्षत और मधु आदि ।

अंग्य - अंग या पावों से चलने वाला जीव

'ये अंस्या ये अङ्ग्याः'

ऋ. १.१९१.७

अंग्यविसल्पक - सारे अंग में फैला विसर्पक रोग

'यो अङ्ग्यो योः कर्ण्यो यो अक्ष्योर्विसल्पकः'

अ. ६.१२७.३

अङ्गर - अङ्गाराः (अङ्कानाः अञ्चनाः) जहां पर अङ्गार रखे जाते हैं वहां चिह्न पड़ जाते हैं। इसी से अङ्क से 'अङ्कार' या 'अङ्गार' बना । अकि +आरण = अङ्गार

'अङ्गिरस्वनमहिव्रत'

ऋ. १.४५.३, नि. ३.१७

अङ्गानि - (१) पांच कर्मेन्द्रिय और पांच ज्ञानेन्द्रिय, (२) मंत्र के अंग । जैसे -

सहाया-साधनोपायाविभागो देश कालयोः।

'विनिपातप्रतीकारे मंत्रः पञ्चांग इष्यते'

(३) राष्ट्र के सात अंग

'स्वाम्यमात्यसुहृत् कोश राष्ट्रदुर्गबला निच ।'
-नीतिशास्त्र

(४) योग के अष्टाङ्ग- यम, नियम, आसन प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा और समाधि

'अङ्गान्यात्मन् भिषजा तदश्विना'

वाज.सं. १९.९३, का. सं. ३८.३, तै. ब्रा. २.६.४.६

अङ्गिरस - (१) जो अंगारो में हुआ वह अंगिरस या अंगिराः है। अंगार + असुन् (२) तपस्वी (३) अग्निप्रधान -(दया.) । दे. 'अङ्गार anglo शब्द का अङ्गिरस से सम्बन्ध विचारणीय है । अंगिरसों का वर्णन निम्न ऋचा में विचारे -

'ऋतं शंसन्त ऋतु दीध्याना
दिवस्पुत्रासो असुरस्य वीराः
विप्रं पदमङ्गिरसो दधानाः
यज्ञस्य धाम प्रथमं मनन्त ।'

ऋ. १०.६७.२

(सत्य की प्रशंसा करने वाले , धर्म मार्ग का ध्यान करने वाले, तेजस्वी, ज्ञानी मनुष्यो के वीर पुत्र विप्रपद को धारण करते हुए मोक्ष की इच्छा करते हैं (४) तेजस्वी-(दया) (५) प्राणों को वश मे करने वाला संन्यासी, (६) प्राण, (बृहदारण्यक में अङ्गिरस् शब्द का निर्वचन अंगानां रसः- अर्थात् प्राण किया गया है (७) प्राणप्रिय ब्रह्मचारी -(दया.) ।

'अंगिरसो नः पितरो नवग्वा
अथर्वाणो भृगवः सोम्यासः'

ऋ. १०.१४.६,अ. १८.१.५८, वाज.सं. १९.५०, तै. सं. २.६.१२.६ कौ.सू. ८१.३६, नि. ११.१९

(८) देह में रस रूप में विद्यमान प्राण ।

'गोत्रा रुजन्नङ्गिरोभिर्गृणानः'
ऋ. ४.१६.८, अ. २०.७७.८
(९) अंगारों के समान दीप्तमान किरण -(दया). (१०) विद्वान् ऋषि (११) तेजस्वी सूर्य आदि लोक।
'भिनद् वलमङ्गिरोभिर्गृणानः'
ऋ. २.१५.८, मै.सं. ४.१४.५.: २२२.१४

अंगिरस्तमः - (१) प्राणों में मुख्यप्राण आत्मा।
'तुश्यं ता अंगिरस्तम
विश्वाः सुक्षितयः पृथक्'
ऋ. ८.४३.१८
(२) सबसे अधिक ज्ञानी, तेजस्वी और जीवनी शक्ति से युक्त अग्नि-सूर्य।
'सो अङ्गिरोभिरङ्गिरस्तमो भूत्'
ऋ. १.१००.४
(३) सर्वोत्तमपुरुषों मे सर्वश्रेष्ठ (४) अग्नि।
'अथा ते अङ्गिरस्तम
अग्ने वेधस्तम प्रियम्
वोचेम ब्रह्म सानसि,।'
ऋ. १.७५.२
(४) जीवात प्राणात् अन्यमनुष्यात् अव्यन्तोत्कृष्टः (जीव, प्राण तथा अन्य मनुष्यो से अत्यन्त उत्कृष्ट) -दया.
(५)अग्नि, आदित्य, प्राण, आत्मा आदि सबसे उत्कृष्ट अधिक तेजस्वी।
'त्वमग्ने प्रथमो अंगिरस्तमः'
ऋ. १.३१.२

अंगिरस्तमाः - (१) प्राणों से भी सर्वश्रेष्ठ (२) प्राणवत् अतिप्रियतमा (३) ज्ञानवती विदुषी (४) प्रकाशवती उषा (५) प्रभात बेला।
'अंगिरस्तमा पथ्या अजीगः'
ऋ. ६.७५.१

अंगिरस्वत् - (१) प्राण के समान (२) अंगिरा के सामान।
'अंगिरस्वत् महिव्रत
प्रस्कण्वस्य श्रुधीहवम्'
ऋ. १.४५.३, नि. ३.१७
(३) जलते हुए अंगारों के समान तेजस्वी। (४)तेजस्वी विद्वानों या वीरों के स्वामी।
'तमङ्गिरस्वन्नमसा सपर्यन्'
ऋ. ३.३१.१९

अंगिरस्वन्ता - (१) उत्तम विद्वानों या देह के बलवान् प्राणो से युक्त स्त्री पुरुष (२) अश्विद्वय।
'अंगिरस्वन्ता उत विष्णुवन्ता'
ऋ. ८.३५.१४

अंगिरसःसूनवः - (१) अङ्गिरस के पुत्र (२) वानप्रस्थाश्रम के पुत्र संन्यासी।
'ते अङ्गिरसः सूनवस्ते अग्ने परि जज्ञिरे'
ऋ. १०.६२.५, नि. ११.१७
(वे ऋषि अंगिरस के पुत्र हैं और वे अग्नि के पुत्र हैं। - सा.
वे ऋषि वानप्रस्थाश्रम के पुत्र होते हैं अतः वे संन्यासी रूप में उत्पन्न होते हैं।

अंगिरादेवः - प्रकाशमान सूर्य
'कात्लेऽयमङ्गिरा देवः'
अ. १९.५४.५

अङ्गीण- अंग वाला

अङ्गुलिः- (स्त्री) (१) अग्रगामिनी, अग्रगालिन, अग्रकारिणी, अग्रसारिणी या अङ्कना। जिस वस्तु पर अंगुलि पड़ जाती है उस पर अङ्क (चिह्न) पड़ जाता है।
(२) अकि + ल्युट् + टाप् (करण अर्थ में) = अङ्कना, (३) अञ्चि + ल्युट् + टाप् = अङ्कना (जिससे पूजा की जाए) उदक को यह सदा आगे गलाती है। इस अर्थ में भी अङ्गुलि शब्द हुआ (अग्र + गम् + डुलि = अंगुलि) , अथवा (५) अग्र + कृ + डुलि = अंगुलि, (६) अग्र + सृ + डुलि = अंगुलि, (७) अकि (लक्षण अर्थ में) + डुलि = अंगुलि, (८) अंच् + डुलि = अंगुलि, (९) अंजू (मालिश करना) + डुलि = अंगुलि, (१०) अगि (गत्यर्थक) + डुलि = अंगुलि
दे. 'अवनि' जिसमें अंगुलि के अनेक पर्याय दिए गए हैं जैसे-अवनि, कक्ष्या, अभीशु, धुः

अङ्गूष - आङ् + घुष् + घञ् (कर्म वाच्य में) अङ्गूष। पृषोदेशदिवत् घोष का गूष। अर्थ (१) आघोष के योग्य स्तोम (स्तुति) (२) वाण जिसके छुटने पर घोष होता है।
लोक में इसका अर्थ है-
नेवले के समान एक जन्तु को घड़ियाल का अण्डा खा जाता है।

'एनाङ्गूषेण वयमिन्द्रवन्तः'

ऋ. १.१०५.१९, का.सं. १२.१४, नि. ५.११

अङ्गो - अग +उ, सम्बोधन में प्रयुक्त अव्यय ।

'अङ्गो न्वर्यमन्नस्या'

अ. ६.६०.२

अंजसी - (१) प्रसिद्ध -(दया.) (२) नाना उत्तम गुणों से युक्त प्रजा । (३) अन्न समृद्धिसे भरी प्रजा ।

'अंजसी कुलिशी वीरपत्नी'

ऋ. १.१०४.४

अंशः - (१) प्रेरक मुख्य प्राज्ञापक (२) अग्नि या परमेश्वर ।

'त्वमंशोविदथे देव भाजयुः'

ऋ. २.१.४

(३) व्यापक सामर्थ्य और ऐश्वर्य ।

'उदिन्वस्यरिच्यते अंशो धनं न जिग्युषः'

ऋ. ७.३२.१२, अ. २०.५९.३, गो. ब्रा. २.४.३, आश्व श्रौ. सू. ५.१६.२, शां. श्रौ. सू. ७.२४.३, १२.४.२२, १८.८.१०, वै.सू. ३३.२४

(४) अंश, सब कर्मो और वृत्तियों का प्रजा में विभाजक ।

(५) अदिति का पुत्र ।

'तस्याः अंशश्च भगश्च जायेताम्'

तै.आ. १.१.९.२

'अंशो भगो वरुणो मित्रः'

अ. ६.४.२

(६) (१) अंश् (व्याप्त्यर्थक) +क्त =अष्ट (२) अश् +अच् =अंशः । अष्टमात्रः शं भवति (शरीर में व्याप्त होते ही कल्याण कारक होता है) । (३) शम् +अशुङ् +उ = अंशु (४) अंश् +अश् +उ = अंशश् + उ = अंशु । अंश की व्युत्पत्ति भी अंशु के समान ही है।

'श्रृणोतु मित्रो अर्यमा भगो नः
तुविजातो वरुणो दक्षो अंशः'

ऋ. २.२७.१, वाज.सं. ३४.५४, का. सं. ११.१२, नि. १२.३६

अर्थ - (१) द्युस्थानीय देवताओं में एक । वर्तमान अर्थ-भाग, हिस्सा, विषुवत् रेखा का एक अंश ।

अंशु - (१) अंश् (व्याप्त्यर्थक) +क्त = अष्ट । अष्टमात्रः शं भवति (शरीर में व्याप्त होते ही कल्याण कारक होता है) । शम् + अशुङ् +उ =अंशुः ।

'ते सोमादो हरी इन्द्रस्य निसतेऽशुं'
'दुहन्तो अध्यासते गवि ।'

ऋ. १०.९४.९

(१) सोम रस, (२) किरण, (३) चन्द्रमा

'यथा देवा अंशु माप्यायन्ति'

नि. ५.११

रस सोम में व्याप्त रहता है । और उसे पत्थर से निकाला जाता है। अतः अंशु कहलाया । essence शब्द की अंशु से समानता विचारणीय है ।

'सोमस्येवांशुं प्रतिजागराहम्'

ऋ. १०.१४९.५, निः १०.३३

अंशुमती - (१) परस्पर विभाग या फूट वाली प्रजा, (२) अन्न वाली भूमि, (३) सूक्ष्म प्राणों से युक्त लिंगमय देह, (४) कर देने वाली प्रजा, (५) बहुत कोयलों वाली ओषधि ।

'अंशुमतीः काण्डिनीर्या विशाखाः'

अ. ८.७.४

'अव द्रप्सो अंशुमतीमतिष्ठत्'

ऋ. ८.९६.१३, अ. २०.१३७.७, साम १.३२३. का. सं. २८.४, ऐ ब्रा. ६.३६.१२, गो ब्रा. २.६.१६ तै. आ. १.६.३, आश्व श्रौ. सू. ८.३.३३, वै.सू. ३२.३३

अंसः- कंधा ।

'अहन् वृत्रं वृत्रतरं व्यंसम्'

ऋ. १.३२.५, मै.सं. ४.१२.३: १८५.९, तै.ब्रा. २.५.४.३

अंसत्र - (१) कन्धो की रक्षा करने वाला कवच, (२) कवचवत् रक्षक इन्द्र ।

'अंसत्रं सोम्यानाम्'

ऋ. ८.१७.१४ साम १.२७५

अंहस् +त्रा +क =असत्र । वर्ण व्यापत्ति से हवा स हो गया । अर्थ (१) धनुष, (२) कवच। अंहस् (दुरति या दुष्कृत) से त्राण करने वाला ।

'अंसत्रकोशं सिञ्चता नृपाणम्'

ऋ. १०.१०१.७ नि. ५.२६

अंसत्रकोशः - (१) अंहस् +त्रा +क = अंसत्र । धनुष ही जहां कोश अर्थात् जल भरने का डोल हो । कोश का अर्थ अंग रक्षक है । (२) कोशस्थानीय

धनुष या कवच आदि ही जहां कोश हो ।

अंस्य - कन्धों के बल सरकने वाला जीव ।
'ये अंस्या ये अंग्याः'
ऋ. १.१९१.७

अस्वगता - अपने गृह या सम्पत्ति से हाथ धो बैठना ।

अंह -प्राप्त करने योग्य ।
'अग्निरुक्थेष्वंहसु'
अ. ६.३५.२

अंहतिः - हन् +अति =अंहति ।
'हन्ते रहं च' उणादि ४.६२ से हन का अंह हुआ है ।
अंहतिः त्यागरोगयोः - हैमः
अर्थ -(१) रोग, बीमारी चिन्ताक्लेश ।
'स तूताव नैनमश्नोत्यंहतिः'
ऋ. १.९४.२, नि. ४.२५ (इस यजमान को रोग नहीं खाता)

अहंस् - हन् धातु का 'हन्तेरहं च' से अंह आदेश । अर्थ (१) त्याग, (२) रोग । (३) पाप जो मार डालता है ।

अंहसस्पतिः - (१) मलमास, (२) अधिकमास,
'उपयामगृहीतोऽसि अंहसस्पतये त्वा'
वाज.सं. ७.३०

अंहस्वान् - अंहस् +वतुप् =अंहस्वत् ।
'अंहस्' हन् धातु से बना है । अर्थ है- पाप करने वाला, पापी ।
अंहुः-(१) प्राप्त (२) कर ।
'अंहो राजन् वरिवः पूरवे कः'
ऋ. १.६३.७
प्राप्तव्य राष्ट्र और प्रजाओं के पालन तथा परिचरण के लिए (३) पाप, (४) पापी
'मित्रों अंहोश्चिदादुरु क्षयाय गातुं वनते ।'
ऋ. ५.६५.४

अंहुभेदी - (१) पाप को भेदः करने वाली (२) स्वच्छ (३) दुष्टों से रहित प्रजा ।
'यदस्या अंहुं भेद्या'
अ. २०.१३६.१, वाज.सं. २३.२८. गो.ब्रा. २.६.१५, श.ब्रा. १३.५.२.७. आश्व श्रौ.सू. ८.३.२८ शां.श्रौ.सू. १२. २४.२.२.२., १६.४.३ वै.सू. ३२.३१, ला.श्रौ.सू. ९.१०.५
(४) पाप का नाश करे वाली प्रजा या पृथ्वी ।

अंहुर - 'अंहुरोऽहंस्वान्, अहरणम् इत्यदि अस्य भवति' । (अंहुर का अर्थ अंहस्वान् अर्थात् पापी है । अहंस् +र =अंहुर
'सप्त मर्यादाः कवयस्ततक्षुः'
'तासामेकामिदभ्यंहुरोगात्'
ऋ. १०.५.६, अ. ५.१.६, नि. ६.२७
ऋषियों ने सात मर्यादाएं बतायी है । उनमें से एक का भी उल्लंघन करने वाली पापी है ।

अंहुस् - हन् धातु से ही 'हन्ते रंह च' से अंहस् बना है । अर्थ (१) पाप, (२) रोग

अंहूरण - (न) पापरूपी कूप । (२) अघ (३)संकट, (४) पाप
'पुरा त्वांहूरणाद्धुवे'
अ. ६.९९.१

अंहूरणा - दुःख और विपत्ति डालने की इच्छा ।
'यो अस्मभ्यमंहूरणा चिकित्सात्'
अ. ९.२.३
(२) आने वाले प्राणियों से रण और रमण क्रीड़ा आदि करने योग्य भूमि (३) पापमयी तमोमयी प्रकृति ।
'उर्वी सती भूमिरंहूरणा भूत्'
ऋ. ६.४७.२०

अंहोमुच् - (१) पापों या कष्टों से छुड़ाने वाला ।
'अंहोमुचे प्रभरे मनीषाम्'
अ. १९.४२.३, तै.सं. १.६.१२.३, मै. सं. ४.१२.३:१८२.१३ का सं .८.१६

अंहोयुः - पापों को दूर करने वाला ।
'अंहोयुवस्तन्वस्तन्वते वि'
ऋ. ५.१५.३

अच - धारण करना ।
'यो भद्रो रोचनस्तमुदचामि'
अ. १४.१.३८

अचक्रा - स्वयं कोई कार्य न करने वाला ।
'अचक्रया स्वधया वर्तमानम्'
ऋ. १०.२७.१९

अचका स्वधा - (१) चक्र रहित आकाश में थमे रहने की पक्षियों की क्रिया (२) अन्य कारण सामग्री से रहित स्वसत्ता को धारण करने वाली चित् शक्ति (३) चक्राकार व्यूह के बिना सेना ।
'अचक्रया यत् स्वधया सुपर्णः'
ऋ. ४.२६.४

अचक्रुष् - अपराध न करने वाला, निपराधी ।
'न त्वामचक्रुषे वयम्'
अ. ५.१४.९

अचक्रे - स्वतः कार्य करने में असमर्थ द्यावा पृथ्वी का विशेषण (२) चक्र रहित रथ के समान स्थिर (३) शिथिल ।
'अनु त्वा मही पाजसी अचक्रे'
'द्यावाक्षामा मदतामिइन्द्र कर्मन्'
ऋ. १.१२१.११
(हे इन्द्र, आकाश और पृथ्वी दोनों विशाल बलवती और स्थिर स्वतः कार्य करने में असमर्थ होते हुए भी सूर्य के प्रकाश रूपी कार्य में प्रसन्न और गुप्त हो जाते हैं) ।

अचथः - दूर करो, प्राप्त करो, ग्रहण करो ।
'वृक्षं सं च वि चाचथः'
ऋ. ५.७८.६

अचरन् - (१) स्थिर सूर्य (२) स्थिर आत्मा ।
'षड् भारान् एको अचरन् बिभर्ति'
ऋ. ३.५६.२

अचरन्ती - अचरन्त्यौ (विचलित न होती हुई (१) द्यावापृथिवी (२) मातापिता ।
ऋ. १.१८५.२, मै.सं. ४.४१४.७: २२४.११, तै.ब्रा. २.८.४.८

अचरमाः - (१) अनन्त मरुद्गण (२) चक्र व्यूह बनाकर रहने वाले जिनमें कोई भी अन्तिम या अरक्षित प्रतीत न हो ।
'अरा इवेदचरमा अहेव'
ऋ. ५.५८.५, मै.सं. ४.१४.१८:२४७.१४, ऐ.ब्रा. ७.९.८, तै.ब्रा. २.८.५.७, आश्वश्रौ.सू. २.१७.१५, ३.७.१२

अच्छ - (१) सामने ।
'आसम्राणासः शवसानमच्छ'
ऋ. ६.३७.३, नि. १०.३
(२) अच्छा ।
'उप प्रिया नमसा बर्हिरच्छ'
ऋ. ६.६७.२
(३) तरफ, ओर ।
'प्रैरयदहिहाच्छा समुद्रम्'
ऋ. २.१९.३

अच्छा - (१) सुन्दर, (२) सामने ।
'प्र वोच्छा जुजुषाणासो अस्थुः'
ऋ. ४.३४.३, नि. ६.१६
(३) पाने के लिए (आप्तुम्) शाकपूणि ।
(४) अपि (भी) (-दया)
'प्र सिन्धुमच्छा बृहती मनीषा'
ऋ. ३.३३.५, नि. २.२५
(५) लक्ष्य कर ।
'श्रवश्चाच्छा पशुमच्च यूथम्'
ऋ. ४.३८.५, नि. ४.२४

अच्छागिर - सुभाषित वंचन -(दया.) (२) लक्ष्य कर (३) उत्तम ।
'तां त्वाच्छावदामसि'
अ. ७.३८.३

अच्छान् - अचच्छदत् । छद् (छाना) धातु का रूप । अर्थ छाता है । वश में करना है ।
'विभीदको जागृविर्मह्यमच्छान्'
ऋ. १०.३४.१, नि. ९.८

अच्छायः - (१) छाया अन्धकार या मृत्यु से रहित (२) तेजोमय अमृत परमेश्वर ।
'बृहन्नच्छायो अपलाशो अर्वा'
ऋ. १०.२७.१४

अचारुक - अरमणीय, कष्टदायी
'योऽचारुकास्नापिबत् सुतस्य'
अ. २०.३४.१२

अचिकित्वान् - ज्ञानी शिष्य
'अचिकित्वान् चिकितुषश्चिदत्र'
ऋ. १.१६४.६

अचित - अपुष्ट, निर्बल (२) मूर्ख, ज्ञानरहित ।
'सत्यं धूर्वन्तमचितं न्योष
ऋ. १०.८७.१२, अ. ८.३.२१
'न वां निण्यान्यचिते अभूवन्'
ऋ. ७.६१.४
(३) नहीं चेतने वाला

अचित्त - (१) अचिन्तनीय ब्रह्म (२) चेतनता रहित अन्न ।
'अचित्तं ब्रह्म जुजुषुर्युवानः'
ऋ. १.१५२.५
(३) चित्त रहित, (४) आज्ञा पर चित्त न देने वाला (प्राप्त दरिद्रा वस्थः -दया.)
'तपो वसो चिकितानो अचित्तान्'
ऋ. ३.१८.२ का.सं. ३५.१४

अचित्तं द्वेषः - चित्त रहित निर्दयता या अज्ञान-युक्त

द्वेष
'अचित्तं यावय द्वेषः'
ऋ. ६.४६.१२

अचित्ति - अज्ञानी, हृदयहीन
'अत्यचित्तिमत्यरातिमग्ने'
वाज सं. २९.६, तै.सं. ४.१.७.३, मै.सं. २.१२.५: १४९.४, का. सं. १८.१६
(२) असञ्चित धन (३) पाप से प्राप्त धन, (४) अचेतन, जड़ ।
'चित्तिमचित्तिं चिनवद् विविद्वान्'
ऋ. ४.२.११, तै. सं. ५.५.४.४, का. सं. ४०.५
(५) आत्मिक अज्ञान (६) प्रजास्थ अज्ञान ।
'अत्यचित्तीरति द्विषः'
अ. २.६.५.
(७) चेतना या ज्ञान का अभाव (८) मोह ।
'सुरा मन्युर्विभीदको अचित्तिः'
ऋ. ७.८६.६

अचित्ती - (१) ज्ञान रहित , (२) चेतना रहित ।
'अचित्ती यच्चकृमा दैव्ये जने'
ऋ. ४.५४.३, तै.सं. ४.१.११.१, मै.सं. ४.१०.३: १४९.१६

अचिष्टुः - पूजनीय ।
'अपाकोऽचिष्टुर्यशसेपुरूणि'
वाज. सं. २०.४४, मै.सं. ३.११.१: १४०.१२, का. सं. ३८.६, तै. ब्रा. २.६.८.४.

अच्छिद्य माना - (१) अविच्छिन्न, नहीं टूटने वाली, सुई के विशेषण के रुप में प्रयुक्त ।
'सीव्यत्वपः सुच्याच्छिद्यमानया'
ऋ. २.३२.४, अ. ७.४८.१, तै. सं. ३.३.११.५, मै.सं. ४.१२.६: १९५.१ , का. सं. १३.१६, साम मं. ब्रा. १.५.३, आप. मं. पा. २.११.१० नि. ११.३१
(२) बिना विच्छेद के टूटे बिना, अटूट (३) नहीं घटने वाली ।
'अच्छिद्यमाना जरदष्टिरस्तु ते'
अ.८.२.१

अच्छिन्नतन्तु - विच्छेदरहित, (२) अमर, अविनाशी, (३) व्यापक यज्ञरूप प्राणमय आत्मा (४) कभी न टूटने वाला सन्तान रूप प्राकृतिक तन्तु ।
'अच्छिन्नं तन्तुमनु संतरेम'
अ. ६.१२२.१, तै. आ. २.६.१

अच्छिन्नपत्रा - जिसके बाजू छिन्न भिन्न न हुए हों, (२) रथ आदि के टूटे बिना ।
'अच्छिन्नपत्राः सचन्ताम्'
ऋ. १.२२.११
(३) पत्र पुष्प से लदी लता
'अच्छिन्नपत्राः प्रजा अनुवीक्षस्व'
वाज.सं. १३.३०, मै.सं. २.७.१६: १००.५, श.ब्रा. ७.५.१.८

अच्छिद्र - छिद्र या दोष से रहित ।
'युवोरच्छिद्रा मन्तवो ह सर्गाः'
ऋ. १.१५२.१, मै.सं. ४.१४.१०: २३१.७, तै.ब्रा. २.८.६.६

अञ्जन् - अञ्ज् +शतृ =अञ्जन्
पहुंचाता हुआ, पहुंचाने वाला, अग्नि का विशेषण ।
'समिद्धो अञ्जन् कृदरं मतीनाम्'
वाज.सं. २९.१, तै.सं . ५.१.११.१, मै.सं. ३.१६.२: १८३.१२ का.सं. (आश्व) ६.२ श.ब्रा. १३.२.२.१४, तै.ब्रा. ३.९.४.८, आप.श्रौ.सू. २०.१७.३ नि. ३.२०
अंग्रेजी का engine शब्द अञ्ज् धातु से बना प्रतीत होता है।

अञ्जनि - (१) सिक्त या मृष्ट करते हैं- (२) प्रकाशित करते हैं । - दया. ।
'अञ्जन्ति त्वामध्वरे देवयन्तः'
'वनस्पते मधुना दैव्येन'
ऋ. ३.८.२१. मै.सं. ४.१३.१: १९९.२, का.सं. १५.१२, तै.ब्रा. ३.६.१.१ ऐ.ब्रा. २.२.१.कौ.ब्रा. १०.२, आश्व श्रौ .सू. ३.१.८ नि. ८.१८

अञ्जस् - तत्त्व ज्ञान प्रकाश ।
'यो अञ्जसानुशासति'
ऋ. ६.५४.१

अञ्जसी - ज्ञान को प्रकाशित करने वाली वाणी ।
'उत स्रुतिं विन्दत्यञ्जसीनाम्'
ऋ. १०.३२.७

अञ्जान - चमकता हुआ अग्नि (२) प्रिय रूप प्रकट करता हुआ ।
'अञ्जानो अजरैरभि'
ऋ. २.८.४

अञ्जना - प्रकट, व्यक्त करती हुई ।

'अञ्ज्यञ्जाना अभि चाकशीमि'
ऋ. ४.४८.९ वाज. स. १७.९७, का सं. ४०.७, आप श्रौ. सू. १७.१८.७

अञ्जि - (१) रूप, (२) पोशाक, (३) चिह्न ।
'समानमञ्ज्येषां वि भ्राजन्ते'
ऋ. ८.२०.११
(४) दीप्तियुक्तचिह्न (५) गमन ।
'समानमञ्जि अञ्जते शुभेकम्'
ऋ. ७.५७.३
(६) वीर्य, (७) विद्या और न्याय का प्रकाश (८) शुक्लवर्ण
'समञ्जि चारया वृषन्'
वाज. सं. २३.२१.

अञ्जिन् - (१) जिससे पदार्थ के प्राण व्यक्त हो (२) प्रकाशित आभूषण (मैक्समूलर ।)
'ये पृषतीभिर्ऋष्टिभिः'
'साकं वाशीभिरञ्जिभिः'
ऋ. १.३७.२
(३) नाना विद्याओं को प्रकाशित करने वाला विद्वान् ।
अञ्जिन् का प्रथमा एक वचन में रूप अर्थ-गतिशील
'ऊर्ध्वो वाजस्य सनिता यदञ्जिभिः'
ऋ. १.३६.१३, वाज.सं. ११.४२ साम. १.५७, तै.सं. ४.१४.२, मै.सं. २.७४, ७.८१४, का.सं. १५.१२, १६.४, श.ब्रा. ६.४.३.१०, तै.ब्रा. ३.६.१.२, महा.ना.उप. २०.६

अञ्जू - (१) व्यक्ति (२) लक्षण (३) कान्ति (४) गति ।

अच्छेक्ति - अच्छी उक्ति
'मंहिष्ठमच्छोक्तिभिर्मतीनाम्'
ऋ. १.६१.३ अ. २०.३५.३

अच्युतच्युत् - (१) न चूकने वाले स्थिर, दृढ़ (२) शत्रुओं को भी उखाड़ देने वाला ।
'अच्युतच्युत् समदो गमिष्ठः'
अ. ५.२०.१२
(२) दृढ़ से दृढ़ पदार्थों, दुर्गों और शत्रुगण को भी गिरा देने वाला- राजा ।
(३) इन्द्र ।
'यो अच्युतच्युत् स जनास इन्द्रः'
ऋ. २.१२.९.अ २०.३४.९
(४) समस्त पदार्थों, को कालबल से विनाश करने वाला (५) दृढ़तम राज्यो को भी उखाड़ने में समर्थ राजा ।

अच्युतानि - (१) न गिरने वाले जल, (२) अच्युत, दृढ़, न क्षीण होने वाले, जमकर लड़ने वाले बलवान् शत्रु सैन्य (३) गतिरहित जड़ पञ्च भूत, (४) प्रकृति के परमाणु
'त्वं हि ष्मा च्यावयन्नच्युतानि'
ऋ. ३.३०.४

अचेतन, अचेतानः - (१) जिसे बुद्धि न हो, (२) अविद्वान् ।
'अचेतानस्य मा पथो वि दुक्षः'
ऋ. ७.४.७, नि. ३.२

अचेताः - (१) चेतना रहित, (२) अज्ञानी ।

अचोदाः - अचोदस् (१) अन्यो से शासित या प्रेरित न होने वाला (२) स्वतन्त्र (३) विचरणशील,।
'अचोदसो नो धन्वन्त्विन्दवः'
ऋ. ९.७९.१, साम. १.५५५

अज - गमनार्थक अज् धातु से अच् प्रत्यय लगाकर अज बना । अर्थ (१) नित्यगमनशील । नित्य चलने वाला अश्व है । इसीसे वह 'अजाश्व' कहलाता है । अज + ल्युट् = अजन (२) आदित्य जैसे 'अज एकपात्' (३) क्रियाशील -दया. । वेद में अज धातु फेंकना अर्थ में भी प्रयुक्त हुआ है (४) सूर्य की किरणें जो क्षिप्त प्रक्षिप्त होती हैं ।
लौकिक अर्थ-(१) ब्रह्मा, (२) अजन्मा, (३) भेड़ा (४) मेष राशि, (५) एक प्रकार का अन्न (६) चन्द्रमा का देव का नाम, (७) अश्व, (८) बकरा । अजगर सर्प जो बकरे को निगल जाता है ।
(अज + गृ + अच्)
'अस्या ऊ षुण उप सातये भुवः'
'अहेडमानो ररिवाँ अजाश्व ।'
ऋ. १.१३८.४, नि. ४.२५
(५) निरन्तर, (६) शत्रुओं को उखाड़ फेंकने वाला सैनिक ।
'अजासश्च शिग्रवो यक्षवश्च'
ऋ. ७.१८.१९
(७) गतिमान या सबको गति देने वाला-सूर्य ।
(८) अजन्मा परमेश्वर

‘अजो न क्षां दाधार पृथिवीम्’

ऋ. १.६७.५

(९) ब्रह्म (१०) बकरा (११) अजवायन (१२) अजमोदा नामक ओषधि, (१३) अस्त्र शस्त्र फेंकने वाला वीर सैनिक ।

‘अजो धूम्रो न गोधूमैः कुवलैः भेषजं मधु’

वाज. सं. २१.२९, मै.सं. ३.११.२ः १४१.२ तै. ब्रा. २.६.११.१

‘अजःपुरो नीयते नाभिरस्य’

ऋ. १.१६३.१२, वाज.सं. २९.२३, तै.सं. ४.६.७.५, का.सं. (अश्व) ६.३

अजएकपात् - (१) एक चरण वाला अज (२) अस्त भाव की अवस्था मे आदित्य । गत्यर्थक अज धातु है । अतः अज द्विपद भी है । ब्रह्मा का एक चरण है । जैसे अग्नि पादः, वायुः पादः, आदित्य पाद, दिशः पादः । इसी प्रकार अज भी एक पाद है ।

(२) एक अंश से (पादेन) रक्षा करता है । (पाति) इस अर्थ में भी अज एकपात् होता है ।

(३) अथवा ईश्वर एक अंश से (ज्योति रूप आत्मा) संसार की रक्षा करता है, अतः वह अज एकपात् है । (४) इसी प्रकार सोते समय प्राणात्मा द्वारा अन्न को पचाने वाला अज भी एकपात् है । (५) एक पाद या अंश से पीता है । इस अर्थ में भी ‘एकपात’ है । (६) सूर्य संसार का जल सुखाते हैं । इसलिए वे अज ‘एकपात्’ हुए । (७) ईश्वर का अंश-जीव के रूप में विराजमान होकर ‘अज एकपात’ है । (८) ब्रह्मन् (९) आदित्य ।

‘एकंपादं नोत्खिदति’

‘सलिलात् हंस उच्चरन्’

अ. ११.४.२१

‘सचेत् तवमुद्धरेत् अङ्ग’

‘न मृत्युः नामृतं भवेत्’

आदित्य अर्थात् हंस सलिल से (सन्मात्र ब्रह्म में लीन जगत से) जीवभूत एक पाद को ऊपर नही उठाता । अगर वह कहीं अचानक उठा दे तो न मृत्यु हो न अमृत ।

‘एकांशेन स्थितं जगत्’ -गीता

(९) आदित्य के १२ प्रकारों में एक ‘अज एकपात’ भी है । वह अस्त भागवगत आदित्य है ।

अजकाव - अजक अर्थात् भेंड़ बकरियों के समान छोटे जन्तुओं को खा जाने वाला - अजगर आदि ।

‘अजकावं दुर्दृशीकं तिरोदधे’

ऋ. ७.५०.१

(२) आत्माओं के समूह का रक्षक परब्रह्म

अजगन् - अजगः (गया) । गम् (जाना) के लङ् में शप् काश्लु और द्वित्व आदि होकर ‘सि’ का लोप, ‘म’ का ‘न’ होकर अजगन् बना ।

‘यन्मातृरजगन्नपः’

ऋ. ३.१.२, साय. १.५३, नि. ४.१४,

अजगर - (१) अज + गृ + अच् = अजगर बकरे को निगल जाने वाला ।

‘बलायाजगरो वसूनां’

वाज.सं. २४.३८, तै.सं. ५.५.१४.१, मै.सं. ३.१४.१९ः १७६.१०, का.सं. (अश्व).७.४

(२) अज अर्थात् सूर्य को निगल जाने वाला मेघ (३) अजगर के समान स्थूल

‘उत्सा अजगरा उत’

अ. ४.१५.७,९

अजनि - (१) वेग से गमन करने वाला वायु, (२) अज आदि पशुओं या तीव्र वेग से जाने वाले रथो को चलाने वाला (३) न जनी हुई अखण्डित ब्रह्माचारिणी

‘अजनयो मरुतो वक्षणाभ्यः’

ऋ. १.१३४.४

अजग्धपाप्मा - जिसका पाप नष्ट नहीं हुआ है ।

‘सर्वो वा एषोऽजग्धपाप्मा यस्यान्नं नाश्नन्ति’

अ. ९.६.२६

अजपञ्चौदन - प्रजापित के स्वरूप का वर्णन (२) मरे बकरे के मांस और भात का भोजन ।

अजपाल - बकरी का पालक ।

‘तेजसे अजपालम्’

वाज. सं. ३०.११. तै. ब्रा. ३.४.१.९

अजमायुः - अजन्मा आत्मा और परमेश्वर के विषय में प्रवचन करने वाला (२) अजवत् बोलने वाला मेढ़क ।

‘गोमायुरेकोः अजमायुरेकः

ऋ. ७.१०३.६

अजर - (१) कभी जीर्ण न होने वाला काल ।

‘त्रिनाभिचक्रमजरमनर्वम्’

ऋ १.१६४.२, अ.९.९.२, १३.३.१८, तै. आ. ३.११.९, नि. ४.२७

(एक चक्र वाला आदित्य तीन ऋतुओं से युक्त अजर एवं किसी के आश्रित नहीं रहने वाले काल का निर्माण करता है ।)

(२) स्वच्छ, विशुद्ध, पवित्र ।

'हविष्पान्तमजरं स्वर्विदि'

ऋ. १०.८८.१, ऐ.ब्रा. ५.८.११, कौ.ब्रा. २३.३, नि. ७.२५

(३) अंगुलि । अंगुली सदा नवीन रहती है ।

'दशाभीशुभ्यो अर्चताजरेभ्यः'

ऋ. १०.९४.७, नि. ३.९

(४) अजरण धर्मा – जो वृद्ध न हो । जिसे जरा न व्यापे (५) संव्वत्सर ।

'ता मे जराय्वजरं मरायु'

ऋ. १०.१०६.६, नि. १३.५

अजराः अग्नयः – (१) अजन्मा परमेश्वर में रमण करने हरि ज्ञानी पुरुष (२) परमेंश्वर मे अपने को समर्पित करने वाले, (३) शत्रुओं को उखाड़ फेंकने वाले नायक में रमण करने वाले वीर

"भक्तमभक्तमवो व्यन्तः'

'अजरा अग्नयो व्यन्तो अजराः''

ऋ. १.१२७.५

अजरयू – (द्वि.व.) जरादिदोषरहित स्त्रीपुरुष (२) अश्विद्वये (३) शत्रुओं के जीवन और बल की हानि करते हुए ।

'वि पर्वतां अजरयू अयातम्'

ऋ. १.११६.२०

अजबभ्रु – अन्नों या बकरी आदि क्षुद्र पशुओं का पोषक सिलाची लाक्षा औषधि ।

'अजबभ्रु पितातव ।'

ऋ. ५.५.८

अजवस – वेगरहित ।

'अजवसोः जविनीभिः विवृश्चन्'

ऋ. २.१५.६

अजश्रृंगी – (१) आत्मशक्ति, (२) काकड़ासींगी, अजश्रृंगी नामक ओषधि जिससे जल में फैलने वाले रोग नष्ट हो जाते हैं।

अजश्रृंगी वानहरा, कास, श्वास, राजयक्ष्मा, वमन, तृष्णा, अरुचि, अतिसार चक्षुर्दोष हृदयरोग, अर्श, शोष, अतिकुष्ट आदि का नाश करती है । इसके जलाने से तीक्ष्ण गंध होता है । और मच्छड़ आदि भाग जाते हैं ।

अजस्रम् – (अ) (१) सदा, सर्वदा ।

'तृतीयमप्सु नृमणा अजस्रम्'

ऋ. १०.४५.१, वाज.सं. १२.१८, तै.सं. १.३.१४.५, ४.२.२.१, मै.सं. २.७.९:८६.६, का.सं. १६.९, श. ब्रा. ६.७.४.३, आप.मं.पा. २.११.२१

अजस्त – (१) अहिंसित, (२) अविनाशी स्वरूप आत्मा

'प्रजापतिर्वै नृमणाः अग्निरजस्रः'

श.ब्रा. ६.७.८४.४

'इहैव त्वमजस्र एध्यग्ने'

अ. ७.७८.१

अज्म – अज (चलना) धातु से अजति । (१) गन्तव्य मार्ग (अज्यते असौ–इस पर चला जाता हैं ।) (२) स्वर्ग– पथ–दुर्ग (३) अन्तरिक्ष मार्ग

'यदाक्षिषुर्दिव्यमज्ममश्वाः'

ऋ. १.१६३.१०, वाज.सं. २९.२१, तै.सं. ४.६.७.४, का.सं. (अश्व)६.३, नि. ४.१३. पंच.ब्रा. १.७.६, तै.आ. ३.१०.४, आप.श्रौ. सू. १४.१२.१

'समानमज्मं पर्येति जागृविः'

ऋ. ३.२.१२

(३) जल, (४) बलयुक्त अस्त्र ।

'ये पातयन्ते अज्मभिः'

ऋ. ८.४६.१८

(५) प्राप्त करने योग्य ।

'चक्रे अग्निर्जनुषाज्मान्नम्'

ऋ. ६.४.४, तै. सं. १.३.१४.७

(५)अजनि, आजि–निरुक्त । अजानी गच्छन्ति यं मार्गम् –दया. (६) अज्मं संग्रामम् –महीधर (७) उथल पुथल कर देने वाला प्रयाण (८) वायु का झोंका (९) प्रापक क्षेपक आदि अस्त्र ।

'येषामज्मेषु पृथ्वी'

ऋ. १.३७.८

अज्यमाना – (१) वृषभ आदि द्वारा कामना की गई या निषिक्त की हुई गौ (२) ब्रह्मवीज से युक्त होती हुई प्रकृति ।

'स्तरीर्यत् सूत सद्यो अज्यमाना'

ऋ। १०.३१.१०

अज्र – (१) गमनशील (२) कम्पायमान

'गिरींरज्रान् रेजमानां अधारयत्'

ऋ. १०.४४.८, अ. २०.९४.८
(३) आश्रमी, (४) घूमने फिरने वाला, 'घासे अज्राणाम्' (घास में घूमने फिरने वालों का) (४) ब्रह्माण्ड जिससे संसार की उत्पत्ति हुई (५) अण्डा (६) शिव का एक नाम, (७) पक्षी, (८) मछली, (९) साँप (१०) ब्रह्मा (११) वेगवान्
'गिरींरज्रां अपः स्वर्वृषत्वना'
ऋ. ८.१५.२, अ २०.६१.५, ६२.९
(११) जगति प्रक्षिप्तः (जगत् में फेंकी गयी किरण) -(दया.) (१२) ज्ञान-साधनों का अनुष्ठान (१३) शत्रुओं को उखाड़ फेंकने वाला बलवान् पुरुष ।
'आ सूर्यो बृहतःस्तिष्ठदज्रान्'
ऋ. ४.१.१७
(१४) न पराजित होने योग्य शत्रुसैन्य या शत्रुनगर ।
'अज्रे जिदस्मै · कृणुथा न्यञ्चनम्'
ऋ. ८.२७.१८

अजा - अजौ (बकरे) (२) बकरा बकरी के समान सदा एकत्र रहने वाले-स्त्री पुरुष (३) अश्विद्वय (४) हानि पहुंचाने वाले शत्रु को उखाड़ फेंकने वाली सेना के समान, (५) दो आत्माओं के समान परस्पर उपास्य उपासक रूप से एक दूसरे के ऊपर प्रेमयुक्त ।
'अजेव यमा वरमा सचेथे'
ऋ. २.३९.२

अजातशत्रु - (१) इन्द्र, (२) शत्रुरहित, (३) अप्रति द्वन्दी ।
'अजातशत्रुमजरा स्वर्वती'
ऋ. ५.३४.१

अजानिः- (१) बिना पत्नी का पुरुष ।
'पतिमुत जायामजानये'
अ. ६.६०.१

अजामि - (१) जामि का अर्थ स्वसा है । जामिः स्वसृकुलस्त्रियाँ (अमर-कोष) अतः अजामि का अर्थ 'जामि के साथ न करने वाला कार्य' (२) असमान जातीय के अर्थ में 'जामि' शब्द आया है । (३) मैथुनादि कर्म ।
'आघाता गच्छानुत्तरा युगानि
यत्र जामयः कृणवन् अजामि
उप बर्बृहि वृषभाय बाहुमन्यम्
इच्छस्व सुभगे पतिं मत्'
ऋ. १०.१०.१०, अ. १८.१.११, नि. ४.२०
ऐसे युग आगे आयेंगे जब भगिनी या स्वकुल की स्त्रियां भी अपने भाईयों या परिवार वालों के साथ मैथुनादि कार्य (अजामि) करेंगी । हे बहन ! मेरे सिवा किसी अन्य योग्य पुरुष का वरण कर और मैथुन के निमत्त अपने बाहुओं को तकिया बना ।
(३) शत्रु ।
'अजामिमन्यः श्नथयन्तमातिरत्'
ऋ. ७.८२.६
(३) अबन्धुः, पराया ।
'स नो अजामींरुत वा विजामीन्'
ऋ. १०.६९.१२
(४) दोष रहित ।
'यमीर्यमस्य बिभृयादजामि'
ऋ. १०.१०.९, अ. १८.१.१०

अजायमानः - स्वयं कभी उत्पन्न न होता हुआ ।
'अजायमानो बहुधा विजायते'
वाज. सं. ३१.१९, तै. आ. ३.१३.१

अजाश्व - (१) पशुओं से समृद्ध (२) शत्रुओं को उखाड़ फेंकने वाला (३) भेड बकरियों और अश्वों का स्वामी (४) पूषा जिसका अश्व गमन शील है । (५) क्रियाशील इन्द्रियों वाला ।
'अहेडमानो ररिवां अजाश्व'
ऋ. १.१३८.४ नि. ४.२५,
'आजाश्वः पशुमा वाजपस्त्यः'
ऋ. ६.५८.२, मै.सं. ४.१४.१६: २४४.२, तै.ब्रा. २.८.५.४

अज्ञातकेतः - अज्ञात कुलशील (२) अज्ञात स्थान में रहने वाला (३) ज्ञानशून्य ।
'अज्ञातकेता वृजिना अभूवन'
ऋ. ५.३.११

अज्यानि - हानि रहित समृद्धि
'तेषामज्यानिं यतमो वहाति'
अ. ६.५५:१

अज्ञातयक्ष्म - (१) अलक्षित कीट रोग ।
'परा तमज्ञातं यक्ष्ममधराञ्चं सुवामसि'
अ. ६.१२७.३
(२) अप्रकटा वस्था वाला यक्ष्मा रोग ।
'अज्ञातयक्ष्मादुत राजयक्ष्मात्'

ऋ. १०.१६१.१, अ. ३.११.१,२०.९६.६

अञ्जानः – द्विव्यगुणों को प्रकट करता हुआ ।
अञ्ज +शानच् =अञ्जान
'अञ्जानः सप्त होतृभिर्हविष्मते'
ऋ. ३.१०.४

अजागार – अजा +आगार =अजागार ।
प्रकृति का आगार अर्थात् आश्रयभूत आत्मा। 'अजगर' भी पाठ है जिसका अर्थ (१) सर्प या (२) अभोक्ता आत्मा है।
'अजागार केविका'
अ. २०.१२९.१७

अजिगात्- गया ।
'अभि सिध्मो अजिगादस्य शत्रून्'
ऋ. १.३३.१३, मै.सं. ४.१४.१३ः २३७.१३, तै.ब्रा. २.८.४.४
(इस इन्द्र का वज्र शत्रुओं का लक्ष्य कर गया)

अजिन – (१) खाल, चमड़ा ।
'एषुनह्य वृषाजिनम्'
अ. ६.६७.३
(२) मृगछाला, (३) अजेय राष्ट्र ।
'दूर्शेभिरजिनैरुत'
अ. ४.७.६

अजिन संधः – (१) चर्म के पदार्थों को सीने जोड़ने वाला कारीगर (२) अजेय राष्ट्रों को भी चर्मो के समान परस्पर सन्धिकराने में समर्थ ।
'ऋभुभ्योऽजिन संधम् ।'
वाज सं. ३०.१५, तै. ब्रा. ३.४.१.१३

अजिर – गति देने वाला (२) गमन करने वाला यन्त्र या पशु, (३ अजीर्ण बालक, नवयुवक, (४) अक्षतवीर्य (५) अखण्ड व्रत-पालक शिष्य
'वायू रथे अजिरा धुरिवोढवे वहिष्ठ धुरिवोढवे
ऋ. १.१३४.३
अश्वों के प्रेरक शकट को दूर देश में ले जाने के लिए गति देने वाले या गमन करने वाले पशुओं या यन्त्रों को अजिरस रथ के धुरे में लगाता है । अथवा, ज्ञानवान् नवयुवक ब्रह्मचारी शिष्यो को (अजिरा) संसार भर ढोने के लिए ज्ञानशक्ति धारण करने के कार्य में सन्मार्ग में नियुक्त करता है ।
(६) निरन्तर अथक चलने वाला ।
'नम आशवे चाजिराय च ।'
वाज. सं. १६.३१, तै.सं. ४.५.५.२, मै.सं. २.९.५ः १२४.१४, का.सं. १७.१४
(६) (अ.) अति शीघ्रता से ।
'खादामून खदिराजिरम्'
अ. ८.८.३
(८) वेग से जाने वाला (९) शरीर की दुर्बलता से रहित ।
'बाधते तमो अजिरो न वोढ़ा'
ऋ. ६.६४.३

अजिर शोचिः – (१) नहीं नाश होने वाली दीप्ति से युक्त., (२) अग्निवत् अविनाशी कान्ति वाला (३) अप्रकाश स्वरूप आत्मा ।
'गिरा वाजिरशोचिषम्'
ऋ. ८.१९.१३

अजिरशोचीः – (१) अविनश्वर, (२) तेजस्वी
'जीरा अजिरशोचिषः'
ऋ. ९.६६.२५, २.६६०

अजिराधिराजौ – अजिर और अधिराजा अर्थात् शत्रु का प्रतिस्पर्धी राजा और उससे भी अधिक बल शाली मध्यस्थ राजा, (२) मित्र राजा और पार्ष्णिग्रह ।
'अजिराधिराजौ श्येनौ'
अ. ७.७०.३

अञ्जिव – प्रकटकामी ।
'अस्याः कमलमञ्जिवम् ।'
अ. ८.६.९

अजीगः – (१) प्राप्त होता है । (२) निकट जाता है ।
'शुचिर्वांस्तोमो भुरणावजीगः'
ऋ. १०.२९.१, अ. २०.७६.१
(२) अगारीः (गिलसि)-निगलता है। वर्तमान अर्थ में गृ (निगलना) का लुङ् में प्रयोग ।
'आदिद् ग्रसिष्ठ ओषधरजीगः'
१.१६३.७, वाज.सं. २९.१८, तै.सं. ४.६.७.३, नि. ६.८

अजीता – वह सभा जो कभी जीती न गई हो ।
'इन्द्राण्येतु प्रथमाजीता'
अ. १.२७.४

अजीतिः – (१) कभी पराजित न होने वाली (२) शत्रु को विजयी न होने देने वाला ।
'अजीतयेऽहतये पवस्व'

ऋ. ९.९६.४

अजीजनत् - जन् (उत्पन्न करना) के लुङ् का रूप। उत्पन्न किया।

'अजीजनत् शक्ति भी रोदसिप्राम्'

ऋ. १०.८८.१०, नि. ७.२८

अजीवन - आजीविका, (२) जीवन रहित।

'योऽत्रासदजीवनः'

अ. १८.२.३०

अजुरः - अविनाशशील (२) सदाबलयुक्त (३) जरा रहित।

'अवक्रक्षिणं वृषभं यथाजुरम्'

ऋ. ८.१.२, अ. २०.८५.२, साम. २.७११

अजुर्यः - (१) जरारहित, (२) बलवान्, (३) जवान्।

'अजुर्यासो हरिषाचो हरिद्रवः।'

ऋ. १०.९४.१२

'वृणीतेश्रुष्टिम् राजेवाजुर्यम्'

ऋ. १.६७.१

(२) अविनाशी (३) नित्य।

'विश्वा अजुर्ये दयसे विमायाः'

ऋ. ६.२२.९, अ. २०.३७.९

'नाना हृदा रक्षमाणा अजुर्यम्'

ऋ. १.१४६.४

अजुर्या उक्षणादेवाः- (१) अविनाशी, जल्दि से सेचन करने में समर्थ कान्तिमान् सूर्यं की किरणें (२) अजर बरसाने वाले देवगण कभी जीर्ण न होने वाले सुख का सेचन और देह को धारण करने वाले कान्तिमय काम्ना शील प्राण।

'प्राञ्चो मदन्ति उक्षणो अजुर्या'
देवानमनुहि व्रतागुः।'

ऋ. ३.७.७

अजुवत - सेवन किया, आस्वादित किया।

'उत नेष्ट्रादजुषत प्रयो हितम्'

ऋ. २.३७.४

अजुष्टिः - कमी, अभाव (२) असेवन। नञ् +जुष् +क्तिन्।

'एवा चन तं यशसामजुष्टिः'

ऋ. ६.३.२

(३) अप्रीतिकर कार्य (४) अप्रीति कारक।

'दृढस्य चिन्मर्तानामजुष्टौ'

ऋ. १.६३.४

अज्येष्ठासः - मरुद्गण जो परस्पर एक दूसरे से बड़े नहीं हैं (२) मनुष्य (३) शिष्यगण।

'अज्येष्ठासो अकनिष्ठास एते'

ऋ. ५.६०.५

अजोठय - (१) सेवा या प्रीति करने के अयोग्य।

'मा वो मृगे न यवसे जरिता भूदाजोप्यः'

ऋ. १.३८.५

अजोहवीत् - आह्वयत् (पुकारा)। हुं। (पुकारना) का लुङ् में वैदिक रूप।

'अजोहवीदश्विना वर्तिका वाम् अस्नः'

ऋ. १.११७.१६, नि. ५.२१

हे अश्विनीकुमारो, आप दोनों को उषा ने प्रकारा सूर्य के मुख से तुम दोनों ने उषा को छुड़ाया सायण ने 'वर्तिका' का अर्थ चटक नामक पक्षी और यास्क ने 'उषा' किया है। स्वामी दयानन्द ने भी उषा ही अर्थ किया है।

अञ्जते - व्यक्त करती है। अर्ध

'पूर्वे अर्धे रजसो भानुमञ्जते'

ऋ. १.९२.१, साम. २.११०५, नि. १२.७

अञ्जन् - (१) चलता हुआ, (२) प्रकाशित करता हुआ (३) व्याप्त रहता हुआ।

'स इमा विश्वा भुवनानि अञ्जत्'

अ. १९.५३.२

अञ्जनाभ्यञ्जन - अञ्जन +अभ्यञ्जन - आंजन और उबटन।

'यदाञ्जनाभ्यञ्जनमाहरन्ति'

अ. ९.६.११

अञ्जस् - (१) तेज (२) प्रकट होना,।

'पथो देवत्रा ञ्जसेव यानान्'

ऋ. १०.७३.७

(३) प्रकाशमान ज्ञान।

'काणस्य स्वस्मिन्नञ्जसि '

ऋ. १.१३२.२

(४) व्यक्त।

अञ्जसा - (१) शीघ्रता से (२) शीघ्र

'अञ्जसा शासता रजः

ऋ. १.१३९.४

अञ्जि - (१) रूप

'अञ्ज्यक्तङे समनगा इव व्राः'

ऋ. १.१२४.८

(२) मधुरस्वभाव, (३) कान्तिमान (४) प्रसिद्ध

गुणवान् (५) गुणों को प्रकट करने वाला पदक
'वक्षः सुरुक्मा रभासासो अञ्जयः'
ऋ. १.१६६.१०
(६) व्यक्त आभूषण (कान्तियुक्त शस्त्र)
'श्रिये मर्यासो अञ्जीरकृण्वत'
ऋ. १०.७७.२

अञ्जी - (१) नाना विषयों का ज्ञान कराने में समर्थ इन्द्रियशक्ति (२) ज्ञान प्रकाशित करने का कार्य (३)आग्भूषण, (४) दिव्यशस्त्रास्त्र ।
'अञ्जिषु प्रिया उत'
अ. २०.६७.४

अञ्जोयान - (१) अतिवेगवान, (२) शीघ्र गमन साधन, (३) प्रकाशमय ज्ञानमय ।
'यो वहात्यञ्जोयानैः'
अ. १८.२.५३

अण्व (१) विद्वान्.पुरुष, (२) स्तुति वचन ।
'गोषामण्वेषु सश्चिम'
ऋ. ९.१६.२

अणीक - (१)सेना, (२) बल (३) ज्ञानोपदेश (४) मुख या (५) वचन ।
'रेवदस्मभ्यं पुर्वणीक दीदिहि'
ऋ. १.७९.५, साम २.९१२. वाज. सं. १५.३६, तै. सं ४.४.४.५, मैं. सं. २.१३.८ः, १५७.१२, का. सं: ३९.१५

अणीयस् - अणु +ईयस् =अणीयस्। अणु अल्पतम पदार्थ है। उससे भी अल्पतर अणीयस् है ।
'यस्मान् नाणीयो न ज्यायोऽस्ति कश्चित्'
तै. आ. १०.१०.३, महा. उप. १०.४, नि. २.३

अणीयस्क- (१) अणु से भी छोटा, (२) ब्रह्म ।
'बालादेकमणीयस्कम्'
अ. १०.८.२५

अण्वी - (१) प्रकाशावयव, (२) किरण, (३) अंगुलि, (४) कारण का भाग (५) प्राण धारिणी, (६) सूक्ष्मरूप धारिणी इन्द्रिय ।
'तमीमण्वीः समर्य आ'
'गृभ्णन्ति योषणो दश'
ऋ. ९.१.७
(७) सूक्ष्म योग क्रिया ।
'अण्वीभिस्तना पूतासः'
ऋ. १.३.४, अ. २०.८४.१, साम २.४९६, वाज.सं. २०.८७.

अणु- छोटा चावल
'अणवश्च मे श्यामाकाश्च मे'
वाज.सं. १८.१२

अततंसतम् - आभूषणादि से अलंकृत करते हो
''युवंवायत् निरततंसतम्'
ऋ. १.१२०.७
(आप दोनों जो हमें आभूषणादि से अलङ्कृत करते हो ।

अतथा- प्रतिकूल, अन्यथाभाव ।
'मघवन् मातथा इव'
ऋ. १.८२.१, साम १.४१६

अतन्द्र- आलस्य रहित पुरुष ।
''यन्ति प्रमादमतन्द्राः'
ऋ. ८.२.१८, अ. २०.१८.३, साम. २.७१
'अतन्द्रो दूतो अभवो हविर्वाट्'
ऋ. १. ७२.७

अतन्वत- ताना, सूतों को ताना (कपड़ा बुनने के समय)
'अपसो अतन्वत'
मै.सं. १.९.४,१३४.९, का.सं. ९.९. पंच.ब्रा. १.८.९ नि. ३.२१.
हे वस्त्र, कुविन्द के छोटे छोटे लड़कों ने बुनने के समय तुझे ताना ।

अतप्ततनूः- (१) जिसका शरीर तपस्या से तप्त न हो, (२) ब्रह्मचर्य, सत्यभाषण, योगाभ्यास तथा सत्संगादि तपश्चर्या से तप्त नहीं किया हो
'अतप्ततनूर्न तदामो अश्नुते'
ऋ. ९.८३.१, साम. १.५६५, २.२३५, तै.आ. १. ११.१., पंच ब्रा. १.२.८, आप.श्रौ.सू. १२.१२.१३.

अतमान- अत + शानच् = अतमान व्यापने वाला
'अरीरमदतमानं चिदेतोः'
ऋ. २.३८.२.
(२) जाता हुआ ।
'न यं वयन्ति समरे अतमानाः'
ऋ. ६.९.२

अतमेरू - (१) सदा बलवान्, (२) ग्लानि रहित ।
अतमेरु यज्ञोऽतमेरुर्यजयमानस्य प्रजाभूयात्'
वाज.सं. १.२३, श.ब्रा. १.२.२.१७.

अतवसः- वह रथ जिसमें कोई गति देने वाला न हो ।
'अनवसो अनभीशू रजस्तूः'

ऋ. ६.६६.७

अतव्यान् - (१) अशक्त, निर्बल, अल्प शक्ति वाला। अ + तवस से बना है, तव्यान, का अर्थ शक्ति शाली है।

'तं त्वा गृणामि तवसमतव्यान्'

ऋ. ७.१००..५, साम २.९७६, तै. सं. २.२.१२.५, मै.सं. ४.१०.१ः १४४.७, का.सं. ६.१०, नि. ५.९.

(२) क्षुद्र, (३) अमहान्,

अतस्, अतसा - (१) अनुपक्षीण काष्ठ (२) अमृत -दया. अ + तसु (उपक्षय अर्थ में) + अच् = अतस् + शि (वेद में शि प्रत्यय का लोप होता है) अतसा (जिसका उपक्षय न हो।

'सोमो विश्वान्यतसा वनानि
नार्वागिन्द्रं प्रतिमानानि देभुः'

ऋ. १०.८९.५, तै.सं. २.२.१२.३, तै.आ. १०.१.९., नि. ५.१२. (सोम सभी अनुपक्षीण जलों या वनस्पतियों को बढ़ाते हैं या प्रचुर रस धारण करते हैं। वैसे ही इन्द्र या राजा सभी सांसारिक ऐश्वंर्यों को धारण करें) (३) व्यापक आकाश पृथिवी आदि तत्व।

(४) अमृततत्व की प्राप्ति -(दया.)

'अग्निश्चिद्धि ष्मातसे शुशुक्वान्'

ऋ. १.१६९.३

जैसे आशुगामी देदीप्यमान् अग्नि अनुपक्षीण काष्ठ की ओर जाता है -यास्क

'हे विद्वन् आप अमृत त्त्वप्राप्ति के लिये (अतसे) अग्नि की तरह अत्यन्त शुचि या तेजस्वी हो, -(दया.)

(४) वृक्ष।

'नीचा तं धक्ष्यतसं न शुष्कम्'

ऋ. ४.४.४, वाज.सं. १३.१२, तै.सं. १.२.१४.२; मै.सं. २.७.१५ः ९७.१४, का.सं. १६.१५.

(६) सूखा काठ, (७) निरन्तर आक्रमण करने वाला।

'अग्निः शोचिष्मान् अतसानि उष्णन्'

ऋ. २.४.७

(८) तीसी का पौधा (९) निरन्तर गमन करने में समर्थ, (१०) आक्रमण करने में तैयार।

'प्रनीलपृष्ठो अतसस्य धासेः'

ऋ. ३.७.३

(११) आकाश

'अग्नि श्चित् हि ष्मात से शुशुक्वान्'

ऋ. १.१६९.३

अतस्कर- चोर डाकू से रहित मार्ग।

'अनमित्रमतस्करम्'

अ. १२.१.४७

अतसाय्य- (१) निरन्तर परोपकार में वर्तमान, (२) आश्रय करने योग्य, (३) निरन्तर सहायक

'सद्यो यो नृभ्यो अतसाय्यो भूत्'

ऋ. २.१९.४

अतसाय्या- अत + साय्य + टाप् = अतसाय्या (असुक् का आगम) -(दया.) निरन्तर सुखों की प्राप्ति कराने वाली।

'ऊतिर्वाजे षु अतसाय्या भूत्'

ऋ. १.६३.६

(संग्राम में अथवा ऐश्वर्य और अन्तादि प्राप्त करने के अवसरों में तेरा प्रजारक्षण कार्य वराबर चलता रहे और सुखों को प्राप्त कराने वाला हो।

अतसी- (१) एक देह से दूसरी देह में विचरने वाला जीव।

'कन्नव्यो अतसीनां'
'तुरो गृणीत मर्त्य'

ऋ. ८.३.१३, अ. २०.५०,१ ऐ.ब्रा. ६.२१.१, कौ.ब्रा. २४.५, गो. ब्रा. २.६.३, आश्व. श्रौ.सू. ७.४.६, वै.सू. २७.१३, ३५. १२.

(२) वेग से गति करने वाली शक्ति।

अत्क- (१) रूप, (२) कवच।

'वव्रिमत्कं न मुञ्चथः'

ऋ. ५.७४.५

(३) - व्यापक।

'य आस्वत्क आशये'

ऋ. ८.४१.७

(४) अत्तुम् ग्रर्ह-खाने के योग्य।

(५) जल।

(६) उत्तम रूप।

'स्वयमत्कैः परिदीयन्ति यह्वीः'

ऋ. २.२४.१४

अत्तवे- भोग करने योग्य।

'नैतदत्तवे'

अ. १४.१.२९

अलत - अतन्विषत। तनु (विस्तार करना) के उपधा का लोपकर (बहुलं छन्दासि) 'अन्नत'

बना है । अर्थ है विस्तार किया है ।
'यामथर्वा मनुष्पिता दध्यङ् धियमत्नत'
ऋ. १.८०.१६, नि. १२.३४
(जिस कार्य को अथवा, मानवपिता मनु और दध्यङ् ने किया,)

अत्य- (१) सब से अधिक उत्तम ।
'अत्यं हविः सचते सच्च धातु'
ऋ. ५.४४.३
(२) सतत गमनशील (३) अश्व के समान भ्रमण शील विद्वान् परिव्राजक (४) गतिशील अश्व (५) इन्द्रिय ।
'ससानात्यान् उत सूर्यं ससान'
ऋ. ३.३४.९, अ. २०.११.९

अत्यर्ध- महासमृद्ध अत्यर्ध र्च पंदस्वतः
अ. २०.१३१.१९

अत्यविः- अति + अवि = अत्यवि , पृथ्वी या सूर्य से अधिक तेजस्वी
'सहस्रधारो अत्यविः'
ऋ. ९.१३.१, साम. २.५३७

अत्ता - (१) अन्न खाने वाला, (२) अतिथि ।
'अत्तारः सन्तु अक्षिताः
अ. ६.१४२.३

अत्या- वेगवाने दो घोड़े (२) सदा गतिशील प्राण और अपान वायु ।
'अत्या वृधस्नू रोहिता धृतस्नू'
ऋ. ४.२.३

अत्याः- (१) व्यापन शील मेघ, (२) व्यापनशील गतिशील विषयों में रमण करने वाले संकल्प विकल्प
'तिस्रो मही रूपदास्तस्थु रत्याः'
ऋ. ३.५६.२

अत्याः- (१) अत (सातत्य गमन के अर्थ में) + यत् = अत्य (अध्न्यादयश्च - उणादि ४-१०८) । (१) सूर्य के घोड़े (२) निरन्तर गतिशील सूर्य की किरणें- (दया.)
'सं शूरणासो दिव्यासो अत्याः'
ऋ. १.१६३.१०, वाज.सं. २९.२१, तै.सं. ४.६.७.४, का.सं. (अश्व.) ६.३, नि. ४.१३.

अत्याप्ति - आशा से अधिक फलपाना, ।
'अत्याप्ति रुच्छिष्टे भूतिः'
अ. ११.७.२२

अत्याय- अति + आय, (१) सबको अतिक्रमण कर विराजमान प्रभु, (२) अतिक्रमण
'प्रजाह तिस्रो अत्यायमीयुः'
ऋ. ८.१०१.१४, श.ब्रा. २.५.१.४, .ऐ.आ. २.१.१.४,५,

अत्र - (१) निरन्तर गति शील, (२) भक्षक अत्ति इति अत्रिः अत्रश्च (३) राक्षस, (४) यज्ञ, ।
'अपादमत्रं महतावधेन'
ऋ. ४.३२.८
(५) अदस् शब्द से त्र प्रत्ययकर अत्र बना है, अर्थ है यहां (६) अद् (भक्षण करना) + त्र अत्र (७) राक्षस, (८) भक्षक ।
'या न उणेषे अत्रैः'
ऋ. १.१२९.८
भक्षकों या राक्षसों के द्वारा जो शक्ति छोड़ी जाय वह नष्ट हो जाय...।
(१०) अद् + त्र = अत्र खाने योग्य पदार्थ ।
'अत्राणि अस्मै पड्भिः संभरन्ति'
ऋ. १०. ७९.२

अत्र- (१) अतन्ति इति आततायिनः तान् गच्छति यः स = शत्रु - (दया.)
(१) आततायियों पर आक्रमण करने वाला शत्रु
(२) प्रजाजनों का खा जाने वाला शत्रुपुरुष
'स्वयं सा रिषयध्यै या न उपेषे अत्रैः'
ऋ. १.१२९.८

अत्रा - अदस् शब्द से बना, अव्यय । अर्थ - (१) यहां पर
'अत्रा सखायः सख्यानि जानते'
ऋ. १०.७१.२, नि. ४.१०
(२) नाना खाद्य पदार्थ ।
'आन्त्रेभ्यो ज़ज्ञिरे अत्राः'
अ. १०.१०.२१
(३) भोजन करने वाले प्राणी ।
'अत्रा उदरम्'
अ. ९.७.१६

अत्राह - ऐसे ही स्थान पर
'अत्राह तदुरुगायस्य वृष्ण'
'परमं पदमवभाति भूरि'
ऋ. १.१५४.६, वाज.सं. ६.३,
(ऐसे ही स्थान में अतिस्तुत्य या सब को गति देने वाले विष्णु का परम प्रसिद्ध स्थान अत्यन्त

सुन्दर लगता है ।)

'अत्राह गोरमन्वत'

ऋ. १.८४.१५, अ. २०.४१.३, साम. १.१४७, २.२६५. मै.सं. २.१३.६: १५४.११ का.सं. ३९.१२. तै.ब्रा. १.५.८.१, आश्व श्रौ.सू. ९.८.३, बौ.का.शा. ३.८.८, नि. २.६;४.२५

अति - उपसर्ग । अभि पूजित अर्थ में ।

अतिक्रामत् - अतिक्रमण करता हुआ ।

'अतिक्रामन्तो दुरिता पदानि'

'शतं हिमाः सर्ववीरा मदेम'

अ. १२.२.२८, नि. ६.१२.

अतिकुल्व- अति कुल्व वाला ।

'अति कुल्वं चाति लोमशम्'

वाज.सं. ३०.२२, वाज.सं. (का) ३४.२२

अतिक्रुष्ट - अत्यन्त राग से आलाप करना

'अतिक्रुष्टाय मागधम्'

वाज.सं. ३०.५, तै.ब्रा. ३.४.१.१.

अतिकृश- अतिदुर्बल

'अतिस्थूलं चातिकृशम्'

वाज.सं. ३०.२२, वाज.सं. (का.) ३४.२२

अतिकृष्ण- अत्यन्त काला ।

'अतिशुक्लं चातिकृष्णम्'

वाज.सं. ३०.२२, वाज.सं. (का) ३४.२२

अतिघ्न्य- सबको अतिक्रमण कर सबसे ऊंचा होकर वर्तमान उच्छिष्ट ब्रह्म

'वृषा भूम्यामतिघ्न्यः'

अ. ११.७.१६

अतिच्छन्दस्- वेदों में प्रयुक्त सात छन्दो के सिवा सात अतिछन्द भी हैं । ये हैं अतिजगती, शक्वरी, अतिशक्वरी, अष्टि, अत्यष्टि, धृति और अतिधृति । इन छन्दो में धृति, अष्टि, शक्वरी और जगती से ४ अक्षर अधिक होता है । अन्यों से सामर्थ्य में अधिक ।

'अतिछन्दा इन्द्रियं बृहत्'

वाज.सं. २१.२२, मै.सं. ३.११.११, १५८.१९, का.सं. ३८.१०, तै.ब्रा. २.६.१८.४.

अतिजीव- अन्य सामान्य जीवों की दशा में अपने ज्ञानबल से पारकर लेने वाला जीवात्मा ।

'अमम्रिः भवामृतोऽजीवः'

अ. ८.२.२६

अतितत्र - दबाना

'नैनं पाप्माति तत्रति'

अ. १९.३६.२

अतित्वरी- अत्यधिक पति संग करने वाली, अति कामिनी स्त्री ।

'इदा वत्सरायाती त्वरीम्'

वाज.सं. ३०.१५

अतितार्या- पार करने योग्य ।

'या नाष्ट्रा अतितार्या'.

अ. ८.२.२७

अतिथि- (१) अतिथिवत् पुजा योग्य ।

(२) सर्वत्र शरीर में शक्ति रूप व्यापक या निरन्तर गतिशील -आत्मा (आत्मा' के लिए अतिथि आदि नाम उपनिषदों में भी आया है)

'जुष्टो दमूना अतिथि दुरोणे'

ऋ. ५.४.५, .अ. ७.७३,९, मै.सं. ४.११.१: १५९.३, का.सं. २.१५. तै.ब्रा. २.४.१.१ नि. ४.५.

'हंसः शुचिषद् वसुरन्तरिक्षसद्धोतावेदिषत् अतिथि दुरोणसद्'

ऋ. ४.४०.५, वाज.सं. १०.२४, १२.१४, तै.सं. १.८.१५.२, ४.२.१.५, मै.सं. २.६.१२:७१.१४, ३.२.१:१६.१,४.४.६:५७.३, का.सं. १५. ८,१६.८, ऐ.ब्रा. ४.२०.५, श.ब्रा. ५.४.३.२२, ६.७.३.११, तै. आ. १०.१०.२,५०.१ महा उ. ९.३, १७.८, कठ. २.५.२, नि. १४.२९

(३) अत (सातत्य गमन अर्थ में) + इथिन् = अतिथि । अतिथि (४) अध्वनीन (५) सायं और प्रातः उद्बोधनशील ,(६) अभ्यागत,

'गृहान् अभिलक्ष्य अतितः गतः भवति सोऽतिथिः।' अथवा

(७) नास्ति तिथिः यस्य' (जिसके आने के लिए अपने तिथि निश्चित न हो) ।

(८) अथवा पूर्णमासी आदि तिथियों में जो परकुल में यजमान गृह में जाता हो । पुरोहित ।

अतिथिग्व- (१) अतिथि -पूज्य पुरुषों के प्रति गौ, भूमि आदि प्रदान करने वाला यजमान ।

'अतिथिग्वस्य वर्तनी'

अ. २०.२१.८

(२) अतिथि + गम् + ड्व = अतिथि ग्व अर्थ, अतिथियों का गमन (३) अतिथि या पूज्य पुरुषों के गमन करने योग्य उत्तम पुरुष ।

'अरन्धयोऽतिथिग्वायशम्बरम्'

ऋ. १.५१.६

अतिथिगुः- अतिथि या अतिथिवत् परमेश्वर के प्रति उत्तम स्तुति वाणी का प्रयोग करने वाला

'य आयुं कुत्समतिथिग्वमर्दयः'

ऋ. ८..५३.२

अतिथिनी- (१) अतिथि यज्ञ आदि के वर्णन से युक्त वेदवाणी, (२) अतिथि के समान पूज्य नरों को प्राप्त होने वाली वेदवाणी, (३) आत्मा या परमेश्वर तक पहुंचाने वाली

'साध्वर्या अतिथिनीरिषिरा'

ऋ. १०.६८.३, अ. २०.१६.३

अतिथिपति - अतिथियों का सम्मान करने वाला गृहपति - Host मेजबान ।

'यद्वा अतिथिपति रतिथीन् प्रतिपश्यति'

अ. ९.६.३

अतिदीर्घ- बहुत अधिक लम्बा ।

'अतिदीर्घ चाति ह्रस्वमन् च'

वाज.सं. ३०.२२, वाज.स. (का.) ३४.२२.

अतिदीवा - (१) द्यूत का अत्यन्त व्यसनी (२) अति देदीप्त ।

'उत प्रहा मति दीवा जयति'

ऋ. १०.४२.९, अ. ७.५०.६, अ. २०. ८९.९

(३) अत्यन्त अधिक मेधावी (४) क्रिया वान् (५) व्यवहारवान् (६) आनन्दी

अतिद्रुत - अत्यन्त वेग से आक्रमण करने वाला ।

'प्रत्यङ् सोमो अतिद्रुतः'

अ. ६.५१.१, वाज.सं. १०.३१, १९.३, वाज.सं. (का.). २१.३. तै.सं. १.८.२१.१, मै.सं. २.३.८: ३६.१ का.सं. १२.९. श.ब्रा. ५.५.४.२२,१२. ७.३.९, तै.ब्रा. २.६.१.२, आप.श्रौ. सू. १९.१.१९. ६.१२

अतिधक्- (१) हमें छोड़ अन्य को न दें (२) हमें देने के वाद जो शेष बचे उसे दूसरे को दे ।

'शिक्षा स्तोतृभ्यो मातिधग्भगो नो'

ऋ. २.११.२१, नि. १.७

'हे इन्द्र, आप हमें छोड़ अन्य को न दें ।

अतिनुत्त - अतिनुद् + क्त । पराजित,

'अतिनुत्तो नाव्या एतु स्रोत्याः'

अ. ८.७.१५

अतिनेनीयमानः- (१) पुनः पुनः अभीष्ट सिद्धि की ओर पहुंचाने वाला ।

(२) इन्द्र या परमात्मा का विशेषण । ईश्वर स्रोताओं को परस्पर व्यवहार से अभीष्ट सिद्धि की ओर पहंचाता है । वह स्वयं कुछ न कुछ कर दूसरे को करने के लिए प्रेरित करता है ।

'अन्यमन्यमति नेनीयमानः'

ऋ. ६.४७.१६

अतिपर्षत्- पार करे ।

'स नः पर्षत् अतिदुर्गाणिविश्वा'

ऋ. १.९९.१, अ. ७.६३.१, तै.आ. १०.२.१, महा. उ. ६.२ नि. १४. ३३

अतिपश्यसि- अन्धेरे से निकल कर देखता है ।

'रात्र्याश्चिदन्धो अति देव पश्यसि'

ऋ. १.९४.७

अतिपारयः- सब संकटों से पार करने वाला ।

'भवासुपारो अतिपारयो नः'

ऋ. ६.४७.७

अतियाजः - अत्यन्त दान, यज्ञ, उत्तम सत्संग, मान पूजा ।

'निहीयताम् अति याजस्य यष्टा'

ऋ. ६.५२.१

अतिमतिः- बड़ी बुद्धि, ज्ञान, (२) शमन वल ।

'नि षू नमातिमतिं कयस्य चित्'

ऋ. १. १२९.५

अतिरात्र - (१) एक प्रकार का यज्ञ ।

'यावदतिरात्रेणेष्ट्वा'

अ. ९.६.४१

(२) अतिरात्र सोम यज्ञ की रात्रि ।

'ब्राह्मणासो अतिरात्रे न सोमेः'

ऋ. ७.१०३.७

अतिरात्रयज्ञ - एक यज्ञ ।

'भूतपूर्वो अतिरात्रो भविष्य दुत्तरः
पृथिवी पूर्वोऽतिरात्रो द्यौसत्ताः
अग्निः पूर्वोऽतिरात्रः आ
दित्य उत्तरः । प्राणः पूर्वोऽ
तिरात्र । उदान् उत्तरः'

तै आ. १०.४.१

'चक्षुषी अति रात्रौ'

तै.आ. १०. ४.२

'प्रतिष्ठा वा अतिरात्रः

श.ब्रा ५.५.३.५

'सातिरात्रमतिद्रव'

अ. १०.९.९

(भूत, भविष्यत, पृथिवी और द्यौ, अग्नि और सूर्य, प्राण और उदान, ये दो दो जोड़े अतिरात्र हैं । जैसे देह में आंखें है वैसे राष्ट्र के निरीक्षक लोग अतिरात्र के रूप हैं । राज्य की प्रतिष्ठा अतिरात्र हैं) ।

अतिरुक् – (१) अत्यन्त दीप्ति वाला, जानु (२) रुचि कारक अन्न ।
'अग्निमतिरुग्भ्यां पूषणम्'
वाज.सं. २५.३, मै.सं. ३.१४.३ः १७८.१०.

अतिरेजन्ते – प्रकाशित होते हैं ।

अतिरोचसे – अत्यन् दीप्त दीख पड़ता है, अत्यन्त रोचता है ।
'दूरे चित् सन्तडिदिवातिरोचसे'
ऋ. १.९४.७, नि. ३.११
(हे अग्नि, तू दूर रहता हुआ भी विद्युत की तरह निकट ही अत्यन्त दीप्त दीख पड़ता है ।)

अतिव्याथिः – बड़ी व्यथा का कारण ।
'वृषाकपे रति व्यथिः'
ऋ. १०.८६.२, अ. २०.१२९.२

अतिविद्ध– जांघ में होने वाला एक रोग जिस में तीव्र वेदना चलती है । पिप्पली इस रोग की दवा है ।
'उतातिविद्ध भेषजी'
अ. ६.१०९. १

अतिविद्धभेषजी– गहरी पीड़ा की उत्तम ओषधि –पीपल ।
'पीप्पली क्षिप्त भेषजी'
'उताति विद्ध भेषजी'
अ. ६.१०९.१

अतिविध –– अतिक्रमण ।
'यद् बंहिष्ठं नातिविधे सुदानू'
ऋ. ५.६२.९, मै.सं. ४.१४.१०ः २३१.१४, कौ.ब्रा. १८.१३, तै.ब्रा. २.८.६.७, आश्व.श्रौ.सू. २.१४.११, ३.८.१.

अतिव्याधी – अति वेग और बल से शत्रु को परास्त करने वाला ।
'अतिव्याधी महारथः'
वाज.सं. २२. २२

अतिलोमश – बहुत अधिक लोम वाला ।
'अतिकुल्वं चाति लोमशम् च'
वाज.सं. ३०.२२, वाज.सं. (का.) ३४.२२

अतिशर्वर– (१) शर्वर (रात्रि का पूर्व भाग) के बीत जाने पर ।
'रात्रीणा मतिशर्वरि'
अ. ४.५.४
(२) महाप्रलय काल ।
'अह्नां रात्रीणामतिशर्वरिषु'
अ. ७.८०.४,

अतिषक्ता – अति + सच् + क्त + टाप् । युक्त, सहित
'यज्ञायुधैराज्ये नाति षक्ता'
अ. १२.३.२३

अतिशिशीते – बहुत अधिक सताता है ।

अतिशुक्ल – अत्यन्त शुक्ल
'अतिशुक्लं चातिकृष्णम्'
वाज.सं. ३०.२२. वाज.सं. (का.) ३४.२२

अतिष्कद्वरी – अति अधिक रजःस्राव करने वाली स्त्री ।
'इद्वत्सरायातिष्कद्वरीम्'
वाज.सं. ३०.१५

अतिष्ठन् – 'स्था' धातु का लट् (वर्त्तमान) के अर्थ में लङ् (भूत) का प्रयोग ।
'देवानां माने प्रथमा अतिष्ठन्'
ऋ. १०.२७.२३, नि. २.२२
(देवताओं के निर्माण के समय सबसे पहले ये माध्यमिक देव गण (मेघ या वायु) निर्मित्त हुए) ।

अतिष्ठन्ती – स्थिर न रहने वाली, स्थिति रहित । जल का विशेषण ।
'अतिष्ठन्तीनाम् अनिवेशनानाम्
काष्ठाना मध्ये निहितं शरीररम्
वृत्रस्य निण्यं विचरन्यापो
दीर्घन्तम आशयदिन्द्रशत्रुः'
ऋ. १.३२.१०, नि. २.१६
ऐतिहासिकों का अर्थ – त्वष्टा के पुत्र वृत्र का शरीर जल में मग्न हो अज्ञेय रूप से बह रहा है (वृत्रस्य निण्यं शरीरम् आपो विचरन्ति) । वह शरीर जल राशि में फेंका हुआ है। वह जल स्थिर न रहने वाला है । वह वृत्र (इन्द्र शत्रुः) मानों महानिन्द्रा में सोया हुआ है ।
निरुक्त कारों का अर्थ – मेघ के पेट में स्थिर न रहने वाले तथा कहीं पर नहीं ठहरने वाले जलों के मध्य मेघ रूपी धाता ने स्थापित किया है ।

वे जल मेघ के नीचे आने वाले मार्ग को मानो जानते हैं यह मेघ भी अपने पेट में चलते हुए जल प्रवाह को रोकने की इच्छा से मानो अपना शरीर बढ़ाकर चारों ओर घोर अन्धकार विस्तारित करता है ।

अतिष्ठावान् - (१) अत्यन्तस्थिर, निश्चल, (२) सबसे बढ़कर युद्ध में निर्भय, (३) टिकाऊ और प्रतिष्ठादायी, (४) हाथी (५) सूर्य जो अति तेजस्वी हैं ।

'अतिष्ठावान् बभूव हि'

अ। ३.२२.६

अतिस्कद् , अतिष्कद् - बाधाओं और कष्टों से पार ले चलने में समर्थ ।

'आदित्यासो अतिष्कदे'

ऋ. ८.६७.१९

अतिसरा - शीघ्रगामिनी सेना ।

'अतिधावतातिसराः'

अ. ५.८.४

अतिस्थूल - अत्यन्त मोटा ।

''अतिस्थूलं चातिकृशम् च'

वाज.सं. ३०.२२, वाज.सं. (का.) ३४.२२

अतिसृष्ट- अच्छी प्रकार से सृष्ट- बनाया गया .

'अतिसृष्टो अपां वृषभः'

अ. १६.१.१, कौ.सू. ९.९.

अतिह्रस्व - बहुत छोटा, बौना । दे. 'अतिदीर्घ'

अत्ति - अद् (खाना) + ति (लट्), खाता है ।

'यदत्युपजिह्विका'

ऋ. ८.१०२.२१, वाज.स. ११.७४, तै.सं. ४.१.१०.१, मै.सं. २.७.७ , ८३.९. का.सं. १६.७, श.ब्रा. ६.६, ३.६, मा.श्रौ.सू. ६.१.३ , नि. ३.२०. (जिसे पिप्पिलिका खा जाती है)

अत्रि - 'अद्' (खाना) धातु से बना है। एक वैदिक ऋषि ।

'प्रियमेधवत् अत्रिवत् जातवेदो विरुपवत्'

ऋ. १.४५.३, नि. ३.१७

व्युत्पत्ति - (१) अत्रैव तृतीय मृच्छत इत्युचुः तस्मात् अत्रिः (पहले के उत्पन्न महर्षियों ने जिस ऋषि के उद्देश्य से यह कहा कि इन्ही अंगारों से (अत्रैव)(तृतीय ऋषि को ढूंढो (अत्यन्त) वह ऋषि अत्रि कहलाये ।

'अत्र तृतीय मप्यस्तीव्युक्ता पूर्वैमहंर्षिण अन्विच्छन्तोऽलभन्ताग्नौ तमत्रि प्रथितौजसम्'

(२) 'न त्रय एव अत्र (यहां तीन ही नहीं हैं ।) इस प्रकार के अनु व्याहार से अत्रिनाम पड़ा । (३) न त्रयः = अत्रि । जिनमें तीन तापों से एक भी नहीं वह अत्रि है । (४) पहले संकल्प से ही सृष्टि हुई (सं कल्पात् सृष्टिः) ।

'उत्सर्गात् नारदो यज्ञे दक्षोंऽगुष्ठात् स्वयम्भुवः
'इसी प्रकार

'अर्चिषुः भृगुर्बभूव'

(अर्चियों से भृगु हुए) भृगुः भृज्य मानः ।
अंगारेषु अंगिराः अंगारों से अंगिरा उत्पन्न हुए।
भृगु और अंगिरा के बाद तीसरे ऋषि अत्रि अंगारों से ही हुए ।

(२) पृथ्वी के भीतर की अग्नि जो भूकम्प के समय निकलती है (३) खाने वाला, (४) सबको खाने वाला अग्नि ।

'ऋजीषे अत्रिमश्विना वनीतम्'

स्वामी दयानन्द अत्रि का अर्थ अग्नि और सायण अत्रिऋषि कहते हैं ।

'अनिन्यथुः सर्वगणां स्वस्ति'

ऋ. १.११६.८, नि. ६.३६

सायण 'सर्वगणम् अत्रिम्' ऐसा अन्वय कर गण के साथ अत्रि ऋषि को अश्विनी कुमारों ने अग्नि से बचाया ऐसा अर्थ करते हैं ।

स्वामी दयानन्द सर्वगणं स्वस्ति अन्वय मान यह अर्थ करते हैं कि सूर्य और पृथ्वी ने भूमि के नीचे पड़े बीजों को जानकर समस्त प्रजावर्ग का कल्याण किया ।

अत्रिन् - लूटपाट कर खाने वाला दुष्ट पुरुष ।

'विश्वं समत्रिणं दहं'

ऋ. १.३६.१४,२०, का. सं. १५.१२, मै.सं. ४.१३.१: १९९.९, ऐ. ब्रा. २.२.१९, षड् ब्रा. ३.१, तै.ब्रा. ३.६.१.२.

'लूट पाट कर खाने वाले सभी दुष्टों को अच्छी प्रकार भस्म कर' ।

अत्रिवत् - हिंसक मांसभक्षी जीव के समान ।

'अत्रिवद्वः क्रिमयो हन्मि'

अ. २.३२.३, ५.२३.१०

अतुरा- (१) विमृश्यकारी, सोच समझ कर कार्य करने वाला, (२) मन्द आलसी जो शीघ्रता न कर सके ।

'तुदाणामतुराणां विशामवर्जुषीणाम्'
अ. ७.५०.२

अतूतुजिः(१) अहिंसक प्रजा, (२) कर न देने वाला शत्रु ।
'अतूतुजिं चित् तूतुजिरशिश्नत्'
ऋ. ७.२८.३

अतूर्त- (१) कभी नष्ट या ताड़ित न होने वाला
'अतूर्तं तुग्र्यावृधम्'
ऋ. ८.९९.७, अ. २०.१०५.३, साम. १.२८३,
(२) अतूर्ण, अचपल, अत्वरमाण, (३) गम्भीर प्रकृति वाला, (४) स्थिर बुद्धि ।
नञ् + तुर्वी + क्त = अतूर्त । 'तत् लोपः' से 'वी' का लोप । 'हलि च' से 'उ' का ऊ हो कर 'अतूर्त' बना
'अर्तूतो राजा श्रव इच्छमानः'
ऋ. १.१२६.१, नि. ९.१०.
'अहिंसित अचपल या अत्वरमाण जिस राजा ने मेरे लिए सहस्र सोमयज्ञों को सम्पूर्ण धन दान द्वारा यश की इच्छा से सम्पन्न किया । जिस गम्भीर स्थिर बुद्धि राजा ने प्रशंसा की इच्छा रखते हुए मेरे जैसे ब्रह्मचारियों के लिए हजारों शिक्षणालयों का निर्माण किया है । -(दया.)
(५) अगम्य ।
'अतूर्ते बद्धम् सविता समुद्रम्'
ऋ. १०.१४९.१, नि. १०.३२.
(सविता ने अगम्य एवं अहिंसित अन्तरिक्ष में लगे मेघ को प्रवाहित किया ।)

अतूर्तदक्षा - न नष्ट होने वाले स्थायी बल से युक्त अक्षिद्वय या (२) पतिपत्नी ।
'अतूर्तदक्षा वृषणा वृषण्वसू'
ऋ. ८.२६.१

अतूर्तपन्थस् - (१) अत्वरमाण पन्थाः आदित्य जो प्रतिक्षण नियतगति से चलते हैं, (२) जो जल्द मार्ग वाला नहीं है ।
'अतूर्तपन्थाः पुरुरथो अर्यमा
'सप्तहोता विषुरूपेषु जन्मसु'
ऋ. १०.६४.५, नि. ११.२३.
आदित्य भी सदा नियमपूर्वक पंथ वाले (अतूर्तपन्थाः) बहुत बड़े रथ वाले (पुरुरथः) अन्धकारों को नाश करने वाले (अर्यमा) एवं सात किरणों (सप्तहोता) विषमरूप जन्मो में प्रवृत्त रहते हैं । अर्थात् दक्षिणायन-उत्तरायण के कारण प्रतिदिन विषम स्वरूप वाला उदय होता हुआ किरणों से युक्त है ।

अत्यूर्मिः - अति + ऊर्मि । अति उत्साहित, (२) अति ऊर्मियों सोम ।
'अत्यूर्मि र्मत्सरो मदः'
ऋ. ९.१७.३

अतृदिल - अ + तृदिल । छिन्न भिन्न न होने वाला ।
'तृदिला अतृदिलासो अद्रयः'
ऋ. १०.९४.११

अतृपः - तृप्त नहीं होने वाला ।
'प्रतीत्येन कृधुना तृपासः'
ऋ. ४.५.१४

अतृष्णजः- निःस्पृह निर्मोही
'सुपविसो अतृषिता अतृष्णजः'
ऋ. १०.९४.११

अतृष्य- (१) जो कभी प्यासा न रहे, (२) सदा तृप्त ।
'अक्षुध्या अतृष्या स्त'
अ. ७.९०.४

अतृष्यन्ती - तृष्णा या लोलुपता से धन का लोभ न करती हुई स्त्री ।
'अतृष्यन्तीः अपसो यन्ति अच्छाः'
ऋ. १.७१.३
(तृष्णा वश धन का लोभ न करती हुई अच्छी प्रकार उत्तम कर्मों और फलों को प्राप्त हो ।)

अतृषित - तृष्णा लोभ से रहित ।
'सुपीविसो अतृषिता अतृष्णाजः'
ऋ. १०.९४.११

अतृष्णुवान् - (१) तृप्त न होने वाला, (२) अति विषय विलासी ।
'अतृष्णवन्तं वियतमबुध्यम्'
ऋ. ४.१९.३

अत्क - (१) वस्त्र (२) कवच ।
'वसानो अत्कं सुरभिं दृशे कं'
ऋ. ६.२९.३.

अथ - और, इसीलिए ।
'अथा देवा दधिरे हव्यवाहम्'
ऋ. ७.११.४,१०.५२.३, नि. ६.३५
इसीलिए देवताओं ने अग्नि रखा या आर्यजन अग्नि रखते हैं ।

अथर्य - (१) स्वयं कभी पीडित न होने वाला ।

'उषर्बुधमथर्यो न दन्तम्'
ऋ. ४.६.८

अथर्यु.- (१) अतनवान्, गमनवान् (२) अग्नि। अत (गमनार्थक) +युस् =अथर्युः अत का अथर् आदेश।
'दूरेदृशं गृहपतिमथर्युम्'
ऋ.७.१.१, साम. १.७२, २.७२३, का. सं. ३४.१९, ३९.१५ आप श्रौ. सू. १४.१६.१, नि. ५.१०
दूर दीखने वाले अर्थात् प्रकाशमान (दूरेदृशम्), गृहपालक या गृहस्थों के लिए आवश्यक (गृहपतिम्) सतत गमनशील अग्निदेव को (अथर्युम्) (३) जो पीड़ा कष्ट न दे- अग्नि

अथर्वन्- अथर्वन्ती इति अथर्वाण-दुर्ग। थर्व धातु का अर्थ चलना है। (थर्वति चरतिकर्मा, न थर्वति =अथर्वन् अर्थात् जिसका गमन कर्म न हो)। न थर्वना स्थिर प्रकृति वाला -वानप्रस्थी
हिन्दी में अथई उसे कहते हैं, जो चल फिर न सके। (२) अथर्व नामक भृगु वंश वाले (३) अंगिरा के वंश वाले भी अथर्वन् कहलाते हैं। (४) पिता गृहस्थाश्रम और अंगिरस् संन्यासी का द्योतक माना गया है। (५) आदित्य। वह सदा स्थिर रहता है।
'अंगिरसो नः पितरो नवग्वा'
'अथर्वाणो भृगवः सोम्यासः।'
ऋ. १०.१४.६, अ. १८.१.५८, वाज सं. १९.५०, तै. सं. २.६.१२.६, कौ . सू. ८१.३६, नि.११.१९
अंगिरा नामक अथर्वण तथा भृगु नामक अथर्वण हमारे पितर हैं। वे नूतन के समान प्रीति जनक या नई नई गति वाले, सोमपान करने के योग्य या सोमरस पीने वाले हैं।
(दूसरा अर्थ) जो हमारे प्राण प्रिय ब्रह्मचारी (अंगिरसः) प्रशस्तकर्मा या मक्खन के समान शुभकर्मों वाले पितर (नवग्वाः) स्थिर मति वान प्रस्थी (अथार्वाण) और योगैश्वर्य सम्पादक तपस्वी जन हैं।
'(सोम्यास भृगवः)'
(६) प्रजापति (७) अथर्व वेद।

अथर्वणः - शिर - प्रजापति का बाण या शिर।
'तद् वा अथर्वणः शिरः'
अ. १०.२.२७
(१) अंहिसक रक्षक प्रजापति।

अथर्ववत् - के तुल्य
'अथर्ववत् ज्योतिषाय दैव्येन'
ऋ. १०.८७.१२, अ ८.३.२१
(२) अथर्ववेद में लिखे प्रमाण के अनुसार (२) अहिंसक ईश्वरोपासक विद्वान् के सामन
'इममु त्यमथर्ववदग्निम्'
ऋ. ६.१५.१७

अथर्व्य - अविनाशी।
'याभिर्विश्पलां धनसामथर्व्यम्'
ऋ. १.११२.१०

अथर्वा - (१) वायु, (२) अहिंसक प्रजापालक विद्वान् (३) अहिंसा व्रतधारी योगी (४) एक ऋषि का नाम।
'त्वामग्ने पुष्करा दधि अथर्वा निरमन्थत'
ऋ. ६.१६.१३, साम. १.९, वाज. सं. ११.३२, १५.२२,
'यामथर्वा मनुष्पिता दध्यङ् धियमत्नत'
ऋ. १.८०.१६
(५) चिकित्सक विद्वान्।
'अथर्वभ्यो ऽवतोकान्'
वाज. सं. ३०. १५. तै. ब्रा. ३.४.१.११
(६)अथर्ववेद का ज्ञाता सबका कल्याण करने वाला पुरोहित।
'अर्थवा पूर्ण चमसं यम्'
अ. १८.३.५४
(७) अहिंसक राजा।
'यज्ञैरथर्वा प्रथमः पथस्तते'
ऋ. १.८३.५, अ. २०.२५.५

अथा - इसलिए।
'अथा सोमस्य प्रयती युवभ्याम्'
ऋ. १.१०९.२, तै. सं. १.१.१४.१, नि. ६.९

अथापि - जब।
'भ्रष्टोऽथापि अभूभुवः'
अ. २०.१३६.७,८

अथो - इस प्रकार।
'अथो श्वा अस्थूरिणो भवन्'
अ. २०.१३०.१९

अद् - भोजन करना, अंग्रेजी का Eat

अदत् - (१) खा जाने वाला घड़ियाल आदि जीव।
'मा दत्वते दशते मादते नो'

ऋ. १.१८९.५,

अदत्रय – खाने योग्य पदार्थ ।

'अदत्रया दयते वार्याणि'

ऋ. ५.४९.३

अददन्त – अधारयन्त (धारण किया) । 'दद्' धातु दानार्थक है । वेद में धारण करने से अर्थ में भी प्रयुक्त है ।

'द्रप्सं स्कन्नं ब्रह्मणा दैव्येन
विश्वेदेवाः पुष्करे त्वाददन्त'

ऋ. ७.३३.११, नि. ५.१४

विश्व देवों ने दैव सम्बन्धी वेद राशि से (दैव्येन ब्रह्मणाः) यह स्तुति करते हुए कि वह वीर्य भूमि न गिरे तुझे बासी जल रखे जाने वाले कलश में (पुष्करे) रखा (अददन्त)–सा. ।

जलरूप में परिणत तुझ को (द्रप्सं स्कन्नं त्वा) देवजनों के अन्न के निमित्त से (दैव्येन ब्राह्मणा) अर्थात् अन्न उत्पन्न करने के लिए सूर्य किरणें (विश्वेदेवाः) अन्तरिक्ष में (पुष्करे) धारण करती हैं (अददन्त)–(दया) ।

अददुष् – नहीं देने वाला ।

'वशाददुषे विषं दुहे'

अ. १२.४.३९

अदभ्र – (१) अनल्प गुणवान् (२) अधिक बलशाली (३) अहिंसनीय जन ।

'देवा अदभ्रमाशवः'

ऋ. ८.४७.६

अदब्ध – अनुपहिंसित, अतः आश्चर्यजनक ।

'अदब्धानि वरुणस्य व्रतानि'

ऋ. १.२४.१०, ३.५४.१८, तै. आ. १.११.२

(सूर्य के आश्चर्यजनक कर्म हैं)

(२) अतिरस्कृत (३) अबाधित, (४) वध और पीड़ा आदि को जो प्राप्त न हो –अग्नि , (५) परमेश्वर

'अदब्धः सुपुर एता भवा नः'

ऋ. १.७६.२, आप. श्रौ. सू. २४.१२.१०

(हे परमेश्वर, कभी तिरस्कार, वध या पीड़ा न प्राप्त करके हमारे आगे आगे नायक के समान अग्रणी पथप्रदर्शक बनकर रहो)

अदब्धधीतिः – जिसका अध्ययन, पठन पाठन नष्ट न हो – पूर्ण शिक्षित ।

'अर्यमणं भगमदब्धधीतीन्'

ऋ. ६.५१.३

अदब्धव्रतप्रमतिः – (१) अपने कर्तव्य, कर्मों और उत्तम शील, आचार के नाश न होने से उत्तम बुद्धि और ज्ञान से युक्त सदाचारी, उत्तम मनन शील (२) अग्नि ।

'अदब्धव्रतप्रमतिर्वसिष्ठः'

ऋ. २.९.१, वाज. सं. ११.३६, तै.सं. ३.५.११.२, ४.१.३.३, मै.सं. २.७.३ः ७७.१४ का.सं. १६.३, ऐ.ब्रा. १.२८.३४, श.ब्रा . ६.४.२.७

अदब्धायुः – अनष्टजीवन (२) अग्नि का विशेषण ।

'अग्नेऽदब्धायोशीतम पाहि मा दिद्योः'

वाज. सं. २.२०, श. ब्रा. १.९.२.२०

अदब्ध – नञ् +दभ् +क्त =अदब्ध । अर्थ (१) अप्रतिहत (२) कष्ट रहित – (दया)

'अदब्धासो अपरीतास उद्भिदः'

ऋ. १.८९.१, वाज. सं. २५.१४., का. सं. २६.११.

अदब्धचक्षुः – अविनाशी चक्षुवाला (२) सूर्य ।

'अदब्धचक्षुः परि विश्वं बभूव'

अ. १३.२.४४

अदब्धा – (१) नाश न करने योग्य–रक्षणीय, (२) जो तोड़ने योग्य न हो, (३) सुशील स्त्री ।

'वव्राजा सीमनदतीरदब्धा'

ऋ. ३.१.६

अदर्दः – भृशं विदारितवान् (अदृणाः) दृ (विदारणार्थक) का यङ्लुङन्तरूप है ।

'अदर्दरुत्समसृजो वि खानि'

ऋ. ५.३२.१, साम. १.३१५, नि. १०.९

हे इन्द्र, तूने मेघ को बार–बार विदीर्ण किया और मेघ में जल निकलने का स्थान बनाया (खानि व्यसृजः) ।

अदस् – वह (That) जो सामने न हो । यह, यहां, प्रसिद्ध ।

'इममस्तु सन्निकृष्टं समीपवर्ती चैतदोरूपम्'

'आसस्तु विप्रकृष्टं तदिति परोक्षे विजानीयात्'

जलों से विध्यत् की उत्पत्ति जलों से भी होती है । (२) समुद्र या वर्षा के जलों में बड़वा रूप में भी अग्नि की उत्पत्ति होती है ।

'वमद्भ्यः त्वमश्मनस्परि'

ऋ.२.१.१, वाज सं. ११.२७, तै सं. ४.१.२.५, मै. सं. २.७.२ः ७६.१०, का. सं. १६.२, तै. आ. (आं)

१०.१६, नि. ६.१

(हे अग्नि या विद्युत् , तू जलों से या पाषाण के आघात से उत्पन्न होता है)।

अद्भ्यः परि - समुद्र से बाहर या पार ।

'निष्टौग्र्यमूहथुरद्भ्यस्परि'

ऋ. १०.३९.४

(हे अश्विद्वय, तुम दोनों ने तुग्र के पुत्र भुज्यु को समुद्र से निकाला)

हे राजा तथा राजपुरुषों ! तुम दोनों वैश्य वर्ण को व्यापार करने के लिए समुद्र के पार पहुंचाओ

'(अद्भ्यः परि निरूहथुः)

अद्भ्यः परिप्रजातास्थ'

तै.स. १.१.८.१, तै ब्रा. ३.२.८.२

अद्म - अत्तुम् अर्हम् कर्मफलम् । अर्थ-कर्मफल

'आ स्वम् अद्म युवमानो अजरः'

ऋ. १.५८.२

(अपने भोग्य कर्मफल को प्राप्त करता हुआ जरा-रहित आत्मा)

अद्मन् - अद्यते भक्ष्यत इति अदमन् (जो खाया जाता है-अन्न) । अद् (भोजन करना) +मनिन् (कर्म ववाच्य में) = अदमन् ।

'अद्मसन्न ससतो बोधयन्ती'

'शश्वत् तमागात् पुनरेयुषीणा'

ऋ. १.१२४.४, नि. ४.१६

(उषा) गृहाधिकार में नियुक्त गृह स्वामिनी की तरह (अदमसन् न) सोते हुओं को जगाती है (ससतः बोधयन्ती) तथा नित्य घास चरकर फिर आने वाली गौ आदि के लिए (पुनरेयुषीणा) बार बार आने वाली है। (शश्वत्तमा)

अद्मसत् - (१) समस्त भोगने योग्य कर्मफलों पर अधिष्ठाता रूप से विराजने वाला जीव (२) भोजनों मे विराजने वाला स्वादप्रद अग्नि

'वद्मा हि सूनो अस्यदमसद्वा'

ऋ. ६.४.४, तै. सं. १.३.१४.७

अद् +मनिन् = अदमन् । अद्म +षण् + क्विप् = अद्मसत् (३) गृहस्वामिनी गृहाधिकारे नियुक्तास्त्री अद्मसादिनी या अद्म सानिनी । (४) जो अन्न के लिए प्रयत्नशील हो-इधर उधर जाये (तत् प्रति कर्तव्य तथा सीदति गच्छति इति अदमसत्) । अदमन् +सद् (णिच्)+ क्विप् =अद्मसन् ।

सायण के मत से अद्म का अर्थ अन्न है । अतः अद्मसद् का अर्थ गृहसाधिका या अन्नसाधिका हुआ । गृहस्वामिनी सबसे अधिक चिन्ता करने वाली होती है । सबेरे उठकर सभी को जगाती तथा आवश्यक कर्मों में प्रवृत्त करती । इसकी उषा से तुलना की गयी है ।

(५) अन्नसाधिका । अद्म का अर्थ गृह नहीं है, अतः 'गृहस्वामिनी' अर्थ कुछ आचार्यों को मान्य नही है ।

(६) अन्नदाता (७) मनुष्य ।

'नि पर्वता अद्मसदो न सेदुः'

ऋ. ६.३०.३

(पर्वतों को मनुष्यों की तरह स्थिर कर दिया)

अद्मसद्य - (१) कालाग्नि रूप से अन्नवत् रखने योग्य, (२) समस्त विश्व में अधिष्ठातृवत् विराजना तथा व्यापना, (३) चरु का ग्रहण करना (४) अन्न का भोजन ।

'अद्मसद्याय हिन्विरे'

ऋ. ८.४३.१९

अद्य - (१) अस्मिन् द्यवि (आज के दिन)। अहन् का नाम 'द्यु है । दिन चमकता है । (द्योतते)। द्युत् +उ =द्यौ (दि उत् का लोप) अद्य शब्द 'अस्मिन् द्यवि' से निपातन से सिद्ध हुआ है । (२) भोजसूत्र 'द्युगभ्यिां डीः' से दयु +डो = द्यो (उ का लोप), अथवा द्यु + उ = दयु (टि लोप के बाद) अथवा द्युत् +डुन् = द्यु । 'अहन्' अर्थ में द्यौ के स्थान में द्यु का भी पाठ मिलता है। जैसे-

'द्युभिरक्तुभिः परि पातमस्मान्'

ऋ. १.११२.२५, वाज. सं. ३४.३०, ऐ. ब्रा. १.२१.१८, कौ. ब्रा. ८.६, तै. आ. ४.४२.३

(२) खाद्य पदार्थ, भोज्य, खाने योग्य ।

'होतुश्चित् पूर्वे हविरद्यमाशत'

ऋ. १०.९४.२, नि. ७.७

(होता के पहले भोज्य हवि को खाओ)।

'पुनः-

'अद्या मुरीय यदि यातु धानो अस्मि'

ऋ. ७.१०४.१५, अ ८.४.१५, नि. ७.३

'आग्ने वह हविरद्याय देवान्'

ऋ. ७.११.५

(वसिष्ठ सौदास कहते हैं । यदि मैं राक्षस होऊं

तो आज ही मर जाऊं)

एक बार शिकार करते समय सौदास ने एक राक्षस को मार डाला। उस राक्षस के भाई ने रसोइए का भेष बना सौदास के यज्ञ में मनुष्य का मांस रांध दिया। योगबल से वसिष्ठ को यह छल मालूम हो गया और उन्होने सौदास (पैजवन) को शाप दे दिया कि तू राक्षस हो जा। सौदास ने भी वसिष्ठ को राक्षस हो जाने का शाप दे दिया। इसी पर वसिष्ठ ने ऐसा कहा है।

अद्वयाविन् – (१) न विद्यते द्वितीयो यस्मिन् (दया) (२) मां बाप दोनों से भी गुणों में अधिक पुत्र (३) द्यौ और पृथिवी दोनों से सामर्थ्य में अधिक-सूर्य।

'स्थातुश्च सत्यं जगतश्च धर्मणि'

'पुत्रस्य पाथः पदम द्वयाविनः'

ऋ. १.१५९.३

(हे माता पिताओ, द्यावापृथिवी, आप दोनों स्थावर और जंगम दोनों में सामर्थ्य से अधिक सूर्य के समान (अद्वयाविनः) अथवा माता पिता दोनों से भी अधिक अकेले पुत्र के स्थान का मार्ग का पालन करो)।

(३) दो भावों में नहीं रहने वाला सरल स्वभाव।

(४) अद्वितीय परमेश्वर।

'मन्द्रं होतारं शुचिमद्वयाविनम्'

ऋ. ३.२.१५

अद्धुतैनसः – (१) अपराध रहित निष्पाप जन (२) मरुत्।

'शर्धास्यद्धुतैनसाम्'

ऋ. ५.८७.७

अद्रयः – आदरयोग्य।

'तदिद्वदन्त्यद्रयो विमोचने'

ऋ. १०.९४.१३

अद्वयाः – (१) दो के भेद से रहित, (२) अनन्य, अद्वितीय।

'सखा सुशेवो अद्वयाः'

ऋ. १.१८७.३, का. सं. ४०.८, ऐ. आ. ४.९,

(३) बाहर भीतर दोनों में दो भाव न रखने वाली माता या अदिति (४) अखण्डराज शक्ति।

'अदितिर्नो दिवा पशुम् अदितिर्नक्त मद्वयाः'

ऋ. ८.१८.६

अद्वयावीः – (१) भीतर बाहर दो भाव न करने वाला, (२) निष्कपट

'सो अद्वयावी हवते व उक्थैः'

ऋ. ७.५६.१८

(३) द्वन्द्वभाव न रखने वाला (४) निष्पक्ष व्यवहार वाला।

'नि याथो अद्वयाविनम्'

ऋ. ५.७५.५

अद्वयुः – (१) दो भाव न रखने वाल (२) कपटहीन, (३) निश्च्छल।

'उप द्वयुं चाद्वयुं च वसवः'

ऋ. ८.१८.१५

अदानम् – (१) अद्यमानम् (खाया जाता हुआ)। (२) कर न देने वाला (३) दान न देने वाला।

'वम्रीभिः पुत्रमग्रुवो अदानम्'

ऋ. ४.१९.९, नि. ३.२०

अदान्य – दान दक्षिणा देने के अयोग्य

'अदान्यान् सोमपान् मन्यामानः'

अ. २.३५.३

अदाभ्य – अहिंसनीय।

'ऋणकातिमदाभ्यम्'

ऋ. ८.६१.१२

अदाभ्या – (१) अप्रतिहत गति वाले -अश्विनीद्वय का विशेषण।

'वर्तिर्यातमदाभ्या'

ऋ. ५.७५.७, नि. ३.२०.

(हे अप्रतिहत गति वाले अश्विद्वय, तुम दोनों परिवर्तित होकर आओ।)

(२) कभी परस्पर हिंसा प्रतिहिंसा न करते हुए आचार्य और शिष्य।

'या सानुनि पर्वतानामदाभ्या'

ऋ. १.१५५.१

अदामा – (१) अदानशील (२) बन्धन रहित, उच्छृंखल।

'मा त्वादामान आदभन् मघोनः'

ऋ. ६.४४.१२

(३) बन्धन में नहीं बांधने वाला।

'दामन्वन्तो अदामानः सुदामन्'

ऋ. ६.२४.४

अदारसृत् – स्त्रियों का मानभंग न करने वाला।

'अदारसृद् भवतु देव सोम'

अ. १.२०.१, तै. ब्रा. ३.७.५.१२, आप. श्रौ. सू. २.२०.६

अदाशुः - अदान शील, लोभी (२) शत्रु रूप दुष्ट ।
'चोदपवृद्धो हरिवो अदाशून्'
ऋ. १.१७४.६

अदाशुष् - दान न देने वाला ।
'अर्यो वेदो अदाशुषाम् तेषां नो वेद आ भर'
ऋ. १.८१.९, अ. २०.५६.६

अदाशुरिः - अदानशील ।
'यस्ते रेवाँ अदाशुरिः'
ऋ. ८.४५.१५
'यश्च रेवां अदाशुरिः'
अ. २०.१२८.४, शां. श्रौ. सू. १२.२०.२.४

अदाशूः - अदाता कंजूस ।
'यः शश्वतो अदाशुसो गयस्य'
ऋ. ७.१९.१, अ. २०.३६.१

अदाशूष्टरः - अति अधिक कृपण ।
'अदाशूष्टरस्य वेदः'
ऋ. ८.८१.७

अद्धा - प्रत्यक्ष, (२) सचमुच ।
'सत्यमद्धा नकिरन्यस्त्वावान्'
ऋ. १.५२.१३
(सचमुच तेरे समान कोई नहीं हैं)।
(३) यथार्थ तत्त्व
'पुनर्यतो न किरद्धा नु वेद'
ऋ. १०.१११.७
(४) निश्चय पूर्वक,
'अद्धा देव महां असि'
ऋ. ८.१०१.११, अ.२०.५८.३
(४) साक्षात्, सत्य, यथार्थ ।
'को अद्धा वेद क इह प्रवोचत्'
ऋ. ३.५४.५, १०.१२९.६, मै.सं. ४.१२.१:, १७८.१६, तै.ब्रा. २.८.९.५

अद्धाति - तत्त्वज्ञानी वैज्ञानिक पुरुष ।
'यामद्धातय इद्विदुः'
अ. ११.८.७

अद्याचित् - (१) आज तक ।
'तदद्या चित्त उक्थिनः'
ऋ. ८.१५.६, अ. २०.६१.३, सामं. २.२३२
(२) आज भी ।
अद्या चिन्नू चित् तदपो नदीनाम्'
'ऋ. ६.३०.३, नि. ४.१७
(हे इन्द्र, आज भी और पहले भी नदियों का जल बहाना ही तेरा काम रहा)।

अदित्सत् - दूसरों को ठगने या हिंसा न करने वाला।
'यो नो दिप्सददिप्सतः'
अ. ४.३६.२

अदित्सन् - न देना चाहने वाला पुरुष ।
'अदित्सन्तं चिदाघृणे'
ऋ. ६.५३.३

अदिति - (१) अदीना देवमाता, ऐतिहासिक (२)सन्धि वेला (३) आदित्य की माता ।
'दक्षस्य वादिते जन्मनि व्रते'
ऋ. १०.६४.५, नि. ११.२३
(हे अदिति या सन्धिवेला तू आदित्य के जन्मरूपी व्रत में या उदय का अस्त होने के समय (४) द्यौ, (५) अन्तरिक्ष, (६) विश्वदेव (७) पंचजनाः (८) आतस्तनी संन्ध्या, (९) आधे भाग से दिन और आधे भाग से रात को व्याप्त करने वाली (१०) अदीना, अखण्डनीया, अदुर्गता अभीता अनुपक्षीण -सा. (११) सकल प्रपञ्चधारण से भी खिन्न न होने वाली (सकल प्रपञ्च धारणेष्वदीना न खिद्यते-देवराज)
व्युत्पत्ति - (१) दीङ् (क्षयार्थक धातु) +क्तिन् (कर्त्ता अर्थ में) =दिति, नञ् + दीङ् +क्तिन् = अदिति । दीं का 'दि' हो जाता है । (२ अवखण्डनार्थक) +क्तिन् = दिति (गो का इत्व), न दिति = अदितिः । परमात्मा अक्षय और अखण्डित है ।
'अदिति र्द्यौरदितिरन्तरिक्षमदिति र्माता स पिता स पुत्रः
विश्वे देवा अदितिः पञ्चजना अदितिर्जातमदितिर्जनित्वम् ।'
ऋ. १.८९.१०, अ.७.६.१, वाज. सं. २५.२३, मै. सं. ४.१४.४: २२१.१, ऐ.ब्रा. ३.३१.९, तैआ. १.१३.२, आश्व. श्रौ सू ३.८.१, ५.१८.१८, जै. उप. ब्रा. १.४१.४, नि १.१५,४.२३
यह अदिति (पृथ्वी देवमाता) द्यौ है, अन्तरिक्ष है, सभी जीवों को उत्पन्न करने वाली माता है । सर्वपालक पिता है, वही पुत्र भी है। विश्व देव अदिति हैं । पञ्चजन-अर्थात्, ब्राह्मण,

क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और निषाद अथवा स्वा. दयानन्द के अनुसार गन्धर्व, पितर, देव, असुर और राक्षस, अथवा ब्राह्मण ग्रन्थो के अनुसार देव, मनुष्य, गन्धर्व, अप्सरा सर्प तथा पितर भी अदिति ही है। जो कुछ उत्पन्न हुआ है या होने वाला है सब अदिति ही है। इस प्रकार अदिति सकल जगतात्मक है।

(१२) द्यौ, अन्तरिक्ष माता पिता, पुत्र, विश्वेदेव, पञ्चजन्य, जात और जनित्व-ये सभी नाम अदिति परमेश्वर के हैं (दया.)। वह भूत काल में विद्वान् रहने के कारण जात और भविष्य मे एक रस रहने से जनित्व है।

(१३) 'हिरण्यमुषसो' ऋचा में 'चक्षाथे अदितिं दितिं च आया है। वहां मित्रावरुण को उदित हो पृथ्वी और द्युलोक दोनों को देखने वाला कह गया है। आर्यसमाजी विद्वान् मित्र को मन्त्री और वरुण को राजा समझ रथारूढ़ राजा और मंत्री द्वारा आत्म पक्ष (अदितिं) और प्रजा पक्ष (दिति) को सम्यक् देखभाल करने की कल्पना करते हैं।

(१४) अन्तरिक्ष आदि सभी अदीन हैं। द्युलोक और अन्तरिक्ष शीघ्र नाशवान् न होने से अदिति हैं। माता, पिता, पुत्र, सब विद्वान् लोग और ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र निषाद सभी अदीन हैं। भूत और भविष्यत् काल भी अपने अपने महत्व से अदीन ही हैं।

(१५) इसी अदिति से उत्पन्न आदित्य हैं।

(१६) अदीनता- दे आदित्य,

'अनागसो अदितये स्याम'

ऋ. १.२४.१५, अ. ७.३४.१, ८३.३, १८.४.६९, आ. सं. १.४. वाज. सं. १२.१२, तै.सं. १.५.११.४, ४.२.१.४, मै. सं. १.२.१८, २८.९, ४.१४.१७, २४६.६,का. सं. ३.८. १६.८, १९.११, २१.१३, श. ब्रा.६.७.८, साम. मं. ब्रा. १.७.१०

'दक्षाद्ददितिः परिः'

ऋ. १०.७२.४

(अदिति से दक्ष हुआ और दक्ष से अदिति)

(१७) पृथिवी, (१८) आदित्य (१९) मुख्य प्राण, (२०) वायु, (२१) अन्न-ग्राहिणी शक्ति।

'अदितिःपान्तु मरुतः'

अ. ६.३.१

(२२) अखण्ड छुरे की धार।

'अदितिः श्मश्रु वपतु'

अ. ६.६८.२,

(छुरे की धार वाल काटे)

(२३) न नाश होने वाला, (२४) न दान देने योग्य, (२५) रत्न, (२६) भूमि, (२७) साझ का धन, अखण्डनीय अविभाज्य धन।

'दितिं च रास्व अदितिमुरुष्य'

ऋ. ४.२.११, तै.सं. ५.५.४.४, का सं. ४०.५

अदितित्व - अखण्डनीयता, अखण्ड बने रहना।

'अनागास्त्वे अदितित्वे तुरासः'

ऋ. ७.५.१.१, तै.सं. २.१.११.६ मै. सं. ४.१४.१४, २३८.१३

अदितेःअनीकम् - सूर्य का मुख उषा, (२) माता पिता दोनों का मुख पुत्र।

'माता देवानाम् अदिते-अनीकम्'

ऋ. १.११३.१९

अदितेःऋतम् - (१) अखण्ड परमेश्वर का सत्य ज्ञान मय स्वरूप, (२) अतिथि, माता पिता या सूर्य का तेज पद

'श्रथ्नीते नप्तीरदितेर्ऋतं यते'

ऋ. ९.६९.३

अदितेः पुत्रः - (१) भग नामक अन्धकार को जीतने वाले प्रातः कालीन आदित्य के विशेषण के रूप में प्रयुक्त, (२) अदिति का पुत्र। 'अदिति' का अर्थ देखें।

'प्रातर्जितं भगमुग्रं हुवेम'

'वयं पुत्रमदितेर्यो विधर्ता'

ऋ. ७.४१.२, अ. ३.१६.२, वाज. सं. ३४.३५, तै. ब्रा. २.८.९.७, आप. मं. पा. १.१४.२, नि. १२.१४. (हम अन्धकार को जीतने वाले उग्र भग को पुकारते हैं जो भग अदिति का पुत्र है और समस्त जगत् का अपने अनुग्रह से पालन करने वाला है।)

अदितेः पुत्रासः - (१) अदिति के पुत्र (२) भूमि के पुत्र, (३) बहुतों की रक्षा करने वाले भूमिमाता के तेजस्वी पुरुष

'ते हि पुत्रासो अदितेःविदुर्द्वेषांसि योतवे'

ऋ. ८.१८.५, वाज. सं. ३.३३. मै. सं. १.५.४, ७०.११,श. ब्रा. २.३.४.३७,आप. श्रौ. सू. ६.१७.१०

अद्रिः - (१) पर्वत, (२) मेघ,।

'वि जयुषा ययथुः सान्वेद्रः'

ऋ. १.११७.१६

व्युत्पत्ति - (१) आङ् +दृ (विदारण) +क्रि = आदि (आङ् के आ और क्रि के क का लोप, (२) 'आदृणाति अतेन' या (इस से विदीर्ण करता है) अथवा 'आदारयति' अनेन इति अद्रिः। अर्थ- (१) वज्र (२) विदीर्ण करने का साधन, (३) सोम क्योंकि ग्रावा नामक पत्थर से सोम विदारा जाता है ।

(४) अथवा अद् (भोजन करना) +क्रि = अद्रि। अद्रि प्राणियों की हिंसा करना है । इन्हे खाता या मारता है अथवा इससे मारा जाता है । (५) अदरणीय (अ +दृ +क्रि =अद्रि) -दृढ़ । जैसे .'अद्रयः पर्यता' का अर्थ है- दृढ़ पर्वत। स्वामी दयानन्द ने इसका अर्थ आदरणीय भी किया है।

'यदद्रयः पर्वताः साकमाशवः'

'श्लोकं घोषं भरथेन्द्राय सोमिनः'

ऋ. १०.९४.१, नि. ९.९

(जब दृढ़ पर्वत और शीघ्र करने वाले आप ग्रावा एक साथ इन्द्र के लिए श्रवणीय घोष करते हैं।)या हे आदरणीय तेजस्वी (अद्रयः पर्वता) तथा एकत्र हो शीघ्र कार्य करने वाले प्रजा जनो (साकं आशवः)यदि तुम राजा के लिए प्रशस्त वचनों वाले शब्द को धारण करोगे अर्थात् प्रशस्त वाणी का उच्चारण करोगे (इन्द्राय श्लोकं घोषं भरथ) तब तुम ऐश्वर्य सम्पन्न होगे अथवा समृद्ध राजा के राष्ट्र में रहोगे (सोमिनः) ।

अद्रिजूतः - मेघ में या पर्वतादि विषम स्थलों में भी वेग से जाने वाला-रथ (२) विमान (३) अग्नि-यान (४) अविदीर्ण-स्थिर, अविनाशी परमेश्वर की तरफ वेग से जाने वाला आत्मा ।

'रथोह वामृतजा अद्रिजूतः'

ऋ. ३.५८.८

अद्रिजा - न विदीर्ण होने वाले बल से सम्पन्न (२) प्रर्वत पर उत्पन्न ।

'गोजा ऋतजा अद्रिजा ऋतं बृहत्'

वाज. सं. १०.२४

अद्रिदुग्ध - पर्वत या मेघ से प्रपूरित (२) पत्थरों से चलाया सोमरस ।

'तुभ्येदेते बहुला अद्रिदुग्धाः'

ऋ. १.५४.९

(३)मेघ से परिपूर्ण, (४) उदार गुरुजनों से ज्ञान से परिपूर्ण शिष्य, (५) पत्थरों से चुलाया सोमरस ।

'तिरोरोम पवते अद्रि दुग्धः

ऋ. ९.९७.११, साम. २.३७०

(६) मेघों या पर्वतों से प्राप्त मधुर रस को धारण करने वाला ।

'तुभ्यं खाता अवता अद्रि दुग्धाः'

ऋ. ४.५०.३, अ. २०.८८.३

अद्रिभित् - (१) मेघों को छिन्न भिन्न करने वाला सूर्य (२) शस्त्रयुक्त सैन्यो को भी भेदने से समर्थ (३) पर्वतों का भेदन करने वाला इन्द्र (४) मेघों का आवरण दूर करने वाला वायु (५) अ अर्थात् दीर्ण होने वाले जन्म मरण के बन्धन य अज्ञान का नाशक ।

'यो अद्रिभित् प्रथमजा ऋतावा'

ऋ. ६.६३.१, अ. २०.९०.१, वै. सू. ३३.२१

अद्रिमाता - (१) मेघ का उत्पादक, (२) ज्ञानाद उदार पुरुषों को उत्पन्न करने वाला (३) जिसे अद्रि ही उत्पन्न करता है सोम रस ।

'स्वर्वित् कोशं दिवो अद्रिमातरम्'

ऋ. ९.८६.३

अद्रिवन् - अद्रि+मतु । (१) अद्रि अर्थात् वज्रवाला इन्द्र। सम्बोधन में 'मतुवंसो स सम्बुद्धौ छन्दसि' से न् का स् और विसर्ग ।

'यदन्द्रि चित्र मेहनास्ति त्वादातमद्रिवः।'

ऋ. ५.३९.१, साम. १.३४५, २.५२२, पंच. ब्रा. १४.६.४, आश्व.श्रौ.सू. ७.८.३, शां. श्रौ. सू. ११.११.१५, १८.१८.८, नि. ४.४

(हे इन्द्र, जो तेरा पूजनीय या विचित्र धन है और जो धन तेरे द्वारा देने योग्य है)

(२) अविनाशी शक्तिशाली वज्रधारी इन्द्र ।

'महेचन त्वामद्रिवः'

'परा शुल्काय देयाम्'

ऋ. ८.१.५, साम. १.२९१, शां.श्रौ.सू. १८.९.२, १०.२

(३) शस्त्र और पर्वत युक्त राज्य का स्वामी ।

'इन्द्र तुभ्यमिदद्रिवः'

ऋ. १.८०.७, साम १.४१२.

अद्रिवर्हाः - मेघों के आच्छादनों से युक्त सूर्य ।

'पीयूसं द्यौरदितिरद्रिबर्हाः'

ऋ. १०.६३.३

अद्रिवाः - (१) सोमरस, (२) सर्वोत्पादक, (३) आदरणीय , (४) अक्षय बलवान् (५) परमात्मा, (६) आदर करने वाले भक्तों के स्वामी ।

'रक्षो भिन्दन्तो अद्रिवः'

ऋ. ९.५३.१, साम. २.१०६४

अद्रिबुध्नः - अन्न के खाने वाले देह या प्राण पर आश्रित ।

'अयं निधिः सरमे अद्रिबुध्नः'

ऋ. १०.१०८.७

अद्रि-संहत -पर्वत के समान दृढ़ शरीर वाला, (२) सोम ।

'द्विर्यं पञ्च स्वयशसं स्वसारो अद्रिसंहतम्'

ऋ. ९.९८.६, साम. २.६८

अद्रिसानु - (१) पर्वत शिखर, (२) पवर्त शिखर के समान दृढ़ आधार शिला पर आरूढ़ कन्या ।

'इदा हि त उषो अद्रिसानो'

ऋ. ६.६५.५

अद्रिसुत - (१) पर्वत पर उत्पन्न उद्भिद् आदि -(दया.) (२)शिला-खण्ड से चलाया सोमरस ।

'इमे सुता अद्रिसुतास उद्भिदः

ऋ. १.१३९.६

अद्विषेण्य - (१) कभी द्वेष नहीं करने वाला, (२) द्वेष न करने योग्य, (३) सबका प्रिय ।

'मयोभुरद्विषेण्यः सखा'

ऋ. १.१८७.३, का. सं. ४०.८

अदीधेत् - अन्वध्यायत् । अर्थ है - ध्यान किया, अनुकूल चिन्तन किया अर्थात् पूर्ण किया।

'यद्देवापिः शंतनवे पुरोहितः'

'हो त्राय वृतः कृपयन्नदीधेत्'

ऋ. १०.९८.७, नि. २.१२

वर्षा की कामना से कही गई ऋचा जब अर्ष्टिसेन शन्तनु राजा के पुरोहित देवापि ने होता कर्म के लिए व्यस्त होकर कृपा करता हुआ ऐसा ध्यान किया कि वृष्टि हो । अन्य अर्थ- जब वर्ष कामेष्टि यज्ञ के लिए वरण किए हुए सत्संगी विद्वान् ने राष्ट्र के लिए शान्ति की इच्छा रखने वाले राजा पुरोहित होकर कृपादृष्टि से यज्ञ को पूर्ण किया ।

अद्री - मेघ या पर्वतवत् स्त्री पुरुष, (२) सोम रस चुलाने के लिए दो शिला खण्ड ।

'युज्यातामद्री अध्वरस्य पेशः'

ऋ. ७.४२.१

अदुग्धा - नहीं दुही हुई गौ ।

'अदुग्धा इव धेनवः'

ऋ. ७.३२.२२, अ.२०.१२१.१, साम. १.२३३, वाज.सं. २७.३५, तै.सं. २.४.१४.२, मै.सं. २.१३.९, १५८.१४, का.सं. ३९.१२, आप. श्रौ.सू. १७.८.४, १९.२२.१६,

अदुच्छुनः - प्रजा को दुःख न देने वाला ।

'मदो राजन्नदुच्छुनः'

ऋ. ९.६१.१७, साम २.२४०

अदुष्कृता - दुष्टा चरण से रहित वरवधू

'मादुष्कृतौ व्यनेसा अघ्न्यौ शूनमारताम् ।'

ऋ. ३.३३.१३, अ. १४.२.१६

अद्भुत - (१) अभुत - जो न हुआ हो। जो कदाचित्क हो अर्थात् शायद ही कभी हो जाय ।

(२) किस का होगा । मेरा या दूसरे का, इस प्रकार की भावना होने पर अद्भुत समझा जाता है । यागात् स्वर्गो भवति (यज्ञ से स्वर्ग होता है) इसमें वही अभूत की भावना है जिसे हम निश्चय पूर्वक नहीं कह सकते इसलिए वह अद्भुत हुआ । नञ् +भू +क्त =अभुत । त् का आगम और ऊ का उ होकर अद्भुत बना ।

(३) महत् । निघंटु में अद्भुत शब्द 'महत्' वाची पठित है । महान् पदार्थ सम्यक् प्रकार से धारण किया जाता है ।

सम् +भृ +हुतन = सम्भुत = अद्भुत

'न नूनमस्ति नो श्वः कस्तद् वेद यदद्भुतम्'

ऋ. १.१७०.१, नि. १.६

(इन्द्र कहते हैं- आज का हवि मेरा नहीं है और कल का हवि तो मेरा है ही नहीं, यह सब होनहार बात कोन ऐसा है जो जानता है)

(२) आश्चर्य जनक, विचित्र ।

'मित्रो न भूत अद्भुतस्य रथीः'

ऋ. १.७७.३

(वह आश्चर्यजनक युद्ध करने वाले सैन्य बल का महारथी अथवा आश्चर्य प्रद ऐश्वर्य का लेने वाला हो ।)

अद्भुतक्रतू - आश्चर्यजनक बुद्धि और कर्म से सम्पन्न मित्रावरुण (२) स्त्री पुरुष ।

‘मा कस्याद्भुत क्रतू यक्षं भुजेमा तनूभिः’
ऋ. ५.७०.४, शां. श्रौ. सू. १२.२.१४

अद्भुतैनाः - पाप-रहित, निरपराधी ।
‘आदित्या अद्भुतैनसः’
ऋ. ८.६७.७

अद्यु - प्रकाश-रहित सान्धकार ।
‘अद्युं कृणोत शंसं निनित्सोः’
ऋ. ७.३४.१२

अद्रुह् - अ +द्रुह् +क्विप् =अद्रुह् । द्रोह-रहित ।
‘उत मन्ये पितुरद्रुहो मनः’
ऋ. १.१५९.२

अद्रुहः - परस्पर द्रोह न करने वाले, एक दूसरे के उपकारक, (२) तीव्रगामी वायु आदि तत्त्व ।
‘ये महो रजसो विदुः’
‘विश्वे देवासो अद्रुहः।’
ऋ. १.१९.३

अद्रुहा - द्रोह से रहित ।
द्यावापृथिवी का विशेषण ।
‘आ वामुपस्थमद्रुहा’
ऋ. २.४१.२१, मै.सं. ३.८.७ः १०५.७, कौ,ब्रा. ४, नि. ९.३७
हे हविर्धान द्यावापृथिवी, तुम दोनों द्रोहरहित हो ।

अद्रुह्वाणः- कभी द्रोह न करने वाला ।
‘ता वां सम्यग् अद्रुह्वाणा’
ऋ. ५.७०.२, साम २.३३६

अदून - बिना जला भुना ।
‘दूना अदूना अरसा अभूवन्’
अ. २.३१.३

अद्यूत्य - (१) द्यूतात् आगतम् । द्यूते भवं वा द्यूत्यम् , न +द्यूत्यम् = अद्यूत्यम् - द्यूत आदि छलयुक्त कार्य या शर्त से रहित कार्य (२) प्रकाश रहित स्थान ।
‘अद्यूत्येऽवसे निह्वये वाम्’
ऋ. १.११२.२४, वाज सं. ३४.२९
(प्रकाश रहित अन्धकारमय मार्ग में या द्यूत आदि छल कपट से व्यवहार से रहित धर्म मार्ग में गमन करने के लिए आप दोनों को मैं बुलता हूं ।)

अद्रूक्षण - अ +द्रक्षण । जो रूखा, कठोर या क्लेशकारी न हो ।
‘संस्पर्शेऽद्रूक्षणमस्तु ते’
अ. ८.२.१६

अदृप्तः - दर्परहित । (अ +दृप् +क्त) ।
‘वेधा अदृप्तो अग्निर्विजानन्’
ऋ. १.६९.३

अदृप्तक्रतुः - ज्ञान और कर्म पर भी गर्व न करने वाला (२) बुद्धि में मोहित न होने वाला (३) कर्म करने पर गर्वरहित ।
‘अदृप्त क्रतुरवातः’
ऋ. ८.७९.७
“अदृप्तक्रतु मरतिं युवत्योः ’
ऋ. ६.४९.२

अदृपित - (१) मोह और अहंकार से रहित ।
‘आश्रृण्वते अदृपिताय मन्म’
ऋ. ४.३.३
(२) अन्यो को क्लेश न पहुँचाने वाला ।
‘अदब्धेभिरदृपितेभिरिष्टे ।’
ऋ. १.१४३.८

अदृप्यत् - गर्व-रहित ।
‘अदृप्यता मनसा रेवदाशाथे’
ऋ. १.१५१.८

अदृष्टहा - (१) नहीं दीखने वाले कीटों का नाशक--सूर्य-ताप, (२) अप्रत्यक्ष परलोक में भी गति करने वाला ।
‘विश्वदृष्टो अदृष्टहा’
ऋ. १.१९१.८,९, अ.५.२३.६, ६.५२.१

अदृंहत् - दृंह् (दृढ़ करना) का लङ् (भूत) में रूप ।
दृढ़ किया, स्थापित किया ।
‘अस्कम्भने संविता द्यामदृंहत्’
ऋ. १०.१४९.१, नि. १०.३२

अदेव - (१) नहीं देने वाला, (२) जो विद्या और धन पाकर दान न दे (३) कर आदि न देने वाला, (४) अव्यवहारज्ञ (५) देव या राजा को न स्वीकार करने वाला (६) अराजक (७) नीच
‘ न नमो वधः अदेवस्य पीयोः’
ऋ. १.१७४.८, २.१९.७
(८) प्रकाश या ज्ञान से रहित शरीर
‘अदेवाद् देवः प्रचता गुहायत्’
ऋ. १०.१२४.२

अदेवृघ्नी - देवर का विनाश न करने हारी
‘अदेवृघ्नी अपतिघ्नीहैधि’

अ. १४.२.१८

अदेवमनः - उत्तमभाव से रहित अशुद्ध मन ।
'अदेवेन मनसा यो रिषण्यति'
ऋ. २.२३.१२, का.सं. ४.१६

अदेवयुः - (१) इन्द्रियों को वश में नहीं रखने वाला, (२) यज्ञादि एवं देवोपासना न करने वाला, (३) विद्वानों एवं शुभगुणों का समादर न करने वाला

अदेवीःमायाः - (१) अदेवन शील आसुरीमाया, राक्षसी माया ।
'प्रादेवीर्मायाः सहते दुरेवाः'
ऋ. ५.२.९,अ. ८.३.२४, तै.सं. १.२.१४.७, का.सं. २.१५
अति आसुरी मायावों को अभिभूत करता है (सा.) । तेजस्वी पुरुष दुष्टमार्ग में ले जाने वाली आसुरी मायाओं को अभिभूत करता है -(दया) ।

अद्रेःश्लोकः - मेघ के समान ज्ञान वर्षा करने वाले वेद की वाणी ।
'दस्राविमं श्रणुतं श्लोकमद्रेः'
ऋ. १.११८.३, ३.५८.३

अद्वेषः विष्णुः - द्वेष रहित व्यापक बलवान् एवं पर्वतों और देश के प्रकोटों का स्वामी ।
'अद्वेषोविष्णुः वातऋभुक्षाः'
ऋ.१.१८६.१०

अदोमदः - (१) परलोक में सुख प्रद।
'अदोमदमन्नमद्धि प्रसूतः'
अ. ६.६३.१
(२) खाने में सुख कारी एवं मधुर
'अबलासावदोमधौ'
अ. ८.२.१८

अद्रोघः - (१) द्रोह-रहित ।
'ये अद्रोघमनुष्वधम् ।'
ऋ. ५.५२.१
'अद्रोघेण वचसा सत्यमग्ने'
ऋ. ३.१४.६, का. सं. ६.१०
(२) किसी से भी द्रोह या द्वेष बुद्धि न रखने वाला परमेश्वर ।
'अद्रोघ सत्यं तव तन्महित्वम्'
ऋ. ३.२२.९

अद्रोघवाच् - (१) जिसकी आज्ञा अनुल्लंघनीय हो- (२) हितकर वेदवाणी को देने वाला ।
'अद्रोघवाचम् मतिभिः शविष्ठम्'
ऋ. ६.५.१, २२.२, अ. २०.३६.२
(३) सदा द्रोहरहित प्रेम की वाणी से स्मरण करने योग्य (४) प्रेममयी वाणी का उपदेष्टा ।
'अद्रोघवाचम् सुशेवम्'
अ. ६.१.२, आश्व. श्रौ. सू. ८.१.१८

अध - और ।
'अध जिह्वा पापतीति प्रवृष्णः'
ऋ. ६.६.५
(और प्रवर्षिता अग्नि की ज्वाला लकडियों पर बार बार जाती है।
'अध यदेषां सुदिने न शरुः'
ऋ. १.१८६.९

अधन्वा - माया की दूध रहित गौ ।
'अधेन्वा चरति माययैष'
'वाचं शुश्रुवां अफलामपुष्पाम्'
ऋ. १०.७१.५, नि. १.२०
(जो बिना समझे बुझे वाणी पढ़ता या सुनता है उसे उससे कोई फूल या फँल नहीं मिलता । वह अध्ययन निष्फल होता है । वह माया की गौ है जो दूध नहीं देती ।)

अधमः - नीचेवाला ।
'अवाधमं वि मध्यमं श्रथाय'
ऋ. १.२४.१५, अ. ७.८३.३, १८.४.६९, आ.सं. १.४, वाज सं. १२.१२, तै.सं. १.५.११.३, ४.२.१.३, मै.सं. १.२.१८: २८.८, ४.१४.१७: २४६.५, का.सं. ३.८.१६.८, श.ब्रा. ६.७.३.८, साम मं.ब्रा. १.७.१०

अधमन्तमः - अधम अर्थात् नीचे का अन्धकारमय नरकलोक ।
'नोयन्त्यधमंतमः'
अ. ८.२.२४

अधमपाश - तिर्यक् आदि योनि में ले जाने वाला कर्मजाल ।
'अधमं पाशमुत्तमम्'
अ. २.८.१, ३.७.४

अधरः - (१) नीचे स्तर का मनुष्य ।
'यो नो द्वेष्ट्यधरः सस्पदीष्ट'
ऋ. ३.४३.२१, अ. ७.३१.१, मै. सं. १.२.१५: २६.३, का. सं. ३०.८,९,
(२) नीच की ओर-ओष्ठ ।
'उपायाममधरेणौष्ठेन'

वाज सं. २५.२, तै सं. ५.७.१२.१, मै. सं. ३.१५.२, १७८.३, का. सं. (अश्व) १३.२

(३) अधः +ऋ (गमन करना) +अच् =अधार = अधर जो नीचे की ओर जाय

(४) अथवा, न धावति इति अधः (जो ऊपर की ओर न जाय) नञ् + धाव् +डसन् =अधः

(५) अधर का अर्थ नीचे वाला भी है ।

'स उत्तरस्मान् अधरं समुद्रम्'

'अपो दिव्या असृजत् वर्ष्या अभि'

ऋ. १०.९८.५, नि. २.११

(देवापि ने ऊपर के समुद्र से नीचे के पार्थिव समुद्र में दिव्य जल सभी जीवों के ऊपर बरसाया ।)

अधरकण्ठ – कण्ठ का अधर भाग ।

'तेदनीमधर कण्ठेन'

वाज. सं. २५.२, मै.सं. ३.१५.२, १७८.५

अधरगुहा – शरीर का अधोभाग, (२) गर्भाशय, (३) नीचला खोह ।

'यो दासं वर्णम् अधरं गुहाकः'

ऋ. २.१२.४, अ. २०.३४.४, कौ. ब्रा. २.१.४, २२.४

अधरंतमः – मृत्युरूपी निकृष्ट अन्धकार ।

'यो अस्मां अभिदासति अधरं गमया तमः'

ऋ. १०.१५२.४, साम. २.१२१८, अ. १.२१.२, वाज. सं. ८.४४, १८. ७०, तै. सं. १.६.१२.४, मै. सं. ४.१२.३ः १८३.१३, श. ब्रा. ४ .६.४.४,शां. श्रौ. सू. ४.२१.२, १७.१२.४ आप. श्रौ. सू. २०.२०.७

(हे इन्द्र, जो हमें नष्ट करना चाहता है उसे मृत्युरूपी निकृष्ट अन्धकार में पहुंचा ।)

अधरःसमुद्रः – नीचे वाल पार्थिव समुद्र ।

'स उत्तरस्मादधरं समुद्रम्'

ऋ. १०.९८.५, नि. २.११

अधरहनुः – नीचे का जबड़ा ।

'पृथिव्यधरहणुः'

अ. ९.७.२

अधरा – निकृष्ट कोटि की ।

'शत्रूयतामधरा वेदनाकः'

ऋ. १.७.१४

अधराक् – अधर +अञ्च +क्विप् =अधराञ्च । नीचे गिरने वाला (२) पतनशील पतित

'तदाहुरधरागिति'

अ. २०.१२८.२, शां.श्रौ. सू. १२.२०.२.३

अधराङ् – नीचे की ओर गिरा हुआ ।

'तेऽअधराञ्चः प्रपमवन्ताम्

अ. ३.६.७, ९.२.१२

'त्वं सिन्धूंरवा सृजोऽधराचः'

ऋ. १०.१३३.२, अ. २०.९५.३, साम. २.११५२

(२) नीचे की ओर दबा हुआ ।

'अधराञ्चं सुवामसि'

अ. ६.१२७.३.

अधराञ्च् – नीचे की ओर गति वाला ।

'अधराञ्चं परासुव'

अ. १९.३९.१०

अधराच्य – (१) नीचे की ओर सरकने वाला पिष, (२) निम्न बल वाला विष ।

'अथेदमधराच्यम् ।'

अ. ४.७.२

अधराची – नीचे मार्ग में लगी, नीच प्रवृत्ति वाली स्त्री (२) यातुधानी, राक्षसी ।

'यातुधान्योऽधराचीः परासुव'

वाज सं. १६.५

अधराचीन – नीचे ।

'अधराचीनम् अकृणोत् अपामयः'

ऋ. २.१७.५

अधरात् – दक्षिण से ।

'आश्विना यातमधरात् उदक्तात्'

ऋ. ७.७२.४, ७३.५

अधरावेदना – निकृष्ट कोटि की वेदना ।

अधवन्त – (१)चलते हैं या चलने लगे (२) पहुंचावे-

'आपो न सृष्टा अधवन्त नीचीः'

ऋ. ७.१८.१५

(मेघ असुर इन्द्र से दीर्ण हो विलीन प्राय जल की तरह विनम्र हो नीचे चलने लगे)

(दुष्टों केहिंसक क्षत्रिय राजद्रोहियों को फेंके जल की तरह नीचे पहुंचावे)

अधः – नञ् +धाव् +उसुन् = अध् । जो ऊपर की ओर न धावे अर्थात् नीचे की ओर ।

अधःक्षरना – (१) मेघ से नीचे गिरती हुई जलधारा (२) नीचे के अंगों से स्रवित अर्थात् ।

'ऋतुधर्मवाली नवयुवती ।'

'श्रृण्वन्त्यापो अधःक्षरन्ती'

ऋ. ७.३४.२

अधःपदः - अधीन ।

अधस्पदः - (१) नीचे का स्थान ।
'अधस्पदं द्विषतस्पादयामि'
अ. ११.१.१२,२१
(२) चरण-सेवी,अधीन ।
'लब्ध्वा चक्रे अधस्पदम्'
अ. ५.८.८

अध्यक्ष - साक्षी परमेश्वर ।
'अध्यक्षो वाजी मम काम उग्रः'
अ. ९.२.७

अध्यालोहकर्ण - समस्त लोह के बने साधनों वाली ।
'शुष्ठाकर्णोऽध्यालोहकर्णाः'
वाज. सं. २४.४

अध्व - मार्ग ।

अध्वन् - (१) मार्ग, (२) अन्तरिक्ष ।
'भूमारेजन्ते अध्वनि प्रविक्ते'
ऋ. ६.५०.५
जीवन मार्ग के परिशुद्ध होने पर बड़े बड़े शत्रु सैन्य भय से कापंने लगते हैं । -(द.)
हे मरुतो, अन्तरिक्ष में तुम्हारे विस्तृत होने पर बहुत जीव कांपने लगते हैं ।-(सा.)

अध्वनो विमध्य - सूर्य के मार्ग का मध्य, वसन्त संपात । वसन्त संपात तक सूर्य आधा मार्ग में संक्रमण कर चुकता है ।
'जगाम सूरो अध्वनो विमध्यम्'
ऋ. १०.१७९.२, अ. ७.७२.२

अध्वर - ध्वर्+घ = ध्वर । ध्वर्यन्ते वध्यन्ते अस्मिन् (जिसमें पशु मारे जाय वह ध्वर है)
नञ् + ध्वर = अध्वर (जहां पशु न मारा जायं)
अर्थ-यज्ञ । यज्ञ हिंसा रहित हो सकता है । द्वेष पूर्वक हिंसा ही श्रुति में हिंसा मानी गयी है । कुछ विद्वान् इस शब्द को निपास सिद्ध समझते हैं ।
(२) जिस यज्ञ में राक्षसों द्वारा वध न हो उसे भी अध्वर कहते हैं।
(३) अध्वर शब्द का प्रयोग यज्ञ को हिंसा सहित और हिंसा रहित वनाना है । देखें ।
'तनून पात् पत ऋतस्य यानान्'
'मध्वा समञ्चन् स्वदया सुजिह्व'
'मन्मानि धीभिरुत यज्ञमृन्धन्'
'देवत्रा च कृणु ह्यध्वरं नः ।'
ऋ. १०.११०.२, अ ५.१२.२, वाज सं. २९.२६, मै.सं. ४.१३.३ः २०१.१०, का.सं.१६.२०, तै.ब्रा. ३.६.३.१, नि. ८.६
(हे अग्ने, यज्ञ के इन फल प्राप्ति कारक हविरूपी मार्गों को (ऋतस्य यानान् पथः) मधुर रस से मिलाते हुए स्वादिष्ट बना (स्वदया) हे सुजिह्व या सुन्दर ज्वाला वाला, हमारी अभिप्रेत चीजों को (मन्मानि) अपने कर्मों या बुद्धि से समृद्ध करता हुआ हमारे इस राक्षसों द्वारा अहिंसित अध्वर को देवताओं की ओर प्रवृत्त कर।)
(२) नष्ट न होना, जीवन का बने रहना ।
'यमे अध्वरो अधि मे निविष्टः'
ऋ. १८.२.३२.

अध्वरश्रीः - यज्ञ का महान् अविनाशी परमेश्वर का आश्रय लेकर रहने वाला ।
'उषसां न केतवोऽध्वरश्रियः'
ऋ. १०.७८.७

अध्वरस्य केतुः - अविनाशी महान् यज्ञ कर प्रवर्तक और ज्ञापक-सूर्य ।
'ऊर्ध्वं कृण्वन्तु अधरस्य केतुम्'
ऋ. ३.८.८

अध्वर्यन्ता - (द्वि. व.) अश्विद्वय या स्त्री पुरुष का विशेषण । अर्थ यज्ञ की इच्छा करते हुए ।
'अध्वर्यन्ता यदुन्निनीथो अपारम्'
ऋ. १.१८१.१

अध्वर्यु - अ +ध्वर् +घ = अध्वर। अध्वर +यु =अध्वर्यु। अर्थ-हिंसा रहित यज्ञ करने वाला, (२) अहिंसा का उपासक प्रजा जन - (दया)

अध्वर्यू - (द्वि.व.) हिंसा एवं आत्मविनाश न चाहने वाले, अविनाशी दोनों आत्मा, (२) यज्ञ शील स्त्री पुरुष ।
'वृषणाध्वर्यू वृषभासो अद्रयः'
ऋ. २१६.५

अध्वराणां नेता - यज्ञों का नेता अग्नि, (२) न नष्ट होने वाले तत्वो का संचालक ।
'प्राञ्चं यज्ञं नेतारमध्वराणाम्'
ऋ. १०.४६.४

अध्वराणांसम्राट् - यज्ञों का सम्राट स्वरूप अग्नि, (२) परमेश्वर ।
'सम्राजन्तमध्वराणाम्'

ऋ. १.२७.१

(अहिंसामय यज्ञों के सम्राट् स्वरूप अग्नि को)

अध्वस्मन् – (१) अविनाशी आकाश मार्ग, (२) भय संकट से शून्य

'अध्वस्मभिः पथिभिः भ्राजदृष्टयः'

ऋ. २.३४.५

(३) अपतनशील गुण स्वभाव ओर कर्म वाला –(दया.)

(४) अविनश्वर, तेज ।

(५) अक्षय, अमोघवीर्य ।

'अध्वस्मभिः विश्वहादीदिवांसम्'

ऋ. २.३५.१४

(६) नञ् + ध्वस् +मनिन् = अध्वस्मन् । अर्थ–कभी नीचे न गिरने वाला (७) नाश न होने देने वाला (८) राष्ट्र और धर्म को नष्ट नहीं होने देने वाला ।

'अध्वस्मानो दिविष्टषु'

ऋ. १.१३९.४

आकाश मार्ग विहार करने के अवसरों में (दिविष्टिसु) जिस प्रकार कभी नीचे न गिरने वाले (अध्वस्मानो), सावधानी से उड़ने वाले अथवा, राष्ट्र और धर्म को नाशन होने देने वाले (अध्वस्मानो), कामना योग्य व्यवहारों के प्राप्ति मार्ग (दिविष्टषु)

अध्वरीयत् – (१) हिंसा रहित यज्ञ करने वाला ऋत्विक् , (२) जीवन यज्ञ का सम्पादक प्राण

'जामयो अध्वरीयताम्'

ऋ. १.२३.१६, अ १.४.१, ऐ ब्रा. २.२०.२०

(३) अविनश्वर राज्य पालनादि की कामना करने वाला

'वेषि ह्यध्वरीयताम्'

ऋ. ४.९.५; ६.२.१०

(४) अहिंसित जीवन को चाहने वाला जीव ।

अधा – (१) और ।

'अधा ह्यग्ने क्रतोर्भद्रस्य'

ऋ. ४.१०.२, साम. २.११२८, वाज. सं. १५.४५, तै. सं. ४.४.४.७, मै. सं. २.१३.८:, १५७.१७, का. सं. २०.१४, आश्व श्रौ. सू. २.८.१४

(२) (क्रि. वि.) साध हिलमिलकर

'अधा जिव्री विदथमावदाथः'

ऋ. १०.८५.२७

तुम दोनों पतिपत्नी साथ हिलमिलकर (अधा)वृद्ध हो (जिव्री) यज्ञ में मन्त्रों का उच्चारण करो (विदथम् आवदाथः)

पुनः 'और' अर्थ में ।

'अधा स वीरैः दशाभिः वियूयाः'

ऋ. ७.१०४.१५, अ. ८.४.१५, नि. ७.३

(३) (सं.) नाड़ी

'अधासु मन्द्रो अरतिर्विभावा ।'

ऋ. १०.६१.२०

(४) 'अधः' के विसर्ग का वेद मे 'आ' हो जाता है । अर्थ है–हेतु, कारण । निरुक्त में इसे हेत्वर्थक शब्द माना गया है ।

'अधा चिदोकःपुनरित् स एत्या'

ऋ. ७.४.८; नि. ३.३.

क्योंकि (अधा) वह तो फिर भी (पुनरित्) उसी पिता के घर पर चला जाता है । (ओकश्चित्)

(५)नीचे ।

'अधा शयीत निर्ऋतेरुपस्थे'

ऋ. १०.९५.१४; श. ब्रा. ११.५.१.८

(मरकर भूमि के ऊपर अर्थात् नीचे सोवे (अधा शयीत)।

अधाचन – तभी ।

'अधा चन श्रद् दधति त्विषीमते'

ऋ. १.५५.५

अधाचित् – इस प्रकार ।

'अधाचिदिन्द्र मे सचा'

ऋ. ८.९२.२९, अ. २०.६०.२, साम. २.१७५

अधायि – अध्यायि, ध्यातवान् । अर्थ संकल्प विकल्प किया, सोचा ।

'उपप्रागात् सुमन्मे ऽधायि मन्म'

ऋ. १.१६२.७, वाज. सं. २५.३०, तै. सं. ४.६.८.३, मै. सं. ३. १६.१:१८२.४ ;का. सं. (अश्व) ६.४, नि. ६.२२

अश्वमेध यज्ञ में पठित ।

मेरे पास मनमाना धन आवे (मन्म उप प्रागात्) ऐसी इच्छा मेरे मन में स्वयमेव हुई है (मेसुमन् अधायि)

अध्वा – बड़ा मार्ग । 'पन्थाः'. पगडंडी या उपमार्ग का द्योतक है ।

'वेत्था हि वेधो अध्वनः'

'पथाश्च देवाञ्जसा'

ऋ. ६.१६.३, साम. २.८२६, ऐ. ब्रा. ७.८.३, श. ब्रा. १२.४.४.१, आश्व श्रौ. सू. ३.१०.१२

अधि - (उप.) (१) ऊपर, (२) स्वामी, (४) समीप।

'तस्याः समुद्रा अधि वि क्षरन्ती'

ऋ. १.१.१६४.४२ अ. ९.१०.२१, १३.१.४२, शां. सू. १८.२२.७ नि. ११.४१

उस गौरी वाक् या विद्युत् के समीप से (तस्या अधि) मेघ बरसते हैं। (समुद्रा अधिविक्षारन्ती)

अधिकल्पी - अधिक कल्पना शील, चतुर मास्तिष्क वाला।

'द्वारापरायाधिकल्पिनम्'

वाज.सं. ३०.१८

अधिक्षिम् - अधि +क्षित्। अध्यक्ष होकर रहने वाला।

'इन्द्राग्नी अधिक्षितः'

ऋ. ८.४०.३

अधिगर्त्य - घर में रखा हुआ अन्न आदि पदार्थ।

'सनेम मध्वो अधिगर्त्यस्य'

ऋ. ५.६२.७

अधिगव - पृथ्वी से प्राप्त पदार्थ।

'एतद् वा उ स्वादीयो यदधिगवम्'

अ. ९.६.३९

अधिजात - और भी अधिक गुणवान्, वीर्यवान् और पराक्रमी रूप से प्रकट।

'त्वमिन्द्रबलादधि सहसो जात ओजसः'

ऋ. १०.१५३.२, अ. २०.९३.५, साम. १.१२०, नि. ७.२

अधितस्थुः - अभिसन्तिष्ठन्ते - (उपरि तस्थुः)। संख्या का आधार स्थिति तथा मृत्यु है। (संस्था धारे स्थितौ मृतौ)। अर्थ है- आश्रित जीव क्लिष्ट होते हैं। अथवा जीव आश्रय लेते हैं।

'सप्त युञ्जन्ति रथमेकचक्रमेको अश्वो वहति सप्तनामा त्रिनाभि चक्रमजरमनर्वं यत्रेमा विश्वा भुवनाधितस्थुः'

ऋ. १.१६४.२, अ. ९.९.२, १३.३.१८, तै.आ. ३.११.८, नि. ४.२७.

(एक चक्र आदित्य में सात किरणें रहती हैं। यही एक आदित्य सात नामों से चलते हैं। यही तीन नाभियों ऋतुओं से युक्त संवत्सर सदा नवीन चाहता है जिसमें आश्रित हो ये तीनों भुवन विराजमान हैं)

अधदधाने - उषा और रात्रि का विशेषण धारण करती हुई।

'अधिश्रियं शुक्रपिशं दधाने'

ऋ. १०.११०.६, अ. ५.१२.६, वाज. सं. २९.३१, मै. सं. ४.१३.३, २०२.६, का. सं. १६.२०, तै. ब्रा. ३.६.३.३, नि. ८.११.

(शुक्लरूपिणी शोभा को धारण करती हुई उषा और रात्रि।

अधिदेवन - जुआ खेलने का स्थान जुआडियों का अड्डा, द्यूत क्रीड़ा क्षेत्र।

'यथाक्षा अधिदेवने'

अ. ६.७०.१

अधिधन्वन् - (१) धनुषि अधि (धनुष में) या धनुष का अधिकारी।

'योषेव शिङ्क्ते वितताधिधन्वन्'

'ज्या इयं समने पारयन्ती'

ऋ. ६.७५.३, वाज. सं. २९.४०, तै. सं. ४.६.६.१, मै.सं. ३.१६.३. १८५.१५ का. सं. (अश्व) ६.१, नि. ९.१८

(यह ज्या जो धनुष पर चढ़ाई हुई है, और युद्ध में धनुर्धारी को जिताने वाली है, वह जैसे पानी की तरह कान में कुछ रहस्यमय संदेश अव्यक्त शब्दो में कहती है)

(२) धनुष पर चढ़ाया हुआ।

'नभन्तामन्यकेषां ज्याका अधि धन्वसु'

ऋ. १०.१३३.१-३, ४-६, अ. २०.९५.२.४, साम. २.११५१-११५३, तै.सं. १.७.१३.५, मै.सं. ४.१२.४: १८९.९; तै.ब्रा. २.५.८.२

अधिधीयमाना - अधिकार में रखी जाती हुई।

'पाप्माधिधीयमाना'

अ. १२.५.३०,

अधिध्वन् - उच्च ध्वनि वाली वाणी।

'वनादधिध्वनो गिरः'

अ. २०.१२७.१४

अधिनिर्णिजः - अति शुद्ध।

'यः श्वेतां अधिनिर्णिजः'

ऋ. ८.४१.१०

अधिनीयमानः - अभिमानियों पर आकर।

'यदस्य मन्युरधिनीयमानः श्रृणाति'

ऋ. १०.८९.६

(जो इस इन्द्र या परमात्मा का मन्यु अभिमानियों

परा आकर (अधिनीयमानः) शान्त होता है (श्रृणाति) ।

अधियः - स्वामी ।

'अस्माकं मन्यो अधिपा भवेह'

ऋ. १०.८४.५, अ. ४.३१.५

हे मन्यु. तू हमारे नामअन्दर अधिपति है ।

अधिप्रवृद्धः - (१) ४८ वर्ष का ब्रह्मचारी -(दया.) (२) प्रकृष्ट बुद्धि से युक्त । (३) उत्तम गुण युक्त (४) भोगने योग्य उत्तम पदार्थों को देने वाला (५) बहुत ऐश्वर्य देने वाला

'मा पणिर्भूरस्मदधि प्रवृद्ध'

ऋ. १.३३.३

अधियाः - सर्वोपरिपालक , (२) परमेश्वर (३) वरुण ।

'स्वर्यदश्मन्नधिपा उ अन्धः'

ऋ. ७.८८.२

अधिपूरुष - विराट् ब्रह्माण्ड के ऊपर अधिष्टाता रूप से विराजमान ब्रह्माण्ड को पूर्ण करने वाला व्यापक परमेश्वर ।

'विराजो अधिपूरुषः'

ऋ. १०.९०.५, अ. १९.६.९, आ.सं. ४.७, वाज.सं. ३१.५, तै आ. ३.१२. २

अधिमन्थन - (१) मन्थन दण्ड के ऊपर रखने का काष्ठ, (२) स्त्री के हृदय को मथन कर देने वाले भावों पर अधिकार करने वाला (३) प्राण, (४) शत्रु-मन्थन कारी सैन्य ।

अधिमुष्कौ - अण्डकोशों के ऊपर स्थित दो नाडियो जिनमें वीर्य रहता है ।

'ते ते भिनद्मि शम्ययामुष्या अधि मुष्कयोः'

अ. ६.१३८.४

अधिरन्तु - रस्सी या हथकड़ी लगाए हुए ।

'यमस्य लोके अधिरज्जुरायत्'

अ. ६.११८.२, मै.सं. ४.१४.१७: २४५. १४, तै. आ. २.४.१

अधिराज - महाराज, राजाओं का राजा

'अधिराजो राजसु राजयातै'

अ. ६.९८.१,

अधिरुक्मा - शरीर पर नाना रुचिर आभूषणों को धारण करने वाली ।

'अधिरुक्मा वि नीयते'

ऋ. ८.४६.३३

अधिरोचन - (१) प्रकाशित होना, (२) ज्ञान प्रकाश और व्यवहार का उत्तम रुचिकर तेजस्वी कार्य

'नाम तृतीयमधिरोचने दिवः'

ऋ. १.१५५.३, ९.७५.२, साम. २.५१

(पुत्र सूर्य के समान प्रकाशित होने में पिता के निकृष्ट, उत्तम, सर्वोच्च और सबसे उत्तम यश को भी धारण करता है ।)

अधिवक्ता - (१) अधिक बोलने वाला, (२) अधिकारी वक्ता, (३) विद्याओं को साक्षात् देखने वाला ।

'विश्वाहेन्द्रो अधिवक्ता नोअस्तु
अपरिह्वृताः सनुयाम वाजम् ।'

ऋ. १.१००.१९, १०२.११, मै.सं. ४.१२.४: १८७.५ का.सं. १२.१४

(विद्याओं को साक्षात् देखने वाला और ऐश्वर्यवान् इन्द्र, विद्वान् , आचार्य या सभाध्यक्ष सदा अध्यक्ष होकर उपदेश करने और आदेश देने वाला हो। हम लोग सब प्रकार से कुटिल विचारों और चेष्टाओं से रहित होकर (अपरिह्वृताः) सौम्य भाव से उत्तम अन्न ऐश्वर्य आदि अपने आचार्य प्रदान करें।)

अधिवस्या - अधिक या उत्तम वस्त्र धारण करने वाली ।

'अधिवस्त्रा वधूरिव'

ऋ. ८.२६.१३

अधिवाकः - (१) अध्यक्ष रूप से आज्ञा या निर्णय वचन कहने वाला अध्यक्ष ।

'अधिवाकाय हवन्ते'

ऋ. ८.१६.५

(२)अनुकूल कहा गया ज्ञान (३) पक्षपात से कहा गया वचन (४) पक्षपात पूर्वक कहने वाला दूत ।

'नमस्ते अधिवाकाय'

अ. ६.१३.२

अधिवास - घोड़े के शरीर पर दिया अधीवासु जाने वाला चादर (२) ऊपर पहनने का लम्बा गाऊन ।

'अधीवासं या हिरण्यान्यस्मै'

ऋ. १.१६२.१६,वाज.सं. २५.३९, तै. सं. ४.६.९.२, मै. सं. ३.१६.१: १८३.६, का. सं. (अश्व) ६.५

अधिविकर्त्तन - (२) कन्या में पाए जाने वाले तीन

दोषों में एकमर्म भेदी वचन कहना ।

'अथो अधिविकर्तनम्'

ऋ. १०.८५.३५, अ. १४.१.२८, आप. मं. पा. १.१७.१०

(१) रजस्वला होने के समय शरीर का चीरना ।

अधिषवणे - (१) सोमरस चुलाने वाले शिलाफलक, (२) कुंटे हुए सोम या अन्न को रखने का पात्र (३) राज्य के उत्पादक राजा और प्रजा, (४) पुत्रोत्पादक माता पिता ।

'अधिषवणे च मे'

वाज. सं. १८.२१

अधिष्ठ - अधिष्ठान ।

अधिष्ठान - (१) आश्रय ।

'किं स्विदासीदधिष्ठानम् आरम्भणम्'

ऋ. १०.८१.२, वाज. सं. १७.१८, तै.सं. ४.६.२.४, मै.सं. २.१०.२ः १३३.६ का.सं. १८.२

(२) स्थान ।

'विलोहितो अधिष्ठानात्'

अ. १२.४.४

अध्रिगावः - किरणों को नहीं धारण करने वाले प्रकाश रहित प्राणवायु ।

'ववक्षुरध्रिगावः पर्वता इव'

ऋ. १.६४.३

अध्रिगुः - (१) बिना रोक टोक के जाने वाला ।

'न देवो नाध्रिगुर्जनः'

ऋ. ८.९३.११

(२) सत्य गति वाला

'गिर्वणस्तमो अध्रिगुः'

ऋ. ६.४५.२०

(३) अत्यधिक भूमि का स्वामी ।

(४) अधिक गति वाला (५) अधिक ज्ञानी आत्मा, (६) सर्व संचालक ।

'येना दशग्वमध्रिगुम'

ऋ. ८.१२.२, अ. २०.६३.८

(७) गो अर्थात् वेदवाणी , (८) इन्द्रियगण या पृथ्वी पर अधिकार रखने वाला विद्वान् या राजा (९) अग्नि (१०) गौ, पृथ्वी, सूर्यादि का शासक परमेश्वर ।

'तुभ्यं श्चोतन्ति अध्रिगो शचीवः'

ऋ. ३.२१.४, मै.सं. ४.१३.५ः २०४.१४, का. सं. १६.२१, ऐ. ब्रा . २.१२.१४, तै. ब्रा. ३.६.७.२, नि.५.११

(११) अस्थिर चंचल इन्द्रियों से युक्त ।

'याता रथेभिरध्रिगुः'

ऋ. ८.७०.१, अ. २०.९२.१६, १०५.४, साम. १.२७३, २.२८३

(१२) सर्वव्यापक ।

'ऋचीषमायध्रिगव ओहम्'

ऋ. १.६१.१, अ. २०.३५.१

(१३) अधृतगमन, (१४) सतत गमन स्वभाववाला (१५) अग्नि का विशेषण (१६) कहीं कहीं इन्द्र का विशेषण होकर इन्द्रवाचक भी है ।

(१७) वेद मंत्र या जो मन्त्र भूमि या गौ के सम्बन्ध का हो ।

'गवि अधिककृत अध्रिगुः'

(१८) शासक राजा (गवि भूमौअधिकृतः अध्रिगुः राजा)

'अध्रिगो शमीध्वं सुशमि शमीध्वम्'

मै.सं. ४.१३.४ः २०४.३, का. सं. १६.२१, ऐ. ब्रा. २.७.११, तै. ब्रा. ३.६.६.४, आश्व श्रौ. सू. ३.३.१, ५.१७.१० कौ. सू. ६९ .६, नि. ५.११

(अध्रिगु के लिए सुशमि का प्रयोग कर शान्ति स्थापित करने की आज्ञा दी गई है।)

(१९) अथक परिश्रमी -(दया.) ।

हे कर्मवीर, अथक परिश्रमी विद्वान् गुणग्राही मनुष्य तुझे स्निग्ध घृतादि पदार्थ देते हैं । -(दया.)

अध्रिजः - अदृष्य, असह्य ,

'इति चिन्मन्यु मध्रिजः'

ऋ. ५.७.१०

अधीतम् - (१) निरूपित सा. । (२) अच्छी प्रकार विचार किया हुआ ।

'अन्यस्यं चित्तमभि संचरेण्यम्'

'उताधीतं वि नश्यति'

ऋ. १.१७०.१, नि. १.१६

(मेरे निमित्त निरूपित हवि दूसरे द्वारा आत्मसात् कर लिया जायगा ।)

अधीति - (१) अध्ययन, (२) अधीन ।

'नूते पूर्व स्यावसो अधीतौ'

ऋ. २.४.८

(३) नानागति (४) योनि अवस्था ।

'अधीती रध्यगादयम्'

अ. २.९.३

अधीरा - धैर्य से हीन ।

'धीरमधीरा धयति श्वसन्तम्'

ऋ. १.१७९.४

(कामाविष्ट लोपामुद्रा अधीरा हो धीर किन्तु श्वास लेत हुए अगस्त्य के पास जाती है ।)

(२) अधि +इरा = अधीरा । अत्यन्त कामना से युक्त, (३) अति उत्तम भूमि या क्षेत्र ।

अधीवास - (१) ऊपर का वस्त्र (२) वर्दी, (३) घोड़े का चादर । (४)चादर-(दया.) (५) आच्छादक घास, लता, वृक्षादि (६) अधिष्ठाता या अध्यक्ष रूप से रहने वाला (७) वस्त्रवत् पालन पोषण करने योग्य ऐश्वर्य ।

'अधीवासं परिमातूरिहन्नह'

ऋ. १.१४०.९

(८) उत्तरीय पट (९) अधिशासक राजा (१०) नायक ।

'अधीवासं रोदसी वावसाने'

ऋ. १०.५.४

'यदश्वाय वास उपस्तृणन्ति'

'अधीवासं या हिरण्यान्यस्मै'

ऋ. १.१६२.१६, वाज.सं. २५.३९, तै. सं. ४.६.९.२, मै.सं. ३.१६.१: १८३.६ का. सं. (अश्व) ६.५

अधुक्षत् - झाड़ दिया, (२) झकझोर दिया, धुनदिया ।

'अश्वमिवाधुक्षत् धुनिमन्तरिक्षम्'

'अतूर्ते बद्धं सविता समुद्रम्'

ऋ. १०.१४९.१, नि. १०.३२

(धूल धूसरित घोड़े को जैसे सईस झाड़ता है उसी प्रकार सविता ने अगम्य, अहिंसित एवं कम्पायमान अन्तरिक्ष में वायवीय अन्तरिक्ष में वायवीय पासों से बद्ध मेघ को धुनकर प्रवाहित बड मेघ को धुनकर प्रवाहित किया ।)

अधृष्ट - विनीत, अपराजित (२) कभी न धर्षण किया जाने अच्युतपद ।

'भ्राजज्जन्मानो मरुतो अधृष्टाः'

ऋ. ६.६६.१०, मै.सं. ४.१४.११: २३३.१

अधेनु - (१) दूध न देने वाली बन्ध्या गौ, (२) ऐश्वर्य या भोग्य पदार्थों को न देने वाली पृथ्वी ।

'अधेनुं दस्रा स्तर्यं विषक्ताम्'

'अपिन्वतं शयवे अश्विनां गाम्'

ऋ. १.११७.२०

(हे विद्वान् और प्रमुख स्त्री पुरुषों या अश्विद्वय। या अधिकारी जनों, या दुष्ट पुरुषों के नाशक (दस्रा) आप दोनों सोने वाले या राज कार्य में प्रमाद करने वाले आलसी राजा के लिए (शयवे) दूध न देने वाली गौ के समान ऐश्वर्य या भोग्य पदार्थो को न देने वाली विस्तृत या हिंसाशील राजद्रोहिणी विपरीत हुई पृथिवी राष्ट्र भूमि या सेना को (विषक्ताम् नाना ऐश्वर्यों से सम्पन्न करो (अपिन्वतम् ।)

अधोअक्षाः - (१) नीचे आंखें किए हुई स्त्री, (२) नीचे को प्राप्त होती हुई इन्द्रियों से युक्त -(दया.)

'अधोअक्षाः सिन्धवः स्रोत्याभिः'

ऋ. ३.३३.९

अधोरामः - जिस समय पूर्व की किरणें आकाश में छिटकने लगती हैं, उस समय नीचे अन्धकार ही रहता है ।

'अधस्तात् तदा तमो भवति'

काल और देवता के गणों में समानता रहने से पशु भी सावित्र ही कहा जाता है।

अर्थ - (१) सूर्योदय का समय बतलाने वाला पशु विशेष-सावित्र, कुक्कुट, ताम्रचूड़ (२) जिसके नीचे भागों में शुक्ल वर्ण का वस्त्र हो ।

'अधोरामौ सावित्रौ'

वाज.सं. २९.५९, तै.सं. ५.५.२४.१, का.सं. (अश्व) ८.३

(३) नीचे (४) श्वेत वस्त्र वाले ।

'अश्विनौ अधोरामौ बाह्वोः'

वाज. सं. २४.१, मै.सं. ३.१३.२: १६८.११

अधृषतः - पराजित न होने वाला

'त्वया मन्यो सरथमारुजन्तो
हर्षमाणासो धृषिता मरुत्वः'

ऋ. १०.८४.१, तै.ब्रा. २.४.१.१०, नि. १०.३०

हे वायु, तेरे साथ एक पथ पर चढ़ शत्रुओं को पराजित करते हुए हर्षित एवं पराजित न होने वाले ।

अधृष्टा - किसी से धृष्ट या दबाए नहीं जाने वाला ।

'कदूमहीरधृष्टा अस्य तविषीः'

ऋ. ८.६६.१०

(कब इन्द्र केवल महान् और अधृष्ट है ?)

'शक्रो पाचमधृष्टायः'

अ. २०.४९.२

अनस् - (अनिति)। अन् (प्राणने) +असुन् = अनस् (१) (वायु) जिससे सांस ली जाती है, अनिति का अर्थ है 'प्राणिति' अर्थात् बहता है सांस लेता है। प्र +अन् से 'प्राण' शब्द बना है।(२) अनस् का अर्थ शकट भी है जिसमें मुनियों का चीवर (वल्कलादि) आनद्ध होता है।

'शकटं शाकिनी गावः'

नि. ६.५

(३) मेघ। इससे भी प्राणी जीते हैं।

'अपोषा अनसः सरत्
संपिष्टादह बिभ्युषी
नि यत्सीं शिश्नथद्वृषा'

ऋ. ४.३०.१०, नि. ११.४७

(नव बरसने वाला मध्यम वायु सर्वतः (सीम्) मेघ को हटा देता है (नि शिश्निथत् तब वायु से छिन्न भिन्न मेघ से संपिष्टात्) डरती हुई उषा वायु से दूर हट जाती है।

अन् - जीवन।

'परिह् वृतेदना जनो'

ऋ. ८.४७.६

अनक्तन - व्यक्त करो, (२) प्रकाशित करो।

'रोदसी अनक्तन'

(द्यौ और पृथिवी को व्यक्त करो),

अनक्षः - नञ् +अक्ष। (१) बिना आंख का, (२) अविवेकी, (३) अनालोचक, (४) ज्ञानान्ध।

'अपानक्षासोबधिरा अहासत'

ऋ. ९.७३.६

(५) अव्यापक, (६) अपेक्षाकृत स्थूल।

'यस्यानक्षा दुहिता जात्वास'

ऋ. १०.२७.११ वै. सू. ३८.६

अनग्न - नग्न न रहकर केशों से ढका हुआ।

'अनग्नाः सर्वे पशवो ये अन्ये'

अ. १२.३.५१

(और जो अनन्य पशु हैं)

अनग्ना - नञ् +नग्ना = अनग्ना। (१) वस्त्र आभूषण और रक्षादि से आच्छादित प्रजा (२) लज्जाशील स्त्री।

'दिवो यह्वीरवसाना अनग्नाः'

ऋ. ३.१.६

अनग्निदग्ध - (१) जो पितर आग में जलकर नही मरा हो, (२) जो अग्नि, यज्ञ, गुरु, आचार्यादि द्वारा कर्मों को भस्म नहीं कर पाया है। (३) अग्निहोत्र नहीं करने वाला संन्यासी।

'ये अग्निदग्धा ये अनग्निदग्धाः'

ऋ. १०.१५.१४, अ. १८.२.३५, तै.ब्रा. ३.१.१.७, आश्व श्रौ. सू. २.१९.२२

अनड्वान् - (१) ब्रह्माण्ड रूप यज्ञ को धारण करने वाला, (२) विश्वरूपी शकट को उठाने वाला परमेश्वर।

'अनड्वान् दाधार पृथिवीमुतद्याम्'

अ. ४.११.१

(३) बैल, (४) प्राण

'अनड्वाहमुप बर्हणम्'

अ. ९.५.२९

अनड्वान्गौः - (१) शकट चलाने वाला बैल, (२) राष्ट्र शकट को उठाने वाला वीर पुरुष।

'अनड्वान् गौर्वयोदधुः'

वाज. सं. २१.१८, मै.सं. ३.११.११: १५८.११, का.सं. ३८.१०, तै.ब्रा. २.६.१८.३

अनग्नित्रा - (१) विपत्तियों या अप्रकट ज्वर को रखने वाले, (२) जो नायक या विद्वान् पुरुषों से सुरक्षित न हो, (३) दुष्ट पुरुष।

'अनग्नित्रा अभ्यमन्त कृष्टीः'

ऋ. १.१८९.३ मै.सं. ४.१४.३; २१८.१९, तै.ब्रा. २.८.२.४

अनत् - प्राण देता हुआ, (२) चेतन रूप आत्मा, (३) परमेश्वर।

'अनच्छये तुरगातुजीवम्'

ऋ. १.१६४.३०, अ. ९.१०.८

अनग्निष्वात्त - नञ् +अग्निष्वात्त।

(१) जो अग्रणी अर्थात् मुख्य पर स्थित नहीं है, (२) जो राजा की और से नहीं चुना गया है

'ये अग्निष्वात्ता ये अनग्निष्वात्ताः'

वाज.सं. १९.६०, तै. ब्रा. २.६.१६.१, आप. श्रौ.सू. ८.१५.१७

अनतिव्याध्य - अवेध्य।

'वर्म विततमनतिव्याध्यं कृतम्'

अ. ९.२.१६

अनदती - (१) अ +नदती । नहीं गर्जने वाली, (२) नञ् + अदती = अनदती । भोग न करने वाली , (३) अन +दती =अनदती । छोटे छोटे दांतों वाली स्त्री ।

'वव्राजा सीमनदतीरदब्धा'

ऋ. ३.१.६

अनन्त - (१) नञ् +अन्त =अनन्त, जिसका अन्त नहीं है, निःसीम ।

'अनन्तमन्यद् रुशदस्य पाजः'

ऋ. १.११५.५, अ.२०.१२३.२, वाज.सं. ३३.३८, मै.सं. ४.१४.४: २२०.१०, तै.ब्रा. २.८.७.२

(इस सूर्य या परमेश्वर का देदीप्यमान चिन्मय सामर्ध्य भी अनन्त निःसीम है।)

(२) जिस वाद विवाद की मर्यादा न हो ।

'अनन्ताय मूकम्'

वाज.सं. ३०.१९, तै.ब्रा. ३.४.१.१३

अनन्तवध - (१) असंख्य किरण, (२) असंख्य शस्त्र या वीर (३) अनन्त प्रकार की ताड़ना आदि उपाय ।

'कुत्साय यत्र पुरुहूत वन्वन्
शुष्णमनन्तैः परवासि वधैः ।'

ऋ. १.१२१.९

हे इन्द्र या सेनापति, जल वृष्टि के लिए जिस प्रकार सूर्य पृथ्वी का जल सुखा देने वाले ताप को धारण करता हुआ असंख्य किरणों से प्रकाशित होता है, उसी प्रकार तू असंख्य शस्त्रों और वीर भटों के साथ (अननौः वधैः) प्रयाणकर ।

अथवा, वेदपाठी शिष्यों के हित के लिए बल धारण करता हुआ अनन्त प्रकार के ताड़ना आदि उपायों से प्राप्त होता है।

अनन्त शुष्माः - अनन्त बल वाले मरुत्, रुद्र या सैनिक ।

'अनन्त शुष्माः वृष खादयो नरः'

ऋ. १.६४.१०

अनपच्युत - नञ् +अप +च्यु +क्त = अनपच्युत । ध्रुव, अविनाशी ।

'सनोजा अनपच्युतः'

ऋ. १०.२६.८

अनपत्यम् - सन्तानों के अयोग्य पापादि कर्म ।

'युयोत नो अनपत्यानि गन्तोः'

ऋ. ३.५४.१८

अनपत्य - नञ् +अपत्य = अनपत्य, सन्तान रहित

'अनपत्यमल्प पशुम्'

अ. १२.४.२५

अनपत्यता - बन्ध्यात्व, नपुंसकत्व ।

'अगोतामनपत्यताम्'

अ.४.१७.६

अनपत्यवान् - सन्तान रहित

'हित्वा द्वेषांसि अनपत्यवन्तः

अ. १८.२.४७

अनपव्ययन् - (१) नाश न करता हुआ , दूर न जाता हुआ ।

'क्षिणन्ति शत्रूँर नपव्ययन्तः'

ऋ. ६.७५.७, वाज.सं. २९.४४, तै.सं. ४.६.६.३, मै.सं. ३.१६.३.१८६.६, का.सं. (अश्व) ६.१

(३) अपव्यय न करता हुआ स्वामी का अपव्यय न करता हुआ (४) स्वयं कुमार्ग मे दूर न भागता हुआ (५) सेनापति के अधीन रह कर स्वंय नष्ट न होता हुआ हुआ ।

अनपवाचना - न +अप + वाचना । ऐसी वेदना जिसमें मुंह से गाली या क्रोध के शब्द भी न निकले ।

'आर्तिश्चानपवाचना,'

अ. ८.८.९

अनपवृज्य - (१) जो वर्जन करने योग्य न हो, (२) कभी परित्याग न करने योग्य, (३) निन्द्य पदार्थों या आचरणों से रहित ।

'अनपवृज्याँ अध्वनो मिमाने'

ऋ. १.१४६.३

अनपस्फुर - (१) न बिदकने वाली गौ (२) उत्पथ में न जाने वाली ।

'सुदुघा अनपस्फुरः

ऋ. ८.६९:१०, अ. २०.९२.७

अनपस्फुरन्ती - बिना भड़के बिना डोले डाले, बिना छटपट किए , सरल, नहीं भड़कने वाला, निर्भय ।

'ध्रुवेव धेनुरनपस्फुरन्ती'

अ. १२.१.४५

'विश्वाहा सन्त्वनपस्फुरन्तीः'

अ. १८.४.३४, तै. आ. ६.७.१

अनपस्फुरा - (१) न मारने योग्य धेनु, गौ (२)कभी

नाश न होने वाली वेद वाणी, (३) भूमि ।
'सृजध्वमनपस्फुराम्'
ऋ. ६.४८.११

अनप्नस् - (१) नञ् + अप्न +जस् = अनप्नस् । बिना रूप और नाम के । अप्नस् का अर्थ रूप और नाम है । हिन्दी का अपना और अंग्रेजी का own इस शब्द से समता रखता है ।
'अभि सन्ति जम्भया ता अनप्नसः'
ऋ. २.२३.९, नि. ३.११.
(उन्हे तू अरूप कर चारों ओर से नष्ट कर ।)
(२) उत्तम कर्म और उत्तम रूप से रहित दुष्ट प्रजा-सेना ।

अनंगुरिः - बिना अंगुलि का बच्चा ।
'पञ्चपादादनंङ्गुरेः'
अ. ८.६.२२

अनपावृत् - न +अपावृत् । सब के समीप वर्तमान परमेश्वर, जो किसी से दूर न हो ।
'समानमस्मा अनपावृदर्च'
ऋ. १०.८९.३

अनभ्यक्त - नञ् +अभिं +अञ्च + क्त = अनभ्यक्त । शरीर पर तैल आदि न लगाए हुआ । (२) अस्वस्थ ।
'योनाक्ताक्षो अनभ्यक्तः'
अ. २०.१२८.६,गो.ब्रा. २.६.१२, शा.श्रौ.सू. १२.२१.२.१

अनभिद्रुहा - परस्पर द्रोह न करने वाले-गुरु शिष्य, राजा रानी, राजा सचिव, स्त्री पुरुष ।
'राजानावनभिद्रुहा'
ऋ. २.४१.५, साम. २.२६१

अनभिम्लातवर्ण - अक्षीण तेज वाला ।
'सो अपां नपादनभिम्लातवर्णः'
ऋ. २.३५.१३, का.सं. ३५.३

अनभिशस्ति - नञ् +अभिशस्ति =अनभिशस्ति । नाशरहित । अभिशस्ति नाश या दुःख के अर्थ में लिया गया है ।

अनभ्रिः - नञ् +अभ्रि =अनभ्रि । बिना कुदाली के ।
'अनभ्रयः खनमानाः'
अ. १९.२.३

अनभीशुः - नञ् +अभीशुः =अनभीशु । बिना रास या लगाम का घोड़ा या (२) सूर्य (३) अंगुलि आदि अंगों में रहित आत्मा ।
'अनवसो अनभीशू रजस्तूः'
ऋ. ६.६६.७

अनमित्र - (१) नञ् +अमित्र =अनमित्र । शत्रु का अभाव
'अनमित्रञ्च मे ।'
वाज. सं. १८.६, तै.सं. ४.७.३.२, मै.सं. २.११.३ः १४१.१२, का.सं. १८.९.
(२) शत्रुओं से रहित मार्ग ।
'अनमित्रमतस्करम्'
अ. १२.१.४७

अनमीवः - नञ् +अमीव =अनमीव। रोग रहित।
'अनमीवस्य शुष्मिणः'
ऋ. ३.१६.३, वाज.सं. ११.८३, तै.सं. ४.२.३.१, का.सं. १६.१०,१९.१२, मै.सं. २.१०.१, १३२.५, पंच ब्रा. १.८.७, श.ब्रा. ६.६.४.७, तै.ब्रा. ३.११.४.१, आश्व.गृ.सू. १.१६.५. आप मं. पा २.१५.१५,

अनमुच्या द्रुह् - कभी न छूटने वाला कलह ।
'अनागमिष्यतो वरानवित्तेः
संकल्पा नमुच्याद्रुहःपाशान्'
अ. १६.६.१०

अनपेता - नञ् +अप +इ +क्त +टाप् =अनपेता । अलग न होने वाली ।
'यत्रधारा अनपेता'
वाज.सं. १८.६५, तै.सं. ५.७.७.३, श.ब्रा. ९.५.१.५०

अनर्मा - अव्यथित ।
'अव देवानां बृहतामनर्मणाम्'
अ. ७.१.१

अनर्वन् - नञ् +ऋ +वनि =अनर्वन् । अप्रत्यृतम् अन्यस्मिन् (जो दूसरे के आश्रित न हो)। ऋ+वन् से अर्वन् निपातन से बना है । अर्व का अर्थ है जो दूसरे से सम्बन्ध या पराश्रित हो । 'अरब' शब्द की समानता अर्व से है । अनर्व का स्पष्ट अर्थ स्वतन्त्र है। आर्यों के लिए अनर्व विशेषण रुचिकर प्रतीत होता है ।
'त्रिनाभि चक्रमजरमनर्वम् ।'
ऋ. १.१६४.२, अ.९.९.२, १३.३.१८, तै.आ. ३.११.९, नि. ४.२७

(एक चक्रवाला अदित्य तीन ऋतुओं रूपी नाभि से युक्त अजर एवं किसी के आश्रित न रहने वाले (अनर्वम्) कालचक्र का निर्माण करता है।)

(२) नञ् +अर्व + कनिन =अनर्व । इन्द्र के विशेषण के रूप में प्रयुक्त । इन दिनों 'अर्वन्' का अर्थ घोड़ा है ।

अहिंसक -(दया.)

'अनर्वाणं वृषभं मन्द्रजिह्वम्
बृहस्पतिं वर्धया नव्यमर्कैः'

ऋ. १.१९०.१, नि. ६.२३

सर्वस्वतन्त्र बरसाने वाले, सुन्दर स्तुति या जीभ वाले नित्य नवीन बृहस्पित को अर्चनीय स्तोत्रों से बढ़ाता रह । उस स्वाश्रय श्रेष्ठ, प्रशंसित या आनन्द मधुर वाणी वाले स्तुत्य वेदज्ञ का अन्नादि से पोषण कर । (दया.)

अनर्वा - (१) अश्व आदि की अपेक्षा न करने वाला -स्वयंगामी रथ, (२) निरपेक्ष, (३) स्वयं जगत् का संचालक (४) अहिंसक वृहस्पति ।

'बृहस्पतिमनर्वाणं हुवेम'

ऋ. ७.९७.५, का.सं. १७.१८

(४) अग्नि या विद्युत् के बल से चलने वाला बिना अश्व का रथ। मोटर कार वगैरहः 'अनर्वा' है ।

'यस्मै त्वमायजसे स साधति अनर्वा
क्षेति दधते सुवीर्यम्'

ऋ. १.९४.२

(तू जिसे थोड़ा सा भी बिना और ज्ञान ऐश्वर्य प्रदान करता है, वह चलने फिरने वाला बिना सहायता के भी सब कार्य सिद्ध करता है, और सुवीर्य धारण करता है।)

अनर्वरातिः - यस्याः रातिः अर्शा अश्लीला नास्ति सः (जिसका दान अश्लील नहीं होता है ।) नञ् +अर्श +रा (देना) +क्तिन् =अनर्शरातिं । अर्थ-जिसका दान सुन्दर हो । इन्द्र का विशेषण । 'अर्श' का अर्थ अश्लील या पापयुक्त है । नञ् +श्रिञ् (सेवा करना) +अ = अर्श (इ का लोप) अर्थ-दान पुण्य-दान देने वाला (दया.) । परमेश्वर ।

'अनर्शरातिं वसुदामुपस्तुहि'

ऋ. ८.९९.४, अ. २०.५८.२, नि. ६.२३

सुन्दर दान देने वाले, धन देने वाले इन्द्र के समीप जाकर स्तुति करें-

अनर्शनिः - अहिंसति बल का नेता ।

'यः सृबिन्दमनर्शनिम्'

ऋ. ८.३२.२

अनर्वावाज - (१) बिना अश्व का वेगवान् रथ, (२) दोष रहित ऐश्वर्य और ज्ञान, (३) हिंसक सेना रहित संग्राम ।

'स नो वाजमनर्वाणम्'

ऋ. २.६.५

अनर्विश् - अनस् (गाड़ी) +विश् +क्विप् =अनर्विश् । अर्थ - गाड़ी का प्रवेश करना ।

'अनर्विशे पश्विषे तुराय'

ऋ. १.१२१.७

(नगर में गाड़ी के प्रवेश करने के लिये (अनर्विशे) पशुओं के चाहने वाले के लिए (पश्विषे) और वेग से यानादि ले जाने के लिए । (तुराय) ।

अनवग्लायत् - नञ् +अव +ग्लायत् =अनवग्लायत् । मन में किसी प्रकार ग्लानि न करता हुआ ।

'अनवग्लायतां सदा'

अ. ४.४.७, ६.१०१.३

अनवः - (१) एक वैदिक राजवंश , (२) प्राणी जीव के योग्य शरीर, (३) मनुष्य

'निगव्यो अनवो द्रुह्यवश्च'

ऋ. ७.१८.१४

अनवद्यरूपा - नञ् +अवद्यरूपा । अदूषित स्वरूप वाली ।

'स्पार्हाःसुवर्णा अनवद्यरूपाः'

ऋ. १०.६८.३, अ. २०.१६.३

अनवद्य - निष्कलंक, पापरहित ।

अनवद्या - कलंक, पाप या दोष से रहित नारी ।

'अनवद्या पतिजुष्टेव नारी'

ऋ. १.७३.३

अनवद्यगोहना - अश्विद्वय या स्त्री पुरुष या विशेषण। अर्थ-एक दूसरे के दोषों और निन्दनीय कार्यों को आच्छादित या गोपन करने वाले स्त्री पुरुष ।

'समाने अहन् त्रिरवद्यगोहना'

ऋ. १.३४.३

(हे एक दूसरे के दोषों और निंदनीय कार्यों को

आच्छादित या गोपन करने वाले स्त्री पुरुष। एक ही दिन में (समाने अहन्) आप दोनों तीन तीन बार मधुरगुण वाले जल से अन्न, बल या मधुर गुण से यज्ञ, आत्मा शरीर और मन का नित्य सेचन करो)।

अनवद्राणः – कभी कुत्सित आचरण न करने वाला सदाचारी आचार्य। Andrews, शब्द की 'अनवद्राण' से समता विचारणीय है।

'अस्वप्नश्च त्वानवद्राणश्च रक्षताम्'

अ.८.१.१३

अनवभ्रराधसः – अक्षय धन, ऐश्वर्य एवं बल के स्वामी।

'पृषदश्वासः अनवभ्रराधसः'

ऋ. २.३४.४, ३.२६.६

(२) मरुद्गण जिनका बल कभी नष्ट नही होता।

(३) धनैश्वर्यों को नाश न होने देने वाले – सदा सम्पन्न मरुत्।

'त्वेषसंदृशो अनवभ्रराधसः'

ऋ. ५.५७.५

पुनः –

'प्रस्कम्भदेष्णा अनवभ्रराधसः'

ऋ. १.१६६.७

अनवमृग्णा – (१) सम्पर्क –रहित, एक दूसरे के सटा हुआ न हो। (२) खुले, हवादार (३) शरीर के सुखकारी वस्त्र।

'अनवपृग्णा विहता वसानम्'

ऋ. १.१५२.४

(सदा हम उसे खुले हवादार शरीर के सुखकारी वस्त्रों को धारते और विस्तृत घरों एवं वस्त्रों में रहते हुए देखें।)

अनवब्रव – (१) अनवक्षिप्त वचन. (२) अप्रतिहत शासन, (३) जो निरर्थक वचन बोलने वाला न हो।

नञ् +अव +ब्रूञ् +अप =अनवब्रव।

'विजेषकृदिन्द्र इवानवब्रवः।'

ऋ. १०.८४.५, अ. ४.३१.५, नि. ६.२९

हे मन्यो, तू इन्द्र के समान विजयी और अप्रतिहत शासन है (अनवब्रवः)।

अथवा

(हे मन्यु, तू विजयकर्त्ता है और राजा की तरह निरर्थक उत्मत्त वचन बोलने वाला नहीं है।)

अनवस्यन्तः – एकवचन में 'अनवस्यनः' रूप है।

नञ् +अवस् +कयप् + शतृ = 'अनवस्यन्'।

अर्थ –(१) प्रकाशित करने में असमर्थ (२) रक्षा करने में असमर्थ।

'ध्रुवक्षेमा अनवस्यन्तो अर्थम्'

ऋ. ४.१३.३

अनवह्वरम् – नञ् +अवह्वरम् =अनवह्वरम्। छल कपट या कुटिलता से रहित।

'सचेते अनवह्वरम्'

ऋ. २.४१.६, साम. २.२६२

अनवायम् – (अ.) निरन्तर।

'द्वेषोधत्तम् अनवायं किमीदने'

ऋ. ७.१०४.२, अ. ८.४.२, का.सं. २३.११, नि. ६.११

अनवाय – नञ् +अव +इ+घञ् =अनवाय = अनवयव (सकल पृषोदरादि शब्दो की तरह 'अनवाय' का 'अनवयव' हो जाता है)। अर्थ है– निरन्तर, सम्पूर्ण (२) यत् अन्ये न व्यवेयुः (धर्मात्मा पुरुष जिसे न रोकें अर्थात् सज्जनों से अनुमोदित, (३) नास्ति व्यवायो यस्मै तत् अव्यवायम् –(दया.)

'ब्रह्मद्विषे क्रव्यादे घोरचक्षसे,
द्वेषो धत्तमनवायं किमीदिने'

ऋ. ७.१०४.२,अ. ८.४.२, २३.११., नि. ६.११

(ब्रह्मद्वेषी, घोर रूप वाले, कच्चा मांस खाने वाले पिशुन राक्षस के लिए तुम दोनों सदा द्वेष भाव रखो।)

अनशन – (सं) नञ् +अश् +ल्युट् =अनशन। नहीं खाने वालाजड़ अचेतन प्राणी।

'साशनानशने अभि'

ऋ. १०.९०.४, वाज. सं. ३१.४, तै. आ. ३.१२.२

अनश्रु – आंसुओं से रहित स्त्री।

'अनश्रवो अनमीवाः सुरत्नाः'

ऋ. १०.१८.७, अ १२.२.३१, १८.३.५७, तै.आ. ६.१०.२

अनश्रू – (द्वि.व.) आंसुओं, क्लेश या बाधा पीड़ा से रहित।

अनश्यू – अनस् = च्यू = अनश्यू। गाड़ी को उठाने या ले जाने वाले।

(२) राष्ट्रभाषा को उठाने वाले। 'अनश्यू' पाठ

दयानन्द सम्मत है ।

'अनश्रू अवीरहणौ ब्रह्मचोदनौ'

वाज.सं. ४.३३, वाज.सं. (का.) ४.१०.४,तै.सं. १.२.८.२, श. ब्रा. ३.३.४.१२,

अनश्व – (१) अश्व-रहित –सूर्य ।

(२) अश्व या भोक्ता के समान बद्ध न होकर ।

(३) स्वभाव से अभोक्ता होने से आत्मा अनश्व है ।

'अनश्वो जातो अनभीशुरर्वा'

ऋ. १.१५२.५

अनश्वदा – (१) अविद्यमाना अश्वाः यस्या सा गतिः-(दया.) (वह गति जिसने अश्व न हो,) (२) किरणों को बाहर न जाने देने वाला मेघ (३) अश्व सैन्य को मार्ग न देने वाल पर्वत ।

'अनश्वदां यन्न्ययातना गिरिम्'

ऋ. ५.५४.५

अनश्वरथ – बिना घोड़े का रथ ।

'अनश्वं याभी रथमावंत जिबे'

ऋ. १.११२.१२

(जिन उपायों से बिना घोड़े के रथ को विजय के लिए (जिसे) यन्त्रादि साधनों से चला देते हो ।)

अनष्टपशुः – (१) जिस परमेश्व के जीव गण नष्ट नहीं होते ।

'अनष्टपशुर्भुवनस्य गोपाः'

ऋ. १०.१७.३, अ. १८.२.५४, तै.आ. ६.१.१, नि. ७.९ (२) जिसके रहते पशु नष्ट नहीं होते–पूषा या अदित्य का विशेषण (३) निरन्तर प्रकाश युक्त– (दया.) । (४) अविनश्वर पशुयुक्त या निरन्तर प्रकाशयुक्त आदित्य ।

'पूषा त्वेतश्च्यावयतु प्र विद्वान्
अनष्ट पशुर्भुवनस्य गोपाः'

अव्यवहित ज्ञान एवं प्रत्यक्षदर्शी भगवान् आदित्य (पूषा) हे मृतात्मा, तुझे (त्वा) इस लोक से (इतः) उत्तम लोक को पहुंचाने (प्रच्यावतु)

अनष्टवेदाः – धन और ज्ञान से सम्पन्न ।

'इर्यमनष्टवेदसम्'

ऋ. ६.५४.८

अनः – (१) आगे बढ़ने का साधन सवारी ।

'वज्रेणान उषसः सं पिपेष'

ऋ. २.१५.६

(२) जीवनी शक्ति (३) गाड़ी ।

'य आवहदुशी नराण्या अनः'

ऋ. १०.५९.१०

अन (जीवन धारण करना) +असुन् =अनस् (१) शकट, (२) वायु । वायु जीवन का आधार है । (३) मेघ यह भी जीवन का आधार है । प्रचलित अर्थ–गाड़ी, भोजन, भात, जन्म, प्राणी, पाकशाला

'आ ते कारो शृणवामा वचांसि
ययाथ दूरादनसा रथेन'

ऋ. ३.३३.१०, नि. २.२७

हे स्तुति करने वाले (कारो) विश्वामित्र, तेरी बात हम ध्यान से सुनते हैं । तू दूर से आया है । अतः गाड़ी या रथ से जा ।

मेघ के अर्थ में –

'एतदस्या अनः शये सुसंपिष्टं विपाश्या'

ऋ. ४.३०.११, नि. ११.४८

यह उषा का आश्रय भूत मेघ (एतत् अस्या अनः) वायु से संचयि होकर तथा सभी बन्धनों से रहित हो, (विपाशि) सोया हुआ है ।

अनसः खः – (१) शकट (बैलगाड़ी) का अवकाश (२) प्राण ग्रहण के छिद्र–नाक, मुख, फेफड़ा ।

'खे रथस्य खेडनसः'

ऋ. ८.९१.७, अ. १४.१.४१, तै.ब्रा. १.२२१

अनस्थ – नञ् +अस्थि =अनस्थ । अर्थ = पुष्ट प्रष्ट, जिसकी हड्डी न दिखाई पड़े ।

'अनस्थाः पूताः पवनेन शुद्धाः'

अ. ४.३४.२

(२) अस्थि–रहित आत्मा ।

'अनस्थ उरु खरम्बमाणः'

ऋ. ८.१.३४

अनस्था – (१) हड्डी अर्थात् शरीर से रहित आत्मा

'अस्थन्वन्तं यदनस्था बिभर्ति'

ऋ. १.१६४.४, अ. ९.९.४

(२) अस्थि–रहित परमेश्वर जो अनस्था होकर भी अस्थि युक्त शरीर का निर्माण करता है ।

अनस्वन्ता – शकट आदि से युक्त दो बैल, (२) गृहस्थ रूप भार से युक्त दो स्त्री पुरुष ।

'अनस्वन्ता सत्पतिर्मामहे मे'

ऋ. ५.२७.१

अनस्वान् – अनस् + वतुप =अनस्वत् अर्थ

(१) शरीर रूप गाड़ी का स्वामी प्राण, (२) गाड़ी में लगा बैल, (३) उत्तम प्राण, यज्ञ, यान या शकट का स्वामी ।

अन्त - (१) प्रान्त । (२) सिद्धान्त प्रतिपादन, (३) मर्यादा का निर्णय ।

'अन्ताय बहुवादिनम्'

वाज. सं. ३०.१९, तै.ब्रा. ३.८.१६.४

(३) आखिरी सीमा ।

'न ये दिवः पृथिव्या अन्तमापुः'

ऋ. १.३३.१०

(४) पार, आखिरी ।

'आरात्ताच्चिच्छवसो अन्तमापुः'

ऋ. १.१६७.९

(५) अत (गत्यर्थक धातु) +तन् =अन्त (त् का न्)। अवसान ।

(६) अत+अच् = अन्त (नुट् का आगमः) । समीप की वस्तु प्राप्त हुई होती है । अतः अन्त

'समान्या वियुते दूरेअन्ते
ध्रुवे पदे तस्थतुर्जागरूके
उत स्वसारा युवती भवन्ती
आदु ब्रुवाते मिथुनानि नाम ।'

ऋ. ३.५४.७

ये द्यौ और पृथिवी तुल्य अलग अलग वर्तमान जिनके अन्त दूर हैं, अविनाशी । अपने अपने अधिकार के प्रति सदा अविनाशी अन्तरिक्ष में (ध्रुवे पदे) स्थित, दो बहनों के समान युवतियां सी, जोड़े नामों वाले अनन्तर परस्पर बोलती हैं। स्वा. दयानन्द का अर्थ- समान दृष्टि कर्म करने वाले, पृथक् पृथक् वर्तमान सूर्य और पृथिवी (वियुते) दूर या समीप या विमश्रीभूत, सर्वदा जागरूक, परमात्मा के आश्रय में स्थित, स्वकीय परिधि में घूमते हुए (स्वसारा) सामने तथा पींछे होते (युवती) उस समय (आत् उ) अहोरात्र के जोड़ो को (मिथुनानि) बना रहे हैं । (ब्रुवाते)

(७) आंचर, अञ्चल ।

'या देवी रन्ता अभितोऽददन्त'

अ. १४.१.४५

आधुनिक अर्थ - निकट, अन्तिम, सुन्दर नीचतम, सबसे बुरा, सबसे निकट मृत्यु , शब्द की अन्तिम मात्रा, छोटा , किनारा सीमा, अन्तिम बिन्दु, समास का उत्तर पद, किसी प्रश्न का समाधान, शेषभाग, प्रकृति, अवस्था, प्रकार, स्वभाव, सार तत्व ।

अन्तक - (१) प्रजा के दुःखों और शत्रुओं को भस्म कर देने वाला पुरुष ।

'याभिरन्तकं जसमानमारणे
भुज्युं याभिरव्यथिभिर्जिन्वथुः'

ऋ. १.११२.६

(२) मृत्यु के देवता, (३) अति निकट ।

अतः पात्रे रेरिहती - पात्र में पड़ी शत्रु की भोजन सामग्री को खा जाने वाली सेना ।

'अन्तः पात्रे रेरिहतीम्
रिशां दुर्णिहितैषिणीम्'

अ. ११.९.१५

अन्तः पर्शव्य - भीतर की पसुली ।

'महादिवं अन्तः पर्शव्येन'

वाज.सं. ३९.८

अन्तमः - (१) समीपतम (२) तृतीय कोटि का, (३) जिससे सभी दुःखों का अन्त हो ।

'शिक्षा वस्वो अन्तमस्य'

ऋ. १.२७.५, साम. २.८४९

(अति समीपतम, तृतीय कोटि के ऐश्वर्य को प्राप्त करा) (४) सर्वत्र व्याप्त परमेश्वर ।

'शूरस्येव युध्यतो अन्तमस्य'

ऋ. ३.५५.८

'भवेरापिर्नो अन्तमः'

ऋ. ८.४५.१८

'उक्थे क उ स्विदन्तमः'

ऋ . ८.६४.९

(५) ईश्वर के अति समीप पहुंचा हुआ मनीषी ।

'अथा ते अन्तमानां विद्याम सुमतीनाम्'

ऋ. १.४.३, अ. २०.४७, ६८.३, साम २.४३९

अन्तर - (१)भीतर (२) हृदय ।

'कृष्णा युजश्चिदन्तरम्'

ऋ. १.१०.९

हे इन्द्र, मेरी स्तुतियों को सुनकर मित्र की तरह (युजः चित्) हृदयंगम कर (अन्तरं कृष्व)।

(३)अन्तरिक्ष ।

'उभे अन्ता रोदसी सं चिकित्वान्'

ऋ. ४.७.८

(दोनों द्यावापृथिवी तथा उनके अन्तराल अन्तरिक्ष को जानते हो) ।

(४) अन्तर्यामी सबके अन्तर में व्याप्त परमेश्वर,
(४) अग्नि ।
'त्वमग्ने यज्यवे पायुरन्तरः'
ऋ. १.३१.१३
(६) भीतर भीतर विद्यमान अंग ।
'प्रकाशेनान्तरम्'
वाज.सं. २५.२,मै.सं. ३.१५.२,१७८.५,

अन्तरङ्ग – भीतर का अंग ।
'यक्ष्मं ते अन्तरंगेभ्यः'
अ.९.८.७

अन्तरं ब्रह्म – निकटतम, अति समीप ब्रह्म, चेतन ।
'ब्रह्म वर्म ममान्तरम्'
ऋ. ६.७५.१९, अ. १.१९.४, साम. २.१२२२, आम. श्रौ. सू. १४.२६.१

अन्तर्देश – बीच का प्रदेश (१) भीतरी देश ।
'अन्तर्देशाः किंकराः'
अ. ८.८.२२

अन्तर्याम – भीतर व्यापक अन्तर्याम वायु ।
'अन्तर्यामश्चम ऐन्द्रवायवश्च मे'
वाज.सं. १८.१९

अन्तर्याम – पृथिवी का युवाच जो स्वार अर्थात् राजा गण से उत्पन्न होता है ।
'स्वारादन्तर्यामः'
वाज.सं. १३.५५, मै.सं. २.७.१९: १०४.४, का.सं. १६.१९, श.ब्रा . ८.१.१.८

अन्तर्वती – (१) भीतर रहने वाली, (२) राष्ट्रसभा के भीतर रहने वाली प्रजा
'अन्तर्वतीः सुवते अप्रवीता'
ऋ. ३.५५.५
(३) वीर्य धारण करने वाली माता ।
'अन्तर्वतीश्च सुवते च विश्वहा'
ऋ. १०.९१.६, साम. २.११७४

अन्तर्वावत् – (१) सब के अन्तर्गत चलने वाले वायु से युक्त (अन्त्‌र +वा + वत्) (२) भीतर आने वाले ऐश्वर्य युक्त पदार्थों से पूर्ण-गृह ।
'अन्तर्वावत् क्षयं दधे'
ऋ. १.४०.७

अन्तः सिन्धु – (१) महाप्रवाह, (२) सागर, (३) मूल प्रकृति रूप कारण ।
'तमु ष्टुहि यो अन्तः सिन्धौसूनुः'
अ. ६.१.२

अन्तरा – (१) बीच में (२) ब्रह्माण्ड में
'अन्तरा मित्रा वरुणा चरन्ती ।'
वाज.सं. २९.६, तै.सं. ५.१.११.२,मै.सं.३.१६.२, १८४.८, का.सं. (अश्व) ६.२.
(३) भीतर ।
'यत्ते पवित्रमर्चिष्यग्नेविततमन्तरा'
ऋ. ९.६७.२३, वाज.सं. १९.४१, मै.सं. ३.११.१०: १५६.३, का.सं. ३८.२, तै.ब्रा.१.४.८.२, २.६.३.४, आश्व. श्रौ.सू. २.१२.४, ला.श्रौ.सू. ५.४.१४,

अन्तरिक्ष – (१) अन्तरा, क्षान्तम् (बीच में रहने वाला) (२) 'अन्तरे क्षियतिं' अर्थात् आकाश और पृथिवी के बीच में रहता है। (३) स्कन्द स्वामी के मत से 'सर्वभूतानामन्तराक्षान्तम् निष्क्रियम् वां अर्थात् सभी भूतों के मध्य में अन्तरिक्ष है । (४) अन्य विद्वान्-अन्तर ऋक्षाशांलम् अस्य', इसके अन्तर के ऋक्ष या नक्षत्र-हैं ऐसा अर्थ करते हैं (५) दीर्घमध्यं द्यावापृथिव्योः अन्तर् इक्ष्यते -आकाश में और पृथिवी के बीच में लम्बा विस्तार देखा जाता है। ऐसा अर्थ भी कुछ विद्वानों ने किया है ।
(६) शरीर । आकाशात्मक तत्त्व शरीर के अन्तर अक्षय होकर रहता है । अतः इस का नाम अन्तरिक्ष हुआ है । पृथिवी आदि तत्त्व क्षीयमाण हैं । (७) अन्तर्यामी आत्मा
'उदन्तरिक्ष मादय'
अ. ६.१३०.४
(८) अन्त्‌र +ईक्ष =अन्तरिक्ष, अन्तर्यामी परमेश्वर
(९) अन्तरिक्षलोक ।
अ. ६.१२४.१, हि.गृ.सू. १.१६.६, आप. मं. पा. २.२२.१३

अन्तरिक्षप्राः – (१) आकाश में व्यापने वाला सूर्य
'अन्तरिक्षप्रा वहमानो अश्वैः'
ऋ. ७.४५.१, मै.सं. ४.१४.६: २२३.१३, का.सं. ७.१९ तै.ब्रा. २.८.६.१
(२) अन्तरिक्ष को अपने तेज से पूर्ण करने वाला सूर्य, मेघ या इन्द्रः ।
'अन्तरिक्षप्रां तविषीभिरावृतम्'
ऋ. १.५१.२

अन्तरिक्षप्रुत् – (१) अवकाशे गच्छन्तीनौ दया. (२) जल में चलने वाली नौका ।

अन्तरिक्षषद् – (१) अन्तरिक्ष में विराजने वाला पितर

'स्वधा पितृभ्यो अन्तरिक्षसद्भ्यः'
अ. १८.४.७९, आप. श्रौ.सू. १.९.६, गो.गृ.सू. ४.३.१०, हि.गृ.सू. २.१२.४
(अन्तरिक्ष-निवासी पितरों के लिए स्वधा)
(२) वायुमण्डल में रहने वाला ।
'पृथिविसदम् त्वान्तरिक्षसदम्'
वाज.सं. ९.२, तै.सं. १.७.१२.१, मै.सं. १.११.४: १६५.१०, का.सं. १४.३, श.ब्रा. ५.१.२.६, तै.ब्रा. १.३.९.२

अन्तरिक्षसंशित - अन्तरिक्ष की शक्तियों से सुशिक्षित ।
'अन्तरिक्ष संशितो वायु तेजाः'
अ.१०.५.२६

अन्तरिक्षे एकादशदेवाः - (१) अन्तरिक्ष के ११ देव - दिव्य शक्तियां । स्व. दयानन्द के अनुसार अप्सुक्षित् एकादश देव-श्रोत्र, त्वक्,चक्षु, रसना, घ्राण, वाक्, पाणि, पाद, पायु, उपस्थ और मन हैं ।
'ये देवा अन्तरिक्ष एकादशस्थः'
अ. १९.२७.१२

अन्तर्धि - रक्षा स्थान ।
'अन्तर्धिर्देवानाम'
अ. १२.२.४४

अन्तस्पथ - (१) जिसके अभ्यन्तर (भीतर) में पथ हो (२) भीतर भूगर्भ के बीच में जाने योग्य मार्गवाला ।
'अन्तस्पथा अनुपथाः'
ऋ. ५.५२.१०

अनार्वान् - समस्त विश्व को अपने में धारण करने वाला ।
'पुमानन्तर्वान् स्थविरः पयस्वान्'
अ. ९.४.३

अन्तर्हस्त - हाथ के अन्दर ।
'अन्तर्हस्तं कृतं मम'
अ. ७.५०.२

अन्ध - (१)आध्यानीयम् । ध्यान या प्रार्थना करने योग्य-जिसे सभी चाहे अर्थ है अन्न । अन्ध +असुन् (जो भूख लगने पर अन्धा बना दे । व्यग्र कर दे । अथवा अद् (भोजन करना) +नुम् +ध =अन्ध (अन्न)
(२) तम, अन्धकार। न अस्मिन् ध्यानं भवति (जिसमें देखा न जा सके)
(३) अन्धा-अदर्शन लक्षण वाला आधुनिक अर्थ-अन्धा किया गया, अन्धेरा, एक नरक का नाम, पूर्ण अन्धकार ।
'स्त्रियः सतीस्ताँ उ मेपुंस आहुः
पश्यदक्षण्वान्न विचेतदन्धः
कविर्यः पुत्रः स ईमा चिकेत
यस्ता विजानात् स पितुष्पितासत्'
ऋ. १.१६४.१६, अ. ९.९.१५, तै.आ. १.११.४, नि. ५.१, १४.२०
आदित्यन्तर पुरुष कहते हैं, मेरी जो ये रश्मिरूपी स्त्रियां हैं उन्ही को (वृष्टि का जल देने के कारण) पुरुष भी कहते हैं । इस गूढ़ तत्त्व को ज्ञान दृष्टि वाला ही जानता है, स्थूल दृष्टि वाला अन्धा नहीं । और जो स्त्री पुरुष रूप रश्मियों का विद्वान् पुत्र है (रश्मियों से उत्पन्न जल पुत्र ही है), वही इस स्त्री से पुरुष होने वाले गूढ़ तत्त्व को जानता है । जो भी इन्हें जानता है वह जगत्पालक रश्मि समूह का पिता अर्थात् आदित्य ही है । या जो उन्हें जानता है वह पिता का पुत्र होकर भी पुत्र का पिता होता है (पुत्र पौत्र युक्त चिरकाल तक जीता है)
आध्यात्मिक अर्थ-जो ये स्त्रियां हैं वही मेरे लिए पुरुष हैं। इस तत्व को तत्वज्ञ ही जानते हैं ।
'त्वं स्त्री त्वं पुमानसि
त्वं कुमारी उत वा'
अ. १०.८.२७
और भी ।
'नैव स्त्री न पुमानेष नैव चायं नपुसंकः
यत् यत् शरीर मादत्ते तेन तेन स चोदयते'
स्वामी दयानन्द का अर्थ-जो सत्य विद्या को जानने वाली स्त्रियां हैं, कवि लोग उन्हे पुरुष बताते हैं । द्रष्टा विद्वान् पुरुष आंखों वाला होता है । जो ज्ञानी नहीं वह अन्धा है । जो अल्प वयस्क मनुष्य भी मेधावी हो वह इस सत्य कथन को समझता है। जो इन न +तत्त्वों को समझता है वह वृद्ध मनुष्य का भी पिता है ।

अन्धस् - अन (प्राण) +धा+असन् =अन्धस् । प्राणधारी (२) अन्न (३) जीवन धारण करने वाला ।
'स पाहि मध्वो अन्धसः'

ऋ. ३.४०.१, अ. २०.१.१, ६.१
'अपाय्यस्यान्धसो मदाय'
ऋ. २.१९.१
'अन्धं तमः प्रविशन्ति'
वाज.सं. ४०.९, ४०.१२, श.ब्रा. १४.७.२.१३; बृ.आ. उप. ४.४.१३, ईश. उप. १२.
(४) जीवन को नित्य धारण करने वाला बल वीर्य, यश ।
'यो अन्धोयः पुनः सरः'
अ. ६.१२९.३

अन्धसस्पतिः - अन्न आदि भोग्य पदार्थों का पालक रुद्र ।
'द्राये अन्धसस्पते'
वाज.सं. १६.४७, तै.सं. ४.५.१०.१, मै.सं. २.९.९ः १२७.६, का. सं. १७.१६; श.ब्रा. ९.१.१.२४

अन्धसः मह - महान् अन्न को देने वाला ।
'प्रवो महे मन्दमानायान्धसः'
ऋ. १०.५०.१, वाज.सं. ३३.२३, ऐ.आ. १.५.२.१, नि. ११.९
(तुम महान् अन्न को देने वाले एवं मोद युक्त के लिए स्तुति करो ।)

अन्न - (न) अद्+क्त (कर्म या कर्तृवाच्य में वर्तमान अर्थ में) = अन्न । यह खाया जाता है या अन्न ही जीवों को खाया जाता है । या अन्न ही जीवों को खाता है ('अत्ति भूतानिं', अथवा 'अद्यते' (२) भोजन के लिए सामने लाया जाता है (आनतं भूतेभ्यः) आङ्+नम्+क्विप् = आनम् - अन्नम्, (३) अन् (प्राणन अर्थ वाला धातु) + न = अन्न । यह जीवन प्रदान करना है । अपभ्रंश है । नाज , अनाज ।
(२) अर्क , (३) शान्ति, (४) प्राण, (५) अपान, (६) मृत्यु,(७) जीवन, (८) पशुश्री, (९) प्रजाओं का प्रजनन ।
'अर्को वै देवानामन्नम्'
श. ब्रा. १२.२.१.२
'अन्नं वै देवा अर्ज इति वदन्ति'
तै. आ. १४.३.२३
'शान्तिर्वा अन्नम्
'अन्नं प्राणम् अन्नम् अपानमाहुः अन्नं ब्रह्मणो जरसं वदन्ति, अन्नमाहुः प्रजननं प्रजानाम्'
तै.ब्रा. २.८.८.३
'अन्नं पशवः अन्नमु श्रीः ।'
श. ब्रा. ८.६.२.१.
'अन्नमु चन्द्रमाः'
तै. आ. २.२.३४
'अन्नं वा अपां पाथः'
श. ब्रा. ७.५.२.६०.
'अपूपवान् अन्नवान् चरुरेह सीदतु'
अ. १८.४.२१, तै.आ. ६.८.१

अन्नकामः - अन्न की कामना वाला भिक्षु
'अन्नकामाय चरते कृशाय'
ऋ. १०.११७.३

अन्नतेजाः - अन्न के समान तेज वाला
'विष्णोः क्रमोऽसि सपत्नहा'
कृषि संशितोऽन्न तेजाः'
ऋ. १०.५.३४

अन्नपतिः - अन्नमल समस्त लोकों का स्वामी
'यो अन्नादो अन्नपतिर्बभूव'
अ. १३.३.७

अन्नभागः - अन्न का भाग या भोजन
'सह वो अन्नभागः'

अन्नविद् - अन्नविद्या का ज्ञानी पुरुष
'कार्षीवणा अन्नविदो न विद्यया'
अ. ६.११६.१

अन्नस्यकीलालः - अन्न का सार भूत अंश । अन्नों में भी उत्तम बलकारी साखान् अन्न ।
'अथो अन्नस्य कीलालः'
अ. ७.६०.५, वाज.सं. ३.४३, आप.श्रौ.सू. ६.२७.३, शां.गृ.सू. ३.३.१, ७.२ हि.गृ.सू. १.२९.१

अन्वग्रम् - प्रत्येक पदार्थ के आगे, चोटी में
'अन्वग्रं चरति क्षेति बुघ्नः'
ऋ. ३.५५.७

अन्वङ् - अन्+अञ्च्+क्विप् = अन्वञ्च् । पीछे से आक्रमण करने वाला
'जहि प्रतीचो अनूचः पराचः'
ऋ. ३.३०.६, अ. ३.१.४.

अन्वञ्च् - कपट वृत्ति से अनुकूल या पीछे से आक्रमण करने वाला, (२) अनुकूल सुख रूप से प्राप्त व्यसन ।

अन्नाद - (१)अन्न का भोजन सामर्थ्य ।
'मनसान्नादेन अन्नमत्ति य एवं वेद'
अ. १५.१४.२

(२) अन्न को स्वीकार करने वाला ।

'अन्नादायान्नपतये'

अ. १९.५५.५

(३) समस्त विश्व को अपना अन्न बंना कर खा जाने वाला - परमेश्वर ।

'यो अन्नादो अन्नपतिर्बभूव'

अ. १३.३.७.

अनाद्य - (१) राष्ट्र के भोग्य अन्न आदि पदार्थों का भोग ।

'सरस्वत्यै भैषज्येन वीर्यायान्नाद्यायामि'

वाज.स. २०.३

(२) अन्न को भोग करने का सामर्थ्य ।

'अन्नञ्च अन्नाद्यञ्च'

अ. १३.४.२२

अनादी - अन्न आदि का भोग करने वाली आप्त प्रजा ।

'अद्भिरन्नादिभिः अन्नमत्ति'

अ. १५.१४.६

अन्नावृध् - अन्न से बढ़ने वाला ।

'अन्नावृधं प्रतिचरन्ति अन्नैः'

ऋ. १०.१.४

अन्य - (पु.) दूसरा ।

'अन्यमिच्छस्व सुभगे पतिं मत्'

ऋ. १०.१०.१०, अ. १८.१.११, नि.४.२०

(२) दो में से एक ।

'अन्यः कर्ता सुकृतोरन्यऋन्ध्रन्'

ऋ. ३.३१.२, नि. ३.६

(उन दो उत्पादित सन्तानों पुत्र और पुत्री में एक पुत्री वाली पोसी जाकर दूसरे को दी जाती है । और एक पुत्र सन्तान कर्ता होता है ।)

'जिष्णुर्वामन्यः सुमखस्य सूरिः'

ऋ. १.१८१.४, नि. १२.३

(तुम दो में से एक जयशील तथा सुमहान् बल के प्रेरक हैं ।)

अन्यक - (१) अन्य शत्रु ।

'नभन्तामन्यकेषाम्
ज्या का अधिधन्वसु ।'

ऋ. १०.१३३.१-६, अ.२०.९५.२-४, साम. २.११५१-११५३, तै.सं. १.७.१३.५, मै.सं. ४.१२.४ः १८९.९, तै.ब्रा. २.५.८.२

(अन्य शत्रुओं के धनुषों में चढ़ाई मौर्वी टूट जाय)।

(२) और साधारण साधारण ।

'चित्र इद् राजा इदन्यके यके सरस्वतीमनु'

ऋ. ८.२१.१८

(३) शत्रु, पराया ।

'नभन्तामन्यके समे'

ऋ. ८.३९.१-४०.११, ४१.१-१०, ४२.४-६; तै.सं. ३.२.११.३, नि. ५.२३ .१०.५

(४) अन्य +अकच् (कुत्सा अर्थ में)= अन्यक ।

अर्थ-दूसरा, शत्रु, पराया

'तमू ष समना गिरा
पितॄणां च मन्मभिः ।
नाभाकस्य प्रशस्तिभिः
यः सिन्धूनामुपोदये
सप्तस्वसा स मध्यमो
नभन्तामन्यके समे ।'

ऋ. ८.४१.२

नाभा ऋषि की उक्तिहै-मैं समान स्तुति से (समना गिरा) पितरों की अगिमान्य स्तुतियों से (पितृणां मन्नाभिः)तथा अपनी स्तुतियों से (नाभाकस्य प्रशस्तिभिः) उसी वरुण की प्रशंसा करता हूँ जो नदियों या जलों की बाढ़ आने पर (सिन्धूनाम् उपोदने) सात वहन वाले (सप्तस्वसा) हो जाते हैं और जो सात वाणियों में मध्यम वाणी से स्तुत किये जाते हैं । इस वरुण के अनुग्रह से सभी अन्य शत्रु (अन्य को) नष्ट हो जायं (भन्ताम्) ।

अन्यकृत - दूसरे का किया, दूसरे की कमाई

'माहं राजन् अन्यकृतेन भोजम्'

ऋ. २.२८.९, मै.सं. ४.१४.९ः २२८.१५

अन्यक्षेत्र - दूसरे का राष्ट्र या अहाता ।

'अन्यक्षेत्रे अपरुद्धं चरन्तम्'

अ. ३.३.४

अन्यजात - (पु.) अन्य से उत्पन्न पुत्र ।

'न शेषो अग्ने अन्यजातम् अस्ति'

ऋ. ७.४.७, नि. ३.२

अन्यत् - दूसरे की ।

'मा चिदन्यत् विशंसत'

ऋ. ८.१.१, अ.२०.८५.१, साम. १.२४.२, २.७१०, कौ.ब्रा. २३.७, २९.५, पंच.ब्रा. १५.१०.२, ऐ.आ. ५.२.४.२, आश्व.श्रौ.सू. ५.१२.९,२१, ७.४.२,

शा.श्रौ.सू. १२.३.२२, १८.८.११, वै.सू. ३१. १८, ४०.११, नि. ७.२.

(अन्य किसी की पूजा न करो) ।

अन्यतः शितिरन्ध्रः - एक तरफ श्वेत चिटकनों वाला ।

'शितिरन्ध्रोऽन्यतः शितिरन्ध्रः'

वाज.सं. २४.२, तै.सं. ५.६.१३.१, मै.सं. ३.१३.३, १६९.३, का सं. (अश्व) ९.३

अन्यतः - शितिबाहुः-एक तरफ श्वेत चिटकन वाला ।

'शितिबाहुरन्यतः शितिबाहुः'

वाज.सं. २४.२, तै.सं. ५.६.१३.१, मै.सं. ३.१३.३, १६९.२, का. सं. (अश्व) ९.३

अन्यद्युः - प्रतिदिन दूसरे दिन ।

'यो अन्येद्युरुभयद्युरभ्येति'

अ. १.२५.४, ७.११६.२

अन्यनाभिः - विजातीय ।

'मेमं सनाभिरुत वान्यनाभिः'

अ. १.३०.१

अन्यव्रतः - (१) शत्रुओं का सा काम करने वाला ।

'अन्यव्रतो अमानुषः'

ऋ. १०.२२.८

(२) भिन्न शत्रु के कर्मों वाला पुरुष (३) अन्यो को पालन करने वाला ।

'अन्य व्रतस्य सश्चिम'

ऋ. ५.२०.२, वाज.सं. ३८.२०, मै.सं. ४.९.१०: १३१.६, श.ब्रा. १४.३.१.१९; तै.आ. ४.११.४.

अन्यवापः - (१) स्वक्षेत्र में दूसरों के द्वारा वाज वपन, (२) दूसरे के बीज से उत्पन्न कोयल

'अन्यवापः अर्धमासानाम्'

वाज.सं. २४.३७, तै.सं. ५.५.१७.१, मै.सं. ३.१४.१८, १७६.६, का.सं. (अश्व) ७.७

अन्यरूप - (१) अन्य रूप मे वर्तमान ।

(२) विष्णु, परमेश्वर

'यदन्यरूपः समिथे बभूथ'

ऋ. ७.१००.६, साम. २.९७५, तै.सं. २.२.१२.५, मै.सं. ४.१०.१, १४४.५, नि.५.८

(हे परमेश्वर, संसार की रंगस्थली में (समिथे) जो यह तेरा अन्य रूप है।

अन्यस्याः - वत्सः-जड़ प्रकृति से उत्पन्न पुत्रवत् जगत् ।

'अन्यस्या वत्सं रिहती मिमाय'

ऋ. ३.५५.१३, १०.२७.१४

अन्यादृक् - (१) अन्यो के सदृश (२) या इस के सदृश अन्य है ।

'ईदृङ् चान्यादृङ् च'

वाज. सं. १७.८१, तै.सं. १.८.१३.२, ४.६.५.५, मै.सं. २.११.१: १४०.४, का सं. १८.६, आप.श्रौ.सू. १७.१६.१५, १८.१२.१२,

अन्वञ्च् - अनु +अञ्च् +क्विप् =अन्वञ्च् । पीछे पीछे चलने वाला ।

'समानबन्धू अमृते अनूची'

ऋ.१.११३.२, साम. २.११००, नि.२.२०

(रात्रि और उषा के सूर्य ही समान रूप से बन्धु हैं । या दोनों सूर्य से सम्बद्ध हैं, दोनों मृत्यु रहित हैं और एक दूसरे का अनुसरण करने वाले हैं । (अनूची)

अन्वर्तिता - (१) अनुगामी, पीछे पीछे चलने वाला ।

'अन्वर्तिता वरुणो मित्र आसीत्'

ऋ. १०.१०९.२, अ. ५.१७.२

(२) पीछे प्रकट होने वाला ।

अना - अ +ना । नेता रहित

'अभ्रातृव्यो अनात्वम्'

ऋ. ८.२१.१३, अ. २०.११४.१, साम. १.३९९, २.७३९, आश्व.श्रौ.सू.७.८.२, वै.सू.४०.४, ४१.२०, साम. वि.ब्रा. १.८.४

अनाक्ताक्ष - (१) बिना अंजन की आंख वाला, (२) उत्तम रीति से देखने और विवेक करने में असमर्थ ।

'योऽनाक्ताक्षो अनभ्यक्तः'

ऋ. २०.१२८.६, गो.ब्रा.२.६.१२, शां.श्रौ.सू. १२.२१.२.१

अनाकृत - (१) अतिपीड़ित , (२) अनिवारित दया.

'वि यथस्थाद् यजतो वातचोदितो
ह्वारो न वक्वा जरणा अनाकृतः'

ऋ. १.१४१.७

(जब वह जीव बाहर आने योग्य या प्रसव करने योग्य हो ज़ाता है (यजतः) तब वह सुखकारी प्रबल प्राण वेग से प्रेरित होकर (वातचोदितः) कुटिल मार्ग से आता हुआ (ह्वारः) अतिपीड़त होकर (अनाकृतः) वक्ता पुरुष (वक्वा) जिस

प्रकार (न) स्तुतियों को धारण करता है (जरणाः) उसी प्रकार वह भी जेरों को छोड़कर पृथक् हो जाता है)।

अनाग - नञ् +आगस् =अनागस् =अनाग। अपराध या पाप से रहित ।

'कृधीष्वस्माँ अदितेरनागान्'

ऋ.४.१२.४, तै.सं. ४.७.१५.७, मै.सं. ३.१६.५, १९२.८, का.सं. २.१५

अनागमिष्यत् - भविष्य में कभी न आने वाला उत्तम ऐश्वर्य ।

'अनागमिष्यतो वरानवित्तेः'

अ. १६.६.१०

अनागस् - (१) नञ् +अगस् =अनागस् (जिसने अपराध न किया हो) । आङ् + गम् +असुन् =आगस् =पाप । यह पाप कर्ता के पास फलरूप में आता है । अतः *'आगस्'* है ।

'वि वृक्षान् हन्त्युत हन्ति रक्षसो
विश्वं बिभाय भुवनं महावधात्
उतानागा ईषते वृष्ण्यावतो
यत्पर्जन्यः स्तनयन् हन्ति दुष्कृतः।'

ऋ. ५.८३.२, नि. १०.११

वर्षा की इच्छा से किए जाने वाले कारीरी नामक यज्ञ में दिशाओं के उपस्थान के समय इसका प्रयोग होता है । मेघ वृक्षों एवं राक्षसों का वध करते हैं। उसके महावध से समस्त भुवन डरता है। यहां तक कि निरपराध (अनागसः) भी इस मेघ से भागते हैं (वृष्णावतः ईषते) जिससे वह अशनिपात् द्वारा दुष्कर्म करने वालों को नष्ट करे (स्तनयन् हन्ति) ।

अनागास्त्व - नञ् +आगास्त्य =अनागास्त्य। (१) पवित्रता, (२) अनाचार अन्याय और अधर्म का अभाव

'अनागांस्त्वं नो अदितिःकृणोतु'

ऋ. १.१६२.२२, वाज.सं. २५.४५, तै.सं. ४.६.९.४, का.सं. (अश्व) ६ .५

अनागास्त्व - नञ् +आगस् +त्व =आनागस्त्व, निरपराधता ।

'यस्मै त्वं सुद्रविणो ददाशो,
अनागास्त्वमदिते सर्वताता
यं भद्रेण शवसा चोदयासि
प्रजावता राधसा ते स्याम ।'

ऋ. १.९४.१५, नि. ११.२४

हे उत्तममोत्तम धन को देने वाले (सुद्रविणः) अखण्डनी अग्ने, जिस यजमान के सभी कर्मों के विस्तारों में (सर्वताता) पाप राहित्य प्रदान करता है तथा जिसे कल्याण कारक बल से (भद्रेण शवसा) तथा पुत्र सहित धन से प्रजावता (राधसा) प्रेरित करता है उसी प्रकार हम भी तेरे यजमान होवें (ते स्याम) ।

अनागोहत्या - अनागस् +हत्या =अनागोहत्या। निरपराध पुरुष की हत्या ।

'अनागोहत्या वै भीमा कृत्ये'

अ. १०.१.२९

अनाता - नञ् +आङ् +तन् +क्त =अनातत । अविस्तृत, स्वल्प ।

'न वनिषदनाततम्'

अ. २०.१३२.७, शां.श्रौ.सू. १२.१८.१५

अनातुर - दुःख रोग शोक आदि से रहित ।

'विश्वं पुष्टं ग्रामे अस्मिन् अनातुरम्

ऋ. १.११४.१, वाज.सं. १६.४८, तै.सं. ४.५.१०.१, मै.सं. २.९.९, १२७.१०, का.सं. १७.१६

(२) शान्त, (३) तृष्णा रहित,

'अनातुरान् सुमनसस्तल्प बिभ्रत्'

ऋ. १२.२.४९

अनाद्य - भोजन नहीं करने योग्य ।

'यदाद्यं यदनाद्यम्'

अ. ८.२.१९

'मा ब्राह्मणस्य राजन्य
गां जिघत्सो अनाद्याम्'

अ. ४.१८.१

अनाधृष्टा - नञ् +आधृष्टा =अनाधृष्टा जो कभी शत्रु से घर्षित न हो ।

'अनाधृष्टा पुरस्तात् अग्नेराधिपत्य'

वाज.सं. ३७.१२, मै.सं. ४.९.३, १२४.१, श.ब्रा.१४.१.३.१९, तै.आ. ४.५ .३

नञ् +आङ् +धृष् +क्त =अनाधृष्ट आतिरष्कृत, निरस्कार रहित ।

अनाधृष्य - अतिरष्कणीय ।

अनानत - (१) नञ् +आङ् +नम् +क्त =अनानत् । शत्रुजन के आगे कभी न झुकने वाला -इन्द्र ।

'वृह माया अनानत'

ऋ. ६.४५.९

(२) शत्रु से जो कभी न झुके
'अनानता अविथुरा ऋजीषिणः'
ऋ. १.८७.१
शत्रु के सामने कभी न झुकने वाले (अनानता), अन्य के से परास्त न होने वाले (अविथुरा) सरल धर्म युक्त मार्ग में जाने वाले (ऋजीषिणः)
(३) जो दूसरे से प्रकाशित न हुआ हो, अर्थात् जो स्वयं प्रकाशित न हुआ हो। *'अनानत ज्योतिः सूर्यः'*

'विश्वानरस्य वनस्पतिम्
अनानतस्य शवसः।
एवैश्च चर्षणीनाम्
ऊती हुवे रथानाम्।'

ऋ. ८.६८.४, साम. १.३६४, नि. १२.२१
(मैं स्वज्योति से प्रकाशित सूर्य एवं महान् बल के पति एवं रक्षा करने वाले इन्द्र को आप लोगों की अर्थ सिद्धि के लिए मनुष्यों ,के मार्गों से तथा रथों या किरणों के मार्ग से जिनसे वे इस लोक में आते हैं, बुलाता हूं।)

अनानुद - नञ् +आ +नुद् =अच् =*'अनानुद'*। अप्रेरित-किसी अन्य से न प्रेरित होने वाला।
(२) स्वयं सबका संचालक इन्द्र परमेश्वर
'अनानुदो वृषभो दोधतोवधः'
ऋ. २.२१.४
(३) अनुपम, दानशील
'अनानुदो वृषभो जग्मि राहवम्'
ऋ. २.२३.११
(४) दूसरे के दान की प्रतीक्षा न करने वाला
'अनानुदं वृषभ रध्रचोदनम्'
ऋ. १०.३८.५, तै.ब्रा. १.२.२८

अनानुद् - (१) नम्+आङ्+नुद्+क्विप् =अनानुद। *'यो अनुगतं न ददातिं'* अनुकूल न वर्तने वाला
(२) अपने अनुकूल उचित पदाधिकारों को न देने वाला (३)कर प्रदान न करने वाला
'त्वं शता वङ्गदस्याभिनत् पुरः
अनानुदः परिषूता ऋजिश्वना'
ऋ. १.५३.८, अ.२०.२१.८

अनानुभूति - (१) अनुभव शून्यता, (२) अज्ञात बात, (३) अनुभव रहित (४) सामर्थ्य हीन, (५) असहृदय जन।
'अनानभूती रवधून्वानः'
ऋ. ६.४७.१७

अनादिष्टादिक् - अनिर्दिष्ट दिशा।
'सोऽनादिष्टां दिशमनुव्यचलत्'
अ. १५.६.१६

अनानुकृत्य - (१) बार बार न किया जा सकने वाला कर्म।
'अनानुकृत्यम् अपुनश्चकार'
ऋ. १०.६८.१०, अ.२०.१६.१०
(२) वह यत्न जिससे दूसरी बार पुनः पुनर्जन्म रूप बन्धन काटने का उद्योग न करना पड़े।

अनानुदिष्टः - बिना प्रार्थना किए ही, अपार्थित
'ब्रह्मद्विषोहन्य हन्त्यनानुदिष्टः'
ऋ.१०.१६०.४, अ २०.९६.४

अनाप्त - (१) नञ्+आप्त =अनाप्त। जो आप्त अर्थात् विद्या पारंगत नहीं है।
'अनाप्ता ये वः प्रथमा'
अ.४.७.७, ५.६.२, का.सं. ३८.१४; आप.श्रौ.सू. १६.१८.७
नञ्+आप्+क्त =अनाप्त। जो प्राप्त नहीं हैं।
'यस्यानाप्तः सूर्यस्येव यामः'
ऋ. १.१००.२
जिस प्रकार सूर्य का जाने का मार्ग तथा अधीन ग्रहों को नियन्त्रित करने का महान् सामर्थ्य अन्य ग्रहों द्वारा प्राप्त नहीं किया जा सकता (अनाप्तः)।

अनापिः - नञ्+आपि =अनापि। बन्धु रहित
'अनापिरिन्द्र जनुषासनादसि'
ऋ.८.२१.१३, अ. २०.११४.१, साम. १.३९९, २.७३९
'अनापिरज्ञा असजात्यामतिः'
ऋ. १०.३९.६

अनाभयी- भय न करने वाला।
'अनाभयिन् ररिमा ते'
ऋ. ८.२.१, साम. १.१२४, २.८४

अनाभू - असमर्थ सेना, (२) अधर्म -दया।

अनामगः - (१) अनामकः-सा (२) परमात्मा का नाम न लेने वाला पुरुष (३) अनास्माकः (जो हमारा नहीं है।)
'अनामगस्तं च दुर्हार्दः'
अ. १९.४५.२

अनामन - बिना जाने ही
'अनामनात् संशीर्यन्ते'

अ.१२.४.५

अनामयित्नु – (१) नञ्+आमय+त्नु=अनामयिन्नु । रोग का हरण करने वाला
'अनामयित्नुभ्यां त्वा
ताभ्यां त्वोप स्पृशामसि'
ऋ.१०.१३७.७,
(२) आयम अर्थात् रोग से रहित
'अनामयित्नुभ्या हस्ताभ्याम्'
अ. ४.१३.७

अनामयोपजिह्विका – अनामय +उप जिह्विका । रागद्वेष से रहित को भी चाट जाने वाली प्रकृति ।
'अनामयोपजिह्विका'
ऋ. २०.१२९.२०

अनामि – कभी न झुकने वाला ।
'अनामि ओज आ चके'
ऋ. ३.६२.५, तै.ब्रा. २.४.६.४
'अनामि क्षत्रमजरं सुवीर्यम्'
ऋ. ६.८.६, तै.सं. १.५.११.२, मै.सं. ४.११.१:१६१.५

अनामृणः – (१) जिसे मारने वाला कोई न हो, (२) अमर, (३) अजातशत्रु ।
'अनामृणः कुविदादस्य रायो
गवां केतं परमावर्जते नः'
ऋ. १.३३.१
(वह नित्य, सदा अमर, अज्ञात शत्रु है और ऐश्वर्य वेद वाणियों को बार बार इन्द्रियों के सर्वोच्च ज्ञान को बार बार हमें प्रदान करता है ।

अनायत – नञ् +आयत =अनायत । चारों ओर कहीं से भी न बंधा हुआ–सूर्य ।
'अनायतो अनिबद्धः कथायम्'
ऋ. ४.१३.५, ४.१४.५

अनायतन – नञ् +आयतन =अनायतन । बिना आश्रय का, निराश्रय ।
'अप्रतिष्ठानोऽनायतनः'
अ.११.३.४९

अनारम्भण – (१) नञ् +आरम्भण । आलम्बन रहित, भयजनक ।
'अनारम्भणे तमसि प्रविद्धम्'
ऋ.१.१८२.६, ७.१०४.३, अ. ८.४.३
(२) अवलम्बन रहित समुद्र (३)जगत् जहां कुछ करते नहीं बनता, (४) जहां कर्म का उदय न हो ।
'अनारम्भणे तदवीरयेथाम्
अनास्थाने अग्रभणे समुद्रे'
ऋ. १.११६.५
विद्वान् शिल्पी अवलम्बन-रहित आश्रय के स्थल से रहित और सहायता के लिए जहां कुछ पकड़ा नहीं जा सके ऐसे समुद्र में पराक्रम करते हैं । अथवा, प्राण और अपान आत्मा को ऐसी दशा में पहुंचाते हैं जहां प्रथम आरम्भ अर्थात् कर्म का उदय न हो (अनारम्भणे), देह में स्थित न हो और कर्म का बन्धन हो ऐसे समुद्र अर्थात् रस सागर आनन्द मय समुद्र में उस आत्मा को प्रेरित करते हैं ।
(४) बिना सहारे का, निरवलम्ब ।

अनारम्भर्णतमः – (१) ऐसा अन्धकार जो अवलम्ब या आधार रहित हो–जहां कुछ भी न सूझ सके । (२) अविद्या रूपी अन्धकार ।

अनावयाः – न हीं पहुंच सकने वाला ।
'स्त्रीषु चासद् अनावयाः'
अ. ७.९०.३

अनाबयु – (१) अभक्ष्यमाण सर्षप काण्ड (२) कभी भी इन्द्रियों से न उपलब्ध होने वाला, (३) कभी न खाने योग्य ।
'आबयो अनाबयो'
अ. ६.१६.१
(४) किसी से भी प्रकाशित या उत्पादित न होने वाला ।

अनाव्याधा – पीड़ा आदि कष्टों से रहित नगरी
'अनाव्याधां देवपुरां प्रपद्य'
अ. १४.१.६४

अनाव्रस्क – अपराध न करने वाला । नञ् +आङ् +व्रस्क =अनाव्रस्क ।
'सोऽनाव्रस्कः प्रजापतौ'
अ.१२.४.४७

अनावृत् – (१) अनावर्तमान्, जिसकी पुनः आवृत्ति न हो ।
'सुदेवो अद्य प्रपतेदनावृत्
परावतं परमां गन्तवा उ
अधा शयीत निर्ऋतेरुपस्थे
अधैनं वृका रभसासो अद्युः'
ऋ. १०.९५.१४, श.ब्रा. ११.५.१.८, नि. ७.३

पुरुरवा उर्वशी से कहते हैं-हे उर्वशी, शोभन देव या सुश्रीक पति तुझ से वियुक्त हो अर्थात् पुनः आने वाला न होकर (अनावृत्) आज ही पर्वत से गिरकर मर जाय अथवा दूर से दूर जाने के लिए महाप्रस्थान करे, मरकर भूमि के ऊपर सोवे और उसे कुत्तें सियार वेगवान् हो खायें ।

अनावृतादिक् - वह दिशा जिससे लौटकर फिर न आया जाय ।
'सोऽनावृत्तां दिशमनु व्यचलत्'
अ. १५.६.१९

अनाशस्त - नञ् +आशस्त =अनाशस्त । जो गुणी, समर्थ और प्रशंसनीय न हो ।
'अनाशस्ता इवा स्मसि'
ऋ. १.२९.१, अ. २०.७४.१

अनाशीर्दा -नञ् +आशीः +दा =अनाशीर्दा । आशा और कामनाओं के अनुकूल न देने वाला ।
'अनाशीर्दामहमास्मि प्रहन्ता'
ऋ. १०.२७.१

अनाशुः - (१) भोजन आदि से रहित भूखा आदमी, (२) मन्द गति वाला (३) उदर रोगादि से न खा सकने वाला ।
'अनाशोश्चित् अविता रापमस्य चित्'
ऋ. १०.३९.३
(४) स्थिर, अचंचल, (५) कूटस्थ भाव से रहने वाला ।
'धन्वञ्चिद् ये अनाशवः
जीराश्चित् अगिरौकसः।'
ऋ. १.१३५.९
जो स्थिर हैं (अनाशवः) वे धनुष् के कार्य में विजयी होते हैं । धनवान् जीराः) और वे वाणी में भी स्थान नहीं पाते (अगिरोकसः) (६) जो शीघ्रकारी न हो ।
'अमन्महीत् अनाशवः'
ऋ. ८.१.४, अ.२०.११६.२, पंच.ब्रा. ९.१०.१
(७) जो शीघ्रगामी न हो ।
'अनाशुरश्वोऽयामी'
अ.२०.१२८.१०, शां.श्रौ.सू. १२.२१.२.५
(५) शीघ्रता न करने वाला धीर पुरुष ।

अनास् - नाकमुख-रहित ।
'अनासो दस्यूं रमृणो वधेन'
ऋ. ५.२९.१०

अनाम्नाव - नञ् +आम्नाव =अनाम्नाव । वीर्य स्राव को दूर करने वाला ।
'अनाम्नावम् अरोगणम्'
अ. २.३.२

अनास्थान - (१) समुद्र जिसमें आश्रय का स्थान नहीं है (२) मोक्षावस्था जिस में आत्मा की स्थिति शरीर में नहीं रहती ।

अनास्माकः - जो हमारा नहीं है । हमसे भिन्न
'अनास्माकस्तद् देवपीयुं पियारुः'
अ. १९.५७.५

अनाहुति - यज्ञादि का अभाव ।
'तेनास्मद् विश्वाम् अनिराम् अनाहुतिम्'
ऋ. १०.३७.४

अन्तात् - अति समीप से ।
'वयं हि ते अमन्महि
आ अन्तात् आ पराकात्
अश्वे न चित्रे अरुषि ।'
ऋ. १.३०.२१
हे व्यापिनी (अश्वे), आश्चर्य शक्ति शालिनी (चित्रे) दीप्तिमती उषा या ईश्वरीय शक्ति । हम निश्चय ही तेरे स्वरूप को अति निकट में या अति दूर में विवेचना कर भी नहीं पर पाते ।)

अन्ता - (१) समीप ।
'अपादशीर्षा गुहमानो अन्ता'
ऋ. ४.१.११

अन्ताः - (स्त्री. ब. व) (१) अति सूक्ष्म नाड़ियां । (२) गृह के अन्दर रहने वाली स्त्रियां ।
'साकम् अन्ता अरंसत'
अ. १.१७.३

अन्वान्त्र्य - अनु +आन्त्र्य ।
आंतो में उत्पन्न होने वाला विषूचिका आदि का कीट ।
'अन्वान्त्र्यं शीर्षण्यम्'
अ. २.३१.४

अन्वानट् - अनु +आ +नश् (गति कर्मक) के लुङ् प्रथम पुरुष एक वचन का रूप । अनुक्रम से समीप लाया
'अत्रा ते रूपमुत्तममपश्यम्
जिगीषमाणमिष आ पदे गोः
यदा ते मर्तो अनुभोगमानट्
आदिद् ग्रसिष्ठ ओषधीरजीगः'

ऋ. १.१६३.७, वाज.सं. २९.१८, वाज.सं. (का.) ३१.३.३०, तै.सं. ४ .६.७.२, का.सं. ४०.६

अश्वमेघ में अश्व की स्तुति-

हे अश्व, इस समय देव यजन प्रदेश में दिये जाने वाले अन्नों के इच्छुक तेरे उत्तम रुप को देखता हूं। जब मनुष्य तेरे आगे तेरा भोज्य अन्न रखता है तो रखते ही (आदित्) तू खाने के लिए अत्यन्त उत्कण्ठित हो अन्नों को खाने लगे।

अनितभा - नञ् + इत + भात + अप्राप्त दीप्ति -दया।

वह भूमि, गहरी नदी या जलमयी खाई जिसमें सूर्य की कान्ति न जाती हो।

'मा वो रसा नितभा कुभा क्रुमुः'

ऋ. ५.५३.९

अनिध्मः - नञ् +इध्म =अनिध्म, बिना इन्धन के।

'यो अनिध्मो दीदयदप्स्वन्तः'

ऋ. १०.३०.४, अ.१४.१.३७, नि. १०.१९

(जो विद्युत बिना इन्धन में दीप्त होता है।

'व्यनिनस्य धनिनः प्रहोषे चिदररुषः
कदाचन प्रजिगतो अदेवयोः'

ऋ. १.१५०.२

जो न विद्या का दान दे सके और न धन का (अदेवयोः) उन दोनों में जो धनी होकर भी दान देने में असमर्थ हैं (अनिनस्य) उसके और उत्तम रीति से दान और उपभोग में न लगाने वाले (प्रहोषे चित् अररुषः)उत्तम पद पर प्राप्त या बहुत बात बनाने वाले के विषय में भी (प्रजिगतः) कभी विशेष स्तुति वचन नहीं कहता।

अथवा

(अदानशील पुरुषों में से उत्तम प्राणों के स्वामी (अनिनः धनिनः) धन के प्रभु प्रदान के काम में (प्रहोषे) भी रोष से रहित (अररुषः) उत्तम पद को प्राप्त पुरुष के लिए (प्रजिगतः) मैं कभी विपरीत वचन न कहूं।)

अनिन्द्रः - नञ् +इन्द्र =अनिन्द्र। (१) असमर्थ। इन्द्र का अर्थ समर्थ है, अतः असमर्थ को अनिन्द्र कहा गया (२) ईश्वर को न मानने वाला नास्तिक जन।

'अभीदमेक मेको अस्मि
निष्षाडभीद्वा किमु त्रयः करन्ति
खले न पर्षान् प्रति हन्मि भूरि
किं मा निन्दन्ति शत्रवोऽनिन्द्राः'

ऋ. १०.४८.७, नि. ३.१०

दशरात्र के नवम दिन निष्कैवल्प में पढ़ा जाता है। एक ही मैं इस जगत् का अधिपति हूं। कामादि शत्रुओं का अभिभूत करता हुआ (निष्षाट) उन्हे अकेले ही जीतता हूं (एकम् अभि)। दो हो या तीन तभी क्या कर सकते हैं। खलिहान में जैसे धान सहित पुआल को दावा जाता है (खलेन पर्जान्) वैसे ही मैं बहुत शत्रुओं को भी एक ही मार डालता हूं। भला असमर्थ शत्रु या इन्द्र (परमात्मा) की सत्ता न मानने वाले नास्तिक मेरी क्या निन्दा करेंगे।

अनिन्द्रा - इन्द्र या ऐश्वर्यान् राजा से रहित शत्रुसेना।

'द्रुहं जिघांसन् ध्वरसम् अनिन्द्राम्'

ऋ. ४.२३.७

अनिभृष्ट - (१) नीचे न गिरने वाला, ताप रहित।

'प्रतिष्ठा अरिष्टानि मे सर्वात्मानिभृष्टः'

ऋ. १९.६०.२

अनिभृष्टतविषिः - (१) जिसकी सेना निरन्तर भ्रष्ट नहीं होती -दया। (२) सेना या बल आदि से कभी च्युत न होने वाला, (३) अनष्ट शक्ति।

'आनेभृष्ट तविषिः हन्त्योजसा'

ऋ. २.२५.४

(४) शत्रु द्वारा अपीड़ित बलवान् सैन्य का स्वामी।

'ऋभुरनिभृष्टतविषिः'

ऋ. ५.७.७

अनिमानः - अनिमान,

(१) अविज्ञेय, (२) परिमाण रहित, (३) महान् परमेश्वर, (४) इन्द्र।

'स नो वक्षत् अनिमानः सुवह्ना'

ऋ. ६.२२.७, अ.२०.३६.७

(४) अपरिमित बल शाली।-

'स नो यहाँ अनिमानः
धूमकेतुः पुरुश्चन्द्रः
धिये वाजाय हिन्वतु'

ऋ. १.२७.११

अनिमिषम् - (१) प्रतिक्षण, सदा, निरन्तर।

'अनिमिषं नृम्णं पान्ति'

ऋ. ५.१९.२

जो पुरुष निरन्तर मेरे बल की हवि या स्तोत्रों से रक्षा करते हैं – जो प्रतिक्षण योगबल की रक्षा करते हैं-दया. ।

(२) कभी न झपकने वाला सदा सावधान ।

'संक्रन्दनोऽनिमिषः एकवीरः'

ऋ. १०.१०३.१, अ. १९.१३.२, साम.२.११९९, वाज.सं. १७.३३, तै.सं . ४.६.४.१, मै.सं. २.१०.४, १३५.१०, का.सं. १८.५

अनिमिषत् – (१) निरन्तर आंखें खोले हुआ सूर्य । सूर्य का काम पलक न मारना, नित्य चमकना और ताप देना है ।

(२) सदा अप्रमादी, सावधान ।

'नृचक्षसो अनिमिषन्तो अर्हणा'

ऋ.१०.६३.४

अनिमिषा – (१) पालक गिराए बिना, (२) निरन्तर

'मित्रो जनान् यातयति ब्रुवाणो
मित्रो दाधार पृथिवीमुतद्याम
मित्रः कुष्टीरनिमिषाभि चष्टे
मित्राय हव्यं घृतवज्जुहोत् ।'

ऋ. ३.५९.१, तै.सं. ३.४.११.५, का.सं. २३.१२, ३५.१८, आश्व. श्रौ.सू. ३.११.२२, आप. श्रौ.सू. ६.२६.७, नि. १०.२२

(शब्द करता हुआ मित्र कृषकों को कृषि कर्म में प्रवृत्त करता है । मित्र ही पृथ्वी तथा स्वर्ग लोक को धारण करता है, मित्र कृषकों को सदा दया दृष्टि से देखता रहता है । इसलिए मित्र के लिए घृतमय हव्य की आहुति दो ।)

अनिमेषम् – (अ) जिसमें नेत्र =निमीलन न हो, (२) बिना एक निमेष के अन्तर क (३) निरन्तर

'यत्रा सुपर्णा अमृतस्य भागम्
अनिमेषं विदथा भिस्वरन्ति
इनो विश्वास्य भुवनस्य गोपाः
समा धीरः पाकमत्रा विवेश'

ऋ. १.१६४.२१, अ. ९.९.२२, नि. ३.२२

जिस मण्डल में स्थित हो सूर्य की रश्मियां जल का भाग लेकर (अमृतस्य भागमम्) ज्ञानपूर्वक सतत सर्वत्र तपती रहती हैं (विदथा अभिस्वरन्ति) या शब्द करती हैं, वह सकल भुवन के रक्षक धीर एवं पाक ईश्वर मुझ में आविष्ट हों ।

आध्यात्मिक अर्थ- जिस शरीर में इन्द्रियाँ अपने अपने स्थान में अविस्थत हो विषय रस को मन में और मन आत्मा को समर्पित करता है अर्थात् जहां इन्द्रियाँ बुद्धि के समक्ष विषय विज्ञान लाकर सुख से रहना चाहती हैं । इस देह में स्थिर सभी इन्द्रियों का रक्षक आत्मा का ईश्वर धीर एवं सर्वज्ञ (पाक) है । वह इस शरीर में आविष्ट हो हमें अनुगृहीत करें ।)

अनिर – मन को सुन्दर न लगने वाला, अरुचिकर ।

'अनिरेण वचसा फल्ग्वेग'

ऋ. ४.५.१४

अनिराः – (१) अन्न आदि का दान ने देने वाला ।

'अनिरामपसेधति'

अ. २०.१३५.१३, शां.श्रौ.सू. १२.१६.१.३, आश्व. गृ.सू. २.९.४

(२) नञ् +इरा =अनिरा ।

अन्न राहित्य, अन्नादि की दरिद्रता

'युयुतमस्मत् अनिराममीवाम्'

ऋ. ७.७१.२

(३) बल रहति कर देने वाली, (४) जल, अन्न न खाने देने वाली 'अमीवा' अर्थात् रोग ।

'अपत्या अस्थु रनिरा अमीवा'

ऋ. ८.४८.११

(५) अन्न जल का अभाव ।

'तेनास्मद् विश्वामनिराम् नाहुतिम्'

ऋ. १०.३७.४

अनिरहित – जो पृथक न किया गया हो ।

'क्रव्याच्चेदनिराहितः'

अ. १२.२.३६

खेतों का निराना आज भी घास निकालने के अर्थ में प्रयुक्त होता है ।।

अनिल – अन +इलच् =अनिल् । प्राणों का मूल कारण वायु तत्व ।

'वायुरनिलममृतमथेदम्'

वाज.सं. ४०.१५, श.ब्रा. १४.८.३.१, बृ.आ.उप. ५.१५.१, ईश. उप. १७

अनिबद्ध – जो कहीं बंधा हुआ न हो-सूर्य ।

'अनायतो अनिबद्धः कथायम्'

ऋ. ४.१३.४, ४.१४.५

अनिबाध – (१) पीड़ा बाधा-रहित ।

'उरौ देवा अनिबाधे स्याम'

ऋ. ५.४२.१७, ५.४३.१६
(२) बाधा रहित ।
'उरौ महां अनिबाधे ववर्ध'
ऋ. ३.१.११

अनिवेशजा - कहीं न ठहरने वाली ।
'अतिष्ठन्तीनाम् अनिवेशनानाम्
काष्ठानां मध्ये निहितं शरीरम्'
ऋ. १.३२.१०, नि. २.१६

अनिशित - तीक्ष्णता या प्रचण्डता से रहित, शीतल ।
'अनिशितं निमिषि जर्भुराणः'
ऋ. २.३८.८

अनिशित सर्गाः आपः- अनल्प सृष्टि रचने वाले । चल या प्रकति के परमाणु
'इन्द्राय गिरो अनिशित सर्गा
अपः प्रेरयं सगरस्य बुध्नात्'
ऋ. १०.८९.४, साम. १.३३९

अनिषङ्ग - पक्षपात-रहित ।
'अनिषङ्गाय चतुरक्ष इध्यसे'
ऋ. १.३१.१३
तू अन्तर्यामी होकर पक्षपात रहित, साधक, चार आंखों वाला, अति सावधान, चौकन्ना और चारों दिशाओं में व्यापक होकर हृदय में प्रकाशित होता है ।

अनिषव्य - नञ् +इषव्य =अनिषव्य, वाण-प्रहार के अयोग्य ।
'अनिषव्यस्तन्वः सन्तु पापीः'
ऋ. १०.१०८.६

अनिष्कृत - अस्वच्छ ।
'परिष्कृण्वन् अनिष्कृतम्'
ऋ. ९.३९.२, सामे. २.२४.९

अनिष्टृत - अनिस्तृत, जो किसी प्रकार भी क्षति को प्राप्त न हो ।
'उपसत्ता वर्धतां ते अनिष्टृतः'
अ. ७.८२.३, वाज.सं. २७.४, तै.सं. ४.१.७.२, मै.सं. २.१२.५, १४९.१, १८.१६
(२) अहिंसित, अमर ।
'य उग्रः सन् अनिष्टृतः'
ऋ. ८.३३.९, अ. २०.५३.३, ५७.१३, साम. २.१०४८

अनिस्तृत - किसी से भी मारा न गया ।

अन्ति - निकट ।
'आरात् ताच्चित् शवसो अन्तमापुः'
ऋ. १.१६७.९
'यो नो अग्नेऽभिदासति,
अन्ति दूरे पदीष्ट सः।'
ऋ. १.७९.११
(जो हमारे निकट आकर हमारी हानि पहुंचाना चाहता है, वह हमसे दूर हो ।)

अन्तिक - आनीतम् (सन्निकृष्ट)। जो चारों ओर से निकट लाया गया हो । आङ् +नी +तिक् =अन्तिक । आधुनिक अर्थ-निकट तक ।

अन्तिगृह - (१) समीप का घर (२) समीप का मित्र राज्य ।
'वय उषो यदि वष्टि आन्तिगृहात्'
ऋ. १०.९५.४

अन्तिचित् - समीप के समान ।
'सर्व राजभ्यः परमाचिदन्ति'
ऋ. २.२७.३

आनीत - (१) अन्त +क्त =अन्तित । जिस का अन्त हो गया , जो विनष्ट हो गया हो ।
'प्रतिस्पाशनमन्तितम्'
अ. ८.५.११
(२) निकट आया हुआ ।
'यावयत् शत्रुमन्तितम्'
अ. ६.४.२
(३) निकट से ।
'नैनमंहो अश्नोति अन्तितो न दूरात्'
ऋ. ३.५९.२, तै.सं. ३.४.११.५, मै.सं. ४.१०.२, १४६.१४, का.सं. २३.१२

अन्तिदेवाः - अनन्ति जीवन्ति विद्यादिसुख साधनैः ये ते अन्तयः (विद्यादि सुखसाधनों से जीत हैं) अन् +तिन् , =अन्तिन् । जीवन दायक पदार्थ भी 'अन्तिनः' हैं ।
(१) प्राण धारण करने और कराने में समर्थ देवता, (२) अग्नि, वायु, जल, सूर्य, पृथिवी और अन्नादि जीवन दायक पदार्थ ।
'शतमिन्नु शरदो अन्तिदेवाः
'यत्रा नश्चक्रा जरसंतनूनाम्'
ऋ. १.८९.९, वाज.सं. २५.२२, मै.सं. ४.१४.२, २१७.१३का.सं. ३५.१, गो.ब्रा. १.४.१७, श.ब्रा. २.३.३.६, आप. श्रौ.सू. १४.१६.१, शां.गृ.सू.

५.५.१२, आप.मं.पा. २.४.३, हि.गृ.सू.१.४.१३.

(हे उत्तम साधनों से प्राण धारण करने में समर्थ देवों या विद्वानों (अन्तिदेवाः) जिस जीवन दशा में (यत्र) सौ वर्ष ही (शतम् इत् नु) हमारे शरीरों को (नः तनूनाम्) । जीर्ण दशा पूर्ण करते हैं ।)

अन्तिवामा - अपने समपी नाना प्रकार से भोग्य पदार्थों को रखने वाली उषा (२) स्त्री ।

'अन्तिवामा दूरे अमित्रम् उच'

ऋ. ७.७७.४

अन्वियत् - अन्न की कामना करने वाला ।

'यस्ते भरात् अन्नियते चिदन्नम्'

ऋ. ४.२.७

अन्निति - (१) अनुमति (२) अन्वेषण करने वाली समिति

'अन्वित्या दिवा दिवं जिन्व '

वाज.सं. १५.६, मै.सं. २.८.८; ११२.५, श.ब्रा. ८.५.३.३

अनीक - सेनादल, मुख, स्वरूप ।

'प्रैषामनीकं शवसादविद्युतत्'

ऋ. १०.४३.४, अ. २०.१७.४

अनीकवत् - सेना का स्वामी ।

'अग्नयेऽनीकवते प्रमजानालभते'

वाज.सं. २४.१६, मै.सं. ३.१३.१४: १७१.१६, आप.श्रौ.सू. २०.१४.१०

अनीकशः - (१) सेना को टुकड़ी टुकड़ी में बांटना ।

'केतून् कृत्वानीकशः'

अ. ६.१०३.३

(२) सेना का दस्ता बना बनाकर ।

'अमी ये यन्त्यनीकशः'

अ. ५.२१.८.

अनीड - (१) किसी अन्य पदार्थ का आश्रय न लेने वाला परन्तु स्वतः सब का आश्रय (२) किसी विशेष स्थान पर न रहकर भी सर्वत्र व्यापी प्रभु ।

'अ यो महः शूरः सनादनीडः'

ऋ. १०.५५.६, साम.२.११३३

अनीनशत् - नष्ट कर दे ।

'अग्निष्टं ब्रह्मणा सह निष्क्रव्यादमनीनशत्'

ऋ. १०.१६२.२, अ. २०.९६.१२,

अनीश्वर - (१) ऐश्वर्य हीन, (२) निर्बल पुरुष, (३) नास्तिक ।

'अनीश्वरा अभितः सन्तु येऽन्ये'

अ. १२.३.४२

अनु - (क्र) (१) अनूपास्ते । शास्त्रीय रीति से चलाते हैं ।

'अर्चन्ननु स्वराज्यम्'

ऋ. १.८०.१-१६, साम. १.४१०-४१२, नि. १२.३४

(२) सदृश, (३) अपरभाव, (४) पश्चात्

बिना क्रिया पद के भी वेद में अनु प्रयुक्त हुआ है और अर्थ निकालने के लिए क्रियापद का अध्याहार किया जाता है । (५) (सं) मनुष्य ।

'अनवः मनुष्याः'

नि. २.३

'अनवस्ते रथमश्वाय तक्षन्'

ऋ. ५.३१.४, साम. १.४४०, तै.सं. १.६.१२.६, मै.सं. ४.१२.४, १८२.७, का.सं. ८.१६

(६) एक वैदिक राजवंश (७) छोटा या अप्रसिद्धजन ।

'यद् द्रुह्यवि अनवितुर्वशे यदौ'

ऋ. ८.१०.५

अनुक्षता - क्षत्ता-अश्वों को चलाने वाले सारथि के समान अधीन पुरुषों को सन्मार्ग पर चलाने वाला ।

'आध्याक्षायानु क्षत्तारम्'

वाज.सं. ३०.११

अनुकामकृत् - इच्छा को निरन्तर पूर्ण करने वाला ।

'देवेभ्यो अनुकामकृत्'

ऋ. ९.११.७, साम. २.७९७

अनुकामं चरणम् - इच्छानुसार विचरण ।

'यत्रानुकामं चरणम्'

ऋ. ९.११३.९

अनुक्रोशन्ति - (१) कोसते हैं-दया. (२) चिल्लाते हैं -

'उतस्मैनं न वस्त्र मथिं न तायुम्
अनुक्रोशन्ति क्षितयः भरेषु ।'

ऋ. ४.३८.५, नि.४.२४

इस दधिक्रावा इन्द्र को युद्धों में देख कर शत्रु चिल्लाने लगते हैं । जैसे वस्त्र लेकर भागने वाले चोर को देखकर लोग चिल्लाते हैं - जिन युद्धों में वस्त्र तक चुरा लेने वाले चोर की तरह राजा को (भरेषु वस्त्र मथिं तायुं न) प्रजा या शत्रु कोसते हैं ।-दया.

अनुचर - आज्ञा मे चलने वाला पुरुष ।

'बलायानुचरम्'

वाज.सं. ३०.१३, तै.ब्रा. ३.४.१७

अनुजिघ्रम् - गन्ध लेकर, सूंघकर ।

'अनुजिघ्रं प्रमृशन्तम्'

ऋ. ८.६.६

अनुग्र - नञ् +उग्र =अनुग्र । जो उग्र न हो, शान्त स्वभाव, सौम्य पुरुष ।

'अनुग्रासश्च वृत्रहन्'

ऋ. ८.१.१४, अ. २०.११६.२

अनुगायसः - अनुगम्य, प्रशंस्य (अनुगमन कर, प्रशंसा कर)

अनुचक्षत - (१) पश्चात् प्रकट होता है (२) अनुकूल देखता है ।

अनुचितयत् - जान डालता हुआ, चेतना डालता हुआ ।

'द्यौर्न स्तृभिः चितयद् रोदसी अनु'

ऋ. २.२.५.

अनुजोषम् - प्रतिदिन प्रेम पूर्वक ।

'या इत्था मघवन् अनुजोषम्'

ऋ. ५.३३.२

अनुतप्यमान - पुत्र पौत्र के साथ स्वयं कष्ट या अनुताप करता हुआ, (२) पुत्र पौत्र की ममता में ।

'निर्भक्तं प्रजा अनुतप्यमानम्'

अ. २.३५.२

अनुतस्थिम - 'अन्वास्थिताः स्म लोकम्' ।(लोक में रहते थे) ।

अनु +स्था +लिट् (म) = अनुतस्थिम ।

'कारुरहं ततो भिषग्
उपलप्रक्षिणी नना
नानाधियो वसूयवः
अनुगा इव तस्थिमेन्द्रायेन्दो परि स्रव ।'

ऋ. ९.११२.३, नि. ६.६

अंगिरस ऋषि के पुत्र को सोमरस के नहीं निकलने पर यह ऋचा ।

हे सोम, मैं कभी दूसरे के लिए स्तुति कर्त्ता या (कारुः) या चाटुकारिता या खुशामद से अपनी जीविका चलाता था, मेरे पिता या पुत्र (ततः) वैद्य हुए (भिषक्), माता या पुत्री (नना) सत्तू पिसकर जीविका चलाने वाली (उपलप्रक्षिणी) हुई । इस प्रकार हम नाना प्रकार के कर्म अपनी जीविका चलाने के लिए करते रहे । (नानाधियः) तथा सदा धन की ही चाह में रहते थे (वसूयवः) इस पृथ्वी पर गौ की तरह । विराजते रहे (गा इव अनुतस्थिम) । हे सोम (इन्द्रो) तू इन्द्र के लिए खूब सव (परिस्रव)।

अनुत्त - (७) नञ् + उद् +क्त =अनुत्त । अबाधित ।

'अनुत्तमस्मै क्षत्रं विश्वायु'

ऋ. ७.३४.११

(२) अप्रेरित , स्वाभाविक -दया. (३) अपराजित

'अनुत्तं वज्रिन् वीर्यम्'

ऋ. १.८०.७,साम. १.४१२

अनुत्तमा - प्रेरणा से रहित ।

'अनुत्तमा ते मघवन् न किर्नु'

ऋ. १.१६५.९, वाज.सं. ३३.७९, मै.सं. ४.११.३, १६९.७, का.सं. ९.१८

हे परमात्मन् । निश्चय ही कोई भी पदार्थ या कार्य तेरी प्रेरणा के बिना नहीं है ।

अनुत्तमन्यु - शत्रु को उच्छिन्न करने के प्रबल संकल्प से युक्त, (२) क्रोध रहित ।

'इन्द्रं वाणीः अनुत्तमन्युम् एव'

ऋ. ७.३१.१२, साम. २.११४.५

अनुदका - जल रहित या अल्पजला नदी ।

'उदन्वतीरनुदकाश्च याः'

ऋ. ७.५०.४

अनुदेय - खिलाने पिलाने के बाद दी जाने वाली विदाई ।

'परा नववास्त्वमनुदेयम्
महे पित्रे ददाथ स्वं नपातम्'

ऋ. ६.२०.११

अनुदात्तः - अल्पीयः अर्थरतम् अनुदातम् (अपेक्षाकृत जिसका अर्थ अल्प हो तथा जिस अर्थ की अप्रधानता रहे । जिसका अर्थ उत्कृष्ट एवं प्रधानतर समझा जाय वह उदात्त है ।)

'पुनः पत्नीमग्निरदाद्
आयुषा सह वर्चसा ।
दीर्घायुरस्या यः पतिः
जीवाति शरदः शतम्'

ऋ. १०.८५.३९, अ. १४.२.२

पिता के द्वारा दी हुई कन्या को पुनः भी अग्नि, आयु और तेज के साथ दान करते हैं । इस

कन्या का जो पति है वह सौ वर्ष जीवे। यहां पति और कन्या में पति ही प्रधान है और उसी की आयु की कामना की जाती है। अतः 'दीर्घायुरस्या यः पतिः' में 'अस्याः' अनुदात्त है।

अनुध्याः - पीछे आने वाले दुष्परिणाम।

'प्रेतो यन्तु व्याध्यः प्रानुध्याः प्रो अशस्तयः'

अ. ७.११४.२

अनुद्यून् - प्रतिदिन।

'युवां चिद्धि ष्माश्विनावनु द्यून्'

ऋ. १.१८०.८

अनुद्र - जल से रहित मरुस्थल।

'अनुद्रे चिद् यो धृषता वरं सते'

ऋ. १०.११५.६

अनुद्रूणानः - (१) अनु +द्रु +शानच् =अनुद्रूणानः। पीछा करता हुआ - दया.

(२) मारता हुआ।

'तृष्वीमनु प्रसितिं द्रूणानः'

ऋ. ४.४.१, वाज. सं. १३.९, तै.सं. १.२.१४.१, मै.सं. २.७.१५, ९७. ८, का.सं. १६.१५, नि. ६.१२

(क्षिप्रगामिनी प्रकृष्ट शत्रुसेना को पीछा करता हुआ या तेज आक्रमण से पीछा करता हुआ।)

अनुदेयी - (१) कन्या को विदाई के समय दिया जाने वाला दहेज।

'रैभ्यासीदनुदेवी'

ऋ. १०.८५.६, अ. १४.१.७

(२) निरन्तर ज्ञानबल देने वाली शक्ति (३) प्राण क्रिया।

'अनुदेयी यथाभवत्'

ऋ. १०.१३५.५

(४) विवाह के अनन्तर देने योग्य शिक्षा

अनुधूपित - सुगन्धित पदार्थों से सत्कार किया गया मनुष्य।

'ज्योगभूवन् अनुधूपितासः'

ऋ. २.३०.१०

अनुन्मदित - अविवेक या पागलपन से मुक्त

'यदानुन्मदितोऽसति'

अ. ६.१११.१,३

अनुनिक्ष - पहुंचना।

'अनुनिक्षन्ति पृष्टीः'

अ. ९.८.१५

अनुनेषथा - मार्ग बनाओ (२) मार्ग -दर्शक ज्ञान कराइए-दया.

'अध स्मा नो अरमतिं सजोषसः'

'चक्षुरिव यन्तमनु नेषथा सुगम्।'

ऋ. ५.५४.६

और हमारे समान स्नेह रखने वाले (सजोषसः) मरुतो, आप इस लोक से उस लोक में जाते हुए (यन्तम्) पर्याप्त मति वाले यजमान को (अरमतिम्) शोभन मार्ग बना (सुगम् अनुनेषथा) जैसे आंखें मार्ग बतलाने में अनुग्रह करती हैं (चक्षु इव)।

(अन्य अर्थ)

और हे मनुष्यो, इस प्रकार वेदाध्ययन के पश्चात् सबके साथ मित्रता का बर्ताव करते हुए (सजोषसः) विद्या के लिए प्राप्त हुए (यन्तम्) हमारे उद्यमी पुत्रों को (नः अरमतिम्) चक्षुओं के समान सुमार्ग दर्शक ज्ञान कराइए (चक्षुः इव) सुगम् अनुनेषथ)

अनुनेषि - (१) ले चल, (२) पहुंचा दे।

'उरुं नो लोकमनुनेषि विद्वान्'

ऋ. ६.४७.८, अ.१९.१५.४, ऐ.ब्रा. ६.२२.५, कौ.ब्रा. २५.७.८, २९.४, गो.ब्रा. २.६.४, तै.ब्रा. १.२.१.९, २.७.१३.३, आश्व.श्रौ.सू. ३.७.११, ५.३.२.१, ७.४.७, शां.श्रौ.सू.१८.४.१, आप.श्रौ.सू. ५.३.१.

हे इन्द्र या राजन्, ज्ञानवान् आप (विद्वान्) हमें स्वर्ग नामक लोक को ले चल या महान् अभ्युदय को पहुंचा (उरु लोकम् अनुनेषि)।

अनुपथ - (१) जिसके मार्ग अनेक हों -दया. (२) बड़े बड़े मार्गों में आ मिलने वाला गौण मार्ग।

'अन्तस्पथा अनुपथाः'

ऋ. ५.५२.१०

अनुपद् - (१) अनुकूल गामिनी (२) अनुकूल या अनुरूप हितकारी पदार्थों को प्राप्त करने में समर्थ अधिकारी।

'अनुपदसि अनुपदे त्वा'

वाज.सं. १५.८

अनुपदस्वत् - कभी विनाश को प्राप्त न होना वाला।

'यो वेदानडुहो दोहान् सप्तानुपदस्वतः'

अ. ४.११.९

अनुपदस्वती - (१) कभी किसी के प्रयत्न से भी न

क्षीण होने वाली ।

‘रयिमनुपदस्वतीम्’

अ. ७.८०.२

(२) विनाश रहित, शरणदायिनी ।

‘पूर्णामनुपदस्वतीम्’

अ. २.३६.५, साम.मं. ब्रा. २.५.१४.

अनुपश्यत् – प्रतिक्षण देखने वाला ।

‘एकत्वमनुपश्यतः’

वाज.सं. ४०.७, ईश.उप. ७.

अनुपस्पशान – अनुपस्पाशयमान ।

(अवाध्यमान) बाधारहित करता हुआ ।

नञ् +उप +स्पश् (बाधन और स्पर्शन अर्थ में) +णि +शानच् = अनुपस्पाशयमान =अनुपरस्पशाना ।

‘परेथिवांसं प्रवतो महीरनु
बहुभ्यः पन्थामनुपस्पशानम्
वैवस्वतं संगमनं जनानां
यमं राजानं हविषा दुवस्य ।’

ऋ. १०.१४.१, अ. १८.१.४९, मै.सं. ४.१४.१६ः २४३.६, तै.आ. ६.१.१, आश्व. श्रौ.सू. २.१९.२२, नि. १०.२०

हे आत्मन् या यजमान, उस विवस्वान् के पुत्र यम को (वैवस्वतं ययम्) प्राणियों को सम्यक् प्रकार से अपने अपने कर्मानुसार स्वर्ग या नरक बहुंचाने वाले (जनानां संगमनम्) प्रकृष्ट कर्म वाले मनुष्यों, देवों एवं नीच योनि वाले अनेकों प्राणि वर्गों को कर्मानुसार स्वर्गादि स्थानों को पहुंचाने वाले (प्रवतः महीः परेयिवांसम्) बहुत पापात्मा एवं पापियों को बाधा रहित पथ दिखलाने वाले (बहुभ्यःपन्थाम् अनुपस्यशानम्) राजा को (राजानम्) हवि से पूजाकर (हविषा दुवस्य) ।

(२) अपने पीछे दिखाता हुआ (३) उपेदश करने वाला ।

अनुपसेचन – ओदन आदि में मिलाए जाने वाले व्यञ्जन द्रव्य से रहित । नञ् +उपसेचन = अनुपसेचन । उपसेचन वह पदार्थ है जो ओदन आदि में मिलाया जाता है ।

‘नानुपसेचन इति नेदम्’

अ. ११.३.२४

अनुप्रसिति – प्रसिति = प्रकृष्ट सेना । प्रसिति का अर्थ वागुरा तन्तु या जाल भी है (प्रकर्षेण बन्धनसाधनत्वात्) क्योंकि जाल प्रकृष्ट रूप से बन्धन का साधन है । ‘षिञ्’ धातु बन्धन अर्थ प्रयुक्त है ।

प्र +षिञ् +क्तिन् =प्रसिति

‘कृणुष्व पाजः प्रसितिं न पृथ्वीं
याहि राजेवामवां इभेन
तृष्वीमनु प्रसितिं द्रूणानोः
अस्तासि विध्य रक्षसस्तंपिष्ठैः ।’

ऋ.४.४.१, वाज.सं. १३.९, तै.सं. १.२.१४.१, मै.सं. २.७.१५, ९७.७, का.सं. १६.१५, नि. ६.१२.

हे अग्निदेव, तेजः संघ इस पृथ्वी को जाल के समान बना दे. (प्रसितिं न कृणुष्व)। अमात्य सहित राजा के समान गतभय शूर या हाथी से शत्रुओं की क्षिप्रगामिनी प्रकृष्ट सेना को तृष्वीं प्रसितिम्) मारता जा (अनुद्रूणानः) क्योकि तू शत्रुओं को काटने वाला है (अस्ता असि)। अपने तेजों से (तपिष्ठैःः) राक्षसों का बधकर ।

(अन्य अर्थ)

हे सेनापते, तू फैले हुए जाल की तरह अपने में बल धारण कर (पृथ्वी प्रसितिं न पाजः कृणुष्व) और अमात्यवान्, रोग भुत या राज्य कर्मचारियों से परिवेष्ठित राजा की तरह (अमवान् राजा इव) सैनिकों सहित भोज्य पदार्थों वाले मनुष्य वर्गों के साथ या भयरहित हाथी पर सवार होकर युद्ध में प्रयाग कर (इभेन याहि) । हे सेनापति, तू अस्त्र चलाने वाला है (अस्तासि) । अतः तेज आक्रमण से शत्रुओं का पीछा करता हुआ (तुष्वीं प्रसितिम् अनुद्रूणानः) उन राक्षसों को संतप्त गोलियों से कार्य सिद्ध के कारण तप्त अस्त्रों से या बारुदों से बींध दे (तपिष्ठैः विध्य)।

अनुपूर्वम् – यथापूर्व, क्रम से ।

‘यथा दान्त्यनु पूर्वं वियूय’

ऋ. १०.१३१.२, अ २०.१२५.२, वाज.सं. १०.३२, १९.६, २३.३८, तै.सं. १.८.२१.१; ५.२.११.२, मै.सं. १.११.४; १६६.३, २.३.८ः ३६.३, का.सं. १२.९, १४.३, ३७.१८, श.ब्रा. ५.५.४.२४, तै.ब्रा. २.६.१.३.

अनुपूर्ववत्सा – (१) प्रतिवर्ष क्रम से बछड़ा देने वाली गौ, (२) क्रम से मनोयोग सहित उच्चारण की हुई वाणी ।

'अनुपूर्ववत्सां धेनुम्'
अ. ९.५.२९

अनुभर्त्री - (१) इष्ट सुख धारण कराने वाली, (२) अनुगत सुख-धारण स्वभावा (३) प्रतिदिन भरण पोषण करने वाली आजीविका (४ पिण्ड पोषिणी आजीविका ।

अनुपलाल - (१) मांस भक्षी का सन्तान (२) हीन का संगी ।

'पलालानुपलालौ शर्कुं कोकं'
अ. ८.६.२

अनुभोग - भोजन का पदार्थ ।

'यदा ते मर्तो अनुभोग मानट्'
ऋ. १.१६३.७, १०.७.२, वाज.सं. २९.१८, का. सं. (अश्व) ६.३, तै.सं. ४.६.७.३, नि. ६.८

अनुमतिः - (१) अनुकूल मति देने वाला प्रभु ।

'अनुमते मृडया नः स्वस्ति ।'
ऋ. १०.५९.६

(२) अनु + मन् + क्तिन् = अनुमति (मन् के 'न्' को लोप)। जिसका अनुमान किया जाय । (अनुमानात् अनुमतिः) (३) कलाहीन चन्द्रमा, (४) पौर्णमासी-पक्ष के चौदहवें दिन पौर्णमासी तो नहीं है । (५) अनुकूल मति रखने वाली पत्नी ।

'अन्विदनुमते त्वं मन्योसं शं च नस्कृधि
क्रत्वे दक्षाय ना हिनु प्रण आयूंसि ता रिषः'
वाज.सं. ३४.८,

हे अनुमते, (पूर्णिमा का चन्द्रमा) तू हमारी उक्ति समझ जो कुछ हमारा अनुमन्तव्य हो (अनु इदं मन्यासै) वह तथा हमारा कल्याण कर (शं)। संकल्प की सिद्धि के लिए आगे बढ़ा (हिन)। (अन्य अर्थ)

हे अनुकूलमति रखने वाली पत्नी (अनुमते), तू मेरे अनुकूल चिन्तन कर (अनु मन्यासै) और तू हमें सुख दे । तू हम सबकी सन्तान के लिए (क्रत्वे) वृद्धि पर अन्न प्रदान कर(दक्षाय हिनु) और तू हम सबों की आयुओं को सुदीर्घ कर (नः आयूंसि तारिषद्)

(६) अनुमति और राका में दो नाम देवपत्नी और विद्वानों की स्त्री के हैं । (८) ऐ.ब्रा. ७.२.१० में पौर्णमासी का प्रथम भाग अनुमति और अन्तिम भाग राका है ।

(९) चतुर्दशी का अन्तिम आठवां प्रहर मिलकर चन्द्रमा का पूर्ण काल है। इन के पहले दो प्रहरों में चन्द्रमा की कला कुछ न्यून रहती है और अन्तिम दो प्रहरों में चन्द्र पूर्ण कला से युक्त रहता है । जिसे राका कहते हैं । पहले दो पहर के चन्द्रमा का ही नाम अनुमति है ।

(१०) अनुमति नामक सभा (११) एक दूसरे के अनुकूल हित-साधन की मति ।

'अन्वद्य नो अनुमतिः
यज्ञं देवेषु मन्यताम्'
अ. ७.२०.१, मै.सं. ३.१६.४; १८९.१०, ३.१६.५; १९१.१८, ४.१२.६; १९४.१५, शां.श्रौ.सू.९.२७.२, कौ.सू. ४५.१६

'अनुमती राका इति देवपत्न्यौ-नैरुक्ताः
इयं वा अनुमतिः। स यस्तत्कर्म
शंन्कोति कर्तुं यच्चिकीर्षति-
इयं ह अस्मै तदनुमन्यते ।'
श. ब्रा. ५.२.३.४

(१२) प्रतिनिधि या लोकसभा भी अनुमति देती है, विधि निर्माण करती है ।

इसी निर्वचन से स्त्री भी राका या अनुमति है । पुरुष अपने घर के सब कार्य अपनी स्त्री की अनुमति से करता है । यास्क के अनुसार 'अनुमननात्' अनुमति है। जो स्त्री पति की अभिलाषा के अनुकूल ही पुत्र का निरन्तर चिन्तन करती है वह अनुमति कहलाती है ।

'प्रजापतिरनुमतिः
सिनीवाली अचीक्लृपत्'
अ. ६.११.३

अनुमद्यमानः - बार बार स्तुति किया जाकर।

'रेभैः उदेति अनुमद्यमानः'
ऋ. ७.६३.३

अनुन्यमानः - सबको अनुमति देने वाला पुरुष ।

'अनु मन्यतामनुमन्यमानः'
अ. ७.२०.३, तै.सं. ३.३.११.४

अनुमन्यासै - अनु + मन् का लेट् म.पु. ए.व. में यह रूप होता है । 'वैतोऽन्यत्र' सूत्र से ऐकार । अर्थ है-समझ ।

'अन्विदमनुमते त्वं मन्यासै शं च नस्कृधि'
अ. ७.२०.२, वाज.सं. ३४.८, तै.सं. ३.३.११.३, ४.४.१२.५, ७.१५.५, मै.सं. ३.१६.४: १८९.१०,

३.१६.५; १९१.८, ४.१२.६ः १९४.१५, का.सं. १३.१६.२२.१५, तै.ब्रा. ३.१.३.३, १२.१.१, ३.४, तै.आ. ४.११.२, आश्व.श्रौ.सू. ४.१२.२, शां.श्रौ.सू. ९.२७.२, नि. ११.३०

अनुमाद्य – (१) वह पुरुष जिसके हर्ष में और भी हर्षित होते हैं –

'पुंसः कृष्टीनामनुमाद्यस्य'

ऋ. ७.६.१, साम.१.७८

(२) प्रतिदिन स्तुति योग्य ।

(३) हर्ष का अनुभव कराने वाला ।

'अस्माभिरिन्द्रो अनुमाद्यो भूत्'

ऋ .६.३४.२

अनुमाद्यासः – हर्ष कारक-सूर्य की किरणों का विशेषण ।

'चित्रा एतग्वा अनुमाद्यासः'

ऋ. १.११५.३, मै.सं. ४.१०.२ः १४७.३, तै.ब्रा. २.८.७.१

चित्र विचित्र वर्ण वाले शवल वर्ण वाली किरणें भी उक्तनील वर्ण की किरणों के अनुसार ही (एतग्वा) प्राणियों को अधिक हर्षकारक होती हैं ।

अनुम्रोक – चोरों के पीछे चोरों के कामों का अनुसरण करने वाला ।

'म्रोकानुम्रोक पुनर्वो यन्तु'

अ. २.२४.३

अनुम्लोचन्ती – (१) रात्रि के समान अन्धकार करने वाली, (२) सब को सुना देने वाली या (३) वश करने वाली शक्ति ।

'प्रम्लोचन्ती चानुम्लोचन्ती चाप्सरसौ'

वाज.सं. १५.१७, वाज.सं.(का.) १६.४.९, तै.सं. ४.४.३१, का.सं. १७.९श, .ब्रा. ८.६.१.१८

अनुया – अनु +या +क्विप् =अनुया । (१) संकोच करने की क्रिया । (२) चोर डाकुओं का पीछा करने वाला विभाग ।

'अनुया रात्र्या रात्रीं जिन्व'

वाज.सं. १५.६

अनुयाज – (१) आशानुरूप कर्म फल प्राप्त करने के लिए सकाम कर्मयज्ञ ।

'येषां प्रयाजा उत वानुयाजां'

अ. १.३०.४, तै.ब्रा. ३.७.१०.४, आप.श्रौ.सू. १४.३२.५.

(२) प्रधान मन्त्रों के बाद आने वाले मन्त्र । 'प्रयाज' मन्त्र यज्ञ के मुख्य भाग हैं और अनुयाज उनके बाद पढ़े जाते हैं । इन सब मन्त्रों का उच्चारण कर सोमरस के सिवा अन्य सामग्रियों की आहुति दी जाती हैं ।

ऐतरेय ब्राह्मण में ३३ देव असोमय बतलाए गए हैं । उनमें ११ प्रयाज ११अनुयाज और ११ उपयाज हैं । तनूनपात और नराशंस का विकल्प मान ११ आप्ती देवता प्रयाज हैं तथा देवीर्द्वारः, उषासानक्ता,देवीजोष्ट्री देवी ऊर्जाहुती, दैव्याहोतारा, तिस्रो देवीः, वर्हिः, नराशंस, वनस्पति, बर्हिर्वारिहीनाम् ही नाम और अग्निः स्विष्टकृत् यही ११ अनुयाज हैं ।

कुछ विद्वान् कहते हैं कि प्रयाज और अनुयाज देवता अग्नि के वाचक हैं । ब्राह्मण ग्रन्थों में अग्नि, छन्द, ऋतु,पशु, प्राण और आत्मा को प्रयाज, तथा अनुयाज देवताओं को ध्येय देवता माना गया है । परन्तु वेद के अनुसार ये मन्त्र अग्नि देवता के ही वाचक हैं । अन्य छन्द आदि अग्नि के विशेष मात्र हैं ।

'प्रयाजान् मे अनुयाजाँश्च केवलान्'

ऋ. १०.५१.८, नि. ८.२२, कौ.ब्रा. १.२

(३) कर्मानुरूप प्राप्तव्य फल ।

अनुराध – (१) आराधना करने योग्य (२) कार्य सिद्धि करने वाला ।

'इन्द्रं वयमनूराधं हवामहे'

अ. १९.१५.२

(अराधना करने योग्य इन्द्र को हम बुलाते हैं ।)

अनुराध्य – सुखपूर्वक समृद्ध होना ।

'अनुराध्यास्म द्विपदा चतुष्पदा'

अ. १९.१५.२

अनुरुध् – अनु +रुध् +क्विप् । अनुरोध करने वाला ।

'वर्णायानुरुधम्'

वाज.सं. ३०.९, तै.ब्रा. ३.४.१.४.

अनुरूप – (१) अन्त की तीन ऋचाओं का पाठ (२) योग्यता के अनुकूल ।

'प्रत्याश्रावो अनुरूपः'

वाज.सं. १९.२४

अनुबुद्ध – पीछे से ज्ञात किया हुआ पदार्थ ।

'उपाहृतमनुबुद्धम् निखातं'

अ. १०.१.१९

अनुल्बण – नञ् +उल्वण । सौम्य, कोमल, दुःख न देने वाला ।
'अनल्बणेन चक्षसा'
ऋ. ८.२५.९

अनुवर्त्मा – अनुकूल मार्ग पर चलने वाला ।
'मम यातमनुवर्त्मान एत'
अ. ३.८.६, ६.९४.२

अनुवष्टि – (१) खा जाता है–सा. (२) कामना करता है–दया. ।
'घृतस्य विभ्राष्टिमनु वष्टि शोचिषा'
ऋ. १.१२७.१, अ. २०.६७.३, वाज.सं. १५.४७, का.सं. २६.११, ३९.१५
(अग्नि घृतमिश्रित आज्य के सारे अंश को (विभ्राष्टिम्) भी अपनी ज्वाला से खा जाता है) राजा घृत की दीप्ति से राज्य की तेजस्विता की (विभ्राष्टिम्) कामना करता है (अनुवष्टि)।

अनुव्रत – (१) अनुकूल नियमपूर्वक रहना ।
'अनु व्रताय निमितेव तस्थुः'
ऋ. ३.३०.४
(२) अपने अनुकूल नियमव्रत पालन करने वाला उत्तम बुद्धि का उत्पादक आचार्य आदि, (३) जिसका सत्याचरण व्रत अनुकूल हो ।
'त्रिर्वर्तियातं त्रिरनुव्रते जने'
ऋ. १.३४.४
(हे स्त्री पुरुषो, अपने आचार्य के अधीन तीन बार अर्थात् बार बार रहो ।)

अनुव्रता – मनोनुकूल सभी गृह कार्य और गृहस्थ व्रतों का पालन करने वाली स्त्री ।
'प्रियवादिन्यनुव्रता'
अ. ३.२५.४
'अनुव्रतामप जायामरोधम्'
ऋ. १०.३४.२

अनुवित्त – अनु +विद् +क्त । गुरु परम्परा या वंश परम्परा से प्राप्त ।
'अयं पन्था अनुवित्तः पुराणः'
ऋ. ४.१८.१

अनुबुद्ध – संसार देखने के बाद जिसे परमेश्वर का बोध हुआ हो ।
'यस्य वीर्यं प्रथमस्यानुबुद्धम्'
अ. ४.२४.६

अनुबुध्य – अनुग्रह करना, कृपा करना ।
'प्रजापतेऽनु मा बुध्यस्वेति'
अ.९.१.२४

अनुब्रुवाणः – प्रतिदिन प्रवचन या पाठ करता हुआ ।
'अनुब्रुवाणो अध्येति न स्वपन्'
ऋ. ५.४४.१३

अनुवृजौ – पसुलियों के दोनों भाग ।
'भगस्यास्तामनूवृजौ'
अ. ९.४.१२

अनुवेनन् – पुनः कामना करता हुआ ।
'पुराणां अनुवेनन्तम्'
ऋ.१०.१३५.२

अनुशकन् – अनुकरण कर सका ।
'न तत्ते अन्यो अनुवीर्यं शकन्'
ऋ. १०.४३.५, अ.२०.१७.५
हे इन्द्र या परमेश्वर । तेरा सूर्य को विजय करने वाला वह बल (ते तत् वीर्यम्) तेरे सिवा अन्य अनुकरण नहीं कर सकेगा या सका)।

अनुशस् – अनुगामी होकर शासन करना ।
'ये चेमां अनुशसे'
ऋ. ५.५०.२

अनुशिश्रथः – शिथिल करो ।
'माभ्यां गा अनु शिश्रथः'
ऋ. ४.३२.२३
इन अध्यापिका तथा उपदेशिका की शिक्षा द्वारा राष्ट्र के धर्म को शिथिल न कर ।

अनुशी – अनु +शीङ् (सोना) = अनुशी। संभोग करना ।
'सुतिका अनुशेरते'
अ. ८.६.१९

अनुष्टुप् छन्द – (१) द्वात्रिंशदक्षरा अनुष्टुप् । (३२ अक्षरों का अनुष्टुप् छन्द हैं)।
(२) प्रजापति ।
'प्रजापति वर्ग अनुष्टुप्'
तै. आ. ४.८.९
(३) ३२ वर्षों तक इन्द्रियों और बलों का रक्षक ब्रह्मचारी ।
'अनुष्टुप् छन्द इन्द्रियम्'
वाज.सं. २१.१४, मै.सं. ३.११.११: १५८.३ का.सं. ३८.१०, तै.ब्रा. २.६.१८ .२.

अनुष्ठाता - (१) अनुष्ठान करने वाला ।

(२) भृत्य, कर्मकर, सेवक ।

'बृहच्च रथंतरं चानुष्ठातारौ'

अ. १५.४.२

अनुष्ठा - (१) बहने वाली नदी ।

(२) एक दूसरे के पीछे स्थित जल की तह ।

'विश्वा अनुष्ठाः प्रवणेषु जिघ्नते'

ऋ. १.५४.१०

(वायु या विद्युत ही एक दूसरे के पीछे स्थित जल की तहों को आघात करके नीचे प्रदेशों में गिरा देता है ।)

अनुष्ठु - अनु +स्था +कु । अर्थ - अनुष्ठान कर्म । टाप् विभक्ति जोड़ने से तृतीया एक वचन में अनुष्ठया होता है ।)

'त्वया वयं सधन्य स्त्वोताः
तव प्रणीत्यश्याम वाजान् ।
उभा शंसा सूदय सत्यताते
अनुष्ठुया कृणुहि अह्रयाण ।'

ऋ. ४.४.१४, तै.सं. १.२.१४.५, मै.सं. ४.११.५, १७४.५, का.सं. ६.११

हे अग्नि देव, हे अल्लजितगमन (अह्रयाण) हम स्तुति कर्त्ता तेरी कृपा से सधन्य या समान रूप से धनी हैं । तेरे द्वारा हम रक्षित हैं (त्वोताः) तथा तेरी कृपा से हम अन्न पाते हैं (प्रणीती वाजान् अश्याम) । हे यज्ञ को जानने वाले अग्नि, दोनों शत्रु निकट या दूर के या सामने या पीठ पीछे निन्दा करने वाले (उभाकांसा) शत्रुओं की हत्या कर और हमारे इस यज्ञ के अभीष्ट अर्थ को कर्म द्वारा कर (अनुष्ठया कृणुहि) ।

स्वामी दयानन्द का अर्थ-हे राजन् , आप के द्वारा समान धनी और आप से संरक्षित होते हुए हम आप की सुनीति से बहुविध अन्नों का भोग करें । हे सत्य प्रचार कर (सत्यताता) तथा श्रेष्ठ कर्मों के करने वाले राजन् । आप स्वदेशी एवं विदेशी दोनों प्रकार के पाप प्रशंसक शत्रुओं को नष्ट करें तथा धर्मानुष्ठान पूर्वक राज्य करें । (अनुष्ठया कृणुहि) ।

अनस्वधम् - (१) अपनी अपनी शक्ति या अन्न या वेतन के अनुसार ।

'ये अद्रोघमनुष्वधं श्रवो मदन्ति यज्ञियाः'

ऋ. ५.५२.१

(२) अन्न आदि धारणपोषण के सामर्थ्य के अनुसार ।

'क्रत्वा महां अनुष्वधम्
भीम आ ववृधे शवः।'

ऋ. १.८१.४

(३) स्वधा से युक्त (सोम का विशेषण) सोमरस (४) अन्न खाने के पश्चात् (५) स्वधा का अर्थ सवनीय पुरोडाश के रूप में अन्न है । (६) पितरों को जो पिण्ड दान दिया जाता है वह भी स्वधा है । अतः पिण्ड दान के पश्चात् दिया गया अन्न भी अनुष्वधम् है । (७) अन्न उत्पन्न करने के लिए ।

'मरुत्वा इन्द्र वृषभो रणाय
पिबा सोममनुष्वधं मदाय
आ सिञ्चस्व जठरे मध्व ऊर्मिं
त्वं राजाऽसि प्रदिवः सुतानाम्'

ऋ. ३.४७.१, वाज.सं. ७.३८ (का.) २८.१०, तै.सं. १.४.१९.१, मै.सं . १.३.२२: ३८.१, का.सं.४.८, ऐ.ब्रा.५.४.१४, कौ.ब्रा. २३.१, ऐ.आ. १.२.२.१३, ५.१.१.८, नि. ४.८

हे इन्द्रह्ल तू मरुतों या सैनिकों से युक्त होकर वर्षा का बरसाने वाला (मरुत्वाँ वृषभः) रण तथा मद या जोश के लिए अन्न खाने के पश्चात् सोम रस का पान कर (अनुष्व सोमं पिब) एवं सोम के संघात को अपने उदर में असिञ्चित कर (मध्य ऊर्मिं जठेर असिच्च) क्योंकि कल बनाए सोम रस का (प्रादिवः सुतानाम्) तू राजा है (राजा असि) । अर्थात् आजा ही का नहीं कल्ह के भी सोमरस् का तू राजा है ।

'अनुष्वधमा वह मादयस्व'

ऋ. २.३.११

अनुषत्य - सदा सत्य व्यवहार का अनुसरण करने वाला ।

'हविष्मन्तो अनुषत्यं स्वर्विदम्'

ऋ. ३.२६.१

अनुस्पष्टः - (१) दिनों दिन दृष्टिगोचर होने वाला (२) साक्षात् । अनु = स्पश् + क्त = अनुस्पष्ट । (स्पश् धातु का अर्थ है देखना,)

'अनुस्पष्टो भवत्येषो अस्य'

ऋ. १०.१६०.४, अ. २०.९६.४

अनुसर्प - कुटिल पुरुष का साथी ।
'सर्पानुसर्प पुनर्वो'
अ. २.२४.४

अनुस्पद् - (१) अनुकूलता से बहना, (२) अनुकूल होकर चलना ।
'समानोअध्वा प्रवताम् अनुष्यदे'
ऋ.२.१३.२

अनुसृष्ट - अनुकूल चलने वाला पुरुष ।
'स्वतवद्भयोऽनुसृष्टान्'
वाज.सं. २४.१६

अनुसेषिधत् - (क्रि.) अनुकूल चलावे ।
'षट् युक्तां अनुसेषिदत्'
ऋ. १.२३.१५
(राजा अपने छः अमात्यों को सूर्य छः ऋतुओं को तथा जीव छः इन्द्रियों को अपने अनुकूल चलावें ।)

अनुहव - देखा देखी स्पर्द्धा करना ।
'अनुहवं परिहवम्'
अ. १९.८.४, आप. मं.पा. १.१३.५

अनुहूत - अनुशिष्ट, शिक्षित ।
'अनुहूतः पुनरेहि'
अ. ५.३०.७

अनूक - रीढ ।
'अनूकादर्षणीरुष्णिहाभ्यः'
अ. ९.८.२१

अनूक्य - शरीर का सन्धिभाग, जोड़ (२) पीठ का मोहरा ।
'कीकसाभ्यो अनूक्यात्'
ऋ. १०.१६३.२, अ. २.३३.२, २०.९६.१८, आप. मं.पा. १.१७.२
'ऋचो यस्यानूक्यम्'
अ. ९.६.१

अनूकाश - (१) अनुरूप प्रकाश, (२) स्वच्छ आचरण ।
'अनुकाशेन बाह्यम्'
वाज.सं. २५.२

अनूक्या - हंसली की हड्डी ।
'खलःपात्रं स्फ्यावंसावीषे अनूक्ये'
अ. ११.३.९

अनूचानः - विद्वान् , बहुश्रुत ।
'यो अनूचानो ब्राह्मणोयुक्त आसीत्'
ऋ. ८.५८.१

अनूच्या - आसन्दी (चौकी,खाट) की दाहिनी बाईं ओर की पाटी ।
'बृहच्च रथंतरं चानूच्ये'
अ. १५.३.५

अनूची - (द्वि) अनु + अञ्च् + क्विप् + ङीष् = अनूची । (१) एक दूसरे को अनुसरण करने वाली । रात्रि और उषा का विशेषण ।

'रुशद्वत्सा रुशती श्वेत्यागात्
औरगु कृष्णा सदनान्यस्याः।
समान बन्धू अमृते अनूची
द्यावा वर्णं चरत आमिनाने ।'

ऋ. १.११३.२, साम. २.११००., नि. २.२०
श्वेत वर्णा दीप्ता (रुशती) एवं सूर्यरूपी वत्स वाली रुशद्वत्सा) उषा आई । इस उषा को काली रात ने स्थान दिये (सदनाति औरक्) । रात्रि और उषा दोनों के सूर्य ही समान रूप से बन्धु हैं । दोनों मृत्यु-रहित हैं तथा दोनों एक दूसरे का अनुसरण करने वाली हैं (अनूची) या सूर्य की गति अनुसार चलने वाली हैं । ये सभी प्राणियों के वर्ण को या अपने रूप को बदलने वाली हैं । (वर्णम् आमिनाने)। उषा रात्रि का अंधकार एवं रात्रि उषा का प्रकाश हरती है । इस प्रकार ये दोनों प्रकाशमान अन्तरिक्ष मार्ग से चलती हैं । (द्यावा चरतः)

अनूचीन - अनुकूल ।
'अनूचीना जीविता मानुषेभ्यः'
ऋ. ४.५४.२, वाज.सं. ३३.५४

अनूधाः - नञ्+ऊधस् । स्तन रहित पुरुष जो द्यावा पृथिवी को उत्पन्न करता है ।
'अनूधा यदि जीजनत् अधा च नु'
ऋ. १०.११५.१, साम. १.६४

अनून - नञ् + ऊन (१) किसी प्रकार किसी से कम नहीं । (२) हीनता से रहित ।
'अनूनो नाम वा असि ।'
अ. ७.८१.३
(३) त्रुटि-रहित, (४) अग्नि, (५) ज्ञानी पुरुष, (६) परमेश्वर (७) अखण्डव्रती शिष्य ।

'अनुनमग्निं पित्रोरुपस्थे'

ऋ. १.१४६.१

अनूनवर्चाः - नञ् +ऊन =अनून, अनून +वर्चाः । सबसे अधिक तेजवाला युक्त अग्नि (२) सूर्य, (३) देहगत जीवातमा ।

'अनून वर्चा उदियर्षिभानुना'

ऋ. १०.१४०.२, साम.२.११६७, वाज.सं. १२.१०७, तै.सं. ४.२.७.३, मै.सं. २.७.१४: ९५.१४, का.सं. १६.१४, श.ब्रा. ७.३.१.३०

अनूना - अक्षय, अन्यून ।

'श्रियो मिमीते बृहतीरनूनाः'

ऋ. ३.१.५

अनूप - अनु +वप् (बीजसन्तानार्थक) +कन् (औणादिक) =अनूप (व का सम्प्रसारण नियम से उ) । अर्थ है - (१) पर्जन्य, मेघ वर्षा द्वारा अनुवपन करता है । (२) वायु (३) आदित्य । वायु और आदित्य भी यथासमय जल द्वारा अनुगृहीत करते हैं । (४) जिससे जल लेकर अनुवपन किया जाय (एतस्मादेव उदकेन अनूप्यते) नदी, समुद्र ।

'अनूपो महिषे नाम्बु
प्रापदेशेतुवाच्यवत्मेदिनीकोश
जलप्रायमनूपं स्यात् अमरकोश
नाना द्रुमलता वीरुत् निर्धरप्रान्तशीतलैः'
वनैर्व्याप्तमनूपंतत् सत्यै
ब्रींहिय वादिभिः-अमरकोश

(५) अनुगता आपः यस्मिन् (जिस में जल अनगुत हो) । अनु +आप् +अ =अनूप । निरुक्तकार ने वप् धातु से ही अनूप का बनना माना है ।

(६) जो उदक (जल) से अन्वाप्त हो (अनु+आप् +इख =अनूप)

आधुनिक अर्थ-(१) जलप्राय देश, (२) दल दलभूमि, (३) देश विदेश का नाम, (४) तालाब, (५) नदी, (६) पर्वत का जलप्रदेश, (७) महिष (८) मेढ़क, (९) हाथी । -

'अनूपे गोमान् गोभिरक्षाः।
सोमो दुग्धाभिरक्षाः।
समुद्रं न संवरणान्यग्मन्
मन्दी मदाय तोशते ।'

ऋ. ९.१०७.९,साम. २.३४८, नि. ५.३

सोम जलप्राय देश में गौओं के साथ रहता है। वह सोम सभी गायों से निकल कर इसी प्रकार इन्द्र के मद के लिए भ्रवता है जैसे जल (संवरणानि) सिमिटकर समुद्र में आते हैं । उससे तृप्त होकर इन्द्र शत्रुओं का नाश करते हैं ।

अन्य अर्थ,

जब जलप्राय देश में (अनूपे) गोस्वामी गायों के साथ रहता है (गोभिः अक्षाः) तब दुही हुई गायों से भी दूध झरता है । (दुग्धाभिः सोमः अक्षाः) । जैसे जल चारों ओर से समुद्र को प्राप्त होते हैं उसी प्रकार खाई हुई घास आदि का रस रूप दूध गाय के स्तनों में प्राप्त होता है । तब प्रसन्न वदन गोस्वामी तेज धारण करने के लिए (मदाय) निर्बलता दूर करता है (तोशते) ।

अनूप्य - (१) अनूप +यत् =अनूप्य । जलमय देश का जल ।

'शमु सन्त्वनूप्याः'

अ. १.६.४

(२) अनूप देश में उत्पन्न जल-धाराएं ।

'शं ते सन्तु अनूप्याः'

अ. १९.२.२

अनूर्मि - नञ् +ऊर्मि =अनूर्मि । भय पीड़ा रहित, (२) अविक्षुब्ध, (३) गम्भीर (४) तरंग या धारा से रहित प्रशान्त अगाध इन्द्र ।

'अनूर्मि वाजिनं यमम्'

ऋ. ८.२४.२२. अ. २०.६६.१

अनूपाः त्रयः - (१) अनुकूल होकर जीवों की रक्षा करने में समर्थ-अग्नि, विद्युत् और सूर्य ।

'त्रयस्तपन्ति पृथिवीमनूपाः'

ऋ. १०.२७.२३, नि. २.२२

(२) पर्जन्य, वायु तथा आदित्य नामक तीन देवता जो अनुवपन करने वला व्याप्त होने वाले या प्रक्षेपण करने वाले हैं-

(३) तीन अनुग्रह करने वाले देव -मेघ, वायु तथा आदित्य ।

अनूर्ध्वभाः - (१) ऊपर को उठने वाली दीप्तियों से रहित (२) अग्नि आदि से रहित, (३) अतेजस्वी अल्पदीप्ति अग्नि के समान स्वल्प शक्ति वाला

दीनजन ।

'अनूर्ध्वभासः सदमित् तुतुर्यात्'

ऋ. ५.७७.४

अनूषत – लट् (वर्तमान) में प्रयोग । अर्थ है – स्तुति करते हैं ।

'गोभिः क्राणा अनूषतः'

नि. ४.१९

स्त्रोतों से इन्द्र के अभिमुख होते हुए स्तुति करते हैं ।

वेद-प्रतिपादित कर्मों को करते हुए (गोभिः क्राणाः)स्तुति करते हैं (अनूषत) ।

अन्त्यू – अन्ति +ऊति । समीपस्थ रक्षक ।

'अर्चामि सुम्नयन्नहम्
अन्त्यूतिं मयोभुवम्'

ऋ. १.१३८.१

अनृक्षर – नञ् + ऋक्षर (कंटक) =अनृक्षर । ऋक्ष् +करच् = ऋक्षर । अर्थ है कण्टक ।

'स्योना पृथिवि भवानृक्षरा निवेशनी
यच्छा नः शर्म सप्रथः।'

ऋ. १.२२.१५, वाज.सं. ३५.२१, ३६.१३, मै.सं. ४.१२.२: १८०.१६, का.सं. ३८.१३, तै.आ. १०.१.१०, आप.श्रौ.सू. १६.१७.१७. साम.मं.ब्रा. २.२.७, हि.गृ.सू. २.१७.९, आप.मं.पाठ २.१५.२,१ ८.८, नि. ९.३२

(हे पृथिवी, तू सुखकारी हो (स्योना भव), निष्कण्टक एवं निवास योग्य बन (अनृक्षरा निवेशनी) । सब ओर चौड़ा बन हमें कल्याण दे ।).

'अनृक्षरो वरुण साधुरस्ति ।'

ऋ. २.२७.६

अनृजु – नञ् +ऋजु = अनृजु । कुटिल, जो +ऋजु, सरल या सीधा न हो ।

'मा भ्रातुरग्ने अनृजो ऋणं वेः'

ऋ. ४.३.१३

अनृण – नञ् +ऋण =अनृण । ऋण रहित ।

'अनृणा अस्मिन्ननृणाः परस्मिन्'

अ. ६.११७.३, तै.ब्रा. ३.७.९.८, तै.आ. २.१५.१, आप.श्रौ.सू. १३. २२.५,

ऋण (कर्ज) तीन प्रकार का कहा गया है ।–

'जायमानो वै ब्राह्मणः त्रिभिः ऋणैः ऋणवान् जायते, ब्रह्मचर्येण ऋषिभ्यो, यज्ञेन देवेभ्यः प्रजयापितृभ्यः'

तै.सं. ६.३.१०.५

ऋणं ह वै जायते योऽस्ति स जायमान एव देवेभ्य ऋषिभ्यः पितृभ्यो मनुष्येभ्यः। स यदेव यजेत तेन देवेभ्य ऋण जायते । तद्धयेभ्य एतत्करोति यदेनान् यजते, यदेभ्योजुहोति । अथ यदेवानुब्रुवीत तेन ऋषिभ्य ऋणं जायते । तद्धयेभ्यः एतत् करोति ऋषीणां निधिगोप इति हयनूचानमाहुः। अथ यदेव प्रजामिच्छेत तेन पितृभ्य ऋणं जायते । तद्धयेभ्य एतत् करोति यदेषां सन्तताऽव्यवच्छिन्ना प्रजा भवति । अथ यदेव वासयेत-तेन मनुष्येभ्य ऋणं जायते तद्धदेभ्यः एतत् करोति् यदेनान् वासयते यदेभ्यो अशनं ददाति । स य एतानि सर्वाणि करोति, स कृतकर्मा , तस्य सर्वमाप्तम्, सर्व जितम् ।

श. ब्रा. १.७.२.१-५

ब्राह्मण उत्पन्न होते ही तीन ऋण से ऋणवान होता है । ब्रह्मचर्य से विद्याभ्यास कर ऋषियों का, यज्ञों से देवों का और प्रजा से पितृलोगों का ऋण शोध होता है । तै. सं.

जो भी उत्पन्न होता है उस पर देव, ऋषि, पितर और मनुष्य चारों के ऋण हो जाते हैं । यज्ञों से देवों का ऋण उतरता है, अनुप्रवचन और अध्ययन से ऋषियों का ऋण उतरता है । विद्यावान् पुरुष ऋषियों का 'निधिगोपा' कहलाता प्रजाओं से पितरों का ऋण उतरता है। इससे प्रजातन्तु टूटता नहीं । मनुष्यों के घरों में अतिथि रूप से रहने और भोजन करने से मनुष्यो का ऋण होता है । घर पर अतिथियों को वास देने और भोजन वस्त्र देने से ऋण चुकता है । जो इन सब कार्यों का करता है वह कृतकर्मा है । उसे सब प्राप्त होता है । वह सब पर विजय प्राप्त करता है ।

अनृतद्विट् – असत्य व्यवहार का द्वेषी, सत्य का विरोध न करने वाला ।

'घोरासो अनृतद्विषः'

ऋ. ७.६६.१३

अनृतदेवः – (१) असत्य बात का प्रकाश करने वाला, (२) ऋत, सत्यानुकूल देन लेन या व्यवहार न करनेवाले ।

'यदिवाहम् अनृत देव आस'

ऋ.७.१०४.१४, अ.८.४.११

(३) असत्य को ही इष्ट मानने वाला ।

अनृत - नञ् +ऋत =अनृत । अर्थ (१) जल से भिन्न वाष्प, (२) सत्य से भिन्न असत्य (३) अप्रकाशमयी छाया

'यद्ध त्यन्मित्रावरुणावृतादधि
आददाथे अनृतं स्वेन मन्युना
दक्षस्य स्वेन मन्युना'

ऋ. १.१३९.२

(हे मित्र और वरुण, स्नेहवान् और दुःख विनाशक जनो, जिस प्रकार सूर्य और चन्द्र दोनों जलमय पदार्त से (ऋतात्) भिन्न रूप वाष्प को (अनृतम्) ग्रहण कर लेते हैं (अधि आददाथे) और जिस प्रकार सूर्य चन्द्र तेजोमय प्रकाश से भी (ऋतात्) अप्रकाशमय छाया को (अनृतम्) उत्पन्न करते हैं, उसी प्रकार हे उत्तम राजपुरुष, आप लोग भी सत्य से असत्य को अपने ज्ञान बल से पृथक् कर सर्वोपरि न्याय वितरण किया करो ।)

अनृतवाक् - असत्यवादी ।

'मा ते मोच्यनृतवाङ् नृचक्षः'

अ. ४.१६.७, का.सं. ४.१६.

अनृता - असत्यवादिनी ।

'पापासः सन्तो अनृता असत्याः'

ऋ.४.५.५

अनृतस्यसेतु - मिथ्याज्ञान को बांधने वाला तामस आवरण, (२) अव्यक्त संसार, जड़ प्रकृति का सेतु ।

'गुहा तिष्ठन्तीरनृतस्य सेतौ'

ऋ. १०.६७.४, अ. २०.९१.४

अनृतुपा - नञ् +ऋतुपाः । विशेषऋतु में ही नहीं परन्तु सदा जलपान करने वाला-इन्द्र, सूर्य, (२) बिना किसी विशेष काल की अपेक्षा किए सदा एक समान विशेष काल का पालन करने वाला ऐश्वर्यवान् पुरुष ।

'स्वैर्मन्त्रैरनृतुपा ऋतावा'

ऋ. ३.५३.८, जै.उप.ब्रा. १.४४.६,१०

अनृते - ब्रह्मशक्ति से निकली अनृत नामक दो विक्षेपक वृत्तियां ।

'मातुष्टे किरणौ द्वौ निवृत्तः पुरुषानृते

अ. २०.१३३.२, शां.श्रौ.सू. १२.२२.१.

अनेजत् - (१) अपनी अवस्था से कभी च्युत न होने वाला, (२) परिणाम-रहित ब्रह्म

'अनेजदेकं मनसो जवीयः'

वाज.सं. ४०.४, इश.उप. ४.

अनेद्य - (१) अनिन्दित आचरण वाला ।

'अनेद्या अनवद्या अरिष्टाः'

ऋ. ६.१९.४

(२) अनिन्दनीय

'त्वेष रथो अनेद्यः'

ऋ. ५.६१.१३

(३) अनिन्द्य शुद्धाचारी वायु या वीर नायक ।

'असि सत्य ऋणयावानेद्यः'

ऋ. १.८७.४

(४) प्रशंस्य, उत्तम ।

'अनेद्यः श्रव एषो दधानाः'

ऋ. १.१६५.१२, मै.सं. ४.११.३; १६९.१४, का.सं. ९.१८.

अनेनाः - अनेनाः । निष्पाप

'अनेनो वो मरुतो यामो अस्तु'

ऋ. ६.६६.७

अनेहा - आघात रहित, निश्चेष्ट

'एवो ष्वस्मन्निर्ऋतेऽनिहा त्वमयस्मयान् वि चृता बन्धपाशान्'

अ. ६.८४.३

अन्येद्युः - एक दिन छोड़कर दूसरे दिन आने वाला ज्वर

'यो अन्येद्यु रुभयदद्युरभ्येति'

अ. १.२५.४, अ. ७.११६.२

अन्वेति - (१) अनुगमन करता है, प्राप्त होता है ।

'श्येनो न दीयन् अन्वेति पाथः'

ऋ. ७.६३.५, नि. ६.७

वह अन्तरिक्ष उस सूर्य को मार्ग देने के निमित्त बाज पक्षी के समान (श्येनः न) चलता हुआ (दीयन्) उनका अनुगमन करता है (अन्वेति)। अथवा - जब सूर्य श्येन की तरह बड़े वेग से गति करता हुआ (दीयन्) अन्तरिक्ष में प्राप्त होता है। (पाथः अन्वेति।)(२) आच्छादित करता है ।

'न्यङ्ङुत्तानामन्वेषि भूमिम्'

ऋ. १०.१४२.५

नीचे आता हुआ आदित्य इस बिस्तृत भूमि को प्रकाश से आच्छादित करता है (उत्तानां भूमिम् अन्वेति) ।

अन्वेतवे - अनु +एतवे =अन्वेतवे । अर्थ - अनुकरण करने के लिए ।
'स्तोमो वसिष्ठा अन्वेतवे वः'
ऋ. ७.३३.८, नि. ११.२०.

अन्योकाः - बिना घर बार का, जंगली, आवारा ।
'इमं गोष्ठं प्रविवेशा न्योकाः'
अ. १२.२.४

अन्योदर्य - अन्य के उदर से उत्पन्न ।
'नहि ग्रभायारणः सुशेवो
अन्योदर्यो मनसा मन्तवा उ।'
ऋ.७.४.८, नि. ३.३
(जिससे जल सम्बन्ध न हो वह अन्य उदर से उत्पन्न शिशु अत्यन्त सुखकारक होने पर भी अपना नहीं होता । ऐसा मन से भी न सोचें कि वह अपना होगा ।)

अप् - (१) सामान्य जल, जल, (२) अन्तरिक्ष ।
'अद्भ्यः स्वाहा'
अ. १९.४३.७, वाज.सं. २२.२५,२९, ३९.२, तै.सं. १.८.१३.३, ७.४.१४. १, मै.सं. ३.१२.१०: १६३.११, का.सं. १५.३, का.सं. (अश्व) ४.३, श.ब्रा. १४.३.२.१३, तै.ब्रा. ३.१.५.४, ८.१७.५, १२.२.६, तै.आ. (आन्ध्र) १०.६७.१, आप.श्रौ.सू. १८.१६.१२, २०.११.१७, महा.ना.उप. १९.२, कौ.सू. १०३.२,

अप अप - दूर भगाता है ।
'अपाप शक्रस्ततनुष्टिमूहति'
ऋ. ५.३४.३, नि. ६.१९

अपअप ऊहसिः - बार बार नष्ट करता है ।

अपईयमानः - गृहस्थाश्रम कर्म को प्राप्त हुए स्त्री पुरुष, (२) परमेश्वर के उपदिष्ट कर्मों का आचरण करते हुए ।
'अजिरासस्तदप ईयमानाः'
ऋ. ५.४७.२

अपकामः - (१) विफल मनोरथ, अपगत काम, जिसकी कामना या योजना सफल न हो ।
'धनुः शत्रोरपकामं कृणोति'
ऋ.६.७५.२, वाज.सं.२९.३९, तै.सं. ४.६.६.१, मै.सं. ३.१६.३: १८५.१३, का.सं. (अश्व). ६.१, नि. ९.१७
(२) नीचे जाने की कामना या वासना ।
'अपकामं स्यन्दमानाः'
अ.३.१३.३, तै.सं. ५.६.१.३, मै.सं. २.१३.१:१५२.११ का.सं. ३९.२.
(३) निन्दनीय इच्छा ।
'पापमार्छत्वपकामस्य कर्त्ता'
अ. २.१२.५

अपक्रीता - दूर देश से द्रव्य के बदले प्राप्त की हुई औषधि ।
'अपक्रीताः सहीयसीः'
अ. ८.७.११

अपगल्भ - (१) दुरभिमानी, (२) बुरे प्रकार का धृष्ट पुरुष ।
'व्यृद्धया अपगल्भम्'
वाज.सं. ३०.१७, तै.ब्रा. ३.४.१.१४.
(३) धृष्टता रहित ।
'नमो मध्यमाय च अपगल्भाय च'
वाज.सं. १६.३२, तै.सं.४.५.६.१, मै.सं. २.९.६:, १२५.४, का.सं. १७.१४.

अपगा - (१) दूर, (२) अन्यत्र जाने वाली ।
'यथा मन्नापगा असः'
अ. १.३४.५, २२.३०.१, ६.८.१-३.

अपगूढम् - छिपे छिपे ।

अपगूर्य - (१) ऊंचा उठाकर ।
(२) धमका कर, डांट डपट कर -(दया)
'उच्चैरिन्द्रो अपूगूर्य जघान'
ऋ. ५.३२.६.
(इन्द्र ने वृत्र को ऊंचा उठाकर मारा ।) -सा.
(राजा चोर व्यभिचारी आदिकों को उत्तमत या धमकाकर (उच्चैः अपगूर्य) दण्डित करे (जघान)। -दया. । गुरगुराना, गुड़ेरना आदि हिन्दी धातुओं का मूल धातु 'गूर' ही है ।

अपगूह - (क्रि.) छिपा दे ।
'मा वर्पो अस्मदप गूह एतत्'
ऋ. ७.१००.६, साम. २.९७५ तै.सं. २.२.१२.५, मै.सं.४.१०.१, १४४.५, नि . ५.८.
(हे परमेश्वर, जिस रूप में संसार की रंगस्थली में तू विद्यमान है उस रूप को हम से मत छिपा ।)-सा.

अपगूहः - गुरु धातु के म.पु. ए.व. में लोट् का रूप। अर्थ-छिपा दे ।

'मा स्मैतादृगप गूहः समर्ये'

ऋ. १०.२७.२४

हे अन्तरात्मा, तू इस आदित्य के इस प्रकार के उपकरणों को ((एतादृक्) मृत्यु के साथ संग्राम में (समर्ये) मत छिपा या मत भूल (मोस्म अपगूहः)।

अपगूहमानः - छिपाता हुआ ।

'भिषग्भ्यो रूपमपगूहमानः'

अ. १९.५६.२

अपगोह - (१) आवरक, आच्छादक, छिपाने वाला । अप+गुह+ अच् =अपगोह ।

(२) आच्छादन करने वाला अन्धकार ।

(३) आच्छादक मौन या अज्ञान ।

'स विद्वाँ अपगोहं कनीनाम्
आविर्भवन्नुदतिष्ठत् परावृक्'

ऋ. २.१५.७

वह सूर्य या विद्युत् जिस दीप्ति करने वाली किरणों के आच्छादक अन्धकार को दूर कर देता है ।

अपच्यव - (१) मूसल या ओखल से निकालना, (२)त्याग करना, (३) दान देना ।

'यत्र नारी अपच्यवम्
उपच्यवं च शिक्षते'

ऋ. १.२८.३

(जहां नारी मूसल ओखल में डालती और निकालती है या त्याग करना एवं अन्नादि का संग्रह करना जानती है)

अपचित् - बुरे मवाद का संचय जिस से फंसी होती है ।

'वाका अपचितामिव'

अ. ६.२५.१-३.

अपचितिः - (१) आदर पूजा ।

'इन्द्रियमूर्जमपचितिंस्वधाम्'

वाज.सं. २१.५८

(२) पूजा सामग्री (३) प्रजाओं का उत्पन्न होना ।

'पायुर्मेऽपचितिर्भसत्'

वाज.सं.२०.९, मै.सं.३.११.८:१५२.७, तै.ब्रा. २.६.५.५..

अपत्य - अपगत्य पितुः सकाशात् पृथगिव विस्तृतः भवति (पिता से निकलकर पृथक् विस्तृत होता है) अथवा न पतति (इसके जसके जन्म से पतति नहीं होता)

अप + तनु+यक् =अपत्य । निपातन द्वारा सिद्ध । अर्थ-सन्तान, किसी गोत्र में उत्पन्न पुत्र पौत्र या आगे की सनत्ति भी अपत्य ही है ।

(३) अपत्य-सन्तान (४) अ +पत्य । वह धन जिसका स्वामित्व किसी को न हो ।

'त्वया शूर्ता वहमाना अपत्यम्'

ऋ. १.१७४.६

'होता निषत्तो मनोरपत्ये'

ऋ. १.६८.७

अपत्य साच् - (१) पुत्र पौत्र से युक्त, (२) पुत्र पौत्र को प्राप्त होने वाला ।

'अपत्य साचं श्रुत्यं रराथाम्'

ऋ. १.११७.२३

हमें पुत्र पौत्र से युक्त, पुत्र पौत्रादि को होने, वाले बड़े भारी प्रसिद्ध और श्रवणीय गुरूपदेश द्वारा प्राप्त होने योग्य वेदज्ञानमय ऐश्वर्य (श्रुत्यम्) प्रदान करें। (रराथाम्)। पुनः-

'अपत्य साचं श्रुत्यं दिवे दिवे'

ऋ. २.३०.११

'अपत्य साचं श्रुत्यं रराथे'

ऋ. ६.७२.५

अपति - जो पति होने योग्य न हो, जो पुरुष स्त्री का पालन करने योग्य न हो ।

'अपतिः स्वपतिं स्त्रियम्'

अ. ८.६.१६

अपतिघ्नी - पति को नष्ट न करने वाली ।

'अघोरचक्षुरपतिघ्न्येधि'

ऋ. १०.८५.४४, अ.१४.२.१७, साम.मं.ब्रा. १.२.१७, पा.गृ.सू.१.४.१६, आप.मं.पा. १.१.४, हि.गृ.सू.१.२०.२.

पुनः-

'इन्द्रापतिघ्नीं पुत्रिणीम्'

अ. १४.१.६२

अपद - ऐसा स्थान जहां पैर नहीं रखा जा सके। (२) अगम्य आकाश ।

'अपदे पादा प्रतिधातवेऽकः'

ऋ. १.२४.८, वाज.सं. ८.२३, तै.सं. १.४.४५.१, मै.सं. १.३.३९: ४५.४, का.सं. ४.१३, श.ब्रा. ४.४.५.५.

उस परमेश्वर ने सूर्य के किरणों के प्रत्येक पदार्थ तक पहुँचने के लिए अगम्य आकाश में भी अवकाश बहना दिया है ।

अपद्रा - अप + द्रा (भागना) = अपद्रा । दूर भागना ।

Draw धातु की द्रा से समानता विचारणीय है ।

'अप्रद्रान्तु अरातयः'

ऋ. १०.८५.३२, अ. ६.१२९.१-३, १४.२.११, साम.मं.ब्रा. १.३.१२, आप.मं.पा. १.६.१०.

अपन्नगृहः - विपत्ति रहित गृह वाला ।

'अग्नेर्वोऽपन्नगृहस्य सदसि सादयामि'

वाज.सं. ६.२४, तै.सं. १.३.१२.१, मै.सं. १.३.१:२९.१, का.सं. ३.९, श.ब्रा. ३.९.२.१३, आप.श्रौ. सू. ११.२०.१३.

अपप्रथन्त - खूब बढ़ाते हैं । 'प्रथ' धातु बढाना अर्थ में प्रयुक्त हैं । लट् वर्तमान के अर्थ में लङ् (भूत) का यह प्रयोग है ।

'धर्मणे कं स्वधया पप्रथन्त'

ऋ. १०.८८.१.

धारण, रक्षा या अविच्छेद के लिए (धर्मणे) सुखकारक अग्नि को (कम्) अन्न, हवि और पुरोडाश से (स्वधया) देवता या विद्वान् लोग बढ़ाते हैं (अपप्रथन्त)।

अपपाप - पाप से प्राप्त ।

'अपपापं परिक्षवम्'

अ. १९.८.५,

अपपित्व - (१) अपचय, (२) दूर होना, (३) भागना, (४) पीछे हटना ।

'अपपित्वं चिकितुर्न प्रपित्वम्'

ऋ. ३.५३.२४.

अपपुष् - अ + पपुष् । नहीं पीने वाला ।

'यथोदकमपपुषः'

अ. ६.१३९.४

अपप्रोथ - दूर करना ।

'अपप्रोथन्तः सनुतर्हुरश्चितः'

ऋ. ९.९८.११

अपभर्तवै - त्यागने योग्य ।

'नैषा गव्यूतिः अपभर्तवा उ'

ऋ.१०.१४.२, अ.१८.१.५०, मै.सं.४.१४.१६ :२४२.१०

अपभूः - अपमानित, तिरस्कृत ।

'माकिर्देवानाम् अप भूरिह स्याः'

ऋ. १०.११.९, अ.१८.१.२५.

अपमित्य - अप + मङ् (प्रतिदान अर्थ में) अपमान योग्य (२) प्रदान करने योग्य । अपमातव्यम् अपाकर्तव्यम् करने योग्य अपमातव्य अपाकर्त्तव्यम् धान्यदिकम् (वह ऋण जो भुगताने योग्य है)

'अपमित्यमप्रतीत्तं यदस्मि'

अ. ६.११७.१

अपम्लुक्त - बहुत पापों से मुक्त ।

'अपम्लुक्तं बहुकृच्छ्राचरन्तम्'

ऋ. १०.५२.४

अपमृष्ट - अपमार्जित, नष्ट ।

'अपमृष्टं मनुष्यैसानि'

अ. ६.११३.३

अपर्तु - (१) अप + ऋतु । ऋतु के विपरीत (२) सत्य ज्ञान स्वरूप ब्रह्म के ज्ञान या सत्यमय स्वभाव से शून्य प्रकृति ।

'यत्र विजायते यमिन्यपर्तुः'

अ. ३.२८.१

अपराज - पीछे उत्पन्न । अपर + जन् + ड

'नमः पूर्वाजाय चापरजाय च'

वाज.सं. १६.३२. तै.सं. ४.५.६.१. मै.सं. २.९.६: १२५.३, का.सं. १७ .१४.

अपरञ्चन् - कदापि ।

अपरम् - उत्कृष्ट, अनुत्तर, जिससे बढ़कर दूसरा कोई न हो । आधुनिक अर्थ (१) उत्कृष्ट, अनुत्तम, अनुत्तर (२) अतिरिक्त (३) दूसरा, भिन्न (४) साधारण, मध्यम कोटि का, दूसरे का (५)अगला भाग, पिछला, अन्तिम (६) समाप्त का परपद, (७) हाथी का अगला पैर (८) पाश्चात्य , (९) नीचता, (१०) नीच, (११) छोटा, (१२) शत्रु, (१३) पश्चिम दिशा, (१४) हाथी का अगला धड़, (१५) गर्भ, (१६) गर्भ डिम्ब का ऊपर वाला चमड़ा (१७) भविष्य ।

अपरा - (१) पीछे या बाद की हुई ।

'कतरा पूर्वा कतरा परायोः ।'

ऋ. १.१८५.१, ऐ.ब्रा. ५.१३.१०, कौ.ब्रा. २३.८, ऐ.आ. १.५.३.४, नि. ३.२२.

अपराजित – (१) सर्पविष की एक औषधि (२) निघण्टु में अवक्षुरक, वलामोटा, विष्णुक्रान्ता, शुक्लांगी, शेफालिका, शंखपुष्पी और अपराजिता नाम से वर्णित है । अश्वक्षुरक को गिरिकर्णिका और श्वेत आदि भी कहते हैं ।

'पृश्निहापराजितः'

अ. १०.४.१५

अपराजिता – (१) कभी नहीं हारने वाला इन्द्र और अग्नि, (२) प्राण और अपान, (३) आत्मा और अन्तःकरण (४) परमात्मा और जीवात्मा (५) राजा और सेनापति (६) गुरु और शिष्य

'सजित्वानापराजिता'

ऋ. ३.१२.४.

(७) किसी से भी नहीं जीती गई ब्रह्मपुरी ।

'पुरं हिरण्ययीं ब्रह्मा
विवेशापराजिताम्'

अ. १०.२.३३, तै.आ.१.२७.३

अपरापरणा – अन्य सहायों से रहित, निःसहाय ।

'अपरापरणो भवति क्षीयते'

अ. १२.५.४५

अपराहत – शत्रुओं से पराजित न होने वाला ।

'वयोधा अपराहतः'

अ. १८.४.३८

अपरिपर – (१) शत्रुओं से रहित. (२) जीवनहारी चोरवत् रोगों से रहित (३) मित्रदृष्टिमय मार्ग, (४) द्वेष रहित मार्ग, (५) कामादि शत्रुओं से रहित मार्ग ।

'अपरिपरेण यथा यमराज्ञः पितृन् गच्छ'

अ. १८.२.४६

अपरिमितप्राण - सप्तम प्राण ।

'योऽस्य सप्रंमः प्राणोऽपरिमितो नाम'

अ. १५.१५.९

अपरिविष्ट – (१) जो किसी पदार्थ से आच्छादित न हो (२) अनावृत्त, खुला ।

'ऊर्जयन्त्या अपरिविष्टमास्यम्'

ऋ. २.१३.८

अपरिह्वृत – (१) अकुटिल (२) सुप्राप्य ।

'सुदात्वपरिह्वृता'

ऋ. ८.७८.८

(३) कुटिल विचारों और चेष्टाओं से रहित, (४) सौम्य ।

अपदी – पद-रहित

'पद्वतं गर्भमपदी दधाते'

ऋ. १.१८५.२, मै.सं. ४.१४.७, २२४.११, तै.ब्रा. २.८.४.८

अपरी – (१) आगे आने वाली ।

'ओ ते यन्ति ये अपरीषु पश्यान्'

ऋ. १.११३.११, तै.सं. १.४.३३.१, तै.आ. ३.१८.१. (जो आगे आने वाली उषाओं में भी पूर्व की खिलीं उषा देखें वे भी सुख को प्राप्त होते हैं ।)

(२) स्वकीया स्त्री, जो परकीया न हो ।

'अहं जनिभ्यो अपरीषु पुत्रान्'

ऋ १०.१८३.३, आपः मं. पा. १.११.९,

(३) पराई, (४) राजा आदि की प्रजा ।

'उतापरीषु कृणुते सखायम्'

ऋ. १०.११७.३

(५) आ +पॄ +ङीष् = अपरी । अर्थ-है अपूर्ण सेना क्रिया (६) अपूर्ण ।

'उतापरीभ्यो मघवा वि जिग्ये'

ऋ.१.३२.१३

सूर्य (मघवा) सब अपूर्ण अस्थायी चेष्टाओं पर पाता है ।

अपरीत – (१) बिना किसी से सहाय पाए (२) बिना रोका गया

'भूर्यपरीतो जनुषा वीर्येण'

ऋ.५.२९.१४

(३) नञ् + परि+इ (गत्यर्थक) + क्त =अपरीत ।

'आ नो भद्राः क्रतवो यन्तु विश्वतः
अदब्धासो अपरीतास उद्भिदः'

ऋ. १.८९.१, वाज.सं. २५.१४, का.सं. २६.११, कौ.ब्रा. २०.४, ऐ.आ. १.५.३.९, आश्व श्रौ.सू. ५.१८.२

(४) अविपरीत, (५) धर्मानुकूल, (६) अप्रतिहत, अप्रतिरुद्ध ।

अपरीवृत – (१) नहीं घिरा हुआ, (२) अग्नि जो कभी अन्धकार से नहीं घिरता ।

'अपरीवृतो वसति प्रचेताः'

ऋ.२.१०.३

अपरुद्ध – (१) शत्रुओं से घिरा हुआ, (२) कारागार में रुद्ध ।
'अन्यक्षेत्रे अपरुद्धं चरन्तम्'
अ. ३.३.४

अपरूप – भ्रष्टरूप ।
'ततोऽपरूपं जायते'
अ.१२.४.९

अपलाशः – अ +पल +अश । पल अर्थात् कर्मफल के अशन (भोग) से रहित, अबद्ध, सदायुक्त, परमेश्वर ।
'बृहन्नच्छा यो अपलाशोअर्वा'
ऋ. १०.२७.१४

अपलिख – (क्रि.) केश का मैल निकालना । केश में पड़े लीख केश के मैल ही हैं ।
'अपास्याः केश्यं मलम् अप शीर्षण्यं लिखात्'
अ. १४.२.६८

अपलित – अ +पल +क्त =अपलित, नहीं पका हुआ ।
'अपलिताः केशाः'
अ. १९.६०.१

अथवक्ता – (१) दुःखदायी वचन बोलने वाला, कटुभाषी ।
'उतापवक्ता हृदयाविधश्चित्'
ऋ. १.२४.८, वाज.सं. ८.२३, तै.सं. १.४.४५.१, मै.सं. १.३.३९, ४५.४, का.सं. ४.१३, श.ब्रा. ४.४.५.५.
वह हृदय अर्थात् मर्म को शस्त्रों और कटु भाषण से बेधने वाले पुरुष का भी निराकरण करे ।
(२) अपवाद करने वाला, विरोधी, निन्दक ।
' अपवक्तार ओषधे'
अ. ५.१५.१–११.

अपवर्ता – (१) रक्षा करने वाला, (२) खोलने वाला (अप +वृ +तृच्) (३) इन्द्र, परमेश्वर ।
उत व्रजमपवर्तासि गोनाम्'
ऋ. ४.२०.८

अपववार – खोल दिया ।

अपव्रत – (१) दस्यु –दया. (२) व्रत नियमों का पालन न करने वाला ।

अपव्रततमः – क्रियाशून्य अन्धकार ।
'गूढं सूर्यं तमसापव्रतेन'
ऋ. ५.४०.६

अपवति – अनपच, वमन आदि के द्वारा निकलता है ।
'यदूवध्यम् उदरस्यापवाति'
ऋ. १.१६२.१०, वाज.सं. २५.३३, तै.सं. ४.६.८.४, मै.सं. ३.१६.१, १८२.१२, का.सं. (अश्व). ६.४.

अपवास – अस्त हो जाना, व्यतीत हो जाना ।
'अपवासे नक्षत्राणाम्'
अ. ३.७.७

अपविध्यताम् – नष्ट करें ।
'अपशत्रून् विध्यतां संविदाने'
ऋ. ६.७५.४, वाज.सं. २९.४१, तै.सं. ४.६.६.२, मै.सं. ३.१६.३: १८५.१७, का. सं. (अश्व).६.१, नि. ९.४०.

अपवीरवान् – नञ् +पवीर (अंयुध) +वतुप् =अपवीरवत् । आयुधरहित ।
'उतापवीरवान् युधा'
ऋ. १०.६०.३
(आयुध से युक्त हो या आयुध रहित हो..)

अपश्रित – (१) संसार बन्धन से दूर (२) देहादि में आश्रित आत्मा ।
'एषो अपश्रितो वलः'
ऋ.८.२४.३०

अपश्चा – अपश्चात्, पीछा नहीं ।
'अपश्चा दग्धान्नस्य भूयासम्'
अ. १९.५५.५, मै.सं. ३.९.४, १२०.१७, आप. श्रौ.सू. ७.२८.२,

अपश्यः – नहीं देखेने वाला, दृष्टि विहीन, मोहान्ध।

अपश्रय – आसन्दी में लगाया हत्था । हाथ रखने का आश्रय ।
'सामासाद उद्गीथोऽपश्रयः'
अ. १५.३.८

अपश्रित – (१) बुरी तरह से उठी हुई गिल्टी ।
कक्षे मुष्कावपश्रितौ'
अ. ६.१२७.२
(२) बहुत दूर स्थित ।
'पर्वतेषु अपश्रितम्'
अ. २०.४१.२

अपशुघ्नी – पशुओं का नाश न करने वाली स्त्री ।
'अभ्रातृघ्नीं वरुणायशुघ्नीं बृहस्पते'
अ. १४.१.६२, आप. मं.पा. १.१.३.

अपः – कर्म

'*अद्या चिन्नू चित् तदपो नदीनाम्*'

ऋ. ६.३०.३, नि. ४.१७

आज भी और पहले भी नदियों का वही कर्म है)।

अपस् – (१) वस्त्र, (२) सन्तानोत्पत्ति कर्म, (३) जल, (४) बालक, (५) अन्तरिक्ष-दया ।

'बालक' अर्थ में 'अपसः अतन्वत'

(बालकों ने वस्त्र को ताना) ऐसा प्रयोग यजुर्वेदीय मैत्रायणी शाखा और ताण्डय ब्राह्मण आदि में पाया जाता है ।

'कर्म ' अर्थ में प्रयोग–

'*मूर्धा भुवो भवति नक्तमग्निः*
ततः सूर्योजायते प्रातरुद्यन्
मायामू तु यज्ञियानामेताम्
अपो यत् तूर्णिश्चरति प्रजनन्'

ऋ. १०.८८.६; नि. ७.२७.

(वैश्वानर गुण वाला अग्नि रात में भूलोक का मूर्धा रूप होता है । तब प्रातः काल होते ही वह अग्नि उदय होता हुआ सूर्य का रूप धारण करता है । अग्नि विविध कर्मों को जानता हुआ या जल उत्पन्न करता हुआ (अपः प्रजानन्) शीघ्रता के साथ सभी स्थानों में चलता है)।

पुनः 'कर्म ' के ही अर्थ में–

'*सामेभिस्तदपो वो अस्तु*'

ऋ. २.१४.११.

(वही आप लोगों का एक मात्र कर्म हो)।

अपसः – (१) कुविन्द या तन्तुवाय के छोटे छोटे लड़के ।

'*ग्नास्त्वा कृन्तन् अपसोऽतन्वत*'

मै.सं. १.९.४; १३४.८ का.सं. ९.९, पंच ब्रा. १.८.९.१, ला.श्रौ.सू. २.८.२३, आप.श्रौ.सू. १४.१२.४, नि. ३.२.१.

हे वस्त्र, तुझे स्त्रियों ने सूत्र रूप में काता तथा कुविन्द के छोटे-छोटे लड़कों ने ताना (अपसः अतन्वत) ।

अपसः मात्रा – (१) अन्न की मात्रा, (२) कर्मों द्वारा बना शरीर ।

'*मा मात्रा शारि अपसः पुरक्रतोः*'

ऋ. २.२८.५, मै.सं. ४.१४.९: २२८.१४

अपःवसानाः – (१) कर्म और ज्ञान से सम्पन्न युक्तात्मा ।

'*अपोवसाना दिवमुत्पन्ति*'

ऋ. १.१६४.४७, अ. ६.२२.१, ९.१०.२२, १३.३.९, मै.सं. ४.१२.५,१९३.७, का.सं ११.९.१३, नि. ७.२४.

(२) जल धारण करने वाले मेघ ।

(३) प्राणमय लिंग शरीरों को धारण करने वाले जीवात्मा ।

अपस्कम्भ – विष से बुझे अस्त्र के घाव की चिकित्सा के लिए एक औषधि जिस के पत्ते से विष दूर होता है । इसे 'क्रमुक' या 'लोध्र' भी कहते हैं । (२) भिल्लतरु, (३) शम्बर, लोध्र, अरोध, आदि भी इसके नाम हैं ।

'*अपस्कम्भस्य शल्यात्*'

अ. ४.६.४

अपस्तमः – (१) सर्वोत्तम कर्म सम्पादन करने वाला ।

'*त्वष्टा माया वेदपसाम् अपस्तमः*'

ऋ. १०.५३.९

(२) सबसे अधिक ज्ञानी, कर्मनिष्ठ, (३) आप्त, (४) पुत्र, (५) परमेश्वर ।

'*अयं देवानामपसामपस्तमः*'

ऋ. १.१६०.४

पुनः

'*अग्निर्ह नाम धायि दन्नपस्तमः*'

ऋ. १०.११५.२

अपस्तमा – (१) सबसे उत्तम कर्मोपदेश करने वाली वाणी (२) सरस्वती, (३) स्त्री ।

'*द्युम्नेभिरन्या अपसामपस्तमा*'

ऋ. ६.६१.१३.

(४) सर्वश्रेष्ठ कार्य करने वाली,

'*अदब्धा सिन्धुरपसामपस्तमा*'

ऋ. १०.७५.७

अतिसर्पति – घेर लेता है ।

'*यद्वम्रो अतिसर्पति*'

ऋ. ८.१०२.२१,

(जिसे दीमक भीगी मिट्टी से घेर लेता है) ।

अपस्फुर – (१) उद्वेग रहित शान्त गौ ।

(२) अराजकता से युक्त प्रजा ।

(३) कुमार्ग मे जाने वाला ।

'*अपस्फुरं गृभायत*'

ऋ. ८.६९.१०, २०.९२.७

(४) स्थिर, (५) चंचलता रहित

अपस्य - कर्म करना

'विवक्तिवह्निः स्वपस्यते मखः'

ऋ. १०.११.६, अ. १८.१.२३.

अपस्या - क्रिया, साधुक्रिया, फल ।

'यादृश्मिन् धायि तमपस्यया विदत् ।'

ऋ. ५.४४.८, नि. ६.१५.

(यजमान जिस किसी कामना में मन लगाता है उस कामना को क्रिया रूप या फलरूप से प्राप्त करता है) ।

(२) कर्म करने की इच्छा (३) उपकार की भावना

'निवत्स्वपः स्वपस्यया नरः'

ऋ. १.१६१.११.

अपस्यु - (१) उत्तम कर्मों और ज्ञानों को प्राप्त करने की इच्छा वाली (२) ज्ञान, और कर्म का लाभ चाहती हुई ।

'ईङ्खयन्तीरपस्युवः'

ऋ. १०.१५३.१, अ. २०.९३.४, साम. १.१७५, ऐ.आ. ५.१.१.६, वै.सू. ३४.७.

अपरोध - दूर कर, दूर भाग ।

'दूराद्दवीयो अपसेधशत्रून्'

ऋ. ६.४७.२९, अ. ६.१२६.१, वाज.सं. २९.५५, तै.सं. ४.६.६.६, का.सं. (अश्व). ६.१, नि. ९.१३.

(हे दुन्दुभिः । शत्रुओं को दूर से दूर भगा ।)

अप्तुर् - अप् (प्राण) +तुर् (शीघ्रार्थक) +क्विप् =अप्तुर् । मनुष्यों को शरीर और विद्या आदि का बल देने वाला । प्राणशक्ति का वर्द्धक (२) कर्मों और बुद्धियों को प्राप्त करने वाला परमेश्वर

'यज्ञेन गातुमप्तुरो विविद्रिरे'

ऋ. २.२१.५

(३) शुभकर्मों को शीघ्र करने वाला-(दया)

(४) याज्ञिक कर्मों के प्रति आने में शीघ्रता करने वाला-सा ।

असुर - (१) प्रकृति के परमाणुओं का संचालक ।

'अश्वं न स्तोममप्तुरं रजस्तुरम्'

ऋ.९.१०८.७, साम. १.५८०, २.७४४.

(६) प्राणों, आप्तजनों, या जलों को प्रेरित करने वाला इन्द्र, विद्युत् सूर्य ।

'वाजसनिम् पूर्भिदम् तूर्णिम् अप्तुरम्'

ऋ. ३.५१.२

(७) जलों को शीघ्रता से चलाने या प्रेरित करने वाला अग्नि । आप्त प्रजाजनों को सन्मार्ग में चलाने वाला ।

'अग्निं यन्तुरमप्तुरम्'

ऋ. ३.२७.११

अप्रति - (१) सर्वथा, निःशेष रूप से ।

'घ्वन्तो वृत्राणि अप्रति'

अ. ७.९३.१, का.सं. ४.४, तै.सं. ३.५.३.२.

(२) बिना मुकाबले का ।

भूरीण्ये को अप्रतीनि हन्ति'

ऋ. ४.१७.१९

अप्नवानः - 'अप्नवा' एक वचन का रूप है (१) उत्तम कर्म करने वाले , (२) उत्तम रूप गुण पुत्र पौत्रादि से युक्त, (३) प्राप्त करने वाले ।

'यमप्नवानो भृगवो विरुरुचुः'

ऋ. ४.७.१, वाज.सं. ३.१५, १५.२६, ३३.६, तै.सं. १.५.५.१, मै.सं. १.५.१; ६६.१, १.५.५; ७३.१६, का.सं. ६.९, श.ब्रा. २.३.४.१४.

अप्नवानवत् - आप्यतेसुखं येन तत् अप्नः(जिससे सुख प्राप्त किया जाय वह अप्न है) अर्थ-सुख प्राप्त करने वाले समस्त साधनों वाले सामर्थ्य से युक्त-अग्नि, प्रभु, सूर्य, (२) रूप जाल से युक्त ।

'अप्नवानवत् आ हुवे'

ऋ. ८.१०२.४, साम. १.१८, तै.सं. ३.१.११.८, मै.सं. ४.११.२, १६६.१५, का.सं. ४०.१४.

अप्नराजा - (१) उत्तम रूप और कर्म से प्रकाशित होने वाले अश्विद्वय(२) स्त्री पुरुष ।

'युवं ह्यप्नराजा वसीदतम्'

ऋ. १०.१३२.७

अप्नस् - (१) रूप । आप्नोति आश्रयं यत् तत् अप्नस् (जो प्राप्त करता है वह अप्नस् है) । (२) कर्म, (३) यज्ञ ।

अप्नःस्थः - कर्माध्यक्ष ।

'सं यावप्नःस्थः अपसेव जनान्
श्रुधीयतः चित् यतथो महित्वा'

ऋ. ६.६७.३, मै.सं. ४.१४.१०ः २३१.६

अप्नस्वती - (१) प्रशस्त पत्ययुक्ता । -(दया) (२) उत्तम कर्म या क्रिया योग का उपदेश करने वाली वाणी ।

'अप्नस्वतीमश्विना वाचमस्मे'

कृतं नो दस्रा वृषणा मनीषाम्'
ऋ. १.११२.२४, वाज.सं. ३४.२९, श.ब्रा. १४.१.३.३३, आप. श्रौ.सू. १५.८.१३.

(३) प्रशस्तं अप्नोऽपत्यं विद्यते यस्याः सा (जिसका अप्नय प्रशस्त हो वह स्त्री)-दया.

(४ कर्म, यज्ञादि वाली वेदी (५) रूपवती, उत्तम, हरी भरी (६) नाना रूप उत्तम वर्णयुक्त ।

'अप्नस्वतीषूर्वरास्विष्टनिः
आर्तनास्विष्टनिः ।'

ऋ. १.१२७.६

अग्नि जिस प्रकार कर्मयज्ञ वाली उत्तम वेदियों में (अप्नस्वतीषु) यज्ञ करने वाला होता है (इष्टनिः) और जैसे रूपवती हरी भरी उपजाऊ भूमियों में सबकी इष्ट अभिलाषा पूर्ण करने वाला होता है उसी प्रकार सेनानायक या राजा भी नाना रूप वर्ण युक्त नाना धन पैदा करने वाली समृद्ध भूमियों ओर हरी भरी प्रजाओं में सबकी अभिलाषा पूरी करने योग्य, सबका आदरणीय और शत्रुओं की पीड़ा कारिणी सेनाओं में (आर्तनासु) प्रबल गर्जना या आज्ञाकारी होता हुआ भी सर्वादर योग्य (इष्टनिः) एवं सत्य व्यवहार युक्त प्रजाओं में पूज्य अति प्रजाओं को मनमाना ऐश्वर्य प्राप्त करा देना वाला हो ।

(७) अप्रस्वती मम धीरस्तु शक्र
ऋ. १०.४२.३, अ. २०.८९.३
(हे शक्र, मेरी बुद्धि श्रेष्ठ कर्म वाली हो ।)

अप्य - 'अप्सु भवम् श्रृतम्' अथवा 'अद्भिः संस्कृतम्' (जल में हुआ या जल से निर्मित अप् +यत् =अप्य) अर्थ (१) अन्तरिक्ष, (२) जल-निर्मित, (३) प्राप्तव्य (४) अन्तरिक्ष में उत्पन्न जल ।

'नाहमिन्द्राणि रारण
सख्युर्वृषाकपेर्ऋते ।
यस्येदमप्यं हविः
प्रियं देवेषु गच्छति
विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ।'

ऋ. १०.८६.१२, अ. २०.१२६.१२, तै.सं. १.७.१३.२, का.सं. ८.१७, नि. ११.३९.

हे इन्द्राणि, मित्र वृषाकपि के बिना में चैन नहीं पाता । उसका यह प्रीतिकर हवि सभी देवों के पास जाता है तथा या सभी देवों के द्वारा स्वीकृत होता है वह इन्द्र से बढ़कर है । जल के अर्थ में

'भरन्ती मे अप्या काम्यानि'
ऋ. १०.९५.१०, नि. ११.३६

भरन्ती से अप्या काम्यानि (५) जलादि विद्या का ज्ञाता, (६) भूमि, अन्तरिक्ष और जलों की विद्या में ।

'गोजाता अप्या मृडता च देवाः निष्णात्'
ऋ. ६.५०.११

(७) जलाभिलाषी ।

'स ईं मृगो अप्यो वनर्गुः'
ऋ. १.१४५.५

अप्त्य -(१) अप्ति का अर्थ विस्तीर्ण संसार है । अतः 'अप्त्य' का अर्थ सांसारिक हुआ । (२) व्यापन शील , (३) उत्तम ज्ञान और कर्म में कुशल ।

'पूर्वे अर्धे रजसो अप्त्यस्य'
ऋ. १.१२४.५

व्यापन शील अन्तरिक्ष या लोक-समूह लोक पूर्व के आधे मार्ग में ।

अथवा,-ज्ञान और कर्म करने में कुशल लोक समूह के आगे पूर्व विद्यमान उत्तम पद में विराजती हुई...।

अप्यंहविः - (१) जलों में उत्पन्न होने वाला अन्न (२) व्यापक प्रकृति के सूक्ष्म परमाणुओं में उत्पन्न या लिंग शरीरों में स्थित (३) 'अपः' अर्थात् रुधिर मय या सूक्ष्म लिंग देह रूप साधन

'यस्येदमप्यं हविः प्रियं देवेषुगच्छति '
ऋ. १०.८६.१२, अ. २०.१२६.१२, तै.सं. १.७.१३.२, का.सं. ८.१७, नि. ११.३९.

अप्यागन्धर्वी - (१) जल से प्राप्त करने योग्य या जल में उत्पन्न वाणी को धारण करने वाली (गन्धर्वी) विद्युत् (२) जल प्रकृति की वाणी को धारण करने वाली स्त्री व प्रजा

'रपद् गन्धर्वीरप्या च योषणा'
ऋ. १०.११.२, अ. १८.१.१९.

अप्या योषा - (१) जलीय परमाणुओं से युक्त स्त्री, (२) एक ही गोत्र की स्त्री स्त्री पुरुष दोनों में जलीय परमाणु हो तो सन्तति नहीं होती।

'गन्धर्वो अप्सु अप्या च योषा'

ऋ. १०.१०.४, अ. १८.१.४

अपक्षित - जो क्षय होने योग्य न हो-अक्षय
'अप्रक्षितं वसु बिभर्षि हस्तयोः'
ऋ. १.५५.८
(तू हाथों में अक्षय ऐश्वर्य धारण कर ।)

अप्रकेत - अप्रज्ञाप्यमान ।

अप्रचङ्कश - (१) लंगड़ा लूला, (२) आंखों से लाचार दृष्टि हीन ।
'पर्यस्ताक्षा अप्रचङ्कशाः'
अ. ८.६.१६

अप्रचेतस् - मूर्ख, ज्ञान रहित, मूढ़ ।
'मोघमन्नं विन्दते अप्रचेताः'
ऋ. १०.११७.६, तै.ब्रा. २.८.८३, शां.ब्रा.सू. २.१४.२६.
(जो दान नहीं करता वह मूर्ख व्यर्थ ही अन्न प्राप्त करता है ।)
'कथा विधात्यप्रचेताः'
ऋ. १.१२०.१
(२) अनुदार पुरुष ।
(३) उत्तम रीति से आदर सत्कार न करने वाला
'ज्येष्ठाय यदप्रचेताः'
अ. २०.१२८.२

अप्रजज्ञिः - अज्ञानी ।
'सिरीस्तन्त्रं तन्वतो अप्रजज्ञयः'
ऋ. १०.७१.९, बौ.ध.शा. २.६.११.३२.

अप्रजस्ता - प्रजा हीनता ।
'अप्रजस्ताम् अस्वागताम् अवर्तिम्'
अ. ९.२.३

अप्रजाः - प्रजा रहित ।
'अप्रजसं करोति'
अ. १२.५.४५
'अस्वं त्वा प्रजसं कृणोमि'
अ. ७.३५.३

अप्रजास्त्व - (न.) सन्तान का न होना ।
'अप्रजास्त्वं मार्तवत्सम् '
अ. ८.६.२६

अप्रता - अप्रतृ का प्रथमा एक वचन का रूप- अप्रता । अर्थ है । कोश न भरने वाला ।
'न सोमो अप्रता पपे'
ऋ. ८.३२.१६

अप्रति - (१) अप्रत्यक्ष रूप से ।
'इन्द्रावरुणा वधनाभिरप्रति'
ऋ. ७.८३.४.
(२) बिना रुकावट का ।
'यत् कारवे दशवृत्राणि अप्रति'
ऋ.१.५३.६, अ.२०.२१.६
(३) न विद्यते प्रतिःप्रतिनिधिः समानो यस्य स अद्वितीयः-सा .
जिसके समान अन्य कोई प्रति निधि न हो अद्वितीय ।
'विश्वाहा हन्त्यप्रति'
अ. ७.५०.१
(४) पालन कारी साधन जैसे अन्न, जल, तेज आदि ।
(५) बेजोड़ अद्भुत, अनुपम,
'सो अप्रतीनि मनवे पुरूणि'
ऋ. २.१९.४

अप्रतिधृष्टशवाः - जिसके बल को कोई दबा नहीं सकता-इन्द्र, राजा ।
'इन्द्रमिद्धरी वहतो अप्रतिधृष्टशवसम्'
ऋ.१.८४.२, साम. २.३८०, वाज.सं. ८.३५, तै.सं. १.४.३८.१, मै.सं. १.३.३४, ४१.११, का.सं. ४.११,

अप्रतिधृष्य - किसी के अधिकार में न आने वाला-वायु ।
'अप्रतिधृष्याय त्वा वाताय स्वाहा'
वाज.सं. ३८.७, मै.सं. ४.९.८: १२८.९, श.ब्रा. १४.२.२.४, तै.आ. ४.९.१.

अप्रतिपद - अज्ञात पुरुष जिसे कोई जान न सके ।
'सर्पदेवजनेभ्योऽप्रतिपदम्'
वाज.सं. ३०.८, तै.ब्रा ३.४.१.५.

अप्रतिमन्यूयमान - निष्फल मन्यु अर्थात् क्रोध करने वाला, जिसका क्रोध निष्फल हो ।
'पद्यन्तामप्रतिमन्यूयमानाः'
अ. १३.१.३१

अप्रतिब्रुवत् - विरोध न करने वाला ।
'सजातैरिद्धोऽप्रतिब्रुवद्भिः'
अ. ३.८.३

अप्रतिष्कुत - (१) जो किसी से पराजित न हो ।
'वृत्राणि अप्रतिष्कुतः'
ऋ. १.८४.१३, अ.२०.४१.१, साम. १.१७९,

२.२६३, मै.सं. २.१३.६: १५४.९, का.सं. ३९.१२, तै.ब्रा. १.५.८.१, आप.श्रौ.सू.१७.८.२

(२) अप्रतिष्कुत =अप्रतिशब्दित (प्रतिशब्द रहित) । 'कु' धातु का अर्थ शब्द करना है । प्रति को आगे सुट् (पारस्करादः)। अर्थ है-अप्रतिष्कृत या अप्रस्खलित । अन्य शत्रु द्वारा युद्ध में अप्रतिगत या अप्रतिहत ।

(३) जो अपने मार्ग से स्खलित न हो ।

(४) अप्रतिष्कृत -जिनके उपकारों का प्रतिकार न हो ।

'स नो वृषन्नमुं चरुं
सत्रादावन्नपा वृधि
अस्मभ्यमप्रतिष्कुतः'

ऋ. १.७.६, अ.२०.७०.१२, साम.२.९७१

हे सतत् दान शील (सत्रादावन्), हे वृष्टिप्रद इन्द्र ! हमारे लिए इस दृश्यमान चरु अर्थात् अन्तरिक्ष में दीख पड़ने वाले मेघ को हमारे लिए उत्पादित कर, क्योंकि तू ने कभी नहीं नहीं की या तू कभी किसी से पराजित नहीं हुआ । -सा. स्वामी दयानन्द का अर्थ -हमारे लिए सुख की वर्षा करने वाले , सत्य ज्ञान प्रदाता ईश्वर । आप के महान् उपकारों का प्रतिकार किसी प्रकार नहीं हो सकता । और आपके कार्यो में किसी प्रकार की त्रुटि नहीं पाई जाती अतः आप हमारे लिए अप्रतिस्खलित हैं । वह आप हमारे लिए सत्य-ज्ञान के ढकने को खोल दीजिए ।

(५) प्रतिकूल शब्द या विरोधी निन्दा से रहित ।

(६) जिसके समान दूसरे किसी को प्रस्तुत नहीं किया जा सके ।

'ईशानो अप्रतिष्कुत इन्द्रो अंग'

ऋ.१.८४.७, अ. २०.६३.४, साम. १.३८९, २.६९१

(६) सर्वोपरि ।

'स वीरो अप्रतिष्कुतः'

ऋ. ७.३२.६

अप्रतिष्ठान - नञ् + प्रतिष्ठान (घर) = अप्रतिष्ठान। बिनाघर का ।

'अप्रतिष्ठानोऽनायतनः'

अ. ११.३.४९

अप्रती - सदा के लिए ।

'इन्द्रो वृत्राणि अप्रती जघन्वान्'

ऋ.७.२३.३, अ.२०.१२.३, मै.सं. ४.१०.५: १५५.१५ तै.ब्रा. २.४.१.३.

अप्रतीत - (१) चक्षु आदि इन्द्रियों से न दीखने वाला परमेश्वर, (२) अगोचर, (३) अनुपम ।

'उपेदहं धनदाम प्रतीतम्'

ऋ. १.३३.२

(मैं ऐश्वर्य दाता, अगोचर, अनुपम परमेश्वर की शरण जाऊं)।

(२) अन्यों से अज्ञात, अज्ञेय ।

(३) अन्यो से प्रतिकार न करने योग्य ।

'वधर्यमिष्ट सहो अप्रतीतम्'

ऋ. ५.३२.७

(४) बेरोक, (५) अतुल्यबल वाला (६) अति गूढ़ ।

'सहस्रसां वाजिनम् अप्रतीतम्
अहिहनं श्रवस्यं तरुत्रम्'

ऋ. १.११७.९

अति बल को धारण करने वाले वेगवान्, अदृश्य, बेरोक, अतुल्य बल, धक्का मारने वाले (अहिहनम्), श्रवण करने योग्य या शब्दकारी (श्रवस्यम्) दूर तक पहुंचा देने वाले (तरुत्रम्) । अथवा,

सहस्रों उपदेश देने वाले (सहस्रसाम्) ज्ञानवान्, अतिगूढ़ (अप्रतीत) अज्ञाननाशक (अहिहनम्), वेद ज्ञान में कुशल (श्रवस्यम्), संसार से तारने वाले आचार्य और परमेश्वर (तरुत्रम्) का अव लम्बन करो ।

(७) पुनः न प्रत्यर्पितम् (न चुकाया हुआ धन)

'अपमित्यमप्रतीत्तं यदस्मि'

अ. ६.११७.१

(८) किसी से भी विरोध पूर्वक न रोके जाने वाला, बेरोकटोक

'अपः सिषासन् स्वर अप्रतीतः'

ऋ. ६.७३.३, अ.२०.९०.३, का.सं. ४.१६,४०.११, तै.ब्रा. २.८.२.८, आप.श्रौ.सू. १७.२१.७.

अप्रदुग्धा - अन्य से अभुक्त, ब्रह्मचारिणी, (२) किसी के द्वा दुही न गई रस पूर्ण दिशा ।

'सबर्दुधाः शशया अप्रदुग्धाः'

ऋ. ३.५५.१६

अप्रददिः - जो दान न देता हो ।

'रेवां अप्रददिश्च यः'

अ. २०.१२८.८, शां.श्रौ.सू.१२.२१.२.३

अप्रदृपित – मोह और गर्व आदि से रहित विनीत पुरुष

'अस्य क्रत्वा सचते अप्रदृपितः'

ऋ. १.१४५.२

(विनीत पुरुष ही उसके ज्ञान से युक्त हो जाता है।)

अप्रपाणा – बावड़ी जिसका जल पीने योग्य न हो या जिसमें उत्तम घाट न हो।

'अप्रपाणा च वेशन्ता'

अ.२०.१२८.८, शां.श्रौ.सू. १२.२१.२.३.

अप्रभु – अशासक, अजितेन्द्रिय, असमर्थ।

'अत्राकर्तम् अवपदाति अप्रभुः'

ऋ. ९.७३.९

अप्रमादम् – प्रमाद से रहित होकर कर्म में तत्पर।

'सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे
सप्त रक्षन्ति सदमप्रमादम्
सप्तापः स्वपतो लोकमीयुः
तत्र जागृतो अस्वप्नजौ,
सत्रसदौ च देवौः'

वाज.सं. ३४.५५, नि. १२.३७.

सूर्य के शरीर में सात रश्मियां निहित हैं। ये ही सभी दिशाओं के जल सूर्य के निकट लाकर अपने अपने कर्म में रक्षा करती हैं अर्थात् ये रश्मियां उदक रूपी इन्धन से सूर्य की रक्षा करती हैं। सात रश्मियां जो आदित्य में व्याप्त हैं (सप्तापः), आदित्य के अस्त होने पर (स्वपतः) आदित्य के आत्मा में चली जाती हैं। उन रश्मियों के इस प्रकार से जाने पर जीवन-दान देने वाले या यज्ञ में रहने वाले (सत्रसदा) वायु नामक देव जागते हैं। आदित्य के मण्डल के सदृश हमारे शरीर में रश्मि के समान इन्द्रियां हैं जो इस शरीर की सतत अप्रमादपूर्वक रक्षा करती हैं। इस जीव के सो जाने पर वही इन्द्रियां शरीर में ही सो जाती हैं अर्थात् भोक्ता जीव में लीन हो जाती हैं। इस सोने की अवस्था में ही यह प्राज्ञ आत्मा और तैजस प्राण पचाता हुआ रहता है।

अप्रमायुक् – मरण से रहित।

'कृ[illegible]व[illegible] [illegible]युकम्'

अ. १९.४४.३

अप्रमूर – मूढ़त्व रहित विद्वान् धार्मिक।

'ते हि वस्वो वसवानाः
ते अप्रमूरा महोभिः
व्रता रक्षन्ते विश्वाहा'

ऋ. १.९०.२

जो सब दिनों (विश्वाहा) नित्य नियात धर्म नियमों को स्वयं पालन करने और औरों से पालन करवाते हैं, वे ही बसे हुए प्रजाजन (वस्वः) ऐश्वर्य के मुख से वसाने और उनकी रक्षा करने में समर्थ हैं और विद्वान् तथा वीर जन (वस्वः) गुणों, कर्मों और उपायों द्वारा असावधानी एवं आलस्य आदि से रहित होकर रहें।

अप्रमृष्य – जिसे शत्रुजन सहन कर सके।

'आमासु पूर्षु परो अप्रमृष्यम्'

ऋ. २.३५.६

अप्रयात – ताजा।

'रात्रिंरात्रिम् अप्रयातं भरन्तः'

अ. १९.५५.१

अप्रयावन् – बिना प्रयाण किए, बिना प्रमाद के।

'वर्चसा मा जिन्वत्व प्रयावन्'

अ. ३.५.१

अप्रयुच्छत् – प्रमाद नहीं करता हुआ।

'अप्रयुच्छन्नप्रयुच्छद्भिरग्ने'

ऋ. १.१४३.८

पुनः – अप्रयुच्छन् दीद्यद् बोधि गोपाः

ऋ. २.९.२, तै.सं. ३.५.११.३, मै.सं.४.१०.४, १५२.८, का.सं. १५. १२, ऐ.ब्रा. १.२८.३८

अप्रयुता – सब के साथ मिली हुई।

''अप्रयुतामेवयावो मतिं दाः'

ऋ. ७.१००.२

अप्रयुत्वा – कभी पृथक् न होने वाला, सदा का संगी।

'पर्षि तोकं तनयं पर्तृभिष्ट्वम
अदब्धैरप्रयुत्वभिः'

ऋ. ६.४८.१०, साम. २.९७४

अप्रवीता – (१) बिना घिसी हुई अरणि,

(२) अन्यो से अभुक्त प्रजा।

'यदप्रवीता दधतेह गर्भम्'

ऋ. ४.७.९

(३) जो अच्छी प्रकार रक्षित नहीं है। (४) जो

पुरुष से सृष्ट नहीं है ।
'अन्तर्वतीः सुवते अप्रवीता '
ऋ. ३.५५.५

अप्रशस्त - (१) बुरा, पापाचारी (२) तुच्छ कर ।
'चयत ईम् अर्यमो अप्रशस्तान् '
ऋ. १.१६७.८.

अप्रहित - कभी पराधीन न होने वाला ।
'प्रहेतारमप्रहितम् '
ऋ. ८.९९.७, अ. २०.१०५.३, साम. १.२८३.

अल्पव - बिना जहाज या नाव के ।
'गम्भीरमल्पवा इव
अ. १९.५०.३

अप्वा - (१) शत्रु द्वारा न पराजित होने वाली सेना ।
'गृहाणाङ्गान्यप्वे परेहिं'
ऋ. १०.१०३.१२
(२) उदर
'अप्वामन्तरोदरात्'
अ. ९.८.९
(३) यत् एनया विद्धः अपवीयते, व्यज्यते प्राणैः (जिससे आक्रान्त होकर प्राणों से हाथ धोया जाय) ।
अर्थ है-व्याधि ।
अपवयति अपगमयति सुखं प्राणान् च (जो सुख और प्राणों को दूर करता है) । अप् +वेञ् + ड +टाप् =अप्वा (अप के प का अ लुप्त हो गया) ।
(४) अप्वा नाम्नी देवी पापाभिभानिनी देवी ।
आज भी कहा जाता है- अन्न में पय या पैया लग गया । हिन्दी में 'पैया' तथा 'पय' दोष का वाचक है ।
कुष्ठादि रोग से ग्रस्त को भी अपयी कहते हैं ।
'अमीषां चित्तं प्रतिलोभयन्ती '
गृहाणाङ्गान्यप्वे परेहि ।
अभि प्रेहि निर्दह हृत्सु शौकैः
अन्धेनामित्रास्तमसा सचन्ताम् '
ऋ. १०.१०३.१२, अ. ३.२.५, साम. २.१२११, वाज.सं. १७.४४, नि. ९. ३३.
हे अप्वे (हे पापाभिभानिनि देवि) इन शत्रुओं के चित्त को मोहती हुई इनके अंगों को ग्रस्त कर । तत्पश्चात् शत्रुओं को पुनः दूसरे शत्रुओं के निकट जाकर ग्रस्त कर तथा उनके हृदयों को शोकों से दग्ध कर । मेरे शत्रु गाढान्धकार से संश्लिष्ट हों ।

अप्सः - (१) रूप युक्त तेजस्वी विद्युत् ।
'गिरा वप्सो न योधिषत्'
ऋ. ८.४५.५
(२) नञ् +प्सा +असुन् =अप्सस् (अथवा) आप् +स =अप्स । अर्थ है-आदर्शनीय या रूप । 'अप्सानीय' का अर्थ अभक्षणीय है । रूप देखा ही जाता है खाया नहीं जाता, अतः 'अप्स' कहलाया ।
अथवा
(४) रूप व्यापनीय होता है । (व्यापनीय) ।
'पृथिव्याःपुरीषमस्यप्सो नाम'.
वाज.सं. १४.४, तै.सं. ४.३.१२.१, मै.सं. २.८.१, १०७.१, का.सं. १७.६, श.ब्रा. ८.२.१.७.
(हे स्वामी । तू शुभगुण-व्यापिनी है ।)
(५) शाकपूणि ने इसे 'दर्शनाय स्पष्टम्' का संक्षिप्त रूप दस्प, अस्प माना है । (६) उवट और महीधर ने अप्स का अर्थ 'रस' माना है । अपः सनोति ददाति इति अप्सः (७) 'अभक्ष्य' अर्थ में भी इसका प्रयोग वेद में मिलता है । जैसे
'यद्ग्रामे यदरण्ये यत्सभायां यदिन्द्रिये
यदेनश्चकृमा वयं यदप्सश्चकृमा वयम्
तदेकस्यामपि चेतासि तदेक स्यापि धर्मणि
तस्य सर्वस्याहसो अघयजनमसि '
मै.सं. १.१०.२:, १४२.२
(जो पाप ग्राम, अरण्य सभा या मन में किया,जो अभक्ष्य (अप्सः) भक्षण किया,या किसी के चित्त के विषय में पाप किया या किसी अन्य के धर्म में बाधा डाली उस सब पाप को दूर कर ।)
रूप के अर्थ में -
'उषा हस्रेव नि रिणीते अप्सः '
ऋ. १.१२४.७
(जिस प्रकार हंसने वाली अपने दांत दिखलाती है, उसी प्रकार उषा भी रात के अपर काल में अपने रूप को दिखाती है ।)

अप्सरस् , अप्सारिणी - अपःप्रतिनित्यमेव सरति, अथवा अदभ्यः सृता (जो नित्य जल में चले या जो जले से हुई हो)।
(१) अप् +सृ (गत्यर्थक) +अच +टाप् =अप्सरा,

(२) अप्स +रा =अप्सरा (३) 'उरु अभ्यश्नुते' बहुत व्यापक होती है-विद्युत, स्त्री

उरु + अशुङ् (व्याप्त्यर्थक) + इन् +ङीप् =उर्वशी । अथवा 'अप्सं रुपम् अस्यै दत्तम्' (इसे रूप मिलाता है)

'स्त्रियां बहुष्वप्सरसः
स्यादेकत्वेऽप्सरा अपि'

बहुवचन में 'अप्सरसः' और एक वचन में 'अप्सरा' ।

आधुनिक अर्थ -

'अप्सु निर्मथनादेव
रसात्तस्माद्ववरस्त्रियः
उत्पेतुर्मनुज श्रेष्ठः
तस्मादप्सरसोऽभवन् ।'

पानी मथ कर अप्सरा होने की कथा पौराणिकी है । अप्सरा गन्धर्वों की स्त्रियां मानी जाती हैं । जो आकाश में ही रहती हैं, अतिस्नानप्रिय होती और वेष बदलने में पटु होती हैं । 'स्ववेंश्या', भी इनका नाम है और इन्द्र की दासियां समझी जाती हैं । बाण ने इनके १४ भेद बतलाए हैं ।

(२) आकाश तथा जल के युद्धों में कुशल सेना ।

'श्वन्वतीरप्सरसो रूपका उतार्बुदे'

अ. ११.९.१५

(४) अप्स अर्थात् रूपों में विचरने वाला चक्षु आदि ।

'अप्सरसां गन्धर्वाणां
मृगाणां चरणे चरन्'

ऋ. १०.१३६.६

अप्सरसः - (१) जल में विचरण करने वाली विद्युत् शक्तियां ।

'पुनस्त्वा दुरप्सरसः'

अ. ६.१११.४

(२) आकाश में प्राप्त् शरीरों में, कर्मों मे प्रकृति के घटक परमाणुओं में विचरने वाले जीवगण, (३) प्रजाओं में विचरने वाले , (४) अन्तरिक्ष में विचरने वाले सूर्य, चन्द्र नक्षत्र आदि ।

'अप्सरस उपसेदुर्वसिष्ठाः'

ऋ. ७.३३.९ .

अप्सरसौ - प्रजाओं में गुप्त रूप से विचरने वाली 'उग्रपश्या' और उग्रनजित नामक संस्थाएं जो खुफिया और पुलिस के समकक्ष हैं ।

सायण, ग्रीफिथ और क्षेमकरण यहां अर्थ करने में अस्पष्ट हैं ।

'उग्रं पश्ये उग्रजितौ तदद्य
अप्सरसावनु दत्तामृणं नः'

अ. ६.११८.१

अप्सरा - (१) ज्ञान मार्ग में सरण करने वाली इन्द्रियां, (२) प्रजा ।

'घृतमस्पराभ्यो वहत्वमग्ने'

अ. ७.१०९.२

(२) आप्तपुरुषों के साथ आगे बढ़ने वाली सेना या समिति ।

'पुञ्जिकस्थला च क्रतुस्थला चाप्सरसौ'

वाज.सं. १५.१५, तै.सं. ४.४.३.१, मै.सं. २.८.१०, ११४.१४, का.सं. १७.९, श.ब्रा. ८.६.१.१६.

(३) नित्य जल में चलने वाली अप्सरा गन्धर्वों की स्त्री ।

(४) इन्द्र की दासियां ।

अप्सरासु गन्धर्व - (१) समस्त लोकों में फेंकने वाली शक्तियों में शक्तिधर अर्थात् शक्तियों का स्वामी (२) जलीय अंशों से युक्त पुरुष (३) सगोत्र पुरुष ।

'अप्सरास्वपि गन्धर्व आसीत्'

अ. २.२.४

'गन्धर्वोअप्सु अप्या च योषा'

ऋ. १०.१०.४ अ. १८.१.४.

अप्सस् - (१) अपः सनोतिददाति इति अप्सस् (जो जल देता है वह अप्सस् है अर्थात् रस)।

(२) रूप ।

(३) जो व्याप्त रहे ।

'पृथिव्याः पुरीषमस्यप्सो नाम
तां त्वा विश्वे अभि गृणन्तु देवाः
स्तोमपृष्ठा घृतवतीह सीद
प्रजावदस्मे द्रविणा यजस्वा .
अश्विनाध्वर्यू साद य तामिह त्वा'

वाज.सं. १४.४, तै.सं. ४.३.१२.१, मै.सं. २.८.१, १०७.१, का.सं. १७.६, श.ब्रा. ८.२.१.७.

(हे इष्टके, तू रस नाम की पृथ्वी की पूरयित्री है । तेरी सभी देवता स्तुति करें । स्तुति ही तेरी

पीठ है । और तू घृतमयी है । इसी रूप में तू यहां रह । हम पुत्रवान् होवें । तुझे अश्विनी कुमार यहां आदर करें ।)

अप्स्वन्तःअग्नयः – प्रजाओं या लोकों में रहने वाले अग्नि (२) प्रकाशवान् सूर्य, चन्द्र और तारे, (३) प्रजाओं में रहने वाले विद्वान् ।
'रक्षन्तु त्वाग्नयो ये अप्स्वन्ताः'
अ. ८.१.११

अप्साः– अप् +साः = अप्साः।
जल देने वाला मेघ ।
'अप्सा याति स्वधया दैव्यं जनम्'
ऋ. ९.७१.८

अप्सुः – (१)दर्शनीय रूप वाला ।
'माप्सवः परि षदाम मादुवः'
ऋ.७.४.६

अप्सुजा – (१) प्राणों में प्रकट आत्मा ।
(२) अन्तरिक्ष में उत्पन्न विद्युत् ।
(३) प्रकृति के सूक्ष्म परमाणुओं या जलों में अन्तरिक्ष में तथा पदार्थों का उत्पादक ।
'अप्सुजा वा सहस्कृत'
ऋ. ८.४३.२८
(४) प्रजा से उत्पन्न विद्वान् ।
(५) प्राण (६) प्रजाओं में विशेष तेज से स्वामी बनने वाला राजा ।
'संशितो अप्सु अप्सुजाः'
वाज.सं. २३.१४, श.ब्रा. १३.२.७.१०.

अप्सुक्षितः – (ब.व.) एक वचन में 'अप्सुक्षित्' है । (१) जलों में रहने वाले देवता (२) अन्तरिक्ष में रहने वाले ११ देवता, द्युलोक में ११ और पृथ्वी में ११ रहते हैं । अथवा १० प्राण और जीवात्मा, १० इन्द्रियां और मन तथा १० दिशाएं और सूर्य में ३३ शक्तियां ।
'अप्सुक्षितो महिनैकादश स्थ'
ऋ. १.१३९.११, वाज.सं. ७.१९, मै.सं. १.३.१३ः ३५.८, ४.६.४ः ८४.११, श.ब्रा. ४.२.२.९.

अप्सुजाता ककुहाः – (१) प्रकृति के सूक्ष्म परमाणुओं के स्थूल रूप धारण कर लेने पर उनसे बीच उत्पन्न हुई ककुह आदि दिशाएं, (प्रजाओं में प्रसिद्ध विद्वान् वाग्मी पुरुष ।
'वच्यन्ते वां ककुहा अप्सु जाता'
ऋ. १.१८४.३

अप्सुजित – (१) प्रकृति के परमाणुओं पर भी शासन करने वाला प्रभु ।
'वज्रं च वृषणं भरत् समप्सु जित्'
ऋ. ९.१०६.३, साम. २.४६
(२) प्राप्त प्रजाओं में सर्वातिशायी ।
(३) प्राणों, प्रकृति के परमाणुओं और समस्त लोकों में व्यापक ।
'समप्सुजित् मरुत्वाँ इन्द्र सत्पते'
ऋ. ८.३६.१-६.
(४) समस्त अन्तरिक्ष में सूर्यवत् सर्वोपरि वर्तमान, (५) प्रकृति के सूक्ष्म परमाणुओं और जीवों पर भी वास करने वाला इन्द्र परमेश्वर
'सुपारः सुश्रवस्तमः समप्सुजित्'
ऋ. ८.१३.२, साम. २.९७.

अप्सुयोग – प्रजाओं के लिए उपयुक्त या जलोपयोगी साधन ।
'जिष्णवे योगायाप्सुयोगैर्वो युनज्मि'
अ. १०.५.५

अप्सुषद् – (१) समुद्रादि में व्यापार आदि के लिए विविध यातायात के रूप में स्थित ।
'अप्सुषदं त्वा घृतसदम् व्योमसदम्'
वाज.सं. ९.२, श.ब्रा. ५.१.२.५.
(२) यः यलेषु प्राणेषु वा सीदति । -(दया) जलों में रहने वाला विद्युत् ।
(३) अग्नि (४) प्रजाओं में अध्यक्ष पद पर विराजने वाला ।

अप्सुसंशित – जलों की शक्तयों में सुशिक्षित ।
'विष्णोः क्रमोऽसि सपत्नहाप्सुसंशितो वरुणतेजाः'
अ. १०.५.३३

अपाक्त – पश्चिम ।

अपाक् – (१) अप + अञ्च् + क्विप् = अपाञ्च् । नीचे की ओर जाने वाला
'एवैवापागपरे सन्तु दूढ्यः'
ऋ. १०.४४.७, अ.२०.९४.७
(२) नीच पद पर पाने योग्य, अधम ।
'तदपागिति शुश्रुम
अ. २०.१२८.४, शां.श्रौ.सू. १२.२०.२.४.
(३) पश्चिम ।

'राजा वृत्रं जङ्घनत् प्रागपागुदक्'
ऋ. ३.४३.११

अपाक - (१) नञ् +पच् +घञ् =अपाक । कच्चा ।
'अपाकाच्चित् यमवति'
ऋ. ८.२.३५

(२) जिससे अधिक और प्रशंसनीय एवं भोग्यतम प्राप्त न हो, सबसे अधिक प्रशंसनीय ।
अपाकोऽचिष्टुर्यशसे पुरुणि'
वाज.सं. २०.४४, मै.सं. ३.११.१, १४०.१२, का.सं. ३८.६, तै.ब्रा. २.६.८.४.

(३) पाक यज्ञों का न करने वाला ।

(४) परिपक्व ज्ञान, अनुभव और निश्चय वाला विद्वान् ।
'अपाकाः प्राञ्चो मम के चिदापयः'
ऋ. १.११०.२

हे पाकयज्ञों के न करने हारे अर्थात् परिपक्व ज्ञान अनुभव और निश्चय वाले विद्वानो (अपाकाः), नवागत कम उम्र को लोगों की अपेक्षा अधिक प्राचीन वृद्ध तथा ऊंचे मानयोग्य पदों पर जोने वाले (प्राञ्चः) कुछ एक मेरे प्रिय आप्त बन्धु (मम केचित् आपयः)

अपाक्तः - अपाक् +तसिल् =अपाक्तः । पीछे से
'प्राक्तो अपाक्तो अधरादुदक्तः'
ऋ. ७.१०४.१९, अ. ८.४.१९

अपाकासत् - (१) दुःखादि से रहित, (२) खूब बलवान् (३) सुअभ्यस्त ।
'अपाका सन्तमिषिर प्रणयसि'
ऋ. १.१२९.१

हे सबको प्रेरणा करने वाले (इषिर), तू जिस दुःखादि-रहित, खूब बलवान् एवं सुअभ्यस्त रथ को (आपकासन्तम्) आगे बढ़ता है (प्रणयसि)।

अपाकृतः - जल से पूर्ण तड़ाग ।
'यथा गौरो अपाकृतम्'
ऋ. ८.४.३, साम. १.२५२, २.१०७१, आश्व. श्रौ.सू. ७.४.४
(जैसे गौर मृग जलपूर्ण तालाब को जाता है ।)

अपाकृति - दूर करना ।
'विदा देवा अघानाम्
आदित्यासो अपाकृतिम् ।'
ऋ. ८.४७.२

अपाग् - पश्चिम् में, (२) दूर, नीचे ही नीचे ।
'यदद्याश्विनावपाग्
यत् प्राक् स्थो वाजिनीवसू'
ऋ. ८.१०.५.
'एवैवापागपरे सन्तु दूढ्यः'
ऋ. १०.४४.७, अ. २०.९४.७

अपागूहन् - अप +अगूहन्, अथवा अपि +अगूहन् । सम्यक् रूप से लाया (उपनीतवन्तः) या (२) उद्भासित किया (संवृतवन्तः) लाए जाने के अर्थ में प्रयोग ।
'अपागूहन् अमृतां मर्त्येभ्यः
कृत्वी सवर्णामददुर्विवस्वते
उताश्विनावभरद्यत् तदासीत्
अजाहादु द्वा मिथुना सरण्यूः'
ऋ. १०.१७.२, अ. १८.२.३३, नि.१२.१०.

त्वष्टा की पुत्री सरण्यू (त्वाष्ट्री) का विवाह विवश्वान से हुआ । सरण्यू विवस्वान् का तेज नहीं सह सकी और घोड़ी का रूप धारण कर पिता के घर चली गई । पिता ने उसे पुनः पति के घर भेज दिया, परन्तु सरण्यू पति के घर न जाकर उत्तर कुरु मे तपस्या करने लगी । विवस्वान ढूंढ़ते-ढूंढते श्वसुर के घर गए और वहां से उत्तर कुरु पहुंच गए । विवश्वान ने भी अश्व का रूप धारण कर बड़वा रूप में स्थित सरण्यू से संभोग किया । इस वीर्य को सरण्यू ने नासिका से धारण किया जिससे उत्पन्न पुत्रों के नाम नासत्या या अश्विनी कुमार हुए । पिता का घर छोड़ते हुए सरण्यू ने अपने ही स्वरूप की एक दूसरी स्त्री सवर्णा को मंत्र द्वारा रचकर पति के यहां रख छोड़ा था । उस सवर्णा से विवस्वान् ने आठवें मनु को उत्पन्न किया जो सावर्णि कहे गए ।

ऋचा का अर्थ- रश्मियों ने इस मरण धर्म रहित उषा को मनुषयों के लिए उद्भासित किया तथा समान रंगवाली उस सरण्यू को बना आदित्य को दे दिया। उषा ने स्तुतियों से अश्विनी कुमारों को प्रसन्न किया या सरण्यू ने हवि के द्वारा अश्विनीकुमारों का भरण पोषण किया । ऐसा हो ही रहा था कि (यत् आसीत्) सरण्यू ने मानों (उ) दो मिथुन-मध्यम एवं मध्यमा-वाणी को उत्पन्न कियां या छोड़ा । (अगूहात्)।

जब सरण्यू आदित्य मंडल के निकट प्रवेश करती है तब सूर्योदय होने पर मध्यम अग्नि और माध्यमिका वाणी का काल विच्छिन्न हो जाता है ।

अन्य अर्थ

ईश्वरीय नियमों ने अमृत स्वरूपा पूर्व कालीन सरण्यू को मनुष्यों से छिपा दिया और तत्सवर्णा अन्तकालीन सरण्यू बनाकर त्वष्टा को प्रदान किया । सरण्यू के दूसरे रूप ने अश्विकालवर्ती अहोरात्र को धारण किया और पूर्वकालीन सरण्यू ने अन्धकार और निस्तब्धता - ये दो मिथुन उत्पन्न किए ।

अपाङ् - अपाञ्च के प्रथम पुरुष एक वचन का रूप। (१) नीचि योनि में जाने वाला जीव ।
'अपाङ् प्राङेति स्वधया गृभीतः'
ऋ. १.१६४.३८
(२) देश से बाहर, सभा भवन से बाहर ।
'अपाञ्चमिन्द्र तं कृत्वा'
अ. ३.३.६

अपाची - (१) पश्चिम ।
'ते नो गोपा अपाच्याः'
ऋ. ८.२८.३
(२) दूर विद्यमान ।
'अपो अपाचीरपरा अपेजते'
ऋ. ५.४८.२

अपाचीन - (१) दूर ।
'अपाचीनमप व्यये'
अ. ६.९१.१
(२) नीचे का, दूर का, अन्धकार ।
'यो अपाचीने तमसि मदन्तीः'
ऋ. ७.६.४
पुनः, दूर अर्थ में -
'अपाचीनं तमो अगादजुष्टम्'
ऋ. ७.७८.३

अपाची पूः - अधोमुखी देह गत चित् पुरी ।
'विभिद्या पुरं शयथेमपाचीम्'
ऋ. १०.६७.५, अ. २०.९१.५, मै.सं. ४.१२.५,१९३.५ का.सं. ९.१९.

अपाञ्चौ - नीचे किए हुए ।
'अपाञ्चौ त उभौ बाहू'
अ. ७.७०.४, तै.ब्रा. २.४.२.२.

अपात् - (१) पैर रहित (२) स्वयं सबका आश्रय रहने से पैर से समान अन्य पैर की अपेक्षा न करने वाला ।
'अपादशीर्षा गुमानो अन्ता'
ऋ.४.१.११
(३) अविज्ञेय रूप, ब्रह्म परमेश्वर ।
'अपादग्रे समभवत्'
अ. १०.८.२१
(४) (क्रि.) पान किया या पान करें ।
'अपाद्धोत्रादुत पोत्रादमत्त'
ऋ. २.३७.४
जिस इन्द्र ने होता के यज्ञ से लेकर सोमरस का पान किया (होत्रात् आपात्)
ऋत्विजों से प्रज्ज्वलित, वृष्टि आदि का प्रदाता यज्ञाग्नि हितकारी हवि के वृष्टिप्रद भाग से (होत्रात्) पान करे । (अपात्) -दया. ।
(५) चरण से रहित उषा ।
(६) चरणादि से रहित वाणी ।
(७) विद्या जिसका नाश न हो ।
'अपादेति प्रथमा पद्वतीनाम्'
ऋ. १.१५२.३, अ. ९.१०.२३
(जिस प्रकार पैरो वाले जन्तुओं से सबसे प्रथम पाद-रहित उषा आती है, उस प्रकार चरण, पाद, सर्ग आदि विभाग वाली वाणी से भी प्रथम चरण आदि से रहित वाणी प्रकट होती है ।)
(८) अव्याकृत ब्रह्मशक्ति जो एक पदी आदि व्यक्त रूप धारण करने के पूर्व विद्यमान रहती है (९) अविज्ञेय रूप अमात्र, परमतुरीय पद ।

अपादम् - पैर रहित करके ।
'अपादमिन्द्र तवसा जगन्थ ।'
ऋ. ३.३०.८, वाज.सं. १८.६९.
हे इन्द्र या राजन् ! तू मेघ को या दुष्ट जन को पैर-रहित (अपादम्) कर अपने सामर्थ्य से मार (तवसा जघन्थ)

अपादः - बिना पैर का ।
'अपादहस्तो अपृतन्यदिन्द्रम्'
ऋ. १.३२.७
(यदि बिना पैर और हाथ वाला पुरुष इन्द्र या धार्मिक राजा के विरुद्ध युद्ध करे ।)

अपानत् - देह से बाहर जाता हुआ ।

'नमस्ते प्राण प्राणते नमो अस्तु अपानते'

अ. ११.४.८

अपानक्ष - अपान न देने वाला जठराग्नि ।

'प्राणदा अपानदा व्यानदाः'

वाज.सं. १७.१५, तै.सं. ४.६.१.४, मै.सं. २.१०.१, १३२.१३, श ब्रा. ९.२.१.१७.

अपान्नपात् - (१) एक देवता, (२) विद्युत् जो मेघ से चमकती है । 'तनूनप्तृ' शब्द से बना है । 'अद्भ्यः आदित्य ततः मध्यम्:' (जल से आदित्य और आदित्य से मध्यमावाक् उत्पन्न हुई। इस प्रकार मध्यमावाक् अप् की नप्त्री हुई। इसीसे विद्युत् का नाम अपाम् नपात् (जल की नलिनी) हुआ) ।

'यो अनिध्मो दीदयदप्स्वन्तर
यं विप्रासईडते अध्वरेषु।
अपां नपान्मधुमतीरपो दा
याभिरिन्द्रो वावृधे वीर्याय'

ऋ. १०.३०.४, १४.१.३७, नि. १०.१९

हे विद्युत् (अपान्नपात्) जो तू जलों के बीच अर्थात् मेघ में (अप्सु अन्तर) बिना इन्धन के भी (अनिध्मः) दीप्त होता है । और यज्ञ में विप्र जिसकी स्तुति करते हैं वह तू मधुर रस से युक्त वृष्टि जलों को हमें दे जिससे युक्त बलवान् सोम रस पीकर इन्द्र वीर कर्म के लिए बलवान् होते हैं ।

अपानपाः - अपानों का पालक

'प्राणपा मे अपानपाः'

वाज.सं. २०.३४

अपापकाशिनी - पुण्य का ही प्रकाश करने वाली वाणी ।

'या ते रुद्र शिवा तनूः
अघोराऽपाप काशिनी ।'

वाज.सं. १६.२, ४९, तै.सं. ४.५.१.१, १०.१, मै.सं. २.९.२, १२०.१८, २.९.९, १२७.११, का.सं. १७.११,१६,

अपापविद्ध - पापों से सदा युक्त ।

'अस्नाविरम् शुद्धमपापविद्धम्'

वाज.सं. ४०.८, ईश . उप. ८.

अपामग्निः - जलो की आग अर्थात् विद्युत् ।

'अपामग्निस्तनूभिः संविदानः'

अ. ४.१५.१०

अपामग्नयः - (१) प्रजाओं में ज्ञानवान् (२) शत्रु संतापक पुरुष ।

'ये व आपो अपामग्नयः'

अ. १०.५.२१

अपाम् अर्णांसि - अन्तरिक्ष के जल ।

'इष्यन्नर्णांस्यपां चरध्यै'

ऋ.१.६१.१२, अ. २०.३५.१२, मै.सं. ४.१२.३:१८३.११ का.सं. ८.१६, नि. ६.२०.

सूर्य अन्तरिक्ष के जलों की प्राप्ति के लिए (अपाम् अर्णांसि चरध्यै) तिरछी चाल से जाता हुआ (इस्यन्)।

अपामश्मा - (१) प्रजाओं का भोक्ता , (२) दिव्य गुणवान् (३) सूर्य के सामन सब रसों का आदान प्रदान करने वाला ।

'यो व आपोऽपामश्मा'

अ. १०.५.२०

अपामुपस्थः - अपाम् + उपस्थः। जलों का उपस्थ अर्थात् रहने का स्थान अन्तरिक्ष ।

'अपामुपस्थे महिषा अगृभ्णत्'

ऋ. ६.८.४, नि. ७.२६, कौ.ब्रा. २१.३.

(अन्तरिक्ष में मरुग्दण ने अग्नि को पकड़ा ।)

अपाम् ओज्मा - (१) जलों का बँल रूप तेज विद्युत् (२) प्रजाओं का पराक्रम ।

'अपामोज्मानं परिगोभिरावृतम्'

ऋ. ६.४७.२७, अ. ६.१२५.२, वाज.सं. २९.५३, तै.सं. ४.६.६.६, मै.सं . ३.१६.३, १८६.१०, का.सं. ६.१.

अपां गन्धर्वः - प्रजाओं के बीच ज्ञान वाणी धारण करने वाला ।

'अपां गन्धर्वं दिव्यं नृ चक्षसम्'

ऋ. ९.८६.३६

अपां गर्गराः - (१)जलों को निगल जाने वाले अजगर के समान पृथिवी पर लोटने वाले, गड़ गड़ शब्द करने वाले मेघ (२) भूमि के बरसाती नाले ।

'श्वसन्तु गर्गरा अपाम् वरुणा'

अ. ४.१५.१२

अपां गर्भ - (१) जल का गर्भ -परमात्मा । (२) सन्तानों को गर्भ के सदृश धारण करने वाला पिता-(दया.)

'अपां गर्भो नृतमो यह्वो अग्निः ।'

ऋ. ३.१.१२.

(३) जलों को रश्मियों द्वारा अन्तरिक्ष में धारण करने वाला सूर्य, (४) प्रकृति के सूक्ष्म परमाणुओं को अपने वश में रखने वाला ।

'अपांगर्भ दर्शतमोषधीनाम्'

ऋ. १.१६४.५२

(५) समस्त प्रकृति के परमाणुओं एवं जीवों के लिग शरीरों का गर्भ -परमेश्वर ।

(६) सर्वसंचालक प्रभु ।

'अपां यत् गर्भोऽवृणीत देवान्'

ऋ. ९.९७.४१, साम. १.५४२, २.६०५, नि. १४.१७.

(७) जलों को भीतर धारण करने वाली ओषधि-पुनर्नवाः ।

अ. ८.७.८

(८) प्राणो और सर्वत्र व्यापक प्रकृति के परमाणुओं और लोकों के बीच गर्भवत् छिपा हुआ या उसे पकड़ने, थामने और वश में करने वाला-परमेश्वर ।

(९) लिंग शरीरों और प्राण के बीच छिपा उनको ग्रहण और धारण करने वाला जीव ।

(१०) जलों में गर्भ रूप मे विद्यमान अग्नि ।

'गर्भो यो अपां गर्भो वनानाम्'

ऋ. १.७०.२

(११) विद्युत् ।

'अपां गर्भः प्रस्व आ विवेश'

ऋ. ७.९.३

अपांजग्मिः - (१) जलों के बीच चलने वाला-सोमरस की सीढी जिसे निचुम्पुण कहा जाता है ।

'अपां जग्मिः निचुम्पुणः'

ऋ. ८.९३.२२, नि. ५.१८

(२) जल धाराओं का एक मात्र आधार -समुद्र।

अपांजारः - (१) जलों को अपनी किरणों से सोखने वाला-सूर्य ।

'हविषा जारो अपाम्
पिपर्ति पपुरिर्नरा ।
पिता कुटस्य चर्षणिः ।'

ऋ. १.४६.४, नि. ५.२४.

किरणों से जलों को सूक्ष्म रूप से खींच लेने वाला सूर्य (अपांजारः) सबका पालन करने वाला (पपुरिः) होकर पिता के समान अन्न से सबका पालन करता है । और समस्त कुटिल मार्गों को प्रकाश से दिखाता भी है (कुटस्य चर्षणिः)

अथवा - हे अश्विद्वय। (नरा) या हे सांसारिक कार्य भार को चलाने वाले द्यावापृथिवी (नरा) जलों का शोषणकर्त्ता (अपांजारः), समय आने पर पूरा करने वाला या प्रीणयिता (पपुरिः) सूर्य जल से (हविषा) सबका पालन करता है, या सायण के अनुसार हवि से देवताओं को तृप्त करता है (पिपर्ति) ।

अपांतारः - (१) जलों से भरी हुई (२) कर्मों का कर्त्ता -शरीर ।

'अपां तारमवश्वसम्'.

अ. ४.३७.३

अपां दुरोण - (१) जलों का घर, जलों के बीच में, (२) आप्त प्रजाजनों के गृह या राष्ट्र के बीच में, (३) प्राणों का गृह -शरीर , (४) प्रकृति केपरमाणुओं या लोकों के बीच ।

'अग्ने अपां समिध्यसे दुरोणे'

ऋ. ३.२५.५,

अपां नपात् - (१) वीर्य को पतन न होने देने वाला । ब्रह्मचारी, (२ प्राणों के बीच न नष्ट न होने वाला । आत्मा, (३) प्रकृति के परमाणुओं लोकों और प्रजाओं के बीच स्वयं नाश न होने और उनको भी नाश न होने देने वाला-परमेश्वर , (४) मेघ, (५) सूर्य ।

'अपां नपातं परितस्थुरापः '

ऋ. २.३५.३, आ.सं. ३.६, तै.सं. २.५.१२.२, मै.सं. २.१३.१, १५१.४, का.सं. ३५.३.

(६) जलों को न गिरने देने वाला या व्यर्थ न बहने देने वाला बांध, सेतु, (७) प्राणों को न गिरने देने वाला, देह, (८) प्रजाओं को न गिराने वाला राजा ।

'येन नपातमपां जुनाम'

ऋ. १.१८६.५

अपां नेता - (१) जलों को ऊपर ले जाने वाला सूर्य, (२) लोकों, लिंग, शरीरों और प्राणों का नायक ।

'अपां नेता या इत ऊतिर्ऋग्मियः'

ऋ. ९.७४.३

(३) जलों , समुद्रों आप्तपुरुषों के कर्म और बुद्धियों का प्रवर्तक -परमात्मा ।

(४) आप्त पुरुषों और प्रजाओं का नायक ।

'यो अपां नेता स जनास इन्द्रः'

ऋ. २.१२.७, अ. २०.३४.७

अपां नेतारः - सूक्ष्म प्रकृति परमाणुओं के प्रणेता ।

'अपां नेतारः कतमे त आसन्'

अ. १०.८.३५,

अपां प्रतिमा - सूक्ष्म प्रकृति के परमाणुओं पर भी मापने वाला-उनमें भी व्यापने वाला-परमेश्वर ।

'अपां यो अग्ने प्रतिमा बभूव'

अ. ९.४.२

अपां फेनः - (१) जलों का फेन, (२) जल की बाढ़, (३) बुद्धि और कर्म का प्रवृद्ध बल ।

'अपां फेनेन नमुचेःशिर इन्द्रोदवर्तयः'

ऋ. ८.१४.१३, अ. २०.२९.४, साम. १.२११, वाज.सं. १९.७१, श.ब्रा. १२.७.३.४.

अपांभागः - प्रजाजनों का अंश रूप -राजा ।

'यो व आपोऽपां भागोप्स्व'

अ. १०.५.१५

अपां पित्तम् - (१) अग्नि, (२) कर्मों, प्रज्ञानों और आप्त प्रजाओं का तेजः स्वरूप बल ।

'अग्ने पित्तमपामसि'

अ. १८.३.५, वाज. सं. १७.६, तै.सं. ४.६.१.२, मै.सं. २.१०.१; १३१.१०: का.सं. १७.१७, श.ब्रा. ९.१.२.२७.

अपां पुष्पम् - प्रकृति की विकासावस्था ।

'आपं त्वा पुष्पं पृच्छामि'

अ. १०.८.३४

अपां पृष्ठ - (१) अग्नि, (२) जलों की पीठ की तरह शान्त राजा , (३ प्रजाओं की पीठ ।

'आपं पृष्ठमसि योनिरग्नेः'

वाज.सं. ११.२९, १३.२, तै.सं. ४.२.८.१, मै.सं. २.७.३, ७६.१६, ३.१.५, ६.१, का.सं.१६.३ १५, १९.४, २०.५, शा.ब्रा. ६.४.१.८, ७.४.१.९.

अपांभस्मन् - जलों का तेजोभाग मेघ ।

'अपां त्वा भस्मन् सादयामि'

वाज.सं. १३.५३, तै.सं.४.३.१.१, मै.सं. २.७.१८, १०३.७ का.सं. १६.१८, श.ब्रा. ७.५.२.४८.

अपामजः - (१) जलों के नीचे बरसाने वाला -सूर्य (२) इन्द्र, (३ प्रजाओं को सन्मार्ग पर चलाने वाला, (४) शत्रुओं को उखाड़ देने वाला, (५) प्राणों के बीच अजन्मा आत्मा ।

'पुरां दर्मोअपामजः'

ऋ. ३.४५.२, साम.२.१०६९.

अपांरसः - (१) सूक्ष्म 'आपः' रूप परमप्रकृति के परमाणुओं का सूक्ष्म रस, (२) परमाणुओं के भीतर परमाणुओं को भी धारण करने वाला शक्तिरूप परमेश्वर ।

'आपं रस ओषधीनां घृतस्य ।'

अ. ९.४.५

अपांरीतिः - जलों की धारा, (२) आप्तजनों की शैली ।

'वृष्टि दिवः पवस्व रीतिमपाम्'

ऋ. ९.१०८.१०, साम. २.३६२

अपांवत्सः - प्रजाओं में बसने वाला ।

प्रजाओं का प्रिय ।

'यो व आपो अपां वत्सः'

अ. १०.५.१७

अपांबिलम् - जलों का द्वार ।

'अपां बिलम् अपिहितं यदासीत्
वृत्रं जघन्वां अप तद्ववार'

ऋ. १.३२.११, नि. २.१७

(जलों का द्वार जो बन्द था उस वृत्र को इन्द्र ने मारा और बन्द द्वार को खोल दिया ।)

अपांवृषभः - प्रजाओं में सुख बरसाने वाला बलवान् पुरुष ।

'यो व आपो अपां वृषभः'

अ. १०.५.१८

अपां सधस्थः - (१) जलों के साथ मिलकर सबको अपने में घोलने में समर्थ -अग्नि, (२) आप्त पुरुषों का एकत्र होकर बैठने वाला सभा भवन ।

'होता यजिष्ठो अपां सधस्थेः'

ऋ. १.१४९, साम. २.११२५.

अपां सूर्यस्य संगमः - अन्तरिक्ष के जलों तथा सूर्य के मिलने का स्थान ।

'इममपां संगमे सूर्यस्य
शिशुं न विप्रा मतिभी रिहन्ति ।'

ऋ. १०.१२३.१, वाज.सं ७.१६, तै.सं. १.४.८.१, मै.सं. १.३.१०, ३४.२, का .सं. ४.३.श.ब्रा. ४.२.१.१०, नि. १०.३९

इस मध्यमस्थानीय देव की (इमम्) सूर्य तथा जलों के संगम- स्थान में मेधावी विप्र (विप्राः) प्रज्ञापूर्ण स्तुतिओं से (मतिभिः) शिशु के सदृश (शिशुं न) स्तुति करते हैं रिहन्ति ।

अपां हिरण्यगर्भ - प्रजाओं के बीच सुवर्ण आदि धारण करने वाला धनाढ्य पुरुष ।

'यो व आपोऽपां हिरण्यगर्भः'

अ. १०.५.१९

अपामार्ग - (१) दुष्टों को दूर कर राष्ट्र के कण्टकों को शोधन करने वाला-राष्ट्रपति , (२) अपामार्ग नामक ओषधि जिसे 'चिचिरा' कहते हैं ।

'अपामार्गत्वमस्मद्'

वाज.सं. ३५.११, श.ब्रा. १३.८.४.४.

(३) अप मृज्यते रोगो येन सोऽपामार्गः अथवा अपमार्जयति इति अपामार्गः (जिससे रोग दूर होता है अथवा रोगों को दूर करता है । नाना रोगहारी ओषिधयों का नाम (४) अपामार्ग विधान-राष्ट्र के अपकारियों का नाशकारी विधान । अर्थशास्त्र में इसे कण्टक शोधन कहा गया है ।

'अपामार्ग त्वया वयं सर्वं तदपमृज्महे'

अ. ४.१७.६,७, १८.८, ७.६५.३.

(४) पापक्लेशों को दूर परे रखने वाला ।

(५) कर्म-परिशोधक आत्मा ।

'अपामार्ग रुरोहिथ'

अ. ७.६५.१

अपामूर्तिः - (१) कर्मों और विज्ञानों की उन्नति कारिणी शक्ति प्रजाओं में विद्यमान है, (२) जलों की तरंग

'यो व आपो अपामूर्मिः'

अ. १०.५.१६

अपार - दूर पार । वेद में अपारे शब्द आया है । जिसका अर्थ 'दूरे पारे' है । आज भी अपार शब्द निम्नलिखित अर्थों में प्रयुक्त है (१) जिसका पार न हो, (२) तटहीन, (३) सीमा रहित, (४) अनन्त, अथाह, (५) अतिविस्तृत (६) पहुचं से बाहर (७) नदी का दूसरा तट ।

'उताभये पुरुहूत श्रवोभिः
एको दृढमवदो वृत्रहा सन्
इमे चिदिन्द्र रोदसी अपारे
यत् संगृभ्णा मघवन् काशिरित् ते ।'

ऋ. ३.३०.५.

हे इन्द्र, पुरुहूत, तू एक होता हुआ भी वृत्र असुर का नाशक है । जो तू ने 'असुरों से न डर', ऐसा देवता लोगों के अभय दाने के विषय में कहा है वह ठीक ही हुआ । और भी, हे इन्द्र , चूंकि तू दूर पार में स्थित इन स्वर्ग और पृथिवी को परस्पर ऊपर नीचे से संयुक्त करते हो इससे ज्ञात होता है कि तेरी मुट्ठी (कशिः) बड़ी है ।

(२) एक दूसरे से दूर पर स्थित द्यौ और पृथिवी ।

अपाला - (१) अविवाहित कन्या (२) अपाला को अत्रिसुता कहा गया है । स्मृतियों में अत्रि सुता को ही आत्रेयी कहा गया है । अत्रि ही आत्रेयी है । प्रथम रजस्वला होने के बाद वर प्राप्ति में जिसके तीन वर्ष न लगो हों वह अत्रि (अ + त्रि) है । नव यौवना रजोधर्म युक्त अविवाहिता कन्या

'अपालामिन्द्र त्रिष्पू त्व्यकृणोः सूर्यत्वचम्'

ऋ. ८.९१.७

(३) अबला कन्या ।

'अपालामिन्द्रि त्रिष्पूत्वाकृणोः सूर्यत्वचम्'

अ. १४.१.४१

अपावपः - अप + अवप =अपावपः । अर्थ है-काटगिरावे ।

अपावृक - सर्वथा मुक्त ।

'अपावृक् तमोऽभिज्योतिरश्रैत'

अ. १३.२.९.

अपावृक्त - दूर ।

'अपावृक्ता अरत्नयः

ऋ. ८.८०.८

अपावृत - अप +आङ् +वृ+क्त =अपावृत प्रकट ।

'विश्वायु शवसे अपावृतम्'

अ. २०.१५.१

अपाः - लोट् के अर्थ में 'पा' धातु का लुङ् में प्रयोग । अर्थ है- पी जा ।

'अपाः सोममस्तमिन्द्र प्रयाहि'

ऋ. ३.५३.६: आश्व. श्रौ.सू. ६.११.९.

(हे इन्द्र, या शत्रुमर्दन राजा, तू सोम पी और घर जा या दूर देश जा ।)

(२) (सं.) नाना कर्म ।

'रूपा मिनन्तदपा एक ईयते ।'

ऋ. २.१३.३, कौ.ब्रा. २५.८.

अपाष्ठ - (क्रि.) (१) दूर देश से लाया, (२) टूटा हुआ ।

'अपाष्टात् श्रृंगात् कुल्मलात्'

अ. ४.६.५

अपाष्ठवत् - (१) रजोधर्म के समय घृणित पदार्थ के समान रजस्वला का शरीर ।

'अपाष्ठवत् विषवंत् नैतदत्तवे'

ऋ. १०.८५.३४, अ. १४.१.२९

(२) दूर रखने योंग्य

अपाष्ठा - दुर्गति ।

'शता पाष्ठां निगिरतितां'

अ. ५.१८.७

अपाहन् - अपजघान । मारा ।

'इन्द्रो अस्मां अरदद् वज्रबाहुः
अपाहन् वृत्रं परिधिं नदीनाम्
देवोऽनयत् सविता सुपाणिः
तस्य वयं प्रसवे याम उर्वीः ।'

ऋ. ३.३३.६

हे विश्वामित्र, वज्रबाहु इन्द्र ने इन नदियों को खन डाला, नदियों के परिधिभूत मेघ या घेरे को (वृत्रम्) मारा (अदाहन्), सम्पूर्ण जगत् का प्रेरक सुन्दर हाथों वाला, दीप्तिमान इन्द्र इन जलों को मेघ-भेदन कर समुद्र तक लाया । इसलिए हम ऐसे इन्द्र की आज्ञा में रहने वाली फैलती हुई जाती हैं ।

स्वा. दयानन्द ने इन्द्र का अर्थ सूर्य किया है।

अप्नाः - कर्मशील ।

'अग्नेरप्नसः समिदस्तुभद्रा'

ऋ. १०.८०.२

अप्राणा- बिना प्राण की विराट् ।

'अप्राणैति प्राणेन प्राणतीनाम्'

अ. ८.९.९

अप्रामिसत्य - सत्य रूप महाव्रत का नाश न करने वाला ।

'अप्रामिसत्य मघवन् तथेदसत् '

ऋ. ८.६१.४

अप्रायि - आपूपुरः, आपूरयसि -ओतप्रोत करता है । आपूर्ण करता है ।

'आ खि पार्थिवं रजः पितुरप्रायि धामभिः '

ऋ. खि. १०.१२७.१, अ. १९.४७.१, वाज. सं. ३४.३२, नि . ९.२९

हे रात्रि, तू मेघ आदि के स्थानों के साथ अर्थात् अन्तरिक्ष के साथ साथ पृथिवी लोक को अन्धकार से पूर्ण करती है ।

अप्रायु - अप्रायुव - (१) जिस की आयु का वृथा नाश होता प्रतीत न हो, (२) जीवन शक्ति को न खाने वाला-दीर्घायु ।

'अप्रायु वो रक्षितारो दिवे दिवे '

ऋ. १.८९.१

(३) विस्तार दिया जाने वाला ।

(४) कभी न टूटने वाला ।

'अप्रायुभिः यज्ञेभिः वावृधेन्यम् '

अ. २०.६४.६

(५) नञ् +प्र +आङ् +द्यु +क =अप्रायु =अपगतमनस्क = प्रमाद रहित । सायण ने इसका अर्थ 'अपरित्यजन्' किया है । जैसे अ +प्र +ई (गत्यर्थक) +उण् = अप्रायु । अथवा प्रकर्षेण एति इति प्राय । नञ् +प्रायु-अप्रायु । देवराज यड्वा ने 'अप्रायुव ' शब्द माना है ।

'आनो भद्राः क्रतवो यन्तु विश्वतः।
अदब्धासो अपरीतास उद्भिदः
देवा नो यथा सदमिद् वृधे असन्
अप्रायुवो रक्षितारो दिवेदिवे '

ऋ. १.८९.१

हमारे कल्याणकारी अग्निष्टोमादि यज्ञ सर्वतः सर्वदा अप्रतिहत एवं शत्रुओं से अप्रतिरुद्ध होकर शत्रुओं का नाश करते हुए आवें जिस से परितुच्ट होकर देवगण प्रमाद रहित हो । हमारे प्रतिदिन रक्षक होवें -सा.

अन्य अर्थ, भद्र कर्मशील सर्वत्र कष्ट रहित, अविपरीत या धर्मानुकूल कायिक, मानसिक एवं वाचिक पापों को उत्तमतया उद्भेदन करने वाले विद्वान् हमें प्राप्त हों, जिस से वे देव सदैव हमारी उन्नति के लिए हो और प्रमाद रहित रहते हुए प्रतिदिन हमारे रक्षक हों ।

अप्रायुष् - (१) जीवित, जागृत शक्तिशाली पुरुष , (२) नवयुवक शिष्य ।

'अप्रायुषे दिवातरात्'

ऋ. १.१२७.५.

(जीवित, जागृत शक्तिशाली पुरुष या नवयुवक शिष्य के लिए सूर्य के प्रकाश से या दिन से भी अच्छा प्रकाश देने वाला था स्पष्ट मार्ग दर्शी है ।)

अप्सा - अप् +सन् (दान देने वाला) =जल देने वाला ।

अपि - (१) एक उपसर्ग , (२) संसर्ग अर्थ में आता है । (३) 'आङ्,' उपसर्ग के स्थान में भी वेदों में प्रयुक्त होता है जैसे-अपिगुः (आगमन) आया या ज्ञात किया । गम् धातु ज्ञानार्थक और गत्यर्थक दोनों हैं । (४) 'अ' हटा कर 'पि' का भी प्रयोग होता है । (आचार्य भागुरि के मत से) जैसे 'पिधान' संज्ञा और क्रिया पदों के साथ प्रयोग होने पर किसी चीज के निकट या ऊपर रखना, किसी पदार्थ की ओर ले जाना, कहीं पहुंचना निकटता अर्थ का परिचायक है (५) क्रिया विशेषण या संयोजक अव्यय के रुप में इसका अर्थ -और भी, सुतराम्, और भी सिवा और 'इसके' अलावे होता है । (६) यद्यपि (७) प्रश्न के आदि में प्रयुक्त (८) आशा एवं प्रतीक्षा के अर्थ में, जैसे - 'अपि जीवेत् स ब्राह्मणशिशुः' (९) कदाचित् सम्भवतः (१०) काश, अगर यदि जैसे अपिनामाहं पुरुरवा भवेयम् (११) सन्देह या अनिश्चय का बोधक, जैसे, 'अपि चोरो भवेत्' (१२) संभावना (१३) निरपेक्षिता का द्योतक, जैसे, अपि स्तुहि विष्णुम्' (१४) अतः के अर्थ में जैसे ।

(१५) सम्बन्ध कारक के साथ भी अपि का प्रयोग जैसे 'सर्पिशोऽपिस्यात्'

'मा शिश्नदेवा अपिगुऋतं नः'

ऋ. ७.२१.५ नि. ४.१९.

(हे इन्द्र, और जो ये तथाकथित मनुष्य नाम धारी, विलासिता प्रिय अब्रह्मचारी पापी (शिश्वदेवाः) हैं वे मेरे यज्ञ में न आवें या सत्य न प्राप्त करें ।)

अपिकक्ष्य - कक्ष्या प्रति वर्जतेयः -दया. । 'कक्ष्या' का अर्थ बोध है । अथः 'अपि कक्ष्या' का अर्थ हुआ कक्षाओं में उत्तरोत्तर बढ़ता हुआ ज्ञान है ।

'सवां मधु प्रवोचदृतायन्
त्वाष्ट्रं यद् दस्रावपिकक्ष्यं वाम्'

ऋ. १.११७.२२

वह मुख्य पुरुष ऐश्वर्य की कामना करता हुआ (ऋतायन्) आप दोनों का (वाम्) शिल्पियों से बताए गए मधुर एवं शत्रुओं का पीड़न और स्तम्भन करने वाला बल (त्वाष्ट्रम्) था शस्त्रास्त्र साधन या ऐश्वर्य और ज्ञान प्राप्त कराता है । (अपिकक्ष्यम्)।

अपिज -(१) उत्तम बुद्धि और ज्ञान में प्रसिद्ध होना, ज्येष्ठ मास जो व्यास उत्पन्न करता है, (३) ज्ञान प्रवृत्ति कराने वाला ।

'अपिजाय स्वाहा'

वाज.स. ९.२०, १८.२८, २२.३२, मै.सं. १.११.३: १६३.१७, का स० १४.१

अपिधान -(१) आवरण , ढंपना ।

'त्वमपामपिधानावृणोः'

ऋ. १.५१.४

तू जलों के आवरणों में अर्थात् आकाश मे रखने वाले कारणों को दूर करता है । (२) आच्छादित स्थान, विश्रामगृह ।

'ऊष्मण्यपिधाना चरूणाम्'

ऋ. १.१६२.१३, वाज.सं. २४.३६, तै.सं. ४.६.९.१. मै.सं. ३.१६.१:१८३.५

(३) चारों तरफ का आवरण ।

'अश्मानं ते अपिधानं कृणोमि'

अ. ७.३५.३

अपिधानवान् -आच्छादन से युक्त ।

'गव्यं चिदूर्वम् अपिधानवन्तम्

ऋ. ५.२९.११

अपिधिः-अपि +धा +कि =अपिधि । गुप्त खजाना और राष्ट्र की रक्षा करने वाला, (२) सद्गुण धारक । (दया.)

'प्रियां अपिधीः विनिषीष्ट मेधिर
आ वनिषीष्ट मेधिरः'

ऋ. १.१२७.७

मन को प्रिय लगने वाले मनोहर गोपनीय खजानों और राष्ट्र की रक्षा करने वालों को (प्रियान् अपिधीन्) शत्रुओं का नाशकारी या प्रज्ञावान् होकर (मेधिरः) स्वयं प्राप्त करें या सब को विभक्त करे (वनिषीष्ट)।

अपिनद्ध - अपि +नह् +क्त =अपिनद्ध । दबाया या छिपाया हुआ ।

'अश्नापिनद्धं मधुपर्यपश्यन् '
ऋ. १०.६८.८, अ. २०.१६.८, नि. १०.१२
(बृहस्पति ने मेघसे दबाए या छिपाये जल को देख लिया)।

अपिप्राणी-सबसे उत्कृष्ट प्राण और बल देने वाली ।
'अपिप्राणी च सदनी च भूयाः'
ऋ. १.१८६.११

अपियन् - (१) प्रयाण करता हुआ (२) ब्रह्म में लीन होता हुआ, (३)परिव्राजक मार्ग में जाता हुआ ।
'मा त्वा तपत् प्रिय आत्मापियन्तम्'
ऋ. १.१६२.२० वाज.स. २५.४३ तै.सं. ४.६.९.३ का.सं. (अश्व.) ६.५.
(४)आक्रमण करता हुआ ।

अपिरिप्त - अपि+रिप्+क्त, (१) पीड़त (२) सकल विद्याओं का ज्ञाता । (दया.)
'युवं कण्वाय नासत्या अपिरिप्ता हर्म्ये'
ऋ. ८.५.२३
(३) अन्धा, (४) कण्व का विशेषण ।
'युवं कण्वाय अपरिप्ताय चक्षुः'
ऋ. १.११८.७

अपिवातयन् - प्राप्त कराता हुआ ।
'मन्मानि चित्रा अपिवातयन्त'
ऋ. १.१६५.१३, मै.सं. ४.११.३:१७०.३, का.सं. ९.१८
हे अद्भुत कार्य को करने वाले मरुतो या विद्वानो आप लोग मनन करने योग्य विद्वानों और धनों को प्राप्त कराते हुए (अपिवातयन्तः)... ।

अपिशत् - अपिशत् (अवयवों से युक्त किया) । पिश् धातु अवयव से युक्त करने के अर्थ में है । अंग्रेजी का piece शब्द भी अर्थ में मिलता जुलता है । अवयवों को जोड़ना ही 'पिश् ' धातु का स्पष्टार्थ है ।

'य इमे द्यावा पृथिवी जनित्री
रूपैरपिंशत् भुवनानि विश्वा
तमद्य होतरिषितो यजीयान्
देवं त्वष्टारमिह यक्षि विद्वान् '

ऋ. १०.११०.९,अ. ५.१२.९, वाज.सं. २९.३४, मै.सं. ४.१३.३,२०२ .११, का.सं. १६.२०, तै.ब्रा. ३.६.३.४ आश्व. श्रौ.सू. ३.८.१,नि. ८.१४.
जिस त्वष्टा देव ने सभी जीवों को उत्पन्न करने वाली (जनित्री) इन द्यौ और पृथिवी को तथा सभी जीवों या लोकों को रूपों से अवयव युक्त किया उस त्वष्टा को विद्वान् प्रार्थित या परमेश्वर से प्रेरित हैं प्रवीणतम् या उत्तम यज्ञ कर्ता होता । तू स्तुतियों से आज पूज (अद्य यक्षि) ।

अपिशर्वर - (१) रात्रि का अन्धकार, (२) अज्ञानान्धकार का समय, (३) चारों ओर से हिंसाकारी शस्त्रास्त्र के द्वारा प्रवृत्त संग्राम ।
'समिद्धमपि शर्वरे'
ऋ. ३.९.७

अपिष्ठित - उत्तम पद पर स्थित ।
'यदीं गच्छन्ती उशतीरपिष्थितम्'
ऋ. १.१४५.४

अपिहितम् - बन्द,ढका हुआ ।

अब्जित -(१) प्राणों या आप्त प्रजाओं को वश करने वाला ।
'स्वर्जिदब्जित पवते सहस्रजित्'
ऋ. ९.७८.४
(२) जलों, प्राणों, प्रजाओं और प्रकृति के सूक्ष्म परमाणुओं का विजेता तथा उन्हे वश में करने वाला-इन्द्र-परमेश्वर (३) सूक्ष्मातिसूक्ष्म ।
'अश्वजिते गोजिते अब्जिते भरा'
ऋ. २.२१.१.

अपीच्य -(१) अति सुन्दर, सुगुप्त, सुदृढ़, ।
'अपीच्येन सहसा सहन्ते'
ऋ. ७.६०.१०
(२) गुह्य रहस्य, (३) अन्धकारा वृत पदार्थ ।
'अग्निर्वेद मर्तानामपीच्यम्'
ऋ. ८.३९.६
(४) सबके लय होने का स्थान परमदर्शनीय परम गुप्त परमेश्वर ।
'अपीच्येन वयमस्य विद्म'
ऋ. १०.१२.८,अ.१८.१.३६
(५) गया हुआ अंश (६) वीर्य रूप से प्राण अंश जो पुत्र रूप में उत्पन्न होता है । (७) भीतर छिपा हुआ अति सुन्दर स्वरूप ।
'नाम त्वष्टुरपीच्यम्'
ऋ. १.८४.१५, अ. २०.४१.३, साम. १.१४७,२.६५, मै.सं. २.१३.६: १५४.११, का.सं. ३९.१२, तै.ब्रा. १.५.८.१, नि. ४.२५.
अपचितम्, अपगतम् , अपिहितम् , अन्तर्हितम्

अप +चि +य =अपीच्य ,

(४) अप +अञ्च् +क्विन् =अप्यञ्च्, अप्यञ्च् +यत् = अपीच्यम् ।

(५) अपि +यहि (गत्यर्थक) +क्त =अपिहित

(६) भट्ट भास्कर मिश्र के अनुसार अपीच्य का अर्थ 'अप्रकाश' (बिना प्रकाश वाला) है । चन्द्रमा में स्वयं प्रकाश नहीं होता । सूर्य की रश्मियां रात में चन्द्रमंडल में अन्तर्हित होकर चन्द्रमा को प्रकाशित करती हैं । अपीच्य का अर्थ अन्तर्हित तेज है ।

'अत्राह गोरमन्वम्
नाम त्वष्टुरपीच्यम्
इत्था चन्द्रमसो गृहे'

ऋ. १.८४.१५,अ.२०.४१.३.

(यहीं पर चलने वाले चन्द्रमा के मण्डल में (गोः चन्द्रमसः गृहे) दीप्त आदित्य के (त्वष्टुः) अन्तर्हित तेज (अपीच्यम् +नाम) का अवस्थान् इस प्रकार (इत्था) हुआ या सूर्य की रश्मियां चन्द्रमण्डल में अन्तर्हित हुईं ।)

अपीजुषा-उत्तम रूप से कार्य व्यवहार में लाने वाले-उषासानक्ता (उषा और रात) या स्त्री पुरुष ।

'उषासानक्ता जगतामपीजुषा'

ऋ. २.३१.५

अपीवृत्त -अन्धकार से आवृत्त

'अस्य मदे स्वर्यं दा ऋताय
अपीवृत्तमुस्रीयाणामनीकम्'

ऋ. १.१२१.४

(सूर्य अन्धकार से आवृत्त (अपीवृतम्), तेजोमय तापदायक (स्वर्यम्) रश्मियों के समूह को (उस्त्रियाणाम् अनीकम्) प्रकाश और वृष्टिजल से इस लोक की प्रसन्नता के लिए फैलाता है ।

अपुनः - बार बार न होना ।

'अनानुकृत्यम् अपुनश्चकार ।'

ऋ. १०.६८.१०,अ.२०.१६.१०

अपुनर्दीयमाना पुनः लौटायी न जाने वाली ब्रह्मगवी (२) शासन व्यवस्था ।

'क्षत्रियेणापुनर्दीयमाना'

अ.१२.५.४४

अपुष्पा - पुष्प रहिता, जिसमें पुष्प न निकले या जिससे अल्प पुष्प निकले ।

'उत त्वं सख्ये स्थिरपीतमाहुः
नैनं हिन्वन्त्यपि वाजिनेषु
अधेन्वा चरति माययैषः
वाचं शुश्रुवां अफलामपुष्पाम्'

ऋ.१०.७१.५,नि.१.२०.

और चौदह विद्यास्थानों में कुशल एवं वेद रूपी वाणी के सख्य में स्थिरतापूर्वक वेदोक्तार्थरूपी पान करते हुए स्थिरपीत कहते हैं । विद्वानों के मध्य में ऐसे स्थिरपीत पुरुष को कोई नहीं हरा सकता । और जो बिना समझे वेद का सिर्फ पाठ मात्र करता है उसके लिए यह वेदवाणी धर्म ब्रह्मज्ञान रूपी क्षीर को न देने वाली धातु के समान हो जाती है । अर्थात् माया की दूध रहित धेनु के समान अफला और अपुष्पा हो जाती है ।

अप्तुर् - अप्सु अन्तरिक्षे से त्वरित यः सः (जलों या अन्तरिक्ष में वेग से जाने वाला) ।

'ये अप्तुरो दिव्यासो न गृध्रा
अभि प्रयो नासत्या वहन्ति'

ऋ. १.११८.४

(जो जलों और अन्तरिक्ष में वेग से जाने वाले गीध के समान उत्तम गन्तव्य प्राप्तिस्थान या ठिकाने तक ले जाते हैं ।)

अपूपनाभिः - (१) जिसकी नाभि में अपूप हो वह शतौदना पृथिवी । (२) सायण ने 'पूआ युक्त नाभि वाली गौ' अर्थ किया है परन्तु यह अर्थ तर्क संगत नहीं है । पृथिवी की नाभि में । अनेको अन्न उत्पन्न होते हैं । अतः उसे शतौदना कहा गया है । 'अपूपनाभि' भी पृथिवी का विशेषण है ।

'इन्द्रियम् अपूपः' - ऐ.आ. २.२४

'इन्द्रस्य वीर्यम् इन्द्रियम् । तत् नाभिः सन्नहनं वलं यस्याः सा अपूप नाभिः'

जिस पृथिवी को राजा का वीर्य सुबद्ध और सुव्यवस्थित करत है वह अपूपनाभि शतौदना पृथिवी है ।

ज.दे.श.

'स स्वर्ग मारोहति यत्रादस्त्रिदिवं दिवः
अपूपनाभिं कृत्वा योददाति शतौदनाम्'

अ.१०.९.५

अपूप - अपूप (पृषोदरादिवत्) जो दूर और निकट

सब । पदार्थों को प्राप्त हो आत्मा, (२) लोक में अपूप का अर्थ पूआ है । (३) इन्द्रिय ।

अपूपवत् – अपूपमिन्द्रियम् – ब्र. । अप + उपवत् = अपूपवत् । दे. अपूप । दूर और निकट सबको प्राप्त आत्मा, (२) गृह से दूर गुरु या आचार्य आदि के समीप जाने वाला ।

'अपूपवन्तम् उक्थिनम्'

ऋ. ३.५२.१,८.९१.२,साम.१.२१,वाज.सं. २०.२९.

अपूपवान् – (१) अप +उपवान् । दूरे आचार्यगृहे उपवीतवान् (गृह से दूर या गुरु आचार्य आदि के समीप जाने वाला –शिष्य । (२) इन्द्रियों का सामर्थ्यवाला ।

अपूपःसोमः – (१) मालपूए के समान समृद्ध राष्ट्र, (२) स्नेह युक्त या ऐश्वर्य युक्त राष्ट्र (३) मालपुए के समान सोमरस

'अपूपमद्धि सगणोमरुद्भिः'

ऋ. ३.५२.७

अत्पूर्य – (१) उत्तम कर्मों में प्रेरित करने का कार्य (२) आप्त प्रजाओं का शासन कार्य ।

'अप्तूर्ये मरुत आपिरेषः'

ऋ. ३.५१.९

अपूपापिहित कुम्भ – (१) रस को गुप्त रूप से धारण करने वाले कलशों के समान शारीरिक रस का पात्र–शरीर ।

(२) अपूप अर्थात् मालपूए से ढका घड़ा

'अपूपापिहितान् कुम्भान्'

अ. १८.३.६८,४.२५.

अपूर्वेषिता वाचः – अपूर्वेण आदिभूत परमेश्वरेण इषिता वाचः (आदिभूतपरमेश्वर से प्रेरित वेद वाणियां) ।

'अपूर्वेणेषिता वाचः
ता वदन्ति यथायथम्'

अ.१०.८.३३

अपूर्व्य – (१) पूर्व पुरुषों द्वारा किये कर्म से भी विलक्षण कर्म करने वाला (२) जिसके पूर्व कोई अन्य न हो ।

'त्वं नो वायवेषामपूर्व्यः'

ऋ. १.१३४.६

अपूरुषघ्नः – अपने शूर पुरुषों को न मारने वाला ।

'अपूरुषघ्नो अप्रतीत शूर'

ऋ. १.१३३.६

अपृमन् – पृ (पालन पोषण करना ।) +शतृ =पृणन् (पालन पोषण करता हुआ) । नञ् +पृणन् =अपृणन् (पालन पोषण नहीं करता हुआ या करने वाला)

'अपृणन्तम् अभि संयन्तु शोकाः'

ऋ. १.१२५.७

पालन पोषण न करने वाले को (अपृणन्तम्) शोक, दुःख और पीड़ाएं सब ओर से प्राप्त हों । (शोकाः अभिसंयन्तु)

पुनः–

'उतापृणन् मर्डितारं न विन्दते'

ऋ. १०.११७.१

अपृतन्यत् – युद्ध करे ।

अपेशस् – रूपहीन, शब्द धनहीन । दरिद्र पेशस् शब्द पिश् (अवयव जोड़न्ना) धातु से बना है । अर्थ है रूप अंग्रेजी का **Face** शब्द पेशस् से बहुत मिलता जुलता है ।

'केतुं कृण्वन्नकेतवे
पेशो मर्या अपेशसे'

ऋ. १.६.३,अ. २०.२६.६, ४७.१२,६९.११, साम २.८२०, वाज.सं. २९.३७, तै.सं. ७.४.२०.१, मै.सं. ३.१६.३,१८५.८, का.सं. (अश्व) ४.९, तै.ब्रा. ३.९.४.३.

(दरिद्र पुरुष के दारिद्र्य नाश करने के लिए तू धन देता है)।

अपेक्षाः – धनरहित ।

अपोदक – अप +उदक = अपोदक ।

सूखे रेगिस्तान का सांप

'बभ्रोरपोदकस्य च'

अ. ५.१३.६

अपोदक – अप +उदका =अपोदका । पानी को भीतर न जाने देने वाली नौका ।

अपोदक विष – जलरहित रुधिर को सुखाने वाला विष ।

'यत्ते अपोदकं विषम्'

अ. ५.१३.२

अपोनर्यः – (१) जल की ऊर्मियां (२) नरी शब्द नाली का वाचक है । पानी बहाने वाली नालियां ही नारी हैं । नृ धातु से यह शब्द बना है । 'नरी' का बहुवचन नर्य है ।

(३) अन्तरिक्षस्थजल की तरह रज वीर्य से

उत्पन्न अधिक कर्म या मनुष्यों के लिए हितकारी या मनुष्य की सन्तान ।
नर+यत् = नर्यः ।
'जनिष्ठो अपो नर्यः सुजातः'
ऋ. १०.९५.१०, नि. ११.३६
(जल की ऊर्मियां, सुजात पुत्र के समान शस्य रूपी सम्पत्ति को बढ़ाने वाली होती है।) -सा. अथवा, अन्तरिक्षस्थ जल के प्रपात के समान रज वीर्य से उत्पन्न अधिक कर्मा मनुष्यों के लिए हितकारी या मनुष्य की सन्तान था माता पिता से भी अधिक गुणी पुत्र (सुजातः) उत्पनन होता है ।)

अपोहन - (१) सुवर्ण या लोहे से गढ़ा हुआ (२) ज्ञान से व्याप्त ।
'अयोहतं योनिमा रोहसि द्युमान्'
ऋ. ९.८०.२

अप्रोषिवान् - कभी प्रवास में नहीं रहने वाला ।
'अप्रोषिवान् गृहपतिर्महां असि'
ऋ. ८.६०.१९,साम. १.३९.

अफला - (१) फल रहति, (२) जो वाणी फल नहीं देती, (३) बिना समझी बुझी वेदवाणी ।
'अधेन्वा चरति माययैष
वाचं शुश्रुवां अफलाम् अपुष्पाम्'
ऋ. १०.७१.५,नि. १.२०.
(४) फल रहित ओषधि ।
'फलिनी रफला उत'
अ. ८.७.२७.
'याः फलिनीर्या अफला'
ऋ. १०.९७.१५

अफाणयत् - पहुंचाता है ।
'यो व्यतीँरफाणयत्'
अ. २०.९२.१०

अब्जा - जल से उत्पन्न । अहि (इन्द्र) का विशेषण होकर आया है ।
'अब्जामुक्थैरहिं गृणीषे
बुध्ने नदीनां रजःसु षीदन्'
ऋ.७.३४.१६,नि. १०.४४.
हे स्तोता, तू जल में होकर जल में उत्पन्न इन्द्र की (अब्जाम् अहिम्) जल के बन्धन के लिए (नदीनां बुध्ने) ऋचाओं से प्रार्थना करता है) ।

अब्द - संवत्सर ।
'सजूरब्दो अयवोभिः'
वाज.सं. १२.७४, तै.सं. ५.६.४.१, मै.सं. २.१२.३,१४६.२, का.सं. २२.५.६.

अब्दया - (१) जल देने वाली मेघमाला से युक्त, (२) आप्तजनों की दान शील क्रिया से युक्त ।
'अब्दया चिन्मुहुरा ह्लादुनीवृतः'
ऋ. ५.५४.३

अबधिर - जो बहरा न हो-भगवान् इन्द्र । वह सबका सुनता है ।
'उत त्वाबधिरं वयम्'
ऋ. ८.४५.१७.

अब्दिमान् - (१) जलवाला, (२) ज्ञानों और कर्मों का उपदेश देने वाला ।
'यो अब्दिमां उदिनामां इयर्ति'
ऋ. ५.४२.१४

अभक्त - (१) विभाग करने के अयोग्य विद्या आदि पदार्थ , (२) जो पहले कभी सेवित न हुआ हो, (३) अपूर्व धन के तुल्य श्रेष्ठ ।
'अभक्तं चित् भजते गोह्यं सः'
ऋ. ३.३०.७
(४) स्वंय किसी की भक्ति न करने वाला, (५) परम पूज्य,सर्वोच्च जिसका विभाजन न हो ।
'भक्तमभक्तमवो व्यन्तो अजरा'
ऋ. १.१२७.५
परम भजन करने योग्य (भक्तम्) उस स्वयं किसी की भक्ति न करने वाले, परम पूज्य, सर्व प्रधान, सर्वोच्च (अभक्तम्) पास रक्षा (स्वरूप प्रभु को प्राप्त होते हुए (व्यन्तः) ।
(६) असंविभक्त धन
'अभक्ते चिदा भजा राये अस्मान्'
ऋ. १०.११२.१०

अभय - (१) भय रहित अवस्था, (२) भयरहित ।
'उताभये पुरुहूतः श्रवोभिः
एकोदृढ़म् अवदो वृत्रहा सन्'
ऋ. ३.३०.५
हे देवों के रक्षार्थ आहूत इन्द्र । तू एक होता हुआ भी वृत्र का वध करने वाला हुआ । जो तू ने अभय होने के सम्बन्ध में देवताओं को वचन दिया है ।
हे निर्वाचित राजन् । (पुरुहूतः) तू अद्वितीय दुर्जनघाती होता हुआ भी (वृत्रहासन्) आत्मयशों

से अभय राष्ट्र में अभय वाणी का उदाहरहण करता है । -(दया.)

'सर्वाभ्यो अभयं करत्

ऋ. २.४१.१२. अ. २०.२०.७,५७.१०, तै.ब्रा. २.५.३.१, नि. ६.१

अभयङ्कर - भय नहीं करने वाला, अभय करने वाला ।

'वृषेन्द्रःपुर एतु नः सोमपा अभयंकरः'

ऋ. १०.१५२.२, अ. १.२१.१,तै.ब्रा. ३.७.११.४, तै.आ. १०.१.९, तै.आ. (आंध्र) १०.५५.

अभयसनि - अभय देने वाला ।

'लोकसन्यभयसनि'

वाज.सं. १९.४८

अभयं स्वस्ति - अभयरूपी स्वस्ति या कल्याण ।

'स्वर्वत् ज्योतिः अभयंस्वस्ति'

ऋ. ६.४७.८, कौ.ब्रा. २५.७, तै.ब्रा. २.७.१३.३.

निः श्रेयस् को देने वाले ज्ञान प्रकाश को (स्वर्वत् ज्योतिः) तथा अभयरूपी कल्याण को पहुंचा...।

अभरन् - आभरन्'आहरत्' लाया हृग्रहोर्भश्छन्दसि. से 'ह' का 'भ',

'अपामुपस्थे महिषा अगृभ्णुत
विशो राजानमुप तस्थुर्ऋग्मियम् ।
आ दूतो अग्निमभरद् विवस्वतो
वैश्वानरं मातरिश्वा परावतः'

ऋ. ६.८.४, नि. ७.२६, कौ.ब्रा. २१.३.

जहां जल रहता है उस अन्तरिक्ष में मरुद्गण ने अग्नि को पकड़ा और उसी प्रकार से उस पूजनीय अग्नि की स्तुति की जैसे लोग राजा की स्तुति करते हैं । देवताओं के दूत वायु दूरस्थित सूर्य से वैश्वानर अग्नि को लाए ।

(२) भृ धातु के लङ् प्र.पु.ए वचन का रूप । अर्थ है- पान किया ।

'आदाय श्यनो अभरत् सोमम्'

ऋ.४.२६.७,नि.११.२.

अभवः - भू धातु के लङ् म.पु.एक वचन का रूप । वेद में लङ् का प्रयोग वर्तमान में होता है । 'छन्दसि लुङ् लङ् लिटः'।

'कायमानो वना त्वं
यन्मातृरजगन्नपः
न तत्ते अग्ने प्रमृषे निवर्तनम्
यद्दूरे सन्नि इहाभवः'

ऋ. ३.९.२, साम. १.५३, नि. ४.१४,

हे अग्ने ! जब तू वनों को देखता या उनकी कामना करता हुआ या अनुगमन करता हुआ माता रूपी जल के निकट जाता है, तब तेरा वह मार्ग लुप्त नहीं होता या नहीं मिटता क्योंकि तू दूर रहता हुआ भी यहीं रहता है । अर्थात् जब तू जल से विद्युत के रूप में या काष्ठ से अग्नि के रूप में निकल पड़ता है ।

अभ्यञ्च - अभि +अञ्च् +क्विप् =अभ्यञ्च् । प्रथमा एक वचन में अभ्यक् । अर्थ आत्मज्ञान देने वाली विद्या (अभ्यञ्चति आत्मानं यमासा)

अभ्यक्ता - चन्दनादि लेप से लिप्त ।

'अभ्यक्ताक्ता स्वंरकृता'

अ. १०.१.२५

अभ्यगात् - अभ्यगच्छत् । उल्लंघन किया ।

अभ्यघ - अभि +अघ=अभ्यघ । अर्थ -(१) राक्षस, (२) ब्रह्मचारी अनवाय

अभ्यञ्जन - (१) अभि+अञ्जन् । आंखों में लगाने का अंजन ।

'चक्षुरा अभ्यञ्जनम् ।'

ऋ. १०.८५.७,अ. १४.१.६.

(२) शरीर में तैल आदि का मालिश करना ।

'अभ्यञ्जनं सुरभि सा समृद्धिः'

अ. ६.१२४.३

(३) शत्रु पर आक्रमण करने का साधन-सवारी, रथ, हाथी, विमान आदि ।

'गामश्वमभ्यञ्जनम् ।'

ऋ. ८.७८.२

(४) उबटन ।

'यदाञ्जनाभ्यञ्जनमाहरन्ति'

अ. ९.६.११

अभ्यतृणत् - अभि +अतृणत् । अभिहत किया ।

ऋ. २.२४.४, नि. १०.१३.

(जिस जलधारा वाले मेघ को बल से ब्रह्मणस्पति ने अभिहत किया ।)

अभ्यधीताम् - अर्थधारण करना है । अर्थ-चारों ओर से बांधते हैं । लट् के अर्थ में लुङ् का प्रयोग हुआ है ।

'तनूत्यजेव तस्करावनर्गू
रशनाभिर्दशभिः अभ्यधीताम्
इयं ते अग्ने नव्यसी मनीषा

युक्ष्वा रथं न शुचयद्भिरंगैः'
ऋ. १०.४.६, नि. ३,१४.

हे अग्नि! ये हमारे बाहु प्राणों का निछावर कर (तनूत्यजा), वनगामी चोरों की तरह (वनर्गू तस्करौ इव) दस अंगुलियों से (दशभिः रशनाभिः) बांधते या पकड़ते हैं (अभ्यधीताम्) (अग्नि उत्पन्न करने के लिए अरणियों को कस कर पकड़ते हैं।)

हे अग्नि! यह तेरे लिए नई स्तुति है (नव्यसी मनीषा) अतः तू प्रज्वलित अंगों से अपने को अरणियों में जुटावो जैसे रथ में कोई जोता जाये।

आर्य समाजी व्याख्या -हे वनस्थ अग्ने। शरीर की परवा न करने वाले वन गामी चोरों की तरह (तनूत्यजा वनर्गू तस्करा इव। दसो अंगुलियों से यज्ञ कर्मों को भलीभांति धारण करें) हे वनस्थ। यह वाणप्रस्थाश्रम धारण-सम्बन्ध तेरी नवीन इच्छा है (नव्यसी इच्छा) अतः पवित्र इन्द्रियों से रथ रूपों शरीर को उसकी पूर्ति के लिए संयुक्त करें।

अभ्यर्द्धयज्वन् - अभ्यर्द्धयन् यजति-अभिवर्द्धयन् यः यजति सः। अभ्यर्धन का अर्थ दान है। अतः जो दान देता हुआ यज्ञ करता है, ऐसा अर्थ हुआ। सूर्य या पूषन का विशेषण है। पूषा अपनी रश्मियों से स्वयं पुष्ट होते और ओषधियों को भी पुष्टि देते हैं।

(२) प्रवृद्ध यज्ञ करने वाला (३) प्रवृद्ध दाता, (३) प्रवृद्ध सुख प्रदाता राजा।-(दया.)

'मिम्यक्ष येषु रोदसी नु देवी
सिषक्ति पूषा अभ्यर्द्धयज्वा।
श्रुत्वा हवं मरुतो यद्ध याथ
भूमा रेजन्ते अध्वनि प्रविक्ते।'

ऋ. ६.५०.५

हे मरुतो! जिन तुम लोगों के साथ रुद्र की पुत्री माध्यमिका वाक् (रोदसी देवी) जल्द-जल्द चलती है, अर्थात् बार बार मिलकर एकता प्राप्त करती है, अर्थात् जिन तुमको अभिवृद्ध दान पूषा अपनी रश्मियों से सेवते हैं, वे तुम हमारा आह्वान् सुनकर जब आते हो तब मार्ग में अर्थात् अन्तरिक्ष में बहुत से जीव कांपने लगते हैं।-सा.

अन्यअर्थ - जिनमें दिव्यगुण-सम्पन्ना राज्ञी राज्यकर्म जानती है और प्रवृद्ध सुख-प्रदाता पोषक राजा प्रजा की सेवा करता है और हे मनुष्यों उपदेश का श्रवण कर जो तुम सब क्रियाएं करते हो तब जीवन मार्ग के परिशुद्ध होने पर बडे बड़े शत्रु सैन्य तुम से कांपते हैं।

अभ्यश्याः - अभि +अश्याः। अर्थ है-प्राप्त कर।

'अभिक्रत्वा पुनती धीतिरश्याः'
ऋ. ४.५.७.

(पवित्र करने वाले कर्म या ज्ञान से (पुनती क्रत्वा) आदित्य को प्राप्त कर (अध्यश्याः)-सा. अपने आपको कर्म से पवित्र करती हुई (क्रत्वा पुनती) और बुद्धिमती होती हुई (धीती) तुम समान गुण कर्म वाले पति को प्राप्त कर-दया.

अभ्यसेताम् - अविभीताम् (भ्यस् धातु का अर्थ भय करना है)। निरुक्तकार के मत से 'वेपन' अर्थात् कांपना अर्थ है।

(१) डर गए, (२) कांप गए

'यो जात एव प्रथमो मनस्वात्
देवो देवान् क्रतुना पर्यभूषत्
यस्य शुष्मात् रोदसी अभ्यसेताम्
नृम्णस्य मह्वा स जनास इन्द्रः'

ऋ. २.१२.१, अ.२०.३४.१, तै.सं. १.७.१३.२, मै.सं. ४.१२.३, १८६.४, का.सं. ८.१६, ऐ.ब्रा. ५.२.१, कौ.ब्रा. २१.४,२२.४, ऐ.आ. १.५.२.५,५.३.१.२, वै.सू.३३.१२, का.श्रौ.सू. २५.१४.१९, नि. १०.१०

गृत्समद के यज्ञ में इन्द्र को अकेला या असुरों ने जब मारना चाहा तो इन्द्र गृत्समद का रूप धारण कर स्वर्ग चले गए और असुरों ने गृत्स मद को ही पकड़ लिया। इस पर गृत्समद यह बताते हैं कि कौन सच्चा इन्द्र हैः-

हे असुरो (जनासः) जो जन्मते ही देवों में प्रधान और मेधावी हुए तथा जिसे देव ने वृत्र-वध जैसे कर्म द्वारा या यज्ञ द्वारा देवताओं को अपने अधीन किया, जिसके शारीरिक बल से द्यौ और पृथिवी कांप उठी या डर गई और जो सैनिक बल के महत्व से जाने जाते हैं वही इन्द्र हैं, मैं नहीं -सा.।

स्वा. दयानन्द का अर्थ -जो सदा विद्यमान ही रहता है (यः जात एव), जो सर्वाधार चेतन तथा सर्व प्रकाशक है (प्रथमः मनस्वान् देवः)जिसने वायु, सूर्य, चन्द्रमा आदि देवों को अपने कर्म से अंलकृत किया और जिसके सामर्थ्य से

द्यावापृथिवी डरते और कांपते हैं, हे मनुष्यो, बल के महत्व से वह परमेश्वर है ।

अभ्र - (१) अप् + र =अभ्र (ब् का भ)। जल देने वाला । वर्षणकारी मेघ की पूर्वदशा वाला मेघ ।

'अभ्राय स्वाहा'

वाज.सं. ३२.२६

(२) मेघ ।

'आमेन्यस्य रजसो यदभ्र आ'

ऋ. ५.४८.१

सर्वतोज्ञेय अन्तरिक्ष लोक के मेघ में-दया.

जो मध्यमावाक् के संस्थान अन्तरिक्ष के ऊपर मेघ में ।

पुनः-

'पतन्ति मिहः स्तनयन्त्यभ्राः'

ऋ. १.७९.२. तै.सं. ३.१.११.५, मै.सं. ४.१२.५, १९३.१०, का.सं. ११.१३.

(जल वृष्टियां गिरतीं और मेघ गरजते हैं ।)

अभ्रजा - अभ्र +जा । वर्षा ऋतु के प्रकोप से उत्पन्न रोग

'यो अभ्रजा वातजा यश्च शुष्मः'

अ. १.१२.३

अभ्रपुषः - एक वचन में अभ्रपुष् मेघों से जल बरसाने वाले मरुद्गण ।

'अभ्रप्रुषो न वाचा प्रुषावसु'

ऋ. १०.७७.१

अभ्व - (१) महत्त्व ।

'आ यन्मे अभ्वं वनदः पनन्त'

ऋ. २.२४.५

(जिसका महत्त्व मेरे स्पृहणीय हविदाता (मे वनदः) सदा गाते हैं (आपनन्त)

हे प्रशस्त पदार्थों के दाता मनुष्यो (वनदः) ! यतः तुम मेरे उपदिष्ट कर्मों में स्थिर रहते हुए अपने से बड़े विद्वानों का सत्कार करते हो-दया.

(२) महत्तर ।

'वि तिष्ठते बाधते कृष्णमभ्वम्'

ऋ.१.९२.५

उषा की देदीप्यमान कान्ति विविध दिशाओं में फैल जाती है और महत्तर अन्धकार को दूर करती है । (अभ्वं कृष्णं बाधते) ।

(३) अपराध ।

'द्यावा रक्षतं पृथिवी नो अभ्वात्'

ऋ. १.१८५.२-८.

(४) असामर्थ्य, थकान ।

'ते सप्सरासोऽजनयन्ताभ्वम्'

ऋ. १.१६८.९.

(४) जल-यास्क (५) अजन्मा परमेश्वर -(दया.)

'अभ्यक् सा त इन्द्र ऋष्टिरस्मे
सनेम्यभ्वं मरुतो जुनन्ति'

ऋ. १.१६९.३.

हे इन्द्र ! वह तेरी प्रसिद्ध वज्र नाम की शक्ति (ऋष्टिः) जब मेघ के पास जाती है तब मरु भी चिर-संचित जल बरसाने लगते हैं-यास्क

हे विद्वान् (आत्मज्ञान देने वाले), हमें विद्या प्राप्त हो जिससे मनुष्य अजन्मा परमेश्वर को प्राप्त करते हैं । -(दया.)

अभागः - (१) भाग्यहीन, (२) भजनीय परमेश्वर से रहित ।

'अभागः सन्नप परेतो अस्मि'

ऋ. १०.८३.५, अ.४.३२.५.

अभ्यानट् - अभ्यश्नुताम्-अभिव्याप्नोतु-अनिव्याप्त हो, प्राप्त करें ।

'पथस्पथः परिपतिं वचस्या
कामेन कृतो अभ्यानडर्कम्
स नो रासत् शुरुधश्चन्द्राग्रा
धियंधियं सीषधाति प्र पूषा'

ऋ. ६.४९.८, वाज.सं. ३४.४२, तै.सं. १.१.१४.२, श.ब्रा. १३.४.१.५ आश्व श्रौ.सू. ३.७.८, नि. १२.१८.

मार्ग मार्ग के अर्थात् सभी मार्गों के अधिपति अर्चनीय पूजा को मनोवांछित फल की प्राप्ति से वशीकृत स्तोता स्तुति द्वारा प्राप्त करें (वचस्या अभ्यानट्) इस प्रकार प्राप्त पूषा धर्म्य या अभिपूजित आगमन वाले धनों को देता हुआ (चन्द्राग्रा शुरुधः रासत्) हमारे प्रत्येक कर्म को प्रसाधित करे ।

अभ्यावर्थी - (१) अभि +आवर्ती । समीप रहने वाला अन्तेवासी शिष्य ।

'अभ्यावर्ती चायमानो ददाति'

ऋ. ६.२७.८

(२) सम्मुख आने वाला (३)शत्रु को जीतकर

लौटने वाला ।

'अग्नेऽभ्यावर्त्तिन्नभि मा नि वर्तस्व'

वाज.सं. १२.७, तै.सं. ४.२.१२, मै.सं. १.७.१,१०९.१२, का.सं. १६ .८, श.ब्रा. ६.७.३.६, कौ.सू. ७२.१४.

अभ्याविवासत् - अभि +आ +वि +वास +शतृ = अभ्याविवासत् । धर्म कर्म का विवासन करने वाला आततायी ।

'इन्द्रो यातूनाम् अभवत् पराशरः
हविर्मथी नाम् अभ्याविवासताम् ।'

ऋ.७.१०४.२१,अ.८.४.२१,नि. ६.३०.

इन्द्र या राजा यज्ञ विध्वंसक (हविमर्थीनाम्) तथा धर्म कर्म को विवासित करने वाले (अभ्याविवासताम्) आततायियों का (यातूनाम्) सम्पूर्णतया दमन करने वाले हों । (पराशरः अभवत्)

अभ्यावृत्तः - अभि +आङ्+ वृत् +क्त =अभ्यावृत्तः । साक्षात् वेग से आक्रमण करने वाला ।

'वातोऽभ्यावृत्तो नृचक्षाः'

वाज.सं. ८.५८

अभ्राजि - शोभता है, प्रदीप्त होता है ।

'अभ्राजि शर्धो मरुतो यदर्णसं
मोषथा वृक्षं कपनेव वेधसः'

ऋ. ५.५४.६.

हे वृष्टि के विधाना मरुतो (वेधसः) आप लोगों का गण या बल (शर्ध) शोभता है (अभ्राजि), जिससे जलयुक्त मेघ को (अर्णसं वृक्षम्) जल से रिक्त कर देते हो (मोषथा) जैसे घुन वृक्ष को चाट जाता है ।

हे विद्वान् मनुष्यो ! तुम्हारा उत्साह (शर्ध) प्रदीप्त होता है (अभ्राजि) जो कि तुम (यत्) जैसे बींधने वाले छोटे छोटे कृमि (वेधसः कपना) वृक्ष को धीरे धीरे हर लेते हैं एवं शब्द सागर वेद को (अर्णसम्) धीरे धीरे ग्रहण कर लेते हो (मोषथ) -दया. ।

अभ्राट् - जो दूसरे के प्रकाश से प्रकाशित न हो-स्वप्रकाश ।

'चित्रो यदभ्राट् छ्वेतो न विक्षु'

ऋ. १.६६.६

अभ्राता - भ्रातृ हीना, जिस कन्या का कोई भाई न हो ।

'अमूर्या यन्ति योषितो
हिरा लोहितवाससः ।
अभ्रातर इव जामयः
तिष्ठन्तु हतवर्चसः'

अ. १.१७.१

स्त्रियों के प्रदर रोग-निवारण के लिए पठित ऋचाः ।

जो ये अविरक्त धाराएं बह रही हैं अत्यन्त लाल वस्त्र पहने हुई कुल स्त्रियों की तरह सभी रक्त बहाने वाली नाड़ियां रक्त बहाना बन्द कर दें, जैसे बिना नाड़यों रक्त कन्याएं बन्द कर दें जैसे बिना भाई कन्याएं पुत्रवती होने पर अपने पितृ कुल का ही वंश बढ़ाने वाली होती हैं ।

पुनः-

'अभ्रातेव पुंस एतिप्रतीची'

ऋ. १.१२४.७ नि. ३.५.

आभ्रातृघ्नी - भाइयों का नाश न करने वाली वधू ।

'अभ्रातृघ्नीं वरुणापशुघ्नीं बृहस्पते

अ. १४.१.६२, आप. मं.पा. १.१.३

अभ्रातृव्यः - शत्रुरहित ।

'अभ्रातृव्यो अनात्वम्'

ऋ. ८.२१.१३, अ.२०.११४.१, साम. १.३९९, २.७३९, आश्व. श्रौ.सू.७.८.२, वै.सू. ४०.४, ४१.२०, साम.वि.ब्रा. १.८.४.

अभ्रातृव्या - शत्रुरहित ।

अभि - (१) एक उपसर्ग (२) अधिपति (३) पराजित करने के अर्थ में भी ।

'अभीदमेकमेको अस्मि निष्षाट्
अभी द्वा किमुत्रयः करन्ति ।'

ऋ. १०.४८.७, नि. ३.१०.

एक ही इस जगत् का अधिपति हूं । शत्रुओं को निश्चय पूर्वक अभिभूत करता हुआ उन्हे अकेले ही जीतता हूँ । दो या तीन भी क्या करेंगे ।

(४) आभिमुख्य अर्थ में (५) मारना,

(६) सर्वतः, सभी ओर ।

'अभित्वा पूर्वपीतये
सृजामि सोम्यं मधु ।'

ऋ. १.१९.९, ८.३.७, अ. २०.९९.१, साम. १.२५६, २.९२३, ऐ.ब्रा. ४.२९ .१३, ५.१८.२१, ऐ.आ. ५.२.२.२. आश्व.श्रौ.सू. ५.१५.२ शा.श्रौ.सू. ७.२०.३, वै.सू.३९.६ साम. वि.ब्रा. ३.६.८ नि.

१०.३७

(७) प्रति, तरफ, ओर ।

'देवानां रातिः अभिनो नि वर्तताम्'

ऋ. १.८९.२, वाज.सं. २५.१५, मै.सं. ४.१४.२, २१७.७, नि. १२.३९.

(देवों का दान हम लोगों के प्रति आवे) ।

वर्तमान अर्थ- प्रति, बहुत, नवीन, सामने, तरफ, विरुद्ध, निकट, ऊपर, एक एक ।

'वृक्षं वृक्षम् अभि'

(७) किसी को अभिलक्षित करना

'अभिसिध्मो अजिगात् अस्य शत्रून्'

ऋ. १.३३.१३, मै.स. ४.१४.१३,२३७.१३, तै.ब्रा. २.८.४.४

इस इन्द्र का वज्र (सिध्मः) शत्रु को लक्ष्य कर (शत्रून् अभि) गया (अजिगात्) ।

अभिक्रतु - अपने विरुद्ध अभिचार कर्म करने वाला, (२) कर्म और ज्ञान को साक्षात् करने वाला ।

'अथाभवत् दमिताभिक्रतूनाम्'

ऋ. ३.३४.१०, अ. २०.११.१०, मै.सं. ४.१४.५, २२२.१०, ४.१४.१३,२३६.११, तै.ब्रा. २.८.३.७

अभिक्रन्दन् - सबको प्रसन्न करता हुआ ।

'अभिक्रन्दन् स्तनयन् अरुणः शितिंगः'

अ. ११.५.१२

अभिकृत्वरी - काटने वाली अर्थात् दुःख बाधाओं वाली चित्तवृत्ति ।

'अपोच्छन्त्वभिकृत्वरीः'

अ.२.८.२

अभिक्षत्ता - सम्मुख या मुकाबला (अभिक्षृत) होने पर शत्रु को पीस डालने वाला ।

'अभिक्षत्तारो अभि च क्षमध्वम्'

ऋ. २.२९.२

'अभिक्षतुस्त्वावतो वरूता'

ऋ.७.२१.८

अभिक्रोषक - सबको बुलाने वाला ।

'ग्रामण्यं गणकम् अभिक्रोषकम् तान्मदसे'

वाज.सं. ३०.२०

अभिख्य - (१) केवल बात बनाने वाला, (२) निन्दक जन ।

अभिख्याता - साक्षात् उपदेष्टा ।

'अभिख्याता मर्डिता सोम्यानाम्'

ऋ. ४.१७.१७

अभिगात् - अभिगच्छन्, अतिक्रामन् (उल्लंघन करता हुआ)। अभि उपसर्ग के कारण-जान बूझकर उल्लंघन करता हुआ अर्थ हुआ ।

'सप्त मर्यादाः कवयः ततक्षुः
तासामेकामिदभ्यंहुरो गात्
आयोर्ह स्कम्भ उपमस्य नीडे
पथां विसर्गे धरुणेषु तस्थौ'

ऋ.१०.५.६,अ. ५.१.६, नि. ६.२७.

ऋषियों ने सात मर्यादाएं बनाई हैं-उनमें एक का भी उल्लंघन करता हुआ पापी होता है । जो इन मर्यादाओं का उल्लंघन नहीं करता वह सूर्य मण्डल में स्थित आदित्यान्तर पुरुष नारायण के (उपमस्य) स्थान में (नीडे) जो अविनाशी स्थान है वहां जाकर मृत्यु के पश्चात् (पंथा विसर्गे) निवास करता है, अर्थात् ब्रह्म लोक में जाता है ।

अन्य अर्थ - वह जीवन के स्तम्भ, उच्चतम शान्ति के धाम और जहां अनेक मार्गों की सृष्टि न हो ऐसे सर्वाधार परमेश्वर में तथा धारक शक्तियों में स्थिर होता है ।

सात मर्यादाएं - स्तेय, तल्पारोहण, ब्रह्म हत्या, भ्रूणहत्या, सुरापान, दुष्कृत का पुनः पुनः करना तथा उसे छिपाना ।

अभिगूर्त - (१) परिश्रमी ।

'इष्टं वीतम् अभिगूर्तम् वषट् कृतम्'

ऋ. १.१६२.१५, अ.९.५.१३, वाज.सं. २५.३७, तै.सं. ४.६.९.२, मै.सं. ३.१६.१, १८३.११, का.सं. (अश्व) ६.५.

अभिगूर्ति - (२) उद्यम ।

'उतो तेषाम् अभिगूर्तिः न इन्वतु'

ऋ.१.१६२.६,१२, वाज.सं. २५.२९,३५, तै.सं. ४.६.८.२, ९. १.मै.सं. ३.१६.१, १८२.९, १८३.३, का.सं. (अश्व) .६.४,५.

अभिगूर्य - अभि +गृ +ल्यप् - अभिगूर्य । अर्थ है-खूब पलट कर

'आयूया धृष्णो अभिगूर्या त्वं
नेष्ट्रात् सोमं द्रविणोदः ऋतुभिः पिब ऋतुभिः'

ऋ. २.३७.३, नि. ८.३

हे द्रविणोद नामक अग्नि ! हे शत्रु धर्षक । तू सोमरस को खूब मिलाकर (आयूय) तथा खूब

पलट कर (अभिगूर्य) यज्ञस्थान से (नेष्ट्रात्) ऋतुओं के साथ पी (ऋतुभिः पिब)।

अभिगृणातु - सन्तुष्ट करे ।

'अभि न डा यूथस्य माता
स्मन्नदीभिः उर्वशी वा गृणातु'

ऋ. ५.४१.१९, नि. ११.४९.

मेघ समूह की निर्मात्री (यूथस्य माता) रूपवती विद्युत् उर्वशी नाम से जो प्रसिद्ध मध्यमा वाक् देवी इडा है वह हमें जलों से (नदीभिः) खूब सन्तुष्ट करे (अभिगृणातु) ।

अभिघ्नत - कुठार चलाकर वृक्ष काटने वाला ।

'नम उद्गुरमाणाय चाभिघ्नते च'

वाज.सं. १६.४६

अभिचक्षण - नाम ।

'चीपुद्रुः अभिचक्षणम्'

अ. ६.१२७.२

अभिचक्षणा - दिखाने वाली ।

'यावती राशा अभिचक्षणा दिवः'

अ. ९.२.२१

अभिचक्षाणः - प्रकाश द्वारा देखता और दिखाता हुआ ।

'विश्वमन्यो अभिचक्षाण एति'

ऋ. २.४०.५, मै.सं. ४.१४.१, २१५.७, तै.ब्रा. २.८.१.६.

अभिचक्ष्य - प्रत्यक्ष दर्शनीय कार्य ।

'महत् ते वृष्णो अभिचक्ष्यम् कृतम्'

ऋ. ८.४.७

अभिचष्टि - (१) उपकार करता है ।

'विश्वमेनाः अभि चष्टे शचीभिः'

ऋ. १.१६४.४४, नि. १२.२७

तीन केशी-अग्नि, वायु और आदित्य में एक वर्षादि कर्मों के द्वारा (शचीभिः) संसार का उपकार करता है (अभिचष्टि)

(२) अभिविपश्यति । शुभ दृष्टि से देखता है ।

'मित्रः कृष्टीरनिमिषाभि चष्टे'

ऋ. ३.५९.१, तै.सं. ३.४.११.५, का.सं. २३.१२, ३५.१९, तै.ब्रा. ३. ७.२.४, आप.श्रौ.सू. ९.२.६, नि. १०.२२.

अभिचार - (१) द्वेष कृत आक्रमण (२) मन्त्र पाठ द्वारा किसी पर जादू या टोना चलाना, जोग टोना ।

'परि त्वापातु समानेभ्यः'
'अभिचारात् सबन्धुम्यः'

अ. ८.२.२६

'यत्त्वा अभिचेरु पुरुषः स्वो यदरणो जनः'

अ. ५.३०.२.

(३) लौकिक साहित्य में भी यह शब्द शत्रु पर आक्रमण करने के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है ।

यस्याभिचार वज्रेण वज्रज्वलन तेजसा ।

'शं नोऽभिचाराः शमु सन्तु कृत्याः'

अ. १९.९.९.

अभिच्छायम् - अपनी छाया को गुरुजन पर फेंकना

'यो माभिच्छायमत्येषि'

अ. १३.१.५७

अभिजायसे - अन्तर अन्तर से उत्पन्न होता है ।

अभिजित् - (१) एक वैदिक यज्ञ ।

'विश्वजिच्चाभि जिच्च यः'

अ. ११.७.१२

(२) अभिजित् नामक नक्षत्र,

'अभिजिन्मे रासतां पुण्यमेव'

अ. १९.७.४, नक्षत्र कल्प. १०.४.

(३) शत्रुओं को सब प्रकार से विजय करने में समर्थ ।

'अभिजिता तेजसा तेजो जिन्व'

वाज.सं. १५.७

अभिज्ञुः - अभितः जानुनी यस्य (पैर समेट कर बैठने वाला), (२) पलथी मार कर बैठा हुआ ।

'संजानाना उपसीदन् अभिज्ञु'

ऋ. १.७२.५, ऐ.ब्रा. १.२२.२, आश्व .श्रौ.सू. ४.७.४.

(अच्छी प्रकार परस्पर जानने वाले जिस प्रकार पैर समट कर बैठते हैं...।)

'अभिज्ञ्वा सत्वभिर्गा अनुग्मन्'

ऋ. ३.३९.५

अभितः - सब ओर से ।

'जम्भयतम् अभितः रायतः शुनः'

ऋ. १.१८२.४.

पुनः-

'संमा तपन्त्यभितः'

ऋ. १.१०५.८, १०.३३.२, नि. ४.६.

अमित्री - शत्रु की स्त्री

'अमित्री भीता समरे वधानाम्'

अ. ५.२०.५.

अभिदासति - नष्ट करता या नष्ट करना चाहता है ।

अभिदासन् - विनाशकारी ।

'ताभ्यां दुहार्दमभिदासन्तम् किमीदिनं'

अ. ८.३.२४

'निर्हस्तः शत्रुरभिदासन्नस्तु'

अ. ६.६६.१

अभिदिप्सु - सबको मारने और ठगने वाला, वञ्चक

'मानो दुःशंसो अभिदिप्सु रीशत'

ऋ. २.२३.१०, का.सं. ३५.५.

अभिद्युः - (१) सब प्रकार से चमकने वाला ।

'प्र वो वाजा अभिद्यवः'

ऋ. ३.२७.१, मै.सं. १.६.१, ८४.१४, श.ब्रा. १.४.१.७,८.९, तै.ब्रा .३.५.२.१, आश्व,श्रौ.सू. १.२.७, ७.८.१,

(२) सब प्रकार से विद्याओं का प्रकाशक, (३) सब प्रकार से दीप्ति युक्त (४) कण्वो के विशेषण के रूप में प्रयुक्त ।

'कण्वासो वां सुतसोमा अभिद्यवः
युवां हवन्ते अश्विना'

ऋ. १.४७.४

सोमरस चुवाए हुए, सब प्रकार से दीप्ति युक्त कण्व, हे अश्विद्वय तुम दोनों स्वीकार करें ।

अथवा

सबके प्रेरक, राजा का अभिषेक करने वाले विद्वान् पुरुष, सब प्रकार से दीप्ति युक्त होकर या शत्रुहन्ता वीर प्रतापी होकर तुम दोनों को (सभा सेनापति) अपनावें)

पुनः-

'अनवद्यैरभिद्युभिः
मखः सहस्वदर्चति ।'

ऋ. १.६.८, अ. २०.४०.२, ७०.४

अभिदुह् - द्रोहबुद्धि वाला

'या वो माया अभिद्रुहे यजत्राः'

ऋ. २.२७.१६

अभिधमन्ता - अभिघ्नन्तौ (हत्या करते हुए)।

'यवं वृकेणाश्विना वपता
इसं दुहन्ता मनुषाय दस्रा ।
अभि दस्युं बकुरेणा धमन्ता
उरु ज्योतिश्चक्रथुरार्याय ।'

ऋ. १.११७.२१, नि. ६.२६

हे अश्विनी कुमारो ! जिस प्रकार हल से कृषक यव बुनते हैं, उसी प्रकार तुम दोनों सूर्य से जल बरसा कर बोने वाले तथा मनुष्यो के लिए अन्न पूरा करने वाले हो एवं अन्न नष्ट करने वाले चोर को नष्ट करने वाले तुमने ईश्वर पुत्र ऋजाश्व को (आर्याय) विस्तीर्ण आंखें दी ।

सायण ने 'आर्याय मनुष्याय ज्योतिः चक्रथुः' अन्वय कर 'आपने मनुष्यों के लिए ज्योति की' ऐसा अर्थ क्या है । स्वामी दयानन्द का अर्थ-हे! दर्शनीय राजा तथा राजपुरुषो तुम यव की तरह हल के द्वारा धान बोते हुए और पुनः अन्न को भरपूर पैदा करते हुए तथा सूर्य जैसे अपनी प्रखर ज्योति से रोगों का नाश करता है या द्यावा पृथिवी वर्षा जल से दुर्भिक्ष दूर करते हैं एवं अपने प्रताप से दुष्टों का विध्वंस करते हुए परमेश्वर के श्रेष्ठ सुपुत्र के लिए विस्तृत आनन्द ज्योति का प्रकाश करो ।

अभिधानी - बांधने की रस्सी ।

'गायत्र्यमिधान्यभ्रमूधः'

अ. ८.१०.(२).५

अभिधाः - (१) समस्त पदार्थों को साक्षात् बतलाने और उनको नियमों में बांधने वाला-परमेश्वर, (२) ज्ञानों का उपदेश करने वाला (३) राष्ट्र का प्रबन्ध करने में समर्थ ।

'अभिधा असि भुवनमसि'

वाज.सं. २२.३, तै.सं. ७.१.११.१, मै.सं. ३.१२.१, १६०.१, का.सं. (अश्वः). १.२, श.ब्रा. १३.१.२.३, तै.ब्रा. ३.८.३.४, का.श्रौ.सू.२०.१.२८, आप.श्रौ.सू. २०.३.६,

अभिघारित - प्रकाशमान ।

'आज्येनाभिघारितः'

अ. ५.२१.३

अभिधतेन - 'अभिधावत', अभिधावनं कुरुत रक्षणाय (रक्षा निमित्त दौड़े)' । 'कुरुतन' की तरह अभिधेत में 'न' जोड़ा गया है ।

'जीवान् नो अभिधेतनाऽऽदित्यासःपुरा हथात् ।
कद्ध स्थ हवनश्रुतः'

ऋ. ८.६७.५, नि. ६.२७.

हे आदित्य, हमारे प्राणों की रक्षा के लिए हमारे मरने के पूर्व कहीं पर भी हो सुनकर चारों और से दौड़ पड़ो । सम्भवतः दैत्यो से बचने के लिए

आदित्य वंशीय क्षत्रियों का यह आह्वान है । अन्य अर्थ-हे प्रजा के सुख दुख सुनने वाले, क्षत्रिय लोग, आप कहीं भी हो दौड़े । मछुओं के मारे जाने के पूर्व ही हम सबों की रक्षा करो ।

अभिध्रुक् - प्रत्यक्ष द्रोह करने वाला

'जनो यो मित्रावरुणावभिध्रुक्
अपो न वां सुनोत्यक्षणयाध्रक्'

ऋ. १.१२२.९

हे स्नेह करने वाले तथा दुःखों से निवारण करने वाले माता पिता (मित्रावरुणा) या गुरु और गुरुपत्नी, जो आप दोनों से प्रत्यक्ष द्रोह करता है (अभिध्रुक) और जो टेढ़े तरीके से द्रोह करता है । (अक्ष्णयाध्रुक) और जो दोनों के सम्बन्ध की सत्कारादि क्रियाओं को (अपः) अच्छी प्रकार अनुष्ठान करता या तर्पणादि नहीं करता...।

अभिवक्षण - (१) सर्वत्र ज्ञान बल से पहुँचने वाला, (२) आविष्कारक ।

'अभिनक्षन्तो अभि ये तमानशुः'

ऋ. २.२४.६

अभिनत् - छिन्न भिन्न कर दिया या कर दे. ।

'विश्रृंगिणमभिनत् शुष्णमिन्द्रः'

ऋ. १.३३.१२, नि. ६.१९

(इन्द्र ने विशिष्ट शिखर युक्त तथा दीप्तिमान् बलवान् मेघ को छिन्न भिन्न कर दिया-) राजा सिर उठाए बलवान् शत्रु को कुचल डाले-(दया.)

अभिनिष्कारी - आक्रमण करने वाला,

'अभिनिष्कारिणः प्रजाम्'

अ. १०.१.३१

अभिनिष्कृत - (सं) अत्याचार, दुत्कार, अपमान

'संदेश्यात् अभिनिष्कृतान्'

अ. १०.१.१२

अभिनिष्टतन - अभि +निस् +पत +शतृ =अभिनिष्पतन । (१) चारों ओर से बड़े वेग से आवरण करता हुआ, (२) मड़राता हुआ, झपटता हुआ ।

'अभिनिष्पतन्नपीपतत्'

अ. ७.६४.१

अभिप्रभङ्गी - अभि +प्रभङ्गी । आगे आए हुए शत्रु को अच्छी तरह से विनाश करने वाला, (२) विश्व मात्र के सभी संकटों को नष्ट करने में समर्थ-इन्द्र, परमेश्वर ।

'उग्रादभिप्रभङ्गिणः'

ऋ. ८.४५.३५

अभिप्रभु - सर्वोपरि प्रभु ।

'अभिप्रभुरा जुह्वा स्वध्वरः'

ऋ .१०.११५.२

अभिप्रवन्त - आभिमुख्येन प्रवन्ति नमन्ति -प्रह्वीयवन्ति (सम्मुख होकर विनम्र होती हैं) ।

'अभिप्रवन्ति समनेव योषाः
कल्याण्यः स्मयमानासो अग्निम्
घृतस्य धाराः समिधो नसन्तः
ता जुषाणो हर्यति जातवेदाः'

ऋ. ४.५८.८

जल की धाराएं विद्युत् रूपी अग्नि की ओर नत होकर जाती हैं, जैसे मुस्कुराती हुई रूप यौवनादिगुण सम्पन्न एक ही पति की सामान्य भाव से अनेक स्त्रियां उस एक पति की ओर विनम्र होकर जाती हैं (समनेव योषाः अभि प्रवन्ति), वे जल धाराएं सम्यक् प्रकार से उद्दीप्त करती तथा व्याप्त होती हुई (समिधः नसन्तः) वैद्युताग्नि के पास तथा वैद्युताग्नि प्रीयमाण होकर उन जलधाराओं की कामना करता है ।

अभिप्रश्नी - विद्यार्थी के सम्मुख नाना प्रश्न करने वाला विद्वान् ।

'उपशिक्षाया अभिप्रश्निनम्'

वाज.सं. ३०.१०

अभिप्रसर्यत् - गर्भ से आगे को निकलता हुआ शिशु ।

'वृन्तादभिप्रसर्पतः'

अ.८.६.२२

अभिपित्व - (१) प्रयास, (२) सब प्रकार प्राप्त करने योग्य कार्य व्यवहार ।

'तस्येदिन्द्रो अभिपित्वेषुरण्यति'

ऋ. १.८३.६, अ.२०.२५.२.

(३) अभितः प्राप्तव्य-सब प्रकार से और सर्वत्र प्राप्त करने योग्य ।

'विश्वं जगत् अभिपित्वेमनीषा'

ऋ. १.१८६.१, वाज.सं. ३३.३४

(४) सब प्रकार से व्यापना ।

(५) सब प्रकार से पालन ।

'स्मत् सूरिभिभिपित्वे सजोषाः'

ऋ. १.१८६.६.

(६) अभिप्राप्ति । निरक्तकार ने 'पित्व' का अर्थ 'प्राप्ति' किया है । स्पष्ट अर्थ स्नान भोजन आदि है ।

'कुह स्वित् दोषा कुह वस्तोरश्विना
कुहा भिपित्वं करतः कुहोषतुः
को वां शयुत्रा विधवेव देवरं
मर्यं न योषा कृणते सधस्थ आ ।'

ऋ. १०.४०.२, नि. ३.१५.

हे अश्विनी कुमारो ! तुम दोनों रात में कहां रहते हो । (कुहस्वित् दोषा), दिन में कहां रहते हो (कुहवस्तोः) कहां भोजनादि जनादि के लिए ठहरते हो (कुह अभिपित्वं करतः), कहां पर रहते हो (कुह ऊषतु) और कौन यजमान पूजा करने के तुम्हे सम्मुख करता है (को वां शयुत्रा), जैसे विधवा देवर को सेज पर सुलाती या स्त्री पति के सम्मुख होती है । मर्यं न योषा सधस्थ आकृणुते)–

अन्य अर्थ – हे स्त्री पुरुषो ! कल तुम रात में कहां रहे । कल दिन में कहां रहे ! कहां भोजनादि पदार्थ की प्राप्ति की ! कहां तुम्हारा निवास स्थान है ! जैसे विधवा देवर से या स्त्री अपने पति से मिल सन्तान उत्पन्न करती है उसी प्रकार तुम्हारा परमप्रिय मित्र कौन हैं जिसे मिल तुम धार्मिक सामाजिक या व्यावहारिक कार्य करोगे ।

(७)अभिमतफल (८) साक्षात् पालन पोषण

'इहाभिपित्वं करते गृणानः'

ऋ. ४.१६.१, अ. २०.७७.१

अभिप्रिय – (१) सर्वप्रिय ।

'अभिप्रियं यत् पुरोडाशमर्वता'

ऋ. १.१६२.३, वाज.सं. २५.२६

(२) अभितः प्रियः –सर्वप्रिय सविता एवं परमात्मा का विशेषण ।

'रत्नधामभिप्रियं मतिम्'

अभिपूर्वम् – (क्रि.वि.) पूर्व कर्म के अनुसार ।

'अभिपूर्वं निर्णयते नमो अस्त्वस्मै'

अ.११.२.२२

अभिभंग – समस्त जगत का भंग, नाश या प्रलय करने वाला, इन्द्र, परमेश्वर ।

'अभिभुवेऽभिभंगाय वन्वते'

ऋ. २.२१.२

अभिभवन्ती – पराजित करने वाली शक्ति ।

'अभिभवन्तीमेवा प्रियस्य
भ्रातृव्यस्य श्रियमा दत्ते'

अ. ९.५.३६

अभिभाः – सर्वत्र प्रकाशमान विद्वान् पुरुष ।

'यद् वामभिमा अत्रोचुः'

अ. १८.४.४९

(२) (स्त्री.) अभिभव, अभिभुति, तिरस्कार विघ्नबाधा ।

'मा त्वा का चिदभिभा विश्व्या विदत्'

ऋ. २.४२.१, नि. ९.४.

(तेरे पास कोई भी विश्व का विघ्न न प्राप्त हो।)

अभिभु – सबको पराजित करने वाला ।

'अभिभुं क्षत्रवर्धनम्'

अ. १०.६.२९

अभिभू – (१) सबका पराजय करने वाला ।

'अभिंभूर्यज्ञः अभिभूरग्निः'

अ. ६.९७.१

(२) अभिभावक, रक्षक ।

'त्वमिन्द्राभिभूरसि'

ऋ. ८.९८.२, १०.१५३.५, अ.२०.६२.६, ९३.८, साम. २.३७६, तै.ब्रा. २.४ .१.२.

(३) सम्मुख जाने वाला ।

'अभिभुवे स्वाहा'

वाज.सं. २२.३०, मै.सं. २.१३.१७: १६४.१५ ३.१२.१४: १६४.११, का.सं. ३५.१०, तै.ब्रा. ३.१०.७.१, आप.श्रौ.सू. १४ .२५.११

(४) सर्वत्र व्यापक इन्द्र, परमेश्वर ।

'अभिभुवेऽभिभंगाय वन्वते'

ऋ. २.२१.२

(५) वश करने वाला ।

'स पौंस्येभिः अभिभूः अशस्तीः'

ऋ. १.१००.१०

वह असाध्य शत्रुओं को भी (अशस्तीः) पराक्रमों से (पौंस्येभिः) वश करने वाला हो (अभिभूः) ।

अभिभू ऋतु – (१) वसन्त ऋतु जो जाड़े को अभिभूत कर आता है ।

(२) अजपञ्चौदन का एक रूप ।

'एष वा अभिभूर्नामर्तुर्यदजः पञ्चौदनः'

अ. ९.५.३६

अभिभूत – (१) चारों ओर की विभूति का स्वामी

(२) शत्रुओं का पराजय करने वाला ।
(३) सब तरफ की नाना विभूतियों एवं ऐश्वर्यों का स्वामी इन्द्र ।
'अतः संगृभ्य अभिभूत आभर'
ऋ. १.५३.३, अ. २०.२०.३.
इस राष्ट्र में हे शत्रुओं को पराजित करने वाले, हे समस्त ऐश्वर्यों का स्वामी ! इस समस्त ऐश्वर्य को संग्रह कर (संगृभ्य) मुझ प्रजा जन को ऐश्वर्य से पूर्ण कर या पालन कर ।

अभिभूतर – शत्रु पराजय में शत्रु में से भी बलवान् ।
'विश्वाःपृतना अभिभूतरं नरम्'
अ. २०.५४.१

अभिभूति – (१) संग्राम में शत्रु को पराजित करने । वाला । (२) वश करने वाला ।
'त्वं भूरभिभूतिर्जनानाम्'
अ. ६.९८.२

अभिभूत्योजाः – (१) सर्वसृष्टि उत्पन्न करने वाला या शत्रु वीर्यसामर्थ्य वाला –इन्द्र ।
'मायाभिर्दस्यूं रभिभूत्योजाः'
ऋ. ३.३४.६, अ.२०.११.६
पराजित करने योग्य बल से युक्त ।

अभिभूय – शत्रुओं का पराजय
'अभिभूयाय त्वा राष्ट्रभृत्याय
अ. १९.३७.३

अभिभूवरी – सबको पराजित करने वाली
'जयन्त्यभिभूवरी
ऋ. १०.१५९.५, आप.श्रौ.सू.१.१६.५

अभिमर्मृशत् – प्राप्त हो जाता है । पहुंच जाता है ।
'यत्सीम् महीमवनिं प्राभिमर्मृशत्
ऋ. १.१४०.५
(जो सब प्रकार से उस महान् सर्वरक्षक को प्राप्त हो जाता है ।)

अभिमाति – अभिमानी शत्रु ।
'विश्वा मृधो अभिमातीर्जयेम
अ. १८.२.५९.
'न देवमभिमातयः'
ऋ. १.२५.१४
(जिस वरुण या राजा को अभिमानी शत्रु भी परास्त नहीं कर पाते ।)

अभिमातिजित – गर्वीले दुष्ट पुरुषों को जीतने वाला
'सपत्नहा नो अभिमातिजिच्च
वाज.सं. २७.३, तै.सं. ४.१.७.२.

अभिमातिषाद् – अभिमानियों को परास्त करने वाला ।
'सुवीरासो अभिमातिषाहः'
ऋ. २.४.९
'सं वृष्ण्यानि अभिमातिषाहः'
ऋ. १.९१.१८, आ.सं. ३.२, वाज.सं. १२.११३, तै.सं. ४.२.७.४, मै.सं . २.७.१४, ९६.८, का.सं. १६.१४, ३७.५, श.ब्रा. ७.३.१.१४, कौ.सू. ६८.१०
'ऐन्द्रस्ते शुष्मो अभिमातिषाहः'
अ. ५.२०.२

अभिमातिषाह्य – अभिमानी शत्रुओं को पराजित करने वाला संग्राम ।
'इन्द्राभिमाति षाह्ये'
ऋ. ३.३७.३, अ.२०.१९.३, मै.सं. ४.१२.३, १८४.८

अभिमातिहा – गर्वीत शत्रुओं का हन्ता ।
'सत्रराडस्यभिमातिहा'
वाज.सं. ५.२४, वाज.सं.(का.) ५.६.३, मै.सं. १.२.१०,२०.५, श.ब्रा. ३. ५.४.१५.

अभिमानी – अभिमानी शत्रु ।

अभियन् – अभि +या +शतृ । समीप जाता हुआ ।
'मेषो भूतोऽभियन् अयः
ऋ. ८.२.४०, नि. ३.१६.
भेड़े या रूप की तरह (मेषः भूतः) समीप जाता हुआ (अभियन्) तू पहुंच गया (अयः) ।

अभियुक् – आक्रमण करने वाला ।

अभियुग्वा – आक्रमण करने वाला ।
'सा सह्वांश्चाभियुग्वा च विक्षिपः स्वाहा
वाज.सं. ३९.७

अभियुज् – (१) आक्रमण कारी ।
'अभिर्विश्वा अभियुजो विषूचीः
ऋ. ६.२५.२, मै.सं. ४.१४.१२ः २३५.४, तै.ब्रा. २.८.३.३.
(२) युद्ध करने वाला (३) शत्रुसेना । –(दया.)
'विश्वा अग्ने अभियुजो विहत्या
ऋ. ५.४.५, अ. ७.७३.९, मै.सं. ४.११.१,१५९.४, का.सं. २.१५, तै ब्रा.२.४.१.१, नि. ४.५.

अभिरोरुद – (१) वह ओषधि जो पति को पत्नी से बहुत दूर जाने से रोके ।
(२) अन्य नारी का संसर्ग रोकने वाला
(३) सौवर्चल नामक यन्त्र

'मांपश्यम् अभिरोरुदम्

अ. ७.३८.१

अभिलव्लग्य - आक्रमण कर के मार कर कुचल कर पकड़कर ।

अभिल्लंग - (१) सब तरफ का पैंतरा, (२) सब तरफ चलने वाला, (३) चौमुखा मारने वाला अस्त्र शस्त्र

'अभिव्लंगैः अपा वपः'

ऋ. १.१३३.४

(सब तरफ के पैतरों से या सब तरफ चलने वाले चौमुखा मारने वाले अस्त्र शस्त्रों से (अभिल्लंगैः) काट गिराये । 'लंगी मारना' अजभी प्रयुक्त होता है ।

अभिवक्षय - 'वस्' धातु काण्यन्त रूप । अर्थ-मिला दे । निवास करा दे ।

अभिवयाः - सब प्रकार के अन्न से सम्पन्न राष्ट्र

'तीव्रस्याभिवयसः अस्य पाहि'

ऋ. १०.१६०.१, अ.२०.९६.१, ऐ.आ.५.१.१.६, वै.सू.३४.२०.

अभिव्रजन् - (१) संसार के बन्धनों का परित्याग करता हुआ संन्यासी (२) शत्रु पर आक्रमण करने वाला, ।

'अभिव्रजन् अक्षितं पाजसा रजः'

ऋ. १.१५८.५

(यह जीव परिव्राजक हो, अक्षय ऐश्वर्य, अक्षय लोक, ऐश्वर्य मोक्ष या परमेश्वर को प्राप्त करता है ।)

अभिवर्धमानः - (१) चारों तरफ से बढ़ता हुआ । वृत्र या दुष्ट जन ।

'अभिवृत्रं वर्धमानां पियारुम्'

ऋ. ३.३०.८, वा.सं. १८.६९.

(चारों ओर से बढ़ते हुए हिंसक वृत्र या मेघ को (वृत्रम्)

अभिवहेयुः - लावें ।

'अभिश्रव ऋज्यन्तो वहेयुः'

ऋ. ६.३७.३, नि. १०.३.

सुन्दर चाल से चलते हुए सोम रस लावें ।

अभिव्याधी - सब ओर से प्रहार करने वाला

'मो अभिव्याधिनो विदन्'

अ. १.१९.१

अभिवीता - रोग से युक्त ।

'वामं नृभ्यो अभिवीता सखिभ्यः'

ऋ. ७.२७.४

अभिवीर - (१) जिसके दाएं बाएं नाना वीर पुरुष रहते हों, वीरों से घिरा हुआ ।

'अभिवीरो अभिषत्वा सहोजित्'

ऋ. १.१३०.५ अ. १९.१३.५, साम.२१२.०३, वाज.सं १७.३७, तै.सं. ४.६.४.२, मै.सं. २.१०.४:१३६.३, का.सं. १८.५

अभिवृष्ट - (१) अभिघेचित स्नातक ।

(२) वर्षा से अभिषिक्त मेढ़क ।

'मण्डूको यदभिवृष्टः कनिष्कन्'

ऋ. ७.१०३.४

अभिवेग - उत्साह ।

'असन्तु मे जरिता सांभिवेगः'

ऋ. १०.२७.१

अभिशस् - पुनः पुनः इच्छा ।

'यदाशसा निःशसाभिशसो पारिम'

ऋ. १०.१६४.३

अभिशस्ति - (१) महा विपत्ति, संकट, मृत्यु ।

'पुरा तस्या अभिशस्तेः अधीहि

ऋ. १.७१.१०

(उस महाविपत्ति या संकट या मृत्यु के पहले ही तू हमें ज्ञान प्रदान कर ।)

(२) मरण -वेदना ।

'बृहस्पतेरभिशस्तेरमुञ्चः'

अ. ७.५३.१, वाज.सं. २७.९, तै.सं. ४.१.७.४, मै.सं. २.१२.५:१४९.१०, ३.४.६:५१.१५, का.सं. १८.१६.

अभिशस्ति पा - (१) निन्दा से बचाने वाला ।

'किमङ्ग त्वाहुरभिशस्तिपां नः'

ऋ. ६.५२.३

(२) सभी पीड़ाओं या आघातों से रक्षा करने वाला-विष्णु (३) चारो ओरं से आघातों से रक्षा करने वाला ।

'अनभिशसस्त्यभिशस्तिपा'

वाज.सं. ५.५, तै.सं. १.२.१०.२, ६.२.२.३, मै.सं. १.२.७:१६.१३, का.सं. २.८, गो.ब्रा. २.२.३, शां.ब्रा.३.४.२.१४, आश्व.श्रौ.सू. ४.५.३, शां.श्रौ.सू. ५.८.२, वै.सू १३.१८, शां.गृ.सू. १.६.५.

'अभूर्वापीनामभिशस्तिपा उ'

अ. १९.२४.६

अभिशस्तिपावा - दानशील पुरुषों, उत्तम कर्मों और

परस्पर के सत्संगों को निन्दा, घात, प्रतिघात या विनाश या विच्छेदन से बचाने वाला-परमेश्वर, विद्वान् राजा ।
'भवा यज्ञानाम् अभिशस्तिपावा'
ऋ. १.७६.३

अभिशस्ताहन्ता - आक्षेपों और शस्त्र प्रहारों से सताने वाले पुरुष का विनाशक ।
'हन्ताभिशस्तेन्द्रस्तथा तद् वेधसोविदुः'
अ. ५.१८.१४

अभिशाचः - सब प्रकार से शक्तिशाली
पुरोगवाय अभिशाचो अस्य ।
अ. १८.४.४४

अभिश्रिष् - (१) चिपकने का पदार्थ, लस्सा ।
'य ऋते चिदभिश्रिषः'
ऋ.८.१.१२,अ.१४.२.४७,साम १.२४४.
(२) जोड़ने वाला काल ।

अभिश्री - (१) सम्मुख होकर सेवनीय (२) वैश्वानर अग्नि का विशेषण ।
'राजा हि कम् भुवनानाम् अभिश्रीः'
ऋ. १.९८.१, वाज.सं. २६.७, तै.सं. १.५.११.३, मै.सं. ४.११.१,१६१.३, का.सं. ४.१६, नि. ७.२२.
(क्योंकि वैश्वानर अग्नि सम्मुख होकर सेवनीय है (अभिश्रीः) और सभी जीवों का राजा है ।)
(३) अभिश्रयणीय (आभिमुख्येन सेवनीय)
(४) सबके आश्रय योग्य (५) उत्तम राज्य लक्ष्मी से सम्पन्न ।
'श्वेतः सिषक्ति नियुतामिश्रीः.'
ऋ. ७.९१.३

अभिश्वसन् - (१) आश्वासन या हार्दिक शान्ति को प्राप्त हुआ । (२) वायु रूप से श्वास लेता हुआ ।
'अभिश्वसन् स्तनयन् एति नानदत्'
ऋ. १.१४०.५.

अभिशोक - सब अंगों में भीतर वाहर व्याप्त ज्वर ।
'यदि शोको यदि वाभि शोकः'
अ. १.२५.३

अभिशोच - सब तरफ शरीर में दाह उत्पन्न करने वाला ।
'अवकादन् अभिशोचान्'
अ. ४.३७.१०

अभिशोचन - (१) कोसना ।
'न कृत्या नाभिशोचनम्'
अ.४.९.५
(२) हाथ पैर आदि का जलन ।
'विष्कन्धात् अभिशोचनात्'
अ. २.४.२

अभिशोचयिष्णु - सब को सब प्रकार शोचित पीड़ित करने वाला ज्वार ।
'अयं यो अभिशोचयिष्णुः'
अ. ६.२०.३

अभिषत्वा - अधिक सत्व बल को धारण करने वाला ।
'अभिवीरो अभिषत्वा सहोजित्'
अ. १९.१३.५, का.सं. १८.५.

अभिषवणी - सोमरस में मिलाने योग्य 'वसतीवरी' नामक जलधारा ।
'अभिषवणीरापः'
अ. ९.६.१(१) १६

अभिष्टन् - अभि +स्तन् । अर्थ (१) सर्वतः शब्द युक्त व्यवहार । (२) गर्जना, (३) आज्ञा ।
'अभिष्टने ते अद्रिवः
यत्स्था जगत् च रेजते'
ऋ. १.८०.१४
(हे अखण्ड बलवीर्य के स्वामिन्, जब तेरी गर्जना और आज्ञा में स्थावर और जंगम सभी कांपते हैं ।)

अभीषाच् - (१) साक्षात् प्राप्त होने वाला-इन्द्र, परमेश्वर ।
'धामसाचम् अभिषाचम् स्वर्विदम्'
ऋ. ३.५१.२
(२) सहयोगी
'दश वशासो अभिषाच ऋष्वान्'
ऋ. ६.६३.९
(३) अभ्यन्तर से सम्बन्ध रखने वाला ।
'शमभिवाचः तशमु रातिषाचः'
ऋ. ७.३५.११, अ. १९.११.२, मै.सं. ४.१४.१ः २३२.६, तै.ब्रा. २ .८.६.४.

अभिषाचः - चारों ओर से एकत्र होकर विराजने वाले ।

अभिष्टि - (१) इच्छा की अनुकूलता ।
'प्रियास इत् ते मघवन् अभिष्टौ'
अ. २०.३७.८

(२) साक्षात् कामनामय परमेश्वर, (३) सर्वतो मुख प्रेरणा शक्ति से युक्त (४) सर्वत्र गतिशील।

'जिगायोशिग्भिःपृतना अभिष्टिः'

ऋ. ३.३४.४, अ.२०.११.४, तै.ब्रा. २.४.३.६.

(३) अभिमुखा इष्टिः संगतिः यस्य। (दया.)

(४) सब ओर संगठन करने वाला।

(५) अभिमत नीति।

'सद्यश्चिन्नुते मघवत् अभिष्टौ'

ऋ. ७.१९.९, २०.३७.९.

अभिष्टिकृत् - (१) उत्तम यश, सत्संगति या मैत्री का दान करने वाला।

'अभिष्टिकृत् जायते सत्य शुष्मः'

ऋ. ४.११.४.

(२) सबका अभीष्ट पूरा करने वाला।

'अभिष्टि कृत् विचर्षणिः'

ऋ. ९.४८.५, साम.२.१८९.

अभिष्ठित - लिपटा हुआ।

'स्वज इवाभिष्ठितो दश'

अ. ५.१४.१०

अभिष्टिपा - (१) आने वाली विपत्तियों से बचाने वाला, (२) अपनी शरण में स्वीकार करने वाला।

'त्वायतो अभिष्टिपासि जनान्'

ऋ. २.२०.२

अभिष्टिमान् - उत्तम एषणा अर्थात् स्पर्द्धा से युक्त।

'तद् वां नरा शंस्यं राध्यं च
अभिष्टिमन्नासत्या वरूथम्
यद् विद्वांसा निधिमिवापगूभ्
उद् दर्शताददूपथुर्वन्दनाय्'

ऋ. १.११६.११

हे विद्वान् स्त्री पुरुषो, गृहस्थ के नायक नायिकाओं या अश्विद्वय। तुम दोनों कभी असत्याचरण न करते हुए (नासत्या) दर्शनीय सुन्दर स्त्री रूप से (दर्शतात्) स्तुतित योग्य पुत्र लाभ करने के लिए (वन्दनाय) खूब गहरे छिपे (अपगूढ़म्) जिस निधि को (निधिम्) वपन कर प्राप्त करते हो (ऊपथुः) वह तुम दोनों का (वाम्) प्रशंसा करने योग्य (शस्यम्) उत्तम एषणा से युक्त (अभिष्टिमत्) दुःखों से बचाने वाला (वरूथम्) और वरणीय श्रेष्ठ धन के समान (राध्यम्) हो।

अभिष्टिशवाः - सब तरफ शासन करने में समर्थ बलशाली।

'मित्राय पञ्च ये मिरे
जात अभिष्टिशवसे'

ऋ. ३.५९.८.

अभिष्टुता - अभिस्तुता-सब प्रकार से प्रशंसित।

'वीरुधो या अभिष्टुताः'

अ.८.७.११

अभिष्ठित - सर्वत्र स्थित।

'अभिष्ठितो वरुणस्य पाशः'

वाज.सं. ८.२३, तै.सं. १.४.४५.१,६.६.३.२, का.सं. ४.१३,२९.३, शा .ब्रा. ४.४.५.११.

अभिषेक्ता - जल से स्नान करने वाला।

'विष्टपायाभिषेक्तारम्'

वाज.सं. ३०.१२

अभिषेणः - सेना सहित सामने आने वाला।

'अभिषेणां अभ्यादेदिशानान्'

ऋ. ६.४४.१७.

अभिसचस्व - सम्मुख आ।

'पिशङ्गराते अभि नः सचस्व'

ऋ. ५.३१.२

हे सुन्दर दान वाले इन्द्र, तू हमारे सम्मुख आ (नः अभि सचस्व)।

अभिसञ्चरेण्य - इधर उधर संचार करने वाला। (अभितः संचरण शीलः)

'अन्यस्य चित्तम् अभिसञ्चरेण्यम्'

ऋ. १.१७०.१, नि. १.६.

(२) अभि +सम् +चर +एण्य =अभिसंचरेण्य।

अभिसत्वा - बलवान् पुरुषों से सम्पन्न।

'अभिवीरो अभिसत्वा सहोजा'

ऋ. १०.१०.३.५, साम २.१२०३, वाज.सं. १७.३७, तै.सं. ४.६.४.२, मै. सं २.१०.४,१३६.३.

अभिसन्ति - आते हैं, चारों तरफ घेर कर बैठते हैं।

'सधस्थं विश्वे अभिसन्ति देवाः'

ऋ. ७.३९.४.

(विश्वेदेव यज्ञों में समान स्थान पर आते हैं)।

अभिरुकन्द - आक्रमण कारी।

'अभिस्कन्दं मृगीव'

अ. ५.१४.११

अभिसन्ददी - स्त्री पुरुष का विशेषण-धारण करने वाले

हस्तेव शक्तिमभि सन्ददी नः'
ऋ. २.३९.७

अभिसर्ता – शत्रु के मुकाबले पर अभिसरण या प्रयाण करने वाला ।
'शोकायाभिसर्तारम्'
वाज.सं. ३०.१४,तै.ब्रा. ३.४.१.१०.

अभिसृष्ट – देहवान् आत्मा ।
'यदो षधीरभिसृष्टो वनानि च
परि स्वयं चिनुषे अन्नमास्ये'
ऋ. १०.९१.५,साम २.३३२.

अभिस्वरः – (१) तेजस्वी, अतिगर्जनशील, (२) इन्द्रियों को प्रेरित करने वाली स्वतः प्रकाश आत्मा ।
'स्थाता रथस्य हर्योरभिस्वरेः'
ऋ. ३.४५.२,साम. २.१०६९
(३) आ, सर्वत्र विचारकर ।
(४) ज्ञानोपदेश के साथ वर्तमान विद्वान्
'मेषं विप्रा अभिस्वरा'
अ. २०.५४.३

अभिस्वर्ता – साक्षात् स्तुत करने वाला
'अभिस्वर्तारो अर्कं न सुष्टुभः'
ऋ. १०.७८.४

अभिस्वरन्ति – अभिपतन्ति अथवा आमिमुख्येन सूर्य मण्डलं सु अरन्ति (सुखेन गच्छन्ति)
'रसान् गृहीत्वा प्रयान्ति ।'
अथवा सर्वतः शब्दं कुर्वन्ति (चारों ओर से आते हैं) चारों ओर से शब्द करते हैं, सामने से आदित्य मण्डल की ओर जाते हैं ।
सूर्य की क़िरणें इस क्रिया का कर्त्ता हैं ।
'यत्रा सुपर्णा अमृतस्य भागम्
अनिमेषं विदथाभिस्वरन्ति ।'
ऋ. १.१६४.२१,नि. ३.१२.

अभिस्वार – सब प्रकार का उपदेश देने वाली वेदवाणी ।
'अभिस्वरा निषदा गा अवस्यवः'
ऋ. २.२१.५

अभिरूपा – (१) सब प्रकार से नाना रूपों को धारण करती हुई, अभिव्यक्त रूप से प्रकट हुई विराट् प्रकृति ।
'विश्वं मृशन्तीमभिरूपां विराजं पश्यन्ति त्वे'
अ. ८.९.९

अभिसृष्ट – आक्रमण करता हुआ ।
'पिबास्यन्धो अभिसृष्टो अस्मे'
ऋ. ३.३५.१,तै.ब्रा. २.७.१३.१

अभिसेहानः – पराजित करता हुआ ।
'सेहान उग्र पृतना अभिद्रुहःशचीपतु'
ऋ. ८.३७.२

अभिहस्य –उपहास योग्य ।
'येनाभिहस्यं पुरुषं कृणोषि'
अ. ६.३०.२

अभिह्रुत – (१) अति कुटिल पापाचार, दुष्काल आदि ।
'स नस्त्रासते दुरितात् अभिह्रुतः'
ऋ. १.१२८.५.
(२) कुटिल द्वेषभाव , (३) अप्रीतिभाव, (४) कुटिलाचारी ।
'अभिह्रुतामसि हि देव विष्पद्'
ऋ. १.१८९.६.

अभिह्वार – कुटिलमार्ग ।

अभ्रिः – (१) पृथिवी खोदने वाला यन्त्र,
(२) शत्रु के बीच में घुस जाने में समर्थ पुरुष,
(३) कुदाल ।
'अभ्रिरसि नार्यसि'
वाज.सं. ११.१०, तै.सं. १.३.१.१, ४.१.१.३, ६.२.१०.१, मै.स. १.२.१०, १९.१५, २.७.१, ७४.१४, ३.८.८, १०५.१९, ४.९.१, १२०.६, का.सं. १६.१, श.ब्रा. ६.३ .१.३९, तै.आ,. ४.२.१,५.२.५.
'हिरण्ययीभिरभ्रिभिः'
अ. १०.४.१४
'अभ्रिखाते न रूरुपः'
अ. ४.७.५,७.

अभ्रिखाता – कुदाल से खोदी ओषधि ।

अभ्रिय – मेघ ।
'वावदतो अभ्रियस्येव घोषाः'
अ. २०.१६.१

अभ्रिया – अभ्र अर्थात् मेघ में निवास करने वाली सूर्य की प्रभा ।
'अभ्रिये दिद्युन्नक्षत्रिये'
अ. २.२.४

अभ्रिया वाक् – मेघ से उत्पन्न वाणी ।
'यदभ्रियां वाचमुदीरयन्ति'
ऋ. १.१६८.८

अभीक - (१) समक्ष उपस्थित ।
'अभीकेचिदु लोककृत
सङ्गे समत्सु वृत्रहा ।'
ऋ. १०.१३३.१, अ. २०.९५.२, साम.२.११५१, तै.सं. १.७.१३.५, मै.सं. ४.१२.४:१८९.८, तै.ब्रा. २.५.८.२.
सामने आये संग्राम काल में (अभीके सङ्गे) तथा संग्रामों में (समत्सु) अभिपूजित लोककर्त्ता या स्थान कर्त्ता (लोककृत् चित्) वृत्र का वध करने वाला इन्द्र होगा वृत्रहा उ)।
(२) भय रहित सत्याचरण ।
'आरे स्याम दुरितादभीके'
ऋ. ३.३९.७
(३) निकट, आसन्न ।
अभि +अञ्च +ईकन् =अभीक - यास्क अभीके वृहतात् । अभ्यक्त से अभीक हुआ है ।
(४) संग्राम ।

अभीक्ष्ण - अभि + क्षम =अभिक्षण =अभीक्ष्ण । मुहुः मुहुः (बारम्बार शश्वत् , आभीक्ष्ण, असकृत्
'क्षण' आभिमुख्य रूप से अवस्थित रहता है । अतः 'अभिक्षण' या अभीक्ष्ण कहलाया ।
क्षण (प्रकर्षेण हीनः हिंसितः कालः) क्ष्णु (तेजन) और हिंसार्थक धातु से बना है । अतः 'अभिक्षण' या अभीक्ष्ण का अर्थ क्षणमात्र सामने रहने वाला है ।
आधुनिक अर्थ-बारबार, लगातार, बहुत ।

अभीति - अभीति । अर्थ है -सब ओर से आने वाली आपत्ति ।
'विश्वा अभीती रपसो युयोधि'
ऋ. २.३३.३
(२) अभय (३) अभिमुख प्रयाण ।
'अभीतिमर्यो वनुषां शवांसि'
ऋ. ७.२१.९

अभीत्वरी - आक्रमण करने वाली सेना ।
'याः सेना अभीत्वरी'
वाज.सं. ११.७७, तै.सं. ४.१.१०.२, मै.सं. २.७.७: ८३.१५, ३.१.९:१२.१५, का.सं. १६.७, १९.१०, श.ब्रा. ६.६.३.१०.

अभीद्धघर्म - (१) सब ओर से प्रकाशित तेजोमय परम रस आनन्द स्वरूप ब्रह्म ।
'अभीद्धो घर्मस्तदु षु प्र वोचत्'
ऋ. १.१६४.२६,७.७३.७,९.१०.४, नि. ११.४३.
(२) अभिदीप्त मध्यमेस्थानीय विद्युत् नामक घर्म

अभीमोदमुद् - साक्षात् प्राप्य सुखों से उत्पन्न होने वाला आनन्द ।
'अभीमोदमुदश्च ये'
अ. ११.७.२६,११.८.२८.

अभीयत् - शरण में आनेवाला ।
'अभीपतो वृष्ट्या तर्पयन्तम्'
ऋ. १.१६४.५२, अ.७.३९.१, तै.सं. ३.१०.११.३, का.सं. १९.१४.

अभीरवः - भय रहति, मरुतों का विशेषण -सा.
(२) निर्भय-मनुष्य ।
'ते वाशीमन्त इष्मिनो अभीरवः'
ऋ. १.८७.६, तै.सं. २.१.११.२,४.२.११.२, मै.सं. ४.११.२:१६८.१, का.सं. ८.१७.
(वे मरुत् या पुरुष स्तुतियों से युक्त, हवि या स्तुति के निकट जाने वाले, इच्छावाले या प्रत्यक्ष रूप से पदार्थों को देखने वाले (इष्मिणः) एवं निर्भय हैं ।)

अभीरु - निर्भीक, भयरहित ।
'शवसानम् अभीर्वम्'
ऋ. ८.४६.६

अभीलापलप् - प्रत्यक्ष में दूसरे की बात सुनकर प्रत्युत्तर में या देखा देखी कही जाने वाली बात ।
'अभीलापलपश्च ये'
अ. ११.८.२५

अभीवर्ग - (१) शासक वर्ग ।
'अहं राष्ट्रस्याभीवर्गे'
अ. ३.५.२
(२) सब ओर से घेरने वाला अन्तरिक्ष ।
'अभीवर्गात् दिवस्पती'
अ. ११.२.४
(३) रक्षा ।
'इमं राष्ट्रस्याभीवर्गे'
अ. ६.५४.२

अभीवर्त - (१) राजा का अभीवर्त स्वरूप (२) शत्रु पर आक्रमण करने में सफल राजा ।
'अभीवर्तो यथाससि'
ऋ.१०.१७४.३, अ. १.२९.३.
(३) राज्य के १९ विभागाध्याक्षों पर स्वयं २० वां होकर शासक करने वाला राजा ।

'तपो नवदशोऽभीवर्त्त सविंशः'
वाज.सं. १४.२३, तै.सं. ४.३.८.१, ५.३.३.३, मै.सं. २.८.४, १०९.३, का.सं. १७.४, २०.१३, श.ब्रा. ८.४.१.१४.

(४) अभीवर्त नामक मणि, यन्त्र, ताबीज ।

(५) शत्रुओं को घेरने, अधीन राष्ट्रों को वश करने, सेना द्वारा चढ़ाई करने और क्रूरों को विनष्ट करने की शक्ति या इस प्रकार के प्रभाव वाला अभीवर्त मणि ।

'अभीवर्तेन मणिना येनेन्द्रो अभिवावृधे'
ऋ. १०.१७४.१, अ. १.२९.१, ऐ.ब्रा. ८.१०.४.

अभीवर्तमणि – (१) रथनेमिमणि या रथचक्रमणि ।
'अभीवर्तेन मणिना'
अ. १.२९.१

पीड़त राष्ट्र की वृद्धि के लिए इसका प्रयोग बतलाया गया है । कौशिक ने –अपः सीसलोह रजत ताम्र वेष्ठित हेमनाभि रथनेमिमणि का स्वरूप बतलाया है । बीच में सोने के छल्ले या क्रम से लोहा, सीसा चांदी आदि के छल्ले लगे रहते हैं ।

(२) शत्रु स्तम्भक पुरुष । 'येन मणिना इन्द्र अभिवावृधें' (जिस मणि से इन्द्र सब प्रकार से बढ़े–समृद्ध हुए ।)

पुनः– 'न सपत्नान् अभिवृत्य पृतयन्तम् अभितिष्ठ' इसी कारण इस मणि को सपत्नक्षयण अर्थात् शत्रुनाशक कहा गया है ।

मह्यं राष्ट्राय सपत्नेभ्यः पराभुवे वध्यताम् (मेरे राष्ट्र के शत्रुओं को पराजित करने के लिए बांधा जाय, नियुक्त किया जाय)।

महाभारत में भीष्म पितामह ने भी कहा है– वद्धो स्म्यर्थेन कौरवैः।

अभीवार – अभि +वृ +घञ् =अभिवार–अभीवार । सब ओर से आच्छादन करने वाला ।
'विश्वमन्यामभीवारम्'
अ. १.३२.४

अभीवृत – (१) सर्वतः साधनों से पूर्ण । सूर्य के रथ का या पिंड का विशेषण ।
(२) पुष्ट, (३) घिरा हुआ ।
'दक्षिणाभिरभीवृतः'
ऋ. ८.३९.४

अभीवृता – (१) अभिप्रवृत्ता, अभितः व्याप्ता (चारो ओर व्याप्त), (२) अधिष्ठिता ।
'अयं सशिङ्क्ते येन गौरभीवृता'
ऋ. १.१६४.२९, अ. ९.१०.७, तै.ब्रा. २.२६०, नि.२.९.
(यह मेघ अव्यक्तध्वनि करता है जिससे मेघ से जल निकलने के समय तक विद्युत नाम्नी माध्यमिका वाक् व्याप्त होकर (अभीवृता) मेघ बनाती या जल बरसाती है ।)

अभीशुः – (१)(स्त्री) अंगुली । अंगुलियां ही किसी पदार्थ को चारों ओर से बांधती हैं ।
'दशाभीशुभ्यो अर्चताजरेभ्यः'
ऋ. १०.९४.७, नि. ३.९.
लौकिक – 'अभीशुः प्रग्रेहे रश्मौ' –अमर
(२) किरण (३) घोड़े की रस्सी । (४) रश्मि ।
अभि + अश् + उ =अभीशु । 'अश् ' के 'अ' का 'ई' हो जाता है । 'अश्' व्याप्त्यर्थक धातु है ।
(५) प्रग्रह (पगहा) । 'अभिव्याप्नोति अश्वम्' ।

'रथे तिष्ठन् नयति वाजिनः पुरो
यत्र यत्र कामयते सुषारथिः
अभीशूनां महिमानं पनायत
मनः पश्चात् अनु यच्छन्ति रश्मयः'

ऋ. ६.७५.६, वाज.सं. २९.४३, तै.सं. ४.६.६.२, मै.सं. ३.१६.३,१८६.३, का.सं. (अश्व).६.१., नि. ९.१६.
(जो यह सारथि रथ पर बैठा हुआ जहां चाहता है वहां वह घोड़ो को सामने ले जाता है । यह सारथि की प्रशंसा नहीं अपितु घोड़े की रश्मियों की है । अतः उन रश्मियों की प्रशंसा कर । ये रश्मियाँ मन की इच्छा का अनुसरण करती हैं)।

अभीषाद् – अभि +सह् +ण्वि =अभिवाह् (उपधा की वृद्धि, ह् का द् , स् का ष और पूर्व पद का दीर्घ) ।
'आनो वाज्यभी षाडेतु नव्यः'
ऋ. ७.४.८, नि. ३.३.
हमें शत्रुजेता, भयदाता नव शिशु आवे ।

अभीहि – अभियान कर, शत्रुओं का सामना कर ।
'प्रेहि अभीहि धृष्णुहि'
ऋ. १.८०.३, साम. १.४१३.

अभुजिष्ट – (१) दूसरो का पालन करने वाला, (२) जो धन उत्तमरीति से भोग नहीं करता । भुज

धातु पालन तथा भोजन अर्थों में आया है ।
'यश्च पणिरभुजिष्ठः'
अ. २०.१२८.४

अभुञ्जत् - अन्यो का पालन करे वाला- धनवान् पुरुष ।
'अध स्वप्नस्य निर्विदे
अभु ञ्जतश्च रेवतः
उभा ता बस्रि नश्यतः'
ऋ. १.१२०.१२,
मैं आलसी तथा स्वयं ऐश्वर्य का भोग और अन्यों का पालन न करने वाले धनवान पुरुष इन दोनों से उदासीन हूं- दोनों को निकम्मा समझता हूँ (निर्विदे) । दोनों शीघ्र ही या सुखनाशक होने से (वस्रि स्वयं नष्ट हो जाते हैं) ।

अभ्व - (१) असत् (२) अव्यक्त ।
'कृष्णम् अभ्वम् महिवर्पः करिक्रतः'
ऋ. १.१४०.५
(असत्, काले, पापमय, मलीन कर्माशय या मिथ्याज्ञान का विनाश करते हुए और बड़े भारी अव्यक्त (अभ्वम्) वरण करने योग्य आत्मस्वरूप को (वर्पः) भी साक्षात् कर लेते हैं (करिक्रतः)
(अन्य अर्थ)
सूर्य के प्रकाश काले, असत् अन्धकार का नाश करते हुए बड़े सुन्दर प्रकाश को प्रकट करते हैं ।

अभूत - अभवत (भवत)। लोट् के अर्थ में लङ् का प्रयोग हुआ है । होओ ।
'अभूत विश्वे अग्रियोत वाजाः'
ऋ. ४.३४.३, नि. ६.१६.
(हे ऋभुओ, आप सभी अग्रगामी होवें)।

अभूताम् - दोनों हुए ।
'यदेदेनमदधुः यज्ञियासो
दिविदेवाः सूर्यमादितेयम्
यदा चरिष्णू मिथुनावभूताम्
आदित् प्रायश्यन् भुवनानि विश्वा ।'
ऋ. १०.८८.११, मै.सं. ४.१४.१४,२३९.१७, नि. ७.२९.
जभी यज्ञार्ह सभी देवों ने द्युलोक में प्रातः काल सूर्य को तथा अग्नि को स्थापित किया और जभी ये दोनों साथ साथ चलने वाले सूर्य और वैश्वानर अग्नि एक जोड़े के समान प्रादुर्भूत हुए उसके बाद से ही उन दोनों को सभी जीवों ने प्रकर्ष पूर्वक देखा ।

अभूति - (१) अनिष्ट ,(२) कल्याण का विनाश ।
'पापात् स्वप्न्यात् अभूत्याः'
अ. ७.१००.१, का.श्रौ.सू. २५.११.२०.
'जागरणमभूत्यै'
वाज.सं. ३०.१७

अभूत्याः पुत्रः - चेतना या ऐश्वर्य की सत्ता के अभाव का पुत्र-स्वप्न ।
'अभूत्याः पुत्रोऽसि यमस्य करणः'
अ.१६.५.३.

अभ्यूढप्रभा - तीसरा प्राण ।
'योऽस्य तृतीयः प्राणोऽभ्यूढो नामासौ स चन्द्रमा
अ. १५.१५.५

अभ्यूर्ण्वाना - अभि +ऊर्ण्वाना । आच्छादित करती हुई ।
'अभ्यूर्ण्वाना प्रभृथस्यायोः
सिषक्तु न ऊर्जव्यस्य पुष्टेः'
ऋ. ५.४१.१९,२० नि. ११.४.९.
सब कुछ आच्छादित करती (अभ्यूर्ण्वाना) माध्यमिका देवी अर्थात् विद्युत् प्रचुर मात्रा में एकत्रित जल से हमारे अन्नों की पुष्टि के लिए (ऊर्ज व्यस्य पुष्टेः) हमे जल दे (नः सिषक्तु) ।

अभोग् घनः - अभोक् +हनः =अभोग्घनः । एक वचन में अभोग्घन् रूप है । (१) भोजन करने तथा मृत्यु से पृथक् -दया. (२) अन्न के समान भोग्य बनकर और दब कर न रहने वाले प्राण वायु (३) किसी के अधीन होकर भोग्य और दण्डनीय न होने वाले सैनिक
'युवानो रुद्रा अजरा अभोग्घनः'
ऋ. १.६४.३

अम - (१) बल ।
'अमैरमित्रमर्दय'
ऋ. ८.७५.१०, साम.१.११, २.९९८, तै.सं. २.६.११.२, मै.सं. ४.११.६,१७५.१३, का.सं. ७.१७.
'द्यामसेन रेजयत् प्रभूम'
ऋ. ४.२२.३
(२) मुख्य प्राण ।
'अमोऽहमस्मि सात्वम्'
अ. १४.२.७१, का.सं. ३५.१८, ऐ.ब्रा. ८.२७.४,

श.ब्रा. १४.९.४.१९, बृ.आ.उप. ६.४.१९, आश्व.गृ.सू. १.७.६, शां.गृ.सू. १.१३.४, कौ.सू. ७९.१०,

(३) भय। इन दिनों 'अम' का अर्थ 'शीघ्रता से' या 'अल्प' है। अम धातु जाना अर्थ में प्रयुक्त होता है- जैसे अमति। सेवा करना, प्रतिष्ठा करना या भोजन करना भी इसका अर्थ है। आमयति का अर्थ है-आक्रमण करता है। रोग से आर्त कराता है या रोगी बनाता है।

(४) कच्चा, (५) रोग, (६) सेवक भृत्य (७) यह

'सेनेव सृष्टामं दधात्यस्तुर्न
दिद्युत् त्वेषप्रतीका।
यमो ह जातो यमो जनित्वं
जारः कनीनां पतिर्जनीनाम्
तं वः चराथा वयं वसत्याः
अस्तं न गावो नक्षन्त इद्धम्।'

ऋ. १.६६.७-९, नि. १०.२१.

सेनापति के द्वारा प्रेरित सेना की तरह यह अग्नि भी दीप्तदर्शना शिखा हो (त्वेषप्रतीका) चलाने वाले के वज्र की तरह भय या बल देता है। (अमं दधाति) जिस अग्नि की ज्वाला ऐसी है वह सचमुच यम ही है। जो उत्पन्न है या उत्पन्न होने वाला है वह यम ही है। वही अग्नि कन्याओं का जार तथा स्त्रियों का पति है अर्थात् पालक है। हे अग्ने, हम ऋत्विज उस प्रज्विलित तुझ को जंगम और स्थावर हवि से (चराथा वसत्याः) उसी तरह व्याप्त होती हैं। (८) मंत्री।

अमणिः -. मणिभूषणादि से रहित।

'अमणिरहिरण्यवान्'

अ. २०.१२८.९, शां.श्रौ.सू. १२.२१.२.१.

अमणिक - भारी रहित, दरिद्र।

'अमाणिकाः मणिच्छदः'

अ. २०.१३०.९

अमत्रः - अम +अत्रन् =अमत्रम्। अमा अस्मिन् अदन्ति (इसमें अम भोजन करते हैं।) अम् वह वस्तु है जिसका निर्माण न हुआ है या जो अपरिमित हो।

(१) आक्रमण करने में कुशल।

'स्वरिरमत्रः ववक्षे रणाय'

ऋ. १.६१.९, अ. २०.३५.९, तै.सं. २.४.१४.२, मै.सं. ४.१२.२,१८१.१२, का.सं. ८.१७.

(२) पात्र।

'आमध्वो अस्मा असि चन् अमत्रम्'

ऋ. १०.२९.७, अ.२०.७६.७

पुनः-

'आमत्रेभिः सिञ्चतामद्य मन्धः।'

ऋ. २.१.१, नि. ५.१.

(सोम भरे पात्रों से आनन्दप्रद अन्न को सिञ्चित करो।)

पात्रामत्रञ्च भाजनम् - अमर नञ् +मीञ् +त्रन् = अमत्र। मीञ् धातु हिंसार्थक है।

(४) महान्। अमत्रो महान् भवति।

(५) अभ्यमित, अहिंसित।

(६) दुराधर्ष -दया. (७) अपरिमित मात्राओं से युक्त -सा. (८) साथ रहकर रक्षा करने वाला, (९) एक ही साथ रहकर ऐश्वर्य का भोग करने वाला, (१०) अपरिमित शक्तिमान परमेश्वर, अपरिमित बलशाली।

'स्वराडिन्द्रो दम आ विश्वगूर्तः'

ऋ. १.६१.९, अ. २०.३५.९, तै.सं. २.४.१४.२, मै.सं. ४.१२.२,१८१.१२, का.सं. ८.१७.

(स्वतः प्रकाश, सबका उपदेष्टा या सबकी स्तुतियों का पांत्र, दमन में परम ऐश्वर्यवान्...)

अमत्त - (१) दृष्ट या हर्षित हुआ।

(२) सुख दे। (दया.)

'अपाद्धोत्रात् उतपोत्रात् अमत्त

ऋ. २.३७.४

(ओर पोता के यज्ञ से सोमरस पीकर हृष्ट हुआ।)

यह यज्ञाग्नि हमें सुख दें-

अमत्रं सख्यम् - (१) सहवासी की रक्षा करने वाला, (२) शत्रुओं को पीड़त करने वाला, असीम सख्य भाव।

'किमादमत्रं सख्यं सखिभ्यः'

ऋ. ४.२३.६

अमतिः - (१) अधर्मयुक्तं, (२) जड़बुद्धि (३) अदम्य शत्रुसेना।

'आरे अस्मद् अमतिं बाधमानः'

ऋ. ३.८.२, मै.सं. ४.१३.१,१९९.७, का.सं. १५.१२, ऐ.ब्रा. २.२.१२, तै.ब्रा. ३.६.१.२.

(४) अन्धकार, (५) अज्ञान, (६) दारिद्रय।

'ससर्परीरमतिं बाधमाना'

ऋ. ३.५३.१५

(७) रूप, (८) तेज ।

'विसूर्यो अमतिं न श्रियम् सात्'

ऋ. ५.४५.२

(९) अविद्या, (१०) दारिद्र्य दशा ।

'निरुन्धानो अमतिम् गोभिरश्विना'

ऋ. १.५३.४, अ.२०.२१.४

(अज्ञान; अविद्या तथा दारिद्र्य दशा को रोकने वाला ।

(११) अमामयीमति, आत्ममयीमति ।

(१२) आत्म प्रकाशमयी मति ।

(जिसकी मति अमामयी अर्थात् आत्ममयी हो । अमामति के 'मा' का लोप 'पृषोदरादिवत्' हुआ है ।)

अर्थ हुआ-स्वयं सर्वज्ञता । आधुनिक अर्थ-दुष्ट प्रकृति, ठग, चन्द्रमा, अज्ञान, अचेतनता

'अभित्यं देवं सवितार मोण्योः कविक्रतुम्
अर्चामि सत्यसवं रत्नधामभिप्रियं मतिम्
ऊर्ध्वा यस्यामतिर्भा अदिद्युतत् सवीमनि
हिरण्यपाणिः अमिमीत सुक्रतुः कृपात् स्वः'

अ. ७.१४.१,२, साम. १.४६४, वाज.सं. ४.२५, तै.सं. १.२.६.१, मै.सं. १.२.५,१४.४, का.सं. २.६, कौ.ब्रा. २३.८, २७.२, श.ब्रा. ३.३.२.१२, आश्व.श्रौ.सू. ४.६.३, शां.श्रौ.सू. ४.९.७.

पृथ्वी के क्रान्तयज्ञ, सत्यभ्यनुज्ञ एवं रमणीय धन देने वाले, सभी अर्थों को बतलाने वाले (अभिमतिम्) सभी जीवों के प्रिय मैं उस सविताकी अभ्यर्चना करता हूँ जिसकी आत्म-प्रकाशमयी मति ने (यस्य अमतिः) ऊपर जाकर रश्मियों को प्रदीप्त किया और जिसने हिरण्यपाणि होकर समस्त जगत् को निर्मित किया (सवीमनि हिरण्य पाणिः अमिमीत) और जो सुकर्मा (सुक्रतुः) अपने ही सामर्थ्य से आदित्य नामक है । (कृपस्वः)

अन्य अर्थ-द्यावापृथिवी के उत्पादक (ओण्योः सवितारम्) सर्वद्रष्टा तथा सर्व कर्मा (कविक्रतुः) सत्य की आज्ञा देने वाले (सत्य सवम्), सूर्यादि रमणीय पदार्थों के कर्त्ता (रत्नधाम्) सर्वप्रिय (अभिप्रियम्) और मतिमान (मतिम्) उस पूज्य देव की अभ्यर्थना करता हूँ जिस प्रभु की स्वयं सर्वज्ञता की ज्योति (यस्य अमतिः भाः)सबसे ऊपर देदीप्यमान हो रही है । (ऊर्ध्वा अदिद्युः) और जिसके शासन में (सवीमनि) सब लोक लोकान्तर वर्तमान है । उसी तेजस्वी हाथ वाले (हिरण्यपाणिः) सुकर्मा परमेश्वर न अपनी कृपा या या सामर्थ्य से द्युलोक का निर्माण किया है (कृपास्वः अभिभीत)

(१३) कान्ति ।

'हिरण्ययीम् अमतिं याम् अशिश्रेत्'

ऋ. ३.३८.८, ७.३८.१.

अमत्री - बल शाली । अमत्र +इन् (अममिन्) =अमत्रिन् - अमत्री ।

'गम्भीरेण न उरुणा अमत्रिन्'

ऋ. ६.२४.९

अमदत् - हर्षित हुआ ।

'यत्रामदत् वृषाकपिः
अर्यः पुष्टेषु मत्सखा'

ऋ. १०.८६.१, अ. २०.१२६.१, शां.श्रौ.सू.१२.१३.२, वै.सू.३२.१७, नि.१३.४

जिन रश्मियों के सोम से पुष्ट होने पर (यत्र पुष्टेषु) सभी के सखा रूप (मत्सखा) चर एवं अचर के स्वामी (अर्यः) सूर्य (वृषाकपिः) सोमपान में हर्षित हुआ (अमदत्)

अमन् - (अमा) (१) एक साथ उत्पन्न, (२) अचेत, अबोध नन्हा, बेखबर, (३) मन के प्रतिकूल ।

'ये अम्नो जातान् मारयन्ति'

अ. ८.६.१९

अमन्तुः - सबका अपमान करने वाला, किसी को न गिनने वाला ।

'अकर्मा दस्युः अभिनो अमन्तुः'

ऋ. १०.२२.८

अमन्दः - अनल्प (अल्प नहीं) अवालिश योग्य अर्थात् विद्वान् के लिए उपयुक्त । मन्द का अर्थ मूढ या वालिश होता है ।

अमन्दस्तोम - (१) अनल्प स्तोत्र

(२) उत्कृष्ट या अनेक विद्याओं से युक्त वेद (दया.) ।

'अमन्दान् स्तोमान् प्रभरे मनीषा'

ऋ. १.१२६.१,नि.९.१०.

(अनल्प स्तोत्रों या उत्कृष्ट विद्याओं से युक्त वेदों को श्रद्धा पूर्वक उच्चारण या धारण करूं)।

अमन्महि - हम समझते हैं ।

'तुर्वशेषु अमन्महि'

ऋ. ८.४.१९.
(मनुष्यों को दी जाने वाली दक्षिणा के रूप में हम समझते हैं ।)

अमन्यमानः - ज्ञान रहित पुरुष
'अमन्यमानां अभिमन्य मानैः
निब्रर्हमभिः अधमो द़स्युमिन्द्र'
ऋ. १.३३.९.
(हे इन्द्र, तू ज्ञान रहित पुरुषों को ज्ञान करने वाले विद्वान् और वेदज्ञ ब्राह्मणों द्वारा सब प्रकार से उपदेश कर)
(२) शासन को न मानने और उत्तम मार्ग को न जानने वाला, (३) उच्छृंखल (४) अज्ञानी ।
'अमन्यमानान् शर्वा जघान'
ऋ. २.१२.१०, अ. २०.३४.१०.

अमन्वत - सममंसत-अन्तर्हित हो गयी ।

अमंसत - मानती हैं, समझती हैं ।
'नेन्द्रं देवममंसत'
ऋ. १०.८६.१, अ.२०.१२६.१, वै.सू. ३२.१७. नि. १.४, १३.४.
तब वे किरणें आदित्य को अपना प्रकाशक नहीं समझतीं (अमंसत)।

अममदुः - प्रसन्न हुए ।
'प्र ये गृहादममदुः त्वाया'
ऋ. ७.१८.२१.
हे इन्द्र ! जो ऋषि तेरे साथ (त्वाया) घर पर या घर जाकर (गृहात्) सोम पीकर या यज्ञों में अत्यन्त प्रसन्न हुए (प्रअमददुः)।

अमर्त्य - (१) बिना मनुष्य के चलने वाला रथ, (२) नहीं मरने वाला शरीर रूपी रथ जब तक यह समान प्राण से युक्त है ।
'समान योजनो हि वां
रथो दस्त्रावमर्त्यः ।'
ऋ. १.३०.१८
(३) अकालमृत्यु से बचाने वाला ।
(४) अमरण धर्मा महान् वैश्वानर अग्नि, (५) अवध्ममझा । (दया.)
'अपश्यम् अस्य महतो महित्वम्
अमर्त्यस्य मर्त्यासु विक्षु'
ऋ. १०.७९.१.
मैंने मरण धर्मा मनुष्य प्रजाओं में अमरण धर्मा महान् वैश्वानर अग्नि का महत्व देखा- (यास्क) ।
अन्य अर्थ-
मनुष्यो में अवध्य और सबसे बड़े बझे के महत्व को समझता हूं ।
(६) अमरण साधन हवि-सा. (७) रोग नाशक औषध हवि । (द़या.)
'तुरीयं पात्रम् अमृक्तंम् अमर्त्यम्'
ऋ. २.३७.४.

अमर्त्या - (१) मनुष्यों के ऊपर असाधारण उषा का विशेषण ।
'उषो देव्यमर्त्या विभाहि'
ऋ. ३.६१.२
(२) कभी नष्ट न होने वाली, नित्या ।
(३) परमेश्वरी शक्ति ।
(४) अश्विद्वय, साधारण मनुष्यों से विशेष अमर ।
'अमर्त्या हवते अश्विना गीः'
ऋ. ७.७३.१, का.सं. १७.१८.

अमर्त्यौ ब्रीहियवौ - कभी न मरने वाले ब्रीहि और यव । धानों से बीज और वीज से पुनः धन उत्पन्न होते हैं । अतः वे कभी नष्ट नहीं होते । कठोपनिषद् में भी कहा है
'सस्यमिव मर्त्यः पच्यते
सस्यमिवाजायते पुनः'
पुनः
'व्रीहिर्यवश्च भेषजौ
दिवस्पुपुत्रावमर्त्यौ'
अ. ८.७.२०

अमर्धनी - अहिंसक प्रजा ।
'अमर्धन्ती रूप नो यन्तु मध्वा'
ऋ. ५.४३.१

अमम्रि - कभी न मारने वाला ।
'अमम्रिर्भवामृतोऽतिजीवः'
अ. ८.२.२६

अमर्मा - (१) मर्मस्थल से रहित, (२) अति दृढ़ शत्रु ।
'त्वं शिरो अमर्मणः परान्'
ऋ. ६.२६.३

अमवत् - सहायक या सुखसामग्री से युक्त ।
'शर्म नो यन्तम् अमवत् वरूथम्'
ऋ. ४.५५.४

अमवती – (१) रोगमयी, (२) रोगकारिणी (३) अन्यो को कष्ट न देने वाली ।

'सातिर्न वोऽमवती स्वर्वती'

ऋ. १.१६८.७.

अमर्मा – अज्ञान मर्मवाला ।

'अमर्मणो मन्यमानस्य मर्म'

ऋ. ३.३२.४

अमवत् – सहायक या गृह के समान ।

'तास्मिन् क्षत्रम् अमवत् त्वेषमस्तु'

ऋ. ५.३४.९

अववत्तर – अधिक बलवान् ।

'दिवश्चिदा वो अमवत्तरेभ्य'

ऋ. १०.७६.५

अमवन्तः – (१) रोगी, (२) विद्युत् की दीप्ति से युक्त बलवान् वायु

'सत्ये त्वेषा अमवन्तो धन्वञ्चिदा रुद्रि यासः मिहं कृण्वन्त्यवाताम् ।'

ऋ. १.३८.७

जिस प्रकार विद्युत् की दीप्ति से युक्त बलवान् तीव्रगति वाले जीवों के सुख प्रद जीवनाधार होकर (रुद्रियासः) वायुगण अन्तरिक्ष या मरुभूमि में अविचल मूसलाधार वृष्टि करते हैं उसी प्रकार ये जीव के प्राणवायु भी हृदय देश में बिना वायु के आनन्दरस की वर्षा करते हैं ।

अमवान् – (१) बलवान् ।

'त्वेषासो अग्नेरमवन्तोअर्चयः'

ऋ.१.३६.२०

'रा स द्युमां अमवान् भूषति द्यून्'

ऋ. १०.११.७

(२) अमात्य सहित, (३) रोग सहित, (४) रोगभूत कर्मचारियों से सहित राजा ।

अम का अर्थ अमात्य और रोग दोनों हैं । सायण ने अमात्य सहित अर्थ किया है । दयानन्द ने तीनों अर्थ किए हैं । अमा शब्द अन्तिक और सह अर्थ में प्रयुक्त होता है । 'अमा राज्ञा सह वर्तते' (अमा के साथ राजा रहता है) ।

अमो अमनम् रोगः (शत्रुओं के लिए जो रोगवान हो)

'स्ववान् आत्मवान् स्वतन्त्रः
याहि राजेव अमवां इभेन'

ऋ. ४.४.४, वाज.सं. १३.९, तै.सं. १.२.१४.१, मै.सं. २.७.१५, ९७.७, का.सं. १६.१५,नि.६.१२

हे सेनापति । अमात्यवान् , रोगभूत या रा कर्मचारियों से परिवेष्टित राजा की तरह सैनिक के सहित भोज्य पदार्थों वाले मनुष्य वर्गों साथ या भवरहित हाथी पर सवार युद्ध में प्रया कर । (दया.)

गतभय शूर या हाथी से युक्त हो जा-

(२) सहायक पुरुषों से युक्त बलवान् के अ में युक्त ।

'महि त्वेषा अमवन्तो वृषप्सवः'

ऋ. ८.२०.७

अम्बरीष – (१) अवि (शब्दार्थक) +ईषन्-अम्बरी (रुक् का आगम) अर्थ है -शब्दविद्यावित् (दया.)

(२) अम्बरीष नामक एक वैदिक राजा ।

'ऋज्राश्वः प्रष्टिभिः अम्बरीषः सहदेवो भयमानः सुराधाः'

ऋ.१.१००.१७

अम्भः – जल ।

'अमश्च मे अम्भश्च मे'

वाज.सं. १८.४; तै.सं. ४.७.२.१, मै.सं. २.११.२,१४१.१, का.सं. १८.७.

अम्भृण – (१) पीड़ा देने वाला, (२) भयङ्कर ।

'पिशङ्गभष्टिमम्भृणम् पिशाचिमिन्द्र सं मृण'

ऋ. १.१३३.५

पीत रंग के प्रकाश से भुनजाने वाले (पिशंग-भृष्टिम् पीड़ा), देने वाले (अम्भृणम्) देह के अवयव में व्याप्त या रक्त को चूसने वाले रोगकारी कारण को (पिशाचिम्) अच्छी प्रकार नष्ट कर (संमृण) ।

अम्यक् – इस शब्द का अर्थ स्पष्ट नहीं हो पाया है । यास्क ने अस्पष्टार्थ शब्दों के उदाहरण स्वरूप इसका उल्लेख किया है । इसका अर्थ 'अञ्चिता' किया है। अञ्च गत्यर्थक धातु है ।

(२) अभ्यक्ता भी इसका अर्थ यास्क ने किया है ।

(४) आत्मज्ञान देने वाली विद्या । (दया.) अमा आत्मनं अच्छति यथा सा अम्यक् (जिसने आत्मा को प्राप्त करते हैं) ।

'अम्यक् सा त इन्द्र सृष्टिरस्मे सनेम्यभ्वं मरुतो जुनन्ति'

'अग्निश्चिद्धि ष्माते शुशुक्वा नापो न द्वीपं दधति प्रयांसि'

ऋ.१.१६९.३

हे इन्द्र, तेरी वह प्रसिद्ध वज्र नाम की शक्ति (इन्द्र ते सा ऋष्टिः) जब मेघ की ओर जाती है (अम्यक्य) तब वायु भी (मरुतः) हमारे लिए (अस्मे) चिरसंचित जल (सनेमि अम्वम्) वेग से बरसाने लगते हैं (जुनन्ति) और तेरा वज्र उसी प्रकार मेव की ओर जाता है । जैसे आशुगामी देदीप्यमान अग्नि अनुपक्षीण काष्ठ की ओर (शुशुक्वान् अग्निः अतसे चित्) । तेरी इस शक्ति को मेघ के जल उसी प्रकार धारण करते हैं जैसे चारों ओर से इकट्ठा जल किसी टापू को

(आपो द्वीपंन प्रयांसि)-यास्क

अन्य अर्थ-हे विद्वान् । आप की वह आत्मज्ञान देने वाली विद्या हमें प्राप्त हो (ते सा अम्यक् ऋष्टिः अस्मे) जिससे मनुष्य सनातन तथा अजन्मा परमेश्वर को जानते हैं (मरुतः सनेमि अभ्वं जुनन्ति) । हे विद्वन् । आप अमृतत्व प्राप्ति के लिए (अतसे) अग्नि की तरह (अग्निश्चित्) अत्यन्त शुचि या तेजस्वी हो (शुशुक्वान् हिस्म) और जैसे जल द्वीप को धारण करते हैं (आपः द्वीपं न) वैसे उत्तम अन्न आप का धारण करते हैं (प्रयांसि दधति) ।

(५) जो सरल गति से चलता है । (दया.)

(६) सर्वश्रेष्ठ और सर्वत्र व्यापक ।

अम्व्य - जल से उत्पन्न (१) जल का उत्पादक प्रकाश, (३) जलमयी ध्वनि ।

'वेति स्तोतव अम्ब्यम्'

ऋ. ८.७२.५

अमा - (१) घर में ।

'अमा चैनमरण्ये पाहि रिषः'

ऋ. ६.२४.१०

(२) कच्चा बर्तन ।

'अमा कृत्वा पाप्मानम्'

अ. ४.१८.३

पुनः घर के अर्थ में -

'अमोतपुत्रका एषाम्'

अ. २०.१२७.५, शां.श्रौ.सू. १२.१४१.४

(३) एक अव्यय जिसका अर्थ आत्मा या अपना है (४) अन्तिक, (४) सह (साथ) ।

प्रचलित अर्थ-मान रहित, साथ, निकट, सूर्य और चन्द्रमा के संयोग का दिन अमावस्या , चन्द्रमा की सोलहवीं कला, आत्मा ।

'सा नो अमा सो अरणे निपातु'

ऋ. १०.६३.१६, नि. ११.५६

(वह स्वस्ति देवता, देव गोपा या मेघ हमें घर में (अमा) तथा जंगल में अरणे) रक्षा करें ।

अमाजूः - (अमाजुर्) - अमा +जुर् (१) एक साथ वृद्ध होने वाला स्त्री पुरुष, (२) पीड़ा से जीर्ण रोगी (अमया जीर्ण) ।

'अमाजुरश्चित् भवथोयुवं भगः'

ऋ. १०.३९.३

(३) रोग पीड़ा या पुत्र पौत्रादि से बूढ़ा हो जाने वाला, (४) अज्ञान (अ +मा +जुर) के साथ ही जीवन भर अज्ञानी रहकर बूढ़ा हो जाने वाला ।

'मा ते अमाजुरो यथा'

ऋ. ८.२१.१५.

(५) वह कन्या जो गृह में ही बूढ़ी हो जाती है ।

'अमाजूरिव पित्रोः सचा सती'

ऋ. २.१७.७

अमात्य - (१) साथी (२) मित्र (३) पुत्र ।

'स नो वेदो अमात्यम्
अग्नी रक्षतु विश्वतः'

ऋ. ७.१५.३, साम. २.७३१.

अमावास्य - अमा +वास्य । एक स्थान पर एकत्र होने का अवसर ।

'प्रतिक्रोशेऽमावास्ये'

अ. ४.३६.३

अमावास्या - अमा +वास्या । (१) सब के साथ विद्यमान परमब्रह्म शक्ति (२) सहवास करने वाली स्त्री ।

'अमावास्ये न त्वदेतान्यन्यः'

अ. ७.७९.४

(३) अमा अर्थात् साथ में वसु रूप इन्द्र इस तिथि में रहते हैं ।

(४) एकत्र सबको आवास देने वाली ब्रह्म शक्ति

'अमावास्ये संवसन्तो महित्वा'

अ. ७.७९.१, तै.सं. ३.५.१.१,

(५) अमावास्या नाम की तिथि, जब सूर्य और

चन्द्रमा एक साथ हो जाते हैं ।

अमारत् - अमा +सद् +क्विप् =अमासत् । (१) साथ रहने वाला, (२) एक गृह में रहने वाला ।

'अमासते वहसि भूरिवामम्
उषो देवि दाशुषे मर्त्याय ।'

ऋ. १.१२४.१२,६.६४.६.

हे उषः । साथ रहने वाले दानशील सूर्य को (अमासते दाशुषे मर्त्याय) तू बहुत उत्तम ऐश्वर्य धारण कराती है ।

अथवा

हे विदुषि कन्ये । अपने साथ या एक गृह में रहने वाले अमासते) अन्न, वस्त्र अपने पुरुष को तू भी बहुत ऐश्वर्य प्राप्त करा ।

अम्बा - (१) माता, (२) पृथिवी, (३) जगत् की माता स्वरूप परमात्मा (४) सब को परमोपदेश देने वाली शक्ति ।

(५) अम्बा नाम की एक जड़ी-औषधि ।

'अम्बे अम्बिके अम्बालिके
न मानयति कश्चन'

वाज.सं. २३.१८,श.ब्रा. १३.२.८.३.

(६) शिक्षा देने वाली, आचार्याणी । (या अम्वयति अध्याप्रयति सा -(दया.)

'प्रशस्तिमम्ब नस्कृधि'

ऋ. २.४१.१६.

(७) व्यापक शक्तिमती माता ।

'उवे अम्ब सुलाभिके'

ऋ. १०.८६.७, अ. २०.१२६.७

(८) 'अलं भवति' अर्थात् बालक के लिए माता अलं होती है अथवा 'अम्बा अस्मै बलं भवति' (अम्बा ही बालक का बल है) ।

अम्मा शब्द अम्बा का ही अपभ्रंश है । इसी अम्बा से माता वाचक अनेकों शब्द बने हैं ।

अम्बालिका - (१) माता, (२) प्रपिता-मही, (३) पृथिवी ।

'अम्बे अम्बिके अम्बालिके'

वाज.सं. २३.१८

अमित - (१) अपरिमित, (२) अपराजित ।

अमितक्रतु - अनन्त ज्ञान और कर्म-सामर्थ्य से युक्त ।

'गोजिता बाहू अमितक्रतुः सिमः'

ऋ. १.१०२.६

अमित्रखादः - शत्रुओं का नाशक ।

'अमित्रखादो अद्भुतः'

ऋ. १०.१५२.१.

अमित्र - नञ् +मित्र =अमित्र ।

'अन्धेनामित्रास्तमसा सचन्ताम्'

ऋ.१०.८९.१५, १०३.१२, साम. २.१२११, वाज.सं
१७.४४, नि.९.३३.

(शत्रु घोर अन्धकार से संश्लिष्ट हों)

अमित्रदम्भवः - शत्रु का नाश करने में समर्थ

'द्युमां अमित्रदम्भनः'

ऋ. ४.१५.४

(२) शत्रुओं का नाशक वृहस्पति ।

'बृहस्पते भीमममित्र दम्भनम्'

ऋ. २.२३.२

अमित्रयुः - शत्रु रूप से आचरण करने वाला ।

'मा साममित्रयुर्जनः'

अ. २०.१२७.१३, शां.श्रौ.सू. १२.१५.१.४.

अमित्रसाहः - शत्रुओं का पराभव करने वाला ।

'अमित्रसाहोअस्तृतः'

अ. १.२०.४

अमित्रहा - शत्रुओं को दण्ड देने वाला, नष्ट करने वाला-इन्द्र ।

'या त ऊतिःअमित्रहन्'

ऋ. ६.४५.१४

अमित्राः - (१) शत्रुवर्ग, (२) काम क्रोधा
शत्रुगण ।

'अभिब्लग्य यत्रहतां अमित्रा'

ऋ. १.१३३.१

(जहां शत्रु लोग आक्रमण कर मारे जायें)

अमित्रायुध - शत्रुओं पर अस्त्र प्रहार करने में कुश
पुरुष ।

'अमित्रायुधो मरुता मिवप्रयाः'

ऋ. ३.२९.१५

अमित्रिन् - जिसे मित्र न हो, सब का शत्रु ।

'मा कस्मै धातमभ्य मित्रिणे नः '

ऋ. १.१२०.८

आप लोग हमें किसी भी मित्र जनों से र
सबके शत्रु, स्नेह शून्य, अकारण बैरी पुरुष
स्वार्थ के लिए कभी न धरें या उसको हमा
पता न दें ।

अमिथित - अनाक्रुष्ट, अनुक्त (बिना बोले) । 'मि

धातु आक्रोशन अर्थ में आता है । शालों में थनकः (शाल बोलने वाला होता है) । मिथ का अर्थ-संग करना, मिलना, संयोग करना, स्त्री पुरुष सहवास, हिंसा करना, चोट पहुँचाना, हत्या करना समझना, देखना, जानना और वितण्डावाद भी होता है ।

'को नु मर्या अमिथितः सखा सखायमब्रवीत् । जहा को अस्मदीषते'

ऋ. ८.४५.३७, तै.आ. १.३.१, नि.४.२.

हे मनुष्यों ! कौन ऐसा सखा है जिसने बिना बोले या छेड़े दूसरे सखा से बोला या छेड़ा हो । यह कौन मर्यादा है (को न मर्या) कि अपापी को मारा जाय । भला कौन ऐसा अपापी है जो हम से डर कर भागे (अस्मद् ईषते)धर्मज्ञ को मारना मर्यादा नहीं है ।

(२) जिसे अनादर युक्त वचन नहीं कहा गया हो, छेड़ा नहीं गया हो ।

अमिनः - (१) बलवान् शत्रुहन्ता

'आ द्विबर्हा अमिनो यात्विन्द्रः'

ऋ. १०.११६.४

(२) सहायक वर्ग का स्वामी, (३) शत्रु का पीड़क, (४) प्रजा का अहिंसक ।

'उत द्विबर्हा अमिनः सहोभिः'

ऋ. ६.१९.१, वाज.सं. ७.३९, तै.सं. १.४.२१.१, का.सं. ४.८, मै.सं. १.३.२५:३८.१२, श.ब्रा. ४.३.३.१८

(५) अतिमात्र महान् अभ्यमित, यस्य मात्राणां सानं न भवति (जिसकी मात्राओं का कोई हिसाब नहीं है) माङ् धातु मापना अर्थ में आया है ।

'न मितः अमितः अमिनः अपरिमाणः'

(६)अनभिहिंसितं (जो किसी से हिसिंत न हो) । वधार्थक मा +नक् =मिन । न मिनःअमिनः (७) दुराधर्ष । -(दया.)

अमिनत् - व्रत भंग न करने वाला शिष्य ।

'अमिनते गुरुं भारं न मन्म'

ऋ. ४.५.६

अमिनती - (१) विनाश न होने देती हुई ।

'अमिनती दैव्यानि व्रतानि'

ऋ. १.९२.१२, १२४.२

(प्रातः प्रभा उषा देव परमेश्वर सम्बन्धी उपासना आदि व्रतों का विनाश न होने देती हुई...)

(२) एक दूसरे को पीड़त न करते हुए द्यावापृथिवी , स्त्री पुरुष, वर वधू ।

'अमिनती तस्थतु रुक्षमाणे'

ऋ. ४.५६.२

(३) लोप न करती हुई ।

'अमिनती दैव्यानि व्रतानि'

ऋ.१.९२.१२,१२४.२

देव परमेश्वर सम्बन्धी व्रतों उपसना आदि कर्मों का लोप न करती हुई ।

अमिनात् - मिनाति हिनस्ति (नापता या नष्ट करता है) । यहां लट् के अर्थ में लुङ् का प्रयोग है ।

'यं नु नकिःपृतनासु स्वराजं
द्विता तरति नृतमं हरिष्ठाम्
इनतमः सत्वभिः यो ह शूषैः
पृथुज्रया अमिनात् आयुर्दस्योः'

ऋ. ३.४९.२

युद्धो में चमकते हुए अश्वारूढ मनुष्यों के नेता सर्वथा बल युक्त एवं अजेय जिस इन्द्र को कोई भी जीत नहीं सकता वह प्रसिद्ध ईश्वरतम (नु इनतमः) वह सत्त्व संयुक्त बलों से (सत्वभिः शूषैः) युद्ध में तीव्र वेग से जाते हुए (पृथुज्रयाः) शत्रु, मेघ या वृत्रासर की आयु कम करते या समाप्त करते हैं ।

अन्य अर्थ-जिस स्वराट् उत्तम नेता घुड़सवार को युद्धों में शस्त्र अस्त्र दोनों द्वारा (द्विता) कोई नहीं जीतता और जो अति समर्थ, अति वेग वान् शूर मनुष्यों द्वारा दुष्ट मनुष्य की आयु या योजना को नष्ट करता है उसे इन्द्र या राजा समझो ।

अनिमिषत् - कभी आख न झपकने वाला, सदा सावधान, कर्तव्य पथ पर दृष्टि रखने वाला ।

अमिमीत - (१) निर्मितवान् (बनाया)

(२) हिंसित करता है, ठुकराता है, टालता है

'उशिग्भ्यो नामिमीत वर्णम्'

ऋ. २.४.५

वह अग्नि मेधावियों के निमित्त या सूर्य की कामना करने वाले ऋत्विजों के लिए (उशिग्भ्यः) वर या प्रार्थना को हिंसित नहीं करता (न अमिमीत) ।

वह विद्वान् तुम इच्छुकों के वर को नहीं टालता (न अमिमीत) । (दया.)

अभिष्टय – एक वचन में 'अभिष्टि' प्रजाएं
'*समुद्रं न सुभ्वः स्वा अभिष्टयः*
ऋ. १.५२.४
सब प्रकार की कामना वाली अपनी प्रजाएं ।

अम्बिः – (१) जीवन की रक्षा करने वाली जल धारा, (२) शरीर में रक्त या प्राण की धारा ।
'*अम्बयो यन्ति अध्वमिः*
जामयो अध्वरीयताम्
पृञ्चतीर्मधुना पयः ।'
ऋ. १.२३.१६. अ. १.४.१, ऐ.ब्रा.२.२०.१९, कौ.ब्रा. १२.२.

(जीवन की रक्षा करने वाली जल धाराएं शरीर में रक्त या प्राण की धाराएं, भगिनियों या बन्धुओं के समान (जामय) अपने अहिंसित जीवन को चाहने वाले हम जीवों के मार्गों से (अध्वरीयताम् अध्वभिः) मधुर गुणों से युक्त पुष्टि कर रस को युक्त करती हुई गति करती है ।)

अम्बिका – (१) माता , (२) पृथिवी ।
'*सह स्वस्राम्बिकया तं जुषस्व*'
वाज.सं. ३.५७, तै.सं. १.८.६.१, मै.सं. १.१०.४ः १४४.१, १.१०.२०,ः १६०.५, का.सं. ९.७, ३६.१४, श.ब्रा. २.६.२.९, तै.ब्रा. १.६.१०.४, आप.श्रौ.सू. ८.१८.१
(३) एक जड़ी ओषधि ।

अम्बितमा – (१) अध्यापन करने वालों में सर्वश्रेष्ठ (२) सबसे अधिक पूजायोग्य ।
(३) या अम्बते अध्यायति ।-(दया.)
'*अम्बितमे नदीतमे*'
ऋ. २.४१.१६, ऐ.ब्रा. ५.४.१०, आश्व. श्रौ.सू. ७.११.२२.

अमीमेत् – शब्दयति (शब्द करता है । 'मी' धातु का अर्थ शब्द करता है । लट् (वर्तमान) अर्थ में लङ् का प्रयोग है । हिन्दी मिमियाना का प्रयोग होता है ।
'*गौरमीमेत् अनुवत्सं मिषन्तम्*'
ऋ. १.१६४.२८, अ. ९.१०.६, ऐ.ब्रा. १.२२.२, आश्व. श्रौ.सू. ४.७.४, नि.११.४२.

माध्यमिका वाक् (गौः) सूर्य को (वत्सम्) बछड़े के समान गौ के लिए तरसते देख (मिषनाम्) शोकरती है अर्थात् बोलना सुन कर बोलती है (अनु अमीमेत्) ।

अन्य अर्थ–मेघ गौ वृष्टि रूपी क्षीर के अभाव से निमीलिताक्ष भूलोकरूपी वत्स को देख शब्द करती हैं । यास्क ने अनिमिषन्तम का अर्थ सूर्य किया है । पर स्वामी दयानन्द ने 'निमिषन्तम् का अर्थ निमिलिताक्ष भूलोक किया है जो वृष्टि के बिना मेघ के लिए तरसता है ।

अमीवचातनम् – अमीव (रोग) +चात +ल्युट =अमीवचातनम् । रोग को दूर करने वाला ।
'*द्युमद् अमीव घातनम् रक्षोहा*'
ऋ. ७.८.६

अमीव चातनः – रोगों को दूर करने वाला वैद्य ।
'*विप्रः स उच्यते भिषग्*
रक्षोहामीवचातनः'
ऋ. १०.९७.६

अमीवचातनीः – रोग कारणों को नष्ट करने वाली ।
'*आपो अमीव चातनीः*'
ऋ. १०.१३७.६

अमीवहन् – अमीव +हन् +क्विप् =अमीवहन् । रोग हन्ता ।
'*अमीवहा वास्तोष्पते*
विश्वा रूपाणि आविशन् ।
सखा सुशेव एधि नः ।'
ऋ. ७.५५.१, मै.सं. १.५.१३ः ८२.११, शां.गृ. सू. ३.४.८,

हे गृह पालक (वास्तोष्पते) या अन्तरिक्ष या स्वास्थ्य प्रदवायु ! आप रोगों के नाशक हैं । अतः अनेकों रूप धारण कर हमारे रोगों या उपद्रवों को नष्ट करते हुए हमारे मित्र होकर सुन्दर सुख देने वाले हो ।

अमीवहाः – रोगों या दुःख दायी कारणों को नष्ट करने वाला–सोम, (२) परमेश्वर (३) शक्र ।
'*गयस्फानो अमीवहा वसुविद् पुष्टिवर्धनः*'
ऋ. १.९१.१२

हे सोम, तू प्राणों, ऐश्वर्यों एवं पशुओं को बढ़ाने वाला, (गयस्फाणः) रोगों को नष्ट करने वाला (अमीवहा), प्रजाओं को ऐश्वर्य प्राप्त कराने वाला तथा पुष्टिप्रद है ।

अमीवा – रोगभूत या रोगोत्पादक कृमि । 'अम' रोग अर्थ में भी प्रयुक्त होता है । अम +ईवन् =अमीवन् (निपातन नियम से) या अमा +व

=अमीव (निपातन से) या अम +वन् + टाप् =अमीवा ।

'यस्ते गर्भममीवा दुर्णामा योनिमाशये
अग्निष्टं ब्रह्मणा सह निष्क्रव्याद्रमनीनशत् ।'

ऋ. १०.१६२.२, अथर्व २०.९६.१२, नि. ६.१२.

पुत्र कामना के लिए बड़ाहुत नामक स्थालीपात्र में विनियुक्त । मंत्र का देवता गर्भस्राप प्रायश्चित है । अतः इसमें गर्भस्राव से रक्षा का उपाय है । हे स्वामी । अर्शनाम का या किमि नाम का रोग (दुर्णामा अमीवा) तेरी योनि में आकर गर्भ में निवास करता है (गर्भ शये) । उस आम (कच्चा) मांस-खाले और गर्भ गिराने वाले रोग को (क्रव्यादम्) ब्रह्म के साथ अग्नि जड़ से नष्ट कर दे. ।

अन्य अर्थ-जो रोगोत्पादक दुर्णामा क्रिमि तेरे गर्भस्थान में वर्तमान है अग्नि उस मांस स्नेही क्रिमि को वैद्य के साथ (ब्रह्मणा सह) निःशेष करे ।

अमुञ्चतम् - मोचितवन्तौ । छुड़ाया, उन्मुक्त किया ।

'अजोहवीत् अश्विना वर्तिकावाम्'

ऋ. १.११७.१७, नि. ५.२१.

यास्क के मन से अश्वनी कुमारों ने सूर्य द्वारा ग्रस्त उषा को सूर्य से छुड़ाया । सायण के अनुसार चटक पक्षी की स्त्री वर्तिका को वृक ने पकड़ लिया था । उसी वृक के पञ्जे से अश्विनी कुमारों ने छुड़ाया ।

(हे अश्विनी कुमारो । तुम दोनों की नर्तिका नाम्नी पक्षी या उषा ने पुकारा ।)

अमुतः - उधर से ।

'इत आ जातो अमुतः कुतश्चित्'

ऋ. १.१७९.४.

लोपामुद्रा काम उत्पन्न होने पर कहती-है न जाने यह काम मेरे शरीर से उस अगस्त्य के शरीर से या और कहीं से आया ।

अमुत्र - (१) दूसरा लोक ।

'अयं मामुत्र गादितः'

अ. ८.१.१८

(२) भविष्य काल में, पीछे ।

'अमुत्रैनम् आगच्छतात्'

अ. ९.३.१०

अमुत्रभूय - परलोक या परकाल में होने वाला ।

'अणुत्रभूयात अधियत् यमस्य'

अ. ७.५३.१, वाज.सं. ९७.९, तै.स. ४.१.७.४, मै.सं. २.१२.५,१४९.१०, का.सं. १८.१६, तै.आ. (आंध्र) १०.४८.

अमुत्रभूयात् - अमुत्र +भूयात् । परलोक या परकाल में होने वाला । उन्वट कें अनुसार यह दो पद हैं ।

अमुथा - जैसा यह है वैसा (यथा असौ) । अमु +थाल् (प्रकार भेद या उपमा बतलाने के लिए) =अमुथा ।

अमुर - अमर, परमात्मा ।

'अर्धेन शुष्म वर्धसे अमुर'

अ. ५.१.९

अमुषिता - वह सेना जिसका दिल चुराया नहीं गया है-जिसने साहस नहीं छोड़ा हो ।

'अजीतामुषिता पुरः'

अ. १.२७.४

अम्बु - अरणशील, जल ।

अम्बुद - अम्बु +दा +ड =अम्बुद । जल देने वाला, मेघ ।

अमूर - अमूढ, विद्वान् ज्ञानी, अग्नि या परमात्मा का विशेषण ।

'मूरा अमूरा न वयं चिकित्वो
महित्वमग्ने त्वमङ्ग वित्से
शये वव्रिश्चरति जिह्वया दन्
रेरिह्यते युवतिं विश्पतिः सन्'

ऋ. १०.४.४, नि. ६.८.

हे अमूढ़ चेतनावान् अग्नि, हम मूढ़ भला तेरा माहात्म्य क्या समझें, तू ही अपना माहात्म्य जानता है और तेरा आहवनीय अग्नि नाम का विशेषात्मा (वव्रिः) हस्त परिमित स्थान में ज्वाला से हवियों को खाता हुआ (जिह्वया अदन्) । जलता रहता है (चरत्रि) मानों वह विश्वपति होकर आहुति रूपी युवति को अत्यन्त प्रेम से खाता है ।

अन्य अर्थ-हम विद्यार्थी मूढ़ हैं । हम मित्र वनस्थ (अमूर अंग अग्ने) आप इसका महत्त्व जानते हैं । वरण किए हुए आप वव्रिः) वाणी द्वारा शिक्षा देते हुए (जिह्वया अदन्) अपने आश्रम में (शये) विचरते हैं । ब्रह्म से मिलाने

वाली ब्रह्मविद्या का (युवतिम्) निरन्तर आस्वादन करते हैं ।

अमृक्त - (१) अनुपभुक्त, (२) अपरियुक्त

'श्रव आपन्नमृक्तम्'

ऋ. ६.१.४.

(दूसरों से अनुपयुक्त यशं पाते हैं)

(३) रोगनाशक -दया.

'तुरीयं पात्रम् अमृक्तम् अमर्त्यम्'

ऋ. २.३७.४.

वह इन्द्र अपरिभुक्त (अमृक्तम्) एवं अमरण -साधन (अमर्त्यम्) चतुर्थ पात्र में रखे सोम को (तुरीयम् पात्रम्) पीयें ।

चौथी अकाल मृत्यु से बचाने वाला (अमर्त्यम्) रोग-नाशक औषध हवि का पान करे (अमृक्तम्)-(दया.)

(४) अहिंसित -सा. (५) अमर -(दया.)

'पदं देवस्य नमसा व्यन्तः
श्रवस्यवः श्रव आपन्नमृक्तम् ।
नामानि चिद् दधिरे यज्ञियानि
भद्रायां ते रणयन्त संदृष्टौ ।'

ऋ. ६.१.४, मै.सं.४.१३.६,२०६.११, का.सं. १८.२०, तै.ब्रा. ३.६. १०.२, नि. ४.१९.

जो पूज्य अग्नि के अमृत पद को भक्ति भाव से देखते हुए सर्वप्रसिद्ध परमात्मा की इच्छा रखने वाले (श्रवस्यवः) उस प्रख्यात आत्मा को प्राप्त करते हैं (श्रवः आपत्) और उस प्रभु के शुद्ध बुद्ध मुक्त मित्र वरुण आदि प्रशंसनीय नामों को (यज्ञिया नि ननामानि) धारण करते हैं वे भद्र संदर्शन मे रमण करते हैं अर्थात् उन्हे अभद्र के दर्शन नहीं होते ।

(५) पवित्र ।

अमृक्ता - (१) रज आदि से युक्त स्त्री, (२) अहिंसिता ।

'ऋतेन देवीस्मृता अमृक्ता'

ऋ. ४.३.१२.

अमृक्ते - (१) विकारावस्था से अशुद्ध (२) कामनायुक्त (३) अतिशुद्ध (४) खूब अलङ्कृत ।

'आस्क्रे सपत्नी अजरे अमृक्ते'

ऋ. ३.६.४,

अमृत - (१) पूर्ण सौ वर्ष की आयु ।

'सं नह्यस्वामृताय कम्'

अ. १४.१.४२

(२) जल, (३) विषम रस या विषम विज्ञान ।

'यत्रा सुपर्णा अमृतस्य भागम्
अनिमेषं विदथाऽभिस्वरन्ति'

ऋ. १.१६४.२१, अ. ९.९.२२, नि. ३.१२.

(४) अमरणधर्मा, (५) देन, (६) रोगनाशक औषधि ।

वाचस्पत्य कोष में अमृत औषध को कहा गया है ।

'अनिमेषम्' जिसमें जल के अर्थ में अमृत शब्द का प्रयोग है ।

देव अर्थ में प्रयोग-

'वनस्पते रशनया नियूया
पिष्टतमया वयुनानि विद्यान्
वहा देवत्रा दिधि षो हवींषि
प्रच दातारम् अमृतेषु वोचः'

मै.सं. ४.१३.७:२०९.१, का.सं. १८.२१, तै.ब्रा. ३.६.१२.१, नि. ८.२०.

हे वनस्पते ! अत्यन्त दृढ़ एवं सुरूप ज्वाला से निबद्ध कर अपने अधिकार में प्रयुक्त प्रज्ञानों को जानता हुआ (वयुनानि विद्वान्) इन मेरी दी हुई हवियों को, इस यजमान को अभिमत फल देने के लिए देवों के निकट ले जा तथा इस दाता यजमान का निर्देश देवताओं से कर (दातारं च अमृतेषु प्रवोचः)

(७) मोक्ष ।

'न मृत्यु रासीत् अमृतं न तर्हि'

ऋ. १०.१२९.२

(उस प्रलयावस्था के समय न किसी की मृत्यु थी और न किसी का मोक्ष ।)

अमृत गर्भ - अमृत अर्थात् अमर आत्मा के गर्भ में छिपा-स्वप्न ।

'देवानाम् अमृतगर्भोऽसि स्वप्नः'

अ. ६.४६.१

अमृतबन्धवः - अमृत अर्थात् अविनाशी जीवन से बन्धे हुए जीवगण ।

'तां देवा अन्वजायन्त भद्रा अमृत बन्धवः'

ऋ.१०.७२.५.

अमृतस्यधारा - (१) सत्यज्ञान मय वेद विद्या की वाणी, (२) सत्य व्यवहार को धारण करने वाली विद्या ।

'आ यः ससाद धारामृतस्य'
ऋ. १.६७.७

अमृतस्यनाभिः - अन्न, ऐश्वर्य एवं दीर्घ जीवन का आश्रय -अग्नि या परमेश्वर , (२) परमानन्द का आश्रय ।
'देवा अकृण्वन् अमृतस्य नाभिम्'
ऋ. २.४०.१,३.१७.४ तै.सं. १.८.२२.५, मै.सं. ४.११.२ः १६३.१५, ४.१३.५ः २०५ .१४, का.सं. ८.१७,१८.२१, तै.ब्रा. ३.६.९.१.
(३) वृष्टिजन्य अमृत जल का कारण-सूर्य ।
'जिह्वा देवानाम् अमृतस्य नाभिः'
ऋ. ४.५८.१, वाज.सं. १७.८९, मै.सं. १.६.२, ८७.१४, का.सं.४०.७, तै.आ. १०.१०.२, आप.श्रौ.सू. ५.१७.४, महा.ना.उप. ९.१२.
औषधियों के रस का आस्वादन सूर्य की किरणों की ही जिह्वा करती है। वह सूर्य वृष्टिजन्य जल रूपी अमृत का कारण है ।
(४) अमृतमय मोक्ष स्वरूप प्रभु को बांधने वाला प्रेम, (५) प्रजासन्तति को बांधने वाला आश्रय -गृहस्था श्रम ।
'आतस्थिवांसो अमृतस्य नाभिम्'
ऋ. ५.४७.२

अमृतस्यपत्नी - कभी न विनष्ट होने वाली सत्य सिद्धान्त या निर्णय का पालन करने वाली, (२) दीर्घायु पति की पत्नी ।
'कुहूर्देवानाम् अमृतस्य पत्नी'
अ.७.४७.२, तै.सं.३.३.११.५, मै.सं. ४.१२.६, १९५.१०, का.सं. १३. १६, आश्व. श्रौ.सू. १.१०.८, शां.श्रौ.सू.९.२८.३

अमृतस्य लोक - (१) पूर्ण आयु का जीवन, (२) वाम नासा का प्राण अमृत और दक्षिण नासा का सूर्य है, (३) प्रजा का वीर्य द्वारा उत्पन्न करना अर्थात् गृहस्थ करना अमृत का लोक है ।
'सूर्यस्य भागे अमृतस्य लोके'
अ. ८.१.१
'प्रजामनुप्रजायसे तदुते मर्त्यामृतम्'
तै.ब्रा. १.५.५.६, आप.श्रौ.सू. ८.२१.१, आप.ध.सू. २.९.२४.१.
'एतद्वै मनुष्यस्य अमृतत्वम् यत्सर्वमायुरेति'
श.ब्रा. ९.५.१.१०
'अथ य एवं शतं वर्षाणि यो वा भूयांसि जीवति
'स हैवैतत् अमृतमाप्नोति'
श.ब्रा. १०.२.६.८
'एत उ वाव लोकाः यदहोरात्राणि अर्द्धमासाः मासाः, ऋतवः, संवत्सरः'
श.ब्रा. १०.२.६.७
'अमृतम् उ वै प्राणाः'
श.ब्रा. ९.३.३.१३
'प्रजापतिर्वा अमृतः'
श.ब्रा. ६.३.१.१७
ते देवा होचुः नाते परः कश्चन् सह शरीरेण अमृतोऽसत् । यदैव त्वम् एतं भागं हरासा अथ व्यावृक्ष। शरीरेण अमृतोऽसत्। यो अमृतो असद् विद्या वा कर्मणा वा
(४) जल का लोक ।
'आरोह सूर्ये अमृतस्य लोकम्'
ऋ. १०.८५:२०, अ.१४.१.६१, साम.मं.ब्रा.१.३.११, नि.१२.८.
(हे सूर्ये । रथ पर सवार हो जल के लोक में जा ।)

अमृता - (१) अमरण शीला, (२) उषा का विशेषण या एक नाम (३) अमृत स्वरूपा सरण्यू
'अपागूहन् अमृतां मर्त्येभ्यः
ऋ. १०.१७.२, अ. १८.२.३३, नि. १२.१०.
(राशियों ने उषा को मनुष्यो के लिए उद्भासित किया)
ईश्वरीय नियमों ने अमृतस्वरूप पूर्वकालीन सरण्यू को मनुष्यों से छिपा दिया ।
(४) अमर चेतना शक्ति, (५) अमरधर्मा देव ।
(६) सूर्य की किरणें ।
'यत्रा चक्रुरमृता गातुमस्मै'
ऋ.७.६३.५.
(जिस अन्तरिक्ष में अमरधर्मा पूर्वकालीन देवों ने (अमृताः) इस सूर्य के लिए मार्ग बनाया (गातुचक्रुः)। अथवा, जब सूर्य की रश्मियां (अमृताः) इन मनुष्यो के लिए गमन करती हैं ।

अमृत्युः - मृत्यु रहित ।
'अश्रमणा अश्रथिता अमृत्यवः'
ऋ. १०.९४.११

अमृते - उषा और रात्रि का विशेषण। उषा रात्रि कभी मरने वाली नहीं है ।
'समानबन्धू अनृते अनूची'

ऋ. १.११३.२, साम.२.११००, नि.२.२०

(उषा और रात्रि के सूर्य समान रूप से बन्धु हैं । वे दोनों अमृत हैं तथा एक दूसरे का अवसरण करने वाली हैं ।)

अमृध्रु - (१) नञ् +मृध् +रक् =अमृधु । गीला न करने वाला

'त्यं चिद्घा दीर्घं पृथुं
मिहो नपातममृध्रम्
प्रच्यावयन्ति यामभिः ।'

ऋ. १.३७.११

(वृष्टि के सेवन करने वाले पवन अपने शीघ्र वेगों से (यामभिः) लम्बे चौड़े बड़े भारी जल न गिराने वाले (नपातम्) भूमि को जल से न गीला करने वाले मेघ (अमृध्रम्) के भी जल को गिरा देते हैं । (प्रच्यावयन्ति) ।

अमृध्र - (१) प्रजा की हिंसा न करने वाला, अहिंसक, दयालु ।

'ग्ना वसान ओषधीरमृध्रः'

ऋ. ५.४३.१३

(२)मंगलमय, (३) अहिंसित, (४) अमर (५) अहिंसनीय, (६) दृढ़ ।

'चित्रसेना इषुबला अमृध्राः'

ऋ. ६.७५.९, वाज.सं. २९.४६, तै.सं. ४.६.६.३, मै.सं. ३.१६.३: १८६.४, का.सं.(अश्व) . ६.१.

अमृध्रा - अविनाशी

'शत्रुतूर्याय बृहतीममृध्राम्'

ऋ. ६.२२.१०, अ.२०.३६.१०

अम्भृण - (१) सोम-सवन में प्रयुक्त अम्भृण नामक पत्र, (२) प्रजा- पालन का कार्य ।

'कुम्भीभ्याम् अम्भृणौ सुते'

वाज.सं. १९.२७

अमेनः - स्त्री-रहित पुरुष (नास्ति मेना स्त्रीः यस्य सः) अस्त्रीक ।

'अमेनांश्चित् जनिवतः चकर्थ'

ऋ. ५.३१.२, नि.३.२१.

(हे इन्द्र, तू स्त्री-रहित स्तोताओं को भी (अमेनान् चित्) प्रजनन कर्म में समर्थ या स्त्री युक्त करता है (जनिवतः चकर्थ) ।

अमेनिः - निरस्त्र बिना हथियार का ।

'मेन्य्रा मेनिरस्यमेनयः ते सन्तु'

अ. ५.६.९

अमेहयन् - बरसवाते हैं या पुरीष और मूत्र का उत्सर्ग करवाते हैं । 'मिह्' धातु पेशाब करना अर्थ में आया है । बरसाना अर्थ में भी इसका प्रयोग है ।

'अमेहयन् वृषभं मध्य आजेः'

ऋ.१०.१०२.५, नि. ९.२३

अमोक्य - कभी न छूटने वाला ।

'मृत्योः पाशैरमोक्यैः'

अ. ३.९.५

अमोत - (१) अमा +उत =अमोत । घर में बुना हुआ वस्त्र, (२) स्वतः प्राप्त यह शरीर ।

'अमोतं वासो द्वयात्'

अ.९.५.१४

अय - जूए का पाशा ।

'अयेभ्य कितवम्'

वाज.सं. ३०.८, तै.ब्रा. ३.४.१.५.

अयक्ष्म - (१) यक्ष्मादि रोग से रहित ।

'अयक्ष्मं सुमना असत्'

वाज.सं. १६.४, तै.सं. ३.२.८.६,४.५.१.२, का.स. १७.११,नील.उप. ६ .

(२) रोग रहित ।

'इमा आपः प्र भराम्यक्ष्मा यक्ष्मनाशनीः'

अ. ३.१२.९, ९.३.२३

अयक्ष्मंकरणीः - राजयक्ष्मादि रोगों को नहीं उत्पन्न करने वाले जल ।

'अयक्ष्मंकरणीरपः'

अ.१९.२.५

अयक्ष्माः - रोग-रहित ।

'अयक्ष्मा बृहतीरिषः'

ऋ.९.४९.१, साम.२.७८५

अयज्ञसाच् - यज्ञ या परस्पर सत्संग को नहीं प्राप्त करने वाला ।

'अयज्ञसाचो अप्यो न पुत्राः'

ऋ. ६.६७.९

अयज्युः - (१) संगरहित, (२) कर न देने वाला, (३) संधि न करने वाला, (४) यज्ञ नहीं करने वाला ।

'शासस्तमिद्र मर्त्यम् अयज्युम् शवसस्पते'

ऋ. १.१३१.४, अ. २०.७५.२

(५) विषय में संग न करने वाला

(६) वीर्यदान करने में असमर्थ

'अपि कर्तम् अवर्तयः अयज्यून्'

ऋ. १.१२१.१३

(और उन्हे यज्ञ करने या वीर्य - दान करने में असमर्थ या वृद्धावस्था से अशक्त (अयज्युम्) कर देता है ।)

अयजः- संगत करता है ।

अयत - असंयमी, अब्रह्मचारी ।

अयथम् - असाधारण रूप में ।

'गोधा तस्मा अयथं कर्षदेतत्'

ऋ. १०.२८.१०

अयनम् - (१) गमन, (२) परम चरम उद्देश्य रूप आश्रय ।

'अङ्गिरसामय नं पूर्वो अग्निः'

अ. १८.४.८

अयनम् -इच्छामानाः आप-(१) स्थान या शरण चाहने वाले प्रजागण, (२) विशेष अधिकार चाहने वाले समीपतम आप्त पुरुष ।

'आयन् आपोऽयनम् इच्छमानाः'

ऋ. ३.३३.७

अयनः - (१) मार्ग से जाता हुआ (२) उत्तरायण, दक्षिणायन नामक सूर्य का मार्ग ।

'अयनाय स्वाहा'

वाज.सं. २२.७

अयभ्या - अ +यभ् +यत् +टाप् । जो मैथुन योग्य न हो ।

'अयभ्या कन्या कल्याणी'

अ.२०.१२८.८ शां.श्रौ.सू. १२.२१.२.३.

अयम् - सन्निकृष्टि अर्थ में इदम् शब्द का प्रयोग होता है । इसी के प्रथमा एकवचन का यह रूप है । अर्थ-यह निकट वर्ती पदार्थ ।

'इदमस्तु सन्निकटे समीपतटवर्ति चैतदो रूपम्
अदसस्तु विप्रकृष्टे तदिति परोक्षे विजानीयात् ।

अयमस्मि - मैं अपराधी हूं, उपस्थित हूं, शरणागत हूं, सेवक हूं ।

'ब्रवीतु सर्वो यातुमान् अयमस्मीत्येत्य'

अ. १.७.४

अयमानः - आगे बढ़ता हुआ ।

'मनोजवा अयमानः'

ऋ. ८.१००.८

अयः - (१) पहुंच गया । 'या' (जाना) का लुङ् प्रथमा मध्यम पुरुष एक वचन में ।

'मेषो भूतोऽभियन्नयः'

ऋ.८.२.४०, नि. ३.१६.

(रूप या भेड़ें की तरह समीप जाता हुआ तू पहुंच गया)

(२) क्षात्रबल को प्राप्त करने और चलाने वाला पुरुष

'हिरण्यनिर्णिगयो अस्य स्थूणा'

ऋ. ५.६२.७

अयस् - (१) गति, प्रगति, आगे बढ़ना ।

'प्रयद् धिये प्रायसे मदाय'

ऋ. ४.२१.७

(२) लोहा ।

'अय स्थूण'

अयःशया - अयस् में या निम्नश्रेणी की प्रजाओं में प्रसुप्त रूप से विद्यमान परमेश्वर या राजा की व्यापक शक्ति ।

'विश एतद् रूपं यदयः'

श.ब्रा. १३.२.२.१९

'भूलोकस्य रूपम् अयस्मय्य'

तै.सं. ३.७.९.४

'या ते अग्नेऽयः शया तनूः वर्षिष्ठा गह्वरेष्ठा'

वाज.सं. ५.८,श.ब्रा: ३.४.४.२३

अयसः - कर्म करने वाले कर्मण्य पुरुष ।

'येन कर्माण्यपसो मनीषिणः ।'

वाज.सं. ३४.२

अयस्ताप - लोहे को तपाने वाला लोहार ।

'मन्यवेऽयस्तापम्'

वाज.सं. ३०.१४, तै.ब्रा. ३.४.१.१०.

अयस्पात्र - अयस् +पात्र । लोहे का बर्तन ।

'आसीदयस्पात्रं पात्रम्'

अ.८.१०.२

अयस्मय - अयस् +मयट् । लोहे का बना हुआ

'अयस्मान् वि चृता बन्धपाशान्

अ. ६.८४.३

'अयस्मयैः पाशैरंकिनो ये चरन्ति'

अ. १९.६६.१

अपस्युः - कार्यकुशल ।

'शतंधारा अपस्युवः'

ऋ. ९.५६.२

अयःस्थूण - लोहे का बना स्थूण वाला रथ । स्थूण का अर्थ ढांचा है ।

'हिरण्य रूपम् उषसो व्युष्टौ
'अयःस्थूणमुदिता सूर्यस्य'
ऋ. ५.६२.८

हे मित्र और वरुण, तुम दोनों उषा के उच्छेद काल में (उषस व्युष्टौ) तथा सूर्य के उदय होने पर। (सूर्यस्य उदितौ) हिरण्यमय लोहे के बने ढांचे वाले रथ पर चढ़ते हो (हिरण्यरूपम् अथः स्थूणम्)।

अया - 'अया' और 'एवा' शब्द 'अनया' और 'अनेन'। के अर्थ मे' प्रयुक्त हुआ है। 'अनया' के न का लोप आर्ष प्रयोग है।

'अया ते अग्ने समिधा विधेम'
ऋ. ४.४.१५ तै.सं. १.२.१४.६, मै.सं. ४.११.५, १७४.७, का.सं. ६.११, नि. ३. २१.
(हे अग्ने, इस समिध से हम तेरी परि चर्या करते हैं।)

अयातु - अ+यातु। अन्यों को पीड़ा न देने वाला, अहिंसक (२) प्रजापीड़कया दण्डनीय न हों।

'यो मायातुं यातुधानेत्याह'
ऋ. ७.१०४.१६, अ. ८.४.१६
(२) अन्यत्र न जाने वाला
'ह्वयामि देवां अयातुरग्ने'
ऋ. ७.३४.८

अयान् - प्राप्त।

'अयांसमग्ने सुक्षितिं जनाय
अयांसमु मघवद्भ्यः सुवृक्तिम्'
ऋ. २.३५.१५

अयामन् - न जाने योग्य मार्ग।

'यामन् अयाम्न श्रणुतं हवं मे'
ऋ.१.१८१.७

अयामी - नियम में न रहने वाला पुरुष।

'अनाशुरश्वो यामी'
अ.२०.१२८.१०

अयाशुः - अ+याशुः। स्त्री भोग करने में असमर्थ।

'कुम्भमुष्का अयाशवः'
अ. ८.६.१५

अया - (अयास्) (१) ज्ञानवान (२) निरन्तर चलने वाला, गतिशील।

'दिवो मर्या ऋतजाता अयासः'
ऋ. ३.५४.१३
(३) मनुष्य।
'मक्षू न येषु दोहसे चिदया'
ऋ. ६.६६.५
'प्रतिघोराणाम् एतानाम् अयासाम्'
ऋ.१.१६९.७.

अयास - अयाक्षीः दिया या किया।

'ऋधगया ऋधगुताशमिष्ठाः
प्रजानन् यज्ञम् उपयाहि विद्वान् स्वाहा'
वाज.सं. ८.२०, श.ब्रा. ४.४.४.१२, नि.४.२५.

हे अग्ने! जिन हवियों को हमने दिया उन्हें तूने पृथक् कर देवों को पहुंचाया (ऋधक् अयाः) हमारी हवियों में जो कुछ त्रुटियां रहीं उन्हे दूर कर हवियों को समृद्ध किया (ऋधक् उत अशमिष्ठाः)।

तू समृद्धि को प्राप्त करता हुआ (ऋधक् अयाः) इस यज्ञ को कर और शक्ति सम्पन्न होता हुआ विघ्नबाधाओं को दूर कर (उत ऋधक् अशमिष्ठा) -दया.

अयासः - अयनाः, भृशं गन्त्र्यः (बहुत चलने वाली)। अय (गत्यर्थक) +असुक् +जस् =अयासः

'यत्र गावो भूरिश्रृंगार अयासः'
ऋ. १.१५४.६, वाज.सं. ६.३, का.सं. ३.३, श.ब्रा. ३.७.१.१५, नि. २.७.
(जहां पर किरणें अत्यन्त दीप्तिमती तथा गति वाली किरणें पहुँचती हों)।

अयास्यः - (१) प्रयत्न रहित, निश्चेष्ट निष्क्रिय, (२) कभी न थकने वाला मुख्य परमेश्वर, (३) मुख्य आत्मा।

'अयास्य उक्थमिन्द्राय शंसन्'
ऋ.१०.६७.१, अ. २०.९१.१
(४) अथक परिश्रम करने वाला।
'निधीरंदेवाँ अमृणदयास्यः'
ऋ.१०.१३८.४
(५) प्रयन्न से असाध्य अर्थात् स्वाभाविक (६) अनायास सभी कार्यों को सिद्ध करने वाला।
'अयास्यः स्तवमानेभिरर्कैः'
ऋ.१.६२.७
(अनायास सब कामों को सिद्ध करने वाला तेजस्वी।)

अपीवृत - (१) सत्यमार्ग में स्थिर, (२) उत्तम वस्त्रादि से ढका हुआ।

'अपीवृता अपोर्णुवन्तो अस्थुः'

ऋ. १.१९०.६

अयुक्त - रश्मियां वियुक्त करता या फैला गई ।

'यदेदयुक्त हरितः सधस्थात्'

ऋ. १.११५.४, अ. २०.१२३.१, वाज.सं. ३३.३७, मै.सं. ४.१०.२,१४७.२, तै.ब्रा. २.८.७.२, नि.४.११. (जभी सूर्य इस लोक से (सधस्थात्) रश्मियों को वियुक्त करते या हटाकर दूसरे लोक में फैलाते हैं ।)

अयुज् - अ +युज् = क्विप् =अयुज् । वह स्त्री जिसका कभी किसी से साथ न हुआ हो ।

'हयो न विद्वां अयुजि स्वयं धुरि'

ऋ.५.४६.१, कौ.ब्रा. २२.१.

अयुज - (ए.व.)। जिसका कोई सहयोगी न हो ।

'अयुजो असमो नृभिरेकः'

ऋ. ८.६२.२

अयुत - (१) अ +यु +क्त । जो जुदा न हो ।

'अयुतोऽहम् अयुतो म आत्मा'

अ.१९.५१.१

(२) दश सहस्र (दशकृत्यं सहस्रम्)

'सहस्रं च सहस्रं चायुतम्'

वाज.सं. १७.२

'अयुतासनमुष्ट्राणाम् विंशतिं शता'

ऋ.८.४६.२२

यु (मिश्रण और अमिश्रण अर्थ में) +क्त =युतम् (अमिश्रित) । नञ् +युत =अयुत (न अमिश्रित अर्थात् मिश्रित) =मिलाया हुआ । इसें सहस्र दसबार मिलाया जाता है अतः अयुत कहलाया । अयुयुत्सन् युद्ध करना चाहते हैं

'अयुयुत्सन् अनवद्यस्य सेनाम्'

ऋ. १.३३.६

(जब वे दोष-रहित धार्मिक राजा की सेना से युद्ध करना चाहते हैं) ।

अयुद्धः - युद्ध किये बिना ही ।

'अयुद्धो अस्य विभजानि वेद'

ऋ. १०.२७.१०

अधिंगमः - युद्ध में न जाने वाला भीरु सैनिक ।

'स्वस्त्या चायुधिंगमः'

अ.२०.१२८.१०

अयो अग्ना - (१) लोहे की सुई की धार, (२) सुई सी तीक्ष्ण बुद्धि ।

'विपा वराहमयो अग्रया हन्'

ऋ. १०.९९.६

अयोगू - चान्दी सोने के परिमाण सिक्कों की गणना या व्यवहार में विज्ञ पुरुष ।

'आक्रयाय अयोगूम्'

वाज.सं. ३०.५

अयोजालः - लोहे का जाल धारण करने वाला असुर ।

'अयोजाला असुरा मायिनः'

अ.१९.६६.१

अयोदंष्ट्र - (१) बड़े-बड़े लोहे की कीलों वाला, (२) लोहे की हाल से मढ़ा रथ, (३) लोहे के शस्त्र अस्त्र रूप शत्रुनाशकारी दाढ़ो वाला ।

'पश्यन् हिरण्य चक्रान्
अयोदंष्ट्रान् विधावतो वराहून्'

ऋ.१.८८.५, नि. ५.४.

(४) लौह-निर्मित दांतों वाला आयुध (५) लौह निर्मित आयुधों से युक्त ।

दशनसाधना ऋष्टयो दष्ट्रा-सा. ।

अयोद्धा - युद्ध नहीं करने वाला ।

'अयोद्धेव दुर्मद आहि जुंह्वे'

ऋ. १.३२.६, तै.ब्रा. २.५.४.३.

यदि दुर्मद पुरुष लड़ना न जानने वाले अकुशल योद्धा के समान युद्ध में ललकार दे ।

अयोध्या - किसी से नहीं जीतने लायक यह शरीर रूपी पुरी ।

'देवानां पूरयोध्या'

अ. १०.२.३१, तै.ब्रा.१.२७.३.

अयोपाष्टिः - लोहे की एड़ी वाला बलवान् पुरुष ।

'श्यनोऽमोपाष्टिर्हन्ति दस्यून्'

ऋ. १०.९९.८

अयोमुख - लोहे के समान कठोर मुख वाला त्रिषन्धि नामक वाण ।

'अयोमुखाः सूचीमुखाः'

अ. ११.१०.३

अयोः - अनयोः । वेद में 'न' का लोप आर्ष है । अर्थ है, इन दोनों का या इन दोनों में

'कतरा पूर्वा कतरापरायोः
कथा जाते कवयः को वि वेद
विश्वं त्मना बिभृतो यद्ध नाम
वि वर्तेते अहनी चक्रियेव'

ऋ. १.१८५.१, ऐ.ब्रा.५.१३.१०, कौ.ब्रा. २३.८, ऐ.आ. १.५.३.४, नि.३ .२२.

अतीन्द्रियज्ञ कवियो, इन दोनों द्यौ और पृथ्वी में कौन पहले और कौन पीछे हुआ और कैसे ये उत्पन्न हुए आप बतावें । इस रहस्य को भला कौन जान सका (को विवेद) जो कुछ भी है स आत्मा से बिभृत है । दिन और रात एक ही गाड़ी के चक्कों के समान घूमते हैं ।

अयोहनुः - (१) सविता, (२) लोहे के बने अस्त्रों शस्त्रों से शत्रु का हनन करने वाला ।

'अयोहनुःयजतो मन्द्रजिह्वः'

ऋ. ६.७१.४

अर - (१) रथाङ्गावयव जो रथ के पहिए मे लगाया जाता है, नाभौ प्रत्यृता (जो नाभि की ओर गया हो) ऋ. +अच् =अर । चक्के के धुरे से लगा हुआ । आज भी इसी अर्थ में इस शब्द का प्रयोग है ।

'द्वादशारं नहि तज्जराय
वर्वर्ति चक्रं परि द्यामृतस्य
पुत्रा अग्ने मिथुनासो अत्र
सप्त शतानि विंशतिश्च तस्थुः ।'

ऋ. १.१६४.११, अ. ९.९.१३, नि.४.२७.

सत्यात्मक आदित्य का,यज्ञ का या संवत्सर काल का अंगभूत चक्र (ऋतस्य चक्रम्) या मण्डल-रथ चक्र या कालचक्र अन्तरिक्ष के ऊपर बराबर चलता है (वर्वति) । वह बाहर अरों से युक्त है (द्वादशारः), चक्र कभी जीर्ण नहीं होता (नाहि जराय) । हे आदित्य, (अग्ने) तेरे इस चक्र में मिथुनीभूत सात सौ बीस पुत्र हैं ।

अरक्षस् - (१) दुष्टों से रहित (२) निर्भय, (३)निर्विघ्न मार्ग ।

'त्वं न इन्द्र राया परीणसा
या हि पथां अनेहसा पुरो याहि अरक्षसा'

ऋ.१.१२९.९

(४) बाधक शत्रुओं से रहित पुरुष (५) विघ्न नाशक परमेश्वर, (६) बृहस्पति ।

'मृगोनभीमः अरक्षसः तुविष्मान्'

ऋ. १.१९०.३.

अरक्षाः - राक्षसी भावना से रहित मन ।

'अरक्षसा मनसा तज्जुषेत'

ऋ.२.१०.५, वाज.सं.११.२४, श.ब्रा.६.३.३.२०.

अरगराट् - (१) रथों या यन्त्रों से विचरने वाला शिल्पी (२ अरा रथचक्रवयवाः कीलकाः तान् गिरति आत्मना संश्लेषयति इति अरगराः रथाः । तेन अटन्ति संचरन्ति इत अरगरटाः-

(रथचक्रो के कीलकों को संश्लिष्ट करने वाला रथ, उससे अटन अर्थात् भ्रमण करने वाला अरगराट

(३) अरान् गच्छन्ति इति अरगाः वीराः तेषां राटाः जयघोषाः (रथी या वीरों का जयघोष)

(४) अरस्य ज्ञानस्य गरेषु विज्ञायकेषु अटन्ति इति (गुरुओं के प्रति जाने वाला शिष्य) -क्षेमकरण

(५) घाटी-ग्रिफिथ ।

(६) अरम् अव्यर्थं गर् गट् शब्देन अटन्ति इति अरगराटाः महानताः (घर घर आवाज पूर्वक चलने वाला महानट)

(७) अरघट्टा जल यन्त्राणि धान्य पोषणार्थं जलधारया प्रवर्तितम् पेषणा यन्त्रम् 'घराट' इति प्रसिद्धम् तादृशो वा अन्यो विद्युदादियन्त्र विशेष (जलद्वारा चलने वाली चक्की, मिल या बिजली का यन्त्र)

'गिरा वरग राटेषु हिरण्ये गोषु यद् यशः'

अ.६.६९.१

अरङ्कृत - (१) अरम् +कृत । पर्याप्त किया गया, (२) अलङ्कृत सुभूषित, सुसंस्कृत । आजकल अलङ्कृत रूप में बदल गया है । किसी चीज का उचित रूप से किया जाना ही इसका अर्थ है ।

'वायवा याहि दर्शतिमे सोमा अरंकृताः
तेषां पाहि श्रुधी हवम् ।'

ऋ.१.२.१, ऐ.ब्रा. ४.२९.६, कौ.ब्रा. १४.५, ऐ.आ. १.१.४.१, आश्व श्रौ.सू. ५.५.२, १०.५, शां.श्रौ.सू. ७.२.२, १०.९, ११.९.३, नि. १०.२.

(हे दर्शनीय वायुओ, ये सोमरस सुसंस्कृत है अर्थात् उचित रूप से निकाले गए हैं । अतः आप हमारा आह्वान् सुनें और उनमें अपना अंश पीएं ।)

(३) खूब पुरषार्थ करने वाला ।

'त्वमग्ने द्रविणोदा अरंकृते'

ऋ. २.१.७

अरङ्कृता - (१) बनाए गए,तैयार किए गए ।

‘इमे सोमा अरङ्कृताः’
ऋ.१.२.१.

अरङ्कृतिः - शोभा ।
‘काते अस्त्यरंकृतिः सूक्तैः’
ऋ.७.२९.३

अरंगम - (१) विद्या और संग्राम के पार जाने वाला (२) इन्द्र ।
‘अरंगमाय जग्मये’
ऋ.६.४२.१,८.४६.१७, साम १.३५२,२.७९०, तै.ब्रा. ३.७.१०.६.
(३) प्राप्त होने योग्य (४) उत्तम रीति से मिल जाने वाला ।
‘तीव्रो रसो मधुपृचामरंगमः’
अ. ३.१३.५, तै.सं. ५.६.१.३, मै.सं. २.१३.१, १५२.१७, का.सं. ३५.३, ३९.२

अरंगमासः - अत्यन्त गति करने वाले प्राण या सूर्य की किरणें ।
‘अरंगमासः प्रवतो रराणः’
अ.१३.२.३३.

अरंगर - अति उत्तम उपदेष्टा ।
‘अरंगरो वावदीति’
अ. २०.१३५.१३, शा.श्रौ.सू. १२.१६.१.३, आश्व.गृसू. २.९.४.

अरंघुषा - अति शब्द करने वाली वीणा की तुम्बी ।
‘अरंघुषो निमज्य’
अ. १०.४.४.

अरज्जु - बिना रस्सी के ।
‘अरज्जौ दस्यून् समुनब् दभीतये’
ऋ.२.१३.९

अरटव - अलटव , बालकपन से मुक्त-युवा ।
‘अरटवे अक्षे नहुषे सुकृत्वनि’
अ. ८.४६.२७

अरटुपर्णः, अरटुपरम - अरटुपर्ण नामक वृक्ष का पत्ता जिस पर पानी नहीं ठहरता ।
‘अरटुपर्णः’
ऋ. २०.१३१.१५.

अरणः - (१) जो अपने से रण नहीं करता ।
‘वेशं वा नित्यं वरुणा रणं वा’
ऋ.५.८५.७
(२) दुःखदायी ।
‘प्रतीच्ये त्वरणी दत्वतीतान्’
अ. ७.१०८.१
(३) अप्रियजन ।
‘सञ्ज्ञानम् अरणेभिः’
ऋ. १०.१९१.२, अ. ७.५२.१, मै.सं. २.२.६,२०.२, का.सं. १०.१२, तै. ब्रा. २.४.४.६.
(४) शत्रु, अप्रिय, पराया ।
‘स्वाय चारणाय च’
अ. ६.४३.१,वाज.सं. २६.२.
(५) जो रमण करने योग्य, सुखद या चेतन न हो ।
‘न किःषो अस्त्यरणो जहुर्हितम्’
ऋ.२.२४.७
(६) बिना सुख के ।
‘यो नः स्वो अरणः’
ऋ. ६.७५.१९, अ.१.१९.३, साम. २.१२.२२, आश्व.गृ.सू. ३.५.७, शां.गृ.सू.४.५.८.
(७) अरण्य, वन, जंगल ।
‘सा नो अमा सो अरणे निपातु’
ऋ.१०.६३.१६, नि.११.४६.
वह स्वस्ति देवता (देवगोपा या मेघ) हमे गृह में (अमा) तथा जंगल में (अरणें) रक्षा करें)
(८) प्रेरित ।
‘हिन्वन्ति अश्वम् अरणं न नित्यम्’
ऋ.३.५३.२४
(९) ऋण-रहित पुरुष, (१०) रण आदि से मुक्त ।
‘परिषद्यं ह्यरणस्य रेक्णः’
ऋ.७.४.७,नि.३.[illegible]
(११) रण या रमण के अयोग्य, अशक्त, दुःखी
‘इन्द्र त्वद् अरणा इव ’
ऋ. ८.१.१३, अ.२०.११६.१, पंच.ब्रा. ९.१०.१.
(१२) मलिन, गन्दा ।
‘गच्छामुम् अरणं जनम्’
अ. ५.२२.१२
(१३) अपगतार्ण-अपगतोदक सम्बन्ध (जिससे जल-सम्बन्ध न हो, पराया) ।
‘नहि ग्रभायारणः सुशेवः’
ऋ. ७.४.८, नि.३.३.
(जिससे जल-सम्बन्ध न हो वह सुख कारक होता हुआ भी ग्रहण करन योग्य नहीं होता । ‘दशार्णः देशः’ में ऋण का अर्थ भट्टोजिदीक्षित

ने जल किया है। हैम ने -'ऋणं देये जले दुर्गे' ऐसा कहा है। निघंटु में 'अर्णस' का अर्थ उदक कहा है। दुर्ग ने ऋण को ही जलवाची माना है।

ऋण का उदक् अर्थ में व्यवहार 'परिषद्य ह्यरणस्य' ऋचा में हुआ है। इसका अर्थ निरमण (रमण रहित अरण्य) भी है।

(१४) निर्गमन-देशान्तर जाना

अरण्यम् - जंगम। न रमणीयं रम्यं वा (जो रम्य सा रमणीय न हो)।

'यद्ग्रामे यदरण्ये यत्सभायां यदिन्द्रिये
यदेनश्चकृमा वयम् इदं तदवयजाभहे स्वाहा

वाज.सं. ३.४५.,२०.१७, तै.सं. १.८.३.१, मै.सं. १.१०.२,१४१.१४, का.सं.९.४,३८.५, श.ब्रा. २.५.२.२५,१२.९.२.३, तै.ब्रा. १.६.६.३,२.६ .६.२, अपार्ण से प्तषोदरादिवत् अरण्य हो गया।

(२) ग्रामात् अपार्णम् दूरम् अपगतम् (गांव से दूर स्थित) 'अपार्ण' से पृषोदरादिवत् अरण्य हो गया।

ऋ (जाना) का निपात ऋण। अप +ऋण = अपार्ण =अरण्य। अथवा 'अरमणम्' से अरण्य

अरण्यानिः - वानप्रस्थ पुरुष

'उतो अरण्यानिः सायं शकटीरिव सर्जति'

ऋ. १०.१४६.३, तै.ब्रा. २.५.५.७.

'न वा अरण्यानिर्हन्ति'

ऋ. १०.१४६.५, तै.ब्रा.२.५.५.७

अरण्यानी - (१) अरण्य अर्थात् ऋणों से युक्त वाणप्रस्थ की स्त्री, (२) रमण योग्य ग्राम नगर आदि में सुख अनुभव न करने वाली विदुषी।

'अरण्यान्यरण्यान्यसौ या प्रेव नश्यसि'

ऋ. १०.१४६.१, तै.ब्रा. २.५.५.६, नि.९.३०. ऋ.८.८.४

(२) अरण्य की पालयित्री देवी, अरण्य देवी। अरण्य +आनुक् +ङीष् =अरण्यानी।

अरणिः - काष्ठ के दो टुकड़े जिनसे घर्षण से अग्नि उत्पन्न किया जाता है। यह शब्द सदा द्विवचन में प्रयुक्त होता है।

'अग्निं नरो दीधितिभिररण्योः
हस्तच्युती जनयन्त प्रशस्तम्'

ऋ. ७.१.१, साम. १.७२,२.७२३, का.सं. ३४.१९, ३९.१५, ऐ.ब्रा. ५.५.१६, कौ.ब्रा. २२.७,२५.११, ऐ.आ. १.१.२.१, आश्व.श्रौ.सू. ८.१२.२, २६, शा,श्रौ.सू. १७.८.२, आप.श्रौ.सू. १४.१६.१, नि. ५.१०.

'ऋ' धातु गति और प्राणन अर्थ में प्रयुक्त है। ऋ +अनि =अरणि। 'अग्निः एने प्रति ऋच्छति' (इन काष्ठों के प्रति अग्नि आता है)। इसी अर्थ में अरणि उस लकड़ी को कहते हैं जिससे अग्नि निकाला जाता है।

'अरणिः बह्निमन्थेन द्वयोर्निर्मन्थ्य दारुणि-मेदिनीकोष'

आधुनिकअर्थ-शमी वृक्ष की लकड़ी जिससे आग बनायी जाती है, (२) लकड़ी के दो खण्ड जिनसे आग निकाली जाती है, (३) सूर्य, (४) अग्नि (५) एक प्रकार का बडा चमकीला पत्थर (६) आर्त्तिकारिणी, कष्ट दाविनी बेड़ी, लोहे की कड़ी (७) खा जाने वाली पीड़ा, यन्त्रणा

'प्रतीच्ये त्वरणी दत्वती तान्'

अ. ७.१०८.१

(८) वृथा अटन (घूमने फिरने) की आदत।

'निररणिं सविता साविषत् पदोः'

अ. १.१८.२

(९) सुख प्रापिका, (१०) लकड़ी, (११) वेग से आगे बढ़ने वाली, (१२) रथादि से गमन करने वाली, (१३) ज्ञान बल से दूर तक पहुंचने वाली

'ते जिष्ठाभिः अरणिभिः
नोतिभिःउग्राभिः उग्रोतिभिः'

ऋ.१.१२९.५

हे शूर वीर या अग्नि, तू अति भयंकर, अति तेज या पराक्रम से युक्त वेग से आगे बढ़ने वाली, रक्षाकारिणी सेनाओं से युक्त होकर भी उनके समान तेज ओज से युक्त रथादि से गमन करने वाली, अथवा ज्ञानबल से दूर पहुंचने वाली भयंकर शत्रुओं में ऊधम मचा देने वाले साधनों से युक्त।

अरतिः - (१) प्राप्त होने योग्य, (२) सर्वोपरि सबसे अधिक मतिमान।

'देवासो देवमरतिं न्येरिरे'

ऋ. ४.१.१

(३) पर्याप्त बुद्धि वाला-सा.(४) आर्य-(दया.)

'प्रियं चेत्तिष्ठम् अरतिं स्वध्वरम्'

ऋ. १.१२८.८,७.१६.१, साम. १.४५,२.९९,

वाज.सं. १५.३२, तै.सं. ४.४.४.४, मै.सं. २.१३.८,१५.७.४, का.सं. ३९.१५.

मैं प्रिय अत्यन्त चेतनावान पर्याप्त बुद्धि वाले तथा यज्ञ को शोभन बनाने वाले अग्नि को आमन्त्रित करता हूँ -

मैं अत्यन्त चेताने वाले, आर्य, हिंसारहित शुभकर्म करने वाले उपदेशक को स्वीकार करता हूँ। (दया) ।

(५) मतिमान, (६) ऐश्वर्यवान् (७) प्रापक ।

'प्रियं चेतिष्ठमरतिं न्येरिरे'

ऋ. १.१२८.८

(प्रिय, सबसे अधिक ज्ञान देने वाले, अल्पज्ञों को चेताने वाले, मतिमान, ऐश्वर्यवान् (अरतिम्) पुरुष का आदर करते हैं ।

(८) देह से देहान्तर में जाने वालाआत्मा

'अधासु मन्द्रो अरतिर्विभावा'

ऋ. १०.६१.२०

(९) सब ऐश्वर्य का स्वामी, (१०) अति ज्ञानवान् स्वामी, परमेश्वर (१०) जिसका चित्त भोगों में न हो ।

'दिव इवेदरतिः मानुषा युगा'

ऋ. २.२.२.

(१२) स्वामी, व्यापक ।

'गिरं दिवो अरतये पृथिव्याः'

ऋ. ७.५.१

अरत्निः - दुःखदायी ।

'अपावृक्ता अरत्नयः'

ऋ. ८.८०.८

अरत्नी - हाथ के भाग ।

'ऊरू अरत्नी जानुनी'

वाज.सं. २०.८, तै.ब्रा. २.६.५.५, मै.सं. ३.११.८, १५२.६, का.सं. ३८.४.

अरथाः - रमण करने योग्य देहों से रहित विदेह ।

'अरश्मानो येऽरथा अयुक्ताः'

ऋ. ९ ९७.२०.

अरथीः - बिना सारथि का रथ ।

'अनश्वश्चित् यमजत्यरथीः'

ऋ. ६.६६.७

अरदत् - अखनत् (खन दिया) ।

'इन्द्रो अस्माँ अरदन् वज्रबाहुः'

ऋ. ३.३३.६, नि. २.२६

अरध्र - (१) जो वश का न हो, (२) जो चलने योग्य न हो ।

'ता ह त्यद् वर्तिर्यदरध्रमुग्रा'

ऋ. ६.६२.४

(३) स्वयं शत्रुओं के वश में न आने वाला, (४) अहिंसक ।

'अरध्रस्य रध्रतुरोबभूव'

ऋ. ६.१८.४

अरपः,अरपस् - (१) पाप और दुःखों से रहित ।

'अथा नः शं योररपो दधात'

ऋ. १०.१५.४, वाज.सं. १९.५५, मै.सं. ४.१०.६, १५६.१३, का.सं. २१.१४, नि. ४.२१.

(२) रपस् या रिप्रम् पापवाचाक शब्द हैं, अतः अपापम् । नञ् +रपस् =अरपस् । अंग्रेजी शब्द Lapse की रपस् से समानता विचारणीय है । Lapse का अर्थ भी त्रुटि, कमी, अवगुण आदि होता है

'बर्हिषदः पितर ऊत्यर्वाग्
इमा वो हव्या चकृमा जुषध्वम् ।
त आ गतावसा शन्तमेन
अथा नः शं योररपो दधात'

ऋ. १०.१५.४, अ. १८.१.५१, वाज.सं. १९.५५, तै.सं. २.६.१२.२, मै.सं. ४.१०.६, १५६.१२, का.सं. २१.१४.

हे यज्ञ में बैठने वाले पितरो ! हम अर्वाचीनों की रक्षा आप करें (बर्हिषदः पितरः अर्वाक् ऊती) । आप लोगों के लिए हमने भी वे हव्य बनाए हैं (वः इमा हव्या चकृमा)अतः उन्हे आप चखें (जुषध्वम्) । वे हव्य खाने वाल आप अत्यन्त सुखकारक रक्षा के साथ आवें (शन्तमेन अवसा आगत) और हमारे कल्याण कामी का पापाभाव दे (नः शंयोःअरपः दधात) ।

अरपाः - (१)निष्पाप ।

'घृणीव छायामरपा अशीया'

ऋ. २.३३.६

(२) पाप के फल रूप से रहित ।

'यथायमरपा असद्'

ऋ. १०.१३७.५,अ. १.२२.२, ४.१३.४, आश्व. श्रौ.सू. २.७.१३.

अरम् - अलम् , पर्याप्त ।

अरमणाः अरमणस् - अच्छा न लगने वाला

'निकाम मरमणसं येन'

ऋ. ६.१७.१०

अस्मत् परि - हम सबों के यहां ।

'अस्मत् द्वितीयं परिजात वेदाः'

ऋ. १०.४५.१, वाज.सं. १२.१८, तै.सं. १.३.१४.५, ४.२.२.१, मै.सं. २.७.९, ८६.५, का.सं. १६.९, श.ब्रा. ६.७.४.३,

(द्वितीय अग्नि हम लोगों के यहां अग्नि रूप में उत्पन्न हुआ ।)

अरमतिः - अर+मति । (१) पर्याप्त मतिवाला -सा. (२) उपयोगी (३ जिज्ञासु छात्र-(दया.)

'अध स्मा नो अरमतिं सजोषसः
चक्षुरिव यन्तमनु नेषथा सुगम्'

ऋ. ५.५४.६.

और हे हमारे समान स्नेह रखने वाले , मरुतो, (सजोषसः) ! आप इस लोक से उस लोक में जाते हुए (यन्तम्) पर्याप्तमति यजमान को (अरमतिम्) शोभन मार्ग बना । (सुगम् अनुनेष था) जैसे आखें राह बतलाने में अनुग्रह करती हैं (चक्षुः इव) ।

और हे मनुष्यो, जिस प्रकार वेदाध्ययन के बाद सबके साथ मिलकर (सजोषसः) विद्या के लिए प्राप्त हुए (यन्तम्) हमारे उद्यमीपुत्रों को (नःअरमितम्) चक्षु के समान सुमार्ग दर्शक ज्ञान कराइए (चक्षुः इव सुगम् अनुनेषथ)।

(४) अ +रमतिः । बिना विश्राम के विराम रहित -सूर्य (५) अर +मतिः । अत्यधिक ज्ञानवान् ।

'अरमतिः सविता देव आगात्'

ऋ. २.३८.४

(६) अ +रमतिः । पूर्व काल में जिस कन्या ने रति न की हो-ब्रह्मचारिणी (७) अन्य कहीं विश्राम न करने वाली प्रजा ।

'उप स्वैनम् अरमतिः वसूयुः'

ऋ. ७.१.६, तै.सं. ४.३.१३.६.

'षड् भि उर्वीभिः अरमतिं तरेम'

अ. १२.२.४८

अरम्णात् - 'संयच्छन् स्थिराम् अकरोत् (संयमित कर स्थिर किया ।

'रम् धातु का अर्थ संयमन करना या विसर्जन करना है ।

'सविता यन्त्रैः पृथिवीम् अरम्णात्'

ऋ. १०.१४९.१ नि. १०.३२.

(सविता ने षृष्ट्यादि साधनों तथा वायवीय पाशों से (यन्त्रैः) पृथिवी को संयतकर स्थिर किया (पृथिवीम् अरम्णात्)

अरम्णाः - वेद में 'रम' धातु संयमन और विसर्जन अर्थ में प्रयुक्त है । लोक में इस का अर्थ रमण करना है । यहां इसका अर्थ 'विसृष्टवान् ' या सारित वान् विसर्जन किया या प्रवाहित कराया ।

'त्वमर्णवान् बद्बधानां अरम्णाः'

ऋ. ५.३२.१, साम. १.३२, नि. १०.९.

तू ने जल से लदे तथा बंधे मेघ समूहों को विसर्जित प्रवाहित किया ।

अररिन्द - (१) उदक,जल । (२) 'अररि' का अर्थ न देने वाला अराति अर्थात् शत्रु है। अजः अररिम् +दः का अर्थ शत्रु का दमन करने वाला साधन है ।

(३) गमनागमन का साधन रथ और सैन्य ।

'अधारयत् अररिन्दानि सुक्रतुः'

ऋ. १.१३९.१०.

अररिवान् - अदानशील ।

'यो नो अग्ने अररिवां अधायुः'

ऋ. १.१४७.४.

अरस - (१) प्रापक, प्राप्त करने वाला -(दया.) (२) व्यापनशील मेघ (३) आक्रमण करने वाला ।

'अमिमीताररुं यश्चतुष्पात्'

ऋ. १०.९९.१०.

(४) फैला हुआ, (५) रुलाने वाला दुष्टजन ।

'यावीः अररुं शूर मर्त्यम्'

ऋ. १.१२९.३

(६) हिंसक स्वभाव (७) प्रजापीड़क असुर, (८) निरन्तर गमनशील

'अपाररुं पृथिव्यै देवयजनात् वध्यासं ।'

वाज.सं. १.२६, श.ब्रा. १.२.४.१७.

(९) अतिशीघ्र गति वाला, (१०) क्षणावस्थायी स्वप्न ।

'अररुर्नामासि'

अ. ६.४६.१

अररुष - जो दानशील न हो, अदाता ।

'मा नः शंसो अररुषोः धूर्तिः'

ऋ .१.१८.३

(अदानशील मनुष्य का नाशकारी, कष्टप्रद आक्षेप न पहुंचे)
(२) अति अधिक हिंसा कारी
‘तपा शंसम् अररुषः परस्य’
ऋ. ३.१८.२
(३) अक्रोधी (अ +ररुष्) ।
‘पुरा गृधात् अररुषः पिबातः’
ऋ. ५.७७.१,मै.सं. ४.१२.६, १९६.१, तै.ब्रा. २.४.३.१३.
(४) अर +रुष् । अतिक्रोधी ।
‘रक्षा सु नो अररुषः’
ऋ. ९.२९.५
(५) अहिंसक -(दया.)
‘प्रहोषे चित् अररुषः’
ऋ. १.१५०.२.
उत्तम रीति से दान और उपभोग में न लगाने वाले से ..अथवा, प्रदान के काल में भी रोष से रहित पुरुष के लिए ।

अररुषी - अनुदार ।
‘मा नः सेना अररुषीरुपगुः’
अ. १९.१५.२

अरश्मा - रास अर्थात् बंधन से रहित , निर्बन्ध ।
‘अरश्मानो येऽरथा अयुक्ता’
ऋ. ९.९७.२०

अरस - (१ बिना रस के, (२) बिना प्राण के ।
‘दूना अदूना अरसा अभूवन्’
अ. २२.३१.३.
(३) विष-रहित ।
‘अरसः त इषो शल्यः’
अ. ४.६.६.
(४) निर्बल ।
‘वृश्चिकस्यारसं विषम्’
ऋ. १.१९१.१६

अरसतरा - (१) अत्यन्त रस हीन, सूखी गण्डमाला ।
‘सेहोररसतरा लवणाद्’
अ. ७.७६.१

अरां - जो विषैली या घातक न हो ।
‘अरसाः सन्तु कृत्वरीः’
अ. ४.१८.१

अर्क - अर्च +घञ् (कर्मवाच्य में) =अर्क (च् का क) अर्च् +क (कृदाधारार्चिकलिभ्यः कः) =अर्क, ऋ +क =अर्क अर्थ-(१) स्तुति, (२) अन्न ।
‘बृहस्पति वर्द्धया नव्यमर्कैः’
ऋ. १.१९०.१, नि. ६.२३.
(३) देव । एनमर्चन्ति (इन्हे पूजते हैं), (४) मंत्र । ‘अनेन अर्चन्ति’ इस से पूजा करते हैं (५) अन्न । भूतानि अर्चन्ति, अन्न जीवों की पूजा करता है, (६) वृक्ष कटुकिम्नासंवृतः (वृक्ष कटुक भाव से संवृत या संगत रहता है ।)
‘अर्चन्त्यकमर्किणः’
ऋ. १.१०.१, साम. १.३४२, २.६९४, तै.सं. १.६.१२.३, नि. ५.५.
हे इन्द्र, ऋत्विक् तुझ पूज्य को पूजते हैं (अर्किणः अर्कम् अर्चन्ति) (७) आदित्य, (८) चक्षु (९) अग्नि (१०) जीव, (११) परम पुरुष, (१२) प्राण, (१३) पुरुष ।
‘गायत्रेन प्रति मिमीते अर्कम्’
ऋ. १.१६४.२४, अ. ९.१०.२.
‘अन्न वै देवाः अर्क इति वदन्ति’
तै.आ. १५.३.२३,
‘आदित्यो वा अर्कः’
श.ब्रा. १०.६.२.६.
‘अग्निर्वा अर्कः’
श.ब्रा. २.५.१.४
‘स एषोऽग्नि रर्को यत्पुरुषः’
श.ब्रा. १०.३.४.५
वेत्थार्कमिति पुरुषं हैव तदुवाच । वेत्थार्कपुष्पे इतिअक्षिणी हैव तदुवाच । वेत्थार्क कौश्याविति-नासिके हैव तदुवाच । वेत्थार्क समुद्रावित्योष्ठौ हैव तदुवाच । वेत्थार्कधाना इति दन्तान् हैव तदुवाच । वेत्था र्काष्ठी लामिति जिह्वां हैव तदुवाच । वेत्थार्क ।
श.ब्रा. १०.३.४.५
(१९) शास्त्र
‘बृहस्पति र्हन्त्यमित्रमर्कैः’
ऋ. ६.७३.३, अ. २०.९०.३, का.सं. ४.१६.४०.११, तै.ब्रा. २.८.२.८.
(१७) अर्चन करने वाला, (१८) पूज्य विद्वान् ।
‘अर्को वा श्लोकमाघोषतेदिवि’
ऋ. १.८३.६, अ. २०.२५.६.

अर्कयज्ञ - विराद् रूप से उपासना करने योग्य चितियज्ञ ।

'अर्काश्वमेधावुच्छिष्टे'

अ. ११.७.७

अर्कशोक - (१) सूर्य के समान तेज से युक्त, (२) यथोक्तस्थान कर्मानुप्रदानवान् मन्त्रः-उव्वट ।

'त्वा हि मन्द्रतमम् अर्क शोकैर्ववृमहे'

ऋ. ६.४.७, वाज.सं. ३३.१३

अर्कसातिः - (१) अन्न का विभाग, (२) पूज्य पुरुष की प्राप्ति ।

'रपत् कविरिन्द्रार्कसातौ'

ऋ. १.१७४.७.

(३) पूजनीय पुरुषों की सेवा, (४) सूर्य की पूजा, (५ तेजस्वी पुरुष का आश्रय, (६) अन्नादि पदार्थों की प्राप्ति या विभाग ।

'दशोणये कवये अर्कसातौ'

अर्काः - स्तुतिकर्ता विद्वान् जन ।

ऋ. ६.२०.४

'यमर्का अध्वरं विदुः'

ऋ. ८.६३.६

अर्किन् - अर्क +इनि =अर्किन् । अर्थ (१) मंत्री, (२) मन्त्र कहने वाला, (३) ऋत्विक् । (४) ऋग्वेदी होता को अर्की और सामवेदी की उद्गाता कहते हैं ।

'अर्चन्त्यर्कमर्किणः'

ऋ. १.१०.१, साम. १.३४२, २.६९४, तै.सं. १.६.१२.३, नि. ५.५. महाभारत. १२.२८४.७८.

(ऋग्वेदी ऋत्विक् आदित्य की अर्चना करते हैं)

अर्ध्य - समृद्ध ।

'शविष्ठं वाजं विदुषा चिदर्ध्यम्'

ऋ. ५.४४.१०

अर्चत्र्य - अर्चण करने योग्य , पूज्य ।

'अर्चत्र्य मघवा नृभ्य उक्थैः'

ऋ. ६.२४.१

अर्चत्रिः - (१) परस्पर मान सत्कार करने वाला (२) माता, पिता, गुरु ।

'अर्चत्रयो धुनयो न वीराः'

ऋ. ६.६६.१०, मै.सं. ४.१४.१, २३३.१

अर्चद्धूम - उज्ज्वल दीप्तियुक्त धूम वाला अग्नि ।

'अर्चद्धूमासो अग्नयः पावकाः'

वाज.सं. ३३.१

अर्चन् - (१) अङ्गिरस के पुत्र हिरण्य स्तूप का पुत्र अर्चन् (२) प्रार्थना या अर्चना करता हुआ (अर्थ +शतृ)

'हिरण्यस्तूयः सवितः यथा त्वा
अङ्गिरसो जुह्वे वाजे अस्मिन् ।
एवा त्वार्चन् अवसे वन्दमानः
सोमस्येवांशुं प्रति जागराहम् ।'

ऋ. १०.१४९.५, नि. १०.३३

हे सविता, जिस प्रकार अङ्गिरस के पुत्र तथा मेरे पिता हिंरण्य स्तूप ने इस अन्न निमित्त यज्ञ में आमन्त्रित किया इसी प्रकार मैं अर्चन् नामक या पूजा करता हुआ तुझे रक्षा के लिए बुलाकर तेरी परिचर्या के लिए जागरण करता हूँ जैसे कोई यजमान सोम-रस की रक्षा के लिए जागता है ।

अर्चनानाः - (१) अर्चन +अनाः । अर्चनीय अनः शकटं यस्य स अर्चनानाः

पूजनीय उत्तम शकट वाला या उसका रचयिता ।

'श्यावाश्वः सोभरी अर्चनानाः'

अ. १८.३.१५

(२) श्रेष्ठ नासिका वाला ।

'बिभ्रतावर्चनानसम्'

ऋ. ५.६४.७

अर्चन्ति - पूजा करते हैं ।

'अर्चन्त्यर्कमार्किणः'

ऋ. १.१०.१.

अर्चा - प्रार्थना ।

'तस्मा अर्चाम कृणवाम निष्कृतिम्'

ऋ. १०.१६५.१, अ. ६.२७.१,

(उस पाप से निवृत्ति पाने के लिए हम आप लोगों की अर्चना करते हैं ।)

अर्जन - धन आदि का उत्तम उपार्जन करने वाला ।

'यदर्जुन सारमेय दतः
पिशंग यच्छसे'

ऋ. ७:५५.२

अर्जुन - (१)रात्रि का श्वेत पुत्र दिन या सूर्य, (२) कृषि-योग्य पृथिवी का पुत्र राजा, (३) परमेश्वरी शक्ति का पुत्र जीव ।

'कृष्णायाः पुत्रो अर्जुनः'

अ. १३.३.२६

(न) उज्ज्वल ।

'अहश्च कृष्णम् अहरर्जुनञ्च'

ऋ. ६.९.१, ऐ.ब्रा. ५.१५.५, कौ.ब्रा. २३.८, नि. २.२.

(४) श्वेत रंग वाला कुटिल गति से जाने वाला, एक प्रकार का कीट ।

'क्रिमिं सारङ्गमर्जुनम्'

अ. २.३२.८,५.२३.९

दिन काला और उजला भी है । अथवा रात काली और दिन उजला है ।

अर्जुन काण्ड - श्वेत काण्ड या डंटी वाला यव ।

'बभ्रोरर्जुनकाण्डस्य'

अ. २.८.३

अर्जुनी - (१) श्वेत गौ, (२) श्वेत धातु या रत्न आदि से पृथिवी, (३) सत्वमयी प्रकृति, (४) फाल्गुनी नक्षत्र जिनमें सूर्य की किरणों को पुनः प्राप्त किया जाता है ।

'को अर्जुन्याः पयः'

अ. २०.१३०.३

'अघासु हन्यते गावोऽर्जुन्योः पर्युह्यते'

ऋ. १०.८५.१३

(५) प्रकाशवती कमनी या उषा ।

'पेरुम् अस्यसि अर्जुनि

ऋ. ५.८४.२

(६) अपने कुकर्म से द्रव्य अर्जन करने वाली स्त्री ।

(७) प्रतिहिंसा की प्रवृत्ति ।

'अर्जनि पुनर्वो यन्तु'

अ. २.२४.७.

(८) अर्ज धातु प्रतियत्न अर्थ में आया है । सबको प्रयत्न और उत्साह में लगाने वाली उषा

'वयश्चित् ते पतत्रिणो द्विपच्चतुष्पदर्जुनि'

ऋ. १.४९.३, साम. १.३६७.

अर्ण - (१) जल , (२) योद्धा ।

अर्णवः अर्णवान् - (१) जल का दाता सूर्य ।

'महान् केतुः अर्णवः सूर्यस्य'

ऋ. ७.६३.२,

(२) अन्तरिक्ष जिसमें जल रहता है ।

'शिशू क्रीडन्तौ परियातोऽर्णवम्'

अ. ७.८१.१, १४.१.२३,१३.२.११.

(३) अर्णस् +वतुप् =अर्णवान् । मेघ, जलवाला । स् का लोप पृषोदरादिवत् ।

'त्वमर्णवान् बद्बधानां अरम्णाः'

ऋ. ५.३२.१, साम. १.३१५, नि. १०.९.

(तूने जल वाला होकर बंधे हुए मेघों को बरसने के उन्मुक्त किया) । आधुनिक अर्थ-समुद्र ।

अर्णस् - ऋ +असुन् =अर्णस् (नुट् का आगम्)। अर्थ - (१) समुद्र (२) उदक, (३) जलयुक्त , (४) शब्द सागर वेद -(दया.)

''अभ्राजि शर्धो मरुतो यदर्णसम्
मोषथा वृक्षं कपनेव वेधसः'

ऋ. ५.५४.६

हे वृष्टि के विधाता मरुतो (वेधसः), आप लोगों के गण या बल (शर्धः) शोभता है (अभ्राजि) जिसे (यत्) जलयुक्त मेघको अर्णसं वृक्षम् निरुदक करते हो (मोषथाः) जैसे घुन (कपना इव) वृक्ष को चाट जाता है ।

हे विद्वान् मनुष्यो, (मरुतः) तुम्हारा उत्साह प्रदीप्त होता है, (अ्भ्राजि) जो कि तुम (यत्) बींधने वाले छोटे-छोटे कृमियों की तरह (वेधसः कपना इव) वृक्ष को धीरे-धीरे हर लेते हैं । एवं शब्द-सागर वेद को (अर्णसम्) धीरे-धीरे ग्रहण कर लेते हो (मोषथः) -दया.

निघंटु भी अर्णस् का अर्थ उदक बतलाता है ।

उदक +नुट् + असुन् = अर्णस् ,

अर्णस् -(४) वेदवाणी -(दया.)

'महो अर्णः सरस्वती
प्र चेतयति केतुना
धियो विश्वा वि राजति ।'

ऋ. १.३.१२, वाज.सं. २०.८६, नि. ११.२७.

माध्यमिका वाक् सरस्वती महान् जल-राशि अपनी प्रज्ञा से बरसाती है । (सरस्वती महः अर्णः केतुना प्रचेतयति) यही नहीं, वह संसार के समस्त यज्ञ सम्बन्धी या कर्म-सम्बन्धी ज्ञानों को उत्पन्न करती है (विश्वाधियः विराजति ।) अन्य अर्थ-वेदवाणी कर्मयोग तथा ज्ञानयोग के साथ महान् शब्द सागर को बतलाती है और सम्पूर्ण सत्य विद्याओं को प्रकाशित करती है । -(दया.)

अर्णसाति - (१) ज्ञान , सुख या धन की प्राप्ति ।

'आशुषाणासो मिथो अर्णसातौ'

ऋ. ४.२४.४

(२) जल की प्राप्ति, (३) अभीष्ट फल की प्राप्ति।

'इन्द्राय देवोभिरर्णसातौ'

ऋ. २.२०.८

(३) जिसमें योद्धाओं का सेवन हो-समर-(दया.)

(४) जलों को प्राप्त कराने और जलवर्षण का अवसर।

'त्वा ह त्यदिन्द्र अर्णसातौ
स्वर्मीढे नर आजा हवन्ते'

ऋ. १.६३.६

अर्णाआपः - (१) स्थिर जल-सा. (२) नहरों के जल-(दया.)

'ऋणोरपो अनवद्यार्णा
यूने वृत्रं पुरुकुत्साय रन्धीः'

ऋ. १.१७४.२.

हे अनवद्य इन्द्र। स्थिर जलों को (अर्णाअप) तू ने बहाया या चलाया (ऋणोः) तथा स्तुति शील पुरुकुता नामक यजमान के लिए धन सम्पादित किया।

हे पाप-रहित राजा (अनवद्य) आप पुरुषार्थी कृषकों के लिए (यूने पुरकुत्साय) नहरों के जल (अर्णाअपः) पहुंचाए (ऋणोः) तथा इन साधनों से कष्टों का नाश किया है (वृत्र रन्धीः) -(दया.)

अर्णा - (१) नदी, (२) नहर।

अर्त - (१) निकले-सा. (२) लाओ-(दया.)

'भानुरर्तत्मना दिवः'

ऋ. ५.५२.६.

सूर्य के प्रकाश के समान स्वयं ही जल द्युलोक से निकले (दिवःत्मना अर्त)

जल की तरह विद्युत्, वायु एवं सूर्य के प्रकाश आदि को (दिवःभानुः) अपने उपयोग में लाओ (त्मना अर्त) -(दया.)

अर्तन - जो लोगों से प्रतिज्ञा निभवा सके

'प्रति श्रुत्काया अर्तनम्'

वाज.सं. ३०.१९, तै.ब्रा. ३.४.१.१३.

अर्थ - (१) ऋ (गत्यर्थक) +स्थन् =अर्थ। अर्यते असौ (यह गमा जाता है अर्थात् समझा जाता है अतः अर्थ है)

(२) अरणस्थः (अरण या गमन अर्थात् विवेकिनी बुद्धि मे जो स्थित हो वह अर्थ है।) शब्द बनाने वाला अर्थात् शब्द के स्वामी इस लोक को छोड़कर अन्य लोक में जाता है, तथापि उस शब्द का अर्थ उसी शब्द के साथ स्थित रहता है।

'यो अर्थज्ञ इत् सकलं भद्र मश्नुते'

जो वेद का अर्थ जानता है वह सभी कल्याणों का उपभोग करता है।

(३) गुण या द्रव्य जिसे जाना जाता है या प्राप्त किया जाता है।

'तदिन्द्रो अर्थं चेतति,
यूथेन वृष्णि रेजति।'

ऋ. १.१०.२, साम. २.६९५.

इसी प्रकार ऐश्वर्यवान् परमेश्वर भी प्राप्त होने योग्य समस्त पदार्थों को सर्वोपरि होने से जानता है। वर्षण करने वाला मेघ जिस प्रकार वायु-गण से प्रेरित होकर आगे बढ़ता है उसी प्रकार परमेश्वर समस्त काम्य सुखों का वर्षण करने वाला होकर सुख प्रदान करने वाले समस्त साधनों से संसार को चलाता है

(४) प्राप्य लोक।

'आपश्चिदस्य विनशन्त्यर्थम्'

ऋ. १०.२७.२०

अर्थःपारः - प्राप्तव्य परमपद

'प्रेरय सूरो अर्थं न पारम्'

ऋ. १०.२९.५, अ. २०.७६.५.

अर्द अर्दयः - (१) गति और याचना अर्थ में प्रयुक्त धातु। अर्दयः का अर्थ है प्राप्त होता या सन्मार्ग में चलाता है।

'य आयुं कुत्समतिथिग्वमर्दयः'

ऋ. ८.५३.२

(२) गिरना।

'श्लोणया काटमर्दति'

अ. १२.४.३

अर्ध, अर्द्ध - (१) परम सम्पन्नतम पद या स्वरूप।

'तुस्तौ जातौ कतमः सो अर्धः'

अ. ८.९.१

(२) दूसरा आधा, (३) दूसरा वर्ग।

'पचाति नेमो नहि पक्षदर्धः'

ऋ. १०.२७.१८

(३) समृद्ध।

'उभावर्धौ भवतः साधूअस्मै'

ऋ. २.२७.१५

(४) विभूति-सम्पन्न संसार ।

'अर्धमधेन पयसा पृणक्षि'

अ. ५.१.९

(५) हृ धातु को उलट कर अर्थात् 'हर' से 'अर्ह' बनाकर कर्मवाच्य मे घञ् प्रत्यय लगाकर तथा 'ह' का 'घ' आदेश कर अर्थ और अर्ध बनाया गया है । अर्थ है -उद्धत (निकाला हुआ)

(६) ऋध् +घञ् =अर्ध । अभि सम्पन्न तम । विभाग होने से बंटवारा होने से भागियों का मनोरथ सम्पन्न होता है अतः यह अर्द्ध कहलाया

'पूर्वे अर्धे रजसो भानु मञ्जते'

ऋ. १.९२.१, साम. २.११०५, नि. १२.७.

उषा अन्तरिक्ष के पूर्वार्द्ध में सूर्य को व्याप्त करती है ।

अर्धकघाती - समृद्ध संसार का नाश करने वाला -रुद्र ।

'रुद्रेणार्धकघातिना'

अ. ११.२.७

अर्धगर्भा - परम उत्कृष्ट परमेश्वर की शक्ति को अपने भीतर धारण करने वाली प्रकृति ।

'सप्तर्धगर्भा भुवनस्य रेतः'

ऋ. १.१६४.३०, अ. ९.१०.१७, नि. १४.२१.

अर्धभाक् - (१) श्रेष्ठ पद को पाने वाला, (२) इन्द्र को 'देवानाम्' अर्धभाक् कहा गया है । सभी देवता एक ओर, है और इन्द्र एक ओर अतः अर्धभाक हैं ।

'देवानामर्धऊभागसि'

अ. ६.८६.३

अर्धमास - महीने का आधा -पक्ष

'अर्धमासेभ्यः स्वाहा'

वाज.सं. २२.२८, तै.सं. ७.१.१५, मै.सं. ३.१२.७, १६२.१५, का.सं. (अश्व). १.६, तै.ब्रा. ३.१.६.१.

अर्धर्च - अर्ध +ऋच् =अर्धर्च । परमेश्वर का तेजोमय समृद्ध ज्ञानमय स्वरूप ।

'अर्द्धिर्चेन चाक्लृपुः विश्वमेजत्'

अ. ९.१०.१९

अर्भ - (१) बालक सर्प ।

'अर्भस्य तृप्रदंशिनः'

अ. ७.४९.३

(२) छोटा युद्ध ।

'नास्य वर्ता न तरुता महाधने
नार्भे अस्ति वज्रिणः'

ऋ. १.४०.८

बड़े संग्राम में या छोटे संग्राम में इसके सामने होने वाला कोई नहीं है (महाधने अर्भे अस्य वर्तान) और इसे परास्त कर इसके आगे बढ़ने वाला है (न तरुता) ।

अर्भक - (१) दभ (वधार्थक) से दभ्र बना है इसका अर्थ अल्प होता है , क्योकि अल्प पदार्थ सुच्छेद्य होता है । उसी प्रकार अर्भ +कप् =अर्भक का भी अर्थ अल्प होता है । अपहृतम् ह्रस्वम् ।

आधुनिकअर्थ - थोड़ा, छोटा, अल्प, सूक्ष्म । दुर्बल, पतला, मूर्ख, शिशु, पशु का बच्चा, ।

'नमो महद्भ्यो नमो अर्भकेभ्यः
नमो युवभ्यो नम आशिनेभ्यः।
यजाम देवान् यदि शक्नवाम
मा ज्यायसः शंसमा वृक्षि देवाः'

ऋ. १.२७.१३, ऐ.ब्रा. ७.१६.८, आश्व.श्रौ.सू. १.४.७, शां.श्रौ.सू. १५.२२, आप.श्रौ.सू. २४.१३.३, नि. ३.२०.

महान् परिणाम वाले देवों को नमस्कार, अल्प परिमाण वाले देवों को नमस्कार, व्यापी देवों को नमस्कार । हे श्रेष्ठ देवो, हम कम पढ़े लिखे भी देवताओं की प्रार्थना करते हैं । इस प्रकार स्तुति करने को आप यज्ञफल से वञ्चित करें । 'आशिनेभ्यः' का अर्थ स्वा.दयानन्द ने 'वृद्धेभ्यः' और देव का अर्थ विद्वान् किया है ।

(२) अन्यत्र ।

'कनीनकेव विद्रधे नवे द्रुपदे अर्भके
बभ्रू यामेषु शोभते ।'

ऋ. ४.३२.२३, नि. ४.१५

हे इन्द्र, दो पीली घोड़यां (बभ्रू) यज्ञों मे विद्ध (यामेषु विद्रधे) पादुकारण्य स्नान में अधिष्ठित नई कन्याओं की तरह (नवे कनीनिकेव) सोहती हैं ।

(३) बालक विद्या बल में अल्प, (४) पुत्र, (५) शिष्य ।

अर्भकदेवाः - (१) अल्प परिणाम वाले देवता -सा. (२) नए विद्वान् - (दया.) ।

अर्भग - (१) अर +भग =अर्भग । अत्यधिक

ऐश्वर्यवाला पुरुष -ज.दे.श.
(२) छोटा बालक -दया.

'यावर्भगाय विमदाय जायां
सेना जुवा न्यूहतू रथेन ।'

ऋ. १.११६.१.
जो अश्विद्वय या सत्य विज्ञान वाले शिल्पी अधिक अति ऐश्वर्यवान् विशेष हर्षोत्पादक युवा पुरुष के लिए (अर्भगाय विमदाय) उसकी स्त्री को और सेना को अपने साथ संचालन करने वाले रथ से सुरक्षित रूप से ले जाते हैं ।

अर्म - बड़ी सवारी ।
'अर्मेभ्यो हस्तिपम्'
वाज.सं. ३०.११, तै.ब्रा. ३.४.१.९.

अर्मक - पीड़ादायी व्यक्ति को दुःखदायी ।
'वैलस्थानके अर्मके'
ऋ. १.१३३.३

अर्मक वैलस्थानक - पीड़ादायी व्यक्तियों को दुःखदायी छोटे से बिल के समान बनाया हुआ कैदखाना जिसे cell कहते हैं ।

अर्थजारा - वह शूद्रा जिसका जार उसका वैश्य, स्वामी या मालिक है ।

'शूद्रा यदर्यजारा
न पोषाय धनायति ।'

वाज.सं. २३.३०, तै.सं. ७.४.१९.३, मै.सं. ३.१३.१, १६८.८, का.सं. (अश्व). ४.८, श.ब्रा. १३.२.९.८, तै.ब्रा. ३.९.७.३, शां.श्रौ.सू. १६.४.४.

अर्य - (१) ऋ +यत् =अर्य । स्वामी, वशयिता ईश्वर (आत्मीयाना इन्द्रिर्याणाम् ईश्वरः)
(२) संयमी, जितेन्द्रिय ।
'स शर्धदर्यो विषुणस्य जन्तोः'
ऋ. ७.२१.५, नि. ४.१९.
जो विघ्नकारी जीवों का रोकने वाला संयमी ब्रह्मचारी हो वह यज्ञ में आवे ।
'अर्यः स्वामिवैश्ययाः' पा. ३.१.१०३ । जर्मनी में नाम के पहले प्रयुक्त Herr शब्द इसी अर्य का अपभ्रंश प्रतीत होता है ।
(३) ईश्वरः स्तोमानाम् वाचस्पति ।
(४) वेदों का पूर्णज्ञाता-(दया.)

अर्यपत्नी - (१) स्वामी की पत्नी, (२) आर्य ललना ।
'यो अर्यपत्नीरुषसः चकार'
ऋ. ७.६.४, तै.ब्रा. २.४.७.९.
'यो अर्यपत्नी अकृणोत् इमा अपः'
ऋ. १०.४३.८, अ. २०.१७.८

अर्वन् - ईरण्वान् , अरणकुशलः अनर्वन् का अर्थ अपराश्रित या स्वतन्त्र किया गया है । इस प्रकार अर्वन् का अर्थ पराश्रयी भी होगा ।

'आ दधिक्राः शवसा पञ्चकृष्टीः
सूर्य इव ज्योतिषापस्ततान
सहस्रसाः शतसा वाज्यर्वा
पृणक्तु मध्वा समिमा वचांसि'

ऋ. ४.३८.१०, तै.सं. १.५.११.४, ऐ.ब्रा. ७.३३.१, आश्व, श्रौ.सू. २.१२.५, नि. १०.३१.
जो दधिक्रा देवता बल से देव, मनुष्य असुर, राक्षस, पितर या निषाद तथा चारों वर्णों के लिए उसी प्रकार जल फैला देते हैं जैसे सूर्य ज्योति । वह अग्नि शतसहस्र उदकों के दाता गतिमान है एवं अरण कुशल है । वे हमारी इन स्तुतिओं को जल से सम्बद्ध करें ।
आधुनिक अर्थ- अश्व, चन्द्रमा के दस घोड़ों में एक, इन्द्र, गोकर्ण, परिमाण

अर्यमन् - (१) अरि+यम्+कनिन्=अर्यमन् । अरीन् नियच्छति (शत्रुओं का नियन्त्रण करता है, (२) अरीणां तमसां नियन्ता (अन्धकार रूपी शत्रुओं का नियन्ता -सूर्य

'वामंवामं त आदुरे
देवो ददात्वर्यमा
वामं पूषा वामं भगो
वामं देवो करुडती'

ऋ. ४.३०.२४, नि. ६.३१
हे आदरवान् यजमान, सूर्य (अर्यमा देवः) तुझे दृष्ट धन दें (वामं ते ददातु) पूषा इपृ पदार्थ दे, भग इष्ट पदार्थ दे और करुड़ती देव इष्ट पदार्थ दे अर्थात् दन्त होने पर पूषा देव दे ।
(३) विद्वान्,

'नार्यमणं पुठयति नो सखायं
केवलाघो भवति केवलादी ।'

ऋ. १०.११७.६, तै.ब्रा. २.८.८.३.
(४) दिन रात का विभाजक सूर्य
(५) न्यायकारी विद्वान् -(दया.) ।

अर्यमस् , अर्यमा - न्यायकारी अर्यमा देवता
'चयत ईम् अर्यमो अप्रशस्तान्'

ऋ. १.१६७.८

अर्यम्य - (१) शत्रुओं या दुष्टपुरुषों को बन्धन में बांध ने वाला पुलिस (२) न्यायाधीश, न्यायकारी वर्ग ।

'अर्यभ्यं वरुणं मित्र्यं वा'

ऋ. ५.८५.७

अर्यमा - (१) अरि +यम +कनिन् =अर्यमन् (२) अरीन् नियच्छति । शत्रुओं का नियन्त्रण करता है, या अरीणां तमसां नियन्ता । अन्धकारों का नियमन करने वाला -आदित्य ।

'अतूर्तपन्थाः पुरुरथो अर्यमा
सप्तहोता विषुरूपेषु जन्मसु'

ऋ. १०.६४.५, नि. ११.२३.

'अर्यमा इति तमाहुः यो ददाति'

तै.सं. १.१.२.४

कन्या का दान करने वाला ।

'अयमायात्यर्यमा'

अ. ६.६०.१

अर्या - (१) गृह की स्वामिनी नववधू (२) उषा ।

'कृष्णात् उदस्थात् अर्याविहायाः
चिकित्सन्ती मानुषाय क्षयाय'

ऋ. १.१२३.१

अपने पिता ने शोकातुर गृह से (कृष्णात्) नववधू (अर्या) अपने पति सम्बन्धी गृह को प्राप्त करने के लिए (मानुषाय क्षपाय) अपना मनोरथ करती हुई (चिकित्सन्ती) विशेष आदर युक्त होकर (विहायाः) उस रथ पर चढ़े (उत् अस्थात्)

(३) समर्थ गति, शीघ्रगति, रथगति या दैवगति ।

'तिरश्चिदर्यमा परि'

ऋ. ५.७५.७, नि. ३.२०

हे अश्विनीद्वय, प्राप्त या अप्राप्त स्थान में (तिरश्चित्) स्थित होकर या दूर देश से भी परिवर्त्तन कर आओ ।

अर्योगयः - दानशील पुरुष शत्रु के लिए भी गृह के समान आश्रमरूप परमेश्वर ।

'अर्योगयं मंहमानं विदाशुषे'

ऋ. ८.२४.२२, अ. २०.६६.१

अर्वत् - अश्व, तुरंग ।

'अर्वद्भिरस्तु तरुता'

ऋ. १.२७.९, साम. २.७६७.

घोड़ो से संग्राम को पार करने वाला ....।

अवती - (१)नीची बहती नदी, (२) अधीन महती शक्ति, (३) प्रकृति की विकृति ।

'सर्गो न सृष्टो अर्वती ऋतायन्'

ऋ. ७.८७.१, का.सं. १२.१५

(४) विद्वान् की ज्ञान वाणी, (५) अश्वसेना ।

(६) बलवती कन्या ।

'तमिद्गच्छन्ति जुह्वः तमर्वतीः'

ऋ. १.१४५.३

उस शिष्य को ही वेद वाणियां तथा विद्वानों की ज्ञान वाणियां (अर्वतीः) प्राप्त होती हैं । अथवा वेद वाणियों और विद्वानों की सब वाणियां आचार्य को प्राप्त हैं । अथवा, राजा को शत्रु की ललकार और अश्व सेनाएं प्राप्त होती हैं । अथवा, विद्वान् को ज्ञानवती और बलवती कन्या (अर्वती) प्राप्त होती हैं ।

अर्वा - शीघ्र गमन करने वाली, (२) ज्ञानी पुरुष, (३) व्यापक आत्मा ।

अर्वाक्, अर्वाञ्च - (१) समीपवर्ती देश, ।

'अर्वाके आस्ति भेषजम्'

ऋ. ८.९.१५, अ. २०.१४१.५

(२) अर्वाचीन

'बर्हिषदः पितरः ऊत्यर्वाक्'

ऋ. १०.१५.४, अ. १८.१.५१, वाज.सं. १९.५५, तै.सं. २.६.१२.२, मै.सं. ४.१०.६ १५६.१२ का.सं. २१.१४, आश्व.श्रौ.सू. २.१९.२२.

(हे यज्ञ में बैठने वालो ! आप हम अर्वाचीनों की रक्षा करें ।)

(३) आभिमुख्येन (सामने), तरफ, प्रति, सामने की ओर, इस ओर, नीचे या पीछे, आगामी । निकट, अभ्यन्तर, आधुनिक

'ज्मया अत्र वसवो रन्त देवा
उरावन्तरिक्षे मर्जयन्त शुभ्राः
अर्वाक्पथ उरुज्रयः कृणुध्वम्
श्रोता दूतस्य जग्मुषो नो अस्य'

ऋ. ७.३९.३, नि. १२.४३

जो पृथ्वी के देवता इस लोक में हैं और जो यजमानों सुन्दर धन प्राप्त कराने वाले विस्तृत अन्तरिक्ष वर्तमान हैं वे दोनों स्थानों के देवता तथा स्वर्ग के देवता आप तीनों स्थानों के देवता गण को मैं प्रार्थना करता हूँ कि हमारे इस

आपके निकट जाने वाले अग्नि रूप दूत के आह्वान को आप सुनें तथा सुनकर सामने से (अर्वाक्) बहुत प्रकार के आगमन मार्गों को बना (उरुज्रयः पथः कृणुध्वम्) ।

अर्वाक्वसुः - अन्न समृद्धि देने वाला ।

'अयमुपर्यर्वाक् वसुः'

वाज.सं. १५.१९, तै.सं. ४.४.३.२, मै.सं. २.८.१०, ११५.५, का.सं. १७.९, श.ब्रा. ८.६.१.२०.

अर्वाञ्च् - आभिमुख्येन (सामने) Yonder, तरफ सामने की ओर, इस ओर, नीचे या पीछे, आगामी, निकट, अभ्यन्तर आधुनिक ।

अर्वाञ्चः - (बः व.) (१) समीपवर्ती, (२) इस जगत में कार्य रूप से दीखने वाले जल आदि, (३) इस लोक को छोड़कर ब्रह्मलोक प्राप्त जीव, (४) निकटस्थित ग्रह ।

'ये अर्वाञ्चःतां उ पराच आहुः
ये पराञ्चः तां उ अर्वाच आहुः'

ऋ. १.१६४.१९, अ. ९.९.१९, जै.ब्रा. २.५१.३.

अर्वाञ्चा - (द्वि.व.) (१) अश्विद्वय का विशेषण, (२) घोड़े के समान वेग वाले ।

'अर्वाञ्चा वाँ सप्तयो अध्वरश्रियः
वहन्तु सवने दुप ।'

ऋ. १.४७.८

अर्वाची - (१) भूतल के नीच जाने वाली सीता-हल की फार ।

'अर्वाची सुभगे भव'

ऋ. ४.५७.६, अ. ३.१७.८, तै.आ. ७.७.२.

(२) प्राची के समीप की कोणदिशा अर्वाची है

'अर्वाच्यै दिशेस्वाहा'

वाज.सं. २२.२४.२७, मै.सं. ३.१२.८,१६३.४, ५,६

अर्वाचीनः - (१) आगे से बढ़ा हुआ, (२) वर्तमान में विद्यमान ।

'अर्वाचीनः परिवीतो निषीद'

ऋ. ४.३.२

अर्वान् - (१) ज्ञानवान् (२) बलवान् ।

'उप प्रागात् परमं यत् सधस्थम्
अर्वान् अच्छा पितरं मातरं च ।'

ऋ. १.१६३.१३, वाज.सं. २९.२४, तै.सं. ४.६.७.५, का.सं. (अश्व) ६ .३, श.ब्रा. १३.५.१.१७, १८.

अर्वावत् - (१) समीप का देश ।

'अर्वावतो न आगहि'

ऋ. ३.३७.११, ४०.८, अ. २०.६.८, २०.४,५७.७, मै.सं. ४.१२.३, १८४.९

(२) समीप में स्थित आत्मा ।

'ये अर्वावति सुन्विरे'

ऋ. ८.९३.६, ९.६५.२२, अ. २०.११२.३, साम. २.५१३.

अर्वाहः - शरीर में जुते हुए ।

'अयन् महा ते अर्वाहः'

अ. २०.१२९.११

अर्बुद - (१) जलद् मेघ ।

'न्यर्बुदं वावृधानो अस्तः'

ऋ. २.११.२०

'वि मूर्धानम् अभिनत् अर्बुदस्य'

ऋ. १०.६७.१२, अ. २०.९१.१२

(२) अम्बुदः मेघः (अरणशीलः अम्बु तत् ददाति इति अम्बुदः) वह जिस प्रकार खूब बरसता है और अपरिमित होता है उसी प्रकार अर्बुद भी अपरिमित समझा जाता है (स यथा महान् बहु भवति वर्षन् तदिव अर्बुदम्)। जैसे अरणशीलम् अम्बु है वैसे ही अरणशील अर्बु है ।

अर्बुद संख्या अपरिमित द्रव्य का वाचक है । अर्बुद (अरव) सौ करोड़ो का होता है ।

(३) एक व्रण ।

'अर्बुदञ्च न्यर्बुदञ्च'

वाज.सं. १७.२ तै.सं. ४.४.११.३, मै.सं. २.८.१४, ११८.१५, का.सं . १७.१०.

(४) प्रजा को दुख देने वाला ।

'न्यर्बुदस्य विष्टपम् वर्ष्माणं बृहस्पतस्तिर'

ऋ. ८.३२.३

आधुनिक अर्थ फोड़ा भी है

अर्तुदस्य मूर्धा - (१) मेघ का मुख्य अंशजल (२) देह का मूर्धा भाग अर्थात् सूर्यचक्र ।

अर्वुदि - लक्ष्य देने का अधिपति ।

अर्श - (१) शिकारी ।

'क्रमस्वर्श इव रोहितम्'

अ. ४.४.७, ६.१०१.३

(२) अश्लील, (३) पाप युक्त । इन दिनों अर्श का अर्थ बवासीर है । बवासीर अश्लील है । नञ् +श्रिञ् (सेवा करना) + अ =अश्र =अर्श (श्रिञ् के इ का लोप)

अर्शस् - बवासीर ।
'अर्शस उपचितामसि'
वाज.सं. १२.९७

अर्शसा अर्शसन् - समीप आया प्रजा को मारता हुआ शत्रुगण ।
'न्यर्शसानमोषति'
ऋ. १.१३०.८,८.१२.९.
समीप आए प्रजा और अपनी सेना को मारते हुए शत्रु गण को (अर्शसानम्) सर्वथा भस्म करे (नि ओषति) ।

अर्शसानः - नाशकारी रोग और अन्धकार

अर्ष - (१) पकड़ना , लिपटना ।
'ता अर्षन्ति शुभ्रियः'
अ. २०.४८.२
(२) प्राप्त होना, (३) जाना ।
'तस्मा अर्षन्ति दिव्या असश्चतः'
ऋ. २.२५.४.
(४) पहुँचना ।
'आशुरर्ष बृहन्मते'
ऋ. ९.३९.१, साम. २.२४८.

अर्षनी - तीव्र पीड़ा नामक जनक रोगमात्रा ।
'मूर्धानं प्रति अर्षणीः'
अ. ९.८.१३

अर्षत् - गति करता हुआ ।
'नैनद्देवा आप्नुवन् पूर्वम् अर्षत्'
वाज.सं. ४०.४, वाज.सं. (का.) ४०.४, ईश.उप. ४.

अर्हणा - (१) अर्चना ।
'प्र ये न्वस्यार्हणा ततक्षिरे'
ऋ. १०.९२.७
(२) पूजा, (३) मान आदर करने योग्य, ।
(४) भक्तिपूर्वक दिया हुआ ।
'आदद्धव्यानि आददिः
यज्ञस्य केतुरर्हणा'
ऋ.१.१२७.६
और अग्नि जिस प्रकार यज्ञ का ज्ञापक मुख्य आश्रय होता है (यज्ञस्य केतुः) और सब पदार्थों को अपने में लेने में समर्थ होने से (आददिः) यज्ञोपासना में भक्ति पूर्वक दिये सब चरु पदार्थों को ग्रहण करता है (अर्हणा हव्यानि आदद्) उसी प्रकार व्यापक सुव्यवस्थित प्रजापालनकारी राष्ट्र और सैन्य दलके संगठन तथा प्रजापति पद का मुख्य ध्वजा के समान उच्च होकर पूजा, मान आदर करने योग्य समस्त उत्तम अन्नो और ग्राह्य ऐश्वर्यों को सब प्रकार से स्वीकार करता है (आदद्) ।

अर्हत् - पूज्य ।
'इमं स्तोमम् अर्हते जातवेदसे'
ऋ. १.९४.१, अ. २०.१३.३, साम.१.६६, २.४१४, मै.सं. २.७.३, ७८.१, ऐ. ब्रा. ६.१२.१२, कौ.ब्रा. २३.८, गो.ब्रा. २.२.२२, पंच.ब्रा. १३.८. १, ऐ.आ. १.५.३.१४, आश्व. श्रौ. सू. ५.५.१९, साम.मं.ब्रा. २.५.२, हि.गृ.सू. १.९.४, आप.मं.पा. २.७.१.

अर्हन् - (१) अन्यो का सत्कार करने वाला ।
'ईडितो अग्ने मनसानो अर्हन्'
ऋ. २.३.३
(२) योग्य, समर्थ ।
'अर्हन् बिमर्षि सायकानि धन्वा'
ऋ. २.३३.१०, मै.सं. ४.९.४, १२४.१०, कौ.ब्रा. ८.४, तै.आ. ४.५.७, ५.४.१०.

अर्हरिष्वणिः - (१) अर्ह +रिष् +वणि =अर्हरिष्वणि । यो अर्हन् हिंसकान् च संभजति (जो अर्ह और हिंसकों का विवेक करता है) । अहिंसक धार्मिक और पापी का विवेचक , (२) पूज्य और शत्रुओं का विवेचक, (३) वेगवान् धनापहारी पुरुषों को अपने प्रताप से रुलाने वाला ।

अराजी - दीप्ति हीन, (२) राजा के विपरीत उच्छृंखल, द्रोही ।
'विवृत्रं पर्वशोययुः
विपर्वतां अराजिनः'
ऋ. ८.७.२३

अराटकीः - (१) रोगनाशक ।
'अजश्रृंगी अराटकी'
अ. ४.३७.६

अरातिः - (१) मानसिक अनुदारता, अदानशीलता
'तन्मा तारीन्निर्ऋतिर्मो अरातिः'
ऋ. ६.१२४.३
(२) (सं) नहीं देने, वाला, (३) शत्रु 'या मे दूरे तड़तो या अरातयः' मैं इसे यह न दूं ऐसी बुद्धि वाला, (६) षट् (छः) , क्योकि काम क्रोध आदि छः शत्रु भी अराति हैं , (७) अमित्र ।

'आदाय श्येनो अभरत् सोमम्
सहस्त्रं सवां अयुतं च साकम्
अत्रा पुरन्धिः अजहात् अरातीः
मदे सोमस्य मूरा अमूरः'

ऋ. ४.२६.७, नि. ११.२.

इन्द्र ने (श्येनः) सोम लेकर पान किया (सोमम् आदाय अभरत्) जहाँ पर ऋत्विज् सोम रस और दक्षिणा से युक्त सहस्रों यज्ञ करते हैं (सहस्रम् अयुत्तम् च सवान्) । यहां प्रचुर धन देने वाले इन्द्र ने (पुरन्ध्रिः) सोम के मद में भी स्वयं अमूढ़ (सोमस्य मदे अमूढ़ः) शत्रुओं को मूढ़ बना प्राणों से हीन किया (मूरा अरातीः अजेहात्) ।

अराति दूषण - शत्रुओं का नाशक ।

'जङ्गिड नामक यन्त्र
अथो अरातिदूषणः'

अ. १९.३४.४

अरातिदूषि - अदान अर्थात् कञ्जूसी भावों का नाशक ।

'अथो अरातिदूषिः'

अ. २.४.६

अरातिक - (१) अदानशील, (२) शत्रुओं का संगी ।

'अरातीवा मर्तः सानुको वृकः'

ऋ. २.२३.७

अरातीयत् - शत्रुवत् आचरण करने वाला या करता हुआ ।

'अरातीयतो निदहाति वेदः'

ऋ. १.९९.१. ऋ.खि. १०.१२७.६, तै.आ. १०.२.१, महा.ना.उप. ६.२, नि. १४.३३.

(वह शत्रुता करने वाले का धन या ज्ञान भस्म करता है ।)

अराति से नाम धातु कर अरातीयति होता है । शतृ प्रत्यय कर अरातीयत् बनता है ।

अरातीयुः - कर ने देने वाला ।

'अरातीयोः भ्रातृव्यस्य'

ऋ. १०.६.१

अरातीवा - (१) अदानशील ।

'अरातीवा मर्चयति द्वयेन'

ऋ. १.१४७.४

(२) शत्रुभाव से युक्त जन ।

'अरातीवा मा नस्तारीत्'

ऋ. ९.११४.४

अराधस् , अराधाः - (१) आराधना से रहित ।

'यदा पणींरराधसः'

ऋ. ८.६४.२, अ. २०.९३.२, साम. २.७०५.

(२) नञ्+राध्+असुन् =आराधस् । अराधना या यज्ञ न करने वाला ।

'कदा मर्तमराधसं यदा क्षुम्पमिव स्फुरत् ।'

ऋ. १.८४.८, अ. २०.६३.५, साम. २.६९३, नि. ५.१७.

यज्ञ आराधना न करने वाले मनुष्य को इन्द्र या परमात्मा कब सांप के छाते के समान नष्ट कर देंगे ।

(३) अनुदार, अदानशील

'कृतागसो देव पीयो रराधसः'

अ. १२.५.६०,६५.

अराधाःपणिः - यज्ञार्थ या दान पुण्य के लिए धन या करआदि से रहित केवल धन का व्यवहार करने वाला, (२) बिना धन के व्यापार करने वाला दिवालिया ।

'यदा पणींरराधसः
निबाधस्व महां असि'

ऋ. ८.६४.२, अ. २०.९३.२, साम. २.७०५.

अराधि - (१) कार्य में सिद्धि न होना, (१) दरिद्रता, (३) बड़ी कन्या के अविवाहित रहते छोटी कन्या का विवाह करने वाला पुरुष ।

'अराध्या एदिधिषुः पतिम्'

वाज.सं. ३०.९

अराय - (१) अलक्ष्मीक , (२) कुलक्षण (३) दरिद्र।

'अराया नस्या मुष्काभ्याम्'

अ. ८.६.४

(४) देह की पुष्टि, कान्ति और लक्ष्मी का नाशक

'अरायम् असृक् पावानम्'

अ. २.२५.३

(५) नञ् +राय =अराय, निर्धन ।

'अरायेभ्यो जिघत्सुभ्यः'

अ. ८.२.२०

(६) दूसरे का अधिकार हरण ने करने वाला ।

'न पापासो मनामहे
नारायसो न जल्हवः
यदिन्विन्द्रं वृषणं सचा
सुते सखायं कृणवामहे'

ऋ. ८.६१.११, नि. ६.२५.

हम पापी नहीं हैं। हम निर्धन नहीं है, और न हम धनी होने हेतु अनाहिताग्नि हैं (जल्हवः) अतः हम इनको मानते हैं जिस कारण से यहां हम मनोरथ पूर्ण करने वाले इन्द्र को (यत् इत् न) सोमरस तैयार होने पर इस रस के साथ (सचा) सखा बनाते हैं।

पापियों यज्ञहीनों एवं निर्धनों को इन्द्र पूजक होने का अधिकार नहीं।

अरायक्षयण – दान न करने वालों, कंजूस स्वार्थी, अनुदार पुरुषों का नाशक परमेश्वर।

'अरायक्ष्यणमस्यरायचातनं मे दाः स्वाहा'

अ. २.१८.३

अरायचातन – लोलुप, अदानशील पुरुषों का नाश करने वाला।

'अरायचातनं मेदाः स्वाहा'

अ. २.१८.३

अराय्यः – समृद्धि सम्पत्ति और उत्तम गुणों रहित दुष्ट वृत्ति।

'रक्षो अम्वम् अराय्यः'

अ. ४.१७.५, ७.२३.१.

अरायी – (१) अदानशीला, दुर्भिक्षाधिदेवता के विशेषण रूप में प्रयुक्त।

रायि-धन देने वाला। नञ् + रा + णि + युक् + ङीष् = अरायी।

'अरायि काणे विकटे
गिरं गच्छ सदान्वे
शिरिम्बिठस्य सत्वभिः
ते भिष्ट्वा चातयामसि'

ऋ. १०.१५५.१, नि. ६.३०.

भरद्वाज के पुत्र शिरिम्बिठ ऋषि ने दरिद्र हो जाने पर इस मन्त्र के जप से दारिद्र्य हटा दिया। मुख भर जल में खड़े होकर इस मन्त्र का जप आज भी करते हैं। आर्य समाजी विद्वान् शिरिम्बिठ का अर्थ मेघ करते हैं।

हे अदानशीले दुर्भिक्षाधिदेवते। अथवा हे अलक्ष्मि! हे कुत्सित दर्शने! (काणे) विकृताङ्गि या कुब्जे (विकटे), हे सदा न दो न दो कहने वाली (सदान्वे) तू पहाड़ पर चली जा नहीं तो मेघ के शिरिम्बिठ ऋषि के उन प्रसिद्ध चल रूपी सत्वो से हम तुम्हे नष्ट कर देंगें।

(२) जो मनुष्य को लक्ष्मी या शोभा से रहित करने वाली है।

'तत्र सन्त्वराय्यः'

अ. २.१४.३

अरालागू – अन्तरिक्ष में स्थित।

'अरालागुदभर्तर्थ'

अ. २०.१३४.१.

अरावन् – अ + रावन। अदानशील, अति कृपण।

'पाहिधूर्तेरराव्णः'

ऋ. १.३६.१५

हे अग्नि! हमें अदानशील, अतिकृपण विश्वासघाती धूर्त हिंसक से रक्षाकर।

अरावा – (१) शत्रु, (२) वचन आदि से रहित धूर्तजन।

'नू चित् यमन्य आदभत् अरावा'

ऋ. ७.५६.१५.

(३) अदानशील।

'अरावा चन मर्त्यः'

ऋ. ८.२८.४.

'मान नो निदेच वक्तवे
'अर्यो रन्धीरराव्णे'

ऋ. ७.३१.५, अ. २०.१८.५.

अरि – (१)ऐश्वर्य वान् स्वामी, (२) सुखों और धनों को प्राप्त कराने वाला।

'पुरुत्वा दाश्वान वोचेऽरिरग्ने तव स्विदा'

ऋ. १.१५०.१, साम. १.९७. नि. ५.७.

हे विद्वन् नायक प्रभो! मैं दानशील ऐश्वर्यवान् स्वामी और सुखों और धनों को प्राप्त कराने वाला होकर (अरिः) तुझे बहुत कुछ स्तुति करूं (पुरु वोचे)।

(३) सबको कष्ट देने वाला शत्रु।

'अपेह्यरिरस्थ रिर्वाअसि'

अ. ७.८८.१

(४) आगे बढ़ने वाला।

'अर्यो विपो जनानाम्'

ऋ. ८.१.४, अ. २०.८५.४

(५) प्रजा।

'प्रजा वाऽअरिः'

श.ब्रा. ३.९.४.२१

(६) स्वामी।

'अर्यो गयं मंहमानम् वि दाशुषे'

ऋ. ८.२४.२२, अ. २०.६६.१

(७) सेवक । ऋ (हिंसार्थक धातु) +इ =अरि

(८) ईश्वर । (परिचरणार्थक) +इ = अरि । ईश्वरः सेव्यते (ईश्वर की परिचर्या की जाती है)

सेवक के अर्थ में प्रयोग-

'पुरुत्वा दाश्वान् वोचेऽरिरग्ने तव स्विदा ।
तोदस्ये व शरण आमहस्य ।'

ऋ. १.१५०.१, साम. १.९७, नि. ५.७.

हे अग्ने । तुझे बहुत दान देकर तेरा ही सेवक (तव स्विद् अरिः) मैं तुझे पुकारता हूँ या अनेक वरदान मांगता हूँ (वोचे), क्योंकि जैसे महान् विदीर्ण भूखण्ड के बिल में (महस्य तोदस्य इव शरणे) चारों ओर से पानी आने पर भी बिल नहीं भरता उसी प्रकार तू भी अपिरमित है । अनेकों यजमान तेरे लिए या अन्य देवों के लिए हवि देते हैं पर तू ऊबता नहीं ।

(९) ऋ +र =अरि । अच्छति गृह्णाति अन्यायेन इति अरिः । जो अन्याय से सुखों या धनों का ग्रहण करता है ।

(१०) ऋच्छति सुखानि च यः सोऽरिः-दया. (उत्तम सुखों को प्राप्त होने वाला)

(११) अनुष्ठेय कर्मों को करने वाला यजमान इयन्ति गच्छति अनुष्ठेय कर्म इति अरिः यजमानः ।

(१२) सुखों का लिप्सु पुरुष ।

'सुते सुते न्योकसे
बृहत् बृहत एदरिः'

ऋ. १.९.१०, अ. २०.७१.१६

सुखों का लिप्सु पुरुष प्रत्येक ऐश्वर्य की प्राप्ति में परमेश्वर के महान् बल की स्तुति करता है ।

(१३) व्यापक स्वामी, प्रभु ।

'अगो ररिरा चिकेत'

ऋ. ८.२.१४

(१४) स्वामी राजा ।

'ब्रवद् यथा न आदरिः सुदास'

ऋ. ७.६४.३.

'अम्ब निष्पर समरीः विदग्म्'

वाज.सं. ६.३६, तै.सं. १.४.१.२, ६.४.४.३, मै.सं. १.३.४, ३२.१, ४.५.७, ७३.२०, का.सं. ३.१०, श.ब्रा. ३.९.४.२१, आप.श्रौ.सू. १२.९ .९.

(१५) जल,(१६) वेग से चलने वाला वायु

'ऊर्जं सप्त पदी मरिः'

ऋ. ८.७२.१६

अरिगूर्त - शत्रुओं पर उद्यत् ।

'इषश्च पर्षत् अरिगूर्त सूरिः'

ऋ. १.१८६.३

अरित्र - काम, क्रोध आदि अरिवर्ग से रक्षा करने के साधन ।

'अरित्राणि हिरण्यया'

अ. ५.४.५

अदित्रपरणी - अदित्रद्वारा पार करने योग्य नौका ।

'नावम रित्रपरिणीं कृणुध्वम्'

ऋ. १०.१०१.२

अरिता, अरितृ - (पु.) ईरयिता । ईर् +तृच् कर्णधार ।

'इयर्तिवाचम् अरितेव नावम्'

ऋ. २.४२.१, ९.९५.२

अरिधायस् - (१) अरि +धायस् । ऐश्वर्यवान् स्वामी को धारण पोषण करने में समर्थ, (२) विपक्ष के शत्रु को थाम लेने वाला (३) आत्मा रूपी स्वामी को धारण करने वाला प्राण ।

'त्रीन् युक्तान् अष्टावरिधायसोगाः
सुबन्धवो ये विश्या इव ब्रा
अनस्वन्तः श्रव ऐषन्त पज्राः ।'

ऋ. १.१२६.५

जो शरीर में एकत्र सुबद्ध प्राण (सुबन्धवः पज्राः) आत्मा रूपी स्वामी को धारण करने वाले हैं (अरिधायसः) शरीर, जीवन को धारण करने वाले हैं (अनस्वन्तः) और वे अन्न चाहते हैं (श्रव ऐषन्त) अथवा हे उत्तम सम्बन्धों से सम्बद्ध, परस्पर प्रेम और विद्या सम्बन्ध तथा योनि-सम्बन्ध से बंधे हुए (सुबन्धवः) ज्ञानी विद्वान् पुरुष (प्रजाः) प्रजाजनों में उत्तम धनवान् वैश्य पुरुष (विश्याः) गाड़ियों के स्वामी होकर (अनस्वन्तः) जिस प्रकार वरण करने योग्य उत्तम स्त्रियों, प्रजा तथा अन्न, यश, धन चाहते हैं, मैं अध्यक्ष आपमें से उत्तम राति से कार्य करने योग्य कुशल तीन मुख्य पुरुषों और आठ प्रमुख सभासदों को ऐश्वर्यवान् स्वामी को धारण करने में समर्थ या शत्रु को थाम लेने वाला (अरिधायसः) जान शकट में लगे बैलों के समान (अनस्वन्तः) उत्तम पुरुषों और आप लोगों

के उत्कृष्ट प्रयत्नो में भी धारण करते हैं ।

अरिप्र - निष्पाप । अ +रिप्र ।

'तं वो वयं शुचिमरिप्रमद्य'

ऋ. ७.४७.१

'अरिप्रा आपो अप रिप्र मस्मत्'

अ. १०.५.२४, १६.१.१०

अरिषण्यन् - (१) अपने शरीर से हिंसा आदि अधर्म न करने वालाइन्द्र का विशेषण ।

'त्वं ह त्यद् इन्द्र अरिषण्यन्'

ऋ. १.६३.५

(२) 'अजिघांसन्' । दुर्ग के मत से 'अहिंस्यमानः'। रिष् (हिंसा करना) + क्यच् (इच्छार्थक) + शतृ = रिषण्यन् (हिंसा करने की इच्छा करता हुआ) नञ् + रिषण्यन् =अरिषण्यन् (हिंसा करने की इच्छा न करता हुआ) । रिष् धातु से ही 'रिसियाना' क्रुद्ध होने के अर्थ में हिन्दी में प्रयुक्त हो रहा है ।

'मेद्यन्तु ते वह्नयो येभिरीयसे
अरिषण्यन् वीडयस्वा वनस्पते ।
आयूया धृष्णो अभिगूर्या त्वम्
नेष्ट्रात् सोमं द्रविणोद पिब ऋतुभिः'

ऋ. २.३७.३, नि. ८.३

हे वनस्पते ! हे द्रविणोद नामक अग्ने । तेरे घोड़े (वह्नयः) जिनसे तू नित्य चलता है (ईयसे) तृप्त होवें (मेद्यन्तु) और तू भी हिंसा की इच्छा न करता हुआ (अरिषण्यन्) अपने को दृढ़कर (वीडयस्व), उसके बाद हे शत्रु धर्षक (धृष्णो) सोमरस को खूब मिलाकर (सोमम् आयूय) तथा खूब पलटकर (अभिगूर्य) यज्ञ स्थान से (नेष्ट्रात्) ऋतुओं के साथ पान कर (ऋतुभिःपिब) । अथवा, हे वृष्टि जल की रक्षा करने वाले (वनस्पते), हे द्रविणोद नामक अग्नि, तेरे रथ के वाहक, ज्वाला से (रथस्य वह्नयः) जिनसे तू चलता है घृताहुति से स्निग्ध हो (मेद्यन्तु) ।

अरिष्टः - अहिंसित, अपीडित

'अरिष्टःसर्व एधते'

ऋ. १.४१.२, ८.२७.१६.

(वह किसी प्रकार भी अहिंसित या अपीड़त न होकर सबगुणों से बढ़ता है ।)

अरिष्टगातुः - (१) जिसका गमन अहिंसा मय पीड़ा-रहित हो, (२) अहिंसित वाणी वाला-दया. (३) भूमि वासी प्रजाओं को बिना पीड़ा दिए ही अविघ्न मार्ग से जाता हुआ ।

'अरिसृगातुः स होता स हो भरिः'

ऋ. ५.४४.३

अरिष्ठग्नामः - (१) अप्रतिहत संघः (जिसका संघ या साथ अप्रतिहत हो) मरुतों का विशेषण (२) संघ शक्ति से सम्पन्न तेजस्वी विद्वान् -(दया.) ।

अरिष्टग्रामाः - (१) सदा साथ रहने वाले मरुद्गण (२) संघ शक्ति सम्पन्न विद्वज्जन -(दया.)

'यूयं न उग्रा मरुतः सुचेतुना
अरिष्टग्रामाः सुमतिं पिपर्तन ।'

ऋ. १.१६६.६.

हे उग्र मरुतो ! सुन्दर बुद्धि वाले आप (सुचेतेना) तथा सुन्दर सदा साथ रहने वाले (अरिष्टग्रामाः) आप हमारी बुद्धि को (नः सुमतिम् । पूर्ण करें (पिपर्तन) ।-सा.

अथवा हे संघ शक्ति से सम्पन्न तेजस्वी विद्वानो ! (अरिष्ट ग्रामाः उग्राः मरुतः) आप हमारी शिक्षा को (नः सुमतिम्) विज्ञान से (सुचेतुना) परिपूर्ण करो (पिपर्तन) -(दया.)

(३) अपने जन संघों, ग्रामों और प्राण-समूहों को नष्ट न होते देते हुए-मरुतों का विशेषण

अरिष्टतातिः - (१) मृत्यु -नाशक उपाय ।

'आ त्वागमं शन्तातिभिरथो
अरिष्टतातिभिः'

ऋ. १०.१३७.४, अ. ४.१३.५.

(२) अरिष्ट से रक्षा

'मह्या अरिष्टतातये'

-अ. ३.५.५, ८.५.२०

अरिष्टनेमिः - (१) दुःखों का विनाशक -सूर्य ।

'अरिष्टनेमिं परि द्यामियानं'

ऋ. १.१८०.१०

(२)अप्रतिहत वज्र जिसके वज्र का प्रहार कोई रोक नहीं सकता, ।

(३) दृढ़ व्रत का निर्माता

'त्यमूषु वाजिनं देवजूतं
सहावानं तुरुतारं रथानाम्
अरिष्टनेमिंपृतनाजमाशुं
स्वस्तये तार्क्ष्य मिहा हुवेम'

ऋ. १०.१७८.१, अ. ७.८५.१, साम. १.३३२, ऐ.ब्रा.

४.२०.२२, २९.१६, ३१. १४, ५.१.२२, ४.२३, ७.९, १२.८, १६.२९, १८.२५, २०.२१, कौ.ब्रा. २५.८, श.ब्रा. ५.१, अ.ब्रा. १. ऐ,आ. ५.३.१.२, आश्व.श्रौ.सू. ७.१.१३, नि. १०.२८.

हम उस प्रसिद्ध भयदाता बलवान् (वाजिनम्) देवों के साथ आंए हुए (देवजूतम्) बलवान (सहावानम्) रथों के तारयिता रथानां तरुतारम्) अप्रतिहत वज्रप्रहार (अप्रतिहत नेमिम्) सेनाओं के विजयिता (पृतनाजम्) ताक्ष्ये को इस कार्य में अपने कल्याण के लिए (स्वस्तये) बुलाते हैं (.आहुवेम) ।

(४) हिंसन पीड़नादि से रहित मार्ग पर ले जाने वाला नायक ।

'अरिष्टनेमे अभिनः सचस्व'

ऋ. ३.५३.१७

(५) अरिष्टानां दुःखानां तेभिः वज्रवत् छेत्ता (दुःखों का वज्र के समान छेदन करने वाला-परमेश्वर) (६) रथ चक्र की नहीं टूटने वाली धारा (७) अटूट दृढ़ हथियारों से युक्त ।

(८) दुष्टों का नाशक-परमेश्वर ।

'स्वस्तिनः ताक्ष्यों अरिष्टनेमिः'

ऋ. १.८९.६, साम. २.१२२५, वाज.सं. २५.१९, मै.सं. ४.९.२७: १४०.१, का.सं. ३५.१, तै.आ. १.१.१, २.१.३, १०.१.९, आप.श्रौ.सू. १४.१६ नृसिंह.पू.ता.उप.१.

(९) अहिंसित नियमन शक्ति वाला ।

'तस्य तार्क्षयश्चारिष्टनेमिश्च
सेनानी ग्रामण्यौ ।'

वाज.सं. १५.१८, तै.सं. ४.४.३.२, मै.सं. २.८.१०, ११५.६, का.सं. १७ .९, श.ब्रा. ८.६.१.१९.

अरिष्टभर्मा - (१) अरिष्ट अर्थात् सुखों को पूर्ण करने वाली, (२) अहिंसित बालक पुत्रों का पोषण करने वाली ।

'देवेभिर्देव्यदिते अरिष्टभर्मन् आगहि ।'

ऋ. ८.१८.४

अरिष्टवीरः - (१) आरोग्य युक्त सामर्थ्य वाला ।

'अरिष्टवीरा उपसंचरेम'

अ. ३.१२.१, हि.गृ.सू. १.२७.२.

(२) अहिंसित वीर पुरुषों और पुत्रों से युक्त

'अरिष्ट वीरा जुहवाम तेहविः'

ऋ. १.११४.३, का.सं. ४०.११, आप.श्रौ.सू. १७.२२.१

अरिंष्टासू - अरिष्ट +असू (१) जिनके असु अर्थात् प्राण सुरक्षित हैं वे पति पत्नी,

'अरिष्टासू सचेवहि'

अ.१४.२.७२ ,

अरिष्टि - (१) नाश का न होना ।

'अरि अश्वसादम्'

वाज.सं. ३०.१३, तै.ब्रा. ३.४.१.७.

(२) रोग-राहित्य ।

'पोषं रयीणाम् अरिष्टि तनूनाम्'

ऋ.२.२.२१.६

अरिष्टन् - कभी नाश को न प्राप्त हुआ ।

'अरिष्यन्तः सचेमहि'

ऋ.२.८.६.

अर्किणः - ऋग्वेदी होता ।

'इन्द्रमर्केभिरर्किणः'

ऋ. १.७.१, अ. २०.३८.४,४७.४,७०.७, साम १.१९८,२.१४६, तै.सं.१. ६.१२.२, मै.सं. २.१३.६, १५४.१५, का.सं. ८.१६, ३९.१२, तै.ब्रा. १ .५.८.२.

हे ऋग्वेदी होताओ ! आप ऋग्वेद के मन्त्रों से इन्द्र का ही अनुष्ठान करें ।

अर्चिवत् - (१) अर्चि +वतुप् । तेद से युक्त-नक्षत्र, सूर्य (२) आदर सत्कार योग्य ।

'उद्यन्नक्षत्रमर्चिवत्'

ऋ. ७.८१.२, साम .२.१०.२

अर्पिताः - अर्प +क्त +जस् =अर्पिताः । अर्पित किये गए हैं, (२) ठोके गए हैं ।

'तास्मिन् त्साकं त्रिशता न शंकवः
अर्पिताःषष्टिर्न चलाचलासः'

ऋ. १.१६४.४८, नि. ४.२७.

उस काल चक्र में वर्ष के ३६० दिन रूपी शंकु अर्थात् कील ठोके गए हैं ये दिनरात चल और अचल दोनों हैं ।

अरीढः - अविनाशी परमेश्वर ।

'अरीढं वत्सं चरथाय माता'

ऋ ४.१८.१०

अरुचः - कान्ति हीन चन्द्र, पृथ्वी आदि ग्रह ।

'अयं रोचयद् अरुचो रुचानः'

ऋ.६.३९.४

अरुजत् - लट् के अर्थ में लङ् का प्रयोग । अर्थ-काटती है ।

'इयं शुष्मेभिः बिसखा इवारुजत्'
सानु गिरीणां तविषेभिरूर्मिभिः'

ऋ.६.६१.२, मै.सं.४.१४.७,२२६.९, का.सं. ४.१६, तै.ब्रा.२.८.२.८, नि.२.२४.

यह सरस्वती नदी अपनी बलवती महती ऊर्मियों से पर्वता की चोटी काटती है ।

अरुण - (१) रुचिकर, (२) प्राप्त करने योग्य (३) प्रकाशयुक्त, (४) गतिशील ।

'अध्वर्यवोऽरुणं दुग्धमंशुम्'

ऋ. ७.९८.१, अ.२०.८७.१

(५) आरोचन, संसार को अपनी ज्योति से प्रकाशित करने वाला,-सूर्य । चन्द्रमा (६) लाल रंग, (७) प्रातः कालीन प्रभा, (८) सूर्य का । सारथि रूप उषाकाल

'अरुणो मासकृत वृकः
पथा यन्तं ददर्शहि ।
उज्जिहीते निचाय्या तष्टेव
पृष्ट्या मयी वित्तं मे अस्य रोदसी'

ऋ. १.१०५.१८, नि. ५.२१.

आरोचन (अरुणः) मासों तथा अर्द्धमासों का कर्त्ता चन्द्रमा (मासकृत् वृकः)आकाश मार्ग से जाते हुए नक्षत्र को देखता है (पथा यन्तं ददर्शहि), परन्तु कूप में पतित मुझ को नहीं देखता । नक्षत्र को देखकर भी ऊपर ही देखता रहता है नीचे नहीं (निचाय्य उज्जिहीते) जैसे पीठ का रोग बढ़ई नीचे की ओर नहीं देखता उसी प्रकार चन्द्रमा भी मुझे नहीं देखता (तष्टा पृष्ट्यामयी इव) । इसलिए हे द्यावा पृथिवी, इस कुदशा में मेरी यह दशा तुम दोनों जानों (अस्य मे वित्तम्)

अन्य अर्थ -अन्य नक्षत्रों से अधिक चमकने वाला तथा मास और पक्षों का निर्माता चन्द्रमा अपने मार्ग में प्राप्त होते हुए नक्षत्रगणों से योग करता हुआ मानों उन्हें देखता है और प्रतिदिन जिस नक्षत्र से योग करना होता है मानो उसे देखता -उस से योग करता है (निचाय्य उज्जिहिते) । जैसे पीठ का रोगी चित्रा नक्षत्र चन्द्रमा से योग करता है एवं अन्य नक्षत्र भी योग करते हैं । हे स्त्री पुरषो, (रोदसी) तुम मेरी उस नक्षत्र विद्या को जानो -दया.

(९)यस्मिन् त्रयो अरुण गुणाः सन्ति सूर्य-दया. (१०) आदि, मध्य और अन्त तीनों दशाओं में तेजस्वी , (११) तीनों कालों और तीनों पदों पर शोभा देने वाला, (१२) तीन वेद विद्याओंमन, वाणी और शरीर तीनों को पारंगत , (१३) ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वाणप्रस्थ से उत्तीर्ण, (१४) इह लोक , अन्तरिक्ष और द्यौ तीनों प्रकाश से व्याप्त-तीनों से परे सूर्य ।

'वैश्वानर त्र्यरुणश्चिकेत'

ऋ. ५.२७.१

अरुणकेतु - लाल पताका, झण्डा ।

'अरुणैः केतुभिः सह'

अ.११.१०.२

अरुणप्सवः,अरुणप्सुः - (१) वायुगण जो सूर्य की दीप्तियों को मानों खा जाते या अपने में विलीन कर देते हैं ।

(२) कान्तिदायक तेजों वर्द्धक पदार्थ का भोजन करने वाले ।

'उदुत्ये अरुणप्सवः'

ऋ.८.७.७

(३) प्सान्ति इति प्सवः अश्वाः अरुणाःरक्ताः (लाल घोड़े)

(४) रक्त गुण-विशिष्ट जिसका भोजन हो वह । (दया.) ।

'वहन्त्वरुणप्सव उप त्वा सोमिनो गृहम्'

ऋ. १.४९.१.

हे उषा या विदुषी कन्ये । तुझे लाल वर्ण के घोड़े (अरुणप्सवः) ऐश्वर्यवान् बलवीर्य से युक्त ब्रह्मचारी प्रियपति के घर तक सुखपूर्वक ले आवें ।

(५) अरुण कान्ति युक्त उषा, (६) स्वस्थ नवयुवती ।

'अरुणप्सुरशिश्वितत्'

ऋ. ८.५.१,साम १.२१९.

(७) लाल तेज से युक्त सूर्य-कर्त्ता-उषा का विशेषण ।

'ऋतावरी मरुणप्सुं विभातीम्'

ऋ. ५.८०.१.

अरुणस्तूप - (१) उज्ज्वल स्तुति घोष ।

(२) उज्ज्वल वर्ण अन्न ।

(३) उज्ज्वल तेज-समूह युक्त अग्नि ।

(४) दीप्यमान तेज संघ से युक्त रोषरहित स्तुत्य

शिष्य ।

‘अरुषस्तूपो रुशदस्य पाजः’

ऋ.३.२९.३, वाज.सं. ३४.१४.

अरुणवभ्रु - लालभूरा, लाल भूरा रंग की पोशाकवाला ।

‘बभ्रुररुणबभ्रुः शुकबभ्रुस्ते वारुणाः’

वाज.सं. २४.२, तै.सं. ५.६.११.१, मै.सं. ३.१३.३ः १६९.१, का.सं. (अश्व). ९.१.

अरुणवात - (१) वेगवान् वायु, (२) वात अरुण का अर्थ वेगवान् अश्व हुआ ।

‘त्वं वातैः अरुणैः यासि शंग्यः’

ऋ. २.१.६, तै.सं. १.३.१४.१, तै.ब्रा. ३.११.२.१.

अरुणाश्वः - लाल घोड़े का स्वामी ।

‘पिशङ्गाश्वा अरुणाश्वा अरेपसः’

ऋ. ५.५७.४

अरुणाभानवः - लाल रंग की किरणें ।

‘उदपप्तन् अरुणा भानवोवृथा’

ऋ. १.९२.२, साम. २.११०६.

अरुणिः - तेजस्विनी

‘ता अञ्जयोऽरुणयो न सस्रुः’

ऋ. १०.९५.६.

अरुणी - (१) तेजस्विनी, (२) ब्रह्मचारिणी, कन्या ।

आघ वा याभिः अरुणीरशिक्षतम्’

ऋ. १.११२:१९

जिन उपायों से तेजस्विनी ब्रह्मचारिणी कन्याओं को शिक्षा प्रदान करते हो ।

(३) प्रकाशवती उषा, (४) सबके चित्त को लुभाने वाली उत्तम धार्मिक नीति ।

‘नक्षद्धवमरुणी पूर्व्यं राट्’

ऋ. १.१२१.३

प्रकाशमान सूर्य (राट्) पूर्व दिशा में प्रकट होने वाले देने योग्य प्रकाश को (हवम्) देता और प्रकाशमान उषाओं को व्यापता है (अरुणीः नक्षत्) ।

अथवा, तेजस्वी पुरुष (राट्) पूर्व के विद्वानों से दिये और उपदेश किए गए और आदर पूर्वक ग्रहण करने योग्य न्याय और ज्ञान को (हवम्) प्रकट करता और सबके चित्त को लुभाने वाली उत्तम धार्मिक नीतियों को बरतता है (अरुणीः) ।

(५) अरुण, तेजोमयी, कान्तिमयी ज्ञानधारा या वेदवाणी ।

‘क्षामा भिन्दन्तो अरुणीरप व्रन्’

ऋ.४.२.१६, अ. १८.३.२१, वाज.सं. १९.६९, तै.सं. २.६.१२.४.

(६) अरुण वर्ण वाली स्वस्थ माता ।

(७) अरुण वर्णवाली गौ, (८) पृथिवी ।

‘आसीनासो अरुणीनामुपस्थे’

ऋ.१०.१५.७, अ.१८.३.४३, वाज.सं.१९.६३

(९) गौरवर्ण, तेजस्वी एवं गौओं के समान प्रिय मनोहर मातृजन ।

(१०) लाल ऊन की गद्दी ।

(११) उषा की लाल कान्ति ।

‘आवहन्ती अरुणी ज्योतिषागात्’

ऋ.४.१४.३.

अरुतहनुः - इन्द्र जिसकी दण्डदात्री शक्ति (हनु) कभी बाधित नहीं होती ।

‘अरुतहनुरद्भुतं न रजः’

ऋ. १०.१०५.७

अरुन्धती - (१) घावों को भर देने वाली ओषधि-सिलाची, लाक्षा, लाह ।

‘सा न एह्यरुन्धति’

अ. ५.५.५,९

(२) अरुष-घाव को पूरने वाली ओषधि ।

‘रोहमेदमरुन्धति’

अ. ४.१२.१

(३) अरोधन शीला सबको मुक्त करने वाली, सुखकारिणी गृह- पत्नी ।

‘धेनुभ्यस्त्वमरुन्धति’

अ. ६.५९.१.

(४) एक औषधि ।

‘अरुन्धतीन् उन्नयन्तीम्’

अ. ८.७.६

अरुरुष - अदानी, अतिक्रोधी ।

‘गुरुद्वेषो अरुरुषे दधन्ति’

ऋ. ७.५६.१९, मैं.सं. ४.१४.१८, २४७.१३, तै.ब्रा. २.८.५.७.

अरुष - अ +रुष् (क्रोध करना, हिंसा करना) +क्विप् =अरुष, (१) क्रुद्धन होने वाला, (२) नहीं रुचने वाला (अ +रुच् +क्विप्) ।

अरुषः - (१) दीप्तिमान्, (२) रोष रहित ।

‘वि रोचनतामरुषो भानुना शुचिः’

ऋ. १०.४३.९, अ. २०.१७.९

(३) मर्मों में व्यापक आत्मा, (४) दीप्त सूर्य , (५) रोष- रहित सौम्य स्वभाव ।

'युञ्जन्ति ब्रध्नम् अरुषं
चरन्तं परि तस्थुषः'

ऋ. १.६.१, अ. २०.२६.४,४७.१०,६९.७, वाज.सं. २३.५, साम. २.८१८. तै.सं. ७.४.२०.१, मै.सं. ३.१२.८, १६५.९, ३.१६.३: १८५.४, का.सं.(अश्व) ४.९, कौ.ब्रा. २५.१५, श.ब्रा. १३.२.६.१, तै.ब्रा. ३.९.४.१, आश्व.श्रौ.सू. ६.४.१०, शां.श्रौ.सू. ९.१७.१, १२.१.४, वै.सू. २६.१२,२७.१९, ३३.२,३९.४, आप.मं.पा. १.६.२.

(६) अहिंसक परमेश्वर , (७) प्राण वायु, (८) रक्त-गुण से युक्त ।

अरुषस्तूपः - (१) हिंसारहित ज्वालामय अग्नि (२) अपने तेज या वीर्य से स्त्री को कष्टदायी न होने वाला पति ।

'अरुषस्तूपो रुषदस्य पाजः'

ऋ. ३.२९.३, वाज.सं. ३४.१४.

अरुषा - (१) कान्तिमान और उद्वेग से रहित प्राण और अपान ।

'अन्तरीय से अरुषा युजानः'

ऋ. ४.२.३

(२) चमकीले श्वेत अश्व के जोड़े ।

'उतारुषा ह चक्रे विभृत्रः

ऋ. २.१०.२

अरुषी - (१) दीप्तियुक्त चमकती कान्ति वाली पृथिवी ।

'अरुषीणां चतुःशतम्'

ऋ. ८.५५.३

(२) रक्त गुण वाली गमन शील एवं कान्तियुक्त हरणशील शक्ति (३) भौतिक अग्नि की ज्वाला, (४) गतियुक्त शक्ति जो रक्तयुक्त कान्ति वाली है ।

'युक्ष्वाह्यरुषी रथे हरितो देव रोहितः ।'

ऋ. १.१४.१२

(५) अरोचमाना उषा । नञ् +रुच् +क्विप् =अरुषी ।

'एता उत्या उषसः केतुमक्रत
पूर्वे अर्धे रजसो भानुमञ्जते
निष्कृण्वाना आयुधानीव धृष्णवः
प्रति गावोऽरुषीर्यन्ति मातरः ।'

ऋ. १.९२.१, साम. २.११०५, नि. १२.७

जो उषाएं अन्तरिक्ष के पूर्वाद्ध में सूर्य को व्यक्त करती हैं वे ही अन्धकार करती हैं । जैसे योद्धागण अपने अपने आयुधों को तेज करते और चमकाते हैं (धृष्णवः आयुधानि निष्कृण्वाना इव) उसी प्रकार संसार के लिए वे प्रकाश करती हैं । तब गमनस्वभाव अरोचमाना सूर्य प्रकाश की निर्मात्री उषाएं सूर्य में ही लीन हो जाती हैं (गावः अरुषीः मातरः प्रति यन्ति)।

सूर्योदय उषा के ही बाद होता है और सूर्योदय होते ही उषा अनार्हित हो जाती है ।

(६) सत्य युक्त अन्तः करणवाली जीव या चित् सत्ता (७ पराक्रम युक्त तेजस्वी सेना (८) तजोमयी उषा ।

'श्यावी च यद् अरुषी च स्वसारौ'

ऋ. ३.५५.११

अरु - (न.) घाव ।

'यद् वारुर्हरसा कृतम्'

अ. ५.५.४

अरुस्राण - (न.) मर्मभूत वस्तु को पकाने वाला ।

'अरुस्राणमिदं महत्'

अ. २.३.३,५

अरेजताम् - गति करते हैं ।

'अरेजेतां रोदसी होतृवूर्ये'

ऋ. १.३१.३

(परमेश्वर से वरण करने और संविभाग करने योग्य द्यौ और पृथिवी दोनों उसी के संकल्प से गति करते हैं ।)

अरेणु - (१) रेणु-रहित, (२) अनवद्य ।

'स तुर्वणिर्महाँ अरेणु पौंस्ये
गिरेः भृष्टिर्न भ्राजते तुजा शवः'

ऋ. १.५६.३, नि. ६.१४.

वह क्षिप्रकारी इन्द्र (तुर्वणिः) अपने बल या प्रभाव से तथा अनवद्य पौरुष में महान् है । यह शीघ्र प्रदाता महात्मा तेजस्वी पुरुष (तुर्वणिः) अक्षीण यौवन में (अरेणु पौंस्ये) पर्वत श्रृंग की तरह चमकता है ।- (दया.)

पुनः

'ये ते पन्थाः सवितः पूर्व्यासो
अरेणवः सुकृता अन्तरिक्षे ।'

ऋ. १.३५.११, वाज.सं. ३४.२७, तै.सं. ७.५.२४.१, का.सं.(अश्व). १.१, तै.ब्रा. ३.९.४.३, आप.श्रौ.सू. २०.२.२,१६.१५,

(३) क्षय-रहित कर्म, (४) निर्दोष (५) अहिंसक।

'अरेणवः तुज आ सद्मन् धेनवः'

ऋ. १.१५१.५

(६) अक्षीण -(दया.)

नञ् + रीञ् (गति और रेषण अर्थों में) + नु = अरेणु

अरेयस् - (१) निष्पाप, (२) मल-रहित, निर्मल।

'अरेयसः सचेतसः स्वसरे
मन्युमत्तमाश्चिते गोः'

अ. ७.२२.२, साम.१.४५८, आप.श्रौ.सू. २१.९.१५,

अरेपसा - (१) पाप-रहित स्त्री पुरुष, (२) अश्विद्वय।

'अरेपसा तन्वा नामभिः स्वैः'

ऋ.१.१८१.४, नि.१२.३.

अरोगण - रोग को हटाने वाली ओषधि।

'अनाम्रावम् अरोगणम्'

अ.२.३.२

अर्णोवृत - (१) अर्णस् + वृत। जल से भरा या घिरा हुआ, (२) जलदुर्ग में स्थित, (३) विश्वमहासागर में विद्यमान।

'अहिमिन्द्रो अर्णोवृतं विवृश्चत्'

ऋ.२.१९.२.

अलकम् - व्यर्थ।

'रेकुपदम् अलकम् आजगन्थ'

ऋ.१०.१०८.७

'यदीं शृणोत्यलकं शृणोति'

ऋ.१०.७१.६, ऐ.आ. ३.२.४.३, तै.आ. १.३.१, २.१५.१.

अलजः - (१) जो पुरुष अपने कार्यों से दूसरे को सन्ताप न दे, (२) अलज नामक पक्षी।

'अलज आन्तरिक्षः'

वाज.सं. २४.३४. तै.सं. ५.५.२०.१, मै.सं. ३.१४.१६,१७६.१, का.सं. (आश्व). ७.१०.

अलज्ञा - (१) जल की कल कल ध्वनि।

(२) उषा कालीन पक्षियों का कलरव।

(३) प्रकृति की मनोहर ध्वनि या अद्भुत गति।

अललाभवन्ती - (१) अव्यक्त ध्वनि से कल कल करती हुई नदी, (२) पक्षियों की अव्यक्त ध्वनि करती हुई उषा, (३) अति मनोहर ध्वनि करती हुई या अद्भुत आश्चर्यजनक होती हुई प्रकृति।

'एता अर्षन्ति अललाभवन्तीः
ऋतावरीरिव संक्रोशमानाः'

ऋ.४.१८.६.

अल्गण्डू - अत्यधिक खाज पैदा करने वाला क्रिमि।

'अल्गण्डून् सर्वान् छलुनान् कृमीन्'

अ.२.३१.२

अलजिः - आख के भीतर दाने या रोहे आदि का फूलना।

'वातीकारस्य वालजेः'

अ. ९.८.२०

अल्गौ - अतिवेग से गमन करने वाले उरुओं के दो सन्धिभाग।

'मित्रावरुण वल्गाभ्याम्'

वाज.सं. २५.६, वाज.सं. (का.) २७.९.

अल्पपशुः - थोड़ी पशु-सम्पत्ति वाला।

'अनपत्यम् अल्पपशुम्'

अ.१२.४.२५

अल्प शयुः - (१) स्वल्पवृत्ति (२) तुच्छ स्वभाव का, (३) छिद्रान्वेषी, (४) छोटे बिलों में रहने वाला हानिकारक कीड़ा या मूस आदि।

'जने अल्प शयूनिव'

अ. ४.३६.९

अलसाला - (१) अल + साला। अधिक गति वाली क्रियावती, (२) अलसाला अर्थात् अव्यक्त (३) शस्य विशेषस्य मञ्जरी (सस्य की मंजरी)

'अलसालासि पूर्वा'

अ. ६.१६.४

अलातृण - अलम् पर्याप्तम् आतर्दनम् हिंसा यस्य (बहुल जल के होने से जो अत्यन्त हिंसित हो)। अलम् + तृद् + ण = अलातृण-द् का लोप, गुणा भाव, अलम् के म् का आत्व। पृषोदर शब्द के ऐसा बना है)। मेघ का विशेषण है। अर्थ है-(१) पूर्ण तया पका हुआ मेघ जो वृष्टि के रूप में छिन्न भिन्न करने के लिए पर्याप्त है।

'अलातृणो वल इन्द्र व्रजो
गोः पुरा हन्तोः भयामानो व्यार
सुगान् पथो अकृणोत् निरजेगाः
प्रावन् वाणीः पुरुहूतं धमन्तीः'

ऋ.३.३०.१०, नि.६.२.

हे इन्द्र ! जो यह अत्यन्त हिंसित (अलातृणः) अन्तरिक्ष के मध्यमा के वाक् के (गोः) गोष्ठभूत अर्थात् अन्तरिक्षवासी (व्रजः) आप के द्वारा वज्र से हत किये जाने के पूर्व (हन्तोः पुराः) मानों डरता हुआ (भयमानः) इधर उधर विश्लिष्ट हो गया (व्यार) उसके जल-निर्गमन के लिए (गांनिरजे) आपने सुगम मार्ग बनाए (सुगान् पथः अकृणोत्) । तब मेघ से निकले वे सुन्दर जल (वाणीः) उन मार्गों से नीचे की ओर जाते हुए (धमन्तीः) नदियों एवं तालाबों में आ गए (पुरुहूतम् प्रावन्) ।

अन्य अर्थ - हे शत्रु विदारक राजन् ! जैसे अन्तरिक्ष में आच्छादित (वलः) इधर उधर मड़राता हुआ (व्रजः) पका हुआ मेघ (अलातृणः) मानों विद्युत् गर्जन के वाक् प्रहार के पूर्व ही भयभीत हो ढीला पड़ जाता है (गोः हन्तोः पुरा भयमानः व्यार) और वह विद्युत् जलों के निकलने लिए सुगम मार्ग बना देती है (गाः निरजे सुगान् पथः अकृणोत्) और फिर वे जल नदी आदि में जाते हुए (वाणीः पुरुहूतं धमन्तीः) प्रणियों की रक्षा करता है (प्रावन्) इसी प्रकार राष्ट्र में अपने प्रभाव से फैला और राष्ट्र में विचरने वाला प्रवृद्ध शत्रु तुम्हारे वाक् प्रहार से पूर्व ही भयभीत हो ढीला पड़ जाए और तुम वेदवाणी के प्रसार के लिए सुगम मार्गों को निकाल लो और ये वेदवाणियां प्रत्येक मनुष्य के पास पहुँचती हुई राष्ट्र का कल्याण करें ।

(२) बहुत अधिक शत्रुओं पर प्रहार करने योग्य-समर्थ, (३) अज्ञान नाशक आचार्य ।

अलातृणासः - अलं शत्रूणां हिंसकाः-दया. । शत्रुओं को खूब काट गिरा देने वाले ।
'अलातृणासो विदथेषु सुष्टुताः'
ऋ.१.१६६.७

अलाबु - (१) सर्प-विष (२) आलाबुपात्रं पात्रम् ।
अ. ८.१०५.१४

अलाबुक- तूम्बा ।
'आदलाबुकमेककम्'
अ.२०.१३२.१.

अलाबुपात्र - विष का पात्र ।
'अलाबुपात्रं पात्रम्'
अ.८.१० (५).१४

अलाबूनि, अलाबु - तम्बे ।
'अलाबूनि पृषातकानि'
अ. २०.१३५.३

अलाय्य - (१) अराय्य, (२) क्षमा , धन आदि देने के अयोग्य, (३) अधिकार न देने वाला ।
'अलाय्यस्य परशुः ननाश'
ऋ.९.६७.३०

अल्पाञ्जिः - अल्प + अञ्जिः (लंगोट) । छोटे लंगोट वाला ।
' कृष्णाञ्जिरल्पाञ्जिर्महाञ्जिस्त उषस्याः'
वाज.सं. २४.४, मै.सं. ३.१३.५,१६९.१०

अलिक्लव - (१) भयानक शब्द करने वाला पक्षी, काक । क्लव शब्द का अर्थ शब्द करने वाला काक है ।
अंग्रेजी शब्द Crow कल्व से बहुत समता रखता है ।
(२)गृध्र । गृध्र भी भयङ्कर शब्द कारी है ।
'अलिक्लवा जाष्कमदाः'
अ.११.९.९

अलिन - ऋग्वेद के जनों में एक । ऋग्वेद के मंत्र ७.१८.७ में वसिष्ठ ने पक्थ भलान, अलिन, विषाणी और शिव का उल्लेख किया है ।
'आ पक्थासो भलानसा भनन्ताऽलिनासो विषाणिनः शिवासः'
'आयोऽनयत् सधमा आर्यस्य गव्या तृत्सुभ्यो अजगन् युधा नृन्'
ऋ.७.१८.७.

अलिनाः, अलिनास् - (१) सुन्दर नासिका वाला । (२) अत्यन्त तपोनिष्ठ, (३) अलीन अनासक्त । (४)जो लीन या कार्य व्यग्र न हुआ हो ।
'अलिनासो विषाणिनः शिवासः'
ऋ.७.१८.७

अलिश - लिश अल्पी भाव में प्रयुक्त है और गत्यर्थक भी है । अर्थ (१) अगम्य (२)अस्पृश्य (३) त्वचागत संक्रामक रोग से युक्त
'अलिंश उत वत्सपः'
अ.८.६.१

अल्पिका - थोड़ी ।
'यदल्पिका स्वल्पिकाः'
अ.२०.१३६.३

अलीक - सर्प की एक जाति, बिना रंग का सांप ।

'आ मे श्रृणुतासिता अलीकाः'

अ.५.१३.५

अव् - (१) रक्षा करना ।

'त आगतावसा शान्तमेन'

ऋ.१०.१५.४, अ.१८.१.५१, वाज.सं. १९.५५, तै.सं. २.६.१२.२, मै.सं. ४.१०.६,१५६.१३, का.सं. २१.१४.

(२) रक्षा करने वाला ।

'अवोरित्था वां छर्दिषो अभिष्टौ'

ऋ. ६.६७.११

(३) व्रत नियमादि का पालक ।

'अवोर्वां नूनमश्विना युवाकुः'

ऋ.७.६७.४

अव - (१) नीचे ।

'वाशीमग्निः भरत उच्चावच'

ऋ.८.१९.२३

(२) रक्षण (३) गति (४) कान्ति, (५) प्रीति (६) तृप्ति, (७) अवगम, (८) प्रवेश, (९) श्रवण, (१०) स्वाम्यर्थ, (११) याचन, (१२)क्रिया, (१३) इच्छा. (१४)दीप्ति, (१५) अवाप्ति, (१६) आलिंगन, (१७) हिंसा, (१८) आदान, (१९) भाग और (२०) वृद्धि अर्थ में आया है ।

'अन्ति षद् भूतु वामवः'

ऋ.८.७३.१-१८.

(२१) (प्र.) बाढ़

'अपामवो न समुद्रे'

ऋ.८.१६.२, अ.२०.४४.२

(२२) अवग्रह अर्थ में प्रयुक्त उपसर्ग । दो या अधिक पदों के अर्थ का अवच्छेद पूर्वक ग्रहण अवग्रह है और विच्छेदपूर्वक ग्रहण विग्रह है ।

अवईमहे - हम दूर करते हैं ।

'अव तदेन ईमहे तुराणाम्'

ऋ.७.५८.५

उस पाप को हम शीघ्रगामी मरुतों के प्रभाव से दूर करते हैं ।

अवऋति - नीचे की ओर दृष्टाचरण की ओर जाना ।

'अव ऋत्यै वधायोपमन्थितारम्'

वाज.सं. ३०.१२,तै.ब्रा. ३.४.१.८.

अवक्रक्षी - (१) सबको अधीन रख कर अपने प्रति आकर्षण करने वाला ।

'अवक्रक्षिणं वृषभम्'

अ.२०.८५.२

(२) हल या शंकट खींचने वाला बैल

(३) अपने अधीन जगत् भर को चलाने वाला परमेश्वर इन्द्र ।

'अवक्रक्षिणं वृषभं यथाजुरम्'

ऋ. ८.१.२,अ.२०.८५.२,साम.२.७११

अवक्रन्द - (१) शत्रु को ललकारने वाले विद्वानों को बुलाने वाला, (२) ललकारने वाले को दबाने वाला, (३)विजय से बुलाने वाला सत्पुरुष ।

'अवक्रन्दाय स्वाहा'

वाज.सं. २२.८, मै.सं.३.१२.३,१६०.१२.

(४) नीच शब्द का प्रयोग, (५) ललकारने वाला, (६) दबाने वाला ।

'अवक्रन्देन तालु'

वाज.सं. २५.१, तै.सं. ५.७.११.१, मै.सं. ३.१५.१, १७७.७, का.सं.(अश्व) १३.१.

अवका - (१) रक्षा करने की विधि, (२) शैवाल, सेवार, (३) काटने वाला हथियार ।

'अवकां दन्तमूलैः'

वाज.सं. २५.१, मै.सं. ३.१५.१, १७७.७, का.सं.(अश्व) १३.१, श.ब्रा. १३.३.४.१.

(४) राष्ट्र की रक्षा करने वाली सेना (५) जल पर उतराने वाली काई ।

अवकाद - (१) अवका +अद । जल पर उतराने वाली काई को खाने वाला कीट (२) रस लोलुप गन्धर्व ।

'अवकादान् व्यृषतु'

अ.४.३७.८,९.

अवक्रामन् - रौंदता हुआ ।

'अवक्रामन्तःप्रपदैरमित्रान्'

ऋ. ६.७५.७, वाज.सं. २९.४४, तै.सं. ४.६.६.३, मैं.सं. ३.१६.३,१८६.६, का.सं. (अश्व) ६.१.

अवक्षाम - सूखा हुआ ।

'शुने पेष्ट्रमिवावक्षामम्'

अ.६.३७.३.

अवक्षिपन् - नीचे गिरता हुआ ।

'अवक्षिपन् अर्क उल्कामिवद्योः'

ऋ.१०.६८.४, अ.२०.१६.४

अवकेशः - बालों को खोलने वाला ।

'यस्ते मदो अवकेशो विकेशः'
अ.६.३०.२

अवकोल्बा - अवका +उल्बा । जल में उतराने वाले सेवार के भीतर उत्पन्न होने वाली औषधि
'अवकोल्बा उदकात्मान ओषधयः'
ऋ.८.७.९

अवखादः - भय, विखाद ।
'नात्रावखादो अस्ति वः'
ऋ.१.४१.४
(इस मार्ग में आप लोगों को कोई भय नहीं है ।)

अवचरन्तिका - नीचे उतरती हुई ।
'गिरेरवचरन्तिका'
अ. ५.१३.९

अवघ्नती - (१) कूटकूटकर आघात करने वाली औषधि, (२) अत्यन्त दुःख देती हुई औषधि ।
'अथो अवघ्नती हन्ति'
ऋ.१.१९१.२

अवट - (१) अवट इति कूप नाम-नि ३.२३ ।
'कूपादि गर्त
ये वावेटेषु शेरते'
वाज.सं. १३.७, तै.सं. ४.२.८.३, मै.सं. २.७.१५,९७.४, श.ब्रा. ७.४.१.२९, नील. उप. २०, आप. मं.पा. २.१७.७.
पुनः
'तुभ्यं खाता अवता अद्रिदुग्धाः'
ऋ.४.५०.३,अ.२०.८८.३

अवतः - (१) जगत् की रक्षा करने वाला ।
'उद्रीव वज्रिन्नवतो वसुत्वना'
ऋ.८.५०.६
अवातितो महान् भवति (जो अधरत्तात् अर्थात् नीचे की ओर गया हो)। खने जाने के बाद कूप बहुत नीचे की ओर चला जाता है । अव का अर्थ अवाङ् (नीचे की ओर) है ।
'द्रोणाहावम् अवतम् अश्मचक्रम्'
ऋ.१०.१०१.७, नि. ५.२६.
(३) नीचे या भूमि की ओर आता हुआ ।
'अश्मास्यम् अवतम् ब्रह्मस्पति'
ऋ.२.२४.४, नि.१०.१३
नीचे आते हुए पत्थर के समान कठोर मुख वाले मेघ को ।

अवततधन्वा - धनुष पर बाण चढ़ाया हुआ । दे. पिनाक ।
'अवततधन्वा पिनाकवस्तः कृत्तिवासा'
वाज.सं. ३.६१, तै.सं.१.८.६.२, श.ब्रा. २.६.२.१७, आप.श्रौ.सू.८ .१८.९.

अवत्क - रोगों से रक्षा करने वाला ।
'अवत्कम् अधिपर्वतात्'
अ.२.३.१

अवत्त - अवदान धर्म से रखा हुआ हवि के लिए मांस-खण्ड ।
'अंगादंगादवत्तानां करत
एवाश्विना जुषेतां हविहोतर्यज ।'
वाज.सं. २१.४३
(अंग अंग से अवदान धर्म से रखे उन अंगों को ही वे अश्विनीद्वय हवि का सेवन करें। इस हवि को पाकर वे सुख देते हैं (करतः) । अतः हे होता ! तू भी उनकी पूजा कर)
(२) प्राप्त किया हुआ कर ।

अवतनु - दैर्घ्य-रहित
'यदाततम् अवतत् तनु'
अ.७.९०.३

अवतम् - (१) रक्षा करो ।
'अग्नीपर्जन्याववतं धियं मे'
ऋ.६.५२.१६.

अवतरः - अत्यन्त पतित, निकृष्ट ।
'अव स्रवेदघशंसोऽवतरम्'
ऋ.१.१२९.६, नि.१०.४२
(अत्यन्त निकृष्ट को जल की तरह अपने स्थान से गिरा दे ।)

अवत्तरः - बड़ी भारी रक्षा करने वाला ।
'अवत्तरो नदीनाम्'
अ. १८.३.५

अवत्सारः - (१) अवत् +सारः । रक्षा करने वालों के बीच में स्वयं सारवान् ।
(२) बलशाली या पालक पुरुषों के बने उत्तम सैन्य बल का नायक ।
(३) यः रक्षकान् साति प्राप्नोति (जो रक्षकों को प्राप्त करता है) -(दया.)
'अवत्सारस्य स्पृणवाम रण्वभिः'
ऋ. ५.४४.१०

अवति - गच्छति (जाता है) । प्रवतः (प्र +अव +शतृ + शस् =प्रवतः) प्रकृष्टगतिमतः -

(प्रकृष्टगति वालों को) ।

अवधातु रक्षण, गति, प्रीति, तृप्ति, अवगम, प्रवेश, श्रवण, स्वामी, अर्थ-याचन, क्रिया, इच्छा, दीप्ति, अवाप्ति ,आलिंगन , हिंसा, दान, भाग और वृद्धि अर्थ में प्रयुक्त है ।

अवतीर्यती - कट जाने वाली भूमि ।

'शं भूमिखतीर्यतीः'

अ.१९.९.८

अवतोका - (१) पतित गर्भवाली स्त्री ।

'अवतोकाम् इमाम् स्त्रियम्'

अ.८.६.९

(२) शत्रुओं को अपने नीचे दबा दुख देने वाली सेना, (३) वह स्त्री जिसका बच्चा गर्भ में ही नष्ट हो जाता है ।

'अथर्वभ्योऽवतोकाम्'

वाज.सं. ३०.१५, तै.ब्रा. ३.४.१.११.

(४) प्राप्त प्रसवा स्त्री जिसका बालक प्रसव के समय नीचे आ रहा हो ।

अवदः - वद् धातु के लङ् प्र.पु.ए.व का रूप । अर्थ है- बोला, वचन दिया ।

'उताभये पुरुहूत श्रवोभिः
एकोदृढमवदो वृत्रहासन् ।'

ऋ.३.३०.५.

(हे देवों के रक्षार्थ आहूत इन्द्र, तू एक होता हुआ भी वृत्र का वध करने वाला हुआ जो तूने अभय होने के सम्बन्ध में देवताओं को वचन दिया ।)

अवद्य - (१) निन्दनीय ।

'युवं सिन्धूंरभिशस्तेवद्यात्
अग्नीषोमाणमुञ्चतम् गृभीतान्'

ऋ.१.९३.५, तै.सं. २.३.१४.२, मै.सं. १.५.१, ४.१०.१, १४४.१५, का.सं . ४.१६, ऐ.ब्रा. २.९.५, तै.ब्रा. ३.५.७.३, कौ.सू. ५.१.

(२) गढ़ो पर नियत पुरुष ।

'नमः कूप्याय चावद्याय च'

वाज.सं. १६.३८, तै.सं. ४.५.७.२, का.सं. १७.१५.

(३) दण्ड देना ।

'यदहरहरभिगच्छामि तस्मादेनमवदये'

अ.१६.७.११

(४) पाप (५) अधर्मा चरण-दया. ।

'दहा शसो रक्षसः पाह्यस्मान्
द्रुहो निदो मित्रमहो अवद्यात्'

ऋ.४.४.१५, तै.सं. १.२.१४.६, मै.सं.४.११.५, १७४.८, का.सं. ६.११ .

(६) निन्दनीय आचरण ।

अवद्यपः - (१) अवद्य +प । गर्हणीय या निन्दनीय आचरणों से रक्षा करने वाला (२) निन्दित विषयभोगों से रक्षा करने वाला ।

'बृहस्पति र्मिथो अवद्यपेभिः'

ऋ.१०.६७.८, अ.२०.९१.८

अवद्यभीः - पाप या निन्दा से भय खाने वाला ।

'अवद्यभिया बहवः पृणन्ति'

ऋ.१०.१०७.३

अवद्यवती - निन्दायोग्य, घृणित ।

'को अस्या नो द्रुहोऽवद्यवत्याः'

अ.७.१०३.१

अवद्राणः - कुत्सित आचरण करने वाला ।

'अवद्राणश्च रक्षताम्'

अ.८.१.१३

अवध - पीड़ा ने देने वाला ।

'हुवे स्वर्वत् अवधं नमस्वत्'

ऋ.१.१८५.३.

अवध्वंस - देह को जलाकर नष्ट करने वाला ज्वर ।

'अवध्वंस इवरुणः'

अ.५.२२.३

अवधि - काल ।

'मिमाति मायुं ध्वसनावधिश्रिता'

ऋ.१.१६४.२९, अ.९.१०.७.

अवधीः - मारा या मारो । वध् धातु के म.पु. ए.व. का लङ् में रूप ।

'वज्रेण शत्रुमवधीः पृतन्युम्'

ऋ.१.३३.१२.

हे इन्द्र, वज्र से संघ की अभिलाषा करने वाले शत्रु को (पृतन्युम् । शत्रुम्) मार (अवधीः) -सा. हे राजन् पराक्रम से सेना के साथ आने वाले शत्रु को पृतन्युं शत्रुम्) मार (अवधीः) ।

अवधीयमाना - तिरिस्कृत होती हुई ।

'पारुष्यम् अवधीयमाना'

अ. १२.५.३०

अवधूत - नीचे दबाकर नष्ट किया गया ।

'शर्मास्यवधूतं रक्षः'

वाज.सं. १.१४.

अवधून्वानः – दूर करता हुआ ।

'अनानुभूतीन् अवधून्वानः'

ऋ.६.४७.१७

अवनद्ध – अव +नह् +क्त = अवनद्ध । कसा गया

'अवनद्धम् अभिहितम्'

अ. ९.३.८

अवन्ती – (१) रक्षा करने वाली सेना या प्रजा । (२) रोगों से बचाने वाली ओषधि ।

'अवन् अवन्तीः उपनो दुरश्चर'

ऋ.७.४६.२

अवन्तु – आगच्छन्तु । अव धातु गत्यर्थक भी है । अर्थ है आवें ।

'उदीरताम् अवर उत्परासः
उन्मध्यमा पितरः सोम्यासः
असुं य ईयुःअवृका ऋतज्ञाः
ते नोऽवन्तु पितरो हवेषु ।'

ऋ.१०.१५.१, अ.१८.१.४४, वा.सं.१९.४९, तै.सं.२.६.१२.३, आश्व.श्रौ .सू.२.१९.२२,५.२०.६, आश्व गृ.सू.२.४.६, नि.११.१८.

जे निकृष्ट पितर पृथ्वी में आश्रित हैं वे ऊपरी लोक में आवें (अवरे पितरः उदीरताम्) जो द्युलोक में स्थित है वे नीचे न आकर ऊपर उठें या मोक्ष प्राप्त करें । तथा मध्यम स्थानाश्रयी हैं वे उत्तम लोक प्राप्त करें (परास उत मध्य मा उत) । वे सौम्य, सोमार्ह या सोम सम्पाद (सोम्यासः) जो प्राणमात्र धारण करते हैं (असु य ईयुः) जो अहिंसक, अस्तेन या अजात शत्रु हैं (अवृकाः) जो यथावत् सत्य के ज्ञाता हैं (ऋतज्ञाः) ऐसे पितर हमारे आह्वान करने पर नित्य आवें (पितरः नः हवेषु अवन्तु)

Thesophy में पितरों के कई लोकों का वर्णन है । प्राणमात्रधारी पितरों (Spirits) की भी कल्पना करते हैं जो बुलाने पर आते भी है । इस ऋचा में यह सिद्धान्त पूर्णतः प्रतिपादित हैं। आर्यसमाजी विद्वान् पितरों का अर्थ मृत पितर न कर जीवित पुरुष समझ कर ऐसा अर्थ करते हैं –

प्रथम श्रेणी के ऐश्वर्य सम्पादक पितर हमें शिक्षा प्रदान करें (अवरे सोम्यासः पितरः उदीरताम्), उत्तम श्रेणी के ऐश्वर्य सम्पादक पितर हमें शिक्षा प्रदान करें (परासः उत) और मध्यम श्रेणी के पितर हमें शिक्षा प्रदान करे (मध्यमाः उत) एवं जिन पितरों ने प्राण – विद्या प्राप्त की है (ये पितरः असुम् ईयुः) और जो सबके मित्र है या सत्यज्ञाता या यज्ञज्ञाता हैं (अवृक ऋतज्ञाः) वे हमारे निवेदनों पर हमारे घर पधारें (वे हवेषु नः अवन्तु) ।

अबन्धनः – बन्धन –रहित ।

'अबन्धनः चरित वत्स एक'

ऋ.३.५५.६

अबन्धु – बन्धु और सहायक से रहित ।

'अबन्धुना सुश्रवसो पजग्मुषः'

ऋ.१.५३.९,अ.२०.२१.९

अबन्धुकृत – शत्रु बनाने वाला ।

'कृतो अस्यबन्धुकृत्'

अ. ४.१९.१

(३) पृथिवी, (२) पृथिवी के समान पालक ।

'आवां रथोऽवनिर्नप्रवत्वान्'

ऋ.१.१८१.३.

(३) अंगुलि । अवन्ति कर्माणि ते अवनयः (जो कर्मों की रक्षा करते हैं वे अवनि हैं)। अव (रक्षा करना +इ =अवनि रक्षा करने वाली अंगुलि ।

दशावनिभ्यो दशकक्ष्येभ्यः
दशयोक्त्रेभ्यः दशयोजनेभ्यः
दशाभीशुभ्यो अर्चताजरेभ्यः
दश धुरो दश युक्ता वहद्भ्यः'

ऋ.१०.९४.७, नि.३.९.

हे ऋत्विजों, आप लोग उस ग्रावा की अर्चना करें जिसे दश अंगुलियां धारण करती हैं । ये दशों अंगुलियाँ अनेकों कार्य करती हैं जैसे रक्षा करना, प्रकट करना (काशनम्) मिलना (योजनम्) बांधना (अभीशवः), सदा नूतन रहना (अजर), धूरों का काम करना इत्यादि । ये ही अंगुलियाँ सोम रस चलाने में भी काम आती हैं । अतः अर्चनीय हैं ।

अंगुली के लिए वेद में अवनि, कक्ष्या, योक्रा, योजन, अभीशु, तथा धुद् पर्याय निघंटु में दिये गए हैं ।

अवजिघ्नते – नीचे गिरकार परास्त करता है ।

'अभिक्रम्यावजिघ्नते'

ऋ.१.८०.५

अवनी - (१) जन्तुओं की रक्षा करने वाली (२) पालन करने वाली भूमि ।

'गा न व्राणा अवनीरमुञ्चत्'

अ.२०.३५.१०

(३) रात्रि, (४) रक्षा-कारिणी शक्ति, (५) तृप्तिदायिनी भूमि

'चकार महीः अवनीः अहभ्यः'

ऋ.७.८७.१, का.सं. १२.१५.

अवनीत - (१) अवाङ् मुखतया असुरैःप्रापितः (उलटे मुंह द्वारा लाया हुआ) ।

(२) अवस्तात् नीतम् (नीचे अर्थात् पृथ्वी के नीचे गया)।

'हिमेनाग्निं घ्रंसम् अवारयेथाम्
पितुमतीमूर्जमस्मा अधत्तम् ।
ऋबीसे अत्रिमश्विनावनीतम्
उन्निन्यथुः सर्वगणं स्वस्ति ।'

ऋ.१.११६.८, नि.६.३७.

हे अश्विनी कुमारो । तुम दोनों ने ग्रीष्म के बाद अत्यन्त बढ़ी गर्मी को ठंडे जल से शान्त किया (हिमेन अग्निं घ्रंसम् अवारयेथाम्)। तत्पश्चात् अग्नि के लिए अन्न सहित आज्य उत्पन्न किया (पितुरुतीम् ऊर्जम् अस्मै अधत्तम्), क्योंकि अन्न ही अग्नि को सबल करता है-जठराग्नि अन्न के बिना कमजोर पड़ जाती है और तुम दोनों ने ठंडी पृथ्वी के भीतर प्रवाङ्मुख पड़ी सभी गुणों की औषधियों तथा वनस्पतियों को जगत् के कल्याण के लिए जमाया (ऋजीषेतम् अवनतम् अत्रिम् सर्वगणं स्वस्ति उन्निन्यथुः) ।

सायण का ऐतिहासिक अर्थ-अत्रिऋषि को गण के साथ राक्षसों ने एक बार सौ द्वार वाले पीड़ा यन्त्र गृह में अवाङ्मुख लाकर रख दिया और घर में आग लगा दी । इससे पीडित हो ऋषि ने अश्विनी कुमारों की स्तुति की । अश्विनी कुमारों ने अग्नि को ठंडे जल से बुझा उन्हें अन्न और रसात्मक क्षीरादि पुष्ट होने के लिए दिया ।

स्वा. दयानन्द का अर्थ - हे सूर्य तथा पृथ्वी ! तुम ग्रीष्म काल में जल के द्वारा अग्नि की तरह घातक गर्मी के दिनों को दूर करते हो । पृथ्वी के भीतर गई आग को ऊपर निकाल देते हो (ऋजीषे अवनीतम् अत्रिम् उन्निन्यथुः) और इस अग्निहोत्री प्रजावर्ग के लिए प्रशस्त अन्न से युक्त बल को प्राप्त करते हो तब सभी प्राणियों का कल्याण होता है (सर्वगणं स्वस्ति) ।

अवपद् - आपद् काल ।

'त्राध्वं कर्तादवपदो यजत्राः'

ऋ.२.२९.६, वाज.सं. ३३.५१. मै.सं.४.१२.६, १९४.६,

अवप्रभंशन - नीचे फिसलना, (२) हिम का पिघलना ।

'यत्र नावप्रभंशनम्'

अ.१९.३८.८.

अवपान - (१) भीतर ही पान करने योग्य ।

'गौराद् वेदीयां अवपानमिन्द्रः'

ऋ.७.९८.१, अ.२०.८७.१

(२) पान, (२) प्रजा पालन करने का वेतन, (४) ओषधि उत्पातक जल, (५) तृप्ति कारक ज्ञानरस ।

'अस्मिन् सुसोमेऽवपान मस्तु ते'

अ.२०.१७.२

(६) नीचे की अति ।

'उद्यानं ते पुरुष नावयानम्'

अ.८.१.६

अवभरते - (१) नीच उपाय से प्राप्त करता है (२) नीच कार्य में ज्ञान और धन का उपयोग करता है ।

'अव त्मना भरते केतवेदा
अव त्मना भरते फेनमुदन्'

ऋ.१.१०४.३

(एक पुरुष ऐश्वर्य प्राप्त कर और ज्ञानवान् होकर भी (केतवेदाः) अपने मतलब से (त्मना) चक्रवृद्धि ब्याज आदि बढ़े हुए धन और ज्ञान को नीच उपाय से प्राप्त करता है ।)

अवभृथ - (१) सबको नीचे से ऊपर तक भरण पोषण करने वाला-यज्ञ , (२) अवभृथ स्नान जो यज्ञ के अन्त में किया जाता है । अव + भृ + वथन =अवभृथ ।

'अवभृथ निचुम्पुणं'

वाज.सं. ३.४८, ८.२७,२०.१८, तै.सं.१.४.४५.२, ६.६.३.४, मै.सं. १.३.३९: ४५.११, ४.८.५: ११३.२, का.सं. ४.१३, २९.३, ३८.५, श.ब्रा.२.५.२ .४७, ४.४.५.२२, १२.९.२.४, तै.ब्रा. २.६.६.३,

आप.श्रौ.सू. १३.१९.१०, १९.१०.५, नि.५.१८.

(३) पूर्ण

'अच्छावभृथमोजसा'

ऋ.८.९३.२३, साम. १.१५१.

अयासिषम् - (१) अवनीत कर सका, (२) डुबो सका-सा. (३) दूर करूं-(दया.)

'अव देवैः देवकृतमेनोऽयासिषम्'

वाज.सं. ३.४८,८.२७, श.ब्रा.२.५.२.४७, ४.४.५.२२.

तू अपने द्योतनात्मक इन्द्रियों से किए हुए देव हवि प्रति पाप को (देव कृतम् एनः) इस जल में अवनीत कर सकाया डुबो सका (अयासिषम्) मैं मन तथा वाणी आदि इन्द्रियों से (देवैः) मानसिक तथा वाचिक पाप को (देवकृतम् एनः) दूर करूं (अयासिषम्) -दया.

अवभेत् - अवाभिनत्। भिदिर (विदारणार्थक) के लङ् प्रथम पुरुष एक वचन का वैदिक रूप। अर्थ-विदीर्ण किया।

'प्र नू महित्वं वृषभस्य वोचं
यं पूरवो वृत्रहणं सचन्ते।
वैश्वानरो दस्युमग्निर्जघन्वान्
अधूनोत् काष्ठा अव शम्बरं भेत्'

ऋ.१.५९.६, नि. ७.२३.

मनुष्य भी (पूरवः) वर्षा की कामना से जिस वृत्रासुर या मेघ को मारने वाले वैश्वानर की सेवा करते हैं (यं वृत्रहणं सचन्ते) उस वर्षा बरसाने वाले वैश्वानर के भाग्य का वर्णन शीघ्र ही करता हूँ (वृषभस्य महित्वं नु प्रवोचम्)। वैश्वानर अग्नि ने रस सुखाने वाले को (दस्युम्) या राक्षसों को मारा (जघन्वान्),जलों को नीचे प्रवाहित किया (काष्ठाःअधूनोत्) और शम्बर नामक राक्षस या मेघ को विदीर्ण किया।

स्वा. दयानन्द का अर्थ-मैं उस वृष्टि कर्त्ता विदयुत की महिमा बखानता हूँ जिस मेघ-संहारक को (वृत्रहणम्) सही मनुष्य सेवते हैं (पूरवः सचन्ते) वह सर्वजन-हितकारी विदयुत अग्नि (वैश्वानरः अग्निः) अनावृष्टि का नाश करती हुई (दस्युं जघन्वान्) मेघ को विदीर्ण करती है (शम्बरं अवभेत्) और जल बरसाती है। (काष्ठा अधूनोत्)।

अवभेदी - व्यूह और गढ़ो को तोड़ने वाला।

'नमः शूराय चावभेदिने च'

वाज.सं. १.६.३४, का.सं.१७.१४.

अवम - (१) निकृष्ट, तुच्छ।

'तवेदिन्द्रावमं वसु
त्वं पुष्यसि मध्यमम्'

ऋ.७.३२.१६, साम. १.२७०.

(२) अवरः रक्षकः यः -(दया.) (रक्षा करने वाला)

(३) सबसे मुख्य आधार रूप।

'अस्मै बहूनामवमाय सख्ये'

ऋ.२.३५.१२

(४) अधम, साधारण, (५) वृत्ति का उपाय।

'यद्वावमे वृजने मादयासे'

ऋ.१.१०१.८

चाहे साधारण शुद्ध घर या जीवन के दुःखों को दूर के लिए वृत्ति -उपाय में तृप्त होकर रहें। नीच और अधम के अर्थ में।

'सं घोषः श्रृण्वेऽवमैरमित्रैः'

ऋ.३.३०.१६.

(५) सबसे उत्तम रक्षक।

'स त्वं नो अग्नेऽवमो भवोती'

ऋ. ४.१.५, वाज.सं. २१.४, तै.सं. २.५.१२.३, मै.सं. ४.१०.४.१५३.१४, ४.१४.१७, २४६.११, का.सं. ३४.१९, ऐ.ब्रा.७.९.५,

अवमं वृजनम् - (१) साधारण रहने का घर, (२) जीवन के दुःखों को दूर करने के लिए वृत्ति का उपाय।

अवमा - (१) अति समीप का स्थान, (२) अपेक्षा कृत निम्न स्थान (३) निम्न कोटि का शरीर।

'या ते धामानि परमाणि या वमा'

ऋ. १०.८१.५, वाज.सं. १७.२१, तै.सं. ४.६.२.५, मै.सं. २.१०.२, १३३.१०, का.सं. १८.२, आश्व श्रौ.सू. २.१८.१९, ३.८.१.

(४) अनुत्कृष्टगुण वाली पृथ्वी।

'यदिन्द्राग्नी अवमस्यां पृथिव्याम्'

ऋ.१.१०८.९

(५) सबसे नीचे की भूमि।

'उदन्वती द्यौरवमा'

अ.१८.२.४८

अवयाता - (१) नीचे गिरा देने वाला।

'अवयाता सदमित् दुर्मतीनाम्'

ऋ.१.१२९.११
तू दुष्टजनों को सदा ही नीचे गिरा देने वाला है। (अवयाता)।

अवमार्जन - (१) शोधन का उपाय।
'इमा ते वाजिन अवमार्जनानि'
ऋ. १.१६३.५, वाज.सं. २९.१६, तै.सं. ४.६.७.२, का.सं. ४०.६.
(२) पापों को दूर करने तथा आत्मा को शुद्ध करने वाला व्रत (३) शोधन।

अवमृक्ष - नीचे गिराना।
'अवामृक्षन् निर्ऋते ते मुखेन'
अ.७.६४.२

अवयजनम् - दूर करने वाला।
'देवकृतस्यैनसोऽवयजनमसि'
वाज.सं. ८.१३, तै.सं. ३.२.५.७, पंच ब्रा. १.६.१०, शां.श्रौ.सू. ८.९.१, आप.श्रौ.सू. १३.१७.९, का.श्रौ.सू. १०.८.६.
पुनः-
'तस्यावयजनमसि'
वाज.सं. २०.१७, तै.सं १.८.३, का.सं. ३८.५, शा.ब्रा. १२.९.१२.३, तै.ब्रा. २.६.६.२.

अवयन् - बुना। वि (Weave) बुनना अर्थ में आता है। इसी के लङ् प्रथम पुरुष बहुवचन का रूप।
'वयित्र्योऽवयन्'
हे वस्त्र! तुझे कविन्द की लड़कियों ने बुना।

अवयातहेडाः - जिसने अपने क्रोध या अनादर के कारणों को दूर किया है।
'भवामरुद्भिः अवयातहेडाः'
ऋ.१.१७१.६.

अवयाः - (१) हीन यज्ञ अर्थात् इन्द्रियों में विषयार्थों की आहुति, (२) कुसंगति।
'या तेषामवया दुरिष्टिः'
अ.२.३५.१, मै.सं.२.३.८,३७.१२.
(३) नीचे गिराने वाला, (४) शत्रुओं या पापों को दूर करने वाला।
'अस्ति हि ष्मा ते शुष्मिन् अवयाः'
ऋ.१.१७३.१२, वाज.सं.३.४६, श.ब्रा.२.५.२.२८.

अवयुन - (१) जिसमें तनिक भी ज्ञान नहीं होता, (२) अन्धकार (३) अप्रज्ञान।
'स इत्तमोऽवयुनं ततन्वत्'
ऋ.६.२१.३, नि. ५.१५.
(४) वी (गत्यर्थक) +न =वेन, अथवा वी +उनन् =वयुन (वाहुलक नियम से)। नञ् +वयुन =अवयुन। जिसमें प्रज्ञान या कान्ति न हो।
'सं इत्तमोऽवयुनं ततन्वत्
सूर्येण वयुनवत् चकार।
कदा ते मर्ता अमृतस्य धामे
यक्षन्तो न मिनन्ति स्वधावः'
ऋ.६.२१.३, नि.५.१५.

अवर्जुषी - अवर्जनशीला, प्रतिकितवैः पराजयेऽपि पुनरहमेव जेष्यामि इत द्यूतक्रियाम् अपरित्यजन्ती (१) जुआड़िओं से हार खाने पर भी फिर मैं ही जीतूंगां ऐसा सोच कर जो जुआ खेलना नहीं छोड़ती, (२) जो अपने दोषों को या प्रकृति-सिद्ध स्वभावों को नहीं छोड़ सकती।
'विशाम् अवर्जुषीनाम्
अ.७.५०.२

अवर्त्या - जन्म मरण के व्यापार से रहित, (२) पुनः इस संसार में न होने के निमित्त, (३) लाचार, अगतिक (४) दारिद्र्य प्रेरित होकर।
'अवर्त्या शुन आन्त्राणि पेचे
ऋ.४.१८.१३

अवर्त्र - किसी से निवारित न किया जाने वाला अग्नि।
'अमर्त्योऽवर्त्र ओषधीषु'
ऋ.६.१२.३, मै.सं.४.१४.१५,२४०.६,

अवर्ति - (१) अप्राप्त दूरदर्शी देश (२) अप्राप्य पद।
'किमङ्ग वां प्रत्यवर्ति गमिष्ठा'
ऋ.१.११८.३,३.५८.३.
(३) अन्न, (४) आजीविका, (५) मार्गादि से रहित पुरुष, (६) अमार्ग।
'प्रत्यवर्तिं दाशुषे शम्भविष्ठा'
ऋ.५.७६.२,साम. २.११०३.
(७) कष्ट।
'नैनान् अवर्तिः सचते कदाचन'
अ.४.३४.३.
(८) बेरोजगारी, (९) अरक्षा।
'अप्रजस्तामस्वगतामवर्तिम्'
अ.९.२.३
'आर्तिरवर्तिः निर्ऋतिः'
अ.१०.२.१०

(१०) असत्, अविद्यमान् (११) अपाव पदार्थ ।

'अवर्तिं हन्ति चक्षुषा'

अ.९.४.१७.

अवर्द्धन् - अवर्द्धयन् (बढ़ाया) । वेद में वर्तमान काल (लट्) में प्रयुक्त ।

'उतेमवर्धन्नद्यः स्वगूर्ताः'

ऋ.१०.९५.७, नि.१०.४७.

और स्वयं गामिनी नदियाँ (उत स्वगूर्ताः नद्यः) इस पुरुरवा को बढ़ाती हैं (ईम् अवर्द्धन्)

अवर्ष्य - अतिवृष्टि को दूर करने में समर्थ ।

'नमो वर्ष्याय चावर्ष्याय च'

वाज.सं. १६.३८, तै.सं. ४.५.७.२, मै.सं. २.९.७, १२५.१३, का.सं. १७.१५.

अवर - (१) निकृष्ट, (२) स्वल्प विज्ञान वाला, (३) अत्यन्त कम बुद्धि वाला, (४) प्रथम श्रेणी का, (५) कम शक्ति वाला, (६) नीच आधुनिक अर्थ -छोटा, आगे का, पिछला,आगामी, नीचे, निचला, कम निकृष्ट अन्तिम ; कम से कम,पाश्चात्य, हाथी का पिछला जांघ, छोटा भाई (अवरज) ।

निष्कृष्ट अर्थ में प्रयोगः

'यावन्मात्रम् उषसो न प्रतीकं
सुपर्ण्यो वसते मातरिश्वः
तावद्दधात्युप यज्ञमायन्
ब्राह्मणो होतुरवरो निषीदन् ।'

ऋ.१०.८८.१९, नि.७.३१

हे मातरिश्वा ! जितनी ही रात्रियाँ उषा का प्रतीक आच्छादित करती हैं (यावन्मात्रम् सुपर्ण्यः) या जितनी ही उषाएं रात्रियों में देखी जाती हैं (उषसः न प्रतीकं वसते) उतना ही ज्ञान होताओं में अल्पज्ञानवाला ब्राह्मण (होतु अवरो ब्राह्मणः) यज्ञ में आकर बैठता हुआ धारण करता है । तात्पर्य यह है कि अग्नि के अनुग्रह से ब्राह्मण होत्र कर्म सम्पादित करता है ।

पुनः कम शक्ति वाले के अर्थ में -

'यमः परोअवरो विवस्वान्'

अ.१८.२.३२

अवदत् - नञ् +वद +शत् । वेदज्ञ हो कर भी उपदेश न देने वाला ।

'वदन् ब्रह्मावदतो वनीयान्'

ऋ.१०.११७.७

अवरंपरं तृतीयम् - (१) अवर (पौत्र), पर (पुत्र) और तृतीय पिता मिलाकर तीन पुरुष अर्थात् तीन पीढ़ियाँ होती हैं । (२) निकृष्ट, उत्तम और सर्वोच्च स्वरूप ।

'दधाति पुत्रो अवरं परं पितुः
नाम तृतीयम् अधिरोचने दिवः'

ऋ.१.१५५.३

अवरम्बमाणः - अवलम्बमान आश्रय लेकर रहने वाला ।

'अनस्थ ऊरुरवरम्बमाणः'

ऋ.८.१.३४

अवरः अग्निः - पार्थिव अग्नि ।

'यत्रावदेते अवरः परश्च
यज्ञन्योः कतो नौ विवेद'

ऋ. १०.८८.१७, नि.७.३०.

(जिस कर्म में यह पार्थिव अग्नि और वह सूर्य अर्थात् अन्तरिक्ष अग्नि या वायु परस्पर विवाद करते हैं कि हम दोनों यज्ञ के वेत्ताओं में कौन अधिक यज्ञ कर्म जानता है) ।

अवरस्पर - आस पास और दूर दूर के लोगों को बुलाना ।

'अवरस्पराय शंखध्मम्'

वाज.सं. ३०.१९, तै.ब्रा. ३.४.१.१३.

अवरा - (१) शरीर के नीचे भाग की नाड़ी (२) नाते में छोटी स्त्री ।

'तिष्ठावरे तिष्ठ पर'

अ.१.१७.२

(३) माता, (४) अर्वाचीन ।

'नि नव्यसीष्ववरासु धावते'

ऋ.१.१४१.४

जीव पहले की माताओं की तरह उसके बाद और अब की माताओं के गर्भ में उसी प्रकार जन्म लेता रहता है ।

अवरासः - बाद के उत्पन्न जीव ।

'तं पृच्छन्तो अवरासः पराणि'

ऋ.६.२१.६

अवरुद्ध - अव +रुध् +क्त । रुका हुआ ।

'अवरुद्धः परिपदं न सिंहः'

ऋ.१०.२८.१०

अवरेपितरः - (१) निकृष्ट पितर या प्रेतात्मा जो मृत्यु के उपरान्त पृथ्वी लोक में ही आश्रित हैं-

(२) प्रथम श्रेणी के ऐश्वर्य -सम्पादक पितर प्रेतात्मा के अर्थ में 'पितर' शब्द को आर्य-समाजी विद्वान् नहीं मानते ।

'उदीरतामवर उत्परासः
उन्मध्यमा पितरः सोम्यासः'

ऋ. १०.१५.१, अ. १८.१.४४, वाज.सं. १९.४९, तै.सं. २.६.१२.३, मै.सं ४.१०.६,१५७.४, ऐ.ब्रा. ३.३७.१२, आश्व,श्रौ.सू. २.१९.२२,५.२०. ६, आश्व.गृ.सू. २.४.६, नि. ११.१८.

अवरोकी - बुरे कामों से रोकने वाला पुरुष ।

'श्वेता अवरोकिण आदित्यानाम्'

वाज.सं. २४.६,मै.सं. ३.१३.७,१७०.१.

अबलास - अ + बलास = अबलास, बलास = अर्थात् कफ को बढ़ाने वाला जो न हो ।

'अबलासावदोमधौ'

अ.८.२.१८

अवलिप्त - शरीर पर चन्दन आदि का विशेष अवलेप लगाने वाला ।

'अवलिप्ता रौद्राः'

वाज.सं. २४.३,मै.सं. ३.१३.४,१६९.६.

अववित् - समीप का देश ।

'अर्वावितो न आगहि'

ऋ.३.३७.११,४०.८, अ. २०.६.८, २०.२०.४, २०.५७.७, मै.सं. ४.१२.३: १८४.९,

अवविद्ध - निराश ।

'अवविद्धं तौग्र्यम् अप्सु अन्तः'

ऋ. १.१८२.६

अवंश - (१) बांस से रहित, (२) स्तम्भ के बिना, (३) अवलम्ब-रहित आकाश ।

'अवंशे द्याम् अस्तभायत् बृहन्तम्'

ऋ.२.१५.२

(४) सन्तान रहित होना ।

'नक्षन्ते नाकं निर्ऋतेरवंशात्'

ऋ.७.५८.१

अवंशे - बांस आदि स्थूल पदार्थ को अवलम्ब के बिना रहने वाले द्यावापृथिवी ।

'उर्वी गभीरे रजसी सुमेके
अकंशे धीरः शच्या समैरत्'

ऋ.४.५६.३, मै.सं. ४.१४.७,२२४.१०, तै.ब्रा. २.८.४.७.

अवव्ययन् - अपने अधीन करता हुआ ।

'अवव्यन् असितं देव वस्म'

ऋ.४.१३.४, मै.सं. ४.१२.५,१९४.१, का.सं. ११.१३, तै.ब्रा. २.४.५ .५, आप.श्रौ.सू.१६.११.१२.

अवव्रव - (१) अवक्षिप्त वचन, (२) निरर्थक वचन, (३) उन्मत्त प्रलाप ।

अवशस् - अव + शसु (हिंसा करना) + क्विप् = अवशस् - नीचे गिराने वाला ।

'अवशसा निःशसायत् पराशसा'

अ.६.४५.२

अवश्रधया - ढीला कर यह खोल ।

'अवाधमं विमध्यमं श्रयाय'

ऋ.१.२४.१५, अ.७.८३.३,१८.४.६९, आ.सं. १.४., वाज.सं. १२.१२, तै.सं. १.५.११.३,४.२.१.३, मै.सं. १.२.१८,२८.८,४.१४.१७:२४६.५ का.सं. ३.८, १६.८, श.ब्रा. ६.७.३.८, साम.मं.ब्रा. १.७.१०.

हे आदित्य ! आप हमारे ऊपर वाले तथा निचले बंधन को ढीला करें ।

अवश्वस् - (१) नीचे की ओर से बहने वाली नदी, (२) प्राण लेने वाला ।

'अपां तारम् अवश्वसम्'

अ.४.३७.३

अवः, अवस् - नीचे ।

'अवः परेण पर एना वरेण'

ऋ.१.१६४.१७, अ.९.९.१७,१८.

अव (रक्षा करना) + असुन् = अवस् । अर्थ-रक्षा ।

'त आ गतावसा शंतमेन'

ऋ.१०.१५.४, अ.१८.१.५१, वाज.सं. १९.५५, तै.सं. २.६.१२.२, मै.सं.४.१०.६,१५६.१३; का.सं. २१.१४.

वे हव्य खाने वाले आप अत्यन्त सुख-कारक रक्षा के साथ आवें (शन्तमेन अवस्त आगत)

पुनः-

'हिरण्यस्तूपः सवितर्यथा त्वा
अङ्गिरसो जुह्वे अस्मिन्
एवा त्वार्चन् अवसे वन्दमानः
सोमस्येवांशुं प्रति जागरहाम्'

ऋ.१०.१४९.५, नि. १०.३३

हे सविता जिस प्रकार तुझे अंगिरस के पुत्र तथा मेरे पिता हिरण्यस्तूप ने इस अन्न निमित्त यज्ञ में आमन्त्रित किया उसी प्रकार मैं अर्चन् नाम का या पुजा करता हुआ तुझे रक्षा के लिए वन्दना

करता हूँ जैसे कोई यजमान सोमरस की रक्षा के लिए जागता है ।

अवसः - अव (रक्षा करना) धातु से सम्पन्न । जिससे रक्षा होती है । अर्थ है-पाथेय ।

'तेनावसेन परो मूजवतोऽतीहि'

तै.सं. १.८.६.२, मै.सं. १.१०.४: १४४.१४, १.१०.२०: १६०.१५, का.सं. ९.७,३६.१४, ला.श्रौ.सू. ५.३.१२.

हे इन्द्र ! उस पाथेय को ले (तेन अवसेन) मूजवान् नाम पर्वत के उस पार (मूजवतः) जा (अतीहि) ।

(२) अवसम्-रक्षण सामर्थ्य ।

'एतत्ते रुद्रावसम् तेन परो मूजवतोऽतीहि'

वाज.सं. ३.९६, वाज.सं.(का.) ३.८.६, श.ब्रा. २.६.२.१७.

(३) भृशं गन्तृसत्वभूतम् (नित्यगमनशील-गौ)

(४) पथि अदनम् -मार्ग में भोजन करना । गाय का दूध पाथेय के कार्य में आता है । अतः वह अवस है ।

अव +असु =अवस् । अव का अर्थ जाना है । पथि +अद् +ल्युट् =पथ्यदन । तस्तुसः जो चलता हुआ खाता है (अवत् गच्छत् अशति) उसे अवस कहा गया है । पृषोदरादिवत् सिद्ध ।

'मयोभूः वातो अभिवातूस्रा
ऊर्जस्वतीरोषधीरा रिशन्ताम् ।
पीवस्वतीर्जीवधन्याः पिबन्त्व ।
वसाय पद्वते रुद्र मृड ।'

ऋ.१०.१६९.१, तै.सं.७.४.१७.१, का.सं. (अश्व.)४.६, तै.ब्रा.३.८.१८.३, आप.श्रौ.सू. २०.१२.२, आश्व.गृ.सू. २.१०.५.

घास के लिए वन मे जाती हुई गौओं के सम्बन्ध में इस विनियोग है । वायु (मयोभूः) इन गायों के सामने (एता उस्रा अभिवातु) तथा ऐसी हवा में खूब दूध वाला होकर (ऊर्जस्वतीः) औषध घासों का घूम घूमकर स्वाद ले (ओषधीः तृणानि आरिशन्ताम्), घास खा खाकर जीवों का प्राण दायक जल पीवें, (जीवधन्याः पिबन्तु) । हे रुद्र, तू इस चरण युक्त पथ में चल कर चरने वाली गौ हिंसा न कर (पद्वते अवसाय मृड)

अवसर्जन - सुखपूर्वक विचरण ।

'एषां बद्धानाम् अवसर्जनाम कम्'

अ. ६.८४.१, वाज.सं. १२.६४. तै.सं. ४.२.५.३, का.सं.१६.१२, श. ब्रा. ७.२.१.११.

अवस्थः - अव +स्था +क । (१) स्त्री योनि के निकट गया हुआ -सा. (२) निम्न कोटि का

'अवस्थस्य ह्रदीवतः'

अ.७.९०.३

अवस्पर्ता - रक्षा कर दुःख से पार करने वाला ।

'अवस्पर्तधिवक्तारमस्मयुम्'

ऋ.२.२३.८

अवस्फूर्जत् - (१) नीचे विद्युत् फेंकने वाला मेघ, (२) आग्नेय अस्त्रों का शत्रु पर प्रयोक्ता ।

'अवस्फूर्जते स्वाहा'

वाज.सं. २२.२६

अवस्यत् - अपनी रक्षा चाहता हुआ या चाहने वाला ।

'अवस्यते स्तुवते कृष्णियाय
ऋजूयते नासत्या शचीभिः'

ऋ.१.११६.२३

हे सत्यज्ञान और व्यवहार वाले विद्वान् पुरुष आप दोनों अपना रक्षण और ज्ञान चाहने वाले (अवस्यते), स्तुतिशील (स्तुवते) विद्वान् सबके चित्तों के आकर्षक (कृष्णियाय) या दुःखों के विनाश करने में समर्थ धर्म मार्ग पर चलने वाले सरल स्वभाव (ऋजूयते) सर्वहितकारी पुरुष के व्यवहारों को यथार्थ रूप से देखने के लिए अपनी शक्तियों और ज्ञानवाणियों द्वारा (शचीभिः) व्यापक ज्ञानशील विद्वानों से प्राप्त होने वाला ज्ञान खोए हुए पशु के समान प्राप्त करें (नष्ट पशुं न) ।

अवस्रवेत् - अधोगति प्राप्त करे, नीचे गिरे या गिरावे ।

'अवस्तवेददधशंसाडेवतरम् अवक्षुद्रमिव स्रवेत् ।'

ऋ. १.१२९.६, नि. १०.४२

पापों का प्रचारक या चोर अधोगति प्राप्त करे। अत्य निकृष्ट को जल की तरह अपने स्थान से गिरा दे ।

अवस्रस् - नीचे गिराना, स्थानभ्रष्ट होना ।

अवस्वन्य - ऊंचे गर्जन क साथ कार्य करने वाला ।

'नम ऊर्माय चावस्वन्याय च'

वाज.सं. १६.३१, तै.सं. ४.५.५.२, मै.सं.

२.९.५,१२४.१४, का.सं. १७.१४.

अवसा - (१) ज्ञान, (२) रक्षादि सामर्थ्य ।
'कथा श्रृण्वन् अवसामस्य वेद'
ऋ.४.२३.३

अवसाता - दाता प्रभु ।
'अत्रायुक्तो अवसातारामिच्छात्'
ऋ.१०.२७.९

अवसान - (१) स्थान ।
'इदमुच्छ्रेयोऽवसानमागाम्'
अ.१९.१४.१
(२) शरण, (३) सुख ।
'ददाम्यस्मा अवसानमेतत्'
अ.१८.२.३७

अवसानदर्श - अवसाने अन्तभूते द्युलोके दशर्म्', अवसानं कर्मफलं तद् दर्शमिति (प्रलयः काल में भी जो कर्मफलों को दिखलाने वाला हो) (२) प्रलय काल में भी सब पदार्थों और कर्मफलों का द्रष्टा परमात्मा ।
'श्येनो नृचक्षा अवसानदर्शः'
अ.७.४१.१

अवसान्य - कार्यों की समाप्ति करने में कुशल ।
'नमो याम्याय च क्षेम्याय च'
वाज.सं. १६.३३, तै.सं. ४.५.६.१, मै.सं. २.९.६: १२५.५, का.सं. १७.१४

अवसानां - (१) समीप या शरण में आई हुई (२) सदा पति को चाहने वाली तथा निकट रहने वाली स्त्री ।
'दिवो यह्वीरवसाना अनग्नाः'
ऋ. ३.१.६

अवस्तात् - नीच की ओर ।
'स्वधा अवस्तात् प्रयतिः परस्तात्'
ऋ.१०.१२९.४, वाज.सं.३३.७४, तै.ब्रा. २.८.९.५.

अवसृष्टा - अव +सृज् +क्त +टाप् । छोड़ी गई । रुद्र की विद्युत का विशेषण ।
'या ते दिद्युत् अवसृष्टा दिवस्परि'
ऋ.७.४६.३, नि.१०.७.
हे रुद्र । जो तेरा ज्वरादि व्याधि रूप आयुध दयुलोक से छोड़े जाकर ।

अवसै - अवसान, समाप्ति ।
'स्वस्त्या गृहेभ्यः आवसा आ विमोचनात्'
ऋ. ३.५३.२०, आप.मं.पा.२.३.१, हि.गृ.सू.१.५.१.

अवहना - नाश करने वाला ।
'दुष्प्राव्योऽवहन्तेदवाचः'
ऋ. ४.२५.६

अव्यः - (१) रक्षा कुशल जन ।
'अव्यो वारे परि प्रिय'
ऋ.९.५०.३, साम. २.५५७.
(२) उत्तम रक्षक या ज्ञानी के योग्य ।
'अव्य हरिर्न्यधाविष्ट सानवि'
ऋ.९.७०.८

अव्यस् - अध्यापक ।
'अव्यसश्च व्यचसश्च'
अ.१९.६८.१

अव्यंत्वच् - (१)भेड़ के बाल का आसन (२) सबको आवरण करने वाला तपोमय प्रधान तत्व प्रकृति ।
'अव्ये वधूयुः पवते परित्वाचि'
ऋ.९.६९.३

अव्यथमाना - कभी पीडित न होती हुई स्त्री ।
'अव्यथमाना पृथिव्यामाशा दिश आपृण'
वाज.सं. ११.६३, मै.सं. २.७.६, ८२.१, ३.१.८, १०.१७, का.सं. १६.६, १९.७, श.ब्रा. ६.५.४.१२.

अव्यथ्य - (१) पीड़ा न देने योग्य, (२) स्त्रियों को पीड़ा न देने वाला, (३) कठोर वचन या अपमान आदि न करने योग्य ।
'अस्मै तिस्रो अव्यथ्याय नारीः'
ऋ.२.३५.५.

अव्यथिः - व्यथा रहित ।
'प्रोढ़ समुद्रम् अव्यथिः जगन्वान्'
ऋ.१.११७.१५
तुम दोनों में से प्रत्येक विवाहित पुरुष (प्रोढ़ः) बिना व्यथा के (अव्यथिः) संसार रूपी समुद्र के पार जाने वाला है (समुद्रं जगन्वान्)

अव्यथी - (१) व्यथा न देने वाला, पीड़ा से बचाने वाला, (२) पीड़ा, दुःख बाधादि से रहित ।
'तदव्यथी जरिमाणस्तरन्ति'
ऋ.१०.२७.२१
(३) व्यथित न होने वाला या दूसरे को व्यथित न करने वाला ।
'पतत्रिभिः अश्रमैः अव्यथिभिः'
ऋ.७.६९.७, मै.सं.४.१४.१०, २३०.८, तै.ब्रा. २.८.७.९.

अव्यनत् - अ +वि +अनत् । अप्राणी ।

‘अव्यनच्च व्यनच्च सस्नि’

ऋ. १०.१२०.२, अ. ५.२.२, २०.१०७.५, साम. २.८३४, ऐ.आ. १.३.४.७.

अव्ययवार - (१) भेड़ की ऊन का बना आसन, (२) स्थायी, वरणीय पद या अधिकार ।

‘पवन्ते वारे अव्यये’

ऋ. ९.६४.५, साम.२.३८.५.

अव्ययी - (१) भेड़ का बना कम्बल, (२) अविनाशी कन्या ।

‘गव्ययी त्वग्भवति निर्णिगव्ययी’

ऋ.९.७०.७

अव्रण - व्रण, घाव आदि से रहित ।

अव्रत - (१) अनियमित रुप से आने वाला ज्वर ।

‘इमं मण्डूकम् अभ्येति अव्रतः’

अ.७.११६.२

(२) व्रत या नियम से नहीं रहने वाला । (३) यज्ञहीन ।

‘निरव्रतां अधमो रोदस्योः’

ऋ.१.३३.५

(तू व्रतहीनों, नियम या प्रतिज्ञा नहीं पालने वालों अशिक्षितों को पृथ्वी और आकाश से विनाश कर दे ।

अव्रदन्त - कोमल होकर झुक जाते हैं ।

‘अश्रथ्नन् दृढाव्रदन्त वीडिता’

ऋ.२.२४.३

अब्रह्मनता - धन हीनता, (२) अवेदज्ञता (३) निरीश्वरवादिता ।

‘अयुक्तासो अब्रह्मता यदसन्’

ऋ.५.३३.३

अब्रह्मा - (१) ज्ञान और गुणों से दरिद्र (२) जो वेदज्ञ न हो ।

‘अब्रह्मा ब्रह्मणः पुत्रः’

(३) बिना वेद या वेदज्ञ का यज्ञ

‘ना ब्रह्मा यज्ञ ऋधक् जोषति त्वे’

ऋ.१०.१०५.८

अवाक् - अयोग्य निन्दितवाणी बोलने वाला ।

‘दुष्प्राव्योऽवहन्तेदवाचः’

ऋ.४.२५.६

अवाची - नीचे गति करने वाली ।

‘ऊर्ध्वा अवाचीः पुरुषे तिरश्चीः’

अ.१०.२.११

अवाञी - नञ् +वाजी । मूर्ख, अज्ञानी ।

‘नावाजिनं वाजिनाहासयन्ति’

ऋ.३.५३.२३

अवात - (१) जिसे वायु के झोंके न लगे हों, (२) शत्रुरूप प्रतिकूल वायु से न झुका हुआ, (३) कभी न बुझने वाला अग्नि ।

‘वन्वन् अवातो अस्तृतः’

ऋ.६.१६.२०, का.सं.२०.१४.

(४) प्रचण्ड वायु के समान धक्का न लगाने वाला ।

‘अदृप्त क्रतुरवातः’

ऋ.८.७९.७

(५) वायु-रहित

‘न मृत्यु रासीत् अमृतं न तर्हि
न रात्र्या अह्न आसीत् प्रकेतः
आनीदवातं स्वधया तदेकं
तस्माद्धान्यन्न परः किंचनास’

ऋ.१०.१२९.२, तै.ब्रा. २.८.९.४.

अवाता - विध्नादिनाशक कारणों से रहित, (२) अहिंसक पुरुष के अधीन स्त्री, (३) अनन्यपूर्वा स्त्री ।

‘सावह योक्षभिरवाता
उषो वरं वहसि जोषमनु’

ऋ.६.६४.५

(४) प्रतिकूल शत्रुओं से रहित ।

(५) बिना वायु के मूसलाधार वृद्धि ।

अबाधूनोत् - अव +अधूनोत् । अधोमुखानि अपातयत् (अधोमुख कर नीचे गिराया या लाया)

अवायसी - अव +आयती । नीचे की ओर जाती हुई जल धारा, (२) समझती बुझती हुई कन्या ।

‘ *‘कन्या वारवायती’*

ऋ.८.९१.१

अवार - अवारम् , अवरम् , अवनाय । अवरम् = परस्मात् कूलात् (दूस किनारे से तट से) । अव (रक्षणार्थक) +अरन् =अवरम् अवारम् (उपधा की वृद्धि बाहुत्लक नियम से)।

अर्थ - (१) जो रक्षाके निमित्त हो वह अवार है ।

आधुनिक अर्थ-नदी का समीपवर्ती तट, इस पार, अवार पार, समुद्र , अवारपारीण, (१)

सामुद्रिक ।
'अवाराय केवर्तम्'
वाज.सं. ३०.१६

अवार्य - (१) अपरा विद्या का विज्ञ ।
'नमः पार्याय चावार्याय च'
वाज.सं. १६.४२
(२) नदी के इस पार का लगा कास, (३) अनिवार्य, (४) तिरस्कार न करने योग्य, (५) समीप प्रान्त का वासी ।
'अवार्या इक्षवः'
वाज.सं. २५.१

अवास्तु - नञ् +वास्तु । गृह-विहीन ।
'अवास्तुमेनम् अस्वगम्'
अ. १२.५.४५

अवास्या - अव +अस् +ल्यप् =अवास्य । अर्थ (१) गिरकर, (२) पड़कर, (३) नीचे कर ।
'अवास्या शिशुमतीः'
ऋ.१.१४०.१०
(जल धाराओं को गिराकर गौओं पर पड़कर या शत्रु सेनाओं को नीचे कर (अवास्या) बालकों से युक्त उत्तम प्रजाओं अश्वों से युक्त सेनाओं की ।

अव्रात्य - जो व्रात्य नहीं है ।
'अथ यस्याव्रात्यो व्रात्यब्रुवः'
अ.१५.१३.११

अवि - (१) षण्मासकालोऽविः (छः महीनों का काल अवि कहलाता है ।)
'पञ्चाविर्गौर्वयो दधुः'
वाज.सं. २१.१४, मै.सं. ३.११.११, १५८.३, का.सं. ३८.१०, तै.ब्रा. २.६.१८.२.
(२)अपने अंगों का रक्षक, (३) लोक से लोकान्तर में गति करने वाला-आत्मा ।
'अविं लोकेन संमितम्'
अ.३.२९.३-५.
(४) सर्व-रक्षिका भूमि, (५) राज शक्ति ।
'अविरासीत पिलिप्पिला'
वाज.सं. २३.१२,५४, तै.सं. ७.४.१८.१, मै.सं. ३.१२.१९, १६६.७, का. सं.(अश्व). ४.७.
(६) सर्वपालक देवता ।
'अविर्वै नाम देवता'
अ.१०.८.३१

अविका - (१) गन्धार देश की एक प्रकार की
(२) रक्षा करने वाली । (३) अधिक रक्षा क
वाली स्त्री ।-(दया.)
'सर्वाहमस्मि रोमशा
गन्धारीणा मिवाविका'
ऋ.१.१२६.७.
मेरे सर्वांग में रोएं हो आए हैं जैसे गन्धार
की भेड़ियों में अवि का नाम की भेडी को-
मैं पूर्णतया प्रशस्त रोओं वाली और पृथ्वी
राज्य धारण करने वाली स्त्रियों
(गान्धारीणाम्) अधिकांक्षा करने वाली
(अविका अस्मि)

अविक्षित - अक्षीण ।
'अविक्षितास आयुषा सुवीराः'
ऋ.७.१.२४

अविक्रीत - जो बिक गया न हो । अ +वि +
क्त =अविक्रीत ।
'अँविक्रीतो अकानिषं पुनर्यन्'
ऋ.४.२४.९

अविचाचलि - अचल, स्थिर ।
'ध्रुवस्तिष्ठाविचाचलिः'
ऋ.१०.१७३.१, वाज.सं. १२.११, तै.सं. ४.२.१
५.२.१.४, श.ब्रा. ६ .७.३.७, तै.ब्रा. २.४.२.८

अविचेतन - अविज्ञातार्थ, जिसका अर्थ विज्ञा
हो ।
'यद्वाग्वदन्ती अविचेतनानि
राष्ट्रीं देवानां निषसाद मन्द्रा
चतस्र ऊर्जं दुदुहे पयांसि
क्वस्विदस्याः परमं जगाम'
ऋ.८.१००.१०, तै.ब्रा. २.४.६.११, आश्व. श्रौ
३.८.१, नि. ११. २८,
जब माध्यमिका वाक् शब्द रूपी गर्जन ल
वाली अविज्ञातार्थ ध्वनि करती, तब अन्त
लोक अर्थात् माध्यमिक देवों की ईश्वरा (रा
तथा लोक को प्रसन्न करने वाली (मन्द्रा)
बरसाने लगती है (निषसाद) तब चारों दि
एवं उपदिशाएं अन्न तथा जलों का संग्रह क
हैं (दुदुहे) इस माध्यमिका वाक् का श्रेष्ठ
(परमम्) कहां चला जाता है (क्वसित् जगा
दुर्ग का अर्थ-क्वैतानि निष्या द्यौ
गच्छन्ति ? कुतो वा प्रतिवत्सरं पुन रागच्छ

इन औषधियों को उत्पन्न कर कहां चली जातीं ओर फिर प्रति वर्ष कहां से वे औषधियों आ जाती हैं ?)

आर्यसमाज का अर्थ –जब अविज्ञात अर्थों को बतलाने वाली, विद्वान् लोगों की स्वामिनी (देवानां राष्ट्री) प्रसन्नता देने वाली (मन्द्रा) दिव्यवाणी प्राप्त होती है (निषसाद) तब वह अपने प्रभाव से चारों दिशाओं में अन्न और रस दोहाती है, (चतस्रयः ऊर्ज पयांसि दुदुहे) । देखो, मनुष्य इस वाणी के प्रभाव से उत्पन्न रस को कहां कहां पाता है ।

अविच्छेद – नाश न होना ।
'यज्ञस्यविच्छेदाय तद् व्रतम्'
अ.९.६.३८

अविजाता – विशेष कारण से सन्तान न उत्पन्न करने वाली स्त्री ।
'परिवत्सराय अविजाताम्'
वाज.सं. ३०.१५

अविजानन् – विशेष तत्वज्ञान को न जानने वाला ।
'पाकः पृच्छामि मनसा विजानन्'
ऋ.१.१६४.५, अ.९.९.६.

अविज्ञाता – (१) ज्ञान-रहित प्रजा, (२) अज्ञात कुल की कन्या ।
'अविज्ञाताऽदित्यै'
वाज.सं. २४.५

अवितवे – रक्षा के लिए ।
'न मे दूरादवितवे वसिष्ठाः'
ऋ.७.३३.१

अवितारा – अवितारौ –रक्षा करने वाले अश्विद्वय, स्त्री पुरुष या राजा रानी ।
'वसुधिती अवितारा जनानाम्'
ऋ.१.१८१.१.

अवितारिणी – विनाश न होने देने वाली ।
'सुमेधामवितारिणीम्'
ऋ. ८.५.६.

अवित्री – रक्षा करने वाली ।
'सानोबोध्यवित्री मरुत्सखा'
ऋ.७.९६.२

अविधुर – (१) परास्त न होने वाला । (२) जिसकी स्त्री मरी न हो ।

अविद् – अविद्वान् विद्याहीन ।
'विद्वांसाविद् दुरः पृच्छेत्'
ऋ.१.१२०.२
(अविद्वान् जानकार से बड़े महल के दरवाजे पूछता है या अज्ञानी ज्ञानी से संसार बन्धन से मुक्त होने के द्वारों को पूछे ।)

अविदत् – अविन्दत । 'विन्दते' का अर्थ प्राप्त करता है ।
'ज्यायांसमस्य यतुनस्य केतुन
ऋषिस्वरं चरति यासु नाम ते
यादृश्मिन् धायि तमपस्यया विदत्
य उ स्वयं वहते सो अरं करत्'
ऋ.५.४४.८.
हे देव । यह यजमान अत्यन्त प्रवृद्ध, गमनशील या प्रयलशील भगवान् सूर्य के प्रज्ञापक कर्म से (अस्य य तुनस्य केतुना) विशिष्ट ऋषियों से स्तुत्य (ऋषि स्वरम्) तेरी स्तुति करता है (चरति) । जिन स्तुतियों में तेरा रूप या नाम वर्तमान रहता है वह यजमान किसी कामना में मन रखता है उस कामना को क्रिया रूप से या फल रूप से (अपस्यया) वह प्राप्त करता है ।

अविदाम – विजानीम (हम जानते हैं)
'बतो बतासि यम
नैव ते मनो हृदयं चाविदाम
अन्या किल त्वां कक्ष्येव युक्तम्.
परि ष्वजाते लिबुजेव वृक्षम्'
ऋ. १०.१०.१३, अ. १८.१.१५, नि. ६.२८
यमी यम से कहती है-हे यम, तू निर्बल है (वतः) तू सचमुच अनुकम्प्य है कि मेरे साथ संभोग नहीं कर सकता (वत असि) मुझे तेरे मन या हृदय का पता नहीं । जान पड़ता है मेरे समान कोई अन्य युवती तुझ से उसी प्रकार हिलमिल गई है जैसे घोड़ी की जिन कसने वाली रस्सी (कक्ष्या) घोड़े से या लता वृक्ष से मिल जाती है ।

अविदस्य – अविनाशी ।
'धाता रयिमविदस्यं सदासाम्'
ऋ.७.३९.६.

अविद्या – (१) अविद्या, नित्य, पवित्र सुख और आत्मा से पदार्थों को नित्य, पवित्र, सुख और आत्मा जानना
'येऽविद्यामुपासते'

वाज.सं. ४०.१२

(२) लौकिक ज्ञान या कर्म जिससे जीवन यापन किया जाता है वैज्ञानिक आविष्कार आदि अविद्या के ही अन्तर्गत है । विद्या का अर्थ पारलौकिक ज्ञान या ब्रह्म ज्ञान या आत्म ज्ञान है जिस से मोक्ष सिद्धि होती है ।

अविद्रिया - (१) द्र (विदारणार्थक) +इयक् +टाप् =द्रिया, अ +वि +द्रिया = अविद्रिया-महीधर (२) दृ +क +घ-दया.

(३) द्रा (कुत्सागति) +कि =अविद्रिः, निन्दा, तद्विरोधिनीं स्तुतिं याति इति अविद्विया ।

अर्थ-अखण्डित, कभी नष्ट न होने वाला, दृढ़ त्रुटि रहित, आनन्दित, उत्तम ।

'अविद्रयाभिरूतिभिः'

ऋ. १.४६.१५, वाज.सं. ३४.२८.

(दृढ़ रक्षा के उपायों से)

अविद्वान् - विद्या रहित, मूर्ख ।

'अविद्वान् इत्था परो अचेताः'

ऋ.१.१२०.२

अविद्विष - कभी द्वेष न करना, प्रेमव्यवहार करना ।

'इक्षुणा गामविद्विषे'

अ.१.३४.५

अविदुष्टर - व्रतों तथा शुभ कर्मों को सर्वथा न जानने वाला ।

'विदुषा देवा अविदुष्टरासः'

ऋ.१०.२.४, अ.१९.५९.२ तै.सं. १.१.१४.४, मै.सं. ४.१०.२, १४७.६, का.सं. ३५.९.

अविद्वेष - परस्पर द्वेष भाव से रहित ।

'अविद्वेष कृणोभि वः'

अ.३.३०.१.

अविधवा - विधवा न होने वाली नारी ।

'इमा नारीरविधवाः सुपत्नीः'

ऋ.१०.१८.७, अ. १२.२.३.१, १८.३.५.७, तै.आ. ६.१०.२, आश्व.गृ.सू. ४.६.१२, शां.शौ.सू. ४.१६.६.

अविप्र - (१) अविद्वान् , बालक आदि ।

(२) ब्राह्मणेतर ।

'अवि प्रेचिद् वयोदधत्'

ऋ.६.४५.२.

'अविप्रो वा यदविधत्'

ऋ.८.६१.९, शां.श्रौ.सू. १८.८.१४.

अविपाल - भेड़ो का पालक ।

'वीर्यायाविपालम्'

वाज.सं. ३०.११, तै.ब्रा. ३.४.१.९.

अबिभ्युस् (१) अभयवान्, निर्भीक ।

'इन्द्रेण सं हि दृक्षसे
संजग्मानो अबिभ्युषा
मन्दू समानवर्चसा'

ऋ.१.६.७, अ. २०.४०.१, साम. २.२००, पंच.ब्रा १२.२.६, आश्व.श्रौ.सू .७.२.३, नि.४.१२.

तू दीप्त एवं निर्भीक इन्द्र से संगत दीख पड़ता है और तुम दोनों जब साथ रहते हो तो नित प्रसन्न और समान दीप्ति से युक्त रहते हो ।

(२) निर्भय, (३) भय-निवारक ।

'स्तवा अबिभ्युषा हृदा'

ऋ.९.५३.२, साम. २.१०६५.

अविमान् - (१) प्राणों का स्वामी, (२) राष्ट्र के रक्षक पुरुषों स्वामी, (३) भेड़े आदि पशुओं का स्वामी, भेडिया ।

'गोमान् अग्ने अविमां अश्वीयज्ञः'

ऋ.४.२.५, तै.सं. १.६.६.४, ७.६.७, ३.१.११.१, का.सं. ५.६,३२.६.

'वृक इवाविमतो गृहम्'

अ.६.३७.१

अविमोक्य - नहीं छूटने लायक ।

'दाम ग्रीवास्वविमोक्यं यत्'

अ.६.६३.१

अविरण - अ +वि +रण । विशेष युद्धादि का न करना ।

'सहो नभोऽविरणाय पूर्वीः'

ऋ. १.१७४.८

अविराध्यन्ती - बिगाड़ न करती हुई स्त्री ।

'संप्रिया पत्याविराधयन्ती'

अ.२.३६.४

अविवेनन् - अ +वि +वेनन् । विशेष कामना से रहित ।

'सध्रीचीनेन मनसाविवेनन्'

ऋ.४.२४.६

अविशस्ता - (१) विशेष ज्ञान के शासन या शिक्षा करने में अकुशल पुरुष (२) शत्रु का नाश करने में असमर्थ ।

'मा ते गृध्नुरविशस्तातिहाय

छिद्रा गात्राणि असिना मिथू कः'
ऋ.१.१२६.२०, वाज.सं. २५.४३, तै.सं. ४.६.९.४, का.सं. (अश्व) ६.५.

अविश्वमिन्व - (१)विश्व अर्थात् जीवों का नाश न करने वाला (२) जिसे जीवगण नाश नहीं करते या जीव से जिसे पृथक न रखा सके-देह ।
'सप्तचक्रं रथमविश्वमिन्वम्'
ऋ.२.४०.३, मै.सं. ४.१४.१, २१५.१, तै.ब्र. २.८.१.५.

अविश्वमिन्वा - (१) समस्त साधारण अज्ञजनों से न सेवन करने योग्य वाक् वेदवाणी ।
'मन्त्रयन्ते दिवो अमुष्य पृष्ठे
विश्वविदं वाचमविश्वमिन्वाम्'
ऋ.१.१६४.१०, अ. ९.९.१०.
उस परोक्ष सबके कामना करने योग्य (अमुष्यदिवः) तेजोमय सबके रक्षक परमेश्वर पालन, सबके वर्धन सेचन के समार्थ्य के वर्णन में (पृष्ठे) समस्त साधारण अज्ञजनों से न सेवन करने योग्य (अश्वमिन्वाम्) समस्त संसार का ज्ञान कराने वाली (विश्वविदम्) वेदवाणी को (वाचम) गूढ़ रूप से भावपूर्ण रूप से वर्णन करते हैं (मन्त्रयन्ते) । (२) जो बात सबके समझने योग्य न हो ।

अविष - विषरहित ।
'अविषं नः पितुं कृणु'
वाज.सं. २.२०, तै.सं. १.१.१३.३, श.ब्रा. १.९.२.२०, तै.ब्रा. १.२.१.२५, ३.३.९.९.

अविष्ठः - सर्वोत्तम रक्षक ।
'यो अर्चतो ब्रह्मकृतिमविष्ठः'
ऋ.७.२८.५

अविष्यवःदेवाः - समस्त संसार की रक्षा की इच्छा करने वाले दक्षिण दिशा के देवता ।
'येऽस्यां स्थ दक्षिणायांदिशि
अविष्यवो नाम.देवास्तेषां वः काम इषवः'
अ. ३.२९.२

अविष्या - अवि +स्य +टाप् । रक्षा (२) आने और जाने की गति ।
'अह्यर्षूणां चिन्न्ययां अविष्याम्'
ऋ.२.३८.३

अविष्यु - हिंसा करने की इच्छा करने वाला, (२) हिंसा शील ।
'अविष्यवे रिपवे दुच्छुनायै'
ऋ.१.१८९.५,
'मा त्वा मूरा अविष्यवः'
ऋ.८.४५.२३, अ. २०.२२.२, साम २.८२.
(३) रक्षा चाहने वाला ।

अविहर्यतक्रतुः - (१) अविरुद्ध अर्थात् सबके प्रति उत्तम हित जनक कार्यों और प्रज्ञाओं के स्वामी-इन्द्र (२) न विद्यन्ते विरुद्धाः हर्यताः प्रज्ञा कर्माणि यस्य (जिसके प्रज्ञा कर्म विरुद्ध न हो वह) -(दया.)
'येनाविहर्यतक्रतो अमित्रान्
पुर इष्णासि पुरुहूत पूर्वीः'
ऋ. १.६३.२
(जिससे हे सबके प्रति हितजनक उत्तम कार्यों और प्रज्ञागणों के स्वामी ! हे सर्वस्तुत्य ! तू पूर्वकालींन शत्रुओं के नगरों पर चढ़ाई कर (इष्णासि)

अवीरघ्नी - वीर्य और सन्तान के नाश न करने वाला जल ।
'अवीरघ्नीः उदजन्त्वापः'
अ. १४.१.३९, आप.मं.पा. १.१.७

अवीरत - (१) वीरों से रहित सैन्य या देश
'मा नो अग्नेऽवीरते परा दाः'
ऋ.७.१.१९

अवीरता - वीरता का न होना ।
'मा वीरतायैरीरधः'
ऋ.३.१६.५.

अवीरहणौ - राष्ट्र के वीर पुरुषों का नाश न करन वाले ।
'अवीरहणौ ब्रह्मचौदनौ'
वाज.सं. ४.३३.

अवीरहा - (१) व्यर्थ ही वीरजनों को नहीं मारने वाला (२) वीर्य को नष्ट न करने वाला ब्रह्मचारी ।
'अवीरहा प्रचरा सोम दुर्यान्'
ऋ.१.९१.१९, वाज.सं. ४.३७, तै.सं. १.२.१०.१, का.सं. ११.१३, मै.सं. ४.१२.४, १८८.१२, ऐ.ब्रा. १.१३.२४, श.ब्रा. ३.३.४.३०.
हे सोम, आप व्यर्थ वीर पुरुषों का नाश न करने वाला होकर हमारे घरों में या द्वारों वाले नगरों

में आवें । (३) पुत्रों या प्राणों का नाश न करने वाला ।

'अप द्राहि अवीरहा'

अ. ६.१४.३

अवीरा - (१) वीरराजा से रहित प्रजा, (२) वीरपति से रहित स्त्री ।

(३) अबला

'अवीरामिव मामयं
शरारुरभि मन्यते ।
उताहमस्मि वीरिणी
इन्द्रपत्नी मरुत्सखा
विश्वस्मात् इन्द्र उत्तरः'

ऋ. १०.८६.९, अ. २०.१२६.९, नि. ६.३१.

इन्द्र पत्नी कहती है-यह मूर्ख तथा मृत्यून्मुख या शोख या शरूर नहुष मुझे अवीरा सी समझता है, नहीं जानता कि मैं इन्द्रपत्नी वीरिणी हूँ और इन्द्र मरुतों के मित्र एवं सबसे बढ़ कर है ।

अन्य अर्थ-यह मुझे मारने की इच्छा रखने वाला मूर्ख मनुष्य मुझे अवीरा सी समझता है परन्तु मैं वीरांगना हूँ, अपनी आत्मा की रक्षा करने वाली हूँ (इन्द्रपत्नी) तथा प्राण अपान वायु मेरे मित्र हैं तथा मेरा आत्मा सम्पूर्ण प्राकृतिक जगत् से ऊपर उठा हुआ है ।

(४) अ + वि + ईरा = अवीरा । विशेष चेतन तथा प्रेरक शक्ति से हीन -प्रकृति

अबुघ्न - मूलरहित या बन्धन रहित आकाश ।

'अबुध्ने राजा वरुणो वनस्य
ऊर्ध्वं स्तूपं ददते पूतदक्षः'

ऋ.१.२४.७

प्रकाशमान तेजोमय, सर्वश्रेष्ठ, स्वयं स्वच्छ, पवित्र और पावन कारी तेजोबल से युक्त होकर सेवन करने योग्य एवं विभक्त कर सर्वत्र पहुँचाने योग्य तेज समूह को सबके ऊपर मूल-रहित या बन्धन रहित आकाश में धारण करते हैं ।

अबुध्य - अज्ञानी ।

'अतृप्णुवन्तं वियतम् अबुध्यम्'

ऋ.४.१९.३

अबुध्यमान - चेताने पर भी न चेतने वाला ।

'अबुध्यमानं सुषुपाणमिन्द्र'

ऋ.४.१९.३

अबुभोजीः - भोगना या पालन करता है ।

'परि यदिन्द्र रोदसी उभे'
'अबुभोजीर्महिना विश्वतः सीम्'

ऋ.१.३३.९

हे सूर्य ! तू जिस प्रकार आकाश और पृथिवी दोनों का अपने महत् सामर्थ्य से भोग करता है

अवृक - (१) बिच्छू, सर्प आदि से रहित ।

'प्रनो यच्छतात् अवृकं पृथुच्छर्दिः'

ऋ. १.४८.१५

हमें तू बिच्छू आदि से रहित विशाल घर दे । (२) चोरी के स्वभाव से रहित, ईमानदार

'त्रायस्व नो अवृकेभिर्वरूथैः'

ऋ. ७.१९.७, अ. २०.३७.७, तै.सं. १.६.१२.६, मै.सं. ४.१२.३, १८३.३,

(३) अनमित्र , जिसका अमित्र या शत्रु न हो । अज्ञात शत्रु, सबसे साम्यभाव से बरताव करने वाला । वृक एक घातक जन्तु है जिसे भेड़िया कहते हैं । (४) अहिंसक । (५) अचोर

'यो रातहव्योऽवृकाय धायसे'

ऋ.१.३१.१३

जो रातहव्य तू वृक के समान हिंसक न होकर अहिंसक सौम्य होकर रहने वाले, और सबका पालन पोषण करने वाले पुरुष को (धायसे) ।

अवृकतम - सबसे अधिक ईमानदार । चौर्यवृत्ति से रहित, कृपालु ।

'अवृकतमो नरां नृपाता'

ऋ.१.१७४.१०

अवृकाःपितरः - (१) अहिसंक अस्तेन या अज्ञात शत्रु पितर (२) सबके मित्रविद्वान् -(दया.)

'असुं य ईयुरवृका ऋतज्ञाः
ते नोऽवन्तु पितरो हवेषु'

ऋ. १०.१५.१, अ. १८.१.४४, वाज.सं. १९.४९, तै.सं. २.६.१२.३, मै.सं. ४.१०.६, १५७.५, नि. ११.१८.

अवृजिन - त्याज्य पाप कर्म से रहित ।

'अवृजिना अनवद्या अरिष्टाः'

ऋ. २.२७.२, मै.सं. ४.१२.१, १७७.१२.

अवृत - (१) विघ्न बाधाओं से न घिरा हुआ (२) अकेला (३) अरक्षित, (४) जो मोहादि से घिरा हुआ न हो ।

'सहस्रावाजि अवृतः'

ऋ. १.१३३.७, ८.३२.१८, अ. २०.६७.१

यज्ञ का कर्म करने वाला ही अधिक पुरुषों से रक्षित न रहने पर भी (अवृतः) बलवान् होकर सहस्रों ऐश्वर्यों को प्राप्त करता है। (५) अनावृत, (६) न वरण करने योग्य, शरीर जो घृणा जनक पदार्थों का बना हुआ है, (७) अवद्ध अर्थात् आत्मा से सदा पृथक् शरीर।

'यस्य त्रिधात्ववृतम्'

ऋ. ८.१०२.१४, साम. २.९२१, का.सं. ४०.१४

अवृधः - दूसरों को न बढ़ने देने वाला।

अवेनन् - विशेष कामना न करने वाला।

'गर्भं माता सुधितं वक्षणासु
अवेनन्तं तुषयन्ती बिभर्ति'

ऋ.१०.२७.१६

अवेरिण - अव +इरिण =अवेरिण। अर्थ =अपार्ण मरुभूमि।

'यथा गौरो अपाकृतम्
तृष्यन्नेत्यवेरिणम्'

ऋ. ८.४.३, साम. १.२५२, २.१०७१, आश्व. श्रौ.सू. ७.४.४.

जैसे मरुप्रदेश में प्यासा मृग जल-पूर्ण तड़ाग को जाता है।

अवेहि - नीचे आ।

'एवात्वं दशमास्य
सहावेहि जरायुणा'

ऋ. ५.७८.८,

इसी प्रकार हे गर्भ (दशमास्य) तु जरायु के साथ नीचे आ (अवेहि)

अवैरहत्य - वैर के साथ हत्या न करना।

'अवैरहत्यायेदमा पपत्यात्'

अ. ६.२९.३

अवोः - नीचे।

'अवो देवमुपरि मर्त्यम् कृधि'

ऋ. ८.१९.१२

अश् - भोजन करना।

'यदश्नांसि यत् पिवसि

अ.८.२.१९

अशन् - (१) मेघ। अश् (व्यापानार्थ) +नक् =अशन् (बाहुलक नियम से) (२) व्यापक, (३) वायु।

'अश्नापिनद्धं मधु पर्यपश्यन्
मत्स्यं न दीन उदनि क्षियन्तम्
निष्टत् जभार चमसं न वृक्षात्
बृहस्पतिर्विरवेणा विकृत्य'

ऋ. १०.६८.८, अ. २०.१६.८, नि. १०.१२.

(बृहस्पति ने मेघ से छिपाए या दबाए जल को स्पष्ट देख लिया जैसे सूखे पानी में मत्स्य को फंसाने वाला मत्स्य को देखता है (दीन उदनि क्षियन्तं मत्स्यं न)। तत्पश्चात् अत्यन्त भयंकर ध्वनि से उस जल को खण्ड खण्ड कर उसे बाहर निकाला (निर्जभार), जैसे कुशल बढ़ई वृक्ष से काटकर चमस निकाल देता है।

अशनः - भोजन व्यापार से युक्त चेतन प्राणिगण

'साशनानशने अभि'

ऋ. १०.९०.४, वाज.सं. ३१.४, तै.आ. ३.१२.२.

अशनकृत् - भोजन बजाने वाला।

'यदशनकृतं ह्वयन्ति'

अ. ९.६.१३

अशमिष्ठाः - त्रुटियों को शमन किया या उन्हे दूर किया।

'ऋधगया ऋधगुता शमिष्ठाः'

वाज.सं. ८.२०, तै.सं. १.४.४४.२, मै.सं. १.३.३८, ४४.१५, का.सं. ४.१२, श.ब्रा. ४.४.४.१२, नि. ४.२५.

अशस् - (१) अप्रशस्त-दया. (२) प्रार्थना न करने वाला।

'दहाशसो रक्षसो पाह्यस्मान्'

ऋ. ४.४.१५, तै.सं. १.२.१४.६, मै.सं. ४.११५, १७४.८, का.सं. ६.११.

प्रार्थना न करने वाले द्रोही तथा निन्दक राक्षसों से रक्षाकर -

अप्रशस्त एवं घातक शत्रुओं से हमारी रक्षा कर -दया. (३) अश् (भोजन करना) धातु से सम्पन्न प्रजा को खा जाने वाला दुष्ट पुरुष (४) स्वयं अन्यों को न मारने वाला शस्त्र रहित पुरुष-निःशस्त्र।

'अवरुद्रा अशसो हन्तना वधः'

ऋ.२.३४.९

अशस्त - निन्दनीय।

'किमशस्तानि शंससि'

अ. ६.४५.१

अशस्त वार - अप्रशस्त मार्ग का वरण करने वाला।

'स रुद्रेभिः अशस्तवार ऋभ्वा'
ऋ.१०.९९.५

अशस्तिः - (१) असाध्य शत्रु । (२) शासन का उल्लंघन करने वाला (३) उच्छृंखल, (४) दुष्टपुरुष ।
'प्रतूर्वन्नेहि अवक्रामन् अशस्तीः'
वाज.सं. ११.१४
(५) निन्दित व्यक्ति ।
'शापं सिन्धूनाम् अकृणोत् अशस्तीः'
ऋ.७.१८.५.
(६) निन्दा ।
'हित्वाशस्तिं दिवमारुक्ष एताम्'
अ. १७.१.८

अशस्तिहा - (१) निन्दकों का नाशक ।
'अशस्तिहा जनिता विश्वतूरसि'
ऋ. ८.९९.५, अ. २०.१०५.१, साम. १.३११, २.९८७, वाज.सं. ३३.६६

अश्न - (१) सर्वव्यापक, (२) कर्मफल भोक्ता जीव, (३) सर्वव्यापक वायु (४) सब पदार्थों को खा जाने वाला अग्नि ।
'तस्य भ्राता मध्यमो अस्ति अश्नः'
ऋ. १.१६४.१, अ. ९.९.१, नि. ४.२६.
(४) भोजन, (६) भोक्ता जीव का भोग्य कर्मफल आदि ।
'वि य इनोत्यजरः पावकः
अश्नस्य चित् शिरश्नघत् पूर्व्याणि'
ऋ. ६.४.३
(७) प्रजा को खा जाने वाला दुष्ट (८) एक दैत्य ।
'अध्वर्यवो यः स्वश्नं जघान'
ऋ.२.१४.५.
अश् +नक् =अशन् । (९) जो व्याप्त हो वायु (१०) अशनि-(दया.) ।
'अस्य वामस्य पलितस्य होतुः
तस्य भ्राता मध्यमो अस्त्यश्नः ।
तृतीयो भ्राता घृतपृष्ठोअस्य
अत्रापश्यं विश्पतिं सप्तपुत्रम्'
ऋ. १.१६४.१, अ. ९.९.१, नि. ४.२६.
स्वर्ग में चमकने वाले, आरोग्यार्थियों के सेवनीय तथा पालक उस आहवनीय आदित्य के मध्यमस्थानी सर्वव्यापक भ्राता के समान वायु हैं क्योकि वायु वर्षा बरसाने के लिए सूर्य से रस पाता है जैसे भाई भागहती होता है । और इस वायु का भाई तृतीय अग्नि घृतस्पृष्ट है जो पृथ्वी पर रहता है । इन तीन भागों में विभक्त ज्योतियों में प्रजाओं के पालयिता सर्पणशील, सूर्यरूपी पुत्रों से युक्त सूर्य को देखा ।
सूर्य, वायु और अग्नि - इन तीनों ज्योतियों में प्रधान सूर्य हैं । अन्य अर्थ-इस प्रशस्त पालक, तथा ग्रहोपग्रहो को आहर्ता सूर्य का (होतुः) मेघ मध्यवर्ती अशनि दूसरा भाई है (मध्यमः अश्नः) भ्राता अस्ति) और इसका तीसरा भाई अग्नि (घृतस्पृष्टः)। इन तीनों भाइयों में मैं आदित्य को विशेषतया सर्वपालक देखता हूँ ।

अश्नःमृगः - भूखामृग, हरिण या सिंह
'मृगो नाश्नोअति यज्जुगुर्यात्'
ऋ.१.१७३.२.
भूखे मृग के समान ऊपर उठता और अधिक मात्रा में जल को अपने भीतर ग्रहण कर लेता है ।

अश्नापिनद्ध - व्यापक परमात्मा द्वारा ढका हुआ वेद ।
'अश्नापिनद्धं मधुपर्यपश्यन्'
ऋ. १०.६८.८, अ. २०.१६.८, नि. १०.१२.

अश्म - हीरा, पत्थर ।
'कार्मारो अश्मभिः द्युभिः हिरण्यवन्तमिच्छति'
ऋ.९.११२.२.
जैसे सोनार (कार्मारः) चमकते हीरों से (द्युभिःअश्मभिः) धनी सेठ को चाहता है (हिरण्यन्तम् इच्छति) ।

अश्मचक्र - (१) पत्थर के घेरे वाला, (२) सदा गतिशील चक्र से युक्त कूप ।
'द्रोणाहावमवतम् अश्मचक्रम्'
ऋ. १०.१०१.७, नि. ५.२६.
(३) अशनचक्रम् अशनि शब्द से अशणा का विनिमय हुआ है अर्थ व्यापनचक्र । अथवा असनानि क्षपणानि चक्राणि आयुधविशेषाः यत्र (जिसमें पीछे जाने वाले चक्र के समान आयुध हो) एक प्रकार का विशिष्ट आयुध'।

अश्नदिद्यव,ः अश्मदिद्यु - (१)मेघ को प्रकाशित करने वाले -वायु गण (२) व्यापक प्रभु या आत्मा में चमकने वाले ।

'विद्युन्महसो नरो अश्मदिद्यवः'
ऋ. ५.५४.३, नि. आश्व.श्रौ.सू. २.१३.७.

अश्मन् - अशन्-असन् । अशुङ् (व्याप्तत्यर्थक) या 'अस' (क्षेपणार्थक) + मनिन् =अश्मन् । अर्थ व्याप्त होने वाला या फेंके जाने वाला (२) पत्थर, (३) हीरा ।

अश्मन् अन्धः - (१) पत्थर या शिला या चक्की आदि में पीसा अन्य या कटी ओषधि (२) मेघ के आधार पर उत्पन्न दुःख ।
'स्वर्यदश्मन् अधिपा उ अन्धाः'
ऋ. ७.८८.२

अश्मनःपरि - पाषाण या मेघ के घर्षण से विद्युत या अग्नि की उत्पत्ति होती है ।
'त्वमद्भ्यः त्वमश्मनः परि'
ऋ. २.१.१, वाज.सं. ११.२७, तै.सं. ४.१.२.५, मै.सं. २.७.२, ७६.१०, का.सं. १६.२, तै.आ.(अश्व). १०.७६, नि. ६.१.
तू जलों से तथा मेघों या पाषाणों के घर्षण से उत्पन्न होती है ।

अश्मन्मय - पत्थर के समान दृढ़ ।
'अश्मन्मयानि नहणा व्यस्यन्'
ऋ. १०.६७.३, अ. २०.९१.३, तै.सं. ३.४.११.३, मै.सं. ४.१२.६, १९७.२, का.सं. २३.१२.

अश्म - (न्) मय-अर्थ-(१) अयः शिला सारभूत, (२) पत्थर का बना, (३) व्यापन समर्थ ।

अश्मन्मयी - अश्म +मनिन् =अश्मन् । अश्मन् +मयट् =अश्मन्मयः । अश्मन्मय + ङीष् =अश्मन्मयी । अर्थ-(१) व्यापन - समर्थ, (२) अयः शिला सारभूत (३) पत्थर की बनी ।
'आतूषिञ्चहरिमींद्रोरुपस्थे
वाशीभिस्तक्षताश्मन्मयीभिः ।
परि ष्वजध्वं दश कक्ष्याभिः
उभे धुरौ प्रति वह्निं युनक्त'
ऋ. १०.१०१.१०, नि. ४.१९.
हे अध्वर्यो ! तू इस हरे रंग के सोम में (हरिम्) लकड़ी के बने बर्तन से (द्रोरुपस्थे) जल डाल (ईम आसिञ्च) और आप दूसरे अध्वर्यु भी इस अध्वर्यु के द्वारा लाए इस सोम को अयःशिला सारभूत वसिला से काटे (अश्मन्मयीभिः तक्षत) अन्य अर्थ-उस हरे सोम को द्रोण कलश के ऊपर ढालें और आप होतागण इस आसिक्त किए जाने वाले सोम को व्यापन-समर्थ स्तुतियों से (अश्मन्मयीभिः वाशीभिः) संस्कृत करें । उस सोम के रस को दश अंगुलियों से ग्रहण करो (दश कक्ष्याभिः परिष्वजध्वम्) इस प्रकार अंगुलियों से पकड़ दोनों धुराओं में बैल जोतो ओर सोम रस चलाओ ।
तृतीय अर्थ-हे विद्वानों (विश्वेदेवाः) इस सोम को लकड़ी के बर्तन में सिञ्चित करो और पाषाण निर्मित्त शस्त्रों या आप्त वाणियों से संस्कृत करो तथा दशविभागों से युक्त इस सोम को ग्रहण करो ओर जरा एवं मृत्यु इन दोनो व्याधियों को शरीर में से निकाल कर ले जाने वाले सोम का उपयोग करो ।
सुश्रुत में २४ प्रकार का सोम रस वर्णित है उनमें दशभेदों का यहां उल्लेख है । जरा और मृत्यु का भय मिटाने वाला सोम रस है ।
(१) लौहसार की बनी बंसुली (वाशी)

अश्मनोःअन्तः - द्यौ और पृथिवी के बीच में, (२) दो अरणियों के बीच में ।
'यो अश्मनोरन्तरग्निं जजान'
ऋ. २.१२.३, अ. २०.३४.३, मै.सं. ४.१४.५, २२२.१२, नि. ८.२.

अश्मवर्म - पत्थर का दृढ़ कवच ।
'अश्म वर्म मेऽसि'
अ.५.१०.१-७.

अश्म व्रज - मेघ जिसमें बिजलियों दौड़ती हों ।

अश्मव्रजाः - (ब.व.) (१) ये अश्मयु मेघेषु व्रजन्ति-दया. (२) मेघ के समान ज्ञानवान् लोगों की शरण जाने वाले, (३) पत्थर की बनी गोशाला, (४) व्यापक परमेश्वर की तरफ जाने वाली वाणी (५) शस्त्र धारण कर चलने वाली सेनाएं ।
'अश्मव्रजाः सुदुघा वव्रे अन्तः'
ऋ. ४.१.१३

अश्महन्मा - विद्युत् या ओले के समान आघात करने वाला ।
'अग्नितत्पेभिःयुवमश्महन्मभिः'
ऋ. ७.१०४.५, अ. ८.४.५.

अश्मा - (१) अश्मा, लोहसार या फौलाद की बनी तलवार या शस्त्र ।
'प्र वर्तय दिवो अश्मानमिन्द्र'

ऋ. ७.१०४, १९, अ. ८.४.१९

(२) व्यापक मेघ, (३) व्यापक परमेश्वर

'बृहस्पतिरुद्धरत् अश्मनोगाः'

ऋ. १०.६८.४, अ. २०.१६.४

अश्मास्य – (१) अश्मवत् दृढ़तरास्य, अश्नवत् अथवा आस्यन्दनवान् (जल की व्याप्तिवाला या जल प्रक्षारण क्रिया युक्त)। जिसमें जाल व्याप्त हो या जल बहता हो, (२) जिसका मुख पत्थर जैसा कठोर हो । मेघ का विशेषण ।

'अश्मास्यमवतं ब्रह्मणस्पतिः
मधुधारमभि यमोजसातृणत्
तमेव विश्वे पपिरे स्वर्दृशो
सिसिचुरुत्समुद्रिणम्'

ऋ. २.२४.४, नि. १०.१३.

माध्यमिक देव ब्राह्मणस्पति ने जिस पत्थर के समान कठोरमुख वाले या जलपूर्ण या बहते हुए जलवाले, जलधारा वाले, चारो ओर विस्तृत या भूमि की ओर आते हुए (अवतम्) मेघ को बल से अभिहत किया (अभ्यतृणात्) । उसी मेघ को सूर्य की सभी रश्मियाँ पीती हैं (विश्वे स्वर्दृशः पपिरे) और वर्षाकाल में आकाश में उठते हुए मेघ को (उत्सम् उद्रिणम्) बहुत जल मिलकर (बहुसाकम्) देती हैं ।

अश्न – (१) मेघ, (२) सत्व को खा जाने वाला ,अपने पेट में घर लेने वाला –अन्धकार, लोभ, मोह या अज्ञान, (३) लोभी ।

'अश्नस्य चित् शिश्नथत् पूर्व्याणि'

ऋ. २.२०.५, ६.४.३.

अश्रद्धः – सत्यवचन, कर्म या श्रद्धा को न धारण करने वाला, (२) नास्तिक ।

'पणीँरश्रद्धाँ अवृधाँ अयज्ञान्'

ऋ. ७.६.३

(३) उच्छृंखल ।

'येऽश्रद्धा धनकाम्यात्'

अ. १२.२.५१

अश्रमः – श्रान्त नहीं होने वाला ।

'पतत्रिभिरश्रमैर्व्यथिभिः'

ऋ. ७.६९.७, मै.सं. ४.१४:१०, २३०.८, तै.ब्रा. २.८.७.९.

'ये अश्रमास उरवो वहिष्ठाः'

ऋ. ६.२१.१२.

अश्रमणः – कभी न थकने वाला ।

'अश्रमणा अश्रृथिता अमृत्यवः'

ऋ.१०.९४.११

अश्रमिष्ठाः – कभी न थकने वाले

'अतन्द्रासो अवृका अश्रमिष्ठाः'

ऋ. ४.४.१२, तै.सं. १.२.१४.५, मै.सं. ४.११.५, १७४.१, का.सं. ६.११.

अश्रवम् – अश्रौषम् । सुना ।

'अश्रवं हि भूरि दावत्तरा वां
विजामातुरुत वा घा स्यालात्
अथा सोमस्य प्रयती युवभ्याम्
इन्द्राग्नी स्तोमं जनयामि नव्यम्'

ऋ. १.१०९.२, तै.सं. १.१.१४.१, का.सं. ४.१५, नि.६.९.

हे इन्द्र और अग्नि, तुम दोनों बहुत दान करने वाले हो (भूरि दावत्तरा) क्योंकि (हि) सुना है कि अयोग्य निर्गुण जामाता से जो अपने ससुर को बहुत धन देकर विवाह करता है या उस साले से भी जो अपनी बहन को दान देता है तुम अधिक दान देते हो (विजामातुः उतवा स्यालात् घा) । इस कारण तुम दोनों के लिए अभिसुत सोमरस के प्रदान के साथ-साथ (सोमरस प्रयती) बिलकुल नवीन स्तोत्र का उच्चारण करता हूँ ।

पुन :-

'इन्द्राणीमासु नारिषु सुभगाम् अहमश्रवम्'

ऋ. १०.८६.११, अ. २०.१२६.११, तै.सं. १.७.१३.१, का.सं. ८.१७. नि. ११ .३८.

अश्रात – अपरिपक्व (२) नहीं पका हुआ खेत ।

'यद्यश्रातो ममत्तन'

ऋ. १०.१७९.१, अ. ७.७२.१, आपं.श्रौ.सू. १३.३.४,

अश्व – (१) अश् + क्वन् = अश्व । अश्नोति असौ (यह खाता है) इति अष्टा अश्वः ।(२) अब्जा एव अश्वाः । अप्सु जाताः अश्वाः' (घोड़े जल से उत्पन्न हुए) जैसे उच्चैःश्रवाः । (३) हयः, अर्वा–ये भी अश्व के अन्य नाम हैं । अत + यत् =अत्यः। हयति गच्छति इत हयः (हय धातु घोड़े की चाल का द्योतक है) (४) हन्ति अध्वानम् (मार्ग को खाता है) अथवा 'महाशनः भवति' अश्व बहुत भोजन करने वला होता है)। फारसी

में अश्व का अश्य हो गया है । (५) अश्व का अर्थ सप्त संख्या भी है (६) सूर्यरश्मिः। दे. 'अज्म' (७) कर्मों से समस्त जगत् को व्याप्त करने वाला अग्नि या विद्वान् ।

'प्र नूनं जातवेदसम् अश्वं हिनोत
वाजिनम् इदं नो बर्हिरासदे'

ऋ. १०.१८८.१, नि. ७.२०.

अपने कर्मों से समस्त जगत में व्याप्त होने वाले, गतिशील अग्नि या वेदवेत्ता को आस्तीर्ण कुशासन पर बैठने के लिए प्रेरित करो ।

(८) वीर्य ।

'वीर्यं वा अश्वः'

श.ब्रा. २.१.४.२३,

(९) वज्र ।

'वज्रोऽश्वः'

श.ब्रा. १३.१.२.९

(१०) इन्द्र-'इन्द्रो वा अश्वः' ।

कौ. ब्रा. १५.४

(११) आत्मा ।

'ब्रह्मन्नश्वं भन्त्सयाभि देवेभ्यः प्रजापतये'

वाज.सं. २२.४, मै.सं. ३.१२.१,१६०.२, श.ब्रा. १३.१.२.४, तै.ब्रा. ३ .८.३.१, आप.श्रौ.सू. २०.३.३.

(१२) समस्तराज्य का भोक्ता ।

'अश्वोऽसि हयोऽसि'

वाज.सं. २२.१९, तै.सं. ७.१.१२.१, मै.सं. ३.१२.४, १६१.८, का.सं. (अश्व) १.३, पंच.ब्रा. १.७.१, श.ब्रा. १३.१.६.१, तै.ब्रा. ३.८.९.१, ला.श्रौ.सू. २.७.२०, हि.गृ.सू. १.१२.३, आप.मं.पा. २.२१.२०.

(१३) सर्व व्यापक (१४) कर्मफल भोक्ता जीव, (१५) सर्वव्यापक वायु (१६) सब पदार्थों को भस्म कर खा जाने वाला अग्नि (१८) कर्मेन्द्रिय ।

'गोभिरश्वभिर्वसुभिर्न्यृष्टः'

ऋ.१०.१०८.७

अश्वक : – (१) कुत्सित राजा, (२) क्षुद्र पुरुष, (३) कुत्सित विषयों का भोक्ता मनुष्य ।

'ससस्त्यश्वकः सुभद्रिकाम्
काम्पीलवासिनीम्'

वाज.सं. २३.१८, तै.सं. ७.४.९.१, २,३, मै.सं. ३.१२.२०, १६६.१०, का.सं.(आश्व). ४.८.

अश्वक्षमा – अशु +अक्ष +मा । अतिशीघ्र व्यापक शक्ति से सृष्टि उत्पन्न करने में समर्थ –प्रकृति ।

'अश्वक्षमा सुहवा संभृतश्रीरा'

अ.१९.४९.१

अश्वघ्न – इन्द्रिय रूप अश्वों को जीतने वाला-जितेन्द्रिय ।

'आश्वघ्नस्य वावृधे सूनृताभिः'

ऋ.१०.६१.२१

अश्वजित् – (१) अश्व अर्थात् व्यापक पदार्थों और भोक्ता जीवों को भी अपने अधीन रखने वाला इन्द्र, परमेश्वर, (२) अश्व को जीतने वाला ।

'अश्वजिते गोजिते अब्जिते भरा'

ऋ.२.२१.१

अस्वतर – (१) खच्चर, (२) एक बल कारक, औषधि ।

'अश्वस्याश्वतरस्य'

अ.४.४.८.

अश्वतरी – (१) खच्चरी, (२) अत्यधिक व्याप्त घोड़ी, (३) चारों दिशाएं जो अत्यधिक व्याप्त हैं ।

'दिशश्चतस्रो अश्वतर्यः'

अ. ८.८.२२

अश्वत्थ – (१) पीपल का वृक्ष, (२) अग्नि का महान् आश्रय सूर्य ।

'अश्वत्थो देवसदनः'

अ. ५.४.३, ६.९५.१, १९.३९.६.

(३) आशुगामी वायु पर स्थित मेघ ।

'अश्वत्थे वो निषदनम्'

ऋ. १०.९७.५, वाज.सं. १२.७९, ३५.४, तै.सं. ४.२.६.८, मै.सं. २.७.१३, ९३.९, का.सं. १६.१३, श.ब्रा. १३.८.३.१.

(४) अश्वारूढ़ सावधान क्षत्रिय राजा, (५) अ +श्वः +स्थ । कलतक भी न रुकने वाला, अनित्य (६) सनातन , (७) व्याप्त होकर विचरने वाला ।

'अश्वत्थ खदिरोधवः'

अ. २०.१३१.१४.

(१) अश्वादि पशुओं को देने या पालने वाली स्त्री ।

अश्वदाः – (१) अश्वों का पालक या दाता (२) व्यापक सूर्य या प्राण को देने वाली उषा ।

'ये अश्वदा उत वा सन्ति गोदाः'

ऋ.५.४२.८

(४) अश्वरथ या वेग वान् साधन का दाता ।

'ये अश्वदाः सह ते सूर्येण'

ऋ. १०.१०७.२.

अश्वदावन् - (१) व्यापक विज्ञान आदि गुणों का दाता, (२) तीव्र अश्व, (३) अश्व -सैन्य या व्यापक राष्ट्र का देने वाला ।

'व्यश्वदावन् नीयते'

ऋ. ५.१८.३

अश्वथः - (१) अश्वों या अश्वसैन्यों का स्वामी । (२) राष्ट्र का भोक्ता राजा ।

'अश्वथः पायवेऽदात्'

ऋ.६.४७.२४

अश्वपः - अश्वपालक ।

'जवायाश्वपम्'

वाज.सं. ३०.११, तै.ब्रा. ३.४.१.९

अश्वपर्ण - (१) अश्वरूपी पंख, (२) शीघ्र जाने वाला रथ ।

'रथेभिः यातऋष्टिमद्भिः अश्वपर्णैः'

ऋ. १.८८.१, नि. ११.१४.

(३) अश्वपर चढ़कर वेग से जाने वाला ।

'समश्वपर्णाश्चरन्ति नो नरः'

ऋ. ६.४७.३१, अ. ६.१२६.३, वाज.सं. २९.५७, तै.सं. ४.६.६.७,मैं.सं. ३.१६.३, १८७.१३, का.सं. (अश्व). ६.१.

(४) अशन पतन युक्त मेघ, (५) अश्नुवन्तः ये अन्तरिक्षे पतन्ति (जो अन्तरिक्ष में प्राप्त होते हुए या खाते हुए गिरते हैं)(६) मेघ अथवा रथ का विशेषण होकर अश्वपर्ण का अर्थ अश्ववाहन (जिसका वाहन अश्व हो) होगा ।

'आ विद्युन्मद्भिः मरुतः स्वर्कैः
रथभिर्यात् ऋष्टिमद्भिरश्वपर्णैः
वर्षिष्ठया न इषा
वयो न पप्तता सुमायाः'

ऋ. १.८८.१, नि. ११.१४.

हे मरुतो । तुम विशिष्ट दीप्तियुक्त (विद्युन्मद्भिः) सुगमन, सुपूजित, या सुन्दर अर्चियों से (स्वर्कैः) अकालनाशक (ऋृष्टिमद्भिः) अशनपतन युक्त मेघों के सहित (अश्वपर्णैः रथेभिः) आओ '। अथवा हे मरुतो ! विद्युत् के समान आयुधोपेत अश्ववाहन रथों पर चढ़ तुम आओ तथा आकर हे सुकर्मा (सुमायाः) अत्यन्त अन्न को देख जैसे पक्षी आते हैं, वैसे ही तुम आओ ।

'(वर्षिष्ठया इषा वयः न पप्तत) ।'

(७) घोड़े सहित दौड़ते हुए वीर सैनिक, (८) प्राण से वेगवान् इन्दिय गण ।

अश्वत्थपलाशम् - पीपल का पत्रा ।

'अश्वत्थपलाशम्'

अ. २०.१३५.३, आश्व.श्रौ.सू. ८.३.२१, शां.श्रौ.सू. १२.२३.३, वै.सू. ३२.२५.

अश्वनिर्णिज् - इन्द्रियों की शुद्धि ।

'गो अर्णसि त्वाष्ट्रे अश्विनर्णिजि'

ऋ. १०.७६.३

अश्वपस्त्य - (१) व्याप्त गृह, (२) अश्ववाला गृह, घुड़शाला, (३) बल का भण्डार धन ।

'ब्रह्मप्रजावत् रयिमश्वपस्त्यम्'

ऋ. ९.८६.४१.

सन्तान संयुक्त अन्न (प्रजावत् ब्रह्म) गोहिरण्यादिधन (रयिम्) तथा व्याप्त गृह या अश्व वाला घर (अश्वपस्त्यम्) हमारे लिए मांग ।

अश्वपृष्ठः - (१)सूर्य के द्वारा सेचन समर्थ (२) बड़े बड़े विद्वानों के ऊपर विद्यमान (३) अश्वों के बल पर पृष्ठ ।

'ग्रावाणं नाश्वपृष्ठं मंहना'

ऋ.८.२६.२४

अस्वपेशस् - (१) आशुगामी मन के उत्तम रूप वाला, (२) मनन क्रिया से युक्त, (३) अश्व अर्थात् राजसी सम्पत्ति (४) घोड़ के रूप वाला ।

'ये स्तोतृभ्यो गो अग्राम् अश्वपेशसम्'

ऋ. २.१.१६, २.२.१३.

अश्वपिष्टिः - शीघ्रगामी साधनों में वेग देने वाला अग्नि ।

'ऊर्जो नपादश्वमिष्टे'

ऋ. २.६.२

अश्वमेध - (१) एक वैदिक यज्ञ ।

'अर्काश्णमेधावुच्छिष्टे'

अ. ११.७.७

अश्वयातुः - अश्व पर चढ़कर जाने वाला ।

अश्वयुज् - (१) घोड़ों को रथ में लगाने वाला, (२) योगाभ्यास से आत्मा को परमात्मा में लगाने वाला, (३) इन्द्रियों को वश में करने

वाला ।

'वयोवृधो अश्वयुजः परिज्रयः'

ऋ. ५.५४.२.

अश्वयुजौ - अश्विनी नामक नक्षत्र ।

'आरेवती चाश्वयुजौ भगं मे'

अ. १९.७.४, नक्षत्र कल्प १०.५.

अश्वयुः - (१) अश्व का इच्छुक ।

'त्वामश्वयुरेषते'

ऋ.८.७८.९

(२) अश्व +यु (वतुप् अर्थ में) =अश्वयुः। अर्थ अश्ववान्

'इन्द्रो अश्रायि सुध्यो निरेके
पज्रेषु स्तोमो दुर्यो न यूपः
अश्वयुर्गव्यू रथयुर्वसूयुः
इन्द्र इद्रायः क्षयति प्रयन्ता'

ऋ. १.५१.१४.

अंगिरा ने इन्द्र को ही पुत्र रूप में पाने की इच्छा से देवताओं का आराधन किया। अतःइन्द्र सत्य नाम से अंगिरा से पुत्र हुए ।

इन्द्र द्वार पर गाड़े यूप की तरह (दुर्य यूपः नः) शोभन कर्मा यजमानों या विद्वानों के (सुध्यः) निर्धन होने पर (निरेके) सेवा करते हैं (अश्रायि) जो इन्द्र युद्धों में (पज्रेषु) स्तोम या स्तोत्र की तरह निश्चल या प्रधान हो खड़े रहते हैं तथा इन्द्र ही धन के प्रकृष्ट दाता हैं (रायः प्रयन्ता) अतः वे सर्वोपरि द्रष्टा या प्रभु हैं (क्षयति) क्योंकि अश्वों से युक्त, गौओं से युक्त तथा नाना विध धनों से युक्त हैं-सा. ।

स्वा.दयानन्द की व्याख्या -राजा सन्देह स्थलों में बुद्धिमानों का आश्रय ले (इन्द्रः निरेके सुध्यः अश्रायि) तथा उपार्जन कर्मों में प्रशस्त (पज्रेषु स्तोमः) द्वारस्थ स्तम्भ की तरह (दुर्यः न यूपः) घोड़ो, गौओं, रथों तथा धनों से युक्त होकर ही नियामक राजा (प्रयन्ता इन्द्रः) समान ऐश्वर्यों को प्राप्त करता है (रायः क्षयति)

अश्वयुप - घोड़े का स्तम्भ ।

'चषालं ये अश्वयूपाय तक्षति'

ऋ. १.१६२.६, वाज.सं. २५.२९, तै.सं. ४.६.८.२, मै.सं. ३.१६.१, १८२.८, का.सं. (अश्व.). ६.४.

अश्वयोगः - (१) घोड़ों को रथों में जोतने वाला, (२) सारथि, (३) अश्वों के साथ सेना में योग देने वाला (४) मन और आत्मा से युक्त ।

'उतन ईं मतयो अश्वयोगाः
शिशुं न गावस्तरुणं रिहन्ति'

ऋ. १.१८६.७.

अश्वराधस् - अश्वों को साधने वाला उत्तम वीर पुरुष ।

'शुम्भन्ति अश्वराधसः'

ऋ. ५.१०.४, १०.२१.२

अश्वःवाजी - सर्वव्यापी ज्वालाओं से चंचल या अन्नयुक्त या अश्व के सदृश बलवान् अग्नि । वाज का अर्थ अन्न और बल है । अश् (व्याप्त्यर्थक) धातु से अश्व बना है । अग्नि अश्व है क्योकि यह सर्वव्यापी है । वह वाजी भी है । यह परमात्मा में भी घटित होता है ।

'अश्वं हिनोत वाजिनम्'

ऋ. १०.१८८.१, नि. ७.२०

सर्वव्यापी ज्वाला युक्त का अन्नयुक्त अग्नि को स्तुतियों से बढ़ा या प्रेरित कर (हिनोत)

अश्ववार - (१) अश्व का बाल अर्थात् काश या सरपत की एक जाति जिसे राज निघण्टु में अश्वाल कहा गया है । यह पानी में बहुत फैलता है और इसके पत्ते दाह तृष्णा को शान्त करते हैं । यह विष बोधने वाला है ।

'अश्वस्य वारः परुषस्य वारः'

अ. १०.४.२

अश्वबुघ्नाः - भोक्ता आत्मा से बद्ध, मन और इन्द्रियों के आश्रित शरीर ।

'अस्य पत्मन् अरुषीरश्वबुघ्ना'

ऋ. १०.८.३

अश्वबुघ्न्य - (१) सूर्य के आश्रय पर होने वाला अन्न आदि, अश्वसैन्य के आश्रय पर होने वाला ऐश्वर्य तथा संग्राम ।

'प्र नो वाज्यान् रथ्यो अश्वबुघ्न्यान्
इषे यन्धि श्रवसे सूनृतायै'

ऋ. १.१२१.१४

हमें रथरोहियों में सबसे कुशल रथारोही होकर (रथ्यः) या राजा या परमेश्वर या मेघ सूर्य के आश्रय पर होने वाले अन्नो को या अश्व सैन्य के आश्रय पर होने वाले ऐश्वर्यों या संग्रामों को कीर्ति और ऐश्वर्य एवं उत्तम धनादि समृद्धि, वेदवाणी तथा धन-प्राप्ति के लिए प्रदान कर

(३) वेगवतः अश्वान् बोधयन्ति अस्मिन् संग्रामे-दया. (जिसमें वेगवान् अश्वों को बोधित किया जाता है -संग्राम) (४) अश्व आदि विजय के साधनरूप बलवान् पशुओं के दृढ़ आश्रय वाला संग्राम (५) व्यापक परमात्मा से बोध करने वाला

'प्रजावतो नृवतो अश्वबुध्यान्
उषो गो अग्रान् उप मासि वाजन्'

ऋ. १.९२.७

पुनः-

'दासप्रवर्गं रयिमश्वबुध्यम्'

ऋ. १.९२.८

अश्वश्चन्द्राः - वेग से जाने वाले अश्व आदि आह्लाद कारक पदार्थ ।

'स गोमधा जरित्रे अश्वश्चन्द्राः'

ऋ. ६.३५.४

अश्वसनिः - (१) अश्व आदि ऐश्वर्ये से युक्त, (२) कर्मेन्द्रि से युक्त ।

'यस्ते अश्वसनिर्भक्षः
यो गोसनिस्तस्य त इष्टयजुस

वाज.सं. ८.१२, वा.सं. (का.). ८.७.२, श.ब्रा. ४.४.३.११.

अश्वस्यवारः - घुड़सवार ।

'अश्वस्य वारो गोशपद्यके'

अ. २०.१२९.१८

अश्वस्यशिरः - (१) शीघ्रगामी मेघ का मुख्य भाग -जलांश (२) अश्व का शिर ।

'इच्छन् अश्वस्य यत् शिरः
पर्वतेष्वपश्रितम् तद् विदच्छर्यवाणति'

ऋ. १.८४.१४, अ. २०.४१.२, साम. २.२६४, मै.सं. २.१३.६, १५४.१३, का.सं. ३९.१२ तै.ब्रा. १.५.८.१.

शीघ्रगामी मेघ का मुख्य भाग जलांश जो आकाश में और मेगों में व्यापक हैं उसे सूर्य अपनी किरणों से व्याप्त लेता है ।

अश्वस्य शीर्षा - (१) अश्वसैन्य या भोक्ता राजा होने का प्रमुख अधिकार, (२) सकल विज्ञानों में पारंगत आचार्य का मुख्य पद, (३) अश्व का सिर । अश्वियों को अश्व के सिर से उपदेश करना और पुनः उसका छेदन करना अलंकार रूप से कहा गया है ।

अश्वसा - (१) अश्व देने वाला ।

'अश्वसा वाजसा उत'

ऋ. ९.२.१०, साम. २.३९५, का.सं. ३५.६.

(२) अश्वों का देने वाला स्वामी

'गोषा उ अश्वसा असि'

ऋ. ९.६१.२०, साम. २.१६६.

अश्वसात्तमः - (१) समस्त अश्वसैन्य को राष्ट्र के भिन्न भिन्न भागों में विभक्त करने वाला ।

'मंसीष्ठा अश्वसातमः'

ऋ. १.१७५.५.

अश्वसाद - अश्वरोही ।

'अरिष्ट्या अश्वसादम्'

वाज.सं. ३०.१३, तै.ब्रा. ३.४.१.७.

अश्वसूनृत - (१) विद्याओं में पारंगत विद्वान् (२) अश्ववन् भोक्ता राजा के समान उत्तम वाणी बोलने वाला पुरुष ।

अश्वसूनृता - (१) भोक्ता पति अथवा हृदय में व्यापक पुरुष के प्रति उत्तम वाणी बोलने वाली (२) अश्व अर्थात् भोजन करने वालों को सूनृत अर्थात् अन्न देने वाली (३) व्याप्त, हृदयंगम महत्युक्त वाणी या अन्न आदि की स्वामिनी (४) विद्या के मार्ग में वेग से जाने वाली विद्वान् की वाणी ।

'सत्यश्रवसि वाय्ये सुजाते अश्वसूनृते'

ऋ. ५.७९.१-१, साम. २.१०९०-१०९२

अश्वहय - वेगवान् घोड़ा ।

'अश्वहयैरनिशितं नमोभिः'

ऋ. ९.९६.२.

अश्वयः - (१) अश्वारोही सेना में कुशल (२) अश्व वाला, (३) इन्द्रु का विशेषण ।

'अश्वयोवारो अभवस्तदिन्द्र
सृकेयत् त्वा प्रत्यहन् देव एकः'

ऋ. १.३२.१२

हे इन्द्र ! वीर ! राजन् ! जब विजय करने की इच्छा वाला शत्रु अकेला ही तेरे प्रति आघात करता है तब अश्वारोही सेना में कुशल एक मात्र वज्र के आश्रय पर ही (सृके) सेना द्वारा वरण करने और शत्रु को वारण करने में समर्थ हो (सृके वारः अभवः) ।

अश्व्यं राधः - अश्व या सैन्यबल ।

'नि राधो अश्व्यं मृजे'

ऋ. ५.५२.१७

अशास्य - अ + शास् +यत् =अशास्य । शासन न होने योग्य ।

'स्त्रिया अशास्यं मनः'

ऋ. ८.३३.१७

अश्मास्य - (१) व्यापक विद्युत् को फेकंने वाला, स्वयं फैलने वाला, जल धाराओं से बहने वाला मेघ (२) शस्त्र बल से नीचे गिराया हुआ, पराजित ।

'अश्मास्यम् अवतम् ब्रह्मणस्पतिः'

ऋ. २.२४.४, नि.१०.१३.

अश्वा - (स्त्री) सर्वत्र व्यापिनी उषा या ईश्वरीय शक्ति ।

'अश्वे न चित्रे अरुषि'

ऋ. १.३०.२१

(२) (पु.ब.व.) एक वचन में अश्व ।

(१) सूर्य के घोड़े (२) सूर्य के किरणें -(दया.)

'यदाक्षिपुर्दिव्यमज्ममश्वाः'

ऋ. १.१६३.१०, वाज.सं. २९.२१, तै.सं. ४.६.७.४, का.सं.(अश्वा). ६.३, नि. ४.१३.

'अतूर्ते बद्धं सविता समुद्रम्'

ऋ. १०.१४९.१, नि. १०.३२.

सविता ने अगम्य, अहिंसित अन्तरिक्ष में लगे मेघ को प्रवाहित किया । (अश्वा-घोड़ी, (४) द्विवचन में-दो घोड़ियां । विपाशा और शुतुद्रि नदियों के वेग की उपमा दो छूटी हुई घोड़ियों से दी गई है ।

'अश्वे इव विषिते हासमाने'

ऋ. ३.३३.१, नि. ९.३९.

वाजिशाला से छूटी दो हिनहिनाती घोडियों के सदृश...।

अश्वाजनी - (१) अश्व +अजनी । अश्वों को प्रेरणा करने वाली कशा - चाबुक । अश्वांना क्षेप्री (घोड़ों को चलाने वाली) (२) अज +ल्युट् +ङीष् =अजनी

'आ जङ्घन्ति सान्वेषां
जघनां उप जिघ्नते ।
अश्वाजनि प्रचेतसो
अश्वान् समत्सुचोदय'

ऋ. ६.७५.१३, वाज.सं. २९.५०, तै.सं. ४.६.६.५, मै.सं. ३.१६.३, १८७.१६, का.सं.(अश्व). ६.१, नि. ७.२०.

हे चाबुक या कशे ! जिस तुझ से प्रकृष्ट ज्ञान वाले अश्वरोही (प्रचेतसः) घोड़े के उठे जानु के ऊपर (एषां सानु) मारते हैं (आजङ्घन्ति) तथा उनके जाघों में मारते हैं (उपजनते) वह तू संग्रहों में (समत्सु) घोड़ों को प्रेरित कर (प्रचोदय) ।

अश्वाभिधानी -अश्व को बांधने वाली रस्सी ।

'अश्वमिवाश्वाभिधान्या'

अ. ४.३६.१०, ५.१४.६.

अश्वामघा - अश्वों से समृद्ध स्त्री पुरुष या अश्विद्वय

'अश्वामघा गोमघा वां हुवेम'

ऋ. ७.७१.१, कौ.ब्रा. २६.११.

अश्वावत् - अश्व या अश्वरोहियों से युत् सेना दल ।

'अश्वावति प्रथमो गोषुगच्छति'

ऋ. १.८३.१, अ. २०.२५.१.

अश्वावत् रथ - घोड़ो वाला रथ ।

'आगोमता नासत्या रथेन
अश्वावता पुरुश्चन्द्रेण यातम्'

ऋ. ७.७२.१, ऐ.ब्रा. ५.१६.११, ७.९.२, कौ.ब्रा. २५.२, २६.८, आश्व.श्रौ.सू. ३.८.१, ८.९.२.

अश्वावती - (१) गतिमान या व्यापक तेजस्वी सूर्य से युक्त उषा (२) अश्व आदि वेगवान् धन हाथी, घोड़े आदि सवारी के पशुओं तथा रथों और अश्व रोहियों की स्वामिनी, (३) सांसारिक सुखदुःखों के भोक्ता उत्तम आत्मा से युक्त (४) आलस्य रहित स्त्री ।

'उषो अद्येह गोमत्यश्वावति विभावरि'

ऋ. १.९२.१४, साम. २.१०८२

(५) कर्मेन्द्रियों से युक्त कर्ममयी जीवन नदी (६) प्रस्थरों से पूर्ण तीव्र नदी, (७) अश्वों से युक्त शत्रु सेना ।

'अश्वावतीं प्र तर या सुशेवा'

अ. १८.२.३१.

(८) अश्वों तथा अश्वरोहियों से युक्त सेना ।

'अश्वावतीः गोमतीः विश्वसुविदः

ऋ. १.४८.२

'आश्विनावश्वावत्या
इषा यातं शवीरया'

ऋ. १.३०.१७, आश्व. श्रौ.सू. ४.१५.२, शां.श्रौ.सू. ६.६.२

हे अश्विद्वय, तुम दोनों अश्वारोहियों से बनी सैकड़ों वीरों वाली सेना से पूर्ण इच्छानुकूल प्रेरित सेना से सर्वत्र प्रयाण करें ।

(१०) अश्व के समान गन्धवाली ओषधि

'अश्वावतीं सोमावतीम्'

ऋ. १०.९७.७, वाज.सं. १२.८१, तै.सं. ४.२.६.४, मै.सं. २.७.१३,९३.१५, का.सं. १६.१३, तै.ब्रा. २.८.४.८.

(११) सूर्य से युक्त उषा, (१२) उत्तम भोक्ता पुरुष युक्त स्त्री ।

'अश्वावती गोमितीर्न उषासः'

ऋ. ७.४१.७, ८०.३, अ. ३.१६.७, वाज.सं. ३४.४०, तै.ब्रा. २.८.९.९, आप.मं.पा. १.१४.७.

(१२) अश्वों से युक्त शाला ।

'अश्वावती गोमती सूनृतावती'

अ. ३.१२.२, शा.गृ.सू. ३.३.१, पा.गृ.सू. २.१७.९, ३.४.४, हि.गृ.सू. १ .२७.३.

(१३) उषा या विशोका प्रज्ञा का विशेषण ।

(१४) अश्व, कर्मेन्द्रिय या मन रूपी अश्व वाली

'अश्वावति विभावरी'

ऋ. १.९२.१४, साम. २.१०८२

अशित – खाने वाला, जिसे खिलाया जाता है ।

'उताशितमुप गच्छन्ति मृत्यवः'

ऋ. १०.११७.१

अशिपदाः – (१) भोजनादिव्यवहारायप्राप्ता (भोजनार्थ सब प्रकार के अन्न उपजाने वाले)

'शिवा देवीरशिपदा भवन्तु'

ऋ. ७.५०.४

अशिमिद् – (१) क्लेशात्मकं कर्म शिमितत् ददाति इति शिमिदम्, न शिमिं शान्तिं द्यति, खण्डयति इति अशिमिः (२) क्लेश विवर्तकाय इति महीधरः (३) अक्लेशदाय इति उव्वटः (४) नशिमिं क्लेशयुक्तं कर्म ददाति इतिवाः (५) शिमिः शक्तिः न दीयते खण्डयते यस्य सः शिमिदः तस्मै (६) रस –दया.

यत् अश्यते भुज्यते तत् अन्नम् तत्
मोदते यस्मिन् तत् रसः– दो.

'अशिमिदायत्वा त्वा वाताय स्वाहा'

वाज.सं. ३८.७, श.ब्रा. १४.२.२.५

अशिमिदा – (१) भोजनादि स्नेह कारिका –दया. (२) अहिंसाकारिणी ।

'सर्वानद्यो अशिमिदा भवन्तु'

ऋ. ७.५०.४

अशिव – (१) अमंगलजनक, अकल्याणकारी (२) अनात्य प्रत्यय, अश्विमाया ।

'मिनन्ता दस्योः अशिवस्यमायाः'

ऋ. १.११७.३.

आप दोनों अमंगलजनक, प्रजा के नाशकारी दुष्ट पुरुष के छल कपट के जालों को नष्ट करते हुए, अथवा, आप दोनों प्राण अपान अनात्म प्रत्यय अश्विमाया को दूर करते हुए ।

अशिश्लिक्षु – (१) असंग ब्रह्म जो प्रकृति से लिपटना नहीं चाहता, (२) स्नेह रहित ।

'अशिश्लिक्षणुं शिश्लिक्षते'

अ. २०.१३४.६

अशिश्वी – (१) वत्सरहिता गौ ।

'स्तनाभुजो अशिश्वीः'

ऋ. १.१२०.८

स्तनों द्वारा बच्चों को पिलाने वाली गौएं ओर माताएं शिशु रहित न हो (अशिश्वीः) (२) कन्या, शिशु रहित, अबला ।

'आ धेनवो धुनयन्तामशिश्वीः'

ऋ. ३.५५.१६

अश्रित – (१) अन्यों द्वारा न भोगने योग्य (२) जो किसी अन्य पर आश्रित न हो ।

'वन आ वीतमश्रितम्'

ऋ. ४.७.६

अश्विन् – (१) अश् (व्याप्त्यर्थक) + क्वन् =अश्व, अश्व + इन् = अश्विन् , यत् समस्तं भुवनम् अश्नुते (जो समस्त भुवन में व्याप्त है) एक रसेन व्याप्नोति अन्यः ज्योतिसा व्याप्नोति (एक रस अर्थात् जल से मध्य स्थान अर्थात् अन्तरिक्ष को व्याप्त करता है तथा दूसरा अश्विन तेज से द्युलोक को प्राप्त करता है) दो अश्विन हैं । दोनों की स्तुति एक साथ की गई है । दोनों द्युलोक तथा अन्तरिक्ष में व्याप्त हैं तथा जल और तेज के देवता समझे जाते हैं । (२) और्णनाम आचार्य के मत से –अश्ववन्तौ पुण्यकृतौ राजानौ =अर्थात् घोड़े वाले दो पुण्यवान् राजा हैं । (३) कुछ मनीषी 'द्यावापृथिव्यौ' द्यौ और पृथिवी

को ही अश्विद्वय मानते हैं । द्यौ तेज से तथा पृथिवी अन्न से व्याप्त रहती हैं ।

(४) कुछ 'अहोरात्रौ' - दिन और रात्रि को ही अश्विद्वय मानते हैं । दिन में ज्योति और रात में तुषार रहता है ।

(५) कुछ 'सूर्याचन्द्रमसौ' (सूर्य और चन्द्रमा) को अश्विद्वय मानते हैं । सूर्य में ज्योति और चन्द्रमा में रस व्याप्त रहता है ।

(६) ऐतेहासिक विद्वान भी इन्हें राजा समझते हैं ।

(७) स्वामी दयानन्द इस शब्द का अर्थ औरों से भिन्न करते हैं । जैसे कहीं राजा और राजपुरुष, कहीं स्त्री पुरुष और कहीं अन्य दो का जोड़ा, जहां कहीं भी अश्विन का प्रयोग हुआ है वहीं किसी न किसी जोड़े का अर्थ लगाया गया है । जैसे -(१) अध्यापक और उपदेशक, (२) भिक्षुक, शल्यचिकित्सक, राजा रानी, स्त्री पुरुष । राजा मन्त्री इत्यादि ।

अश्विनों का काल अर्द्धरात्रि से लेकर सूर्योदय पर्यन्त हैं । यही अहोरात्र काल है । जब अन्धेरे को फाड़ता हुआ थोड़ा प्रकाश उसमें मिलता रहता है उस समय जो तमोभाग है वह मध्यभाग और जो ज्योतिर्भाग है वह आदित्य का है । 'अर्द्धरात्रात् ऊर्ध्वम् प्रकाशी भावस्य अनुविष्टभ्यम्' - अर्थात् आधीरात के बाद सूर्योदय के पूर्व तक अन्धकार प्रकाश से अनुष्टम्भित रहता है । इस बीच में सन्धिस्तोत्र 'अश्वन' कहा जाता है और सूर्योदय के बाद 'सौर्य ' । जब तम ज्योति में अनुप्रविष्ट रहता है वह भाग 'मध्यम' कहलाता है । जब ज्योति तम में अनुप्रविष्ट रहती है तो उस भाग को आदित्य कहते हैं । इसी से अश्विद्वय को मध्यम और उत्तम दोनों माना गया है ।

'वसातिष स्म चरथः
असितो पेत्वा विव
कदेदमश्विना युवम्
अभिदेवां अगच्छतया '

नि. १२.२.

हे अश्विद्वय ! तुम दोनों रातों में (वसातिषु) चलते हो, क्योंकि तुम दोनों काले मेघ की तरह हो (असितौ इव पेत्वौ) अतः उषा काल में मैं तुम्हें मुश्किल से ही देख सका । इस लिए मेरे इस यज्ञ में जो देवता आए हैं उनके पास कब आओगे ।

अश्विना - अश्+विनि । सदा द्विवचन प्रयुक्त । यह सदा जोड़े का वाचक है । इसके भिन्न भिन्न अर्थ भिन्न भिन्न प्रसंग में किए गए हैं । (१) दो अश्विनी कुमार -सा. (२) राजा और प्रजा-(दया.)

'अजोहवीत् अश्विना वर्तिका वाम्'

ऋ. १.११७.१६, नि. ५.२१

हे अश्विनीकुमारो । आप दोनों को उषा ने बुलाया । हे राजा तथा राजपुरुषों ! जैसे द्यावापृथिवी सूर्य के मुख से उषा को छुड़ाते हैं उसी प्रकार दुष्ट जनों के ग्रास से प्रजाजन को राजा बचावे ।

(३) त्वष्टा (विश्वामित्र) की पुत्री सरण्यू का विवस्वान् से विवाह होने पर जब सरण्यू विवस्वान् का तेज नहीं सह सकने के कारण उत्तर कुरु में घोड़ी का रुप धारण कर तपस्या करने चली गयी तो विवस्वान् भी ढूंढते ढूंढते अश्व के रूप में उत्तर कुरु जाकर बड़वा रूप धारिणी सरण्यू से संभोग किया । सरण्यू ने उस वीर्य को नासिका में धारण किया जिससे दो पुत्र नासत्या-अश्विनी कुमार उत्पन्न हुए ।

(४) सूर्य और पृथिवी -(दया.) । 'ऋजीष' 'अत्रि' और 'सर्वगण स्वस्ति '

'ऋबीसे अत्रिम् अश्विनावनीतम्
उन्निन्युथुः सर्वगणं स्वस्ति ।'

ऋ. १.११६.८, नि. ६.३७.

सूर्य और पृथिवी ने (अश्विना) पृथ्वी के नीचे की आग को वर्षा द्वारा ऊपर ला बीजों को उगाया और समस्त प्रजा वर्ग का कल्याण किया

(५) अश्विनी कुमार नामक दो वैद्य-

'युवं श्यावाय रुशतीमदत्तम्
महः क्षोणस्यावश्विना कण्वाय
प्रवाच्यं तद् वृषणा कृतं वां
यन्नार्षदाय श्रवो अध्यधत्तम्'

ऋ. १.११७.८.

हे अश्विद्वय ! तुम दोनों ने कुष्ठ रोग के कारण कपिश रंग वाले श्याम ऋषि या राजा को ज्वलित रूपश्री दी या दीप्तवर्णा स्त्री दी

(श्यावाय रुशतीम् अदत्तम्)
दृष्टिहीन होने के कारण एक ही स्थान पर रहने वाले (क्षोणस्य) कण्व ऋषि को तुम दोनों ने तेज या प्रकाश दिया (कण्वाय महः), या सायण के अनुसार, तुम दोनों ने राक्षसों के द्वारा गूढ़ अन्धकार में रखे कण्व के लिए वीणा द्वारा जोर से ध्वनि की और हे मनोरथ बरसाने वाले अश्विद्वय (वृषणा) ! तुम दोनों का वह कृत्य वस्तुतः प्रशंसनीय है (वां तत् कृतम् प्रवाच्यम्) जब नृषदपुत्र नार्ष ऋषि को तुम दोनों ने श्रवण शक्ति दी (यत् नार्षदाय श्रवः अध्यधत्तम्)।

स्वामी दयानन्द का अर्थ- हे राजा तथा राज पुरुषो । तुम उत्तम निवास के प्रापक (क्षोणस्य श्यावस्य) मेधावी पण्डित के लिए (कण्वाय) लक्ष्मी प्रदान करें (रुशतीम् अदत्तम्) और हे बलवान् राजा तथा राज पुरुषो ! (वृषणा) आपके जो वर्णनीय विद्याश्रवण और कर्म हैं वाम् यत् प्रवाच्यम् श्रवः कृतम्) उस ज्ञान तथा कर्म की शिक्षा राजकर्मचारियों के सन्तानों को (नार्षदाय) विशेषतया दें । (अध्यधत्तम्) ।

(६) गुरु और शुक्र ग्रह जो रात में आधीरात के बाद दृष्टि गोचर होते थे ।

'ईर्मान् यत् वपुषे वपुः
चक्रं रथस्य येमथुः
पर्यन्या नाहुषा युगा
मह्ना रजांसि दीयथः'

ऋ. ५.७३.३

ऋग्वेद में अश्विनी का सम्बन्ध उषा से बतलाया गया है । निरुक्त में भी द्युस्थानीय देवताओं में अश्विनी की गणना की गई है और उनकी स्तुति का काल अर्द्धरात्रि के बाद बतलाया गया है । बृहस्पति और शुक्र जब तब एकत्र भी रहते हैं । (७) अश्व अर्थात् अपनी इन्द्रियों को उत्तम अश्वों के समान वश में रखने वाले स्त्री पुरुष, (८) भविष्य के कर्त्तव्य न टालने वाले स्त्री पुरुष , (९) राष्ट्र पालन या अश्वमेघ के करने वाले स्त्रीपुरुष ।

'अश्विना वायुना युवं सुदक्षा'

ऋ. ३.५८.७, ऐ.ब्रा. ४.११.१७, कौ.ब्रा. १८.५.

(१०) अग्नि और जल (११) द्युस्थानी देवता, (१२) द्यावापृथिवी , (१३० सूर्य और चन्द्रमा

'या सुरथा सथीतमो भा देवा दिविस्पृशा
अश्विना ता हवामहे'

ऋ. १.२२.२.

इसी प्रकार अन्य द्वन्द्व भी अश्विनी कहे जा सकते हैं ।

अश्विनी - (१) शीघ्र चलने वाले की स्त्री, (२) विवाह में बद्ध स्त्री ।

'इन्द्राण्यग्नाय्यश्विनीराद्'

(३) अश्विद्वय की पत्नी -सा.

'उतग्ना व्यन्तु देवपत्नी
इन्द्राण्यग्नाय्यश्विनी राट्
आ रोदसी वरुणानी श्रृणोतु
व्यन्तु देवीर्य ऋतुर्जनीनाम्'

ऋ. ५.४६.८, अ. ७.४९.२, मै.सं. ४.१३.१०, २१३.१०, तै.ब्रा. ३.५.१२.१, नि. १२.४६.

यज्ञ में अग्नि आदि पुरुष देवों ने आज्य दिया । अब देवपत्नियों को आज्य पीने की प्रार्थना की जाती है । स्त्रियां भी कामना करें या खावें पीवें (उतग्नाः व्यन्तु) जो देवपत्नियाँ इन्द्राणी, अग्निपत्नी, अश्विद्वय की पत्नी विराज रही हैं और जो रुद्र की पत्नी रोदसी और वरुण की पत्नी हैं वे सुने । जो स्त्रियों के भोजन का समय है (जनीनां यः ऋतुः) उस समय वे सभी भोजन करें या पेय पीवें (व्यन्तु) (४) व्यापक धारा (५) वाणी, (६) शक्ति ।

'प्र त आश्विनीः पवमान धीजुवः'

ऋ. ९.८६.४, साम. २.२३६, पंच.ब्रा. १२.७.१.

(७) अश्वी, वेगवान् रथ, विद्युत् आदिके प्रणेता शिल्पी पुरुष की स्त्री ।

अश्विनोःचमसः - प्राण और अपान दोनों को शक्ति प्राप्त करने या अन्न रस के भोजन का साधन आत्मा ।

'यो अश्वनोश्चमसो देव पानः'

अ. ७.७३.३, आश्व.श्रौ.सू. ४.७.४, शां.श्रौ.सू. ५.१०.२३.

अश्विनोः देवी - (१) दिन रात के बीच प्रकट होने वाली उषा, (२) प्राण और अपान के बीच प्रकट होने वाली वाणी ।

'अभुत्स्यु प्र देव्या
'साकं वाचाहमश्विनोः ।'

ऋ. ८.९.१६, अ. २०.१४२.१

अश्विनोः सखा - प्राण और अपान दोनों के साथ रहने वाली विशोका प्रज्ञा ।
'सखा भूदाश्विनोरुषाः'
ऋ. ४.५२.२, साम. २.१०७६

अशीतमः - सर्वव्यापक अग्नि ।
'अग्नेऽदब्धायोअशीतम पाहि मा दिद्योः'
वाज.सं. २.२०, श.ब्रा. १.९.२.२०

अशीति - अस्सी ।
'आशीत्या नवत्या याहि अर्वाङ्'
ऋ. ८.२.१८.६

अशीतिःहोमाः - अन्न का अशन अर्थात् भोजन पुरुष यज्ञ का होम है ।
'अशीतिर्होमाः समिधो ह तिस्रः'
वाज.सं. २३.५८

अशीय - अश (व्याप्त होना, प्राप्त करना) मैं प्राप्त करू ।
'तेना मृतत्वम् अशीय'
कौ.सू. ९.९, पंच.ब्रा. १.८.२, १०.११, १३.
हे देवि देवियो ! तुझे इस प्रकार पाकर मैं अमृतत्व प्राप्त करू (अमृतत्वम् अशीय) ।

अशीर्षा अशीर्षन् - शिर रहित ।
'अशीर्षाणम् अहिं कृणु'
अ, १९.४७.८, ५०.१.
(२) शिर के तुल्य सबसे मुख्य होकर शिर की अपेक्षा न करता हुआ ।
'अपादशीर्षा गुहमानो अन्ता'
ऋ. ४.१.११.

अश्री - श्री से हीन, श्री रहित ।
'अश्रीरातनूर्भवति'
ऋ. १०.८५.३०,

अश्रीर - कुरूप, शोभा-रहित पुरुष ।
'अश्रीरं चित् कृणुथा सुप्रतीकम्'
ऋ. ६.२८.६, अ. ४.२१.६, तै.ब्रा. २.८.८.१२.
'अश्रीर इव जामाता'
ऋ .८.२.२०
(२) शोभा, लक्ष्मी सौभाग्यादि से रहित ।

अश्लील - अश्रि +र (मतुप् अर्थ में) =अश्रिर =अश्लील । 'अश्रिमत्' का अर्थ विषम है । तीक्ष्ण धार से युक्त -विषम । आज अश्लील का अर्थ अभद्र है ।

अश्लीला - गन्दा, मलीन, शोभा रहित ।
'अश्लीला तनूर्भवति'
अ. १४.१.२७

अशुन - दुःखदायी क्लेश ।
'अघ्न्यावशुनमारताम्'
अ. १४.२.१६

अशुष् - कभी शोषण या कृश न किए आने वाला, (२) शोषण न करने वाला ।
'वधैः शुष्णस्याशुषस्य मायाः'
ऋ. ६.२०.४
(३) सुखादि से रहित, दुःख दुःखेदायी, (४) अन्यो द्वारा शोषित न होने वाला ।
'कुत्साय शुष्णम् अशुषं निवर्हीः'
ऋ. ४.१६.१२
(६) स्वयं किसी से शोषण या निर्बल न किया जा सकने वाला अदम्य शत्रु ।
'यः शुष्णम् अशुषं यो व्यसम्'
ऋ. २.१४.५
(७) अग्नि जिसमें धातु पिघलाकरें और उसका शोषण न हो-दया. (८) शोषण या पीड़न से रहित (९) अन्यों को पीड़ा ने देने वाला ।
'रक्षो अग्निम् अशुंष तूर्वयाणम्'
ऋ. १.१७४.३
(१०) शोक-रहित, दया. (११) जिसका शोषक या बल-नाशक विरोधी न हो ।
'इन्द्रो यः शुष्णाम् अशुषं न्यावृणङ्'
ऋ. १.१०१.२
जो इन्द्र या राजा बलनाशक विराधी न होने के कारण प्रजा के रक्त शोषण करने वाले को (अशुषम् शुष्णम्) भी सर्वथा परास्त करता है ।

अश्रुमुखी - आंसुओं से मुंह धोती हुई ।
'प्रतिघ्नाश्रुमुखी'
अ. ११.९.७

अश्रृतित - कभी शिथिल न होने वाला ।
'अश्रमणा अश्रृथिता अमृत्यवः'
ऋ. १०.९४.११

अशोषाः, अशेषस् - पुत्र सन्तान आदि से रहित ।
'मा शेषसोऽवीरता परित्वा'
ऋ. ७.१.११.

अश्रेष्मा, अश्रेष्मन् - (१) दूसरों को पीड़ा न पहुँचाने वाला, (२) दयालु, (३) बहुत ममता न करने वाला अनासक्त पुरुष ।

'अश्रेष्माणो अधारयन्'
अ. ३.९.२

अश्वेषित – अश्व +इषित । आंखों से प्राप्त होने योग्य ।
'अश्वेषितं रजेषितं शुनोषितम्'
ऋ. ८.४६.२८

अश्वैत् – आगे बढ़ता या बढ़ती है ।
'अवेयमश्वैत् युवतिः पुरस्तात्'
ऋ. १.१२४.११
जिस प्रकार यह उषा प्रौढ स्त्री के समान आगे आगे बढ़ती है (अश्वैत्) ।

अशोणा दन्ता – जो दाँत पीले न हों ।
'अशोणा दन्ताः'
अ. १९.६०.१.

अश्नोति – व्याप्त होता है। अश् धातु (व्यापनार्थक) के लट् प्र प्र.ए.व. का रूप ।
'नैनमंहो अश्नोत्यन्तितो न दूरात्'
ऋ. ३.५९.२, तै.सं. ३.४.११.५, मै.सं. ४.१०.२, १४६.१४, का.सं. २३.१२.
(इसे पाप (अंहस्) निकट से और न दूर से व्याप्त करता है) ।

अश्लोण – अविकृत ।
'अश्लोणा अङ्गैरह्नुताः स्वर्गे'
अ. ६.१२०.३, तै.आ. २.६.२.

अषतरा – अष् धातु के रेफ का लोप कर अषतरा बना है। अर्थ–शत्रु पक्ष के शस्त्रास्त्रों की अपेक्षा अधिक वेग से फैलने और जाने वाला ।
'ता कर्माषतरास्मै प्रच्यौत्नानि'
ऋ. १.१७३.४, कौ.ब्रा. २४.५.

अष्टऋत्विजः – आठ ऋत्विज जोयथाकाल परस्पर मिलते और सर्ग रचते हैं ।
'अष्टेन्द्र ऋत्विजो दैन्याये'
अ. ८.९.२१

अष्टकर्णी – व्यापक साधनों वाला ।
'सहस्रं मे ददतो अष्टकर्ण्यः'
ऋ. १०.६२.७.

अष्टका – अष्टकाया मुखां सम्भरति प्रजापत्यमेतदहर्यदष्टका । प्राजापत्यमेतत्कर्म यदुखा प्राजापत्य एव तदहन् प्राजापत्यं कर्म करोति । यदुख यदेवाष्टकाययाम् । पर्व एतत्संवत्सरस्य यदष्टका । पैर्वतदग्नेः पर्वण्येव तत् पर्व करोति । यद्वेवाष्टकायाम् । अष्टका वाऽउखा ।
श.ब्रा. ६.२.२.२३–२५
(१) आठों पहर गृह प्रबन्ध करने वाली गृहपत्नी, (२) माघ की कृष्णाष्टमी –सा., (३) ऋतु मती स्त्री ।
'एकाष्टका तपसा तप्यमाना'
अ. ३.१०.१२, तै.सं. ४.३.११.३, का.सं. ३९.१०, साम.मं.ब्रा. २.३.२१, गो.गृ.सू. ४.४.३३,

अष्टधायुक्त – आठ रूपों से युक्त परमेश्वर –सूर्य ।
'अष्टधायुक्तो वहति वह्निरुग्रः'
अ. १३.३.१९

अष्टन् – अश् (व्याप्त्यर्थक धातु) +कनिन् = अष्टन् (तुक् का आगम) । जो संख्या एक से आरम्भ कर सात तक की संख्या को व्याप्त करे वह अष्टन् (आठ) या लैटिन oct या अंग्रेजी का eight है ।

अष्टपुत्रा – आठ पुत्रों वाली प्रकृति ।
'अष्टयोनिरदितिरष्टपुत्रा'
अ. ८.९.२१

अष्टमं दैव्यम् – (१) आठवां, देवों में देवपरमदेव, (२) देह में सात प्राणों पर प्रेरक आत्मा या मन, (३) सात ऋतुओं पर एक सूर्य ।
'मनुष्वत् दैव्यमष्टमम्'
ऋ. २.५.२

अष्टमःशूर – ऋत्विजों के बीच आठवीं शक्ति वेदवाणी । सात प्रकार के ऋत्विक हैं और आठवीं शक्ति वेद की ऋचा है ।
'कम् ऋत्विजा मष्टमं शूरमाहुः'
ऋ. १०.११४.९.

अष्टमीरात्रिः– आठवीं रात, संसार की व्यक्तदशा ।
'अष्टमीं रात्रिम् अभि हव्यमेति'
अ. ८.९.२१
'अष्ट रात्रेण वेदेवाः सर्वमाश्नुवत'
तै.आ. २२.११.६
'प्राजापत्यमेतदहः यदष्टका रात्रिव्युष्टिः ।'
श.ब्रा. १३.२.१.६.
अष्टका प्रजापति सम्बन्धी दिन है अर्थात् परमेश्वर की सर्वव्यापक शक्तियों के परस्पर संयोग से जो संसार के व्यक्त होने की विशेष

दशा है वही अष्टमी रात्रि है जिस दशा में अदिति समस्त संसार को अपने में धारण करती है ।

अष्टयोनिः - (१) अष्टयोनि, (२) आठ स्वरूपों वाली अदिति- अविनाशिनी प्रकृति (३) प्रजापति की आठ मूर्तियां-आपः, फेन, सिकता, शर्करा, अश्मा, अपः, हिरण्य और प्रजापति । यह अक्षर का आठ रूपों से क्षरण है ।

(४) रुद्र के आठ नाम-रुद्र, सर्व, पशुपति, उग्र, अशनि,भव, महादेव, ईशान और नवम कुमार है । इनके प्राकृतिक नाम क्रम से अग्नि, आपः ओषधि, वायु, विद्युत् , पर्जन्य, चन्द्रमा और आदित्य हैं ।

अष्टवृष - आठ प्राणों वाला आत्मा ।

'यद्यष्टवृषोऽसि'

अ.५.१६.८

अषाढः - पराजित न होने वाला ।

'शूरः सत्राषाड्जनुषेम् अषाढः'

ऋ. ७.२०.३.

अषाढ़ा - अजेया, कभी पराजित न होने वाली

'अषाढासि सहमाना

वाज.सं. १३.२६, तै.सं. ४.२.९.२, मै.सं. २.७.१६, ९९.१६, का.सं. १६.१६ ,श.ब्रा. ७.४.२.३९, का.श्रौ.सू. १७.४.२५, आप. श्रौ.सू. १६.२४.१२.

अष्टा - (१) अष्टौ, (आठ) सात मुख्य प्राण और आठवीं वाणी -अष्ट है ।

'अष्टा परः सहस्रा'

ऋ. ८.२.४१.

(२) व्यापक भोक्ता, (३) महान् आकाश या प्रकाश का भोक्ता या व्यापक सूर्य अष्टा है ।

'अष्टा महो दिव आदो हरीइह
द्युम्नासाहम् अभि योधान उत्सम्'

ऋ. १.१२१.८

महान् आकाश या प्रकाश का भोक्ता या व्यापक सूर्य जल बरसाने वाले मेघ के साथ (द्युम्नसाहम् उत्सम् अभि) युद्ध करता हुआ (योधानः) अपने आकर्षण और प्रकाश या प्रकाश और ताप दोनों को (हरी) अपने वश में रखते हैं ।

अथवा, बड़े भारी तेज, विद्वत्सभा या विजयशालिनी सेना का भोक्ता वीर सभापति और सेनापति इस राष्ट्र में या संग्राम में (इह) ऊपर उठते हुए (उत्सम्) ऐश्वर्य को जीतते हुए (द्युम्नसाहम्) शत्रु से युद्ध करता हुआ (अभियोधानः) रथ के दोनों अश्वों को (हरी) अपने वश में करता है । (३) अश् + तृच् =अष्ट । प्रथमा ए.व. में अष्टा । अश्नोति असौ (यह खाता या व्याप्त होता है) अर्थ-खाने वाला या व्यापने वाला अश्व

अष्टाकपालः - आठ मस्तिष्कों का विचार ।

'अग्नये गायत्राय त्रिवृते
राथन्तरायाष्टाकपालः'

वाज.सं. २९.६०

अष्टाक्षर - (१) परमेश्वर के अष्ट अक्षय सामर्थ्य, (२) राजा के आठ बल-स्वामी, अमात्य, सुहृद, कोष,राष्ट्र, दुर्ग, बल और भूमि (३)आठ महामात्य, (४) आदित्य के आठ अंश ।

'बृहस्पतिरष्टा क्षरेण गायत्रीमुदजयत्'

वाज.सं. ९.३२, तै.सं. १.७.११.१.

अष्टाचक्रा - आठ चक्रों वाला शरीर रूप पुरी ।

'अष्टाचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या'

अ. १०.२.३१, तै.आ. १.२७.२.

अष्टापक्षा - आठ घरों वाली शाला ।

'अष्टापक्षां दशपक्षाम्'

अ. ९.३.२१

अष्टापदी - (१) बछड़े सहित आठ पैरों की गौ, (२) आठ सचिवों से बनी राजसभा, (३) आठों प्रमाणों से युक्त या आठों उच्चारण स्थानों वाली सत्यवाणी ।

'अष्टापदीभि राहुतः'

ऋ. २.७.५

(४) आठ पैरों वाली ब्राह्मण रूप गौ, (५) आठ अमात्य वाला राष्ट्र ।

'अष्टपदी चतुरक्षी'

अ. ५.१९.७

(६) आठ पैरों वाली या आठ अधिष्ठानों से एकात्मभूत (७) माध्यमिका वाक् गौरी का विशेषण ।

'गौरी मिमाय सलिलानि तक्षती
एकपदी द्विपदी सा चतुस्पदी
अष्टापदी नवपदी बभूवुषी
सहस्राक्षरा परमे व्योमन्'

ऋ. १.१६४.४१, अ. ९.१०.२१, तै.ब्रा. २.४.६.११, तै.आ. १.९.४, नि. ११. ४०.

माध्यमिका वाक् चारों दिशाओं एवं चार अवान्तर दिशाओं से युक्त एवं एकात्म हो जल बरषाती हुई यह सब निर्माण करती है ।

अष्टापदी वाक् - (१) अष्ट ज्ञान स्थान वाली वाणी, (२) आठ पदों वाली वाणी ।

'वाचमष्टापदीमहम्'

ऋ. ८.७६.१२, अ. २०.४२.१, साम. २.३४०, ऐ.आ. २.३.६.३.

अष्टभूता - आठ भूत, आठ भावपदार्थ ।

'अष्ट जाता भूता प्रथमजर्तस्य'

अ. ८.९.२१

अष्टायोग - यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा और समाधि के योग के आठ अंग हैं ।

'इमं यवम् अष्टा योगैः'

अ. ६.९१.१

अष्टाबन्धुर - आठ शीर्षगत प्राणों मे बन्धा आत्मा ।

'अष्टाबन्धुरं वहताभितोरथम्'

ऋ. १०.५३.७

अष्ट्रा - (१)चाबुक ।

'शुनमष्ट्राम् उदिङ्गव

ऋ. ४.५७.४, अ. ३.१७.६, तै.आ.६.६.२.

(२) व्यापक शक्ति ।

'या ते अष्ट्रा गोओपशा'

ऋ. ६.५३.९

अष्टिः - उत्तम कुलों की प्राप्ति ।

'इन्द्रं शुम्भामि अष्टये'

अ. ९.५४.१

अष्टौ - (१) आठ, (२) राज सभा के आठ सदस्य, (३) सात शीर्षण्य प्राण और वाक् ।

अष्टौककुभः - चार दिशाएं और चार उपदिशाएं

'अष्टौव्यख्यत् ककुभः पृथिव्या'

ऋ. १.३५.८, वाज.सं. ३४.२४

वह सूर्य पृथ्वी के ऊपर आठों दिशाओं को प्रकाशित करता है ।

अष्टौपुत्रासः - (१) व्यापक प्रकृति के आठ अवयव-उत्पादनोन्मुख, प्रकृति-महत्, अंहकार, पंच तन्मात्रा, (२)सूक्ष्मभूत प्रकृति ही सात ग्रहों के रूप में सात ग्रहों को प्राप्त हुई । उनसे सूर्य को इन सातों मे परे दूर फेंका । इनमें आठवां मार्तण्ड सूर्य है ।

'अष्टौ पुत्रा सो अदितेः'

'ये जातास्तन्वस्परि'

ऋ. १०.७२.८, मै.सं. ४.६.९, ९२.२, पंच.ब्रा. २४.१२.६, श.ब्रा. ३.१.३.२, तै.आ. १.१३.२.

अष्टौमन्यः - आठ धमनियां ।

'सप्त प्राणान् अष्टौमन्यः'

अ. २.१२.७

अष्ठीवत् - विशेष अस्थिवाला घुटना ।

'ऊरुभ्यां ते अष्ठीवद्भ्याम्'

ऋ. १०.१६३.४, अ. २.३३.५, २०.९६.२०, आप.मं.पा. १.१७.४.

अष्ठीवन् - (१) थूक फेंकता हुआ -दया. (२) स्थूल अस्ति से युक्त पैर ।

'अष्ठीवन्तौ परि कुल्फौ च देहत्'

ऋ. ७.५०.२

अष्ठीवन्तौ - अस्थि के बने दोनों घुटने ।

'अष्ठीवन्ता वब्रवीन् मित्रः'

अ. ९.४.१२

अष्ठीवे - घुटने ।

'अहोरात्रे ऊर्वष्ठीवै बृहद्रथन्तरे'

वाज.सं. १८.२३, मै.सं. २.११.६, १४३.१३.

असक्रा - (१) अन्य के पास न जाने वाली ।

'धेनुं न इषं पिन्वतम् असक्राम्'

ऋ. ६.६३.८, नि. ६.२९.

(२) असं क्रमणी-असंक्रमणशीला, जो अन्यत्र संक्रमण न करे, (३) अनपायिनी कभी दूर न होने वाली ।

'पुरु हि वां पुरुभुजा देष्णम
धेनुं न इषं पिन्वतमसक्राम्
स्तुतश्च वां माध्वी सुष्टुतिश्च
रसाश्च ये वामनुरातिमग्मन्'

ऋ. ६.६३.८.

हे पुरुभुज-बहुभोजी या बहु-पालक आश्विद्वय ! तुम दोनों का दातव्य धन बहुत है (वाम् देष्णं पुरु) । अतः हमें धेनु और अन्यत्र नहीं हटने योग्य (असक्राम्) अन्न (इषम्) दो (पिन्वतम्) । हे मधुपायी अश्विद्वय ! तुम्हारे स्तोत्र भी हैं और सुन्दर स्तुति भी (वां स्तोत्रा स्तुतश्च), सोम रस भी है (रसाश्च) जो तुम्हारे दान का लक्ष्य कर देवयजन में लगाए गए हैं (रातिम् अनुअग्मन्) । अर्थात् स्तोत्रा की स्तुति सुन

सोमरस पीकर तुम यथेष्ट दान दोगे ।

अन्य अर्थ- हे बहुपालक राजा एवं राजपुरुषो ! (पुरुभुजा) निश्चय ही तुम्हारा दान प्रजा की इच्छाओं को पूर्ण करने वाला हो (वा हि देष्णं पुरु) । तुम हम से कभी दूर न होने वाली दो दुग्धतुल्य (असक्रा धेनुं न) अन्न का सिञ्चन करो (इषं पिन्वतम्) । तुम्हारा प्रशंसित कर्मचारी वर्ग (वां स्तुतेः) और मधुर वाणी (माध्वी सुष्टुतिः) तथा जो अन्नादि वे सब हमें दान में प्राप्त हो (अनुरातिम् अग्मन्) ।

असकौ - असौ ।

'यकासकौ शकुन्तिका'

वाज.सं. २३.२२, श.ब्रा. १३.२.९.६, ५.२.४ का.श्रौ.सू. २०.६.१८.

असघ्नः - धारण करता है ।

'असघ्नोर्भारमयजोमहोवसो'

ऋ. १.३१.३

तू ही जीवों और लोकों के भरण पोषण के कार्य को भी धारण करता है (असघ्नः) और वे सबको बसाने और सब में बसने वाले परमेश्वर । तू ही बड़े सूक्ष्म तत्वो को संगत करता है (अयजः)

'असंख्याता ओप्यमानाः सुवर्णाः'

अ. १२.३.२८

असंख्याता रुद्राः - असंख्य अधिष्ठाता या शासक ।

'असंख्याता सहस्राणि ये रुद्रा अधिभूम्याम्

वाज.सं. १६.५४, मै.सं. २.९.९, १२८.७, का.सं. १७.१६, श.ब्रा. ९.१.१.३०, तै.आ. १.१२.१, नि. १.१५.

असंज्ञा - निश्चेतन, बेहोश करने वाली ।

'असंज्ञा गन्धेन'

अ. १२.५.३४

असजात्या - समान गुणादियुक्त अनुरूप पुरुष से रहित ।

'अनापिरज्ञा असजात्या मतिः'

ऋ. १०.३९.६

असत् - (१) अस्तु (हो), भवतु । 'लेटोऽडाटौ', सूत्र से लेट् में अट् का आगम हुआ और तिप् के इ का लोप (इतश्च लोपः) । अतः अस्तु न होकर असत् रूप हुआ । (२) अस् (होना) +शतृ =सत् (जो है, वर्तमान है) । नञ् +सत् = असत् (जो नहीं है) ।

'असतो मा सद्गमय'

श.ब्रा. १४.४.१.३०, ३१ बृ. आ.उप. १.३.३०.३१

(मुझे असत् से सत् को ले जा) अस्तु के अर्थ में प्रयोग ।

'सुगुरसत् सुहिरण्यः स्वश्वो
बृहदस्मै वय इन्द्रो दधाति ।
यस्त्वायन्तं वसुना प्रातरित्वो
मुक्षीजयेव पदिमुत् सिनाति ।'

ऋ. १.१२५.२, नि. ५.१९.

कक्षीवत् के पिता अपने पुत्र को राजा से मिले दान को लाते देख राजा को आशीर्वाद देते हैं-वह राजा सुन्दर गौओं, सुन्दर हिरण्य, तथा सुन्दर अश्वों से युक्त हो, इस राजा को परमात्मा बहुत धन तथा आयु दे, क्योंकि हे प्रातःकाल आने वाले पथिक (प्रातरित्वः) धन देकर रात में आते पथिक को उसी तरह रोक रखा जैस कोई कुमार पाश्या या रस्सी से पक्षी को रोक रखे (मुक्षी जया पदिमिव उत् सिनाति) ।

पुनः - 'सभरा असत् नः' (औषधियां फल से लदी भरी हों)

'पुनः हतेमसन्न वक्षति'

ऋ. १.१२९.८.

वह शक्ति नष्ट हो जाय (हता असत् ईम्) और हमारे पास न पहुँचे (ह वक्षति) । (३) अव्यक्त, (४) क्षणभंगुर प्राकृतिक जगत् , प्रधान प्रकृति ।

'असति सत् प्रतिष्ठितम्'

अ. १७.१.१९

'जो नहीं हैं' के अर्थ में ।

'देवानां युगे प्रथमे
असतः सदजायत ।'

ऋ. १०.७२.३

(५) असत्य ।

'असन्नस्त्वासत इन्द्र वक्ता'

ऋ. ७.१०४.८, अ. ८.४.८

(६) छोटा सा, तुच्छ पदार्थ ।

'असद् भूम्याः समभवत्'

अ. ४.१९.६.

असत्तरा - बुरी से बुरी गड़ी हुई गण्डमाला अयची ।

'असतीभ्यो असत्तराः'

अ. ७.७६.१

असत्या – असदाचारिणी ।

'पापासः सन्तो अनृता असत्याः'

ऋ. ४.५.५

असती – बुरी गण्डमाला नामक रोग ।

असन् – (१) असत्यभाषी, (२) अस्तित्व रहित, (३) नहीं सा । (४) रसं ।

'तस्य हास्नास्युक्षिता'

अ. ५.५.८

(५) अस्तित्व रहित, (६) शून्य, (७) नष्ट, (८) रक्त ।

'अस्ना रक्षांसि'

वाज.सं. २५.९

पुनः–

'अस्नस्ते मध्ये कल्यायाः'

अ. ५.१९.३

असन – (१) अस (क्षेपणार्थक) + ल्युट् =असन् । अर्थ –उखाड़ फेंकने वाला । कार्य, (२) संग्राम ।

'याभिः कृशानुं असने दुवस्यथः'

ऋ. १.११२.२१

'क्षद्मेव तिग्गम् असनाय संश्यत्'

ऋ. १.१३०.४.

(४) फेंकना ।

'इषुं कृण्वाना असनाय धृष्णुम्'

अ. १.१३.४

असना – (१) भोजन, (२) अन्न ।

'कृशानोरस्तुरसनामुरुष्यथः'

ऋ. १.१५५.२, नि. ११.८.

तुम दोनों हवि पहुंचने वाले (अस्तुः) अग्नि के द्वारा (कृशानोः) यज्ञशील मनुष्य के लिए भोजन या अन्न (असनाम्) प्रस्तुत या प्रदान करते हो (उरुष्यथः)(२) प्रक्षेपण क्रिया–फेंकना (३) फेंकी हुई शर्यावाण ।

'अस्तुर्न शर्यामसनामनु द्यून्'

ऋ. १.१४८.४

असंदित – (१) अखण्डित, बन्धन रहित ।

'असन्दितो विसृज विष्वगुल्काः'

ऋ. ४.४.२

असन्दिन् – कभी स्थिति प्राप्त न करने वाला शरीर ।

'बर्हिस्तथावसन्दिनम्'

ऋ. ८.१०२.१४, साम. २.९२१, का.सं. ४०.१४.

असन्मन्त्र – दुष्ट पुरुषों की दुष्ट सलाह ।

'असन्मन्त्रात् दुष्वप्न्याद्'

अ. ४.९.६.

असपन्न – शत्रु का अभाव ।

'असपत्नं नो अधरादस्'

अ. ८.५.१७

पुनः–

'कृण्वन्तो मह्यमसपत्नमेव'

अ. ९.२.८

असपत्ना – सपत्नी या शत्रु से रहित ।

'सपत्ना किला भुवम्'

ऋ. १०.१५९.४

असंबाधम् – बिना एक दूसरे को पीड़ा दिए ।

'असंबाधं बध्यतो मानवानाम्'

अ. १२.१.२

असम्भव – (१) उत्पन्न नहीं होना, (२) कारण रूप प्रकृति का ज्ञान ।

'अन्यदाहुरसम्भवात्'

वाज.सं. ४०.१०, ईश.उप. १३

असम्यव्य – बिना सम्भावना के ।

'असम्भव्यं पराभवन्'

अ. ५.१८.१२, १९.११,

असंभूति – (१) सत्व, रजस् और तमस् तीनों गुणों वाली प्रकृति (२) आत्मा का पुनर्जन्म ।

'येऽसंभूतिमुपासते'

वाज.सं. ४०.९, श.ब्रा. १४.७.२.१३, बृ.आ.उप. ४.४.१३, इश. उप. १२

असंमृष्ट – (१) अशुद्ध, (२) कान्ति–रहित, (३) असंस्कृत, (४) उपनयन आदि बाह्य संस्कारों से रहित ।

'असंभृष्टो जायसे मात्रोः'

ऋ. ५.११.३, तै.सं. २.४.३.३.

असमः – (१) अनुपम ।

'असमं क्षत्रम् असमामनीषा'

ऋ.१.५४.८.

(२) सबसे अधिक ।

'येषां ब्रह्माणि असमानि विप्राः'

ऋ. ७.४३.१

असमन – (१) विषम, (२) संग्राम से भिन्न

अवसर ।

'असमने अध्वनि वृजिने पथि'

ऋ. ६.४६.१३

असमना - अ + समना । एक समान चित्तवाला न होकर, (२) समत् अर्थात् संग्राम छोड़कर ।

'असमना जहतीः भोजनानि'

ऋ. ७.५.३.

(३) अन्यो से असाधारण चित्त और ज्ञानवाला ।

(४) एक से बढ़कर एक ।

'असमना अजिरासो रघुष्यदः'

ऋ. १.१४०.४.

असमरथ - असम + रथ । जिसके मुकाबले में दूसरा कोई रथ नहीं लड़ सके ।

'रथप्रोतश्चासमरथश्च सेनानी ग्रामण्यौ'

वाज.सं. १५.१७

असमष्टकाव्य - (१) जिसकी क्रान्तदर्शिता एवं बुद्धिमत्ता का कोई पार नहीं पा सके इन्द्र, परमेश्वर ।

'गम्भीर ऋष्वो असमष्ट काव्यः'

ऋ. २.२१.४

(२) अन्य विज्ञानों द्वारा भी न प्राप्त होने योग्य वेदादि ज्ञानमय काव्यो का रचयिता ।

'पिता मतीनाम् असमष्ट काव्यः'

ऋ. ९.७६.४

असमा - एक से एक भिन्न ।

'यश्चा समा अजनो दिद् युतो दिवः'

ऋ. २.१३.७

असंयत्त - संयम या जितेन्द्रियता से रहित पुरुष ।

'असंयत्तो व्रते ते क्षेति पुष्यति'

ऋ. १.८३.३, अ. २०.२५.३

जे असंयमी पुरुष भी तेरे उपदिष्ट नियम में रहता है...।

असंस्थित - (१) असमाप्त, (२) असंस्कृत (३) अपरिपक्व, अधकच्चा, (४) अरक्षित ।

'ब्रह्मेवा संस्थितं हविः'

अ. ६.५०.२

असंसूक्तगिल - असंम् +सु +उक्त + गिल ='असंसूक्तगिल' अर्थ अनुत्तम वाणियों को बोलने वाले सैनिकों को निगल जाने वाला ।

'असंसूक्तगिलेभ्यः'

अ. ११.२.३०

असमाति - (१) अन्न की इतनी समृद्धि हो जाने अंट न सके ।

'असमातिं गृहेषु नः'

अ. ६.७९.१.

(२) असाधारण मान और आदर के योग्य ।

'असमातिं नितोशनम्'

ऋ. १०.६०.२

असमृद्धि - समृद्धि का अभाव, दरिद्रता ।

'नमो वीर्त्साया असमृद्धये'

अ. ५.७.१

असर्ववीरः - सब वीर्यों अर्थात् सामर्थ्यों से रहित ।

'असर्ववीरः चरतु प्रणुत्तः'

अ. ९.२.१४

असबन्धु - जो समान गोत्र का न हो ।

'सबन्धुश्चासबन्धुश्च'

अ. ६.१५.२, ५४.३.

असश्चत् - (१) अनासक्त, (२) विलक्षण, (३) जो ग्रन्थो से उपयुक्त या अन्यों से अधीन न हो ।

'द्वारो देवीः असश्चंतः'

ऋ. १.१३.६, १४२.६.

(४) संगरहित ।

'प्र ते धारा असश्चतः'

ऋ. ९.५७.१, साम. २.१११२, शां.श्रौ.सू. ७.१५.४.

(५) अन्यो में अप्राप्य वेदवाणी (६) विशुद्ध विभूति ।

'तस्मा अर्षन्ति दिव्या असश्चतः'

ऋ. २.२५.४

असश्चतः - सदा

'विश्रयन्तामृता वृधो
द्वारो देवी रसश्चतः'

ऋ. १.१३.६,

असश्चता - (१) विलक्षण स्वरूप -दया. (२) अयुक्त कार्यों तथा कामादि विलासों में असक्त, (३) जितेन्द्रिय और निःस्वार्थ मातापिता ।

'उरुव्यचसा महिनी असश्चता'

ऋ. १.१६०.२.

असश्चन्ती - असज्यमाने, परस्परम् असंश्लिष्यमाने-परस्पर नहीं सटने वाली (२) निकट निकट न रहने वाली

-(अव्युदस्यन्तौ - अनुपक्षियन्तौ-अविपर्यस्यन्तौ) (३) पृथक् भूत, अलिप्त। नञ् +सञ्च् + शतृ +ङीष् =असश्चन्ती । यहां गत्यर्थक सञ्च् धातु अस्त्यर्थक हो गया है। (४) द्यावापृथिवी, ये एक दूसरे पर आश्रित समझी जाती हैं (अवक्षियन्तौ-आश्रिते)। प्रथमा का द्विवचनान्त रूप है और 'औ' पूर्वसवर्ण दीर्घ एकादेश हो गया है।

'असश्चन्ती भूरिधारे पयस्वती
घृतं दुहाते सुकृते शुचिव्रते
राजन्ती अस्य भुवनस्य दोदसी
अस्मे रेतः सिञ्चतं यत् मनुर्हितम्।'

ऋ. ६.७०.२, नि. ५.२.

द्यावापृथिवी के सूक्त में पठित। अभिप्लव के बाद सन्तान हेतु प्रार्थना। परस्पर संश्लिष्ट नहीं रोती हुई, बहुत धारा वाली या बहुत जीवों को धारण करने वाली, जलवाली (पयस्वती) सुन्दर कर्मों वाली (शुचिव्रते) द्यौ और पृथ्वी यजमान के लिए सुन्दर निर्मित (सुकृते) शस्यादि समृद्धि के हेतु जल देती है (घृतं दुहाते)। हे द्यावा पृथिवी ! अपने अपने तेजों से इस भुवन को दीप्त करती हुई तुम दोनों (अस्य भुवनस्य राजन्ती) हममें वह सन्तानात्पादक वीर्य दे। (अस्मे रेतः सिञ्चन्तम्) जो मनुष्यों के लिए कल्याण कारक हैं (यत् मनुर्हितम्), अथवा इस संसार के राजा सूर्य पृथ्वी मनुष्यों के लिए हितकर जल हमारे लिए बरसावें।

(४) अनासक्त रहती हुई।

'या ते अग्ने पर्वतस्येव धार
असश्चन्ती पीपयद् देव चित्रा'

ऋ. ३.५७.६.

(६) स्थिर रहने वाली।

'असश्चन्ती दिवेदिवे'

ऋ. ८.३१.४

असमन्तः - किरणों का विशेषण। एक वचन में 'असमन्'। अर्थ (१) कभी नाश न होने वाले, (२) कभी सोने वाले।

'अग्नेरेजन्ते असमन्तो अजराः'

ऋ. १.१४३.३

असस्तन - अस्वपक्ष (सोयें)। 'षुस्' धातु सोना अर्थ में आता है। लङ् मध्यम पुरुष बहुवचन का रूप है। त प्रत्यय का तनप् आदेश होने से असस्तन रूप होता है।

'उद्वत्स्वस्मा अकृणोतना तृणं
निवत्स्वपः. स्वपस्यया नरः
अगोह्यस्य यदसस्तना गृहे
तददयेदम् ऋभवो नानु गच्छथ'

ऋ. १.१६१.११

हे सूर्य रश्मि ऋभुओ ! प्रकाश, वृष्टि तथा ऊदक लाने वाले आप (नरः) वर्षा रूपी लोकानुग्रह क्रिया से (स्वपस्यया) मेरु आदि उन्मत प्रदेशों में (उद्वत्सु) ब्रीहियवादि रूप तृण (तृणम्) इस लोक के लिए उत्पन्न किया (अकृणोतन) या प्रतिवर्ष करते हो। निम्न भूभागों में (निवत्सु) जल दिया और आदित्य मन्डल में जब तक तुम सोये या बिना व्यापार के पड़े रहे (अगोह्यस्य गृहे यत् असस्तन्) तब तक आज दिन अनुसरण न करें (इदम् अनुगच्छथ)।

अस्कम्भनम् - पतन प्रतिरोधकम् आलम्बनम् स्कम्भनम् (पतन रोकने वाला आलम्बन स्कम्भन है)। नञ् + स्कम्भनम् =अस्कम्भनम्, जिसका आधार खम्भा आदि न हो-अन्तरिक्ष।

अस्कम्भः - नञ् + स्कम्भ =अस्कम्भ। बिना खम्भा के।

'अस्कम्भने सविता द्यामदृंहत्'

ऋ. १०.१४९.१, नि. १०.३२.

(सविता ने बिना खम्भा के स्थित अन्तरिक्ष में भी द्युलोक को स्थापित किया)।

अस्त - (१) गृह, (२) दूरदेश।

'अपाः सोममस्तमिन्द्र प्र याहि'

ऋ. ३.५३.६, अश्व श्रौ.सू. ६.११.९.

हे इन्द्र या शत्रु-मर्दन राजन्। तू सोम पी और घर या दूर देश जा। (अस्तं प्रयाहि)।

(३) रहने का स्थान।

'अस्तं न आवो नक्षन्त इद्धम्'

ऋ. १.६६.९, नि. १०.२१.

जैसे गौएं अपने वास स्थान में जाती हैं।

पुनः-

'पुनरेहि वृषाकपे
सुविता कल्पयावहै।
य एष स्पप्ननंशनः
अस्तमेषि पथा पुनः

विश्वस्मात् इन्द्र उत्तरः'

ऋ. १०.८६.२१, अ. २०.१२६.२१, नि. १२.२.८.

हे वृषाकपे ! जो ये निन्द्रा नाशने वाले आदित्य हैं वह तू ही है। वह तू अपने कल्पित मार्ग से अपने वासस्थान को पुनः जाता है। और जो तू इन्द्र सम्पूर्ण जगत से बढ़कर है बह तू फिर हमारे पास आ अर्थात् पुनः उदय भे। इसी हेतु इन्द्राणी और में सुप्रसृत कर्मों को (सुविता) सगुण बनाते हैं (कल्पयावहै)

अस्तक - (१) गृह, (२) शरीर।

'आ पत्नीरिदमस्तकम्'

अ. २.२६.५

अस्तताति - गृह का कल्याण करने वाला अग्नि।

'अस्ततातिं चिदायवे'

ऋ. ५.७.६

अस्तमीक - अति समीप घर में।

'सचस्व नः पराक आ सचस्वस्तमीक आ'

ऋ. १.१२९.९

(अति समीप हमारे घर में भी तू प्राप्त हो।)

आस्तं यत् - अस्त होता हुआ।

'अस्तं यते नमः'

अ. १७.१.२३, वै.सू. ११.१३

अस्ता - (१) अस् (क्षेपणार्थक) + तृन् =अस्तृ अर्थ है-फेंकने वाला, पहुंचाने वाला। अग्नि का विशेषण है।

'कृशानोःअस्तुः असनाम् उरुष्य थः'

ऋ. १.१५५.२, नि. ११.८

हवि पहुंचाने वाले (अस्तुः) अग्नि के द्वारा (कृशानोः) भोजन या अन्न को (असनाम्) प्रस्तुत करते या देते हो (उरुष्यथः) (२) उखाड़ फेंकने वाला, (३) प्रहार करने वाला।

'अस्तासि विध्य रक्षसः तपिष्ठैः'

ऋ. ४.४.१, वाज.सं. १३.९, तै.सं. १.२.१४.१, मै.सं. २.७.१५,९७.८, का.सं. १६.१५, नि. ६.१५.

अस्थ - हड्डी।

'अस्थभ्यः स्वाहा'

वाज.सं. ३९.१०, तै.सं. ७.३.१६.२

अस्थन्वान् - (१) हड्डियों से युक्त शरीर। (२) रूपवान जगत्।

'अस्थन्वन्तं यदनस्था बिभर्ति'

ऋ. १.१६४.४, अ. ९.९.४.

अस्था - (१)अस् + थन् =अस्थन्। रोगादि विघ्नों को दूर फेंकने वाली शक्ति, (२) तमो नाशक शक्ति।

'इन्द्रो दधीचो अस्थभिः'

ऋ. १.८४.१३, अ. २०.४१.१, साम. १.१७९, २.२६३, तै.सं. ५.६.६.३, मै.सं. २ १३.६, १५४.९, का.सं. ३९.१२, पंच.ब्रा. १२.८.५, तै.ब्रा. १.५.८.१, आश्व.श्रौ.सू. ७.२.३, वै.सू. ४०.१४, आप.श्रौ.सू. १७.८.२,

अस्थेयस् - अस्थिर।

'राधो अस्थेयसामिव'

ऋ. १०.१५९.५

अस्नाता - (१) स्नान नहीं करने वाला।

'सो अस्नातृन् अपारयत् स्वस्ति'

ऋ. २.१५.५

(२) जो गीला या भींगा न हो-विद्युत्।

'अस्नातापो वृषभो न प्रवेति'

ऋ. १०.४.५

अस्नाविरः - (१) स्नान आदि से रहित, (२) शुद्ध, (३) अविद्या आदि दोषों से रहित।

'अस्नाविरम् शुद्धमपाप विद्धम्'

वाज.सं. ४०.८.

अस्पः - (१) खुशकर, (२) पार कर, (३) लांघना

'महोराये चितयन् अत्रिमस्पः'

ऋ. ५.१५.५

अस्पन्दमानः - (१) मन्द मन्द चलता हुआ मेघ, (२) न चलता हुआ सूर्य, (३) धर्ममार्ग से विचलित न होने वाला पुरुष।

'अस्पन्दमानो अचरत् वयोधाः'

ऋ. ४.३.१०

अस्मत - मेरा या हमारा।

'उदुत्तमं वरुण पाशमस्मत्
अवाधमं विमध्यमं श्रथाय।'

ऋ. १.२४.१५, अ. ७.८३.३, १८.४.६९, आ.सं. १.४, वाज.सं. १२.१२, तै.सं. १.५ .११.३, ४.२.१.३, ५.२.१.३, का.सं. ३.८, १६.८, १९.११, २१.१३, मै.सं. १.२.१८ः २८.८, २.७.८ः ८५.१३, ३.२.१ः १५.१९, ४.१०.४ः १५३.९, ४.१४.१७ः २४६.५, श.ब्रा. ६.७.३.८, साम.मं.ब्रा. १.७.१०, हि.गृ.सू. १.९.१०.

हे आदित्य ! (वरुण), तू मेरे ऊपर वाले, निचले

तथा बीच वाले बन्धन को खोल या ढीलाकर (श्रथाय)

अस्मत्रा - अस्मासु (हम सबों में) ।

'अस्मत्रा ते सध्र्यग् सन्तु रातयः'

ऋ. १.१३२.२.

(हम सबों में आप के दान लग जाएं) ।

अस्माकः - (१) हमारा ।

'सास्मा के भिरेतरी न शूषैः
अग्निष्ट वे दम आ जातवेदाः'

ऋ. ६.१२.४

जातधन या जातप्रज्ञ अग्नि हमारे सुखकर स्तोत्रों से (अस्माकेभिः शूषैः) हमारे यज्ञ-गृह में (दमे) अतिथि या याचक के सदृश (एतरी न) स्तुत किए जाते हैं (आस्तवे) । (२) हमारे बीच में वर्तमान

'प्रास्माकासश्च सूरयः'

ऋ. १.९७.३, अ. ४.३३.३, तै.आ. ६.११.१.

जो हमारे बीच विद्वान् हैं

अस्मत्राञ्चः - हम लोगों में पूजनीय । एकवचन में 'अस्मत्राङ्' ।

'अस्मत्राञ्चो वृषणो वज्रवाहो'

ऋ. ६.४४.१९

अस्मद् अधि - हममें, हमें ।

'मा पणिर्भूरस्मदधि प्रवृद्ध'

ऋ. १.३३.३.

हे प्रकृष्ट बुद्धियुक्त इन्द्र ! तू हमें (अस्मद् अधि) धन देते हुए बनिया मत वन (मा आपणिः भूः)

अस्मद्र्यक् - अस्मद् +र्यक् । हमें प्राप्त हमारे सम्मुख

'अस्मद्र्यञ्चो ददतोमघानि'

ऋ. ७.१९.१०, अ. २०.३७.१०.

अस्मद्र्यञ्चः - हमारे सम्मुख ।

अस्मदानिद् - (१) अस्मद् +आङ् +निद् +कसुन् = अस्मदानिदस् । सायण के मत से 'अस्मत्तः आनिदः' (मुझ से मेरे निन्दक को) ऐसा अर्थ हैं (२) मेरा निन्दक (अस्मद् अभिनिन्दिता)

'प्र तद् वोचेयं भव्याय इन्दवे
हव्यो न य इषवान् मन्म रेजति ।
रक्षोहा मन्म रेजति ।
स्वयं सो अस्मदा निदो
वधैरजेत दुर्मतिम् ।
अव स्रवेदघशंसोऽवतरम्
अव क्षुद्रमिव स्रवेत् ।'

ऋ. १.१२९.६, नि. १०.४२

मैं भव्य इन्द्र के लिए (भव्याय इन्दवे) उनके इष्टतम् उस स्तुति को कहता हूँ (तत प्रवोचेयम्) जो इन्द्र यज्ञ में हवि के भागी नहीं हैं (यः हव्यः न) और जो अन्नवान् हमारी प्रजाओं को (मन्म) आकुञ्चित करते हैं (रेजति) तथा जो राक्षसों को मारते हुए (रक्षोहा) हमारी प्रज्ञाओं या कर्मों को आकम्पित करते हैं । वह इन्द्र स्वयं हमारे निन्दकों तथा हमारे प्रति पाप-बुद्धि रखने वालों को (अस्मदानिदः दुर्मतिम्) मार भगावें (अजेत)। अघशंस अर्थात् पापों प्रचारक या चोर अधोगति प्राप्त करें । 'अवस्' 'तवेत्' अत्यन्त निकृष्ट को जल की तरह अपने स्थान से गिरा दे (अवतरम् क्षुद्रमिव अवस्रवेत्)

अस्मध्रुक - हमारा द्रोही ।

'घनेव विष्वक् विजहि अराव्णम्
तपुर्जम्भ यो अस्मध्रुक'

ऋ. १.३६.१६.

हे शत्रुओं और दुष्टों को संताप देने वाले हननकारी शस्त्रों वाले राजन् या परमेश्वर (तपुर्जम्भ) जैसे घन पर लोहा पीटा जाता है उसी प्रकार अदानशील कृपणों को तथा जो हमारा द्रोही है उसे सब प्रकार से (विष्वक्) विनष्ट कर (विजेहि) ।

पुनः-

'स्पाशयस्व यो अस्मध्रुक्'

ऋ. १.१७६.३

अस्मयु - (१) अस्मन् +क्यात् +उ = अस्मयु (अस्मान् कामयमानः) अर्थ -हम सबों की शुभकामना करता हुआ

'तन्नस्तुरीपमद्भुतं -
पुरु वारं पुरु त्मना
त्वष्टा पोषाय वि ष्यतु
राये नाभा नो अस्मयुः'

ऋ. १.१४२.१०,

वैद्युताग्नि (त्वष्टा) हमारी शुभ कामना करते हुए (अस्मयुः) गौ आदि धन के पालन पोषण के लिए (राये) हमारे यज्ञ की उत्तर वेदी में (नाभा) हमारे लिए अभूतपूर्व (अद्भुतम्) बहुत देशान्तरों

को आवृत्त करता हुआ (पुरुवाराय) स्वयं संचित (त्मना संभृतम्) प्रचुर मात्रा में (पुरु) उस जल को (तत् तुरीपम्) बरसावे (विष्यतु)
(२) हमारा स्वामी, (३) हमें सदा समृद्ध रूप में चाहने वाला, (४) हमारे सदृश, हमारे देह में आत्मा के समान अभिमान सहित होकर रहने वाला ।
'जुषाणो याहि अस्मयुः'
ऋ. १.१३५.२
(६) हमें चाहने वाला
'उतत्वम् अस्मयुः वसो'
ऋ. ३.४१.७, अ. २०.२३.७

अस्मयू - (१) हमारी कामना करते हुए-सा, (२) हमसे प्रीति करते हुए -(दया.) ।
'अच्छागिरः सुमतिं गन्तमस्मयू'
ऋ. १.१५१.७.
हमसे प्रीति करते हुए हमारी स्तुतियों को अभिलक्षित कर आओ ।

असमात्योजाः - बल पराक्रम में अनुपम
'एवा हि जातो असमात्योजाः'
ऋ. ६.२९.६

अस्मृति - बिना विचारे भूलचूक से, अनजाने ।
'यदस्मृति चकृम किं चिदग्न'
अ. ७.१०६.१

अस्य अस्याः - (१) 'अस्य' या 'अस्या' प्रथमादेश में उदात्त और अन्वादेश में अनुदस्त होता है (२) कभी-कभी 'अस्मै' के स्थान में भी प्रयुक्त (३) इदम् के षष्ठी ए.व. स्त्री लिंग में, उसी प्रकार अस्याः भी अस्मै के स्थान में प्रयुक्त होता है ।

अस्यत् - बाण फेंकने या चलाने वाला ।
'नम आयच्छद्भ्योऽस्थद्भ्यश्च वो नमः'
वाज.सं. १६.२२, तै.सं. ४.५.३.२, मै.सं. २.९.१४: १२३.१०, का.सं. १७.१३.

अस्रवन्ती - (१) नहीं स्रने वाली नौका (२) अपना रहस्य किसी पर प्रकट न करने वाली ।
'अस्रवन्तीमनागसम्'
वाज.सं. २१.७.

अस्व - अ +स्व । धन-हीन ।
'अस्वं त्वाप्रजसं कृणोमि'
अ. ७.३५.३.

अस्वग - घर बार तथा धन-धान्य से हीन ।
'अवास्तुमेनमस्वगमप्रजसं'
अ. १२.५.४५.

अस्वगता - अ + स्वगता । निर्धनता, दरिद्रता, सम्पत्ति हीनता ।
'अप्रजास्ताम् अस्वगताम् अवर्तिम्'
अ. ९.२.३.

अस्वप्नः - न सोने वाला प्रहरी, पहरेदार ।
'अस्वप्नश्च त्वा नवद्राणश्च रक्षताम्'
अ. ८.१.१३.

अस्वप्रजः - कभी न सोने वाला, सदा जागरूक ।
'अस्वप्नजस्तरणयः सुशोवाः'
ऋ. ४.४.१२, तै.सं. १.२.१४.५, मै.सं. ४.११.५, १७४.१, का.सं. ६.११.

अस्वप्रजो - (१) जागृत अवस्था में उत्पन्न होने वाले, जो कभी स्वप्न शील नहीं होते-सदा क्रिया शील (२) जीवन दान देने वाले वायु और आदित्य, (३) प्राज्ञ आत्मा और तैजस प्राण जो सोने पर भी अन्न पचाते हैं ।
'सप्तायः स्वपतो लोकमीयुः
तत्र जागृतो अस्वप्नजौसत्रसदौ च देवौ ।'
वाज.सं. ३४.५५, नि. १२.३७.
(३) असु अर्थात् आत्मा में 'अल्पजौ' कभी तीन लीन न होने वाले प्राण और अपान वायु जो सदा निद्रा रहित हैं ।

अस्वापकः - जो स्वयं परिपक्व सन्तापक बल से युक्त न हो ।
'इमा उते स्वपाक प्रतीचीः'
ऋ. ४.३.२.

अस्ववेश - (१) अ + स्व +वश । जिसे अपना घर न हो, (२) गृहादि -रहित परिव्राजक, (३) राजा जिसका राष्ट्र ही घर है, अपना कोई घर नहीं ।
'अस्ववेशं यं कृण्वन्त मर्ताः'
ऋ. ७.३७.७.

असाद - वह सैनिक जो घोड़े पर सवार नहीं है ।
'असादा ये च सादिनः'
अ. ११.१०.२४

असाढ़ - (१) शत्रुओं से कभी पराजित न होने वाला अदम्य बल ।
'अषाढं सहस्तन्वि श्रुतो दधे'

ऋ. १.५५.८.

अपने शरीर में या सुविस्तृत राष्ट्र में (तन्वि) शत्रुओं से कभी पराजित न होने वाले अदम्य बल को (असाढम् सहः) धारण कर ।

(२) किसी से कभी भी उल्लंघन न नहीं करने योग्य –इन्द्र, परमेश्वर (३) किसी से अभिभूत न होने वाला रुद्र का विशेषण ।

'अषाढ़ाय सहमानाय वेधसे'

ऋ. २.२१.२, ७.४६.१, तै.ब्रा. २.८.६.८, ३.१.२.२, नि. १०.६.

पुनः–

'अषाढ़ युत्सु पृतनासु पप्रिम्'

ऋ. १.९१.२१, वाज.सं. ३४.२०, वाज.सं.(का.) ३३.२३, मै.सं. ४.१४.१, २१४.४, तै.ब्रा. २.४.३.८, ७.४.१, आश्व श्रौ.सू. ३.७.७.

असात् – निकट से ।

'सनो दूराच्च असाच्च
नि मर्त्यात् अघायोः
पाहि सादमिद् विश्वायुः ।'

ऋ. १.२७.३, साम. २.९८६.

वह तू समस्त विश्व में व्यापक परमेश्वर सदा ही हमें पाप कर्म हत्या आदि करने वाले मनुष्य से दूर से तथा निकट से बचा ।

असाम – भवेम (होवें) ।

'तदद्य वाचः प्रथमं मंसीय
येना सुरां अभिदेवा असाम ।'
'ऊर्जाद उत यज्ञियासः
पञ्च जना मम होत्रं जुषध्वम्'

ऋ. १०.५३.४, आश्व. श्रौ.सू. १.२.४.९, आप.श्रौ.सू. २४.१३.३, नि. ३.८ .

विश्वेदेवों के साथ संवाद में होतृजप में विनियोग । मंत्र वर्णात्मक वाणियों में (वाचः) प्रथमोत्कृष्ट बल मैं आज मानता हूँ (अद्य मंसीय), जिस बल से मैं असुरों को पराजित करूं या करता हूँ (अभि असाम) । हे अन्न खाने वालो ! (ऊजदिः) हे यज्ञ करने वालो, हे देवो और हे मनुष्यों (पञ्चजनाः), मेरे इस होत्र को स्वीकार करो (होत्रं जुषध्वम्) ।

असामि – (१) पूर्ण ।

'यशश्चक्रे असाम्या'

ऋ. १.२५.१५

जो परमेश्वर पूर्ण रूप से (असाम्या) अन्न और यश प्रदान करता है । (२) अनन्त –सा.दे. 'ऋचीषम्' सामि का अर्थ समाप्त है । षो +मि = सामि । नञ् +सामि = असामि

'असामि राधो हरिजात हर्यतम्'

ऋ. १०.९६.५, अ. २०.३०.५.

(३) बहुत अधिक ।

'सद्यश्चित् यो वावृधे असामि'

ऋ. ६.१९.२

पुनः–

'मित्रो न यो जनेष्वा
यशश्चक्रे असाम्या'

ऋ. १०.२२.२

असामिशवाः – बहुत पूर्ण बल वाला ।

'नरो असामि शवसः'

ऋ. ५.५२.५.

असि – (१) खड्ग, तलवार ।

'छिद्रा गात्राणि असिना मिथूकः'

ऋ. १.१६२.१०, वाज.सं. २५.४३, तै.सं. ४.६.९.४, का.सं.(अश्व). ६.५.

(२) अस (क्षेपणार्थक) +कि । सब दुःखों को काटने वाला ज्ञान वज्र

'असिं सूनां नवं चरुम्'

ऋ. १०.८६.१८, अ. २०.१२६.१८.

(३) देह को पेरने वाला–प्राण ।

असिक्नी – (१) कृष्णा रात्रि, (२) न सींचने वाली भूमि ।

'असिक्न्यां यजमानो न होता'

ऋ. ४.१७.१५

(३) फलियों वाली ।

'असिक्नीः कृष्णा ओषधीः'

अ. ८.७.१

(४) अन्धकार दशा को प्राप्त प्रजाएं (५) अन्धकार मय गुफा ।

'त्वद्भिया विश आयन् असिक्नीः
असमनाः जहतीः भोजनानि'

ऋ. ७.५.३

(६) कुष्ठ और पलित रोग में प्रयुक्त एक ओषधि

'रामेकृष्णे असिक्नि च'

ऋ .अ. १.२३.१, तै.ब्रा. २.४.४.१

असिकनी और असिशिम्बी सम्भवतः असिक्नी

ही है जो व्रणदोषनाशक है । (७) गाढ़ी काली गौ, (८) वह भूमि जिसकी सिंचाई के लिए कोई प्रबन्ध न हो (९) रजोमयी प्रकृति ।

'को असिक्न्याः पयः'

अ. २०.१३०.२

(१०) एक नदी, (११) अशुक्ला असिता-निरुक्त, (१२) शरीर की वह नाड़ी जो शुक्ल या चमकीली नहीं है और उसमें बहने वाले रस का कोई रंग नहीं हैं, (१३) सर्प की एक जाति ।

'जाता दास्यसिक्न्या'

अ. ५.१३.८

नदी के अर्थ में -

'असिक्न्या मरुद्वृधे वितस्तया
आर्जीकीये श्रणुह्या सुषोमया'

ऋ. १०.७५.५, तै.आ. १०.१.१३, महा.ना.उप. ५.४, नि. ९.२६.

हे असिक्नी और वितस्ता नदियों के साथ मरुद्वृधा, तथा सुषोमा के साथ आर्जकीया नदी- तुम सभी सुनो ।

असित - (१) काष्ठ आदि के आश्रय रूप बन्धन से रहित-सूर्य ।

'व्यरव्यत् जिह्वयासितः'.

ऋ. १.४६.१०

बन्ध रहित सूर्य ज्वाला रूप से प्रकट होता है ।

(२)बंन्धन -रहित ।

'असितस्य ते ब्राह्मणा'

अ. १.१४.४

(३) सर्प की एक जाति, काला फनवाला सांप, करैत ।

'आ मे श्रृणुतासिता अलीकाः'

अ. ४.१३.४

(४) नञ् +सित =असित । कृष्ण, काला ।

'असितौ पेत्वाविव'

नि. १२.२.

हे अश्विद्वय ! तुम काले मेघ के समान हो । 'अवदातः सितो' गौरः सित गौर वर्ण का नाम है । इसके प्रतिकूल असित अर्थ कृष्ण हुआ । (५) यमुना नदी । कृष्णोदका असिक्नी नदी । असिक्नी, अशुक्ला +असिता

असितग्रीवः - (१) नीले गर्दन वाला, (२) नील मणि या विशेष चिह्न को गर्दन में पहनने वाला ।

'असितग्रीवश्छागैः'

वाज.सं. २३.१३, श.ब्रा. १३.२.७.२.

असितस्य गृह - बन्धन रहित प्रभु का बनाया स्थान

'तां वीतहव्य आभरत्
असितस्य गृहेभ्यः ।'

अ. ६.१३७.१

असितज्ञू - व्यापक परमेश्वर रूप अग्नि को बतलाने वाली पृथिवी ।

'अग्निवासाः पृथिव्यसितज्ञूः'

अ. १२.१.२१, गो.ब्रा. १.२.९, कौ.सू. १३७.३०.

आसिन्व - अवद्ध ।

'असिन्वं वव्रं मह्याददुग्रः'

ऋ. ५.३२.८

असिन्वत् - असंखादन्, असंचूर्णयन् (अच्छी तरह से नहीं खाता हुआ), (२) बिना संचूर्ण किए या बिना चबाए खाता हुआ । 'षिञ्' बन्धनार्थक धातु है, परन्तु यहां पर भक्षणार्थक है ।

'अपश्यमस्य महतो महित्वम्
अमर्त्यस्य मर्त्यासु विक्षु
नाना हनू विभृते सं भरेते
असिन्वती बप्सती भूर्यत्तः ।'

ऋ. १०.७९.१

मैं ने मरणधर्मा मनुष्य प्रजाओं में (पर्त्यासु विक्षु) अमर धर्मा महान् वैश्वानर अग्नि का महत्व देखा । इसकी समर्थ ज्वालाएं (हनू) नाना रूप में दह कर भी एकत्र ही हवि या लकड़ियों को जलाती हैं (नाना विभृते संभरेते) और एकत्र कर बिना चबाए खाती हुई (असिन्वती वप्सति) प्रचुर मात्रा में हवि और लकड़ी खाती हैं । अन्य अर्थ-बध्य मनुष्यों में अबध्य और सबसे बड़े बच्चे के (मर्त्यासु विक्षु अमर्त्यस्य महतः आस्य) महत्व को मैं जानता हूँ । बचपन से ही सृष्टिकर्त्ता की ओर से धारणा किए हुए इसके दोनों जबड़े (विभ्रतेनाना हनू) दूध का आहरण करते हैं (संभरेते) और बिना चबाए खाए हुए प्रभूत दुग्ध का पान करते हैं (असिन्वतीं बप्सती भूरिः) ।

असिन्वती - नहीं बांधती हुई ।

असिमत् - असि +मतुप्

'नमोऽसिमद्भ्यो नक्तं चरद्भ्यः'

वाज.सं. १६.२१, तै.सं. ४.५.३.१, मै.सं. २.९.३, १२३.६, का. सं. १७.१२.

असिर – (१) तम को दूर करने वाला प्रकाश, (२) सूर्य, (३) दक्षिण प्राण का मलशोधक प्राणायाम आदि साधन।

'यः सूर्यस्यासिरेण मृज्यते'

ऋ. ९.७६.४

असिष्टौ – सबसे अधिक वेगवान्, समस्त लोक लोकान्तरों के प्रेरक, उनको इधर उधर फेंकने वाले भव और शर्व नामक शक्तियाँ।

'यौ विदिता विषुभृतामसिष्ठौ'

अ. ४.२८.२.

अस्ति – अभिपूजित (स्पृहणीय, आदरणीय पूज्य के अर्थ में प्रयुक्त)। सु +अस्ति = स्वस्ति अविनाशी या अविनाश।

'स नः पितेव सूनवे
अग्ने सूपायनो भव
सचस्वा नः स्वस्तये।'

ऋ. १.१.९, वाज.सं. ३.२४, तै.सं. १.५.६.२, मै.सं. १.५.३, ६७. ७, का.सं. ७.१.८, श.ब्रा. २.३.४.३०.

हे अग्ने! जो हम तेरी परिचर्या करते हैं वह तू हमारे पुत्र के लिए पिता की तरह सुन्दर उपचार या उपहार लाने वाला हो तथा कल्याण के लिए हमारे अनुकूल कार्यकर (आसचस्व)।

(२) मुख या हृदय।

'आस्तेयीश्च वास्तेयीश्च'

अ. ११.८.२८

'आस्तेयी' का अर्थ मुख या हृदय का रुधिर या थूक है।

अस्थि – अस्+ क्थिन् =अस्थि। अस्यति प्रक्षिपति येन तत् (जिससे फेंका जाता है)। अर्थ–

(१) हड्डी, (२) शत्रु पर अस्त्र फेंकने वाला दृढ़ पुरुष।

'शम् अस्थम्यः मज्ञाभ्यः'

वाज.सं. २३.४४, तै.सं. ५.२.१२.२, का.सं.(अश्व.) १०.६.

अस्थिज – हड्डयों में उत्पन्न होने वाला कष्ट।

'अस्थिजस्य किलासस्य'

अ. १.२३.४, तै.ब्रा. २.४.४.२.

अस्थिभूयान् – केवल बड़े-बड़े हाड़ उठाए हुआ।

'गरगीर्णो भवत्यस्थिभूयान्'

अ. ५.१८.१३

अस्थिर – अस्थिर, चंचल, जो स्थिर न हो।

'अथोश्वा अस्थिरो भवन्'

अ. २०.१३०.१९

अस्थिस्रंस – हड्डियों को तोड़ डालने वाला कफ रोग, खांसी।

'अस्थिस्रंसं परुस्रंसम्'

अ. ६.१४.१

असुत – अनुत्पन्न।

'इन्द्र त्वमसुतानाम्'

ऋ. ८.६४.३, अ. २०.९३.३, साम. २.७०६.

असुतप् (पः) – जिस किसी तरह प्राण-पोषण में तत्पर।

असुतपा – असु +तपा। शत्रुओं के प्राणों को तपाने वाली राजशक्ति।

'रात्री हि तान् असुतपा'

अ. १९.४९.७

असुतृप् – (१) दूसरे का प्राण लेकर अपने को तृप्त करने वाला प्राणघातक डाकू।

'परासुतृपः शोशुचतः शृणीहि'

अ. ८.३.१३, १०.५.४९.

'परासुतृप्तो अभि शोशुचानः'

ऋ. १०.८७.१४

(२) प्राण-धारण मात्र से तृप्त होने वाला।

'असुतृप उक्थशासः चरन्ति'

ऋ. १०.८२.७, वाज.सं. १७.३१, तै.सं. ४.६.२.२, मै.सं. २.१०.३, १३५.२. का.सं. १८.१, नि. १४.१०.

(३) प्राणों से अपनी तृप्ति करने वाला, (४) अपने प्राणों को ही तृप्त करने वाला।

अस्त्रिध् – नञ् +स्त्रिध् +क्विप् =अस्त्रिध। अर्थ है अक्षम विज्ञानवान्।

'विश्वे देवासो अस्त्रिध'

ऋ. १.३.९

अस्त्रिधा – एक दूसरे की देहों या मानस भावों की हिंसा न करने वाले अश्विना –स्त्री पुरुष।

'सोमं पिबतम् अस्त्रिधा सुदानू'

ऋ. ३.५८.७.

अस्त्रिधानः – नाश न होने वाला।

'उदूहक्षुः अर्णसो अस्त्रिधानैः'

ऋ. ७.६९.७, मै.सं. ४.१४.१०: २३०.७, तै.ब्रा.

२.८.७.९.

अस्त्रीवयः – कामनायोग्य अन्न ।
'अस्त्रीवयश्छन्दः'
वाज.सं. १४.१८, का.सं. १७.३, ३९.४, श.ब्रा. ८.३.३.५,

असु – (१) अस् (क्षेपणार्थक धातु) +उरन ८ असु । शरीर के रोगों को बाहर फेंकने वाला –प्राण, (२) शत्रु को फेंकने वाला वीर, (३) प्राण शरीर में फेंका जाता है ।
'असवे स्वाहा वसवे स्वाहा'
वाज.सं. २२.३०
(३) वायु का अंश-प्राण ।
'भूत्या असुः असृगात्मा कसित्'
ऋ. १९४.४, अ. ९.९.४.
(४) जीवन के वाधक विघ्नो को परे फेंकने वाला प्राण ।
'इहा यमस्तु पुरुषः सहासुना'
अ. ८.१.१
(५) सब दुःखों को दूर फेंकने वाला प्राणशक्ति ।
'परासुतृयो अभिशोशुचानः'
ऋ. १०.८७.१४
'असो असवे मृड'
अ. १९.४४.४, कौ.सू. ४७.१६.
पुनः–
'असुं य ईयुरवृका ऋतज्ञा'
ऋ. १०.१५.१
जो पितर मरने के बाद प्राण मात्र धारण करते हैं और जो अंहिसक, अस्तेन या अजात शत्रु हैं –सा. अन्य अर्थ – जो पिता या प्रौढ़ विद्वान् प्राण विद्या के ज्ञाता हैं और जो अजात शत्रु एवं सबके मित्र हैं । –(दया.)
(६) प्राणमात्र मूर्ति –मरने के बाद प्रेतात्मा आधुनिक अर्थ–श्वास, जीवन, प्रेतात्मा, समान व्यान और उदान ।

असृतृपा – (१) प्राण–रक्षायोग्य द्रव्यमात्र से तृप्त होने वाले–भृति मात्र से सन्तुष्ट होने वाले राजपुरुष, (२) प्राण से तृप्त होने वाले दो यमदूत (३) सारमेय, श्वान, (४) प्राण को तृप्त करने वाले प्राण अपान ।
'उरुणसावसुतृपावुदुम्बलौ'
अ. १०.१४.१२ अ १८.२.१३, तै.आ. ६.३.२,

असूतिष्टा – (१) गण्डमाला जो पीव पैदा नहीं करती, (२) चिर परिपाका ।
'असूतिका रामायणी
अपचित् प्र पतिष्यति'
अ. ६.८३.३

असुतृपौ – सब प्राणियों को प्राणों से तृप्त करने वाले–रातदिन ।
'उरूणसौ असुतृपौ'
अ. १८.२.१३, तै.आ. ६.३.२.

असुन्वत् – (१) यज्ञ नहीं करने वाला, नञ् +सु +शतृ =असुन्वत् ।
'वीडोश्चिदिन्द्रो यो असुन्वतो वधः'
ऋ. १.१०१.४.
जो इन्द्र या परमात्मा या राजा यज्ञविरोधी की हन्ता है ।

असुन्वा – (१) ऐश्वर्यों को न उत्पन्न करने वाला ।
(२) सवन यज्ञादि न करने वाला
'असुन्वाम् इन्द्र संसदम्
विषूचीं व्यनाशयः'
ऋ. ८.१४.१५, अ. २०.२९.५.

असुनीत – प्राण द्वारा लोकान्तर में पहुँचने वाला आत्मा ।
'असुनीताय वोढवे'
अ. १८.२.५६,

असुनीति – (१) प्राणधारा करने वाली ।
'तेभ्यः स्वराडसुनीतिमेताम्'
अ. १८.३.५९, वाज.सं. १९.६०, वाज.सं. (का.) २०.६०.
(२) असून् नयति (प्राणों को ले जाता है) । देवतावाचक शब्द । प्राणवायु, मध्यम प्राण । इन्द्र को मध्यम प्राण कहा गया है (अयमिन्द्रः मध्यमः प्राणः) । जब यह मध्यम प्राण शरीर से निकलने लगता है तो और प्राणों को भी साथ लिए जाता है (यत् एतस्मात् शरीरात् उत्क्रामति अथ इतरान् असून् नयति) प्राणम् उत्क्रामन्तम् सर्वेप्राणाः अनूत्क्रामन्ति ।
'असुनीते मनो अस्मासु धारय
जीवातवे सु प्र तिरा न आयुः
रारन्धि नः सूर्यस्य संदृशि
घृतेन त्वं तन्वं वर्धयस्व'
ऋ. १०.५९.५, नि. १०.४०,

हे प्राण (असुनीते) तू मेरे शरीर में मन को चिर जीवन के लिए धारण कर (मनः अस्मासु धारय) और इस तरह से हमारी आयु को खूब प्रकृष्ट भाव से बढ़ा (नः आयुः सुप्रति रा) । हमें संयत कर अनुगृहीत कर जिससे हम सूर्य का दर्शन करते हैं (सूर्यस्य संदृशि) अर्थात् सुन्दर अन्न खाकर हमारी आंखें अच्छी रहे जिससे सूर्य की उपासना हम करते रहे । इसलिए मुझ अपने पुत्र को घृत से संवर्द्धित कर । (घृतेन त्वं तन्वं वर्धयस्व) ।

(३) प्राणशक्ति ।

'अहा यद् देवावसुनीतिमायन्'

ऋ. १०.१२.४, अ. १८.१.३१

(४) प्राणों को मृत्यूपरान्त वायु में प्राप्त कराने वाला ।

'तेभ्यः स्वराडसुनीतिर्नो अद्य'

अ. १८.३.४९, वाज.सं. १९.६०, वाज.सं. (का.) २०.६०

असुं य ईयुः - (१) प्रेतात्मा या पितर जो मरने के बाद प्राण मात्र धारण करते हैं (२) जो विद्वान् पितर प्राण विद्या जानते हैं ।

'असुं य ईयुः अवृका ऋतज्ञाः
ते नोऽवन्तु पितरो हवेषु ।'

ऋ. १०.१५.१, अ. १८.१.४४, वाज.सं. १९.४९, तै.सं. २.६.१२.३, मै.सं. ४.१०.६, १५७.५, नि. ११.१८.

असुम्न - दुःखकारी, परपीड़क ।

'अपेतो यन्तु पणयोऽसुम्नाः'

वाज.सं. ३५.१, श.ब्रा. १३.८.२.३

असुर - (१) राक्षस ।

'येनासुरान् अभि देवा असाम'

ऋ. १०.५३.४, आप.श्रौ.सू. २४.१३.३, नि. ३.८. (जिस बल से मैं असुरों को पराजित करूं)

(२) जो अपने स्थान में आनन्द पूर्वक न रहे । (अ +सुष्ठु + रताः - स्थानेषु न सुष्ठु रताः) । अर्थात् अतृप्त होकर इतस्ततः धावे ।

(३) स्थानों से जो भगा दिये गए हो (स्थानेभ्यः• अस्ताः देवैः) । अस् (क्षेपणार्थक धातु) +रण ।

(४) असु +र (मत्वर्थीय) =असुर । जिसमें प्राण या जो महाप्राण वाला हो अर्थात् प्राण या जो महाप्राण वाला हो अर्थात् जो मुश्किल से मरे -दुर्मर हो । (५) सोः देवान् असृजत् (प्रशस्त आत्मा के प्रदेश से देवों को प्रजापति ने निर्मित किया) । इसी से सु +र =सुर हुआ । इसी का उल्टा असुर हुआ । ऐसा ब्राह्मण ग्रन्थो में वर्णित है ।

(६) अस्यति क्षिप्यति सर्वान् (सभी को फेंक देते है) इति असुरः

(७) असुंराति ददाति इति असुरः (जो प्राण दे) । प्राणदाता । दें 'कवि' असुर और सुर का परस्पर विरोधी अर्थ जन्दा अवेस्ता में मिलता है । यह उस प्रवृत्ति का परिचायक है जब देवासुर संग्राम होने पर दोनों दल एक दूसरे के देवताओं को अपमानित करने लगे । फारसी में सुर को ही राक्षस कहते हैं संस्कृत मे असुर को (८) निघण्टु में प्रज्ञा अर्थ में असु शब्द का प्रयोग है । अतः 'असुर' का अर्थ प्रज्ञा वान् भी है ।

(९) अन्नवान् , (१०) प्राणवान् क्योकि प्राणबल या जल से उत्पन्न अन्न से ही असुर सृष्टि करता है । (११) 'असुर' शब्द 'वसुर' से वना है । वसु का अर्थ धन, रश्मि या उदक है और वसुर का धनवान् , रश्मिवान् या उदकवान् । उदक से ही सृष्टि होती है । त्वष्टा उदकवान् वसुवान् या असुवान् है । (१२) इन्द्र के विशेषण के रूप में भी 'असुर' का प्रयोग हुआ है ।

'तमुत्वा नूनम् असुरं प्रचेतसम्'

ऋ. ८.९०.६, साम. २.७६२.

हे इन्द्र । अवश्य हम इस बलवान् प्रज्ञावान् महाप्रापा प्रकृष्ट चेतना वाले तुझ में ।

(१३) केवल प्राण पोषी, खाऊ पीऊ उड़ाऊ ।

'यः कृष्णःकेश्यसुरः'

अ. ८.६.५

(१४) असु +र । केवल प्राणों में रमण करने वाला विषय-विलासी पुरुष ।

'स्वप्नं मिमानो असुरस्य योनौ'

अ. १९.५६.१

(१५) प्राण, विद्या का ज्ञाता वैद्य ।

'असुरास्त्वा न्यखनन्'

अ. ६.१०९.३

(१६) प्राणवान् जन्तु ।

'यां इन्द्र भुज आभरः स्वर्वां असुरेभ्यः'

ऋ. ८.९७.१, अ. २०.५५.२, साम. १.२५४, ऐ.आ.

५.२.४.२, आश्व.श्रौ.सू. ७.४.३, शा.श्रौ.सू. १८.८.१, २

(१७) पुराणों में असुर , दैत्य या राक्षस के अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ है ।

असुरक्षयण - असुरों का नाशकारी अस्त्र ।

'असुरक्षयणं वधम्'

अ. ११.१०.१०, १२, १३.

असुरघ्नः - दुष्ट असुरों का हनन करने वाला ।

'पुरुहूत पुरुवसोऽसुरघ्नः'

ऋ. ६.२२.४, अ. २०.३६.४

असुरत्व - अर्थ-(१) प्राबल्यं, (२) ऐश्वर्य, (३) प्राचीन अर्थ में असुर का प्रयोग था । अत्यन्त बलवान् या महाप्राण ही था। पीछे चलकर सुर का उलटा असुर अर्थात् राक्षस अर्थ में समझा जाने लगा । प्रावल्य के सिवा प्रज्ञावत्ता भी इस का अर्थ है (असु = प्रज्ञा । क्योंकि असुर अपनी प्रज्ञा से अनर्थों को दूर भगा देता है (अनर्थान् अस्यति) । या इस प्रज्ञा से असुर सब कुछ उत्पन्न करता है (प्रज्ञया उदकेन च सर्वं जनयति)

(२) अन्नवत्वम् और प्राणवत्व भी उसका अर्थ है, क्योंकि प्राण बल या जल से उत्पन्न अन्न से ही असुर सृष्टि करता है ।

या 'असुर' 'वसुर' से बना हुआ है । वसु का अर्थ धन,रश्मि या उदक है । वसुरत्व का अर्थ उदकत्व हुआ है। उदक से ही सृष्टि होती है । त्वष्टा उदकवान् या वसुवान सा असुवान् है ।

(३) सामर्थ्य -

'देवस्त्वष्टा सविता विश्वरूपः
पुपोष प्रजाः पुरुधा जजान ।
इमा च विश्वा भुवनान्यस्य
महद्देवानाम् असुरत्वमेकम् ।'

ऋ. ३.५५.१९, नि. १०.३४.

सविता ही सर्व प्रेरक होने से सभी जीवों के त्वष्टा नामक मध्यमदेव हैं (सविता विश्वस्य त्वष्टा) नानारूप प्रजाओं को उत्पन्न करते हैं (पुरुधा प्रजाः जजान) तथा उन्हे पालते हैं (पुपोष) क्योंकि ये सभी जल या सभी भुवन जो रचे हुए दीख पड़ते हैं त्वष्टा के एक मात्र महान् सामर्थ्य का द्योतक है (अस्य एक महत् असुर त्वम्) ।

(४) प्राणों में रमने वाला प्राणप्रद सामर्थ्य, प्राणों के भीतर रहने वाला अद्वितीय ब्रह्म, (६) शत्रुओं को उखाड़ फेंकने वाली सत्ता

'महद्देवानाम् असुरत्वमेकम्'

ऋ. ३.५५.१-२२.

असुरदयौः - (१) सबको प्राण देने वाला सूर्य (२) सबको ज्ञान देने वाला आचार्य ।

'दिवो अस्तोषि असुरस्य वीरैः
इषुध्येव मरुतो रोदस्योः'

ऋ. १.१२२.१

आकाश और पृथिवी के बीच (रोदस्योः) सबको प्राण देने वाले सूर्य की ओर (असुरस्य दिवः) जल वृद्धिधारक वायुओं के समान (इषुध्या इव मरुतः) वीर पुरुषों के साथ विद्यमान (वीरैः) विजिगीषु और शत्रु दोनों के बीच स्थित वीर सेनापति के तुल्य मातापिता के बीच स्थित ज्ञानदेने वाले आचार्य को गुणों का वर्णन मैं करता हूँ ।

असुरस्य नीडयः - तेजस्वरूप प्राणों के दाता आत्मा के आश्रय स्थान प्राणगण

'दिवः श्येनासो असुरस्य नीडयः'

ऋ. १०.९२.६

असुरस्यभक्षणम् - (१) प्राणों के पोषण में रत प्राणी के खाने योग्य अन्न, (२) प्राणों में रमण करने वाले प्राणापाने के अभ्यासी योगी के भोगने योग्य जीवन सुख या ज्ञान ।

'त्यं चित् चमसम् असुरस्य भक्षणम्'
एकं सन्तमकृणुता चतुर्वयम्'

ऋ. १.११०.३

असुरस्य वीराः - 'असुर' अर्थात् संसार के प्रेरक बल में रमण करने वाले परमेश्वर के वीर्यवान् विद्वान् ।

'दिवस्पुत्रासो असुरस्य वीराः'

ऋ. ३.५३.७, १०.६७.२, अ. २०.९१.२

असुर्य - (१) असुर + यत् = असुर्य । अर्थ असुरों का व्यवहार ।

'असुर्यात् पासि धर्मणा'

ऋ. १.१३४.५, आश्व. श्रौ.सू. ४.११.६.

तू धर्म से असुरों या दुष्टों के व्यवहार से भी प्रजा का पालन करने में समर्थ है ।

(२) असु अर्थात् प्राणों में रमण करने वाले जीवों (असुरों) का हितकारक प्रभु असुर्य है ।

'शंत वा यदसुर्य प्रति त्वा'
ऋ. १०.१०५.११
(३) प्राण -शक्ति देने वाला ।
'मह्ना देवानामसुर्यः पुरोहितः'
ऋ. ८.१०१.१२, अ. २०.५८.४, साम. २.११३९, वाज.सं. ३३.४०
(४) मेघ द्वारा उत्पन्न रुई कपास आदि, (५) बलशाली पुरुषोचित राज्याधिकार ।

'अन्यदन्यत् असुर्यं वसानाः
निमायिनो ममिरे रूपमस्मिन् ।'

ऋ. ३.३८.७
(६) असुर कहलाने योग्य, केवल अपने प्राण को पोसने वाला पापाचारी ।
'असुर्या नाम ते लोकाः'
वाज.सं. ४०.३, श.ब्रा. १४.७.२.१४, बृ.आ.उप. ४.४.१४, ईश.उप. ३.
(७) प्राणयुक्त बल, (८) विद्युत् ओर मेघ के स्वरूप जल या पवन के समान प्राणयुक्त बल ।
'सोमारुद्रा धारयेथामसुर्यम्'
ऋ.६.७४.१, मै.सं.४.११.२, का.सं. ११.१२.

असुर्यक्षत्र - मेघ में उत्पन्न होने वाला जल ।

'देवाश्चित्ते असुर्याय पूर्वे
अनुक्षत्राय ममिरे सहांसि ।'

ऋ. ७.२१.७

असुर्यवर्ण - अज्ञानमय प्रकाश-रहित आवरण ।
'असुर्यं वर्णं निरिणीते अस्य तम्'
ऋ. ९.७१.२

असुरा - प्राणों के बल पर रमण करने वाले आंख, नाक कान आदि प्राण गण ।
'निर्माया उत्ये असुरा अभूवन्'
ऋ. १०.१२४.५

असुराणां दुहिता - (१) दीमक (२) प्राणवान् पुरुषों के लिए बल या रस या दोहन करने वाली ओषधि, (३) ग्रिफिथ के मत से सिलाची नाम की ओषधि ।

'सिलाची नाम वा असि
सा देवानामसि स्वसा ।'

अ. ५.५.१
सिलाची के अन्य नाम स्वरणी, अरुन्धती, कानीना, कन्यला ।
'असुराणां दुहितासि'
अ. ६.१००.३

असुष्विः - (१) प्राणों द्वारा चलाने वाला इन्द्रिय (२) प्राणी जन ।
'आदित् सोमो विपपृच्यात् असुष्वीन्'
ऋ. ४.२४.५

असू - (१)ब्रह्म चारिणी कुमारी जिसने पुत्र न जना हो, (२) शत्रुओं पर शास्त्रादि फेंकने वाली सेना ।
'यमाय असूम्'
वाज.सं. ३०.१४, तै.ब्रा. ३.४.१.१०

असूधेनुः - (१) कुमारी गौ, (२) कुमारी कन्या, (३) अन्यों से प्रेरित होने वाली अदम्य या नित्य वाणी, (४) अयोग्य पुरुषों से शासन न होने योग्य पृथिवी ।
'याभिर्धेनुमस्वं पिन्वथो नरा'
ऋ. १.११२.३
हे प्राण अपान वायुओ ! जिस बल से तुम दोनों अन्यो से न प्रेरित होने वाली नित्य वाणी को बलवान् बनाते हो (पिन्वथः) । अथवा, हे स्त्री पुरुषो ! राजारानी ! राजा-अमात्य ! राजा सेनापित ! आप दोनों अयोग्य पुरुषों से शासन न होने योग्य पृथिवी या पुत्रादि न उत्पन्न करने वाली कुमारी या गौ को नाना ऐश्वर्य से सेवित करते हो ।
असू धेनु का विवरण अथर्ववेद के वशा सूक्त में द्रष्टव्य है ।

असूयक - असूया करने वाला ।

'असूयकायानृजवे ऽयताय
न मा ब्रूयाः वीर्यवती तथा स्याम्'

व.ध.शा. २.८, विष्णुस्मृति २९.९, नि. २.४.
विद्या आचार्य से कहती है -मुझे असूया करने वाले, कुटिल स्वभाव वाले तथा अब्रह्मचारी को न दे क्योंकि मैं निर्बल हो जाऊंगी ।

असूयन् - असूया या निन्दा भाव रखता हुआ ।
'असूयन् अभ्यचाकशम्'
ऋ. १०.१३५.२

असूर्त्त - (असूर्त्ते) - असुसमीरिताः वात समीरित्यः । जस् का शे होने से बहुवचन में 'असूर्त्ते' रूप होता है । अर्थ है (१) वायु से प्रेरित । यह मेघ का विशेषण-है । यास्क, (२) माध्यमिक देवगण -मेघ, मरुद्गण ।

'त आयजन्तद्रविणं समस्मा
ऋषयः पूर्वे जरितारो न भूना
असूर्ते सूर्ते रजसि निषत्ते
ये भूतानि समकृण्वन् इमानि ।'

ऋ. १०.८२.४, वाज.सं. १७.२८, तै.सं. ४.६.२.२, मै.सं. २.१०.३, १३४.६ ,का.सं. १८.१.

जिस माध्यमिका देवगण (मेघ, मरुत आदि) ने वायु या प्राण से प्रेरित होकर (ये असूर्ते) सुविस्तीर्ण (सूर्ते) निश्चलरूप से स्थित अन्तरिक्ष में (निषते रजसि) रहकर इन प्राणियों की रचना की (समकृण्वन्) वे सभी जीवों के लिए जल देते हैं (द्रविण् आयजन्त) । स्तुति करने वाले (जरितारः) पूर्व कालीन ऋषियों ने (पूर्वेऋषयः) जैसे वर्षिसहसिक सत्र से सृष्टि की (भूमना) । यज्ञों से पूर्व कालीन ऋषियों ने समस्त भूतग्राम को सिरजा और अनुगृहीत किया । इस प्रकार मेघ भी जल से पृथिवी को तृप्त करते हुए जीवों को उत्पन्न करते हैं ।

अन्य अर्थ- जो विद्वान् विस्तृत अन्तरिक्ष लोक में स्थित (सूर्ते रजसि निषते असूता) इन सब पुष्टियों की सम्यक् प्रकार से सुखी करते हैं (इमानि भूतानि समकृण्वन्) वे ऋषिगण प्राचीन परमात्म भक्तों के समान (पूर्वेजरितारः न) महान् तपश्चरण से (भूमना) इस विश्वकर्मा जगदीश को भक्ति की भेंट देते हैं (अस्मै द्रविणम् समायजन्त) (३) प्रकाशहीन ।

'असूर्तं रजो अप्यगुः '

अ. १.३.९

असूर्य - जहां सूर्य न हो , अन्धकार ।

'असूर्ये तमसि वावृधानम्'

ऋ. ५.३२.६

असूर्या - (१) मेघों से उत्पन्न होने वाली, (२) असुर अर्थात् प्राणों में रमण करने वाले और प्राणों का प्रदान करने वाले (३) प्राण-प्रिय पुरुष की हितकारिणी, (४) बलवान् पुरुषों के योग्य ।

'जोषद् यदीमसुर्या सचध्यै'

ऋ. १.१६७.५.

असूसू - प्रलय काल में प्रसव न कराने वाली वशा शक्ति ।

'जायमानात् असूस्वः '

अ. १०.१०.२३

अस्थूरि - (अ.) निर्विघ्न ।

'अस्थूरि नो गार्हपत्यानि सन्तु'

ऋ. ६.१५.१९, तै.सं. ५.७.२.१, मै.सं. ४.१४.१५, २४०.२, का.सं. ४०.२, तै.ब्रा. ३.५.१२.१,

अस्थूरी - दोष रहित ।

'अथोऽश्वा अस्थूरिणो भवन्'

अ. २०.१३०.१९

असृक् - जल का अंश, रुधिर ।

'भूम्या असुरसृगात्मा क्वस्वित्'

ऋ. १.१६४.४, अ. ९.९.४.

असृक् पावा - रक्त को पी जाने वाला या विकृत कर देने वाला ।

'अरायम् असृक् पावानम्'

अ. २.२५.३

असृक्षत - छोड़ा ।

'ऋष्वाऋष्टीरसृक्षत'

ऋ. ५.५२.६

मरुतों से अस्त्रों को छोड़ा ।

असृङ्मुख - शत्रु का खून पीने वाला भयङ्कर सैनिक ।

'कुम्भमुष्कान् असृङ्मुखान्'

अ. ११.९.१७

अस्कृधोयु - (१) सदा अविनाशी, अखण्ड महान् (२) अकृध्वायुः दीर्घायुः । कृधु का अर्थ ह्रस्व, लघु या कम है । जो निकृत् हो (निकृत्तमिव यद् भवति) । कृधु का प्रतिकूल अकृधु है जिसका अर्थ बड़ा, दीर्घ है । अतः अस्कृधुः आयुः यस्य अस्कृधोयुः (सुट् का आगम और पृषोदर की तरह सिद्ध) । आयुस् के ऊ और अ का विपर्यय । (३) अथवा 'अकृतायुः' से अस्कृधोयु बन गया । अर्थ है-'नित्यायुः' (४) अविनाशी ।

'तमीमह इन्द्रमस्य रायः
पुरुवीरस्य नृवतः पुरुक्षोः
अस्कृधोयुरजरः स्वर्वान्
तमा भर हरिवो मादयध्यै'

ऋ. ६.२२.३, अ. २०.३६.३

हे अपने अश्व से युक्त इन्द्र (हरिवः) मैं तुझ से मेरे इस बहुत वीर वाले (पुरुवीरस्य) परिचारकों से युक्त (नृवतः) बहुत अन्नयुक्त (पुरुक्षोः) उस धन का रक्षक (अंस्य रायः इन्द्रम्) जांचते हैं

(ईमहे) जो पुत्र दीर्घायु (अस्कृधोयु) अजर अर्थात् जराहीन (अजरः) और बलवान् (स्वर्वान्) हों । इस पुत्र को हमें प्रसन्न करने निमित्त (मादयध्यै) हमें दे (आभर) ।

अन्य अर्थ -अतिवीर (पुरुवीर) सैनिकादि अनेक मनुष्यो से युक्त (नृवतः) तथा भली प्रकार बसाने वाले (पुरुक्षोः) इस राजा रूपी धन के मालिक उस परमेश्वर की हम प्रार्थना करते हैं (तम् इन्द्रम् ईमहे) जो अविनाशी (अस्कृधोयुः) अजर और आनन्दमय है (अजरः स्वर्वान्) । हे प्रशस्तेन्द्रिय मनुष्य (हरिवः) आनन्दलाभ के लिए धारण कर (मादयध्यै तम् आभार) ।

अस्तृत - (१) कभी नहीं मारे जाने वाले वाला बलवान् पुरुष, (२) 'अस्तृत' नायक मणि जिसे धारण करने से मनुष्य कभी शत्रु द्वारा मारा नहीं जा सकता

'अस्तृस्त्वाभिरक्षतु'

अ. १९.४६.१-३, ४,५,७.

(३) स्तृ (हिंसार्थक) +क्त =स्तृत + नञ् +स्तृत =अस्तृत । अहिंसित ।

'कदु वृत्रघ्नो अस्तृतम् ।'

ऋ. ८.६६.१०.

कब इन्द्र का हन्तव्य अहिंसित हुआ (४) जो कभी मारा न गया हो, (५) कभी न नष्ट होने वाला अग्नि ।

'वन्वन् अवातो अस्तृतः'

ऋ. ६.१६.२०, का.सं. २०.१४.

(५) अपीडित , अव्यथित ।

'अच्छा गच्छत्यस्तृतः'

ऋ. १.४१.६

वह किसी भी प्रकार से पीडित या व्यथित न होकर प्राप्त होता है । (६) अहिंसक ।

अस्तृतयज्वा - दानशील या यज्ञशील पुरुष का नाश न करने वाला-अग्नि ।

'अग्नेरस्तृतयज्वनः'

अ. ८.४३.१

अस्त्रैण - स्त्री से रहित ।

'अस्त्रैणाः सन्तुण्डगाः'

अ. ८.६.१६

अस्पृत - अस्पृष्ट, अछूत, अनुपयुक्त ।

'तिरो रंजासि अस्पृतम्'

ऋ. ८.८२.९, ९.३.८, साम. २.६१३

अस्मे - (१) अस्मासु (हम सबों में) (२) अस्माभिः (हम सबों से), और कहीं कहीं (३) अस्मभ्यम् (हमारे लिए) भी होता है । सप्तमी में सुप् का शे होकर 'अस्मे' रूप बनता है ।

'शतं ते शिप्रिन् ऊतयः सुदासे
सहस्रं शंसा उत रातिरस्तु ।
जहि वधर्वनुषो मर्त्यस्य
अस्मे द्युम्नम् अधिरत्नं च धेहि ।'

ऋ. ७.२५.३

हे सुन्दर मुख वाले या मुकुट धारी (शिप्रन्) उष्णी सिन् इन्द्र तेरी सैकड़ो रक्षाएं या रक्षा करने की क्रियाएं कल्याणकारी दान करने वाले या राजा सुदास के प्रति या कर देने वाली प्रजाओं के निमित्त हों । इसी प्रकार नाना प्रकार की प्रशंसनीय कामनाएं हो (सहस्रं शसाः) या आए हुए आप के लिए अनेकों स्तुतियां हों एवं (उत) धन हो (रातिः अस्तु) तथा हिंसक मनुष्य के (वनुसः मर्त्यस्य) हिंसा-साधक आयुधों को नष्ट करें (वधःजहिः) । उन्हे मार कर हमें दीप्तिमान यश, बल और रत्न दो ।

पुनः, 'अस्माभिः' (हम सबों से) अर्थ में-

'भूरि चकर्थ युज्यभिरस्मे
संमानेभिः वृषभ पौंस्येभिः
भूरिणि हि क्रणवामा शविष्ठ
इन्द्र क्रत्वा मरुतो यद्वशाम ।'

ऋ. १.१६५.७, मै.सं. ४.११.३, १६९.३, का.सं. ९.१८

इन्द्र और मरुतों का संवाद हैः- हे इन्द्र ! तू ने अनेकों वीरता के कार्य किए (भूरि चकर्थ) परन्तु वह सब हम लोगों की सहायता से ही (समानेभिःअस्मेः) तथा संयुक्त बल से (युज्येभिः पौंस्येभिः)। हे बलिष्ठ (शविष्ठ) हमने तुमसे भी बढ़कर कार्य किए है (भूरीणि कृणवामाः) निश्चय ही (हि) जो कुछ भी हम वृष्टि आदि की कामना करते हैं - सफल होते हैं ।

अन्य अर्थ- हे राजन् ! आप हम सहयोगियों एवं समान चित्त वालों से मिलकर पुरुषार्थों के द्वारा बहुत उत्तम राज्य-पालन करते हो और इसी प्रकार हे पराक्रमी राजन् ! हम प्रजाजन जिन कर्मों को करने की इच्छा करते हैं (शविष्ठ !

मरुत यद् वशामः) उन सबों को आप के सहयोग से पुरुषार्थ द्वारा सिद्ध करते हैं (भूरिणि क्रत्वा कृणवाम) । पुनः 'अस्मभ्यम् ' (हमारे लिए) के अर्थ में

'अस्मे प्र यन्धि मघवन् ऋजीषिन्
इन्द्र रायो विश्ववारस्य भूरेः।
अस्मे शतं शरदो जीवसे धा
अस्मे वीरान् शश्वत इन्द्र शिप्रिन् ।'

ऋ. ३.३६.१०, आश्व.श्रौ.सू. १.१५.३, पा.गृ.सू. १.१८.५, नि. ६.७.

हे धनवाला (मघवन) सार-रहित सोम रस वाला (ऋजीषिन् इन्द्र) सर्वस्पृहणीय प्रचुर धन या सब के दुःख दूर करने वाले महान् विद्याध्यक्ष को हमारे लिए दे (विश्व वारस्य भूरेः रायः अस्मे प्रयन्धि) और हमारे लिए (अस्मे) जीने के लिए (जीवसे) सौ वर्ष दें (शतं शरदः धाः) । हे सुन्दर हनुवाले (शिप्रिन्) इन्द्र ! दीर्घायु पुत्र दे । (शश्वतः पुत्रान्) ।

(४) अस्मभ्यम् (हमसे-पञ्चमी अर्थ में प्रयोग)

'तस्य वयं सुमतौ यज्ञियस्य
अपि भद्रे सौमनसे स्याम ।
स सुत्रामा स्ववाँ इन्द्रो अस्मे
आराच्चित् द्वेषः सनुतर्युयोतु ।'

ऋ. ६.४७.१३, १०.१३१.७ अ. ७.९२.१, २०.१२५,७ वाज.सं. २०.५२, तै.सं. १.७.१३.५, मै.सं. ४.१२.५ः १९१.६, ४.१४.१२, २३५.१०, का.सं. ८.१६, तै.ब्रा. २.८.४.१, ७.५.

हम यज्ञार्ह उस इन्द्र के या पवित्र राजा की अनुग्रहात्मिका बुद्धि में (सुमतौ) तथा उसके स्तुत्य मनोभाव मे रहे (अपि भद्रे सौमनसे स्याम) । धनवान् तया अपने अधिकार मे रहने वाला (स्ववान्) वह सुन्दर रक्षक (सुत्रामा) हम से दूर देश में ही (आरात् चित्) शत्रुओं को अन्तर्हित कर सदा (सनुतः) पृथक या नष्ट करें (प्रयोतु) ।

(५) अस्माकम् (हमारा) अर्थ में प्रयोगः-

'आ नो भर भगमिन्द्र द्युमन्तं
नि ते देष्णस्य धीमहि प्रेरके
ऊर्व इव पप्रथे कामो अस्मे
तमा पृण वसुपते वसूनाम्'

ऋ. ३.३०.१९, तै.ब्रा. २.५.४.१.

हे इन्द्र ! द्युतिमान् धनराशि हमें दे (द्युमन्तं भगं नः आभर) । उतना दे कि तेरे भुक्त शेष दान का जो अतिरिक्त हो उसके हम पात्र बनें (देष्णस्य ते प्रेरके निदधीमहि) , क्योंकि हमारी कामनाएं (अस्मे कामः) बड़वामुख में स्थित अपूर्ण काम अग्नि के समान बढ़ती ही जाती हैं (ऊर्व इव प्रप्रथे) । हे वसुपते, इन्द्र हमारी उस अतृप्त इच्छा की तू पूर्त्ति कर (आपृण)

अन्य अर्थ - हे राजन् ! हमें उत्तम ऐश्वर्य दे । हम आप दात्ता के धनधान्य पूर्ण राज्य में (प्रेरके) उस ऐश्वर्य को निरन्तर धारण करें (निदधीमहि)। प्रचण्ड अग्नि की तरह तेजस्वी (ऊर्व इव) हमारे वैदिक कार्य विस्तृत हैं (अस्मे कामः पप्रथे) । हे धनों के स्वामी राजन् (वसूना वसुपते) आप उन्हे पूर्ण करें (तम् आपृण) ।

(२) अस्यम्यम् (हमारे लिए) के अर्थ में -

'अम्यक् सो त इन्द्र ऋष्टिः अस्मे
सनेम्यभ्वं मरुतो जुनन्ति'

ऋ. १.१६९.३

हे विद्वान् ! आत्म ज्ञान देने वाली वह विद्या हमें प्राप्त हो जिससे मनुष्य सनातन तथा अजन्मा परमेश्वर को जानते हैं -दया. । अन्य अर्थ - हे इन्द्र ! वह तेरी प्रसिद्ध वज्र की शक्ति जब मेघ की ओर जाती है तब वायु भी हमारे लिए चिरसंचित जल वेग से बरसाने लगते है- यास्क ।

अस्मेरा - अ +स्मेरा । गर्वरहित, विनय शील ।

'तमस्मेरा युव तयो युवानम्'

ऋ. २.३५.४, तै.सं. २.५.१२.२, मै.सं. ४.१२.४, १८८.५.

अस्मेवत्सः - हम सबों में व्यापक होकर रहने वाला प्रभु ।

'अस्मे वत्सं परिषन्तं न विन्दन्'

ऋ. १.७२.२

हम सबों में व्यापक होकर रहने वाले, सबके ऊपर, सबके भीतर और बाहर विद्यमान प्रभु को चाहते हुए भी सब कोई उसे नहीं पाते (न विन्दन्)।

अस्मेहितिः - अस्मासुहितिः (हममें निधान अभिधान या अर्थ या प्रयोजन) 'अस्मे' 'अस्मासु' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है । अस्मे +

धा + क्तिन् =अस्मेहिति ।

'किमिच्छन्ती सरमा प्रेदमानड्
दूरे ह्यध्वा जगुरिः पराचैः
कास्मेहितिः का परितक्म्यासीत्
कथं रसाया अतरः पयांसि'

ऋ. १०.१०८.१, नि. ११.२५.

इन्द्र गुरु बृहस्पति की गायों को बलासुर के पणि चुराकर ले गए । इन्द्र ने पता लगाने के लिए सरमा नाम की कुत्ती को भेजा । रसा नाम्नी नदी पारकर सरमा बलपुर गई और पणियों के द्वारा छिपाई गई गाएं देखीं । पणियों ने सरमा को अपने पक्ष में लाने के लिए वार्तालाप किया जो इस मंत्र में हैः-

यह सरमा किस इच्छा से हमारे स्थान पर आई ? यह मार्ग भी देवताओं से दूर ही है क्योंकि यह खूब चलने वालों के लिए भी दुस्साध्य है (पराचैः अगुरिः)। लम्बे मार्ग पर चलते-चलते थक जाने पर परवश मनुष्य ही चलता है, अतः हे सरमा ! यह बता कि तेरी हम लोगों से क्या जरूरत थी या हमारे यहां तेरा क्या रखा था, कौन सा प्रयोजन था । (अस्मे का हिति) और आते समय तेरी रात कैसे कटी का परितक्म्या) और कैसे तूने रसा नदी का जल पार किया (कथं रसायाः पयांसि अतरः) ।

अन्य अर्थ- वेदवाणी (सरमा) असुर पणियों के पास जाती है । असुर पूछते हैं-यह वेदवाणी किस इच्छा से यहां आई हैं । यह मार्ग तो देवताओं से बड़ी दूरी पर है । और उनसे पराङ्मुख चलने वालों से प्राप्य है (पराचैः अगुरिः) । अतः हमारी ओर वेदवाणी के आने का क्या काम (काहितिः)। यह हमारी ओर आगमन (परितक्म्या) क्यों हुआ ? रात में क्यों आना हुआ ? तूने मार्ग की नदी के जल को कैस तरा ? यो जो स्वादु जल है उसे तर कर क्यों आई ? वेदवाणी धारण करने वाले राज पुरुषों का यह वर्णन है ।

सरमा का अर्थ वेदवाणी किया गया है । अस्मै इसके लिए । इसका प्रयोग सन्निकृष्ट अर्थ में होता है ।

अस्त्रैधत् - कभी क्षीण न होने वाला, (२) दूसरे के प्रति हिंसा के भाव से रहित ।

'अस्रेधता मन्मना विप्रो अग्ने

ऋ. ४.१४.५, वाज.सं. १८.७५.

अस्रेमा - सर्वश्रेष्ठ ।

'अस्त्रेमा वत्सः शिमीवां अरावीत्'

ऋ. १०.८.२

अस्रेमाणः - शत्रुओं द्वारा शोषण न किए जाने योग्य ।

'अस्रेमाणं तरणिं वीडुजम्भम्'

ऋ. ३.२९.१३, का.सं. ३८.१३, तै.ब्रा. १.२.१.१९, आप.श्रौ.सू. ५.११.६.

असोःपौत्रः - प्राण शक्ति के पुत्र का पुत्र असु का पुत्र मन है और मन में ज्योतिः रूप से प्रकट होने वाला पौत्र रूप उच्छिष्ट ब्रह्म ।

'असोः पौत्रः पितामहः'

अ. ११.७.१६

अह - (१) निश्चय से ।

'अत्राह तदुरुगायस्य वृष्णः'

ऋ. १.१५४.६, वाज.सं. ६.३, तै.सं. १.३.६.२, मै.सं. १.२.१४, २३.१७, का.सं. ३.३, श.ब्रा. ३.७.१.१५, नि. २.७.

(२)कुछ ।

'नाह दामानं मघवा नियंसन्'

ऋ. १०.४२.८, अ. २०.८९.८

(३) और,

'नो अह प्रविन्दसि'

ऋ. १०.८६.२, अ. २०.१२६.२

(४) तब ।

'अपोष अनसः सरत्
संपिष्टादह बिभ्युषी'

ऋ. ४.३०.१०, नि. ११.४७.

वायु से छिन्न भिन्न होते मेघ को जब उषा देखती है तो वायु से डर जाती है ।

(५) एव ही । विनिग्रहार्थक अव्यय ।

'अयम् अह इदं करोतु अयमिदम्

(यह यह करे और यह यह) । 'अयमह देवदत्तः गां पातयतु (यह देवदत्त ही गौवों को पिलावें) पुनः-

'यो अस्मै घ्रंस उतवा य ऊधनि
सोमं सुनोति भवति द्युमां अह ।
अपाप शक्रस्ततनुष्टिमूहति
तनूशुभ्रं मघवा यः कवासखः'

ऋ. ५.३४.३, नि. ६.१९.

जो यजमान इन्द्र के लिए दिन में या रात में (घ्रंस उतवाय ऊधनि) सोम रस अभिसुत करता है वही निश्चय द्युतिमान होता है (द्युतिमान् भवतिअह) और जो इसके विपरीत असाधुजन संपर्की (कवासखः) होता है उस सनातन धर्म से दूर पुरुष को या आत्ममण्डनपरायण या विशेष भोग परायण या धर्म रहित अनेक प्रकार से अपने धन को बढ़ाने वाले पुरुष को (ततनुष्टिम्) अपने शरीर पोसने वाले को (तनूशुभ्रम्) धनस्वामी (मघवा) इन्द्र (शक्रः) बार बार नष्ट करते हैं (अप अप ऊहति) अर्थात् ऐसे धर्म विमुख पुरुष का विनाश अवश्यम्भावी है ।

पुनः एक अर्थ में –

'अन्वेनां अह विद्युतः
मरुतो जज्झतीरिव
भानुरर्तत्मना दिवः ।'

ऋ. ५.५२.६.

इन प्रहारों की तरह (एनान् अनु) मरुतों ने बिजलियाँ छोड़ी (विद्युतः) सूर्य के समान स्वयं ही द्युलोक से निकले (भानुः इव त्मना दिवः अर्त) तथा झर झर शब्द करने वाले जल भी निकले (जञ्झतीः अह) –सा. । जल की तरह (जञ्झतीःइव) विद्युत् , वायु और सूर्य का प्रकाश (विद्युतः मरुतः दिवः भानुः) इन सबको (एनान्) अपने अनुकूल में लावो (अह अनु अर्त) –(दया.)

और के अर्थ में–

'ममेदह श्वसुरो नाजगाम'

ऋ. १०.२८.१

अहति – पीड़ित न न होने देना ।

'अजीतयेऽहतये पवस्व'

ऋ. ९.९६.४

अहदयौ – दिन का उत्पादक सूर्य की किरण ।

'प्रतिवस्तोरहद्युभिः'

ऋ. १०.१८९.३, अ. ६.३१.३, २०.४८.६, साम. २.७२८, वाज.सं. ३.८, का.सं. ७.१३.३, श.ब्रा. २.१.४.२९.

अहन् – उपहरन्ति अस्मिन् कर्माणि (इसमें लोग कर्मों को करते हैं) उप + आङ् + हृ + विच् (अधिकरण में) = अहन् (उप का लोप, आङ् का ह्रस्व और र का व होकर पृषोदरादिवत् सिद्ध) । लोक में इसकी व्युत्पत्ति–नञ् + हा + कनिन् = अहन् (आतोलोपः से आ का लोप) अर्थ –(१) दिन ।

'न रात्र्या अह्न आसीत् प्रकेतः'

ऋ. १०.१२९.२, तै.ब्रा. २.८.९.४.

(उस प्रलय काम में रात्रि का दिन का ज्ञान नहीं था अर्थात् काल की स्थिति नहीं थी ।) (२) दिन और भी इसी का अर्थ है ।

'अहश्च कृष्णमहरर्जुनंच
वि वर्तेते रजसी वेद्याभिः
वैश्वानरो जायमानो न राजा
अवातिरत् ज्योतिषाग्निस्तमांसि ।'

ऋ. ६.९.१, नि. २.२१,

दिन काला है अर्थात् रात काली है, दिन सौर तेज से उजला है (अहः अर्जुनञ्च) । द्यौ और पृथिवी के प्रति (रजसी) अनुकूलता से ज्ञातव्य अपनी अपनी प्रवृत्तियों से (वेद्याभिः) ये दिन और रात बारी बारी आते हैं । वैश्वानर अग्नि प्रादुर्भूत होते हुए अपने तेज से (ज्योतिषा) आदित्य के समान (राजा न) अन्धकारों को दूर करते हैं । अन्य अर्थ–उदय होते हुए सब ज्योतियों के राजा जिस सूर्य की तरह (जायमानः राजा वैश्वानरः न) अग्रणी राजा (अग्निः) विद्याज्योति से अविद्या अन्धकार को दूर करता है (तमांसि अवातिरन्), उस सूर्य के कारण काला दिन और श्वेत दिन मनुष्यो के लिए ज्ञातव्य अपनी अपनी प्रवृत्तियों के साथ परस्पर विरुद्ध भाव से वर्तमान हैं (वेद्याभिः विवर्तेते) । उत्तरध्रुव प्रदेश में दिन का काला और उजला होना सांकेतिक है । (३) हन् धातु का लङ् प्र.पु.ए.व. का रूप । अर्थ –मारा

'अहन् वृत्रं वृत्रतरं व्यंसम्'

ऋ. १.३२.५, मै.सं. ४.१२.३, १८५.९, तै.ब्रा. २.५.४.३,

अहना – (१) प्रकाश से फैलने वाली उषा (२) सबके समक्ष गुणों का प्रकाश करने वाली, (३) जो कभी ताड़ने या व्यथा देने योग्य न हो ।

'गृहं गृहम् अहना यात्यच्छा
दिवे दिवे अधिनाभा दधाना'

ऋ. १.१२३.४, शां.गृ.सू. ३.१.९.

अहन्यः - (१) अहनिभवः (दिन में हुआ) दया. (२) दिन को करने वाला सूर्य - (३) 'अहन् याः' बिना ताड़न के ही चलने वाला अश्व ।

'पुरुप्रैषाः अहन्यो नैतशः'

ऋ. १.१६८.५

अहनी - (१) जीवन में पीडित दुःखित न होते हुए उषासानक्ता (उषा और रात्रि) या स्त्रीपुरुष ।

'उभे यथा नो अहनी निपात'

ऋ. ४.५५.३

(२) रात और दिन ।

'विवर्तेते अहनी चक्रियेव'

ऋ. १.१८५.१, नि. ३.२२.

(रात और दिन दो चक्के के समान घूमते रहते हैं ।)

अहन्ती - किसी को न मारने वाला ।

'नमः सूतायाहन्त्यै'

वाज.सं. १६.१८, तै.सं. ४.५.२.१.

अहम्पूर्वः - अपने को ही सबसे प्रथम रखने वाला ।

'अहंपूर्वः यजतो धिष्ण्या यः'

ऋ. १.१८१.३.

अहंयुः - अहं भाव से युक्त आत्मवान् जितेन्द्रिय ।

'सचायदीं वृषमणाअहंयुः'

ऋ. १.१६७.७

अहंसन - आत्मभाव, आत्मसम्मान का भाव देने वाला इन्द्र, परमेश्वर ।

'प्राचामन्यो अहंसन'

ऋ. ८.६१.९

अहर्जात - दिन में उत्पन्न होने वाला-सूर्य (२) प्रतिदिन का परिचय ।

'अहर्जातस्य यन्नाम'

अ. ३.१४.१, ५.२८.१२.

अहर्दिव - दिनों दिन, दिन रात ।

'संविजन्ते अहर्दिवि'

अ. ५.२१.६

अहर्दृश् - (१) सूर्यदृश-सूर्य को देखने वाला, (२) लौकिक दिन का न कि अदृष्ट का देखने वाला (लौकिकमेव अहः पश्यति न तु पारलौकिकम् अदृष्टम्) (३) दृष्टप्रधान नास्तिक, विषय भोग लोलुप, (४) दिनों को ही गिनने वाला-सूदखोर, कुसीदक (अहानि एव यः पश्यति कुसीदग्रहणाय)

'कदू महीरधृष्टा अस्य तविषीः
कदुवृत्रघ्नो अस्तृतम्
इन्द्रो विश्वां बेकनाटाँ अहर्दृश
उतक्रत्वा पणीरंभि'

ऋ. ८.६६.१०

कब (कदु) इस इन्द्र के बल (तविषीः) महान् और अधृष्ट हैं (महीः अधृष्टाः)? कब इन्द्र का हन्तव्य अहिंसित हुआ (अस्तृतम्) ? अर्थात् कभी नहीं । ऐसा इन्द्र सभी गिनने के वाले (अहर्दृशः) सूदखोरों को (बेकनाटान्) और व्यापारियों को (पणीन्) कर्म से ही अभिभूत करते हैं ।

अहर्विद् - (१) दिन को प्राप्त कराने वाला किरण-समूह, (२) प्रकाश लाभ कराने वाला-आचार्य

'दाधार दक्षमुत्तममहर्विदम्'

ऋ. १.१५६.४, ऐ.ब्रा. १.४०.१९.

अहरहः - अहः + अहः । प्रतिदिन ।

'अहरहर्जायते मासिमासि'

ऋ. १०.५२.३, नि. ६.३५.

यह पृथ्वी स्थानीय अग्नि प्रतिदिन उत्पन्न होता और आधे मास पर भी दर्शपौर्णमासों में ।

अहरित - हारिद्र या पाण्डुरोग से मुक्त ।

'अथो अहरितो भुवत'

अ. १.२२.२

अहःकेतुः - दिन का केतु - सूर्य ।

'अहः केतुना जुषताम्'

वाज.सं. ३७.२१, ३८.१६, मै.सं.. ४.९.८, १२८.१३, श.ब्रा. १४.२.१.१, २ .४१, का.श्रौ.सू. २६.४.१४,

अहर्पति - (१) दिनों का पालक, (२) कलावित् पुरुष, (३) सूर्य, (४) भाद्रपद ।

'अहर्पतये स्वाहा'

वाज.सं. ९.२०, १८.२८, मै.सं. १.११.३, १६३.१७, श.ब्रा. ५.२.१.२.

अहर्विद् - विज्ञान का प्रकाश जानने वाला ।

ऋ. १.१.८

अहर्विदा - (द्वि.व) अश्विनों का विशेषण, (२) दिन के समस्त कृत्यो को रीति से जानने वाले

प्रधान और गौणजन, (३) अश्विद्वय ।
'उतसिन्धूं रहर्विदा'
ऋ. ८.५.२१

अहल - (१) अविलेखन योग्य, (२) न पराजित करने योग्य (३) बिनाहल चलाया हुआ परती खेत ।
'अहल कुशवर्तक'
अ. २०.१३१.९

अहवा उ - और ।
'कर्ता सुदासे अहवा उ लोकम्'
ऋ. ७.२०.२

अहविः - अ + हविः (१) यज्ञादि न करने वाला, (२) देने लेने योग्य अर्थात् व्यापार योग्य पदार्थों का भोजन करने योग्य अन्नादि पदार्थों से रहित ।
'जनोयः कश्चित् अहविर्महीयते'
ऋ. १.१८२.३

अहस्त - (१) हस्त रहित, (२) हनन-साधन शस्त्रों से रहित, (३ अप्रशस्त कर्मा विद्यार्थी ।
'अहस्तमिन्द्रं संपिणक् कुणारुम्'
ऋ. ३.३०.८, वाज.सं. १८.६९, नि. ६.१.
बिना हाथ का चूर्ण

अहस्तम् - (क्रि.वि.) हस्त रहित कर ।

अह्नवाय्य - दिन भर में करने योग्य कार्य की मात्रा ।
'विदानो अह्नवाय्यम्'
ऋ. ८.४५.२७.

अह्नःषष्टः - परम व्यापक शक्ति की सर्व व्यापक निगूढ़ शक्ति-परम रूप ।
'उदिता यन्ति अभि षष्ठमह्नः'
अ. ८.९.६

अह्यधर्म - (१) दैनिक घृतरूप सामग्री (२) दिन का घाम ।
'अह्यं घर्मं श्रीणन्तु'
अ. ४.१.२

अह्‌यः अयः - मेघ में स्थित जल । अहि का अर्थ मेघ मानकर दुर्ग ने ऐसा अर्थ किया है । आर्यसमाजी विद्वान् 'अह्‌यः दंशयः' ऐसा अन्वय कर प्राणनाशक अर्थ दिया है ।
'यत्रा दशस्यन् उषसो रिणन्नपः
कुत्साय मन्मन् अह्यश्च दंसयः'
ऋ. १०.१३८.१
जिस मेघ के विदीर्ण होने पर (यत्रा) माध्यमिक देव उषा (उषसः) मेघ में स्थित जलों को (अहयः अपः) देती है (दशस्यन्) -दुर्ग । जिस समय (यत्रा) उषाकाल को प्रदान करते हुए (उषसः दशस्यन्) और ओषजल को ले जाते हुए (अपः रिणन्) ।

अह्यः - नाश न होने वाला ।
'शतचक्रं योऽह्यो वर्तनिः'
ऋ. १०.१४४.४

अह्यः दंसयः - पाप नाशक श्रेष्ठ कर्म ।
'कुत्साय मन्मन् अह्यश्च दंसयः'
ऋ. १०.१३८.१.
परमात्मा के स्तोता के लिए (कुत्साय) पापनाशक श्रेष्ठकर्मों को (अहयः दंसयश्च) जतलाते हुए -सूर्य

अह्यर्षु - अहि + अर्षु = अह्यर्षु (१) मेघों को लाने वाला वायु, (२) मेघवत्, प्रभुस्वरूप को प्राप्त होने वाला पुरुष
'अह्यर्षूणां चिन्त्ययाँ अविष्याम्'
ऋ. २.३८.३

अह्रय - (१) लज्जा दूर करने वाला धन ।
'मेधसाता वाजिनमह्रये धने'
ऋ. १०.१४७.३
(२) अक्षीण, अविनाशी ।
'महिस्थूरं शशयं राधो अह्रयम्'
ऋ. ८.५४.८.
(३) भय, लज्जा और संकोच से रहित । (४) लज्जा न दिलाने वाला, (५) स्वतः प्रकाश वेदमन्त्रों से जानने योग्य ।
'वृणीमहे अह्रयं वाजमृग्मियम्'
ऋ. ३.२.४
(६) कभी नष्ट न होने वाला-अमोघ ।
'प्रजावत् रेतो अह्रयं नो अस्तु'
ऋ. ७.६७.६, तै.ब्रा. २.४.३.७.

अह्रयाणः - (१) विगतलज्जः (बिना लाज या संकोच के)
'दुवस्यन्ति स्वसारो अह्रयाणम्'
ऋ. १.६२.१०
बहनें जैसे निस्संकोच अपने भाइयों की सेवा करती हैं । (२) अह्र + याणः । अलज्जित गमन ।

अग्नि का विशेषण ।

‘अनुष्टुया कृणुहि अह्रयाणम्’

ऋ. ४.४.१४, तै.सं. १.२.१४.६, मै.सं. ४.११.५, १७४.६, का.सं. ६.११, १६.१, नि. ५.१५.

हे अलज्जित गमन अग्नि ! हमारे इस यज्ञ के अभीष्ट अर्थ को कर्म द्वारा कर ।

(३) लज्जारहित निर्भीक ।

अह्रयाणा - लज्जा या-निद्रा से त्यागी हुई स्त्री ।

‘अग्र एति युवतिः अह्रयाणा’

ऋ. ७.८०.२

अंहसस्पतिः - सब मासों में अवशिष्ट तिथियों के रूप में सटे हुए काल का पालक मलमास १३ वां मास ।

‘अंहसस्पतये स्वाहा’

वाज.सं. २२.३१.

अहा - (ब.व.) (१) दिन, (२) अपराह्ण आगे बढ़ने वाले सैन्यदल ।

‘अहा विश्वेव सूर्यम्’

ऋ. १.१३०.२

जैसे सभी दिन सूर्य के आश्रय पर रहते हैं । या सभी आगे बढ़ने सैन्यदल ।

‘(विश्वा अहां सूर्यम् इव)’

अह्नाम् अग्ने - दिन के पूर्वाह्ण में ।

‘वस्तोरस्याः वृज्यते अग्ने अह्नाम्’

ऋ. ८.६.८

इस पृथिवी रूपी वेदी पर आच्छादन के लिए दिन के पूर्वाह्ण में कुश बिछाया जाता है या यज्ञाग्नि पृथ्वी के निवास के लिए दिन के पूर्वाह्णि में स्थापित किया जाता है ।

अह्नाम् अभिपित्व - दिनों का आना, दिनों का प्राप्त होना ।

‘सनत् कक्षीवान् अभिपित्वे अह्नाम्’

ऋ. १.१२६.३

दिनों के प्राप्त होने पर (अह्नाम् अभिपित्वे) यश समय उत्तम जितेन्द्रिय युद्ध कुशल और विद्या कुशल पुरुष (कक्षीवान्) सदा प्राप्त करे और उनका भोग करें (सनत्) । कक्षीवान् ऋषि का भी नाम है ।

अह्नाम् केतुः - (१) दिनों का प्रतीकरूप, (२) कृष्ण पक्ष के अन्त में एक कला मात्र अव शिष्ट हो प्रातः काल में उदय लेने वाला चन्द्रमा भी दिन होने का लक्षण है ।

‘नवो नवो भवतिजायमानो
अह्नां केतुः उषसामे त्यग्रम्’

ऋ. १०.८५.१९,अ. ७.८१.२, १४.१.२४, तै.सं. २.४.१४.१, मै.सं. ४.१२.२:१८१.५, का.सं. १०.१२, नि. ११.६.

अह्नां विमानः - (१) दिनों का निर्माता सूर्य, (२)न नाश होने वाले तत्वों का जगतरूप में बनाने वाला

‘विमानो अह्नां भुवनेषु अर्पितः’

ऋ. ९.८९.४५, साम. २.९६६.

अह्नां सूरः - दिनों का उत्पादक

‘सूरो अह्नां प्रतरीतोषसां दिवः’

अ. १८.४.५८

अहि - (१) इन्द्र ।

‘अब्जामुक्थैरहिं गृणीषे’

ऋ. ७.३४.१६, नि. १०.४४.

(तू जल में उत्पन्न इन्द्र की स्तुति करता है) (२) मेघ । (एति अन्तरिक्षे अन्तरिक्ष में चलता है अतः ‘अहि’ है)। इ (चलना) + इन् = अयि । य का ह होकर ‘अहि’ हो गया ।

(३) मेघ की विद्युत । विद्युत् मेघ संचारी है-मेघ का का हनन करती है । (४) सर्प (एति सर्पति) । इ + इन् = अयि । इ का एत्व और य का ह । अहि । (५) आङ् + हन् । इण् (आङि श्रि हनिभ्यां प्रेश्वश्च) = अहि ।

(६) सूर्य जो अन्धकार का नाश करता है आधुनिक अर्थ-सूर्य, सर्प राहु, वृत्रासुर , धूर्त, मेघ ।

सर्प के अर्थ में-

‘अहिरिव भोगैः पर्येति बाहुं
ज्याया हेतिं परिबाधमानः ।
हस्तघ्नो विश्वा वयुनानि विद्वान्
पुमान् पुमांसं परिपातु विश्वतः’

ऋ. ६.७५.१४, वाज.सं. २९.५१, तै.सं. ४.६.६.५, मै.सं. ३.१६.३: १८७.४, नि. ९.१५, आप.श्रौ.सू. २०.१६.१२,

जो यह ज्या से होने वाली हिंसा को निवारता हुआ (ज्याया हेतिं परिवाधमानः) शरीर से (भोगैः) सांप जैसे अपने को लपेटता है (अहिः इव) उसी प्रकार धनुर्धारी के प्रकोष्ठ में बन्धनीय

हस्तघ्न (हस्तघ्नः) सभी प्रजाओं को (वयुनानि) जानते हुए के समान इस धनुर्धारी पुरुष का सब प्रकार से रक्षा करे (परिपातु) ।

इन्द्र के अर्थ में अहि का प्रयोग –

'अब्जामुक्थै रहिं गृणीषे
बुध्नेन दीनां रजःसु षीदन्'

ऋ. ७.३४.१६, नि. १०.४४.

हे स्तुति करने वाला, तू जलों में तिष्ठित होकर अर्थात् जल के निमित्त अन्तरिक्ष में वर्तमान उदक जन्मा इन्द्र के स्तोत्रों से स्तुत करता है ।

(७) अविनाशी प्रकृति तत्व ।

'यो हत्वाहिमरिणात् सप्तसिन्धून्'

ऋ. २.१२.३, अ. २०.३४.३, मै.सं. ४.१४.५, २२२.११,

(८) प्रकृति का व्यापक सूक्ष्म रूप ।

(९) हनन करने योग्य शत्रु ।

'अस्य मदे अहिमिन्द्रोजघान'

ऋ. २.१५.१

अहिगोपा – अहिना मेघेन गुप्ता । मेघ से रक्षित । अहि के अर्थ के लिए ।

'दासपत्नीरहिगोपा अतिष्ठम्
निरुद्धा आपः पणिनेव गावः
अपां बिलम् अपिहितं यदासीत्
वृत्रं जघन्वाँ अप तत् ववार ।'

ऋ. १.३२.११, नि. २.१७.

मेघ से रक्षित (अहिगोपाः) वृत्र के अधिकृत दासपत्नीःआपः) पणि असुर के द्वारा रोकी हुई गायों की तरह (पणिना निरुद्धाः गावः) अन्तरिक्ष में थमे हुए थे । वह जलों का द्वार जो बन्द था उस वृत्र को इन्द्र ने मारा और बन्द द्वार को खोल दिया ।

अहिनामा – अभिमुख होकर लड़ने वाला नायक ।

'पैद्वो न हि त्वम् अहिनाम्नां हन्ता'

ऋ. ९.८८.४

अहिभानवः – मरुतों का विशेषण । विद्युत् द्वारा मेघों के प्रकाशक मरुद्गण ।

'मरुतो अहिभानवः'

ऋ. १.१७२.१.

अहिमायः – (१) सर्ववत् कुटिला चारी (२) मेघवत् चेष्टा वाला, (३) आत्मा को ढंक लेने वाला अज्ञानी पुरुष, (४) अधिमाय–वर्ण विपर्यय द्वारा अधिक बुद्धिमान् का द्योतक है ।

'वि पिप्रोः अहिमायस्य दृढ़ाः'

ऋ. ६.२०.७

अहिर्बुध्न्यः – यः अहिः स बुध्न्यः (जो अहि है वही बुध्न्य है) । बुध्न अन्तरिक्ष का नाम है । अतः अन्तरिक्ष में निवास करने वाला बुध्न्य हुआ । अर्थ । (१) अन्तरिक्षस्थ मेघ, अहि के अर्थ के लिए ।

'मानोऽहिर्बुध्न्योरिषे धात्
मा यज्ञो अस्य स्त्रिधदृतायोः'

ऋ. ७.३४.१७, नि. १०.४५.

अहिर्बुध्न्य या मेघ हमारे हिंसक को न दे (द्विषे माधात्) । इस यज्ञ की कामना वाले यजमान का (ऋतायोः अस्य) यज्ञ विनष्ट न हो (मा स्त्रिधत्) ।

पुनः,

'उतनो अहिर्बुध्न्यः श्रृणोतु'

ऋ. ६.५०.१४, वाज.सं. ३४.५३, मै.सं. १.६.२, ८८.१२, आश्व.श्रौ.सू. ५.२०.६, शां.श्रौ.सू. ८.६.८, आप.श्रौ.सू. ५.१९.४, १३.१६.३, नि. १२.३३ .

अहिरण्यवान् – अ + हिरण्यवान् । सुवर्णादि धारण न करने वाला ।

'अमणिः अहिरण्य वान्'

अ. २०.१२८.६, शा.श्रौ.सू. १२.२१.२.१.

अहिशुष्य – अग्रगामी या सर्वतोमुख जाने वाले बल का स्वामी इन्द्र ।

'आस्मात् जगम्यात् अहिशुष्म सत्वा'

ऋ. ५.३३.५

अहिंसती – किसी प्रकार का कष्ट न देने वाली ।

'शाले प्रैम्यहिंसतीम्

अ. ९.३.२२

अहिंसान् – अहिंसक ।

'अहिंसानस्य सश्चिरे'

ऋ. ५.६४.३

अहिहन् – (१) मेघ का नाशक सूर्य, (२) अज्ञान आवरण का नाशक, (३) प्रकृति के अविकृत तमस् को दूर करने वाला परमेश्वर, (४) वृत्र–नाशक इन्द्र ।

'यो धौतीनाम् अहिहन् नारिणक् पथः'

ऋ. २.१३.५

(५) आगे आने वाली रोक या डाँट को धक्का मारने वाला अश्व, (६) अज्ञान-नाशक आचार्य या परमेश्वर ।

(७) मेघ को छिन्न भिन्न करने वाला इन्द्र -सूर्य (८) प्रकृति के व्यापक स्वरूप में परमाणु में आघात या स्पन्द उत्पन्न करने वाला-परमेश्वर ।

'इन्द्रायाहिघ्ने न रमन्त आपः'

ऋ. २.३०.१

अहिहा - (१) मेघ पर आघात करने वाला इन्द्र-सूर्य, (२) अव्यक्ततम या प्रलय दशा में अविकृत प्रकृतितम ।

'प्रैरयत् अहिहाच्छा समुद्रम्'

ऋ. २.१९.३

अहीशु - (१) अभीशु, (२) प्रग्रहवान् (३) राष्ट्र की बागडोर संभालने वाला शासक ।

'और्णवाभमहीशुवम्'

ऋ. ८.७७.२, ३२.२६.

(४) मेघ या दुष्ट के समान, बढ़ने वाला दुष्ट जन ।

'पिप्रुं दासमहीशुवम्'

ऋ. ८.३२.२

अहुत - जो हनन नहीं करता ।

'वाम् अहुतेभ्यः'

अह्रुतप्सुः - सरल सीधी प्रकृति ।

'वहन्ते अह्रुतप्सवः'

ऋ. ८.२०.७

अहुताद् - (१) बिना बुलाए या निमन्त्रण दिए भोजन करने वाला ।

'ज्ञातिमुखा अहुतादश्चरन्ति'

अ. १८.२.२८

(२) आहुति न दिए गए केवल भिक्षा मात्र से प्राप्त भोजन करने वाला ।

'हुतभागा अहुतादश्च देवा'

अ. १.३०.४

अह्रुतप्सवः - कुटिलता रहित आजीविका या वृत्ति वाला पुरुष ।

'तं वृत्रहत्ये अनु तस्थुरूतयः
शुष्मा इन्द्रमवाता अह्रुतप्सवः'

ऋ. १.५२.४

रक्षाकारी बलवान् प्रतिकूल शत्रुओं से रहित, कुटिलता रहित आजीविका या वृत्ति वाले वीर पुरुष वृत्र या विघ्न कारी शत्रु के विनाशकार्य में (वृत्र हत्ये) इन्द्र या सभाध्यक्ष के पीछे रहें।

अहूमहि - (हम) पुकारते हैं ।

'अहूमहि श्रवस्यवः'

ऋ. ६.४५.१०, ८.२४.१८, अ. २०.६४.६, साम. २.१०३६.

अहृणानः - (१) अनादर या कोप से रहित ।

'किंमे हव्यमहृणानो जुषेत'

ऋ. ७.८६.२

(२) बिना क्रोध किए, प्रसन्नता पूर्वक । हृणीङ् (रोषणार्थक धातु) + शानच् = हृणानः । न हृणानः = अहृणानः ।

अहृणीयमान - संकोच और लाज किए बिना ।

'सर्वा धुक्ष्व अहृणीयमानः'

अ. १८.४.६

पुनः-

'अनुमन्यन्ताम् अहृणीयमानाः'

अ. १.३५.४, ८.२.२१.

अहृणीयमाना - क्रोध-रहित स्त्रीपुरुष, राजा अमात्य ।

'राजाना क्षत्रमहृणीयमाना'

ऋ. ५.६२.६.

अहेडत् - नञ् + हेड + शतृ = अहेडत् । क्रोध या घृणा न करता हुआ, अक्रुद्ध, घृणा-रहित ।

'अहेडता मनसा श्रुष्टिमावह'

ऋ. २.३२.३

(अक्रुद्ध मन से)

अहेडन् - अनुग्रह करता हुआ ।

'तेभिर्नो विश्वैः सुमना अहेडन्
राजन् सोम प्रतिहव्या गृभाय ।'

ऋ. १.९१.४, तै.सं. २.३.१४.१, मै.सं. ४.१०.३, १४९.१३, का.सं. १३.१५ , तै.ब्रा. २.८.३.२.

उन सब सामर्थ्यों से हम पर अनुग्रह करता हुआ (अहेडन्) देने और ग्रहण करने योग्य समस्त पदार्थों को (हव्या) प्रत्येक प्राणी को प्रदान करें (प्रतिगृभाय) ।

अहेडमानः - (१) अनादर नहीं करता हुआ । अ + हेड + शानच् = अहेडमानः। (२) क्रुद्ध न होता हुआ -दया.

अह्वे - 'आह्वयामि' पुकारता हूँ ।

आ

आ – (१) अधि के अर्थ में प्रयुक्त (२) समन्तात् –चारों ओर से ।

समन्तात् के अर्थ में

'पुरुत्वा दाश्वान् वोचे
अरिरग्ने तव स्विदा
तोदस्येव शरण आ महस्य'

ऋ. १.१५०.१, साम. १.९७, नि. ५.७.

हे अग्ने, मैं दाता तथा तेरा ही सेवक (तव स्विद् अरिः) तुझे पुकारता या तुझसे बहुत वरदान मांगता हूँ । जैसे महान् भूखण्ड के बिल में (महस्य तोदस्य शरण इव आ) चारों ओर से (आ) जल आकर भी बिल को नहीं भरता उसी प्रकार यजनामों के हवियों से तू नहीं ऊबता । (३) अभिमुख, सम्मुख (४) प्राक् अर्थ में ।

'चतुरश्चिद् ददमानाद् बिभीयादानिधातोः ।
न दुरुक्ताय स्पृहयेत् ।'

ऋ. १.४१.९, नि. ३.१६.

अक्षों अर्थात् पाशों को (चतुरः) धारण करते हुए धूर्त जुआरी से (ददमानात्) पाश रखने के पूर्व जैसे डरा जाता है, वैसे (चित्) दुर्वचन बोलने या सुनने से डरें । कभी दुर्वचन बोलने या सुनने की चेष्टा न करें ।

'आत्वा रम्भं न जिव्रयो ररम्भा शवसस्पते ।
उश्मसित्वा सधस्थ आ'

ऋ. ८.४५.२०, नि. ३.२१.

हे इन्द्र ! हम तेरा आश्रय उसी प्रकार लेते हैं जैसे वृद्ध पुरुष लकुटी या डंडे का । हे बल के पोषक (शवसस्पते) ! यज्ञस्थान में हम तुझे देखने या स्तवन करने की कामना करते हैं (आत्वा उश्मसि) । 'अधि' अर्थ में ।

'आ त्वा रथं यथोतये सुम्नाय वर्तयामसि
तुविकूर्मिमृतीषहमिन्द्र शविष्ठ सत्पते ।'

ऋ. ८.६८.१, साम. १.३५४, २.११२१.

'कदु प्रियाय धाम्ने मनामहे
स्वक्षत्राय स्वयशसे महे वयम् ।
आमेन्यस्य रजसो यदभ्र आं
अपो वृणाना वितनोति मायिनी ।'

ऋ. ५.४८.१

वैद्युताग्नि की स्तुति (सा.) । आप् । की गणना भी विश्वेदेवों में की गई है (आपो वै विश्वेदेवाः)। हम सुखकारक (कत् उ) प्रिय (प्रियाय उ) अपने ही बल के आश्रय पर रहने वाले (स्वक्षत्राय), जहां अपना ही यश है उस के लिए (स्वयशसे), महान् विश्वदेवों के स्थान के लिए (धाम्ने) याचना करते हैं (मनामहे) । जो मध्यमा वाक् के वासस्थान अन्तरिक्ष के ऊपर (यत् मेन्यस्य रजसः आ) मेघ में (अभ्रे) स्थित जलों को (अपः) रखे या ढांपे हुई (आ वृणाना) मायाविनीं या प्रज्ञावती हो वर्षा बरसाती है (वितनोति) । अन्य अर्थ – सर्वतोज्ञेय (आमेन्मस्य) अन्तरिक्ष लोक के मेघ में (रजसः अभ्रे) जैसे जल को बरती हुई (यत् अप वृणना) उसें वृष्टि द्वारा फैलाती है (वितनोति) वैसे बुद्धिपूर्वक नीतिकर्मों को बरती हुई (मायिनी) सर्वत्र फैलाती है । सुख के लिए (कत् उ), प्रिय स्थान के लिए, स्वकीय क्षात्र तेज के लिए तथा स्वकीय महान् यश के लिए हम उस नीति को समझे (मनामहे) ।

(५) साक्षात् ।

'अत आ त त्रदास्पृशो निषेदुः'

ऋ. ४.५०.३, अ. २०.८८.३

(६) और

'मित्रो न यो जनेष्वा यशश्चक्रे असाम्या'

ऋ. १०.२२.२

आइयाते – आता है । आ + इ का लट् प्र.पु. द्वि.व. में रूप । अर्थ आवें ।

आकर – (१) समूह, आश्रय ।

'आकरे वसोः जरिता पनस्यते'

ऋ. ३.५१.३, मै.सं. ४.१२.३, १८४.१.

(२) सब ओर से संग्रह करने में कुशल ।

'न किल्विषात् ईषते वस्व आकरः'

ऋ. ५.३४.४

(३) कर्मों का करने वाला (४) ऐश्वर्यों को धारण करने वाला (५) खनि, खान ।

'या आकरः सहस्रा यः शतामधः'

ऋ. ८.३३.५

आक्रम – (१) सब तरफ आक्रमण करने में समर्थ, (२) आक्रमण ।

'अक्रमोऽसि आक्रमाय त्वा'

वाज.सं. १५.९, पंच.ब्रा. १.१०.१२, वै.सू. २७.२७.

आक्रय - सब प्रकार के पदार्थों का क्रय विक्रय ।

'आक्रयाया अयोगूम्

वाज.सं. ३०.५, तै.ब्रा. ३.४.१.१.

आक्ताक्ष - आंजी हुई आंख वाला ।

'य आक्ताक्षः स्वभ्यक्तः'

अ. २०.१२८.७, शां.श्रौ.सू. १२.२१.२.२.

आक्षाणः - (१) शत्रु-हनन का कार्य ।

'आक्षाणे शूरवज्रि वः'

ऋ. १०.२२.११

(२) आश्नुवानः - जो चारों ओर से व्याप्त होता है । 'आश्नुवानः' से 'आक्षाणः' हो गया है आङ् + आश् (व्याप्त्यर्थक) + शानच् = आश्नुवानः । आङ् + अश् + सिप् + शानच् (सिपं बहुलं लेटि) । अश् का ष् , पुनः ष् का क् , सिप् के स् का ष् होकर 'आ' +अक् + ष् + आव बना । इसी से 'आक्षाण' सिद्ध हुआ । जिसमें एक दूसरे से व्याप्त होकर लड़ा जाय (संग्रामे इतरेत्तरं व्याप्नुवन्ति योधाः) वह स्थान 'आक्षाण' है । इन दिनों अखाड़ा शब्द आक्षाण का ही अपभ्रष्टरूप है ।

अक्षिषुः - आयन् (व्याप्नुवन्ति) । उदय से लेकर अस्ततक । आङ् + अश् को लङ् प्र.पु.ए.व. का रूप ।

अकीवत् - कितने भी दूर पर विद्यमान ।

'आकीवतः सललूकं चकर्थ'

ऋ. ३.३०.१७, नि. ६.३.

आक्षी - अश्वियों या स्त्री पुरुषों का विशेषण । आंखों के समान मार्ग दिखाने वाले ।

'आक्षी शुभस्पती दन्'

ऋ. १.१२०.६

आकूति - (१) प्रतिभा ।

'मनसे चेतसे धिय आकूतय उत चित्तये'

अ. ६.४१.१

(२) संकल्प शक्ति ।

'आकूतिः सत्या मनसो मे अस्तु'

ऋ. १०.१२८.४, अ. ५.३.४, तै.सं. ४.७.१४.२, का.सं. ४०.४.

(३) अनुकूल सम्मति, (४) सद्बुद्धि, (५) दृढ़ संकल्प ।

'अर्वाङ् आकूत्या चर'

अ. ३.२.३

आकूतिदेवी - सब गूढ़तत्वो को द्रर्शाने और प्रकाशित करने वाली, वाक्य तात्पर्य-रूप शक्ति ।

'आकूतिंदेवीं सुभगां पुरो दधे'

अ. १९.४.२, तै.ब्रा. २.५.३.२.

आकूतिप्रः - (१) प्रजा के समस्त संकल्पों को पूर्ण करने वाला, (२) सब कामनाओं को पूर्ण किया आत्मा ।

'आकूतिप्रोऽविर्दत्तः'

अ. ३.२९.२

आकृणुते - आभिमुख्येन कुरुते (परिचर्या के लिए सामने करता है) ।

आकृषे - आकुरुषे (उपगम्य तेन तेन देवतात्मना कुरुषे), कुरुष्व, निर्वर्तय (लेट् म.पु.ए.व.) । अर्थ- करते हो, निकट आकर उस उस देवता को रूप में करते हो ।

'एता विश्वा सवना तूतुमाकृषे'

ऋ. १०.५०.६, नि. ५.२५.

इन सभी स्थानों को शीघ्र निकट आकर निवर्तित कर ।

आके - समीप विद्यमान ।

'त्वमग्ने ऋभु राके नमस्यः'

ऋ. २.१.१०

आक्षेति - क्षि-रहना । ऊंचे स्थान पर विराजता है ।

आखण्डलः - प्रलयकारी विघ्ननाशक, संशयच्छेदक, इन्द्र, परमेश्वर, खण्ड खण्ड में व्यापक ।

'आखण्डल प्रहूयसे'

ऋ. ८.१७.१२, अ. २०.५.६, २.७६, नि. ३.१०.

आखण्डयिता (मेघों या शत्रुओं को आखण्डित करने वाला -इन्द्र का एक नाम) । आङ् + खड् (भेदन अर्थ में) + अलच् = आखण्डल (बाहुलकविधि से सिद्ध)

आखरः - (१) चारों ओर सुखमय परमेश्वर, (२) गृह, (३) पशुशाला ।

'यथाखरो·मघवन् चारुरेष'

अ. २.३६.४

(३) ज्वालाओं का वासस्थान सूर्य ।

'आखरे कृष्णा इषिरा अनर्तिषुः'

ऋ. १०.९४.५, अ. ६.४९.३, का.सं. ३५.१४.

आखरेष्ठः - (१) चारों ओर से खोदी हुई खाई के बीच में स्थित दुर्ग (२) दुर्ग के समान सुरक्षित अग्नि ।

'कृष्णोऽस्याखरेष्ठः अग्नये त्वा जुष्टं प्रोक्षामि'

वाज.सं. २.१, तै.सं. १.१.११.१, का.सं. १.११,३१.१०, श.ब्रा. १.३.३.१,

आख्यात - 'भावप्रधानमारख्यातम्' । असत्वभूत धातु का अर्थ आख्यात है इसी भावना का नाम उत्पादन या क्रिया भी है ।

'धात्वर्थो भावना सैवोत्पादना सैवच क्रिया ।
असत्वभूतो यावश्चतिङ् पदैरभि धीयते ।
यावत् सिद्धमसिद्धञ्च साध्यत्वेनाभिधीयते
आश्रितक्रम रूपत्वात् सा क्रियेत्यभिधीयतेहरिः'

आ + ख्या + क्त = आख्यात् । आख्या के चार भेद हैं - (१) कर्तृवाच्य, (२) भाववाच्य, (३) कर्मवाच्य और कर्मकर्तृवाच्य, जैसे -

(१) देवदत्तः पचति (देवदत्त पकाता है) कर्तृवाच्य

(२)देवदत्तेन भूयते (देवदत्त से हुआ जाता है) भाववाच्य ।

(३) देवदस्तेन ओदनः पच्यते (देवदत्त से भात पकाया जाता है)-कर्मवाच्य ।

(४)पच्यते ओदनः स्वयमेव (भात स्वमेव पकता है) -कर्मकर्तृ वाच्य ।

इन चारों उदाहरणों में क्रिया ही प्रधान है ।

आखिदत् - दीनों पर नियुक्त पुरुष ।

'नम आखिदते च प्रखिदते च'

वाज.सं. १६.४६, तै.सं. ४.५.९.२, मै.सं. २.९.८, १२७.३, का.सं. १७.१५.

आखुः - (१) भूमि के चारों ओर धातु ओषधियों का खोदने वाला खनक, (२) चूहा जो भूमि खन कर रहता है ।

'स्वाहैष ते रुद्र भाग आखुस्तेपशुः'

वाज.सं. ३.५७

'हतं तर्दं समङ्क्माखुमश्विना'

अ. ६.५०.१

आगच्छान् - आगमिष्यन्ति (आवेंगे) । आङ् + गम् + झि (लृट) = आगच्छान् । लोक में 'आगमिष्यन्ति ।

आगत् - आगमत् (आया)

आङ् + गम् + शप् + तिप् = आगत् । 'बहुलं छन्दसि' -पा. २.४.७३ से शप् और म् का लोप ।

'नदस्य मारु धतः काम आगत्
इत आजातो अमुतः कुतश्चित् ।
लोपामुद्रा वृषणं नी रिणाति
धीरमधीरा धयति श्वसन्तम् ।'

ऋ. १.१७९.४, नि. ५.२.

लोपामुद्रा अपने पति अगस्त्य से कहती है-जप करते हुए (नदतः) एवं इन्द्रियों पर संयम करते हुए (रुधतः) ब्रह्मचारी अगस्त्य के प्रति कामभावना मेरे प्रति आई (कामः या आगत्) । न मालूम यह काम मेरे इस शरीर में (इतः) या उस अगस्त्य के शरीर से (अमुतः) या और कहीं से (कुतश्चित्) उत्पन्न हुआ (आजातः)। कामाविष्ट हो लोपामुद्रा अपने पति अगस्त्य के पास (वृषणम्) जाती है (नीरिणाति) । वह अधीर हो अगस्त्य को चित्त से पान करती या देखती है (धीरं श्वसन्तं धर्यात) ।

आगत - आगच्छत (आओ) । आङ् + गम् + त (लङ् म.पु.ब.वचन) = आगत । वेद में 'बहुलं छन्दसि' से शम् का लोप 'होकर अनुदात्तापदेशः' (पा.६.४.३७) से म् का लोप

'ओमासश्चर्षणी धृतो
विश्वेदेवास आगत ।
दाश्वांसो दाशुषः सुतम्'

ऋ. १.३.७, वाज.सं. ७.३३, तै.सं. १.४.१६.१, मै.सं. १.३.१८, ३७.१, का.सं. ४.७. श.ब्रा. ४.३.१.२७, ऐ.आ. १.१.४.११, नि. १२.४०.

हे विश्व देवा, जो आप मनुष्यों के धारण या पालन करने वाले (चर्षणीधृतः) तथा अपने उपकार कर्मों द्वारा उनके रक्षिता या तर्पणार्ह हैं (ओमासः) वे आप हमें दान देने का संकल्प किए (दाश्वांसः) इन दाता यजमानों के तैयार किए सोम रस को पान करने आओ (दाशुषः सुतम् आगत) ।

आगतिः - (१) आज्ञा सुनते ही आ जाना, उपस्थित होना ।

'त्वङ्म आनतिरागतिः'

वाज.सं. २०.१३

(२) आगमन, (३) प्राप्ति ।

'तासामध्वर्युरागतौ
'यवो वृष्टीव मोदते'

ऋ. २.५.६.

आगधिता - आसमन्तात् गृहीता-आलिंगिता । आङ् + गह् + क्त + टाप् = आगधिता (गह् का गध् आदेश) । गध् धातु मिश्रीभाव में प्रयुक्त है ।

अर्थ (१) आलिंगिता -सा. (२) सभी वर्गों में मिली हुई । -(दया.)

'आगधिता परिगधिता
या कशीकेव जङ्गहे
ददानि मह्यं यादुरी
याशूनां भोज्या शता ।'

ऋ. १.१२६.६, नि. ५.१५.

बृहस्पति की पुत्री ब्रह्मवादिनी रोमशा ने अपने पति भावयव्य से रति-प्रार्थना की । इस पर भावयव्य हास्य पूर्वक कहते हैं-ह रोमशे ! एक दूसरी स्त्री (भोज्या) आलिंगित की गई (आगधिता) जो प्रगाढ़ रूप से आलिंगन करने पर (परिगधिता) नेवली की तरह (कशीका इव) संभोग में (जंगहे) बहुत रेत वाली (यादुरी) सौ सौ संभोग मुझे देती है (याशूनां शता) -सा.

स्वा. दयानन्द का अर्थ - राजा कहते हैं-जो सब कर्मों में मेरे साथ मिली हुई (या आगधिता) और सब तरह से संयुक्त (परिगधिता) रानी पूर्णतया गृहीत राज कर्म में (जङ्गहे) चाबुक की तरह (कशीका इव) शासिका है वह मेरी पत्नी प्रयत्नशीलों में अधिक प्रयत्नशीला होती हुई (यासूनां यादुरी) मुझे राज्य पालन संबन्धी अनेको साहाय्य प्रदान करती है (शता भोज्या ददाति) ।

अगनिगन्ति - आगच्छति । आङ् + गम् + तिप् । निपातन से सिद्ध । अर्थ-आता है ।

आगम - (१) सहवास, (२) पुत्रोत्पत्ति करने का उचित अवसर ।

'तं त्वमा गमयागमे'

अ. ६.८१.२

आगमिष्ठ - आने वालों में सबसे उत्तम -सूर्य ।

'देवां ओहानोऽवसागमिष्ठः'

ऋ. ६.५२.५

आगर - घर ।

'य आगरे मृगयन्ते'

अ. ४.३६.३

आगस् - आङ् + गम् + असुन् = आगस् । बाहुलक नियम से कित् होने के कारण अम् रूपी टि का लोप । अर्थ -पाप । यह कर्त्ता के आगे फल रूप में आता है अतः आगस कहलाया ।

'पापापराधयोरागस्' *-अमरकोष*

आगहि - आगच्छ (आ) । आङ् + गम् + सि । सि का लोट् में हि और 'बहुलं छन्दसि' से शप् का लोप । 'अनुदात्तापदेश' से म का लोप ।

'प्रति त्यं चारुमध्वरं गोपीथाय प्र हूयसे ।
'मरुद्भिरग्न आ गहि ।'

ऋ. १.१९.१, साम. १.१६, आश्व.श्रौ.सू. २.१३.२, वै.सू. २३.८, कौ.सू. १२७.७, नि. १०.३६.

हे अग्ने । उस अङ्ग -वैकल्य रहित यज्ञ में आकर (त्यं चारु अध्वरंप्रति) सोम-पान या दुग्ध पान के लिए (गोपीयाय) तू पुकारा जाता है, अतः तू मरुतों के साथ आ । पुनः -

'अभि त्वा पूर्वपीतये सृजामि सोम्यं मधु ।
मरुद्भिरग्न आगहि ।'

ऋ. १.१९.९, ८३.७, अ. २०.९९.१, साम. १.२५६, २.९२३, ऐ.ब्रा. ४.२९.१३,५.१८.२१, ऐ.आ. ५.२.२.२, आश्व.श्रौ.सू. ५.१५.२, शां.श्रौ. सू. ७.२०.३, वै.सू. ३९.६, साम.वि.ब्रा. ३.६.८, नि. १०.३७.

पुनः-

'आपित्वे नः प्रपित्वे तूयमा गहि'

ऋ. ८.४.३. साम. १.२५२, २.१०७.१, नि. ३.२०.

आगन्तन - आओ ।

'आ रुद्रास इन्द्रवन्तः सजोषसः
हिरण्यरथाः सुविताय गन्तन ।
इयं वो अस्मत् प्रति हर्यते मतिः
तृष्णजे न दिव उत्सा उदन्यवे'

ऋ. ५.५७.१, कौ.ब्रा. २०.४.२३.३, श.ब्रा. १३.५.१.१२, नि. ११.१५.

हे रुद्रो ! आप इन्द्र के साथ समान प्रेम के साथ जल लाते हुए , सोने के रथ से आते, इस यथाशास्त्र किए जाने वाले यज्ञ के लिए (सुविताय) आओ (आगन्तन)। हमारी यह स्तुति आप लोगों की कामना करती है । अतः आप जैसे वर्षा ऋतु में द्युलोक से जल (दिवः उत्सः) जलार्थी लोक के लिए आते हैं, वैसे आओ ।

आग्रयण - (१) 'अग्र' अर्थात् मुख्य पद प्राप्त करने

योग्य, (२) अग्रपद प्राप्त सर्वोत्तम पदाधिकारी, (३) सर्वधातुओं में मुख्य स्थान वाला -शुक्र -सोम ।

'आग्रयणोऽसि स्वाग्रयणः

वाज.सं. ७.२०, तै.सं. १.४.१०.१, ११.१, मै.सं. १.३.१३३५.९, श.ब्रा. ४.२.२.९,

(४) आग्रयण ओर मार्गशीर्ष का विशेष यज्ञ

'आग्रमणश्च वैश्वदेवश्च मे

वाज.सं. १८.२०, तै.सं. ४.७.७.१, मै.सं. २.११.५, १४३.५,

(५) निधनवन् साम से उत्पन्न आग्रयणग्रह ।

(६) आगे बढ़ने वाला शूरवीरों का पद ।

'निधनवत आग्रयणः'

वाज.सं. १३.५८, तै.सं. ४.३.२.३, मै.सं. २.७.१९:१०४.१३, का.सं. १६.१९, श.ब्रा. ८.१.२.८

आगात् - आगमत् (अगच्छति -आता है) । यहां लट् (वर्तमान्) । के अर्थ में लुङ् (भूत) का प्रयोग है ।

'इदं श्रेष्ठं ज्योतिषां ज्योतिरागात्
चित्रः प्रकेतो अजनिष्ट विभ्वा ।
यथा प्रसूता सवितुः सवाय
एवा रात्र्युषसे योनिमारैक् ।'

ऋ. १.११३.१, साम, २.१०९९, नि. २.१९.

द्योतमान ग्रहों में यह उषा श्रेष्ठ प्रकाश पूर्व दिशा में आता है । यह प्रकाश चायनीय या पूजनीय (चित्रः) अन्धकारावृत सभी पदार्थों का प्रकाशक (प्रकेतः) तथा सर्वत्र व्यापक (विभ्वा) होकर प्रकट हुआ (अजनिष्ट) और जैसे रात सूर्य के निकट से उत्पन्न होती है उसी प्रकार से इस रात ने भी उषा की उत्पत्ति के लिए (उषसे सवाय) अपने अपर भाग रूपी अवकाश के लिए कल्पना की (योनिम् आरैक्) या रात्रि के सकाश से उत्पन्न उषा (प्रसूता उषा) सूर्य के जन्म के लिए (सवितुः सवाय) कारण होती है । इसी प्रकार रात्रि ने भी आत्मलाभ के लिए या उषा के लिए रात के पिछले भाग को दे दिया । अर्थात् रात्रि का पिछला पहर ही उषाकाला है ।

आगार - (१) आश्रय, (२) देह ।

'पर्यागारं पुनः पुनः'

अ. २०.१३२.१२, शां.श्रौ.सू. १२.१८.१८.

आगनावैष्णव - अग्नि और वैष्णव विभाग का ।

'वामना अनड्वाहः आग्ना वैष्णवाः'

वाज.सं. २४.८, मै.सं. ३.१३.९, १७०.६.

आग्निमारुत - (१) अग्नि और मरुत् का, (२) अग्नि और मरुत विभाग का ।

'कल्याषा आग्निमारुताः'

वाज.सं. २४.७

अग्निवेशि - अग्नि के अधीन रहने वाली प्रजाओं के हितार्थ ।

'सहस्रसामाग्निवेशिं गृणीषे'

ऋ. ५.३४.९

आग्नीध्र - (१) अग्नि के धारण करने वाले सूर्यादि लोक से प्राप्त, (२) तेज धारण करने वाले राजपद से प्राप्त ।

'पिबाग्नीध्रात तवभागस्य तुप्णुहि'

ऋ. २.३६.४, अ. २०.६७.५

आंगूष्य - (१) सबको शरणवस् प्राप्य (२) अंग अंग में बसने वाला आत्मा ।

'आङ्गूष्यं पवमानं सखायः'

ऋ. ९.९७.८,

आग्नेयः - अग्नि देवता वाला ।

'कृष्णग्रीवं आग्नेयो रराटे पुरस्तात्'

वाज.सं. २४.१, मै.सं. ३.१३.२, १६८.१०,

आघाटा - बड़े बल से पीटा गया नगाड़ा आदि बाजा ।

'यत्राघाटाः कर्कर्यः संवदन्ति'

अ. ४.३७.४

आघाटी - (१) बार बार पटका हुआ वस्त्र, (२) वीणा का स्वर ।

'आघाटिभिरिव धावयन्'

ऋ. १०.१४६.२, तै.ब्रा. २.५.५.६.

आघ्नाना - हाथों से छाती पीटती हुई स्त्री ।

'परि नृत्यन्ति केशिनी राघ्नानाः पाणिनोरसि'

अ. १२.५.४८.

आघृणिः - आङ् + घृ (क्षरण और दीप्ति अर्थ में) (१) हवि आहरण करने वाला, (२) दीप्ति वाला (३) सूर्य, (४) ज्ञान में प्रदीप्त पोषक विद्वान्-

'नहि त्वा पूषन् अतिमन्य आघृणे
न ते सख्यमपह्नुवे'

ऋ. १.१३८.४.

हे वृष्टि बरसाने वाले या हवि आहरण करने वाले या दीप्ति वाले या ज्ञान से प्रदीप्त पोषक

पूषन या विद्वन् ! तुझ से बढ़कर मैं किसी को नहीं समझता और न आपकी मित्रता को ही छिपाता हूँ ।

आगतहृणिः, आगतदीप्तिः, आगतक्रोधः । निघण्टु में घृणि का पाठ दीप्ति कर्मों में है । इसका अर्थ क्रोध भी है । लाक्षणिक अर्थ सूर्य है । स्वा.दयानन्द ने इसका अर्थ ज्ञान से प्रदीप्त किया है । घृ (क्षरण, दीप्ति) मा घृणु से घृणि शब्द बना है । घृ + निन् = घृणिः ।

वाचस्पत्य के अनुसार 'हृणिया' और अमरकोष के अनुसार 'हृणीवा' का प्रयोग घृणा अर्थ में होता है । 'हृणीङ्' धातु दोष एवं लज्जा अर्थ में आया है ।

'एहि वां विमुचो नपात्
आघृणे सं सचावहै ।
रथीर्ऋतस्य नो भव ।'

ऋ. ६.५५.१.

हे प्रजाओं को अन्धकार से मुक्त करने वाला पूषन् (विमुचः), हे नाती (नपात् -जल से अग्नि और अग्नि से सूर्य) तथा हे आगतद्दीप्ति-सूर्य (आघृणे) तू आ (एहि) । हम दोनों (वाम्) परस्पर एक दूसरे की सेवा करते हैं (संसचाव है) या सायण के अनुसार मुझ स्तोता के यहां आ (वाम् एहि)। तू हम लोगों के यज्ञ का गमयिता हो (नः ऋतस्य रथीः) हो (भव) । अन्य अर्थ- विषपादिकों से विमुक्त (विमुचः) पतित नहीं होने वाले (नपात्) और ज्ञान से प्रकाशित पोषक विद्वान् (आघृणे) आइए (एहि) । हम दोनों भली प्रकार धर्म सेवन करें (वां संसचाव है) । आप हमारे लिए सत्य विद्या के प्राप्त कराने वाले हो (ऋतस्य रथीः भव) ।

पुनः - सूर्य के अर्थ में

'आघृणे धरुणं दिवः'

ऋ. १.२३.१३

आङ्गिरस - (१) अंग अंग में व्यापक प्राण (२) लोकों में रस या परम बल रूप से विद्यमान ।

'बृहस्पतिराङ्गिरसो हविष्मान्'

ऋ. ६.७३.१, अ. २०.९०.१

(३) अथर्ववेद का विद्वान्

'सं गोभिराङ्गिरसो नक्षमाणः'

ऋ. १०.६८.२, अ. २०.१६.२

आङ्गिरसः हिरण्यस्तूयः - अंगिरस का पुत्र तथा अर्चन का पिता हिरण्यस्तूप ।

'हिरण्यस्तूयः सवितर्यथा त्वा
अङ्गिरसो जुह्वे वाजे अस्मिन्'

ऋ. १०.१४९.५, नि. १०.३३.

हे सविता । जिस प्रकार अङ्गिरस के पुत्र तथा मेरे पिता हिरण्य स्तूप ने अन्न निमित्त यज्ञ में आमन्त्रित किया.... ।

आङ्गिरसी - (१) अंगों में रस बल और धातु की पोषक ओषधि ।

'आथर्वणीराङ्गिरसीः'

अ. ११.४.१६

(२) अथर्व वेद का विद्वान् विज्ञानी ।

'याः कृत्या आङ्गिरसीः'

अ. ८.५.९

(३) अंग या शरीर मे रस को उत्पन्न करने वाली, या अंगिरा (अथर्ववेद के विद्वान्) की परीक्षित ओषधि ।

'या रोहन्त्याङ्गिरसीः'

अ. ८.७.१७

(४) अग्नि के उत्पन्न होने वाली पृथिवी ।

'ऊर्गस्याङ्गिरस्यूर्णम्रदा.
ऊर्जं मयि धेहि ।'

वाज.सं. ४.१०, वाज.सं.(का.) ४.४.२, तै.सं. १.२.२.२, ११.५, का.सं .२.३, श.ब्रा. ३.२.१.१४.

आङ्गूष - आङ् + घुष् + घञ् = आघोष (१) घोष, उपदेश, वेदवाणी (२) विद्वान् -दया.

'आङ्गूषो वां मघवाना जनेषु'

ऋ. ३.५८.५.

(३) स्तुति, आघोषणीय, स्तोत्र, वेद वेद सर्वत्र घोषणीय है ।

'भराम्याङ्गूष बाधे सुवृक्ति'

ऋ. १.६१.२, अ. २०.३५.२

पृषोदरादि नियम से आघोष से ही आङ्गूष हुआ है ।

'एनाङ्गूषेण वयमिन्द्रवन्तः
अभिष्याम वृजने सर्ववीराः ।
तन्नो मित्रो वरुणो मामहन्ताम्
अदितिः सिन्धुः पृथिवी उतद्यौः ।'

ऋ. १.१०५.१९, का.सं. १२.१४, नि. ५.११.

इस स्तुति से (एन आङ्गूषेण) अनुग्राहक इन्द्र से

युक्त हम (इन्द्रवन्तः) वीर पुत्र पौत्रों के साथ (सर्ववीराः) संग्राम में (वृजने) शत्रुओं को पराजित करें (अभिष्याम)। हमारे इस वचन को (तत् नः) मित्र, वरुण, अदिति, सिन्धु, पृथ्वी तथा द्यौ बार बार पालन करें या पूजें (मामहन्ताम्)।

स्वा. दयानन्द का अर्थ – इस वेद के स्वाध्याय द्वारा (एना आङ्गूषेण) श्रेष्ठ आत्मा वाले (इन्द्रवन्तः) पूर्णवीर (सर्ववीराः) हम संसार संग्राम में (वृजने) अन्तरीय और बाह्य शत्रुओं को जीतें। हमारे उस आत्मिक बल को प्राण, अपात, अन्तरिक्ष, नदी (मित्र, वरुण, अदितिः, सिन्धुः) पृथ्वी और सूर्य बढ़ावें।

(२) अगि + ऊषन् = अङ्गूष। अङ्गूष + अण् = आङ्गूष। अर्थ – विद्वान् ज्ञान बल से युक्त।

'आङ्गूषं गिर्वणसे अङ्गिरस्वत्'

ऋ. १.६२.१, वाज.सं. ३४.१६.

आङ्गूष्य – (१) विज्ञानानां भावः, भक्तिभाव।

"आङ्गूष्यं शवसानाय साम'

ऋ. १.६२.२, वाज.सं. ३४.१७.

बड़े बलशाली विज्ञानमय परमेश्वर के लिए (शवसानाय) नमस्कार रूप भक्तिभाव को (आङ्गूष्यम्) उच्चारण करो। (२) घोषणा करने योग्य, (३) कीर्त्ति जनक, (४) स्तुतियोग्य।

आचक्रिः – नित्य करने वाला परमेश्वर, इन्द्र।

'असच्च सन् मुहुराचक्रिरिन्द्रः'

ऋ. ६.२४.५

आचक्रे – फैलाता है।

'मित्रो न यो जनेष्वा
यशश्चक्रे असाम्या।'

ऋ. १०.२२.२.

जो अनन्त इन्द्र (असामि) जनों में कीर्त्ति फैलाता है (आचक्रे)

आचरण – आ + चर + ल्युट् = आचरण अर्थ –आगमन।

'ये अस्या आचरणेषु दध्रिरे
समुद्रे न श्रवस्यवः।'

ऋ. १.४८.३

जो धन की इच्छा करने वाले व्यापारी (श्रवस्यवः) इस प्रातः काल के आगमन होने पर (अस्या आचरणेषु) समुद्र में अपने जहाजों पर काबू करते हैं।

आचरण्यु – (१) सब ओर से आने वाली, (२) समस्त दिशाओं में जाने वाली, (३) सब पक्षों में लगाने वाली वेदवाणी।

'सिञ्चन्ती राचरण्यवः'

अ. २०.४८.१

आचरन्ती – आचरन्त्यौ (आचरण करती हुई)। आङ् + चर + शतृ + ङीष + औट् = आचरन्त्यौ। वैदिक प्रयोग 'आचरन्ती' ही है।

'ते आचरन्ती समनेव योषा
मातेव पुत्रं बिभृतामुपस्थे
अप शत्रून् विध्यतां संविदाने
आर्त्नी इमे विस्फुरन्ती अमित्रान्'

ऋ. ६.७५.४, वाज.सं. २९.४१, तै.सं. ४.६.६.२, मै.सं. ३.१६.३, १८५.१६, का.सं.(आश्व) ६.१, नि. ९.४०.

जो धनुष की कोटियां (आर्त्नी) समान पति वाली दो स्त्रियों के समान धनुष खींचने वाले की ओर आचरण करती रहती हैं (समना योषा इव आचरन्ती) वे जैसे माता पुत्र को गोद में धारण करती है उसी प्रकार धनुष खींचने वाले राज की रक्षा करें, और परस्पर संवाद करती हुई सी (इमे संविदाने) छटपटातीं हुई (विस्फुरन्ती) शत्रुओं को (अमित्रान्) विनष्ट करे अपविध्यताम्)। (२) सब तरफ विचरती हुई गौ।

'पिब शुद्ध मुदकमाचरन्ती'

ऋ. १.१६४.४०, अ. ७.७३.११, ९.१०.२०, का.श्रौ.सू. २५.१.१९, आप.श्रौ. सू. ९.५.४, नि. ११.४४.

आच्छत् – आच्छादन योग्य वस्त्र, (२) अन्न– आच्छन् छन्दः।

वाज.सं. १५.४,५, तै.सं. ४.३.१२.२, मै.सं. २.८.७, १११.१२, का.सं. १७.६, श.ब्रा. ८.५.२.३,४.

आच्छद्विधान – (१) चारों तरफ का प्रकोट (२) आवरण –विधान।

'आच्छद्विधानैर्गुपितः'

ऋ. १०.८५.४, अ. १४.१.५

(३) सब ओर से सुरक्षित विद्या, विधान।

(४) सत्कर्म आचरणों को रखने वाला गुरु।

(५) इन्द्रियों को सुरक्षित रखने वाला।

आचार्य - आचारंग्राहयति (जो शिष्य को आचार बताये), (२) आचिनोति (जो अर्थों का आचमन करे) (३) आचिनोति बुद्धिम् बुद्धिवा आचमन करे) ।

आङ् + चर् + ण्यत् = आचार्य । अन्तर्भावित कर्तृवाच्य में 'ऋहलोण्णिसेर्यत् से मनु कहते हैं ।

'उपनीय तु यः शिष्यं
वेदमध्यापयेत गुरु
सकल्पं सरहस्यं च
तमाचार्यं प्रचक्षते ।
आम्नाय तत्वविज्ञानात्
चराचर समानतः
यमादियोग सिद्धत्वात्
आचार्य इति कथ्यते ।'

(२) मत प्रस्थापक को भी आचार्य कहते हैं ।

आच्या - सिकोड़कर ।

'आच्या जानु दक्षिणतो निषद्य'

ऋ. १०.१५.६, अ. १८.१.५२, वाज.सं. १९.६२.

आचित - (१) तीव्र तेज से पूर्ण सञ्चित जीवन ।

'आदेधस्यान आचितम्'

ऋ. १०.८६.१८, अ. २०.१२६.१८

(२) सब तरफ से धन संचय करने वाला (३) सब प्रकार से प्रबुद्ध ज्ञानवान् (४) सब प्रकार से चेतनावान् आत्मा ।

'पूर्णरथं बहेथे मध्व आचितम्'

ऋ. १.१८२.२.

आचिता - (द्वि.व.) मित्रावरुण का विशेषण । आदर प्राप्त करने योग्य ।

'विश्वस्य यामन् आचिता जिगत्नु'

ऋ. ७.६५.१.

आजगन्तन - आगत (आया) आङ् + गम् + च्लि (लुङ् में) । श्लुवत् भाव होकर गम् का द्वित्व और अभ्यास किए जाने पर तत जोड़ा जाता है। च्लि का लोप ।

'यदुदञ्चो वृषाकपे
गृहमिन्द्राजगन्तन ।
क्वस्य पुल्वघो मृगः
कमगन् जनयोपनः
विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः'

ऋ. १०.८६.२२, अ. २०.१२६.२२, नि. १३.३.

हे भगवन् वृषाकपे ! इन्द्र ! आदित्य ! जब तू उत्तर दक्षिण की ओर परिक्रमा करता हुआ (उदञ्चः) अस्त् हो घर पर आया (गृहम् आजगन्तन) तब तेरे अस्त होने पर निरालोक संसार विस्मित हो कहता है-यह बहुत खाने वाला है (स्यः पुल्वघः) सदा चलने वाला (मृगः) कहां गया ? (क्व) लोगों को मुग्ध करने वाला (जनयोपनः) वह किस देश को चला गया (कं अगन्) कि हम उसे नहीं देख पाते । हे इन्द्र ! आदित्यक सब से बड़ा है ।

अन्य अर्थ-हे धर्म में सर्वश्रेष्ठ परमेश्वर, जब ऊर्ध्वगामी मुक्तात्मा (उदञ्चः) ब्रह्मधाम में जाते हैं (गृहम् आजगन्तन) तब तेरा वह सर्वसंहारक (पुल्वघः) तथा अन्तर्धान होने वाला स्वरूप कहां चला जाता है (मृगः कं अगन्) और तेरा जनों को मोहने वाला स्वरूप किस देश में चला जाता है ? जो आदित्य स्वरूप परमेश्वर सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में उत्कृष्ट है ।

आजगन्था - आ + गम् के लोट् म.पु.ब.व. का रूप है । अर्थ है-आ. ।

'परावत आजगन्था परस्याः'

ऋ. १०.१८०.२, साम. २.१२२३, वाज.सं. १८.७१, का.सं. ८.१६.

हे इन्द्र ! तू द्युलोक के (परस्याः) उस शूर के स्थान से (परावतः) आ (आजगन्था) ।

आजग्मुः - आगच्छत (आओ) । प्रार्थना मे लोट् के अर्थ में लिट् का प्रयोग । पुरुष में व्यव्यय (गड़बड़ी) आर्ष है । मध्यम पुरुष बहुवचन के बदले प्रथम पुरुष बहुवचन का प्रयोग हुआ है।

'सुगावो देवाः सदना अकर्म
य आजग्मुः सवनमिदं जुषाणाः ।
भरमाणा वहमाना हवींषिं
अस्मे धत्त वसवो वसूनि स्वाहा'

वाज.सं. ८.१८. श.ब्रा. ४.४.४.१०.

हे वसुनायक देवो, (वसवः) आप सभी इस यज्ञ में (इदं सवनम्) प्रेम के साथ (जुषाणाः) आवें (आजग्मुः) । हम ने आपके लिए सुगम सुपथ (वःसुगाः सुपथाः) बना दिए हैं (अकर्म)। अतःइस यज्ञ में हवियों को खाकर (जक्षिवांसः)

तथा सोम रस का पान कर (पपिवांसः) हमें (अस्मे) धनों को दो (वसूनि धत्त) ।

आजघान - मरा, छिन्न भिन्न किया ।

'उच्चैरिन्द्रो अपगूर्या जघान'

ऋ. ५.३२.६

इन्द्र ने वज्र ऊंचा उठाकर वृत्र को मारा या सूर्य ने मेघ को छिन्न भिन्न किया अथवा राजा चोर व्यभिचारी आदि को डरा धमका दण्डित करे ।

आजङ्घ्नन्ति - मारते हैं ।

'आजङ्घ्नन्ति सान्वेषां'

ऋ. ६.७५.१३, वाज.सं. २९.५०, तै.सं. ४.६.६.५, मै.सं. ३.१६.३ः १८७.६, का.सं. (अश्व.) ६.१, नि. ९.२०.

आजनुषः - जन्म से लेकर ।

'विश्वस्मात् आजनुषो वेदसस्परि'

ऋ. २.१७.६

आजमीढ - धनाढ्य पुरुष ।

'सधस्तुतिम् आजमीढासो अग्मन्'

ऋ. ४.४४.६, अ. २०.१४९.९

आज्य - (१) तेज- तेजो वा आज्यम् (२) वज्र - वज्रो वा आज्यम् (३) रण में शत्रु पर आक्रमण (४) हवि ।

आज्यया - (१) विजय साधक शस्त्रास्त्रों का पालक, (२) आज्य का पालक देव ।

'यत्र देवानामाज्यपानाम् प्रिया यामानि'

वाज.सं. २१.४६, मै.सं. ४.१३.७, २०८.१५, का.सं. १८.२१, तै.ब्रा. ३. ६.११.३.

आजा - अजन्ति संगच्छन्ते वीराः शत्रुभिः यस्मिन् (जिसमें वीर चलते हैं) संग्राम ।

'आजा न इन्द्र मनसा पुरुष्टुत'

ऋ. १.१०२.३

आजात - (१) स्वरूप ।

'महान् गर्भो आजातमेषाम्'

ऋ. ३.३१.३

(२) और अधिक प्रकृट ।

'इत आजातो अमुतः कुतश्चित्'

ऋ. १.१७९.४.

आजान - (१) समस्त जनों के करने योग्य कर्म -दया. (२) सर्वतः उत्पन्न -सा. (३) सृष्टि की आदि में उत्पन्न आजान देवसूर्य आदि ।

'तन्मर्त्यस्य देवत्वमाजानमग्रे'

वाज.सं. ३१.१७, का.सं. ३९.२.

(४) आजानम् आज्ञापनम् -दया. (५) ज्ञान करने वाले व्यवहार का निर्णय (६) आज्ञापन, (७) राजनियम ।

'काव्ययोराजानेषु क्रत्वा दक्षस्य दुरोणे'

वाज.सं. ३३.७२, शां.श्रौ.सू. ७.१०.११.

आजानिः - उत्तम या नवीन शक्ति को उत्पन्न करने वाली-माता के समान दशा (२) सब ओर से प्रसिद्ध -(दया.) ।

'तिस्र आजानीरुषसस्ते अग्ने'

ऋ. ३.१७.३, तै.सं. ३.२.११.२, मै.सं. ४.११.१, १६१.१२, का.सं. २.१५.

आजयमाना - (१) पूर्व विद्वानों से संस्कृत जाया, (२) सब प्रकार से प्रकट होती हुई ।

'दिवश्चिदा पूर्व्या जायमाना'

ऋ. ३.३९.२

आजासः - (१) अजासः -बकरे (२) घोड़े-दुर्ग, (३) सूर्य की क्षिप्त प्रक्षिप्त होने वाली किरणें । -(दया.)

अज धातु गति और क्षेपण अर्थ में आता है । अज् + अच् = (अज जो सदा चलता है) । अज + जस् = अजासः । वेद में जस् का असुक् हो जाता है ।

अजन्ति अनवरतं गच्छन्ति (जो सदा चलते हैं), अथवा सर्वतः तमः विक्षिपन्ति (सर्वत्र अन्धकार फैलाते हैं) । पूषन् देवता का वाहन अश्व ही अधिक उपयुक्त अर्थ जान पड़ता है ।

आ + अजास = आजासः । आ उपसर्ग का सम्बन्ध क्रिया से है -

'आजासः पूषणं रथे
निशृम्भास्ते जनश्रियम् ।
देवं वहन्तु बिभ्रतः ।'

ऋ. ६.५५.६, नि. ६.४.

अविश्रान्त भाव से वहन करने वाले अश्व (निशृम्भाः अजासः) जीवों के आश्रयभूत देवता पूसन् को रथ में लेकर लावें ।

अन्य अर्थ-वे अविश्रान्त गति से रसंहारिणी तथा क्षिप्त तथा प्रक्षिप्त होने वाली सूर्य की किरणें (ते विश्रम्याः अजासः) प्राणियों के आश्रय या शोभायमान प्रकाशक तथा पोषक सूर्य को (जनश्रियं देवं पूषणम्) द्युलोक रूपी रथ में

धारण करती हुई (रथे बिभ्रतः) सर्वत्र पहुँचा रही हैं (आ वहन्तु)।

आज्ञाता - आज्ञा देने वाला अध्यक्ष।

'त्वमाज्ञाता त्वमिन्द्रासि दाता'

ऋ. १०.५४.५.

आजिः - पु.। 'आजयनः' या आजवन। यह विजय दिलाने वाला है। अर्थ - संग्राम। आ + जि = आजिः।

'न्यक्रन्दमन् उपयन्त एनम्
अमेहयन् वृषभं मध्य आजेः
तेन सूभर्वं शतवत्सहस्रम्
गवां मुद्गलः प्रधने जिगाय।'

ऋ. १०.१०२.५, नि. ९.२३.

मुद्गल कहता है -मुद्गल ने शकट में एक बैल के स्थान में एक काठ का मुद्गर ही जोत दिया। और उसी से युद्ध मे हजारों जीवों को जीत लिया। समीप जाते हुए मनुष्य (उपयन्तः) जिस इस वृषभ को जोर से क्रन्दन कराया अर्थात् फुत्कार कराया (न्यक्रन्दयन्) और इस वृषभ ने भी संग्राम के मध्य में विश्राम के लिए मूत्र पुरीषोत्सर्ग किया (अमेहयन्)। उस वृषभ से सुन्दर (सुभर्वम्) सौगुना सहस्रगाएं (शतवत् सहस्रम्) मैं मुद्गल के संग्राम में (प्रधने) जीता। अन्य अर्थ संग्राम में यह सैनिक (आजेः मध्ये उपयन्तः) इस सांढ को उच्च शब्द के साथ शब्दायमान करते हैं (एनं वृषभं न्यक्रन्दयन्) और फिर शत्रुओं के ऊपर उसे बरसवाते हैं एवं उस सांढ के द्वारा सात्विकान्नभोजी, जितेन्द्रिय निरभिमान या हर्ष शोक में समचित्त राजा (मुद्गल) युद्ध में (प्रधने) धनापहारक या प्रजाभक्षक शत्रु राजा को (सूभर्वम्) तथ गाय आदि अनेक उत्तमोत्तमे पदार्थों को (गवं शतवत् सहस्रम्) जीतता है (जिगाय)।

(२) परमसीमा, (३) मोक्षपद, (३) परब्रह्म।

'मा त्वा दभन् परियान्तमाजिम्'

अ. १३.२.५

(४) अन्तिम लक्ष्य, (५) परमात्मा रूप।

'अभ्यर्चत सुष्टुतिं गव्यमाजिम्'

अ. ७.८२.१

आजिकृत् - युद्ध करने में कुशल।

'यदाजिं याति अजिकृत्'

ऋ. ८.४५.७

आजितुर् - संग्राम में शत्रुओं का नाश करने वाला।

'आजितुरं सत्पतिम् विश्वचर्षणिम्'

ऋ. ८.५३.६

आजुह्वन्ति - पुकारते हैं, आह्वान करते हैं।
आङ् + हु + झि = आजुह्वन्ति

आजुह्वान् - आहूयमान। स्कन्दस्वामी के मत से अग्नि शरणार्थियों में बुलाया जाता है (आहूतः शरणार्थिभिः यातः प्राप्तः अर्थिभिः)। इस प्रकार 'आजुह्वान्' दो धातुओं ('हू' और 'या') के योग से वना है। आङ् + या + हू + क + शानच् (वाहुलक नियम से) = आजुह्वान्। औरों के मत से आङ् + हू + शानच = आजुह्वान् होता है। भली प्रकार से हूयमान होता है।

'आजुह्वान ईड्यो वन्द्यश्च
आ याह्यग्ने वसुभिः सजोषाः
त्वं देवानामसि यह्व होता
स एनान् यक्षीषितो यजीयान्।'

ऋ. १०.११०.३, अ. ५.१२.३, वाज.सं. २९.२८, मै.सं. ४.१३.३, २०१.१४, का.सं. १६.२०, तै.ब्रा. ३.६.३.२, नि. ८.८.

हे भगवत् अग्ने! तू आ, क्योंकि तू प्रार्थनीय (ईड्यः) और सभी के स्तोतव्य हैं (वन्द्यश्च)। वह तू आहूत होकर (आजुह्वानः) वसु नामक देवों के साथ आ (वसुभिः सजोषाः आयाहि) क्योंकि हे प्रार्थनीय तथा महान् (यह्वः) तू देवों का होता है, वह तू हम लोगों से अधिषित होकर (स इषितः) इन देवों को हवि से पूज (एनान् यक्षि)। तू हम से बढ़कर यष्टा है (यजीयान्)। अन्य अर्थ-हे यज्ञाग्नि! तू हवि से भली प्रकार हूयमान है और गृहस्थों से एक साथ सेवनीय है (वसुभिः सजोपाः), अतः प्रशस्य या यज्ञ शाला में संदीप्य और आदर के योग्य (ईड्यः वन्द्यश्च) हमें प्राप्त हो। हे महान् गुण वाला यज्ञाग्नि तू उत्तम पदार्थों का दाता है (देवानां होता असि)। वह तू हमसे प्रेरित हो या आदर पूर्वक नियुक्त हो अधिक दाता होती हुई उन उत्तम पदार्थों को प्राप्त करा (एनान्.यक्षि)।

(२) आहुति दिया गया

'आजुह्वानस्य मीढुषः'

ऋ. ७.१६.३. तै.सं. ४.४.४.५, का.सं. ३९.१५.

आजोहुवाना - आदर पूर्वक आमन्त्रित की गई -बुलाई गई उषा कन्या ।

'पितृभ्य आदसने जोहुवाना'

ऋ. ५.४७.१

आज्ञन - (१) नीलाञ्जनादि मणि जो चित्रकूट पर होता है और जिससे आज्ञन बनता है ।

'आञ्जनस्य मदुघस्य कुष्ठस्य नलदस्य च'

अ. ६.१०२.३

(२) ज्ञान का प्रकाश आञ्जन

'तदाञ्जनं त्वं शतांते'

अ. १९.४४.१

आञ्जनगन्धि - आञ्जन अर्थात् आत्मा पर आए हुए रजो विकार के लेप को नाश करने वाली वनस्थ वृत्ति ।

'आञ्जनगन्धिं सुरभिम्'

ऋ. १०.१४६.६, तै.ब्रा. २.५.५.७.

आञ्जनं सर्पिः - (१) शरीर पर मलने योग्य घृत (२) घृतमिश्रित आञ्जन ।

'आञ्जनेन सर्पिषा संस्पृशन्ताम्'

अ. १२.२.३१

आञ्जनीकारी - आञ्जन लगाने वाली सुशीला स्त्री ।

'शीलायाञ्जनीकारीम्'

वाज.सं. ३०.१४, तै.ब्रा. ३.४.१.१०.

आट्णार - अटनशील । भृशम् अत्यर्थं अटति यः सः (जो बहुत घूमे) । अट् + यूणारञ् (औणादिक प्रत्यय) = आट्णार । लोपो व्योर्वलि से य का लोप और 'अचोऽञ्णिति' ञित प्रत्यय परे रहने से अट् के अ की वृद्धि । अटन + आरक् (शील अर्थ में) = आट्णार । आज भी उस बैल या गाय को जो दिनरात घूमा करते हैं 'अनेरिया' कहा जाता है ।

आडम्बराघात - (१) आडम्बर पूर्वक बाजों को बजाने वाला, (२) कोलाहल करने वाले को दण्ड देना ।

'शब्दायाडम्बराघातम्'

वाज.सं. ३०.१९, वाज.सं.(का.). ३४.१९.

आण्ड - अमन्ति रोगान् कुर्वन्ति इति आण्डानि । अम + ड = आण्ड । अर्थ (१) अण्डा, (२) रोगकारी संयोगी अंश ।

'शुष्णस्याण्डानि भेदति'

ऋ. ८.४०.१०

(३) प्रजनन कोष । दुर्ग के मत से प्रार्दक को आण्ड कहा गया है । जिस का अण्ड कोष बढ़ जाता है वह उसे कटवा कर छोटा करता है (प्रकर्षेण अर्दयति) इसलिए वह प्रार्दक कहा जाता है । वही आण्ड भी है ।

आधुनिक अर्थ - (१) अण्ड से उत्पन्न आण्ड, (२) हिरण्यगर्भ का विशेषण (३) अण्डों का समूह, (४) अण्डकोष (५) गर्भगत बालक ।

'आण्डा मा नो मघवन् शक्र निर्भेत्'

ऋ. १.१०४.८

हे परमेश्वर ! हमारे गर्भगत सन्तानों को नष्ट न कर ।

आण्ड्य - अण्डकोश

'उभे भिनत्वाण्ड्यौ'

अ. ६.१३८.२

आण्डाद् - बालक के अण्डकोष भाग को खा जाने वाला कीट ।

'आण्डादो गर्भान् मा दभन्'

अ. ८.६.२५

आणिः - (१) कीला ।

'गन्तम् निधिं धुरमाणिर्न नाभिम्'

ऋ. ५.४३.८

अरणात् (ऋ गत्यर्थक) । अण् धातु का अर्थ भी जाना है । अण् + इण् (करण में) = आणि । णित् प्रत्यय परे रहने से अण् के अ की वृद्धि । अथवा - न अणति अनेन इत आणिः (जिससे निकले नहीं) रथ का पहिया धुरा से न निकल सके । इस हेतु पहिया को एक कील लगायी जाती है जिसे आणि कहते हैं ।

'आणिराणिवदक्षाग्र कीलाश्रिसीमसुद्वयोः- मेदिनीकोष'

आधुनिक अर्थ-गाड़ी की धुरा की कील, (२) घुटने के ऊपर का पैर का भाग, (३) सीमा, (४) तलवार की धार

आण्डीक - बड़ा कमल ।

'नाण्डीकं जायते बिसम्'

अ. ५.१७.१६

(२) आण्डाकार ।

'आण्डीकं कुमुदं संतनोति'

अ. ४.३४.५

आत् – (अ.) अनन्तर, तुरत, अब

'तत् सूर्यस्य देवत्वं तन्महित्वम्
मध्याकर्तोर्विततं सं जभार ।
यदेदयुक्तहरितः सधस्थात्
आद्रात्री वासस्तनुते सिमस्मै ।'

ऋ. १.११५.४, अ. २०.१२३.१, वाज.सं. ३३.३७, मै.सं. ४.१०.२, १४७.१, तै.ब्रा. २.८.७.१, वै.सू. ३३.६, नि. ४.११.

सूर्य का वही देवत्व है और वही महत्व है कि वह किए जाते हुए कर्मों के मध्य में ही (कर्तोः मध्या) अपने विस्तीर्ण किरण जाल को अपने से खींच लेते हैं (विततं संजभार) और जभी (यदेत्) इस खींचने वाली रश्मियों को इस लोक से (हरितः सधस्थात्) वियुक्त करते हैं या इस लोक से हटा दूसरे लोक में फैलाते हैं (अयुक्त) वैसे ही तुरत (आत्) रात्रि (रात्री) सभी के लिए (सिमस्मै) अन्धकार विस्तृत कर देती है (तनुते) ।

हरित् का अर्थ घोड़ा और सधस्थ का अर्थ कुछ विद्वानों ने रथ भी किया है। उस दशा में–ज्योंही सूर्य अपने रथ से अश्वों को हटाते हैं ।

आत् उ – (१) उस समय – दया. (२) अनन्तर ।

'उत स्वसारा युवती भवन्ती
आदु ब्रुवाते मिथुनानि नाम'

ऋ. ३.५४.७

उस समय स्वकीय परिधियों में परस्पर घूमते हुए सूर्य और पृथ्वी दिन और रात के जोड़े बनाते हैं । –द. ।

दो बहनों के समान युवतियों सी द्यौ और पृथ्वी जोड़े नामों वाली परस्पर बोलती हैं ।–सा. ।

आत – आचार, व्यवहार, चाल, बराबर चलने वाला, आने जाने वाला ।

'विपक्षोभिः श्रयमाणा उदातैः'

वाज.सं. २९.५, तै.सं. ५.१.११.२, मै.सं. ३.१६.२, १८४.६, का.सं.(अश्व) .६.२.

आतत – आ + तन् + क्त = आतत । फैला हुआ (२) विस्तृत, (३) व्यापक ।

'यजाततमव तत् तनु'

अ. ७.९०.३

पुनः–

'उग्रं विनषदाततम्'

अ. २०.१३२.६, शा.श्रौ.सू. १२.१८.१४.

आततर्द – आतृणत्ति –आभिनत्ति । भेदन करता है । लट् के अर्थ में लिट् का प्रयोग । आङ् + तृद् + णल् = आततर्द ।

'ऋतस्य हि शुरुधः सन्ति पूर्वीः
ऋतस्य धीतिर्वृजिनानि हन्ति ।
ऋतस्य श्लोको बधिराततर्द
कर्णा बुधानः शुचमान आयोः'

ऋ. ४.२३.८, आश्व.श्रौ.सू. ९.७.३६, नि. ६.१६, १०.४१.

मध्यम ऋतदेव के पूर्वकाली जल हैं, ऋतदेव की स्तुति उदक दान द्वारा अकाल नष्ट करती हुई वर्जनीय अयशस्कर पापों का विनाश करती है (वृजिनि हन्ति) क्योंकि अकाल पड़ने पर क्षुधार्थी अनेक पाप करते हैं । ऋतदेव का अत्यन्त महान् श्लोक अर्थात् स्तुति वचन (श्लोकः) बोधित करता हुआ तथा चमकता हुआ (शुचमानः) मनुष्य के बधिर कानों को भी छेद डालता है । (आयोः बधिरा कर्णा आततर्द) ।

आतता – व्याप्त ।

'तत्रा मे नाभिरातता'

ऋ. १.१०५.९

आततान – आतनोति –सर्वतः विस्तारयति (सभी ओर विस्तृत करता है) । वर्तमान के अर्थ में लिट् का प्रयोग ।

'सूर्य इत ज्योतिषापस्त तान'

ऋ. ४.३८.१०, १०.१७८.३, तै.सं. १.५.११.४, ऐ.ब्रा. ४.२०.३०, कौ.ब्रा. २५.८, नि. १०.२९, ३१.

आतन्वान् – धनुष पर डोरी तानने वाला ।

'नम आतन्वानेभ्यः प्रति दधानेभ्यश्च वो नमः'

वाज.सं. १६.२२, तै.सं. ४.५.३.२, मै.सं. २.९.४, का.सं. १७.१३

आतपः – सब प्रकार से तपस्वी ।

'घृणा वरन्त आतपः'

ऋ. ५.७३.५

आतप्य – (१) सूर्य के ताप का उत्तम उपयोग, (२) विज्ञान वेत्ता ।

'नमो वीध्याय चातप्याय च'

वाज.सं. १६.३८, का.सं. १७.१५, मै.सं. २.९.७ ,

१२५.१४

आतस्थौ - निवास करती है ।

'आयस्मिन् तस्थौ सुरणानि बिभ्रती
सचा मरुत्सु रोदसी ।'

ऋ.५.५६.८,नि.११.५०

जिस मेघ में जलों को धारण करती हुई (सुरणानि बिभ्रती) मरुतों के साथ रहने वाली (मरुत्सु सचा), मरुतों की निर्मात्री, रुद्र या वायु की पत्नी माध्यमिका देवी अर्थात् विद्युत् (रोदसी) निवास करती हैं (आतस्थौ) ।

आतस्थिवांसा - विराजमान ।

'समानं चित् रथमातस्थिवांसा'

ऋ.२.१२.८,अ.२०.३४.८

आत्मदा - शरीर में जीवात्मा को पहुँचाने वाला प्रभु ।

'य आत्मदा बलदा यस्य विश्व

ऋ.१०.१२१.१, अ.४.२.१,१३.३.२४.

आत्यदूषिः - चित्त में विकार उत्पन्न करने वाला

'म्राको मनोहा खनो निर्दाह आत्मदूषिस्तनूदूषि'

अ. १६.१.३

आत्मन् - (१) अत + मनिन् =आत्मन् । 'अचो ञ्णिति' से अप्र की वृद्धि । 'अत' धातु सतत गमन के अर्थ में है अतः 'आत्मन्' का अर्थ हुआ सदा गमनशील अथवा 'सर्वमेव तेन अतितम्' (उससे सब कुछ व्याप्त है) ऐसी कोई चीज नहीं है जिसमें आत्मा व्याप्त न हो ।

(२) आप् + मनिन् = आत्मन् (प का पृषोदरादवत् त) । अर्थ-जो सबको प्राप्त करे या सब में व्याप्त हो । सर्वव्यापी होने पर भी जहा तक कार्य कारणस्थ हो व्याप्त रहता है वहां तक ही वह आत्मा ज्ञातव्य है । 'आत्म इव' अर्थात् कार्यकारण सम्बन्ध होने पर जहां व्याप्त होता है वहीं उसकी चैतन्य शक्ति लक्षित होती है ।

'पदि मा वाजयन्नहमोषधीर्हस्त आदधे
आत्मा यक्ष्मस्य नश्यति पुराजीवगृभोयथा ।'

ऋ.१०.९७.११,वाज.सं.१२.८५,मै.सं.२.७.१३, ९३.१७

जब मैं (यत् अहम्) इन ओषधियों की स्तुति करता हूँ (वाजयन्), हाथ में रखता हूँ (हस्ते करोमि) तो ओषधि प्रयोग करने के पूर्व ही (पुरा) यक्ष्मा रोग का आत्मा नष्ट हो जाता है जैसे मारने वाले के द्वारा मारे जाने के पूर्व ही दैव से जीव नष्ट हो जाय ।

आत्मन्वत् यक्ष्मम् - जीवात्मा के साथ विद्यमान ब्रह्म तत्व ।

'तस्मिन् यत् यक्ष्ममात्मन्वत्'

अ.१०.२.३२,८.४३.

आत्मन्वत् - (१) आत्मा का अधीनभूत देह ।

'तदात्मन्वत् चरत्यप्स्वन्तः'

अ.४.१०.७

(२) आत्मशक्ति से सम्पन्न पुरुष ।

'प्राणेनात्मन्वतां जीव'

अ.१९.२७.८

(३) अपने जनों में युक्त, (४) दृढ़, (५) आत्मायुक्त देह ।

'आत्मन्वन्तं पक्षिणं तौग्र्याय कम्'

ऋ.१.१८२.५

आत्मन्वती - (१) प्रशस्ताः आत्मन्वन्तः विचारवन्तः क्रियाकुशलाः पुरुषाः विद्यन्ते यस्याम् नौकायाम् सा - दया. (वह नौका जिसमें अत्यन्त प्रशस्त विचारवान् क्रियाकुशल पुरुष हों), (२) सुदृढ़ ।

'तमूहथुः नौभिः आत्मन्वतीभिः
अन्तरिक्षप्रुद्भिः अपोदकाभिः'

ऋ.१.११६.३, तै.आ.१.१०.२.

जिस प्रकार दो नाविक प्रशस्त विचार वान् पुरुषों वाली या सुदृढ़ (आत्मन्वतीभिः) जल के अवकाश पर चलने वाली (अन्तरिक्ष प्रुद्भिः) पानी को भीतर न जाने देने वाली (अपोदकाभिः) नावों से (नौभिः) पार उतार देते हैं ।

(२) आत्मशक्ति से युक्त ।

'आत्मन्वती उर्वरा नारीयमागन्'

अ.१४.२.१४

आत्मपराजित - अपने ही व्यसनों से पराजित ।

'पाप आत्मपराजितः'

अ.५.१८.२

आत्मसनि - (१) अपने देह में बल धारण करने वाला, (२) राजा के भोग योग्य ।

'आत्मसनि प्रजासनि
पशुसनि लोक सन्यभयसनि'

वाज.सं. १९.४८,मै.सं. ३.११.१०, १५६.१७ का.सं. ३८.२२, तै.ब्रा. २.६.३.५ ,शां.ब्रा. १२.८.१.२२,

शां.श्रौ.सू. ४.१३.१, आप.श्रौ.सू. ६.११.५.

आता - दिशा ।
'प्र ये द्विता दिवऋञ्जन्त्याता'
ऋ.३.४३.६
'अतिष्ठिपो दिव आतासु बर्हणा'
ऋ १.५६.५

आत्ताम् - खावें ।
'होता यक्षदश्विनौ
छागस्य हविष आत्ताम्'
वाज.सं.२१.४३,मै.सं. ४.१३.७:२०८.३ तै.ब्रा. ३.६.११.१.
छाग के हवि खावें ।

आचित - फैला हुआ ।
'परि ग्राममिवाचितम्'
अ. ४.७.५

आतिरत् - आ+ अतिरत् = आतिरत् । अर्थ है- दूर करता है । लट् के अर्थ में लङ् का प्रयोग हुआ है ।
'इन्द्रः पूर्भिदातिरत् दासमर्कैः'
ऋ.३.३४.१, अ.२०.११.१ ऐ.ब्रा. ६.१८.२,१९.३ गो.ब्रा. २.४.२, वै.सू. ३१.२५.
शत्रु नगरों का भेदन करने वाला इन्द्र प्रकाश या वेदज्ञान से अन्धकार या पापान्धकार को दूर करता है (आअतिरनत्) ।

आतिः - गृहपत्नी ।
'ता आतयो न तन्वः शुम्भतस्वा'
ऋ.१०.९५.९.

आतिथ्य - (१) अतिथि सत्कार ।
'आतिथ्यमस्मै चकृमा सुदाव्ने'
ऋ.१.७६.३
(२) एक प्रकार की इष्टि ।
'आतिथ्यरूपं मासरं'
वाज.सं. १९.१४

अतिथिग्व - अतिथि के आदर सत्कारार्थ वाणी को विनय पूर्वक प्रयोग करने वाला ।
'सुरथां आतिथिग्वे'
ऋ.८.६८.१६

आतुज् - (१) सब प्रकार के बल प्राप्त करने और कराने वाला, (२) सर्वतः पालक ।
'कृणुध्वं राय आतुजे'
ऋ.७.३२.९

आतुच् - सब ओर सन्तापित करने वाला सूर्य ।
'यन्मध्यंदिन आतुचि'
ऋ. ८.२७.२१

आतुर - रोगी, निर्बलपुरुष ।
'येन हिन्वन्ति आतुरम्'
अ. ६.१०१.२

आतृद् - (१) शरीर की हंसलियों का मोहर ।
'पुरा जत्रुभ्य आतृदः
ऋ.८.१.१२, अ.१४.२.४७, साम.१.२४४, पंच.ब्रा.९.१०.१, तै.आ.४.२०.१, का.श्रौ.सू. २५.५.३०. आप.मं.पा.१.७.१.
(२) छिद्र

आतोदिनौ - जीव और मन का विशेषण । मृत्य काल में शरीर से निकलते समय समस्त शरीर में व्यथा उत्पन्न करने वाले
'आतोदिनौ नितोदिनौ'
अ. ७.९५.३

आथर्वणा - (१) अश्विद्वय, (२) हिंसा न करने वाले ।
'आथर्वणायाश्विना दधीचे
अश्व्यं शिरः प्रत्यैरयतम् ।'
ऋ.१.११७.२२
हे अश्व सेना और विद्वत्सभा के स्वामी, वीर सेना विद्वत्सभा के नायक अध्यक्षो ! आप दोनों न हिंसा करने वाले (आथर्वणा) प्रजापालक और शान्ति-विधायक प्रजा पति के पद पर काम करने वाले, राष्ट्र को धारण करने में सामर्थ्य को प्राप्त किए हुए विद्वान् बलवान् पुरुष को ही (दधीचे) अश्व सेना और राष्ट्र का मुख पद प्रदान करो (अश्व शिरः प्रत्यैरयतम्)।

आथर्वण - (१) ज्ञान का धारण करने वाला अथर्व वेद का ज्ञाता, (२) किसी प्रकार की हिंसा न करने वाला शमादियुक्त माता पिता, (३) प्रजापालक विद्वान् गुरुओं का शिष्य, (४) अहिंसकस्य अपत्यम् (अहिंसक का सन्तान) । - (दया.)
'दध्यङ् ह यन्मध्वाथर्वणो वाम्
अश्वस्य शीर्ष्णा प्र यदीमुवाच ।'
ऋ. १.११६.१२.
मै धारण योग्य ऐश्वर्यों को प्राप्त राजा (दध्यङ्) किसी प्रकार भी हिंसा न करने वाले शमादि

युक्त माता पिता औ प्रजापालक विद्वान् गुरुओं का शिष्य होकर (आथर्वणः) आप दोनों स्त्रीपुरुषों वर्गों को (वाम्) ज्ञान और ऐश्वर्य प्राप्त करने के लिए अश्वसैन्य या भोक्ता राजा होने के मुख्य अधिकार से (अश्वस्य शीर्ष्णा) अति उग्र प्रबल अज्ञान और पाप के नाशक ज्ञान और दण्ड प्रयोग का भी उपयोग करूं ।

अथवा, जैसे ज्ञान को धारण करने वाला अर्थर्ववेद का ज्ञाता विद्वान् (आथर्वणः) तुम दोनों को सकल विज्ञान के पारंगत आचार्य के मुख्य पद से (अश्वयस्य शीर्ष्णा) मधुर आनन्द जनक ज्ञान का प्रवचन करता है। (४) कूटस्थ परमात्मा का ध्यान करने वाला (६) ब्रह्म का उपासक ।

'प्रजापतिर्वा अथर्वा
अग्निदेव दध्यङ् आथर्वणः'

तै.सं. ५.६.६.१३

'आथर्वण स्तुहि देवं सवितारम्'

अ.६.१.१

(७) वह बन्धन जिसमे जीव का घात नहीं किया जाना ।

'आथर्वणमसि व्याघ्रजम्भनम्'

अ.४.३.७

आथर्वणी - अथर्वा अर्थात् आत्मा की शक्ति को बढ़ाने वाली आथर्वणी ओपधि ।

'प्राथर्वणी राङ्गिरसीः'

अ.११.४.१६

आद् - आ + अद् = आद् । अर्थ सर्प-विष को मुख में चूसने क्रिया ।

'विषं ह्यस्यादिष्यथो एनमजीजभम् ।'

अ. ७.५६.५

आद - अद् (भोजन करना) + घ = अद । अर्थ -भोजन करने वाला, भोक्ता ।

'अष्टमहो दिव आदो हरी इह'

ऋ.१.१२१.८

आदघ्नः,आदघ्नासः - आस्यदध्ना एव आदघ्ना । आस्य + दघ्नच् = आदघ्न, । बहुवचन में आदघ्नासः बोध होता है । वेद में अकारान्त शब्दों के बाद जस् का असुक् हो जाता है । क्षेपणार्थक् अस् + ण्यत् = आस्य । अर्थ है- 'मुख' क्योंकि मुख में भोजनार्थ अन्न आदि डाला जाता है । दध् (स्ववणार्थक) यास्क के अनुसार दिवादि धातु है । दघ् + नन् (औणादिक कर्म अर्थ में) = दघ्नन् ।

अथवा दस् (अक्षयार्यक) + नन् (स् का घ्) = दघ्नन् अर्थात् विदस्ततर या उपक्षीणतर । जैसै मुख के ऊपर जल आजाय तो आदमी डूब जाय ।

आददन्त - आधारयन्त (रखा, धारण किया) आङ् + दद् (वेद में धारण अर्थ में प्रयुक्त) + लङ् का झि = आददन्त ।

आदसनः - लेता हुआ ।

'तामाददानस्य ब्रह्मगवीम्'

अ. १२.५.६

आददिः - (१) प्राप्त करने वाला ।

'य आददिः स्वर्नृभिः'

ऋ. ८.४६.८

(२) सब पदार्थों को अपने में ग्रहण करने में समर्थ-अग्नि , (३) राजा ।

आदधिरे - रखा । आङ् + धा + लिट् (प्र.पु.ब.व.) + इरच् = आदधिरे ।

'अयं यो होता किरु स यमस्य
कमप्यूहे यत् समञ्जन्ति देवाः
अहरहर्जायते मासि मासि
अथा देवा दधिरे हव्यवाहम् ।'

ऋ.१०.५२.३, नि. ६.३५.

यह पृथ्वी स्थानीय अग्नि देवों का होता है। वह भगवान् आदित्य का कर्त्ता है (स उ यमस्य किः) और अन्न भी ढोता है (कम् अपि ऊहे) जिसे देवता लोग खाते हैं (यत् देवाः समञ्जन्ति)। यही अग्नि प्रति दिन उत्पन्न होता और आधे आधे महीने पर भी दर्शपूर्ण मारने में देव और पितर के यज्ञों में भी उत्पन्न होता है । इसी लिए हव्य ढोने वाले अग्नि को (हव्यवाहम्) देवताओं ने रखा (आदपि दे ।)

अन्य अर्थ - यह जो हव्य साधक अग्नि है वह शुद्ध वायु का कर्त्ता है (यमस्याकिः)। यह अग्नि सुख कारी अन्न प्राप्त कराता है । (कम् अपि अहे), जिसे आचार्य लोग प्राप्त करते हैं (यत् देवाः समञ्जन्ति) । यह यज्ञाग्नि प्रतिदिन प्रतिमा से पैदा होता है और आर्यलोग हव्यवाह् अग्नि को सदा धारण करते हैं (देवाः

आदधिरे) ।

आदधे - रखता हूं ।

'ओषधीर्हस्त आदधे'

ऋ. १०.९७.११, वाज.सं. १२.८५, तै.सं. ४.२.६.२, मै.सं. २.७,१३.९३.१७ क.सं. १.६.१३.

आदधर्ष - अभिभूत किया या कर सकता ।

'महीं देवस्य नकिरादधर्ष'

ऋ. ५.८५.६.

(कोई भी अभिभूत नहीं कर सकता ।

आदर्ता - आदरपूर्वक स्वीकार करने वाला

'आदर्ता वज्रं स्थविरं न भीमः'

ऋ. ४.२०.६

आदर्दिरः - सब को छिन्न भिन्न करने वाला ।

'आदर्दिरो भुवना दर्दरीमिः'

ऋ. ८.१००.४

'आदर्दिरासो अदर्योन विश्वहा'

ऋ. १०.७८.६.

आदर्दृहि - आदर युक्त कर, बढ़ा ।

'आ नो गोत्रा दर्दृहिगोपतेगाः'

ऋ. ३.३०.२१

आदर्षते - (१) आदृणाति, हिनस्ति विदीर्ण करता है, मारता है । आङ् + दृ + सिप् + ते = आदर्षते । लेट् में लोटोऽडाटौ सूत्र से आट्का आगम और छन्दसि वहु लम् से सिप् का आगम (२) पराभूत करता है । तरासना का प्रयोग आज भी काटने के अर्थ में होता है जैसे भाजी तरासता है ।

'स्तुषेय्यं पुरुवर्पसमृभ्वम्
इनतममाप्तयमाप्त्यानाम्
आदर्षते शवसां सप्तदानून्
प्रसाक्षते प्रतिमानानि भूरि ।"

ऋ. १०.१२०.६, नि. ११.२१.

स्तोतव्य (स्युषेय्यम्) बहुरूप वाले (पुरुवर्पसम्) अतिदीप्त (ऋभ्वम्) सर्वशक्तिमान (इन तयम्) महान् स्तोतव्यो में स्तोतव्य (आप्त्यानाम् आप्त्यम्) इन्द्र की स्तुति करता हूँ जो इन्द्र बल से (शवसा) सात सर्पणशील दानवों या मेघों को (सप्तदानून्) मारता या विदीर्ण करता है (आदर्षते) तथा जो अनेकों अधिकार जमाता है (प्रतिमानानि प्रसाक्षते) ।

अथवा मैं स्तोतव्य अग्नि, वायु, आदित्य, विष्णु, मित्र, वरुण आदि अनेक रूपों वाले सर्वव्यापी (ऋभ्वम्) और राजाओं के राजा परमेश्वर को (इनतमम्) तथा आप्त पुरुषों में आप्त महात्मा (आप्तयानाम् आप्तयम्) की उपासना करता हूँ जो परमेश्वर सातों ज्ञान प्रदाता इन्द्रियों को (सप्तदानून्) अपनी महिमा से पराभूत करता है (शवसा आदर्षते) और जो अनेक उपमाओं को पाता है (प्रतिमानानि प्रसाक्षते) ।

आदहन - जलती चिता ।

'क्षिप्रं वै तस्या दहनं'

अ. १२.५.४८

आदय - भोजन के योग्य ।

'यदाद्यं यदनाद्यम्'

अ. ८.२.१९

आदान - (१) एक प्रकार का पाश-सा. (२) शत्रु को पकड़ने का उपाय ।

'आदानेन संदानेन अमित्रानाद्यामसि'

अ. ६.१०४.१

आदारः - (१) समन्तात् शत्रूर्णा दारण कर्त्ता (शत्रुओं का पूर्ण रूप से नाशक प्रभाव) (३) शत्रुओं का नाशक प्रभाव ।

'आदरो वां मतीनाम्
नासत्या मतवचसा
पातम् सोमस्य धृष्णुया'

ऋ. १.४६.५

हे सदा सत्य आचरण करने वाले (नासत्या) हे प्रिय ज्ञानयुक्त वाणी बोलने वाले (महवचसा) आप दोनों को (वाम्) मननशील बुद्धिमान् पुरषों के बीच (मतीनाम्) शत्रुओं के नाश का प्रभाव और आदर हो (आदारः) । शत्रुओं को धर्षण करने वाले प्रभाव से (धृष्णुया) आप दोनों राष्ट्र ऐश्वर्य और शरीरस्थ वीर्य का (सोमस्य) पालन करो (पालम्) ।

आदारी - (१) उत्तम दारा युक्त गृह (२) शत्रुजन को आक्रमण कर छेदनभेदन करने में कुशल ।

'आदारि यथा गयम्'

ऋ. ८.४५.१३

आ द्वादशं छन्दासि - बारह संख्या तक छन्द ।

'छन्दासि च दधत आद्वादशम्'

ऋ. १०.११४.६

आदित् - आत् + इत् = आदित् । अर्थ -जुरत ही ।

'यदा ते मर्तो अनुभोग मानट्'

ऋ. १.१६७.७, १०.७.२, वाज.सं. २९.१८, वाज.सं.(का.) ३१.३०, का.सं.(अश्व) ६.३, तै.सं. ४.६.७.६, नि. ६.८.

आदित्य - (१)आदत्ते रसान् ज्योतिषां भासम् आदत्ते (जो रस प्रदान करता, जो नक्षत्रों को प्रकाश देता है) । आङ् + दा + यक् = आदित्य ।

(२) भाषा आदीप्तः (जो सर्वत्र प्रकाश से दीप्त है) । (३) आदितेः पुत्र आदित्यः (अदिति का पुत्र आदित्य)। अदिति + ण्य = आदित्य अचत्य अर्थ में । यस्येति च सूत्र से ति के इ का लोप और अ की वृद्धि । कश्यप की पत्नी देवमाता अदिति है । उसका पुत्र आदितेय ही आदित्य है । सूर्यम् आदितेयम् (ऋ.१०.८८.११) में आदितेय अदिति के पुत्र अर्थ में प्रयुक्त हुआ है ।

(४) अन देवों की स्तुति भी आदित्य के नाम से की गई है (अन्यासामपि देवानाम् आदित्य प्रवादाःस्तुतयो भवन्ति) । मित्र अर्यमन् भग, तुविजात, वरुण और अंश नामक देवता आदित्य ही समझे गए हैं ।

(५) मित्रा वरुण भी आदित्य ही माने गए हैं ।

'ता सम्राजा घृतासुती
आदित्या दानुनस्पती
सचेते अनवह्वरम् ।'

ऋ. २.४१.६, साम. २.२६२

वे दोनों संदीप्त (सम्राजा) जल बरसाने वाले (घृतासुती) अदिति के पुत्र (आदित्या) दान के स्वामी अर्थात् यजमानों की स्तुतियों तथा हवियों से सेवित (दानुनस्पती), अकुटिल यजमान को (अनह्वरम्) अमित दान से सन्तुष्ट करते हैं (सचेते) ।

(६) मित्र भी आदित्य है -

'प्रस मित्र मर्तो अस्तु प्रयस्वान्
यस्त आदित्य शिक्षति व्रतेन ।
न हन्यते न जीयते त्वोतो
नैनमंहो अश्नोत्यन्तितो न दूरात्'

ऋ. ३.५९.२, तै.सं. ३.४.११.५, मै.सं. ४.१०.२, १४६.१४, का.सं. २३.१२.

(७) वरुण भी आदित्य है

'उदुत्तमं वरुण पाशमस्मत्
अवाधमं विम ध्यमं श्रथाय ।
अथा वयमादित्य व्रतेतवा
नागसो अदितये स्याम ।'

ऋ. १.२४.१५, आ. ७.८३.३, १८.४.६९, वाज.सं. १२.१२, तै.सं. १.५.११.३, ४.२.१.४, मै.सं. १.२.१८ः २८.९, ४.१४.१७ः २४६.६, का.सं. ३.८, १६.८, श.ब्रा. ६.७.३.८ ।

(८) स्वर भी आदित्य है । सुखेन अरणः (सुख से चलने वाला) । सु + ऋ + विच् = स्वर । अथवा सुष्ठु तमासि ईखति (सम्यक् प्रकार से अंधेरा दूर करता है) । सु + ईद् = स्वर, (ई का व्यत्यय द्वारा अ) ।

अथवा - सु + ऋतः = स्वृतः । सुष्ठु भौमान् अन्तरिक्षान् च रसात् आदातुं ऋतः गतः (पृथ्वी तथा अन्तरिक्ष के रसों को लेने के लिए गया) ।

अथवा - ज्योतिषां ग्रहण क्षत्रादीनां भासम् आदातुं सुष्ठु ऋतः गतः (ग्रहों की ज्योति लेने के लिए गया) ।

अथवा -दीप्ति से सर्वत्र व्याप्त (भासासु ऋतः) = स्वर ।

(९) पृश्नियी आदित्य है वर्णः (प्रोज्ज्वलः) एनम् (आदित्यम्) अगश्नुते (व्याप्नोति) । प्रोज्ज्वल वर्ण आदित्य को व्याप्त करता है । प्र + अश् + नि = वृक्षि । कुछ विद्वान् स्पृश + नि = पृश्नि कहते हैं । इस अर्थ में पृश्नि सदा रसों को लेने वाला है (संस्पृष्टा) ।

ज्योतिमां भासं संस्प्रष्टा (ग्रहों के प्रकाश को नष्ट करने वाला आदित्य) ।

(१०) नाक भी आदित्य है। रसानां नेता रसों का नयन करने वाला, भासां नेता (प्रकाश का हरण करने वाला) ।

ज्योतिषां प्रणयः (प्रकाशक आदित्य जलों का रस खीचं वर्षा देता है प्रकाश देता है । इसी के रश्मि जाल से जगत् प्रकाशित होता है ।

(११) गौ भी आदित्य है । गमयति रसात् (रसों को खींचता है अपने प्रति) । अथवा गच्छति अन्तरिक्षम् (आकाश में चलता है) । अथवा पृथिव्या अतिदूरं गता (पृथ्वी के ऊपर दूर गई गौ) गम् + ड = गौ ।

(१२) विष्टप् भी आदित्य है । पृथ्वी और अन्तरिक्ष के रसों को लेने के लिए रश्मियों द्वारा प्रविष्ट रहता है (ज्योतिषां भासम् आविष्टः) ।

(१३) नभ भी आदित्य हैं। रसानां नेता, भासां नेता ज्योतिषां प्रणयः (रसों को लेने वाला, सभी दिशाओं में प्रकाश फैलाने वाला) । प्रकाश पहुंचाने वाला यह नभ है । नी + असुत् = नयस् = नभस् (य का भ वाहुलक नियम से हुआ है) । अथवा -भासनः (चमकने वाला) = भनः = नभः (वर्णों के विपर्मय द्वारा) । अथवा त्रन भाति (नहीं चमकता है ऐसा नहीं अर्थात् चमकता है न + न + भा + असुन् = नभस् (न का लोप और भा के टि का लोप)।

(१४) आदित्य बहुवचन में भी प्रयुक्त हुआ है, जिससे जान पड़ता है कि आदित्यासः उन लोगों को कहा गया जो किसी मत विशेष के थे ।

(१५) वणिक् लोगों को भी आदित्याः रुद्राः आदि कहते हैं ।

'जीवान्नो अभिधेतनाऽऽदित्यासः पुरा हथात् कद्धस्थ हवनश्रुत ।'

ऋ. ८.६७.५, नि. ६.२७

दिति से दैत्य और अदिति से आदित्य हुए । दोनों दलों का परस्पर वैमनस्य इस ऋचा में उपलक्षित है ।

(१) आदि के १२ प्रकार हैं- (१) त्वष्टा (रात्रिकालीन आदित्य) (२) सविता (उदय से पूर्व का आदित्य, (३) भग जिसका काल सूर्योदय से पूर्ववर्त्ती है अर्थात् अवनीत आदित्य (४) सूर्य,(उदयकालीन आदित्य) (५) पूषा (पूर्वाह्न कालीन आदित्य), (६) विष्णु (मध्याह्न कालीन आदित्य), (७) विश्वानर (मध्याह्नोत्तर कालीन आदित्य), (८) वरुण (रश्मिजाल से आच्छादित करने वाला रोग -विनाशक आदित्य), (९) केशी (रश्मियुक्त आदित्य), (१०) वृषाकपि (अस्यहोता हुआ आदित्य), (११) यम (सायं कालीन अस्तंगत् आदित्य), (१२) अनएकपात् (अस्त भवगत आदित्य), ।

(१३) नाना प्रकार के रस ओषधियों का से नह करने वाला विषवैदय (१४) अर्कपत्री, (१५) अकवन । आदित्य नामक । जड़िया विष हरने वाली हैं । अर्क विषहारी है । अर्क की तीन कोपलें गुड़ में लपेट, खिलाकर ऊपर घी पिलाने से सांप का विष उतरता है । बिच्छू के दंश पर अर्क का दूध लगाने से विष उतरता है । अर्क की जड़ पीसकर पिलाने से सर्पदंश उतरता है । अर्कपत्री को घिस कर लगाने से बिच्छू का विष उतरता है ।

(१६) सब रोगों को हरने वाला सूर्य ।

'उद्यन् आदित्य रश्मिभिः'

अ. ९.८.२२

(१७) सबको अप़ने भीतर समा लेने वाला

'बड़ादित्य महां असि'

ऋ. ८.१०१.११, अ. १३.२.२९, २०.५८.३, साम. १.२७६, २.११३८, वाज.सं. ३३.३९, वाज.सं.(का.) ३२.३९

आदित्यजूतः - (१) सूर्यवत् तेजस्वी विद्वान् (२) अखण्ड शक्ति के धारक और उपासक पुरुषों से प्रेरित ।

'आदित्यजूत एधते'

ऋ. ८.४६.५

आदित्यवनिः - विद्वानों या धनसंग्रही वैश्यो को वृत्ति देने वाली ।

'सिंह्यसि आदित्यवनिः स्वाहा'

वाज.सं. ५.१२, का.सं. २.९, २५.६, श.ब्रा. ३.५.२.११.

आदित्यः पन्थाः - प्रकाशमान अखण्ड ब्रह्म से उत्पन्न जिज्ञासु जनों के प्राप्त करने योग्य मार्ग ।

'असौ यः पन्था आदित्यो
दिवि प्रवाच्यं कृतः'

ऋ. १.१०५.१६

यह तो अखण्ड ब्रह्मा से उत्पन्न मार्ग है । आकाश में प्रकाश के लिए जैसे सूर्य है उसी प्रकार प्रवच्य के द्वारा गुरु शिष्य परम्परा से उपदेश किया जाता है ।

आदित्या - (स्त्री) (१) आदान करने वाली सबको अपने में धारण करने वाली पृथ्वी (२) अखण्ड प्रकाशमयी ब्रह्मशक्ति ।

'आदित्यासि रुद्रासि चन्द्रासि'

वाज.सं. ४.२१. तै.सं. १.२.५.१, मै.सं. १.२.४, १३.८, का.सं. २.५, श. ब्रा. ३.३.१.२.

आदित्याः - (१) अखण्डब्रह्म के पुत्र रूप परमयोगी ।

'यत्रादित्या मधु भक्षयन्ति'

अ. १८.४.३

(२) अदिति अर्थात् पृथ्वी पर उपकार करने वाले सूर्यचन्द्र या सूर्य और विद्युत, (३) पुत्र के लिए हितकारी एवं एक दूसरे को स्वीकार करने वाले स्त्री पुरुष ।

'आदित्या दानुनस्पती'

ऋ. १.१३६.३, २.४१.६, साम. २.२६२, नि. २.१३.

(४) अदिति के दो पुत्र ।

'ता सम्राजा घृतासुती
आदित्या दानुनस्पती ।'

वे दोनों से दीप्त जल बरसाने वाले अदिति के पुत्र, दान के स्वामी अर्थात् यजमानों की स्तुतियों तथा हवियों से संसवित ...।

आदित्याः नरः – (१) सूर्य के समान सत्य ज्ञान के प्रकाशक विद्वान् पुरूष (२) ४८ वर्षों तक ब्रह्मचर्य पालन करने वाले ।

'यं यज्ञं नयथा नरः
आदित्या ऋजुनापथा,
प्र वः स धीतये नशत्'

ऋ.१.४१.५

हे सूर्य के समान सत्य मार्ग के प्रकाशक पुरुषो, आप लोग जिस यज्ञ या प्रजापालन या परोपकार कार्य में सरल कुटिलता रहित मार्ग में ले जाते हो वह राजा और राजकार्य आप लोगों के ऐश्वर्य -भोग के लिए सदा प्राप्त हो ।

आदित्यानां स्वसा – दान आदान करने वाले व्यापारी वैश्य जनों की सर्व सुख रात्री भगिनी के समान गौ या प्रथिवी ।

'स्वसादित्यानाम् अमृतस्य नाभिः'

ऋ. ८.१०१.१५, तै.आ. ६.१२.१, साम.मं.ब्रा. २.१८.१५, पा.गृ.सू. १.३.२७, आप.मं.पा. २.१०.९, हि.गृ.सू. १.१३.१२.

आदित्यासः – (१) अग्नि, वायु और सूर्य, (२) सूर्य, मेघ और अन्न, (३) अखण्ड ब्रह्म के उपासक ब्रह्मज्ञानी (४) राजशासक जन जो अखण्ड शासक राजा के अधीन हैं ।

'ऋतेनादित्यामहि वो महित्वं'

ऋ. २.२७.८, तै.सं. २.१.११.५, मै.सं. ४.१४.१४, २३९.३, का.सं. ११.१२.

(४) आदित्य वंशी राज पुरुष (६) क्षत्रिय ।

'जीवान्नो अभिधेतन
'आदित्यासो पुरा हथात्
कद्धस्थ हवनश्रुतः ।'

ऋ. ८.६७.५, नि. ६.२७.

(७) पृथिवी की गति से उत्पन्न बारह मास, (८) १२ प्राण (९) वैश्यगण, (१०) विद्वान् गण, (११) सूर्य की किरणें (१२) अखण्ड शक्ति ब्रह्म या राज शक्ति के धारक पुरुष (१३)) आदित्य या वैदिक धर्म के मानने वाले ।

'यज्ञो देवानां प्रत्येति सुम्नम्
आदित्यासो भवता मृडयन्तः'

ऋ. १.१०७.१, वाज.सं. ८.४; ३३.६८, तै.सं. १.४.२२.१, २.१.११.४, मै.सं. १.३.२६; ३९.७, ४.१४.१४; २३९.४, का.सं. ४.१०, श.ब्रा. ४.३.५.१५.

आदिनवदर्श – किए कर्म में विध्यमान दोष या त्रुटियों को देख लेने में चतुर पुरुष ।

'कृतायादिन वदर्शम्'

वाज.सं. ३०.१८.

आद्विहायाः – (१) सर्वव्याप्त एवं महान् आदित्य विश्वकर्मा, (२) पुण्य पाप के फलों का आपयिता आत्मा ।

'विश्वकर्मा विमना आद्विहायाः'

ऋ. १०.८२.२, वाज.सं. १७.२६, मै.सं. २.१०.३, १३४.३, का.सं. १८.१, आश्व.श्रौ.सू. ३.८.१, नि. १०.२६.

प्रकाश, वृष्टि आदि का कर्त्ता (विश्व कर्मा) अप्रतिहत प्रज्ञान वाला (विमनाः) सर्वव्याप्त एवं महान् (आद्विहायाः) अथवा प्रति शरीर में वर्तमान परमात्मा (विश्वकर्मा) सर्वप्रज्ञान महान् पुण्यपापों के फलों का आपयिता (आद् विहायाः) ।

आदितेय सूर्य – (१) अदिति से उत्पन्न सूर्य (२) प्रातः कालीन सूर्य ।

'यदेदेनमदधुः यज्ञियासो
दिवि देवाः सूर्यमादितेयम्'

ऋ. १०.८८.११, मै.सं. ४.१४.१४, २३९.१७, नि. ७.२९.

(जभी यज्ञार्ह सभी देवों ने द्युलोक में प्रातः काल सूर्य को तथा अग्नि को स्थापित किया) ।

आदीध्ये – संकल्प करता हूं ।

'यदादीध्ये न दविषाण्येभिः'

ऋ. १०.३४.५.

जब मैं संकल्प करता हूँ कि मैं इन जुओं के पाशों के चलते संतप्त न होऊंगा (न दविषाणि)।

आदुरिः - आदरणीय।

'देवो ददात्वर्यमा'

ऋ. ४.३०.२४, नि. ६.३१.

आदृघ्नोति - सम्पन्न करता है।

'आदृघ्नोति हविष्कृतिम्

ऋ. १.१८.८

आदेदिशानः - आदेश देता हुआ।

'अभिषेणां अभ्यादेदिशानान्'

ऋ. ६.४४.१७

आदेव - (१) सब ओर प्रकाश करने वाला सूर्य।

'देवमादेव जनत प्रचेतसं
विश्वमादेवं जनत प्रचेतसम्'

ऋ. ४.१.१

(२) अल्प व्यवहारज्ञ, (३) स्वल्प विदया प्रकाश से युक्तं।

आधत्तम् - दो।

'प्रजावतीरिष आधत्तमस्मे'

ऋ. ६.५२.१६.

आधव - (१) आकम्पयिता, कम्पित कर देने वाला। आङ् + धू + अच् = आधव। धू धातु का अर्थ है- धुनना, झकझोरना, कंपाना या गत्यर्थक है। (२) प्रेरक, (३) स्थिरीकर्त्ता।

'महीमहि त्वा वयम्
घअस्माकं देव पूषन्
मतीनां च साधनम्
विप्राणां चाधवम्।'

ऋ. १०.२६.४.

हे देव पूषन्, हम स्तोता अपने मनोरथों या बुद्धियों के साधक तथा अन्य मेधावियों को अपनी गुणवत्ता से आकम्पित करने वाले या ब्राह्मणों के प्रेरक (विप्राणाम् आधवम्) तुझे प्रार्थना करते हैं (मंसी महि)।

आधवनीय - सोम रखने का पात्र।

'पूतभृच्च म आधवनीयश्च व्यं'

वाज.सं. १८.२१

आध्यक्ष्य - अध्यक्षता।

'आध्यक्ष्यायानुक्षत्तारम्'

वाज.सं. ३०.११.

आध्वर्यव - अध्वर्यु -सम्बन्धी, हिंसा रहित मित्रपद या राज्य शासक का कार्य।

'अश्विना ध्वर्यवं वसुवने वसुधेयस्य वेतुयज'

वाज.सं. २८.१९, मै.सं. ४.१३.८, २१०.१५, का.सं. १९.३, तै.ब्रा. २.६.१०.५, ३.६.१३.१.

आध्र - आङ् + ध्रा + रक् = आध्र। (१) आध्र = दरिद्रः

(२) अपुत्रस्य पुत्रः इति वा स्यात् -दया. ध्रै (तृप्तयर्थक) से अध्र बना है। अध्र ही आध्र है। न तृप्यति यः स आध्रः। अध्र एव आध्रः -महीधर

अर्थ- (१) अधीर, (२) अतृप्त, (३) भोगेच्छु (४) दरिद्र, (५) अन्यों से धारण पोषण करने योग्य - दरिद्र।

'आध्रश्चित् यं मन्यमानः तुरश्चित्'

ऋ. ७.४१.२, अ. ३.१६.२, वाज.सं. ३४.३५, तै.ब्रा. २.८.९.७, आप.मं.पा. १.१४.२, नि. १२.१४

(६) सब प्रकार से रक्षित सैन्य बल

(७) समन्तात् धृतः -दया.।

'आध्रेण चित्त तद्वेकं चकार'

ऋ. ७.१८.१७

पुनः -

'य आध्राय चकमानाय पित्वः'

ऋ. १०.११७.२

(८) आठ्यालु-आठ्यानां स्पृहयिता (खूब धन चाहने वाला- दरिद्र

'प्रातर्जितं भगमुग्रं हुवेम
वयं पुत्रमदिते र्यो विधर्ता।
आध्रश्चित् यं मन्यमानस्तुरश्चित्
राजाचित् यं भगं भक्षीत्याह।'

ऋ. ७.४१.२.

हम उस अन्धकार को जितने वाले सूर्योदय से पूर्व भग नामक आदित्य को पुकारते हैं जो समस्त जगत को अपने अनुग्रह से पालन करने वाला है और जिस भग देव को दरिद्र भी धन की आकांक्षा से प्रतिदिन पूजता रहता है क्योंकि सूर्य के उदय से काल बीतता जाता है। राजा भी जिस देश को मुझे यह धन दे, ऐसा कहता है।

(९) सब प्रकार से धारण पोषण करने योग्य राष्ट्र, (१०) दुर्बलहीन प्रजाजन।

'आध्रस्यचित् प्रमतिरुच्यसे पिता'

ऋ. १.३१.१४

आधात् - बरसाता है ।

'अत्रापिता दुहितु गर्भमाधात्'

ऋ. १.१६४.३३, अ. ९.१०.१२, नि. ४.२१.

इस अन्तरिक्ष में द्युलोक नाम से प्रख्यात पर्जन्य नामक मेघ (पिता) दूर निहित पृथ्वी पर (हरितः) सर्वोत्पादन समर्थ वृष्टिजल (गर्भम् बरसता है (आधात्) ।

आधावता - शीघ्र आओ ।

'आधावता सुहस्त्यः'

ऋ. ९.४६.४.

ऐ सुन्दर हाथ वाले ऋत्विजों । आप शीघ्र आओ

आधिः - (१) आधीन, अग्नि, स्थापन या पदार्थ संग्रह करने वाला ।

'स्वाहाऽऽधिमाधीताय स्वाहा'

वाज.सं. २२.२०, तै.सं. -७.३.१५.१, का.सं.(अश्व). ३.५, श.ब्रा. १३.१.८.३, तै.ब्रा. ३.८.११.१, १७.३, आप.श्रौ.सू. २०.८.६, ११.११.

(२) प्रेम से उत्पन्न होने वाली मानसी व्यथा, हृदय वेदना

'आध्यो नितिरामि ते'

अ. ६.१३१.१

आप्रिगुः - अज्ञेय गतिवाला । इन्द्र का विशेषण ।

'अस्मा इदु प्र तवसे तुराय
प्रयो न हर्मि स्तोमं माहिनाय ।'

ऋ. १.६१.१, अ. २०.३५.१

इस बलवान् फुर्तीले एवं पूज्य इन्द्र के लिए तृप्ति कारक अन्न एवं स्तुति अर्पित करता हूँ ।

आधीः - (१) निरन्तर ध्यान करता हुआ मन ।

'विमेमनश्चरति दूर आधीः'

ऋ. ६.९.६

(२) आधि, मानसी पीड़ा, मानसिक रोग ।

'आधिःस्यात् मानसी व्यथा' -अमरकोष

(३) कामना, मनोरथ पूर्ण न होने पर भी दुःख होता है । इसलिए आधि का अर्थ कामना भी किया गया है ।

'मूषो न शिश्ना व्यदन्ति माध्यः'

ऋ. १.१०५.८, १०.३३.३, नि. ४.६.

मेरी मानसिक पीड़ाएं मुझे खाए जाती हैं जैसे चूहे अपने घी लगे पूंछ या जननेन्द्रिय को चाटते हैं (भूषो न शिश्ना) ।

आधीत - (१) समस्त विद्याओं को पढ़ाने वाला ।

'आधीताय स्वाहा'

वाज.सं. २२.२०

(२) आध्यात । आ + ध्या + क्त = आध्यात् । या का सम्प्रसारणनियम से ई अर्थ अभिप्रेत अभिलषित, अभीष्ट जिसकी चिन्ता की जाय, जिसका ध्यान किया जाय ।

आधीपर्णा - व्यथारूप पंखों वाला काम प्रेरणा ।

'आधीयर्णा काम शल्याम्'

अ. ३.२५.२

आधीषमाणा - सब प्रकार से धारण पोषण की गई ।

'आधीषमाणायाः पतिः'

ऋ. १०.२६.६

आधून्वत् - अपने चित्त के मलों ओर विक्षेपों को साफ कर डालने और कषाय मलों को त्याग देने वाला ।

'स्तोत्रे शिक्षन् आधून्वते च सुक्रतो'

ऋ. ९.७२.८

आधृत्य - (१) तिरस्कार, बलात्कार करने वाला ।

'त्वं सखा सुशेवः पासि आधृषः'

ऋ. २.१.९

(२) प्रगल्भतापूर्ण व्यवहार ।

'रुद्रासो नू चिदाधृषे'

ऋ. १.३९.४

आन - प्राण ।

'नित्वमिन्द्र प्रत्यानं जघन्थ'

ऋ. १.५२.१५

हे इन्द्र, वृत्र के या शत्रु के जीवन को या प्रमुख भाग को नष्ट करता है (आनं निजगन्थ) ।

आनजाना - (द्वि.) गुणों का प्रकाश करते हुए -इन्द्राग्नी (२) ऐश्वर्यवान् और विद्वान् पुरुष, (३) राजा या मन्त्री (४) वायु और अग्नि , (५) जीवात्मा और परमात्मा (६) प्रसिद्ध करने वाले ।

'समिद्धेष्वग्निष्वानजाना'

ऋ. १.१०८.४

आनट् - (१) ला रखता है ।

'यदा ते मर्तो अनुभोगमानट्'

ऋ. १.१६३.७, १०.७.२, वाज.सं. २९.१८,

वाज.सं.(का.) ३१.३०, का.सं.(अश्व.) ६.३, तै.सं. ४.६.७.३, नि. ६.८.

जब मनुष्य तेरे लिए योग्य पदार्थ ला रखता है (२) आई ।

'किमिच्छन्ती सरमा प्रेदमानड्'

ऋ. १०.१०८.१, नि. ११.२५.

किस इच्छा से सरमा नाम की इन्द्र की कुतिया यहां आई-सा. । किस इच्छा से वेदवाणी यहां आई ।-(दया.)

आनति - शत्रुओं को एवं दुष्टपुरुषों को झुकाने की शक्ति ।

'त्वं म आनतिरागतिः'

वाज.सं. २०.१३

आनम - वश करना (२) सत्कार या नमस्कार करना ।

'स वेद देव आनमम्'

ऋ. ४.८.३, का.सं. १२.१५

आनन्दनन्दौ - स्त्री भोग द्वारा प्राप्त सुख में सुखी होने वाले अण्डकोश ।

'आनन्दनन्दावाण्डौमे'

वाज.सं. २०.९, वाज.सं.(का). २१.१००, मै.सं. ३.११.८, १५२.८: का.सं. ३८.४, तै.ब्रा. २.६.५.६.

आनव - (१) मनुष्यों का हितैषी ।

'ज्येष्ठमग्निवानवम्'

ऋ. ८.७४.४, साम. १.८९.

(२) अतिनवीन ।

'द्रोघाय चिद् वचस आनवाय'

ऋ. ६.६२.९

(३) अनु अर्थात् प्राणी जीव के योग्य शरीर का, मनुष्यों के रहने योग्य राष्ट्र ।

'व्यानवस्य तृत्सवे गयं भाक्'

ऋ. ७.१८.१३

(३) प्राणधारी ज्ञानवान पुरुष ।

'सिमा पुरू नृषूतो अस्यानवे
असि प्रशर्ध तुर्वशे'

ऋ. ८.४.१, अ. २०.१२०.१, साम. १.२.७९, २.५८१.

आनशानः - प्राप्त करता हुआ ।

'यत्रदेवा अमृतमानशानाः'

अ. २.१.५, वाज.सं. ३२.१०, तै.आ. १०.१.४, महा.ना.उप. २.५.

आनशाना - भोग करते हुए ।

'त्रयस्त्रिशासः स्वरानशाना'

अ. १९.५६.३

आन्तरिक्ष्य - अन्तरिक्ष में उत्पन्न ।

'पवताम् अन्तरिक्ष्या'

ऋ. ९.३६.५

आन्द - बांध बांधने में, किनारा बनाने में चतुर पुरुष ।

'तीर्थेभ्य आन्दम्'

वाज.सं. ३०.१६, तै.ब्रा. ३.४.१.१२.

आन्त्य भौवन - (१) सबसे अन्त में होने वाला, (२) सर्वोच्च परम भुवन में व्यापक लोकपति भौवन (३) पौषमास,(४) जाठराग्नि को दीपन कर पोषण करने वाले पौष के समान राजा

'आन्त्याय भौवनाय स्वाहा'

वाज.सं. ९.२०, १८.२८, २२.३२, का.सं. १४.१, श.ब्रा. ५.२.१.२.

आन्त्र - (१) गुर्दा ।

'यदान्त्रेषु गवीन्योः'

अ. १.३.६

'अवर्त्या शुन आन्त्राणि पेचे'

ऋ. ४.१८.१३,

(२) आंत, अंतड़ी ,(३) ज्ञान कराने वाला गुह्य साधन (ज्ञान साधन का इन्द्रिय) ।

'आन्त्राणि स्थालीर्मधु पिन्वमानाः'

वाज.सं. १९.८६, मै.सं. ३.११.९, १५३.१३

'आन्त्रेभ्यस्ते गुदाभ्यः'

ऋ. १०.१६३.३, अ. २.३३.४, २०.९६.२०, आप.मं.पा. १.१७.३

'विह्रुत आन्त्रैः'

वाज.सं. २५.७, मै.सं. ३.१५.९, १८०.४

आन्तरिक्ष - (१) अन्तरिक्ष के समान सब का रक्षक, (२) अन्तरिक्ष गति में विशेषज्ञ ।

'अलज आन्तरिक्षः'

वाज.सं. २४.३४, तै.सं. ५.५.२०.१, मै.सं. ३.१४.१६, १७६.१, का.सं.(अश्व) ७.१०.

आनिशित - तीक्ष्ण किया गया ।

'दुरोण आ निशितं सोम सुद्भिः'

ऋ. ४.२४.८

आतिः - (१) निरन्तर सर्वत्र भ्रमण करने में समर्थ, (२) एक पक्षी ।

'आतिर्वाहसो दर्विदा ते वायवे'
वाज.सं. २४.३४, मै.सं. ३.१४.१५, १७५.९

आनीत् - अन् (प्राण धारण करना) के लुङ् अ.पु.ए.व. का रूप। अर्थ -प्राण धारण करता था, श्वास लेता था।
'आनीदवातं स्वधया तदेकम्'
ऋ. १०.१२९.२, तै.ब्रा. २.८.९.४.
(उस प्रलय काल की स्थिति में, वह एक सत् ब्रह्म स्वभावतः वायु के बिना प्राण धारण करता था)।

आनुषक् - अनुषक्तम् (क्रम से, आनुपूर्व्य का पर्याय) क्रिया विशेषण अनुपूर्व, निरन्तर नियमपूर्वक। अनु + षच् +क्विप् = आनुषक्
'आ घाये अग्निमिन्धते
स्तृणन्ति बर्हिरानुषक्।
येषामिन्द्रो युवा सखा।'
ऋ. ८.४५.१, साम. १.१३३, २.६८८, वाज.सं. ७.३२, मै.सं.४.१२.६, १४९.९, का.सं. १३.१५, तै.ब्रा. २.४.५.७, ऐ.आ. ५.२.३.२, आश्व.श्रौ. सू. २.९.१४, ६.४.१०, ७.८.१, शां.श्रौ.सू. १२.११.२०, १८.७.६, आप.श्रौ.सू. ११.१०.१७, १२.१.२.
जो ऋषि अग्नि को प्रदीप्त करते हैं और जिन ऋषियों को नित्य तरुण इन्द्र मित्र की तरह यज्ञ में आते हैं वे ही ऋषि कुशों को क्रम से (आनुषक्) बिछाते हैं।
अन्य अर्थ - जो मनुष्य अग्नि को प्रदीप्त करते हैं अर्थात् यज्ञ करते हैं और जिनका पुरुषार्थी ब्राह्मण मित्र है वे निरन्तर वृद्धि का विस्तार करते हैं।

आनूक - शरीर के अनुकूल भूषण।
'आनूकमर्यो वपुषे नार्चत्'
ऋ. ५.३३.९

आप् - (१) जल, (२) गर्भ,। (३) आप्त स्त्रियां -दया.। (४) सन्तति।
'सीव्यत्वपः सूच्याच्छिद्यमानया'
ऋ. २.३२.४, अ. ७.४८.१, तै.सं. ३.३.११.५, मै.सं. ४.१२.६, १९५.१, का.सं. १३.१६, साम.मं.ब्रा. १.५.३, आप.मं.पा. २.११.१०, नि. ११.३१.
(राजा हमारी सन्ततिरूप वस्त्र को (अपः) अविच्छिन्न सुई से (अच्छिद्यमानया सूच्या) सीए।)

आपः - (१) ज़ल जिसमें गति करते करते विद्युत् व्याप्त हो जाती है।
'तदाप्नोदिन्द्रो वो यतीः
तस्मादापो अनुष्ठन'
अ. ३.१३.२, तै.सं. ५.६.१.३, मै.सं. २.१३.१, १५२.१०.
(२) प्रकृति के व्यापक सूक्ष्म परमाणु।
'इन्द्रस्यावद्यं दिधिषन्न आपः'
ऋ. ४.१८.७
(३) प्राप्त होने वाली, (४) स्वंय वरण करने वाली सहधर्मिणी (५) जल। सदा बहुवचन में इस शब्द का प्रयोग होता है।
'आपो नप्त्रे घृतमन्नं वहन्तीः'
ऋ. २.३५.१४
(६) अमृत, (७) शान्ति, (८) श्रद्धा, (९) क्षीर (१०) अन्न, (११) वीर्य, (१२) रेतस, (१३) सभी काम, (१४) देव, (१५) वरुण की पत्नियाँ, (१६) योद्धा (१७) अन्न।
अमृतं वै आपः - कौ. ब्रा. १२.१
श्रद्धा वा आपः -तै. सं. ६.२.४.१
आपो वै क्षीर आसवः तै.ब्रा. १३.३.६
अन्नमापः कौ.ब्रा. १२.३.८
वीर्यं वा आपः शं.ब्रा. २.३.४.१
आपो वै सर्वे कामाः श.ब्रा. १०.५.४.१५
आपो वै सर्वे देवाः श. ब्रा. १०.५.४.१४
आपो वरुणस्यपत्न्य आसन् तै.सं. १.१.३.८
योषा वा आपः श.ब्रा. १.१.१.१८
'अपूपवान् अपवान् चरुरेह सीदतु'
अ. १८.४.२३
(१८) प्राप्त पत्नियाँ।
'आपस्पुत्रासो अभिसंविशध्वम्'
अ. १२.३.४
'देव्योहि आपः'
श.ब्रा. १.१.३.७
अग्निना वा आपः सुपत्न्यः श.ब्रा. ६.८.२.३
(१९) आपनाः (सर्वस्यलोकस्य व्यापनाः) आप् धातु से सम्पन्न।

आपणिः - वणिक्।
'मापणिर्भूरस्मदधि प्रवृद्ध'
ऋ. १.३३.३
हे प्रकृष्ट बुद्धि वाले, तू हमें रत्न् देते समय

बनिया मत बन (मा आपणिः भूः) ।

आपति - चारों ओर से रक्षक ।

'अपतये त्वा परिपतये
गृह्णामि तानूनप्त्रे
शाक्वराय शक्वन ओजिष्ठाय'

वाज.सं. ५.५, का.सं. २.८, श.ब्रा. ३.४.२.१०.

आपनन् - (१) सत्कार करता हुआ, (२) गाता हुआ ।

आपनन्त - आ + पन (स्तुति प्रशंसा) धातु के लट् प्र.पु.ब.व.का रूप । अर्थ -(१) सदा गाते हैं, (२) सत्कार करते हैं ।

'आयन्मे अभ्वं वनदः पनन्त'

ऋ. २.४.५

जिसका महत्व (यत् अभ्वम्) मेरे स्पृहणीय हविदाता (वनदः) सदा गाते है (आपनन्त) । अथवा, हे प्रशस्त पदार्थों के दाता मनुष्यो । (वनजः) यत तुम मेरे उपदिष्ट कर्मों में स्थित रहते हुए अपने से बड़े विद्वान् का सत्कार करते हो (यत् मे अभ्वम् आपन्त) ।

आपनीफनत् - आङ् + फण् के यङ् लुङन्त का रूप । अर्थ फांद गया ।

आपप्तत - आओ ।

'आ वर्षिष्ठया न इषा
वयो न पप्तता सुमायाः'

ऋ. १.८८.१

हे सुकर्मा मरुतो ! आओ ।

आपप्रिवान् - (१) सब विद्या से पूर्ण करने वाला, (२) विश्व का पालक परमेश्वर या (३) सूर्य, (४) अग्नि ।

'विश्वा दिवो रोचनापप्रिवांसम्'

ऋ. १.१४६.१

आपया - (१) जलों से व्याप्त नदी ताल वाली भूमि, (२) आप्त पुरुषों से प्राप्त होने योग्य वाणी, (३) दूरदेश गामिनी वेगवती सेना ।

'दृषद्वत्यां मानुस आपयायाम्'

ऋ. ३.२३.४

आप्त्य - (१) लिंगशरीरस्थ जीव ।

'इन्द्रेषित आप्त्यो अभ्ययुध्यत्'

ऋ. १०.८.८

(२) आप्तों का हितकारी (३) ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय और मन पर वश करने वाला प्राण ।

'त्रिते स्वप्नमदधुराप्त्ये नर'

अ. १९.५६.४

(४) आप्त जनों में श्रेष्ठ, (४) प्राणों के तत्वो ज्ञाता योगी या आत्मा (५) आप्त प्राप्त जनों का हितकारी ।

'त्रितस्तद् वेद आप्त्यः
स जामित्वाय रेभति ।'

ऋ. १.१०५.९

आप्त जनों में श्रेष्ठ अथवा प्राण तत्व ज्ञाता योगी या आत्मा ही सब अज्ञान बन्धन को पारकर (त्रितः) परम ज्ञान रहस्य को जान लेता है । वह परम बन्धुता को प्राप्त करने के लिए परमेश्वर की स्तुति करता है ।

(७) स्तोतव्य (८) आप्त पुरुष ।

'इनतममाप्त्यमाप्त्यानाम्'

ऋ. १०.१२०.६, अ. ५.२.७, २०.१०७.१०, नि. ११.२१.

आप्य - (१) जलागमन का लक्षण ।

'युवां नरापश्य मानास आप्यम्'

ऋ. ७.८३.१

(२) प्राप्त होने योग्य, (३) बन्धुजनों के योग्य, (४) बन्धु ।

'नहि त्वदन्यत् मघवा न आप्यम्'

ऋ. ७.३२.१९, अ. २०.८२.२, साम. २.११४७.

(४) आप् + ण्यत् = आप्य । आपिः वन्धुः तस्य भावः आप्यः । दुर्ग ने इसका अर्थ धन किया है क्योंकि धन ही आप्य अर्थात् आप्तव्य है ।

'अस्ति हि वः सजात्यं रिशादसो
देवासो अस्त्याप्यम् ।
प्र णः पूर्वस्मै सुविताय वोचत
मक्षू सुम्नाय नव्यसे ।'

ऋ. ८.२७.१०, नि. ६.१४.

हे हिंसकों के मारने वाले (रिशादसः) देवों (देवासः), आप लोगों की समान जाति है (वः सजात्यम् अस्ति हि) और बन्धुता है (आप्यमस्ति) या धन है अतः पूर्व में हुए और नए (पूर्वस्मै नव्यसे) सुविधा तथा सुख के लिए (सुविताय सुम्नाय) हमें (नः) शीघ्र (मक्षु) वचन दें (प्रावोचत) (५) मित्रता

'अग्ने देवेष्वाप्यम्'

ऋ. १.३६.१२

हे अग्नि, तेरी देवों में मित्रता, बन्धुता या प्राप्यता है।

आप्र - पूर्णज्ञानी और अन्यों को ज्ञान से पूर्ण करने वाला विद्वान्।

'स्वर्जेषे भर आप्रस्य वक्मनि'

ऋ. १.१३२.२

पूर्णज्ञानी विद्वान् के प्रवचन में ...।

आप्रद्रुव - सम्मुख आ।

'आ प्र द्रव हरिवो मा वि वेनः'

ऋ. ५.३१.२.

हे अश्व वाला इन्द्र (हरिवः) हमारे सम्मुख आ (आप्रद्रव), हम से निरपेक्ष न हो (वि वेनः मा)।

आपाकेष्ठ - आपाकेष्ठ, अकेले टूटे फूटे रद्दी भयङ्कर स्थानों में रहने वाला।

'आपाकेष्ठाः प्रहासिनः'

अ. ८.६.१४ आपान - व्यापक, विस्तृत।

'आपानं ब्रह्म चितयत् दिवे दिवे'

ऋ. २.३४.७

आपान्त मन्युः - (१) ज्ञान और तेज को चारों ओर विस्तृत करने वाला।

'आपान्त मन्युः तृपल प्रभर्मा'

ऋ. १०.८९.५, तै.सं. २.२.१२.३, तै.आ. १०.१.९. नि. ५.१२.

(२) जिसे क्रोध उत्पन्न हुआ हो।

आप्नानः तीर्थ - (१) व्यापक तारने वाला मोक्ष मार्ग, (२)सोम यज्ञ में चात्वाल और उत्कर के बीच के मार्ग को तीर्थ कहते हैं जिससे जाकर सोमरस का पान करते हैं।

'आप्नानं तीर्थं क इह प्रवोचत्
येन पथा प्रपिबन्ते सुतस्य'

ऋ. १०.११४.७

आप्राः - आपूपुरत् (आपूरयति)। आपूर्ण करता है। आङ् + प्रा (लङ्) + ति = आप्राः। काल और पुरुष का यहां व्यत्यय है। 'प्रा' धातु का अर्थ पूर्ण करना है।

'चित्रं देवानामुदगादनीकम्
चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः।
आप्रा द्यावापृथ्वी अन्तरिक्षं
सूर्य आत्मा जगतः तस्थुषः च'

ऋ. १.११५.१, अ. १३.२.३५, २०.१०७.१४, आ.सं. ५.३, वाज.सं. ७.४.२, १३, ४६, तै.सं. १.४.४३.१, २.४.१४.४, मै.सं. १.३.३७,४३.९ का.सं. ४.९,२२.५, श .ब्रा. ४.३.४.१०, ७.५.२.२७, तै.ब्रा. २.८.७.३, ऐ.आ. ३.२.३.१०, तै.आ. १.७.६, २.१३.१, नि. १२.१६.

जब यह विचित्र पूजनीय किरणों का समूह (चित्रं देवानाम् अनीकम्) उदयाचल पर उदित हुआ (उदगात्) तब इस में ही मित्र, वरुण तथा अग्नि को चक्षु दीख पड़ा अर्थात् सूर्य ही मित्र, वरुण तथा अग्नि है (मित्रस्य, वरुणस्य अग्नेः चक्षुः)। उदय लेकर सूर्य ने द्यौ, पृथिवी और अन्तरिक्ष को अपने तेज से आपूर्ण किया (आप्राः) ऐसा सूर्य जंगम तथा स्थावर का आत्मा है (सूर्यः जगतः तस्थुषः आत्मा)

आपि - सकल शुभगुण -व्यापी विद्यादि गुणों में व्यापक धनादि प्राप्त करने वाला। इन दिनों आदर के लिए प्रयुक्त 'आप' शब्द इसी आपि का बिगड़ा रूप है।

'हये देवा यूयमिदापयः स्थ'

ऋ. २.२९.४

आप् + इण् = आपि। (२) सुमति, (३) कल्याणी विद्या, (४) जो प्राप्त किया जाय।

(५) सदा आप्त बन्धु।

'आपिः पिता प्रमतिः सोम्यानाम्'

ऋ. १.३१.१६, ला.श्रौ.सू. ३.२.७.

आपित्व - बन्धुता, (२) सन्धि, (३) मेल।

'युधेदापित्वमिच्छसे'

ऋ. ८.२१.१३, अ. २०.११४.१, साम. १.३९९, २.७३९.

(४) आपान, पानी पीना।

'आपित्वे नः प्रपित्वे तूयमागहि'

ऋ. ८.४.३, साम. १.२५२, २.१०७१, नि. ३.२०.

सोमपान का समय होने पर शीघ्र आ।

आप्रिय - पशुयाग -सम्बन्धी प्रयोगों के आप्री देवता की याज्या ऋचाएं।

'चतुर्होतार आप्रियः'

अ. १२.७.१९

आपीत - जो कुछ कुछ पीला हो।

'यदापीतासो अंशवः'

ऋ. ८.९.१९, अ. २०.१४२.४

आपीतिः - पान करना, पालन करना।

'सोम आपीतये सुतः'

ऋ. १.१३७.३

आपीना - सर्वतोमुख रसपान करने वाली महाशक्ति ।

'यामापीनामुपसीदन्ति आपः'

अ. ९.१.९

आप्री - (१) आप्री ऋचाएं, (२) सबको प्रसन्न करने वाली वेतन दान पारितोषिक दान आदि क्रिया ।

'आप्रीभिराप्री यज्ञस्य'

वाज.सं. १९.१९

(३) आप्री ऋचा यां तत्सम्बन्धी देवता, आप् (प्राप्त्यर्थक धातु) और प्री (प्रीत्यर्थक) के संयोग से सम्पन्न । अतः प्राप्ति अर्थ में आप् + रीङ् (औणादिक कर्ता अर्थ में) = आप्री, अथवा आङ् + प्री + क्विप् = आप्री । देवता अर्थ में ये दोनों प्रत्यय कर्म अर्थ में आते हैं । ऋचाएं देवताओं को प्राप्त कराती या प्रसन्न करती हैं (ऋचः तावत् आप्नुवन्ति आप्रीणान्ति वा देवताः इति आप्रियः) इसी से इन्हे आप्रियः कहा गया है । देवता प्राप्त किए या प्रसन्न किए जाते हैं (देवताः आप्यन्ते वा प्रीयन्तेवा) । आप् + रक् + ङीस् , से भी आप्री बनता है । इन ऋचाओं के प्रसंग से आप्री देवता १२ हैं- (१) इध्म, (२) तनूनपात् , (३) नराशंस, (४) इड, (५) वर्हिष, (६) द्वारः (७) उषासानक्ता, (८) दैत्या होतारा, (९) तिस्रो देवीः (१०) त्वष्टा, (११) वनस्पति और (१२) स्वहाकृतयः ।

आप्रीतया - सब प्रकार से सन्तुष्ट प्रजाओं का पालक राजा ।

'विष्णुराप्रीतया आप्याय्यमानः'

वाज.सं. ८.५७

आप्रुषायन् - (१) चारों ओर से सींचता हुआ, (२) शस्त्रास्त्रों से शत्रुओं पर प्रहार करता हुआ । पुनः

'आप्रुषायन् मधुन ऋतस्य योनिम्'

ऋ. १०.६८.४, अ. २०.१६.४

आपू - आप्लृ + ऊ = आपू । अर्थ है-बोध ।

आपूर्ण - (१) खूब भरा हुआ ।

'आपूर्णः अस्य कलशः स्वाहा'

ऋ. ३.३२.१५, अ. २०.८.३, ऐ.ब्रा. ६.११.१३, गौ.ब्रा. २.२.२१, आश्व श्रौ.सू. ५.५.१९.

(२) सब तरह से पूर्ण परमेश्वर

'आपूर्णो अंशुः पर्यैति विश्वतः'

ऋ. ९.७४.२

आपृच् - आ + पृच् + क्विप् = आपृच् (१) सबसे प्रेम करने वाला ।

'वस्वो वीरस्यापृचः'

ऋ. ८.४०.९

(२) परस्पर के सम्बन्ध से बंधना ।

'ते राया ते ह्यापृचे'

ऋ. ५.५०.२

आपथिः - अभिमुखः पन्थाः यस्य (जिसके सामने मार्ग हो) (२) सब ओर जाने वाले मार्ग से युक्त ।

'आपथयो विपथयोऽन्तस्पथा अनुपथाः'

ऋ. ५.५२.१०

आपृच्छ्य - (१) परस्पर पूछ कर जिज्ञासा से प्राप्त होने ज्ञान, (२) ज्ञातव्य परमपद ।

'आपृच्छ्यं क्रतुमाक्षेति पुष्यति'

ऋ. १.६४.१३

जो परस्पर पूछ कर जिज्ञासा से प्राप्त करने योग्य ज्ञान को प्राप्त करता है वह बल और ज्ञान से शीघ्र समस्त जनों से बढ़ चढ़ कर उच्च आसन पर विराजता है ।

अथवा जो, ज्ञातव्य परमपद ज्ञानमय परमेश्वर को प्राप्त करता है वह ज्ञान बल से सबको पार कर ऊंचा होकर परमपद में विराजता है ।

आपृण - पूर्णकर ।

'तमा पृण वसुपते वसूनाम्'

ऋ. ३.३०.१९, तै.ब्रा. २.५.४.१.

आपृणत् - आ + अपृणत् = आपृणत् अर्थ है पालन कर, लट् के अर्थ में लङ् का प्रयोग ।

'भूरिदात्र आपृणद् रोदसी उभे'

ऋ. ३.३४.१, अ. २०.११.१.

हे प्रचुर दाता इन्द्र! तू दोनों पृथ्वी तथा द्युलोक का पालन कर या करता है । अथवा, हे राजन्! तू जैसे सूर्य तथा पृथ्वी लोक का पालन करता है वैसे तू प्रजाओं का पालन कर ।

आयोयुवानः - कार्य में नियुक्त करता हुआ ।

'आयोयुवानो वृषभस्यनीडे'

ऋ. ४.१.११.

आबयु - आवपति आत्तिकर्मा + उ । अर्थ

(१) सर्वव्यापक, (२) खाए जाने योग्य अन्न, (३) रोग-निवृत्ति के लिए खाए जाने वाला ।

'आबयो अनाबयो रसस्त उग्र आबयो'

अ. ६.१६.१

(३) सर्वप्रकाशब्द, (४) सर्वोत्पादक ।

अबाध - दुष्टपुरुषों को सब प्रकार से पीड़ित करने वाला ।

'येषामाबाध ऋग्मियः'

ऋ. ८.२३.३

आभग - (१) सब प्रकार से भजन करने योग्य इन्द्र परमेश्वर ।

'कृधि प्रजासु आभगम्'

ऋ. ८.५३.६

(२) सब प्रकार से सेवन करने योग्य ।

'सुत इष्टौ मघवन् बोध्याभगः'

ऋ. १०.४४.९, अ. २०.९४.९

पुनः-

'कर्मन् कर्मन् आभगम्'

अ. ४.२३.३

(३) सब प्रकार से सेवा करने और सुख देने वाला, (४) सब ऐश्वर्यों से युक्त ।

'देवो देवेषु आभगः'

ऋ. १.१३६.४

आभवन् - सब प्रकार से सामर्थ्यवान् ।

'आभवन् प्रभवन् भवन्'

अ. ३.२९.२

आभर - दे ।

'आनोभर भगमिन्द्र द्युमन्तम्'

ऋ. ३.३०.१९, तै.ब्रा. २.५.४.१.

हे इन्द्र ! हमें द्युतिमान धन दे ।

पुनः -

'किं ते कृण्वन्ति कीकटेषु गावो
नाशिरं दुह्रे न तपन्ति धर्मम् ।
आ नो भर प्रमगन्दस्य वेदो
नैचाशाखं मघवन् रन्धया नः ।'

ऋ. ३.५३.१४, नि. ६.३२.

हे इन्द्र, जो गाएं अनार्यदेश निवासी मनुष्यो के पास हैं (कीकटेषु) वे तेरा कौन कौन उपकार करती हैं । वे सोम-मिश्रणयोग्य दूध नहीं दुहते (आशिरं न दुह्रे) प्रवर्ग्य कर्म के उपयुक्त महावीरपात्र या अग्नि कुण्ड को (धर्मम्) अपने दूध के दान द्वारा दीप्त नहीं करते (न तपन्ति) अतः उन गायों को लाकर हमें दो (न आभर)। सूद पर धन चलाने वाले का या विषय-परायण नास्तिक या हिंजड़े का जो धन है (प्रमगन्दस्य वेदः) उसे भी दे और हे भगवन् अर्थात् धनी शूद्रादि नीच योनियों में पुत्रादि उत्पन्न करने वालों का धन हमें दें (नैचाशाखम्) या हमारे अधीनकर (रन्धया नः)

आभूः - (१) पुनः पुनः आने वाला, (२)अन्त रहने वाला ।

'रयिं ददात्याभुवम्'

ऋ. १.१३३.७, अ २०.६७.१

(२) कारागृह - सा ।

'दुध्र आभूषु रामयन्नि दामनि'

ऋ. १.५६.३.

दुष्ट शत्रुओं को पकड़ने वाला इन्द्र (दुध्रः) शत्रुओं के कारागृहों में (आभूषु) रमाय (रामयन्) -सा. स्वामी दयानन्द ने आभूषु शब्द मान कर इसका अर्थ शोभायमान किया है ।

(३) धर्मचारी -दया. (४) अपने अधीन भूमियों के माण्डलिक अधीशों द्वारा या अधिक सामर्थ्यवान् वीर पुरुषों द्वारा (आभूभिः) अपने मुकाबले पर न आ सकने वाली शत्रुओं का विनाश करता हुआ...।

(५) सब प्रकार की विभूति-ऐश्वर्य

आभूक - सामर्थ्यहीन, नाचीज ।

'आभूकं प्रति चाक शान्'

अ. ६.२९.३

आभूमि - विभूति ।

'आभूत्या सहजा वज्र सायक'

ऋ. १०.८४.६, अ. ४.३१.६

आभूति - चारों ओर विद्यमान भूमियों से या उत्तम शक्ति शाली सहायकों से युक्त ।

'आभूमिरिन्द्र तुर्वणि'

ऋ. ५.३५.३.

आभूषु - (१) आ + भूष् + उ = आभूषु । अर्थ है शोभायमान । -(दया.)

(२) कारागृह । सायण 'आभू' का अर्थ कारागृह मानते हैं ।

'दुध्र आभूषु रामयन् नि दामनि'

ऋ. १.५६.३

विद्या से पूर्ण कर प्रसन्नता से रमण करने वाला (दुध्रः मदे रामयन्) । -(दया.)

आभूषति - (१) अनुकूल आचरण करता है । (२) आक्रमण करता है ।

'आवयुनेषु भूषति'

ऋ. ८.६६.८, अ. २०.९७.२, साम. २.१०४२.

इन्द्र का कुत्ता भेड़ों का शिकारी होकर भी प्रशस्त मार्गों में प्रज्ञानों में (वयुनेषु) इन्द्र के अनुकूल आचरण करता है । (आभूषति) राजा का कुत्ता इशारों पर (वयुनेषु) आक्रमण करने वाला हो (आभूषति) ।

आभूषेण्य - (१) सब प्रकार से आभूषण के तुल्य शोभाजनक, (२) सब ओर कार्य करने में सामर्थ्यप्रद

'आभूषेण्यं वे मरुतो महित्वनम्'

ऋ. ५.५५.४.

आभृति - आ + भृ + क्तिन् । (१) ग्रहण करना, (२) चारों ओर फैलाना, (३)बलवीर्य का धारण करना

'स न ऊर्जामुपाभृत्यया कृपा न जूर्यति'

ऋ. १.१२८.२

वह यज्ञाग्नि हमारे नाना प्रकारों के अन्नों के ग्रहण और सर्वत्र फैला देने के लिए (ऊर्जाय उपाभृति) इस सामर्थ्य से (अया कृपा) कभी क्षीण नहीं होता (न जूर्यित) । अथवा, वह हमारे बल वीर्यों के धारण कर लेने पर अपने इस सामर्त्य से (अयाकृपा) कभी क्षीण नहीं होता ।

आभोग - चारों ओर भोग विलास में मग्न, भोग-प्रिय

'आभोगं हन्मना हतम्'

ऋ. ७.९४.१२

आभोगय - समन्तात् भोगेषु साधुः व्यवहारः शेष सब तरफ समस्त जीवों की रक्षा करने और सब सुख उपभोग करने में श्रेष्ठ बल और ज्ञान

'आभोगयं प्रयदिच्छन्त ऐतन'

ऋ. १.११०.२

यदि सब तरफ समस्त जीवों की रक्षा करने और सुख उपभोग करने में सर्वश्रेष्ठ बल और ज्ञान की (आभोगयम्) इच्छा करते हो तो आओ ।

आभोगि - वह क्रिया जिसमें सब ओर से सुख हो ।

'जिह्मश्ये चरितवे मघोनी
आभोगय इष्टये राय उ त्वम्'

ऋ. १.११३.५

उषा किसी पुरुष को टेढ़े मोढ़े सोने के लिए (जिह्मश्ये) किसी को उठकर काम पर जाने के लिए (चरितवे) और किसी को सब प्रकार के भोग सुखों को प्राप्त करने के लिए (आभोगये) और किसी को यज्ञ दान करने के लिए (इष्टये) प्रकट होती है ।

आम - (१) आमरोग, (२) रोगकारी हिंसकजन्तु ।

'य आमस्य क्रविषो गन्धो अस्ति'

ऋ. १.१६२.१०, वाज.सं. २५.३३, तै.सं. ४.६.८.४, मै.सं. ३.१६.१, १८२.१२, का.सं.(अश्व). ६.४.

(३) कच्चा, अपक्व ।

आमणकः - मननशील ।

'आमणको मणत्सकः'

अ. २०.१३०.९

आमन्त्रण - परस्पर प्रेम और सम्मानपूर्वक बुलाना ।

'यन्त्यस्यामन्त्रणम्'

अ. ८.१०.१३

आमन्त्रणीय - आमन्त्रण के योग्य ।

'आमन्त्रणीयो भवति य एवं वेद'

अ. ८.१०.१३

आमनाः - अनुकूल चित्त वाला ।

'वरमामनसं कृणु'

अ. २.३६.६

आमपात्र - कच्चा बर्तन ।

'आसीदामपात्रं पात्रम्'

अ. ८.१०.५. १०

आमयत् - रोग कारक पदार्थ ।

'मूत्रं भवत्वामयत्'

अ. ९.८.१०

आमरीता - नाश करने वाला ।

'न राधस आमरीता मघस्य'

ऋ. ४.२०.७

आमा - (१) सहधर्मचारिणी दारा ।

'इन्द्रा सोमा पक्वमामास्वन्तः'

ऋ. ६.७२.४

(२) सहचरी, (३) बल से कच्ची निर्बल ।

'आमापक्वं चरति बिभ्रतीगौः'

ऋ. ३.३०.१४

(४) गृह ।

'आमासु पूर्षु परो अप्रमृष्यम्'

ऋ. २.३५.६

(५) अपक्वा, अप्राप्तयौवना गौः ।

(६) अपक्व ओषधि-ज.दे.श. ।

'आमासु पक्वमैरयः'

ऋ. ८.८९.७, साम. २.७८१, का.सं. ८.१६, तै.सं. १.६.१२.२, शां.श्रौ.सू . १८.११.२.

हे इन्द्र, अपक्व या अप्राप्त यौवना गौओं मे तूने परिणत एवं पूर्ण दुग्ध प्रेरित किया (पक्वम् एरेयः) ।

हे परमेश्वर ! तू अपक्व ओषधियों में पक्व रस डालता है ।

आमाद् - (१) कच्चे अपसिक्व वायु वाले जीवों को खाने वाला, (२) रोगादि ज्वर, (३) कच्चा मांस खाने वाला ।

'आमादः क्ष्विङ्क्षास्तमदन्त्वेनीः'

ऋ. १०.८७.७, अ. ८.३.७.

आमिक्षा - (१) गर्म दूध में खट्टा डालने से जो स्थूल पदार्थ निकलता है -छेना, (२) राजा और प्रजा के अधिकारियों का सम्मिलित गण ।

'आमिक्षा वाजिनम्मधु'

वाज.सं. १९.२१

(३) समन्तात् मेषति हिनस्ति इति आमिक्षा । -(दया.)

(४) मेहति सिञ्चति वासा आमिक्षा-प्रजा पर सुखों का वर्षण करना

(५) सब ओर से राज्य के मुख्य पद पर अभिषेक किया होगा ।

'सौम्यस्य रूपमामिक्षा'

वाज.सं. १९.२३

(६) आण्डस्य वा एतत् रूपम् यत् आमिक्षा -तै.सं. १.२.६.४

जमा हुआ दही, (७) फटादूध, (८) ब्रह्माण्ड, (९) हिरण्यगर्भ के घटक पदार्थ का नाम ।

'आमिक्षा घृतं तद्वस्य रेतः'

अ. ९.४.४

आमिनाना - विनाश करती हुई ।

'श्वघ्नीव कृलुः विज आमिनाना'

ऋ. १.९२.१०

आमिनाने - (स्त्री.दि.) बदलती हुई ।

'समानबन्धू अमृते अनूची
द्यावा वर्णं चरत आमिनाने'

ऋ. १.११३.२, साम. २.११००, नि. २.२०.

उषा और रात्रि जिनके सूर्य समान रूप से बन्धु हैं और जो एक दूसरे का अनुसरण करने वाली है । प्रकाशमान अन्तरिक्ष लोक से एक दूसरे का रंग बदलती चलती हैं ।

आमिनोन् - आम् + इनोन् । अर्थ मैं ने आत्मा को जान लिया ।

'आमिनोनिति भद्यते'

अ. २०.१३१.१

आमिश्लतमः - सब प्रकार से मिला हुआ, तुल्य, परस्पर प्रेमयुक्त ।

'स सोम आमिश्लतमः सुतो भूत्'

ऋ. ६.२९.४

आमिष् - फल ।

'न्यूङ्खयन्ते अधिपक्व आमिषि'

ऋ. १०.९४.३

आमुर् - (१) मूढ़ या सर्वत्र महामारी करने वाले हिंसक ।

'इतो युच्छन्तु आमुरः'

ऋ. ८.३९.२

(२) अतिमोह करने वाले या चारों ओर से मार करने वाले शत्रु ।

'स्याम वन्वन्त आमुरः'

ऋ. ९.६१.२४

आमुरिः - (१) शत्रुओं का नाशक ।

'क्रत्वा वरिष्ठं वर आमुरिमुत'

ऋ. ८.९७.१०, अ. २०.५४.१

(२) कामादि शत्रुओं का नाशक ।

आमुष्यायण - (१) अमुक गोत्र और वंश से उत्पन्न

'असावामुष्यायणामुष्याः पुत्र'

अ. ४.१६.९

'इदमहमामुष्यायणे अमुष्याः पुत्रे दुष्वप्न्यं मृजे'

अ. १६.७.८

(२) पौत्र, पोता ।

'इदमहमामुष्यायणस्यामुष्यः
पुत्रस्य वर्चस्तेजः प्राणमायुर्नि वेष्टयामि'

अ. १०.५.३६

आमृडयत्तमा - एक दूसरे को प्राप्त होकर अति अधिक सुखी करने स्त्री पुरुष ।

'यामन्ना मृडयत्तमा'

ऋ. ५.७३.९

आमेन्य - (१) चारों ओर से नाम लेने के योग्य (२) समन्तात ज्ञानस्य विषयः-दया. (चारों ओर से ज्ञान योग्य विषय) ।

'आमेन्यस्य रजसो यदभ्रआं'

ऋ. ५.४८.१

आमेम्याने - नक्तोषसा का विशेषण । अर्थ नाश करने वाले रात और उषा एक दूसरे के वर्म का नाश करती है ।

'नक्तोषासा वर्णमामेम्याने'

ऋ. १.९६.५

आयच्छत् - शत्रुओं का निग्रह करने वाला ।

'नम आयच्छद्‌भ्योऽस्यद्भ्यश्च वो नमः'

वाज.सं. १६.२२.

आयजिष्ठ - (१) सबसे सत्संगति और मैत्री भाव रखने वाला, (२) यज्ञ करने वाला अग्नि ।

'यष्टा देवां आयजिष्ठः स्वस्ति'

ऋ. २.९.६, तै.सं. ४.३.१३.२, ६.१.५, मै.सं. ४.१०.५, १५४.४, का.सं. २१.१३.

आयजी - समन्तात् यज्यन्ते पदार्थाः याभ्यां तौ स्त्री पुरुषौ - दया. (एक साथ संगत हो दान देने वाले या यज्ञ करने वाले स्त्री पुरुष) ।

'आयजी वाजसातमा
ताह्युच्चा विजर्भृतः'

ऋ. १.२८.७, नि. ९.३६

एक साथ संगत हो यज्ञ करने वाले और ऐश्वर्य का उपयोग करने वाले स्त्री पुरुषों दोनों ऊंचे पद या गृहस्थादि कार्य भार उठाते हैं ।

आयत् - (१) आता हुआ ।

'आयतः प्रतिनन्दनम्'

अ. ७.३८.१

(२) आगामी काल, भविष्य ।

'रयिमिव पृष्ठं प्रभवन्तमायते'

ऋ. २.१३.४

(३) सब तरफ जाने वाला ।

'मरुतां श्रृण्व आयतामुपब्दिः'

ऋ. १.१६९.७

आयतन - आश्रय, प्रतिष्ठा ।

'पर्यस्यास्मिन् लोक आयतनं शिष्यते'

अ. १५.१२.७.

आयता - अति विस्तृत भूमि या वाणी ।

'न रिष्यति सवनं यस्मिन्नायता'

ऋ. ५.४४.९

आयती - (१) समीप आती हुई ओषधि । (२) समन्तात् प्राप्य ओषधि

'अदृष्टान् इन्त्या यती'

ऋ. १.१९१.२.

समीप आती हुई ओषधि न दीखने वाले विष जन्तुओं को नाश कर देती है ।

(३) आगे आने वाली उषा ।

'आयतीना प्रथमा शश्वती नाम्'

ऋ. १.११३.८

आयद्वसुः - समस्त लोकों को वश करने वाले केन्द्रस्थ महासूर्यों के भी भीतर शक्ति रूप से बसने वाला परमेश्वर ।

'संयद्वसु रायद्वसुः'

अ. १३.४.५४

आयन - (१) घर में आने और रहने का स्थान (२) शाला ।

'आयनेते परायणे
पूर्वा रोहन्तु पुष्पिणीः'

ऋ. १०.१४२.८, अ. ६.१०१.१

(३) आगमनः (४) सन्तान की प्राप्ति

'येषां दत्तं पित्र्यमायनेन'

अ. ६.१२२.२, तै.आ. २.६.२.

आयवः - शिल्पी जन, ज्ञानी जन ।

'अतक्षन् आयवो नव्यसे सम्'

ऋ. २.३१.७

आयवन - (१) जल और चावल को मिलाने वाला दण्ड ।

'बृहदायवनम् रथन्तरं दर्विः'

अ. ११.३.१६

(२) सोम रस को बार बार मिलाना ।

'स्रुग् दर्विर्नेक्षणमायवनम्'

अ. ९.६.१७

(३) घृत आदि को भात आदि में मिलाने का चमस, (४) राष्ट्र विरोधी बल को नष्ट करने वाला पुलिस आदि ।

'वि गाहेथामायवनं च दर्विः'

अ. १२.३.३६

(५) नीचे ऊपर करना ।

'आयवनेनती मेजनी'
अ. २०.१३१.८

आयवसः – (१) सर्वत्र व्यापक अन्नादि सामग्री का स्वामी, (२ अन्नादि का स्वामी आत्मा ।

आयुस् – (१) जीवनकाल ।

'पुनः पत्नीमग्निरदात्
आयुषा सह वर्चसा'
ऋ. १०.८५.३९, अ. १४.२.२, आप.मं.पा. १.५.४, ९,१४.

पिता के द्वारा दान देने के बाद पुनः अग्नि आयु और तेज के साथ दान देते हैं ।

(२) आदित्य ।

'आयोर्ह स्कम्भ उपमस्यनीडे,
पथां विसर्गे धरुणेयु तस्थौ ।'
ऋ. १०.५.६, अ. ५.१.६.

मर्यादाओं का उल्लंघन नहीं करने वाला पुरुष आदित्य मण्डल में स्थित आदित्यान्तर नारायण के स्थान में जो अविनाथी स्थान है वहाँ जाकर मरने के बाद निवास करता है ।

(३) भोजन ।

'पृथुज्रया अमिनायुर्दस्योः'
ऋ. ३.४९.२, नि. ५.९.

अति वेगवान् इन्द्र या राज दुष्ट मनुष्य को आयु यो भोजन नष्ट भ्रष्ट करता है । (४) मनुष्य ।

'ऋतस्य श्लोको बधिरातितर्द
कर्णा बुधानः शुचमान आयोः'
ऋ. ४.२३.८, नि. १०.४१.

ऋतदेव का स्तुति वचन बोधित करता एवं पवित्र करता हुआ मनुष्य के बहरे कानों को भी छेद डालता है (आयोः बधिर कर्णा आततर्द) ।

(५) जल ।

'प्रमृथस्य आयोः'

प्रचुर मात्रा में एकत्रित जल से ।

आयसः – (१) सुवर्ण के बने पदार्थ के तुल्य कान्तिमान प्रभु ।

'हरिश्मशारुर्हरिकेश आयसः'
ऋ. १०.९६.८, अ. २०.३१.३

(२) अयस् (लौह) + अण् = आयस । अर्थ- लौह कवच धारण करने वाला -इन्द्र का विशेषण ।

(३) लौह समान दृढ़ शरीर वाला ।

'येन शुष्णं मायिनमायसो मदे'
ऋ. १.५६.३

वह लौह कवच पहने (आयसः) सोमपान से हर्षित होने पर (मदे) .. .जिस बल से सबके शोषक (शुष्णम्) मायावी शत्रु को (मामिनम्) अथवा, वह लौह समान दृढ़ शरीर वाला तेजस्वी पुरुष ..जिससे उस बलवान् (शुष्णम् प्रज्ञावान् (मायिनम्) पुरुष को । ...(दया.)

आयसी जंघा – (१) लोहे की बनी शत्रुओं को मारने वाली सशस्त्र सेना, (२) गाड़ी में लगा लोहे का पहिया ।

'सद् यो जंघामायसीं विश्पलायै
धने हिते सर्तवे प्रत्यधत्तम्'
ऋ. १.११६.१५

शीघ्र ही आप दोनों प्रजावर्ग को पालन करने वाली नीति की रक्षा के लिए (विश्पलायै) ऐश्वर्यप्राप्ति और प्रजा हित के निमित्त (धने हिते) तथा आगे बढ़ने के लिए (सर्तवे) लोहे की बनी शत्रु को मारने वाली सशस्त्र सेना को, गाड़ी में लगे लोहे के पहिए के समान (आयसीं जंघाम् संयोजित करो (प्रत्यधत्तम्) ।

आयसीपुर् – (१) लोहे की बनी शस्त्रास्त्र से सुसज्जित नगरी, प्राणों से युक्त शरीर ।

'पुरः कृणुध्वमायसीरधृष्टा'
ऋ. १०.१०१.८, अ. १९.५८.४, का.सं. ३८.१३, आप.श्रौ.सू. १६.१४.५.

(३) लोहे की बनी प्रकोट, (४) प्राणों से बनी पञ्चकोश मय देह ।

'आयसी मतरत् पुरम्'
ऋ. ८.१००.८,

आयसीवाशी – (१) सुवर्णमयी वंशी, (२) लोहे की बनी बंसुली, (३) सबको संचालन करने में समर्थ ज्ञान वाणी (४) सर्व-संचालिका प्रभुशक्ति ।

'वाशीमेको विभर्ति हस्त आयसीम्
अन्तर्देवेषु निध्रुविः'
ऋ. ८.२९.३

आयान – आगमन ।

'अस्मिन्ना वाम् आयाने वाजिनीवसू'
ऋ. ८.२२.१८

आयास – अंगों का व्यापक श्रम ।

'आयासाय स्वाहा'
वाज.सं. ३९.११, तै.सं. १.४.३५.१, का.सं. (आश्व). ५.६, तै.आ. ३.२०.१.

आयु - मनुष्य ।
'त्वमस्मै कुत्समतिथिग्वमायुम्'
ऋ. १.५३.१०, आ. २०.२१.१०

आयुज् - आयोजन ।
'आयुजः प्रयुजो युजः'
अ. ११.८.२५

आयुधः - आ + युध् + अच् = आयुध । जिससे युद्ध किया जाय-अस्त्र शस्त्र
'इमा रुद्राय स्थिर धन्वने गिरः
क्षिप्रेष वे देवाय स्वधाव्ने
अषाढाय सहमानाय वेधसे
तिग्मायुधाय भरता श्रृणोतु नः ।'
ऋ. ७.४६.१, तै.ब्रा. २.८.८, नि. १०.६
हे स्तोता गण । इन स्तुतियों को स्थिर धनुष वाले, शीघ्र गामी वाण वाले, अन्न वाले, किसी से अभिभूत न होने वाले, शत्रुओं को पराजित करने वाले देदीप्यमान या दानशील विधाता, तीक्ष्ण आयुध वाले रुद्रनामक देवता को अर्पित करो । रुद्र भी हमारी स्तुतियों को सुने ।

आयुन् - (१) प्राप्ति, (२) दीर्घायु होना ।
'अग्ने जरस्व स्वपत्य आयुनि'
ऋ. ३.३.७

आयुपोषस् - जीवन और आयु की पुष्टि और वृद्धि करने वाला धन ।

आयुर्युध् - जान पर लड़ने वाला ।
'ऐलबृदा आयुर्युधः'
वाज.सं. १६.६०. तै.सं. ४.५.११.१, मै.सं .२.९.९, १२९.१.

आयुवः - 'मरीचयः' का विशेषण । परस्पर संगत एवं सुव्यवस्थित होकर रहने वाली सूर्य की किरणें या सेवाएं ।
'तस्य मरीचयो ऽप्सरस आयुवो नाम'
वाज.सं. १८.३९, तै.सं. ३.४.७.१, मै.सं. २.१२.२, १४५.३, का.सं. १८.१४, श.ब्रा. ९.४.१.८.

आयुः प्रतारण - आयु या जीवन में पार उतारने वाल -शंख ।
'आयुष्प्रतारणो मणिः'
ऋ. ४.१०.४

आयुः - मनुष्य ।
'वृधे चिदर्य उपरस्यायोः'
ऋ. ४.२.१८, अ. १८.३.२३

आयुःकृत् - आयु को दीर्घ बनाने वाली ।
'आयुषायुः कृताम् जीव'
अ. १९.२७.८

आयुष्कृत् - आयु को बढ़ाने वाला सूर्य ।
'आयुष्कृदायुष्पत्नी स्वधावन्तौ'
अ. ५.९.८, का.सं. ३७.१५.

आयुर्दद - दीर्घ जीवन देने वाली ।
'आयुर्ददं विपश्चितम्'
अ. ६.५२.३

आयुष्पत्नी - आयु का पालन करने वाली पृथ्वी ।
'आयुष्कृदायुष्पत्नी स्वधावन्तौ'
अ. ५.९.८, का.सं. ३७.१५.

आयुष्य - आयु बढ़ाने वाला ।
'आमुष्यं वर्चस्यम्'
वाज.सं. ३४.५०, शां.गृ.सू. ३.१.७, हि.गृ.सू. १.१०.६, आप.मं.पा. २.८.१.

आयुषक् - (१) सब के प्राणों को प्राप्त करने वाला (२) सब मनुष्यो को प्रेम से बांधने वाला-सोम ।
'पवस्व देव आयुषक्'
ऋ. ९.६३.२२, साम. १.४८३, २.५८५, पंच.ब्रा. १४.११.१.

आयुष्याः - सबके आयुओं का पालक ।
'आयुष्पा आयुर्मे याहि'
वाज.सं. १४.१७, २२.१, श.ब्रा. १३.४.१.७.

आयूय - खूब मिलाकर । आ + यु + ल्यप्
'आयूया धृष्णो अभिगूर्या त्वं
नेष्ट्रात् सोमं द्रविणोदः पिब ऋतुभिः'
ऋ. २.३७.३, नि. ८.३.
हे द्रविणोद नामक अग्नि, हे शत्रु धर्षक ! सोम रस को खूब मिलाकर (आयूय) तथा खूब पलट कर (अभिगूर्य) यज्ञस्थान से (नेष्ट्रात्) ऋतुंओं के साथ पान करें ।

आयै - आने के लिए ।
'आयै सुक्तेन वचसा नवेन'
ऋ. २.१८.३.

आयोःस्कम्भः - (१) आदित्य का मण्डल -सा. (२) जीवन का स्तम्भ परमात्मा ।

आर – निकट ।

आरंगरा – द्वि.व. । एक वचन में 'आरंगर' । अर्थ– खूब उपदेश देने वाले 'आयंगर' और 'आरंगर' की समानता विचारणीय है ।

'आरंगरेव मध्वेरयेथे'

ऋ. १०.१०६.१०

आरण – (१) आनन्द प्रद अवसर ।

'यो गाधेषु य आरणेषु हव्यः'

ऋ. ८.७०.८

(२) सर्वतः युद्ध भाव ।

'याभिरन्तकं जसमानमारणे'

ऋ. १.११२.६

आरण्य अज – (१) जंगली अज, (२) अजाश्रृंगी नामक औषधि, (३) शत्रुओं को उखाड़ फेंकने वाला पुरुष

'आरण्योऽजो नकुलः शका ते पौष्णाः'

वाज.सं. २४.३२, तै.सं. ५.५.१२.१, मै.सं. ३.१४.१३, १७५.३, का.सं.(अश्व). ७.२.

आरण्य गौर – गौर नानक बारहसींगा

'गौरमारण्यमनु ते दिशाभि'

वाज.सं. १३.४८, तै.सं. ४.२.१०.२, मै.सं. २.७.१७, १०२.१३. का.सं. १६.१७, श.ब्रा. ७.५.२.३३.

आरण्यमेष – जंगली भेड़ ।

'वरुणायारण्यो मेषः'

वाज.सं. २४.३०, ३८, मै.सं. ३.१४.११, १७४.७

आरपन्ती – आलपन्ती, स्पष्ट रूप से बतलाती हुई ।

'ऋतस्य सामन् सरमारपन्ती'

वाज.सं. २२.२, तै.सं. ४.१.२.१, ७.१.११.१ मै.सं. ३.१२.१, १५९.१४, का.सं.(आश्व) १.२, तै.ब्रा. ३.८.३.४.

आरब्ध – पकड़ा गया ।

'उतारब्धां स्पृणुहि जातवेदः'

ऋ. १०.८७.७, अ. ८.३.७

आरभ – (१) आलम्बन, आश्रय

'पर्णामृगस्य पतरोरिवा रभेः'

ऋ. १.१८२.७.

(२) आरम्भ ।

'पवित्रवन्तः परिवाच मासते
पितैषां प्रत्नो अभिरक्षित व्रतम्
महः समुद्रं वरुणस्तिरोदधे
धीरा इच्छेकुः धरुणेष्वारभम्'

ऋ. ९.७३.३, तै.आ, १.११.१, नि. १२.३.

रश्मियुक्त माध्यमिक देवगण (पवित्रवन्तः) माध्यमकि वाणी को घेरकर बैठते हैं (पर्यासते) प्राचीन रक्षक वह विद्युत नामक वरुण देव (प्रत्नः पिता वरुणः) इन मरुत प्रभृति माध्यमिक देवों के कर्म की रक्षा करते हैं । महान् वरुण जब आदित्य को (समुद्रम्) मेघजल से तिरोहित कर देते हैं तब बुद्धिमान् पुरुष पानी बरसाने पर (धरुणेषु) कृषि कर्म या वैदिक कर्म का आरम्भ कर सकते हैं (आरभं शेकुः)

वरुण ही (विद्युत्) कृषि आदि कार्य का साधक है ।

आररम्भ – आ + रम्भ (आश्रय लेना) का लिट् में रूप । यज्ञ लिट् का प्रयोग वर्तमान अर्थ में हुआ है । अर्थ आश्रय या अवलम्बन लेते हैं ।

'आत्वा रम्भं न जिव्रयो ररम्भा शवसस्पते'

ऋ. ८.४५.२०, नि. ३.२१.

जैसे वृद्ध लकुटी का आश्रय लेते हैं वैसे ही हे बल के पालक ! हम तेरा आश्रय लेते हैं ।

आरम्भण – आरम्भक मूल कारण या उपादान कारण ।

'किंस्विदासीदधिष्ठानमारम्भणम्'

ऋ. १०.८१.२, वाज.सं. १७.१८, तै.सं. ४.६.२.४, मै.सं. २.१०२, १३३.६, का.सं. १८.२.

आरात्तात् – आरात् + तात् । अति समीप या अति दूर ।

'आरात् तात् चित् भूतमस्मे अवसे'

ऋ. ८.२२.१६.

आर्की – ज्ञानवान् , बुद्धिमान् , ज्ञान का दान एवं ग्रहण करने वाला पुरुष ।

'आर्कीं सूर्यस्य रोचनात्
विश्वान् देवान् उषर्बुधः'

ऋ. १.१४.९

ज्ञानवान् पुरुष सूर्य या संचालक परमेश्वर के प्रकाश रह्मी उषाकाल अर्थात् सृष्टि की आदि में बोध प्राप्त कराने वाले समस्त ज्ञानप्रद वेद मन्त्रों को सबसे प्रकार सर्वत्र उपदेश करें ।

आर्क्ष – (१) शत्रु को पीड़ित करने में समर्थ, (२) विद्वान् ।

ऋचः सनोति इति ऋक्षः । ऋक्ष + अण् = आर्क्ष

(स्वार्थ में) ।

'आर्क्षो अनीक एधते'

ऋ. ८.७४.४

पुनः

'स्वभीशुं रार्क्षे'

ऋ. ८.६८.१६

आर्चत्कः - (१) अर्च + अति + क = आर्चत्कः शिष्टयानुकम्पकः -(दया.)

(२) पूज्य विद्वान् पुरुष ।

'शरस्य चित् आर्चत्कस्यावतात् आ'

ऋ. १.११६.२२

हिंसा के व्यसनी निकृष्ट कोटि के पुरुष के रक्षण-सामर्थ्य से भी प्रजापालन के लिए शत्रुओं का वारण करो । उसी प्रकार पूज्य विद्वान् पुरुष के उत्कृष्ट कोटि के ज्ञान-रक्षण-सामर्थ्य रूप मेघ जल के समान शान्तिदायक ज्ञान प्राप्त करा

आर्जक - धार्मिक निवासियों से वरण करने योग्य नगर या देश । ऋजीक + अण् = आर्जीक

'आर्जीके पस्त्यावति'

ऋ. ८.७.२९

आर्जकीया - ऋजूक प्रभवा वा ऋजु गामिनी वा -नि. अर्थ (१) ऋजूक से उत्पन्न या (२) ऋजु गति वाली (३) वह नाड़ी जो मस्तक के ऋजूक नामक स्थान से निकलती है (४) एक नदी का नाम विपाशा या विपाट् नदी ।

विपाशा तु विपाद् स्त्रियाम् - अमर

ऋजीव नामक पर्वत से निकलने वाली नदी । ऋजीक + अण् + टाप् = आर्जीका , आर्जीका + छ (स्वार्थ में) = आर्जकीया ।

'इमं मे गङ्गे यमुने सरस्वति
शुतुद्रि स्तोमं सचता परुष्ण्या ।
असिक्न्या मरुद्वृधे वितस्तया
घआर्जकीये श्रृणुह्या सुषोमया ।'

ऋ. १०.७५.५, तै.आ. १०.१.१३, महा.ना.उप. ५.४, नि ९.२६.

इसमें प्रधान सात नदियों की स्तुति है । उनके सहायक तीन और नदियाँ भी सायण के अनुसार सम्मिलित हैं । कुछ विद्वानों के अनुसार ९ ही नदियाँ हैं ।

हे गंगे, हे यमुने, हे सरस्वति, हे शुतुद्रि ! तुम मेरे इस स्तोत्रं को सुनो (इमं मे स्तोमम् आसच्चत) ! हे परुष्णी के साथ मरुद्वृधे (परुष्ण्या मरुद्वृधे) ! हे आर्जकीये ! तू भी असिक्नि , वितस्ता और सुषोमा के साथ सुन! पंजाब की पांच नदियों के साथ तीन नदियां परिगणित हैं ।

आर्जुनेय - (१) अर्जुने न रूपेण निर्वृत्तम् (सुन्दर रूप से सिद्ध) ।- (दया.)

(२) ऐश्वर्य के अर्जन करने और शत्रु का मुकाबला करने वाले सेनाध्यक्ष का ।

'याभिः कुत्सम् आर्जुनेयं शतक्रतू'

ऋ. १.११२.२३.

जिन साधनों से ऐश्वर्यों के अर्जन करने और शत्रुओं का मुकाबला करने वाले सेनाध्यक्ष के शस्त्रास्त्र एवं सेनाबल का (आर्जुनेयं कुत्सम्) आप दोनों सैकड़ो प्रज्ञाओं और कर्मों से युक्त होकर (शतकतू) रक्षा करते हो ।

आर्तना - (१) या आर्तपति ऋत्ययति (सत्य आचरण करने वाली) -दया.

(२)शत्रुओं की पीड़ा कारिणी सेना -

आर्तव - (१) ऋतुओं के पक्ष मास आदि भाग ।

'आर्तवानुत हायनान्'

अ. ३.१०.९, ११.६.१७.

(२) ऋतु. विभाग, (३) राजसभा के सदस्य के समान अन्य पदाधिकारी ।

'ऋतुभ्यष्ट्वा र्तवेभ्यः'

अ. १९.३७.४

आर्तवाः - ऋतु सम्बन्धी वायुएं ।

'आर्तवाः समिन्धते'

अ. ११.३.१७

आर्त्नी - (द्वि.व.) । अर्तन्यौ अरण्यौ अरिषण्यौ ऋ (गव्यर्पक) + नि = आर्त्नि । ऋ का आर्त हो जाता है । आर्त्नि + ङीष् = आर्त्नी । अर्थ - चलावे अर्थात् जो वाणों को चलावे । आर्त्नी का द्विवचन रूप 'आर्त्न्यौं ' है, धनुष की दो कोटियाँ ।

'आर्त्नी इमे विस्फुरन्ती अमित्रान्'

ऋ. ६.७५.४, वाज.सं. २९.४१, तै.सं. ४.६.६.२, मै.सं. ३.१६.१३,१८५.१७, का.सं.(अश्व) ६.१, नि. ९.४० ।

ये धनुष की कोटियां चटकती हुई शत्रुओं का नाश करें ।

आर्त्व्य - (१) दो शिरों वाला आर्त्व्य नामक असुर, (२) ऋतु से विहित उत्पन्न, (३) गति क्रिया शास्त्र का विद्वान्,(४) कला कौशल विद् इञ्जिनीयर,

'तां द्विमूर्धात्व्योंऽधोक्'

अ. ८.१०.(४) ३

आर्त्विज्य - (१) ऋत्विजों का गुण प्रकाशक कर्म, (२) ऋतु अर्थात् सभा के सदस्यो का सुसंगत करना ।

'विश्वा विद्वां आर्त्विज्या धीर पुष्यसि ।'

ऋ. १.९४.६

हे अग्नि या परमेश्वर । तू समस्त ऋत्विजों के यज्ञोपयोगी कर्मों को (आतिर्वज्या) जानने वाले विद्वान् के सामन समस्त ऋतु अर्थात् सभा के सदस्यो को सुसंगत करने तथा सेना आदि के नियमों को जानता हुआ उनको खूब हृष्टपुष्ट कर देता है ।

आर्द्र - (१) कीचड़ वाला स्थल, (२) उपासना (आध्यात्मिक, अर्थ) ।

'आर्द्रादा शुष्कं मधुमत् ददोहिथ'

ऋ. २.१३.६

आर्द्रदानु - (१) जलप्रद मेघ के समान आर्द्र भाव से प्रजा पर ऐश्वर्यों का त्याग करने वाला दयालु परमेश्वर (२) राजा ।

'समुद्रोऽसि नभस्वान् आर्द्रदानुः'

वाज.सं. १८.४५, तै.सं. ४.७.१२.३, मै.सं. २.१२.३,१४५.१४, ३.४.३.४८.११, का.सं. १८.१४, श.ब्रा. ९.४.२.५,

(३) जलों को देने वाला मेघ ।

'आर्द्रदानुश्च मा मातरिश्वां च मा हासिष्टाम्'

अ. १६.३.४

आर्द्रपवि - जलप्रद मेघ की वाणी, गर्जनशील विद्युत् ।

'विमोकश्च मार्द्रपविश्च मा हासिष्टाम्'

अ. १६.३.४

आर्द्रपवित्र - (१) जिसके घर में सोमरस, छानने वाला दशापवित्र आर्द्र रहता है (२) जिसके घर सदा अतिथि सत्कार होता रहता है ।

'सर्वदा वा एष युक्तग्रावार्द्रपवित्रः'

अ. ९.६.२७

आर्द्रहस्ता दासी - गीले हाथों वाली अर्थात् अपवित्र हाथों वाली नौकरानी ।

'यद्वा दास्यर्द्रहस्ता समंक्त'

अ. १२.३.१३

आर्ध्र - आढ़यालुः आढमानां स्पृहपिता (धनियों का सेवक अर्थात् दरिद्र) । आढयान् आश्रित्य ध्रियते अवतिष्ठते (जो धनियों का आश्रय लेकर रहता है ।) आढय का आ मात्र आर्ध्र में रहता है और धृ में क प्रत्यय जोड़कर आर्ध शब्द बना है । आध्र का यह पर्याय है ।

आर्पित - जकड़ा हुआ ।

'अंगे अंगे अर्पित उत्सितश्च'

अ. ६.११२.३

आर्य - (१) सर्वश्रेष्ठ स्वामी ।

'ध्रुवस्तिष्ठासि सवितवे चार्य'

अ. १९.४५.४

(२) ऋ + ण्यत् = आर्य । अरि शब्द से भी आर्य शब्द बना है । -(दया.)

'अरेः अपत्य आर्य

(३) ईश्वरपुत्र ऋजाश्व

(४) परमेश्वर का श्रेष्ठ सुपुत्र

'उरु ज्योतिश्च क्र पुरायपि

ऋ. १.११७.२१, नि. ६.२६.

तुमने ईश्वर पुत्र ऋजाश्व को विस्तीर्ण आखें दीं ।

अथवा, परमेश्वर के पुत्र श्रेष्ठ मनुष्य के लिए आनन्द ज्योति का प्रकाश दिया-दया. । ईश्वर नामक एक ऋषि के पुत्र आर्य थे जो अन्धे हो गये थे और जिन्हे गुरु के बताए अश्विमन्त्र के जप से आंखे मिलीं । आधुनिक आर्थ - आर्यजाति, योग्य, आदरणीय, उच्च,श्रेष्ठ, अनार्य, दस्यु एवं दास शब्दो का प्रति कूलार्थक, वैश्य, स्वामी । (५) सम्पत्ति का वास्तविक स्वामी

'विजानी हि आर्यान् ये च दस्यवः

ऋ. १.५१.८

जर्मनी भाषा का Herr शब्द आर्य का ही बिगड़ा रूप है ।

आर्यज्योति - श्रेष्ठ ज्योति ।

'विदत् स्वर्मनवे ज्योतिरार्यम्'

ऋ. १०.४३.४, अ. २०.१७.४

आर्ययजमान - (१) सबके शरण योग्य विद्या आदि

गुणों में श्रेष्ठ अन्यो को धन आदि और राजा को कर आदि देने वाला प्रजाजन -ज.दे.श.

(२) श्रेष्ठ यज्ञ करने वाला ।

'इन्द्रः समत्सु यजमानमार्य'

ऋ. १.१३०.८

आर्यवर्ण - श्रेष्ठ वर्ण, ब्राह्मण , क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र आदि ।

'हत्वी दस्यूं प्रार्यवर्णमावत्'

अ. २०.११.९

आर्श - शूरता का उत्पादक ओषधिरस ।

'उतार्शमसि वृष्ण्यम्'

अ. ४.४.५

आरा - (१) काष्ठ चीरने का औजार, (२) तीक्ष्ण चाबुक, (३) सब प्रकार की शिक्षा और आर्ति पीडा आदि की व्यवस्था ।

'परितृन्धि पणीनाम्
आरया हृदया कवे'

ऋ. ६.५३.५

'वि पूषन् आरयातुदः'

ऋ. ६.५३.७

आरात् चित् - दूर ही ।

'आराच्चिते षः सनुतर्युयोतु'

ऋ. ६.४७.१३, १०.७७.६, १३१.७, अ. ७.९२.१, २०.१२५.७, वाज.सं. २०.५२, तै.सं. १.७.१३.५, मै.सं. ४.१२.५, १९१.७ का.सं. ८.१६, नि. ६.७.

ये इन्द्र शत्रुओं को सदा दूर ही रखें ।

आरात् तात् - दूर रहता हुआ, दूर से ।

'आरात् ताच्चित् सधमादं न आगहि'

ऋ. ७.३२.१

आराधनः - (१) नियम में रखने वाला
(२) मार्ग ।

आर्चाभ्याम्नायः - ऋचाः अभि अधिकतया आम्नायन्ते (जिसमें अधिक ऋचाऐं आम्नात हों-कही गई हों) । ऋग्वेद का एक नाम ।

आर्द्रा - आर्द्रा नामक एक नक्षत्र ।

'अस्तु भद्रं मृगशिरःशमार्द्रा'

अ.१९.७.२, नक्षत्र कल्प, १०.२.

आर्वाचीन - अभिमुख, सम्मुख ।

'अर्वाचीनं सु ते मनः'

ऋ. १.८४.३, ३.३७.२, अ. २०.१९.२, साम. २.३७९, वाज.सं. ८.३३, तै.सं. १.४.३७.१, का.सं. ३७.९, श.ब्रा. ४.५.३९.

आरितः - (१) स्तुति द्वारा प्राप्त होने वाला -परमेश्वर ।

'इन्द्रो यः पूर्भिदारितः'

ऋ. ८.३३.५

(२) व्यापक शासन वाला ।

'वृतञ्चयः सुहरिः विक्ष्वारितः'

ऋ. २.२१.३

(३) स्तोमान् प्रति नित्यं ऋतः अवस्मितः देवता-रूपेण (देवता रूप में स्तोमों के प्रति जो नित्य अवस्थित हो)

(४) सायण के मत से आ 'प्रति' के स्थान में प्रयुक्त हुआ है । ऋत का अर्थ उन्होने गत और आरित का अर्थ प्रत्यृतः या प्रत्यागतः या प्रीनिवृत्तः किया है ।

(५) देवराज ने 'ऋ' धातु से यङ् लुक् में निष्ठा अर्थ में छान्दसहट् कर ऋ का यण्, रुक प्रत्यय से निष्पक्ष र का रोरि सूत्र से लोप कर ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोडणः से अ का दीर्घ कर 'आरित' सिद्ध किया है ।

(६) हिन्दी में आर का अर्थ खेतों की मेड़ है । ऋ + धञ = आर (खेतों के चतुर्दिक् चलाने वाली मेगडंडी) । आर + क्त = आरित (जो आर के समान मर्यादित है या जो आर की तरह करदिया गया हो ।

(७) वेदों के अनुकूल चलने वाला ।

'यो अश्वानां यो गवां गोपतिः वशि
य आरितः कर्मणि कर्मणिस्थिरः
वीडोश्चिदिन्द्रो यो असुन्वतो वधो
मरुत्वन्तं सख्याय हवामहे ।'

ऋ. १.१०१.४.

जो इन्द्र या राजा बड़वों का और जो गौओं का गोपति है, जो अपराधीन या स्वतन्त्र है (वशी), जो इन्द्र प्रत्येक कर्म में स्थिर है या जिसके बिना कोई कार्य नहीं हो सकता, जो सबके आधार भूत मर्यादित मार्ग की तरह है (आरितः) या जिसके पास स्तोता स्तुतियों के द्वारा जाते हैं या जो राजा वेदानुकूल चलने वाला है, जो यज्ञ विरोधी तथा दर्पित शत्रु का (असुन्वतः) वीडोः चित्) हन्ता है (वधः) ऐसे गुण -सम्पन्न मरुतों के साथ रहने वाले (मरुत्वन्तम्) इन्द्र को अपना

सखा बनाने के लिए हम आह्वान् करते हैं ।

(८) आज्ञापित –दया. (९) प्रस्तुत किया गया, (१०) अघोषित किया गया

'य आरितः कर्मणि कर्मणि स्थिरः'

ऋ. १.१०१.४

आरिशामहे – रचा लेते हैं ।

'परिंशम् आरिशामहे'

ऋ. १.१८७.८, का.सं. ४०.८.

शरीर मे सर्वत्र व्यापने वाला अंश रचा लेते हैं ।

आर्ति – (१) क्षुधा आदि की पीड़ा

'आर्त्यै परिवित्तम्'

वाज.सं. ३०.९, तै.ब्रा. ३.४.१.४.

(२) वेदना ।

'आर्तिश्चान पवाचना'

अ. ८.८.९

आर्ष्टिषेण देवापिः – (१) एक ऋषि का नाम जिसने वृष्टि काम यज्ञ किया था ।

'आर्ष्टिषेणो होत्रमृषि र्निषीदन्
देवापिर्देव सुमतिं चिकित्वान्'

ऋ. १०.९८.५, नि. २.११.

आर्ष्टिषेण ऋषि देवताओं की बरसाने वाली मति को जगाने वाला होता कर्म कर बैठे ।

(२) ऋष्टिषेम या इषितसेन का पुत्र ऋष्टिषेण राजा का सम्बन्धी या राजा का पुरोहित (३) ऋष्टियुक्ता सेना यस्य स ऋष्टिषेणः (जिस की सेना ऋष्टि अर्थात् आयुध से युक्त हो वह ऋष्टिषेण है) । ऋष + क्तिन् = ऋष्टि । इनेन ईश्वरेण सहिता सेना (अधिपति सहित) । अथवा समान म इनम् गतिः यस्याः सा सेना (जिसकी इन अर्थात् गति समान हो समान गति से चलने वाले योद्धागण से सेना बनती है) ।

अर्ष्टिषेण – दर्शन शक्तियों की सेना अर्थात् इन्द्रियगण पर विजयी ।

'यं त्वा देवापिः शुशुचानो अग्ने
'आर्ष्टिषेणो मनुष्यः समीधे'

ऋ. १०.९८.८, मै.सं. ४.११.२, १६७.१०, का.सं. २.१५, आश्व श्रौ.सू. २.१३.८.

आरी – (१) ऋ + इन् + ङीष् = आरी। अर्थ है-ज्ञानवती ।

'विश उपब्रुवते दस्ममारीः'

ऋ. १.७७.३

उस शत्रुओं के नाशक दर्शनीय पुरुष को (दस्मम्) ज्ञानवती प्रजाएं (आरीः विशः) अग्रासन देती हैं । (२) आप्तुं योग्या (प्राप्त होने योग्य) (३) स्वयं शरण में आने वाली प्रजा

'विश आरीराहुतमृञ्जसानम्'

ऋ. १.९ ६.३

प्राप्त होने वाली प्रजाओं को उत्तमरीति से समृद्ध करते हुए परमेश्वर को ...।

आरुजत्नु – (१) मेघों को भंग कर देने वाला वायु,(२) सब प्रकार के दुःखों का नाशक ।

'वीडुचित् आरुजत्नुभिः
गुहा चिदिन्द्र बह्निभिः'

ऋ. १.६.५, अ. २०.७०.१, साम. २.२०२. वै.सू. ३३.१५.

आरुजन् – पराजित करता हुआ

'त्वया मन्यो सरथमारुजन्तः'

ऋ. १०.८४.१, अ. ४.३१.१, तै.ब्रा .२.४.१.१०, नि. १०.३०.

हे मन्यो ! तेरे साथ एक रथ पर चढ़कर शत्रुओं को पराजित करते हुए ।

आरुणी – (१) प्रातः बेला, (२) लाल वर्ण वाली तेजस्विनी या सुख देने वाले रथों की बनी सेना

'यद् आरुणीषु तविषीः अयुग्ध्वम्'

ऋ. १.६४.७

आरुपित – आदर व प्रेम से वपन किया हुआ ।

'अग्ने रुप आरुपितं जबारु'

ऋ. ४.५.७, नि.६.१७.

आरुह् – (१) चढ़ना, ।

'न ये शेकुर्यज्ञियां नावमारुहम्'

ऋ. १०.४४.६, अ. २०.९४.६, नि. ५.२५.

(२) प्रत्यक्ष वृत्ति, (३) चारों ओर दीख पड़ने वाली परमात्मा की उत्पादक शक्ति ।

'यास्ते रुहः प्ररुहो या स्त आरुहः'

अ. १३.१.९

आरुहम् – आरोढम् (चढ़ने के लिए) । आ + रुह् +कमुल् (तुमुन् अर्थ में) = आरुहम् ।

'पृथक प्रायन् प्रथमा देव हूतयः
अकृण्वत श्रवस्यानि दुष्टरा ।
न ये शेकुर्यज्ञियां नावमारुहम्
ईर्मैव ते न्यविसन्त केपयः'

ऋ. १०.४४.६, अ. २०.९४.६, नि. ५.२५.

आर्जुनेय - (१) अर्जुनी अर्थात् पृथ्वी के उपकारी पुत्र के समान प्रजागण

'अरन्धय आर्जुनेयाय शिक्षन्'

ऋ. ७.१९.२, अ. २०.३७.२

(२) पृथ्वी के ऊपर रहने वाला प्रजाजन,

(३) सुरूपवती विदुषी का पुत्र ।

आर्जुनेय कुत्स - (१) विद्वान् पुरुष का बनाया शस्त्रास्त्र, (२) ऋजु मार्ग पर चलने वाला विद्वान् भक्त, (३) एक ऋषि ।

'अहं कुत्समार्जुनेयं न्यृञ्जे'

ऋ. ४.२६.१

(४) 'अर्जुनी ' शत्रुदल की नाशक सेना या शुद्धचित् को कहते हैं । अतः आर्जुनेय कुत्स का अर्थ हुआ-शत्रु-दल नाशिनी सेना का बना हुआ शस्त्र बल, (५) शुद्ध चित् का स्तुति कर्त्ता जीव ।

'वहत् कुत्समा र्जुनेयम् शतक्रतुः'

ऋ. ८.१.११

आरे - पास, निकट ।

'तान्यारे चकृमा मृडता न'

ऋ. १.१७१.४.

आरे अघा - (१) पाप-रहिता ।

'आरे अघामुपावसुम्'

ऋ. ६.५६.६.

(२) पापों और पापियों को दूर भगाने वाली इच्छा या सेना ।

'पूर्वीरिषो बृहती रारे अघाः'

ऋ. ६.१.१२, मै.सं. ४.१३.६, २०७.१४, का.सं. १८.२०, तै.ब्रा. ३.६.१०.५.

आरेभ - सर्वत्र कोलाहल करने वाला ।

'उतारेभाणां ऋष्टिभिः यातुधानान्'

अ. ८.३.७

आरेहण - चुम्बन ।

'यासां नाभिरारेहरणम्'

अ. ६.९.३

आरे शत्रु - शत्रुओं से रहित ।

'आरे शत्रुंकृणुहि सर्ववीरम्'

अ. ७.८.१, तै.सं. १.२.३.३, आश्व.श्रौ.सू. ४.४.२, शा.श्रौ.सू. ५.६.२,

आर्षेय - ऋषिपुत्र ।

'य आर्षेयेभ्यो याचद्भ्यः'

अ. १२.४.२,१२

आरैक् - अरिचत् (दिया, रिक्त किया, स्थान दिया) । (१) देवे ।

'न जामये तान्वो रिक्थमारैक्'

ऋ. ३.३१.२ नि. ३.६

(बेटा बहन के लिए पैतृक धन न दें)

'आरैगु कृष्णा सदनान्यस्याः'

ऋ. १.११३.२, साम. २.११००, नि. २.२०

(इस उषा को काली रात ने स्थान दिए)

(२) कल्पित किया, बनाया ।

'एवा रात्र्यषसे योनि मारैक्'

ऋ. १.११३.१, साम. २.१०९.९, नि. २.१९

उसी प्रकार रात ने उषा के लिए अपने अपर भाग को अवकाश के लिए कल्पित किया ।

आरोका - सब ओर चमकती हुई अग्नि ज्वाला ।

'आरोका इव घे दह'

ऋ. ८.४३.३

आरोधन - (न.) (१) वश करना, (२) संचय करना, (३) वृद्धि करना

'विद्वाँ आरोधनं दिवः'

ऋ. ४.८.४, का.सं. १२.१५

(४) मार्ग -(५) नियम में रखने वाला कर्म-(दया) ।

'दूत ईयसे प्रदिव उराणः
विदुष्टरो दिव आरोधनानि ।'

ऋ.४.७.८, नि. ६.१७

हे अल्प हवि को बहुत करने वाला (उराणः) विद्वत्तर अग्नि तू स्वर्ग के मार्गों से (द्वि.व.) (आरोध्य नानि) हवि देने जाता है (ईयसे) -सा.

अन्य अर्थ, हे अनर्थ निवारक, (दूत) सनातन (प्रदिवः) विश्वकर्मा (उराणः) विद्वानों को तारने वाला (विदुष्टरः) आप द्युलोक को नियम में रखने वाले कर्मों को जानते हो -(दया) ।

आरोहयः - (१) आरोपित किया -सा.

(२) उदित करता है ।

'आ सूर्य रोहयो दिवि'

ऋ. ८.८९.७,९; .१०७.७, १०.१५६.४, साम. २.७८१, २.८८०, तै.सं. १.६.१२.२, का.सं. २.१४, ८.१६.

हे इन्द्र, द्युलोक में सूर्य को तूने स्थापित किया

–सा. । हे परमेश्वर, तू द्युलोक में सूर्य को उदित करता है ।

आलाक्ता – आल + अक्ता (१) आरा अर्थात् शस्त्रों से सुसज्जित सेना, (२) विष से बुझी, (३) आरक्ता या आरा अक्ता – ईषद् अनुराग से युक्त स्त्री ।

'आलाक्ता या रुरुशीर्ष्णी'

ऋ. ६.७५.१५

आलाप –परस्पर का वार्तालाप ।

'आलापाश्च प्रलापाश्च'

अ. ११.८.२५

आलिगी – सब प्रकार से चिकरने वाली, कानखजूरा ।

'आलिगी च विलिगी च'

अ. ५.१३.७.

आलुम्प – वापिस ले लेना, लौटा लेना ।

'यथाज्यं प्रगृहीतम्
आलुम्पेत् स्रुचो अग्नये'

अ. १२.४.३४

आवक्षत् – आवहति, ददातिं (लाता है, देता है)

'देवी जोष्ट्री वसुधिती देवनिन्द्रमवर्धताम्
अयाव्यन्याधा द्वेषांसि अन्या वक्षद्वसु
वार्याणि यजमानाय शिक्षिते वसुवने
वसुधेयस्य वीतां यज ।'

वाज.सं. २८.१५

जो जोषयित्री दो देवियां धन धारण करने वाली है (वसुधिती) जिनमें एक आज के पापों को दूर करती हैं और दूसरी धन संभक्त करने के लिए यजमान के लिए वरणीय धन लाती या देती है (आवक्षत्) । वे विशेष धन से साधित इसयज्ञ के अंश पीवे । अतः हे होता ! उनकी पूजा कर ।

आवक्षति – आवहतु (लावे) । लोट् के अर्थ में लृट का प्रयोग । आङ् + वह् (प्रापण अर्थ में) + स्य + तिप् = आवक्षति । स्य के 'प् का लोप छान्दस है ।

'अग्निः पूर्वेभिः ऋषिभिः ड्यो नूतनैरुत ।
स देवां एह वक्षति ।'

ऋ. १.१.२, नि. ७७.१६.

वह अग्नि पूर्व कालीन ऋषियों से स्तुत्य है और नवीन ऋषियों से भी । वह देवताओं को इस यज्ञ में लावे (आवक्षति) ।

आवत् – समीप ।

'आवतस्ते आवतः'

अ. ५.३०.१

आवदाथः – उच्चारण करो ।

'अधाजिव्री विदथमावदाथः'

ऋ. १०.८५.२७.

हे वधू, तू पति के साथ हिलमिल कर वृद्धावस्था प्राप्त कर यज्ञों में मन्त्रों का उच्चारण करो ।

आवदेते – विवदेते (परस्पर विवाद करते है) ।

'यत्रावदेते अवरः परश्च
यज्ञन्योः कतरो नौ विवेद ।
आशेकुरित् सधमादं सखाय ।
नक्षन्त यज्ञं क इदं विवोचत्'

ऋ. १०.८८.१७, नि. ७.३०

जिस कार्य में यह पार्थिव अग्नि (अवरः) और वह सूर्य अर्थात् आन्तरिक्ष अग्नि या वायु (परश्च) आपस में विवाद करते हैं (आवदेते) कि हम दोनों यज्ञ के नेताओं में (नौ यज्ञन्यो) कौन यज्ञ का कर्म अधिक जानता है (विवेद) उस कर्म में जो ये सखा रूप ऋत्विज इस मदान्वित करने वाले यज्ञ को करते तथा सम्यक् प्रकार से अनुष्ठान करते हैं । वे स्थित होकर कहते हैं कि कौन यह कह सकता है कि दोनों में से कौन अधिक, उपयोगी है । दोनों समान भाव से उपयोगी हैं ।

आवय – प्रसव कालीन पीड़ा ।

'आद् रोदमघमावयम्'

अ. ८.६.२६

आवपन – (१) बोने के खेत, (२) स्थूल विकारों को उत्पन्न करने वाली प्रकृति ।

'किंस्विदावपनं महत्'

वाज.सं. २३.९,४५, तै.सं. ७.४.१८.१ मै.सं. ३.१२.१९. , १६६.१, का.सं.(अश्व). ४.७, श.ब्रा. १३.२.६.१३, तै.ब्रा. ३.९.५.४, आश्व. श्रौ. सू. १०.९.२ शा.श्रौ.सू. १६.५.३.

आवयत् – चबा डालता है ।

'अविस्तोकान्यावयत्'

अ. ५.१९.२

आवयाः – (१) यज्ञ में सात ऋत्विजों मे

प्रतिप्रस्थाता नामक एक है । सात ऋत्विज् होता, अध्वर्यु, प्रतिप्रस्थाता, आग्नीध्र, ग्रावस्तुत,, प्रशास्ता, और ब्रह्मा, (२) सर्वत्र व्यापक, (३) सबको अपने अधीन योग्यता के अनुसार कल पुर्जों के समान जोड़ने वाला ।

'होता अध्वर्युरावया अग्नि मिन्धो
ग्रावग्राभ उतशंस्ता सुविप्रः'

ऋ. १.१६२.५, वाज.सं. २५.२८, तै.सं. ४.६.८.२, मै.सं. ३.१६.१, १८२.६, का.सं.(अश्व). ६.४.

(४) आहुति प्रदान करने वाला, (५) सबको परस्पर सुसंगत करने वाला (६) अधनों को वेतन देने वाला ।

आवरः - आगे आने वाला ।

'आवरेष्वदधुस्तन्तुमाततम्'

ऋ. १०.५६.६

आवर्तनम् - जीवों का इस संसार में लौट कर आना (२) आगमन ।

'आवर्तनं निवर्तनम्'

ऋ. १०.१९.४,५, अ. ६.७७.२.

अवर्जते - बहुत बार प्रदान करता है ।

आवर्तयामसि - अवर्तयामः (आश्रय लेते हैं)

'आ त्वा रथं यथोतये
सुम्नाय वर्तयामसि ।'

ऋ. ८.६८.१, साम. १.३५४,

हे इन्द्र ! हम रक्षा एवं सुख के लिए तेरा आश्रय ले हैं जैसे अशक्त पुरुष रथ का ।

आवर्वृततीः - (ब.व.) आवर्तरूप से संसार को उत्पन्न करने वाली आपः अर्थात् प्रकृति के परमाणु ।

'आवर्वृततीरधनु द्विधारा'

ऋ. १०.३०.१०, ऐ.ब्रा. २.२०.३, कौ.ब्रा. १२.१, आश्व.श्रौ.स्.५.१.९ .

आवव्रतत् - निरन्तर वर्तमान, (२) संसार अथवा देह में भ्रमण करने वाला-आत्मा ।

'आवर्व्रतः कृणवो वपूंषि'

अ. ५.१.८

आववृत्रन् - अर्वाञ्चः पर्यावर्तन्ते (नीचे की ओर आते हैं) ।

'कृष्णं नियानं हरयः सुपर्णा
अपो वसाना दिवमुत्पपन्ति ।
त आववृत्रन् सदनात् ऋतस्य
आदित् घृते न पृथिवी व्युद्यते'

ऋ. १.१६४.४७, अ. ६.२२.१,९ .१०.२२, १३.३.९.

कारीरी यज्ञ में वर्षा बरसाने के लिए पठित ये रस हरने वाली (हरयः) तथा सुन्दर गति वाली (सुपर्णाः) सूर्य की रश्मियां सूर्य के दक्षिणायन पथ में अर्थात् माध्यमिक अन्तरिक्ष में (कृष्णं नियानम्) सभी लोकों से जलों को रखती हुई (अपः वसानाः) सूर्य लोक मे चली जातीं हैं (दिवम् उत्पतन्ति) । तब छः महीनों के बाद वे रश्मियां जल के सदन अर्थात् सूर्य से (ऋतस्य सदनात्) नीचे की ओर लौटती हैं (आववृत्रन्) तब (आदित्) जल से (घृतेन) पृथ्वी किक्ल हो जाती है । (पृथिवी व्युद्यते) ।

आवसथ - निवास के लिए उचित स्थान ।

'यदावसथान् कल्पयन्ति'

अ. ९.६.७

आवह - (१) आवहनात् (ओहयते अस्मिन् उदकम्) इसमें जल खींचा जाता है इसीसे आहव वर्ण विपर्यय से हो जाता है जिसका अर्थ कूप है । आहवः सङ्गरे कूपे -हेम आहाव का अर्थ भी कूप है । (२) पशुओं का पनघट क्योंकि यहां पानी पिलाने के लिए पशु लाए जाते हैं । (३) क्रिया होने पर अर्थ है- देवताओं को बुला या हवि पहुंचा ।

'आच वह मित्रमहश्चिकित्वान्'

ऋ. १०.११०.१, आ. ५.१२.१, वाज.सं. २९.२५, मै.सं. ४.१३.३, २०१.९, का. सं. १६.२०, तै.ब्रा. ३.६.३.१, नि. ८.५.

हे मित्रों के पूज्य तथा चेतनावान् अग्नि । तू देवताओं को बुला या उन्हे हवि पहुँचा ।

आवहन्तु - लावे ।

'आत्वा सुशिप्र हरयो वहन्तु'

ऋ. १.१०१.१०.

हे सुन्दर हनूया नासिका वाले इन्द्र । तुझे तेरे अश्व लावें ।

आव्यध्वन् - (१) अच्छीतरह विरुद्ध मार्ग वाला अग्नि, (२) विपरीत मार्ग से आने वाला गर्भगत जीवात्मा ।

आव्रस्क - अपराध ।

'सोऽनाव्रस्कः प्रजापतौ'

अ. १२.४.४७

आवाक्ष - ले जा ।

'देवानां वक्षि प्रियमासधस्थम्'

वाज.सं. २९.१, तै.सं. ५.१.११.१, मै.सं. ३.१६.२, १८३.१३, का.सं.(अश्व). ६.२.

हे अग्नि । तू देवताओं के समान स्थान वाले (देवा सधस्थम्म्) प्रिय अश्व या यन्त्र को भी ले जा (आवक्षि) ।

आवातु - आदाय वातु, आगच्छतु (लेकर आवे) ।

आव्याधिनी - सब तरफ से शस्त्रों का प्रहार करने वाली सेना ।

'आव्याधिनीनां पतये नमः'

वाज.सं. १६.२०, तै.सं. ४.५.३.१, मै.सं. २.९.३, १२२.१६, का.सं. १७. १२.

पुनः -

'आव्याधिनी रुगणा उत'

वाज.सं. ११.७७, तै.सं. ४.१.१०.२, मै.सं. २.७.७, ८३.१५, का.सं. १६.७.

आवित्त - साक्षात् प्राप्त ।

'अवित्तो अग्निर्गृहपतिः'

वाज.सं. १०.९, मै.सं. २.६.९: ६९.३,४.४.३. ५२.१७, का.सं. १५.७, श.ब्रा. ५.३.५.३२,

आविद्वान् - समस्त विद्याओं का ज्ञाता, बहुदर्शी विद्वान् ।

'आविद्वां आह विदुषे करांसि'

ऋ. ४.१९.१०

आविः - (१) रक्षक ।

'असिन्वन् भूरि आवयः'

ऋ. ८.४५.३८

(२) सर्वप्रकट,(३) सबका रक्षक पृथ्वी ।

'तयो रन्यद् गुह्यमाविरन्यत्'

ऋ. ३.५५.१५.

(४) प्रत्यक्ष रूप में ।

'योन स्तायत् दिप्सति योन आविः'

अ. ७.१०८.१

'यत्सस्वर्ता जिहीडिरे यदाविः'

ऋ. ७.५८.५

जिस छिपे और जिस प्रकट पाप से हम लज्जित होते हैं ।

(५) आ + विद् = आविस । अर्थ - आवेदन से, ज्ञापन से, प्रकाशन से प्रकाश को आविस् कहा गया है । आविष्टय् मे दिए 'आविस्' का अर्थ द्रष्टव्य है ।

प्रकाशित, प्रकट, बाहर आदि अर्थों में प्रयुक्त ।

'नोधा इवाविरकृत प्रियाणि'

ऋ. १.१२४.४.

यह उषा नौधा ऋषि की तरह अपने उद्गीर्ण प्रकाश से लोगों का रूप प्रकाशित करती है (प्रियाणि आविः अकृत) ।

आविः कृणुते - प्रकाशित करता है, प्रकट करता है ।

'आविः स्वः कृणुते गूहते बुसं'

ऋ. १०.२७.२४, नि. ५.१९.

वह आदित्य सदा जगत् को प्रकाशित करता है और जल को (बुसम्) वही छिपाता है (गूहते) ।

आविवासेम - परिचरेम (परिचर्या करें) । आङ् + वि + वस् + णिच् + महिङ् (लिङ्) = आविवासेम । वेद में णिच् का लोप भी हो जाता है ।

'इयं शुष्मेभिर्बिसखा इवारुजत्
सानुगिरीणां तविषेभिरूर्मिभिः
पारावतघ्नीमवसे सुवृक्तिभिः
सरस्वतीमा विवासेम धीतिभिः'

ऋ. ६.६१.२, मै.सं. ४.१४.७ , २२६.९, का.सं. ४.१६, तै.ब्रा. २.८.२.८, नि. २.२४.

यह सरस्वती नदी अपनी महती बलवती ऊर्मियों से पर्वतों के सानुओं को कमल खनने वाले की तरह (बिसखा इव) काटती है (अरुजत्) । उस पार अरार को तोड़ने वाली नदी को (पारावतीघ्नीम्) सुप्रकृत कर्मों या स्तोत्रों से (सुवृक्तिभिः धीतिभिः) हम परिचारित करें, विनय करें (आविवासेम) ।

आविवासन्ती - नानागुणों को प्रकाशित करती हुई उषा ।

'आविवासन्ती युवतिः मनीषा'

ऋ. ५.४७.१

आविविशुः - प्रवेश करते हैं । लट् के अर्थ में लिट् का प्रयोग है ।

'आ दृढ़ पुरं विविशुः'

ऋ. ५.१९.२.

वे ईश्वरोपासक या यज्ञशील पुरुष ब्रह्मलोक में प्रवेश करते हैं ।

आविवेश - आविशति - प्रवेश करता है । वर्त्तमान

अर्थ में लिट् का प्रयोग ।

'एकः सुपर्णः स समुद्रमाविवेश
स इदं विश्वं भुवनं वि चष्टे
तं पाकेन मनसा पश्यमन्तितः
तं मात रेढि स उ रेढि मातरम्'

ऋ. १०.११४.४, ऐ.आ. ३.१.१६.१५, नि. १०.४६.

अद्वितीय एक वह वायु (स सुपर्णः) नित्य अन्तरिक्ष में रहता है (समुद्रमाविवेश) । यहां आविष्ट होकर इस समस्त प्राणिमात्र को (इदं विश्वं भुवनम्) अनुग्रह भाव से देखता है (विचष्टे) । ऐसे देवता को में विपक्व प्रज्ञा से (पाकेन मनसा) निकट देखता हूँ (अन्तितः अपश्यम्) । माध्यमिकी वाक् उस वायु को चाहती हैं अर्थात् उसे पाकर जीती है (तम् रेढि) । वायु भी (स उ) जल निर्मात्री वाक् को चाहता है (मातरम् रेहि) अर्थात् एक दूसरे के आश्रय से जीते हैं।

आविश् - (१) जहां पर लोग चारों ओर से आते हैं । (२) गुरु गृह ।

'यत उ आयन् तदुदीयु राविशम्'

ऋ. २.२४.६

आविष्ट्य - (१) आविर्भूत, प्रकाशमान, आङ् + विद् + क्विप् = आविद् = आविर् + अथवा आविस् + त्य = आविष्ट्य , (२) दुर्ग के मत से आविस् + तन् + डय = आविष्ट्य । आविस् का अर्थ प्रकाश का तानने वाला हुआ । प्रकाश विस्तारक (३) प्रकाश-

'विस्तारक त्वष्टा अग्नि
आविष्टयो वर्धते चारुरासु
जिह्मानामूर्ध्वः स्वयशा उपस्थे
उभे त्वष्टुर्बिभ्यतुजायमानात्
प्रतीची सिंह प्रति जोषयेते ।'

ऋ. १.९५.५,मै.सं. ४.१४.८.२२७.४, तै.ब्रा. २.८.७.४, नि. ८.१५.

प्रकाशमान या प्रकाश-विस्तारक त्वष्टा अग्नि (आविष्ट्यः) इन क्रियाओं में (आसु) चरणशील (चारुः) तथा दूसरे का आश्रय न लेने वाला (स्वयशाः) अपने स्थान में (उपस्थे) कुटिल मनुष्यों या कुटिल इन्धनों के ऊपर सीधे होकर जाता है (जिह्नानाम ऊर्ध्वं वर्धते) ऐसे उत्पन्न त्वष्टा नामक अग्नि से (जायमानात् त्वष्टुः) द्यौ और पृथिवी दोनों डर गए (उभे बिभ्यतः) । अतः उस शक्तिशाली अग्नि की ओर सेवभाव से बढ़े (सिंह प्रतीची प्रतिजोषयेते)

अन्य अर्थ - प्रकाश विस्तारक सुमनोहर अग्नि इन यज्ञ क्रियाओं में बढ़ती है । यह अग्नि कुटिल वस्तुओं के मध्य ऊर्ध्वगामी है । यह इसका अपना स्वभाव है (जिह्मा नाम् उपस्थे ऊर्ध्वा स्वयशाः) । इस प्रज्वलित अग्नि से अन्तरिक्ष और पृथ्वी दोनों में रहने वाले पक्षी, मनुष्यादि अथवा दिवाचारी और निशाचारी अथवा अरणियों से अग्नि उत्पन्न करने वाले स्वयं अरणी-सहचारी मनुष्य डरते हैं ।

(४) गर्भ से निकलने वाला बालक

(५) प्रकट रूप में

'न वोगुहा चकृम भूरि दुष्कृते
नाविष्ट्यं वसवो देवहेडनम्'

ऋ. १०.१००.७

आविष्ठित - घेरा हुआ, आवृत ।

'येनाविष्ठितः प्रविवोशिथापः ।'

ऋ. १०.५१.१.

जिस जरायु का आवरण से घिरा हुआ तू अग्नि या विद्युत । जल में प्रविष्ट हुआ या प्रविष्ट है ।

आवीत - सर्वत्र व्याप्त, आग्नि, कान्तिमान, गतिमान् ।

'वन आवीतमाश्रितम्'

ऋ. ४.७.६

आखुः - चूहा

'भूम्या आखूनालभते'

वाज.सं. २४.२६, मै.सं. ३.१४.७ , १७३.११,

आहुवेम - पुकारे, आह्वान् करें ।

'स्वस्तये तार्क्ष्यमिहाहुवेम'

आवृणानः - (१) प्रदान करता हुआ ।

'अग्निर्देवानामव आवृणानः'

ऋ. ४.१.२०, वाज.सं. ३३.१६, तै.ब्रा. २.७.१२.५

(२) चाहता हुआ

'आ सुत्राव्णे सुमतिमावृणानः'

अ.१९.४२.३

आवृणाना - ढकती हुई ।

'अपो वृणाना वितनोति मायिनी'

ऋ. ५.४८.

जो मेघ में स्थित जलों को ढकती हुई विद्युत्...।

आवृणीमहे - (१) आभि मुख्येन प्रार्थयामः रसम्मुख हो प्रार्थना करते हैं । सा. (२) याचना करते हैं

'तच्छंयोरावृणीमहे
गातुं यज्ञाय गातुं यज्ञपतये ।
दैवी स्वस्तिरस्तु नः स्वास्तिर्मानुषेभ्यः
ऊर्ध्वं जिगातु भेषजम्
शंनो अस्तु द्विपदे शं चतुष्पदे'

ऋ. खि. १०.१९१.५.

इस कर्म से शंयु से निकट यह प्रार्थना करते हैं (शंयोः तत् आवृणीमहे) कि यज्ञ का देवों के प्रति गमन हो (गातुं यज्ञाय) यजमान का देवों के प्रति गमन हो हमें देवों का अनुग्रह मिले (दैवी स्वस्तिः) मनुष्यों से भी मेरे कल्याण हो (स्वस्तिः मानुषेभ्यः), भय का सादन करने वाला कर्म (भेषजम्) ऊपर जाय (ऊर्ध्वं जिगातु), हम मनुष्यों का कल्याण हो, गौ आदि का कल्याण हो ।

स्वा. दयानन्द का अर्थ - हे पदे मते परमात्मन्! हम उस सदाचारी शांत विद्वान् के (ततशंयोः) अपने यज्ञ में आने की ओर यज्ञपति के समीप पधारने की याचना करते हैं (आवृणीमहे) हमें देवताओं से कल्याण प्राप्त हो अर्थात् हमें आधिदैविक ताप न सताए । मनुष्यों से भी स्वस्ति हो अर्थात् आधिभौतिक ताप से हम मुक्त रहें । आपका भेषजमय हाथ हमारे ऊपर रखा रहे । हमारे दो पाए मनुष्यादिकों की शान्ति हो और चौपाए पशुओं को सुख हो ।

आवृत् - (१) लौटना, (२) आवरण, (३) देह व्यवस्था, (४)आवागमन का उपाय ।

'शतं ते सनतु आवृतः'

अ. ६.७७.३, वाज.सं. १२.८

आवृत - (१) घिरा हुआ ।

'आवृतासो अवतासो न कर्तृभिः'

ऋ. १.५५.८.

(२) उपदेश किया आचार या व्रत ।

'सूर्यस्यावृतमन्वावर्ते'

अ. १०.५.३७, वाज.सं. २.२६, का.सं. ५.५., ३२.५, श.ब्रा. १.९.३.७, ६.१५.

(३) सब प्रकार से छिपा, अप्रकट ।

'अच्छा राजाना नम एति आवृतम्'

ऋ. २.३६.६.

आवृत्वत् - हमारी ओर आने वाला ।

(२) प्रेम अनुराग से युक्त ।

'आवृत्वद् भूतु ते मनः'

ऋ. ८.४५.३६

आशयत् - आ + अशयत्, सर्वतः पतितवान् (चारों ओर गिरा या सोया हुआ) ।आङ् + अट + शी + तिप् (लङ् प्र.पु.ए.व.की विभक्ति) आपुशयन = आशयन्

आशयान् - पड़ा हुआ ।

'इन्द्रो महां सिन्धु माशयानम्'

ऋ. २.११.९.

आशये - आशेते ।

'लोपस्त आत्मने पदेषु'

(पा.७.१.४१)

अर्थ है सोया हुआ है ।

'एतदस्या अनः शये
सुसंपिष्टं विपाश्या
ससार सीं परावतः'

ऋ. ४.३०.११, नि. ११.४८.

पृथ्वी पर बरसे मेघ को दिखाते हुए ऋषि कहते हैं-यह उषा का आश्रय भूत मेघ वायु से संचूर्णित होकर (एतत् अस्याः पुनः सुसंपिष्टम्) तथा सभी बंधनों से रहित हो (विपाशि) सोया हुआ है । या पृथ्वी पर बरस कर पड़ा हुआ है उस संचूर्णित किए जाने वाले दूरवर्ती मेघ से दूर चली गई ।

सायण का अर्थ - इस उषा का इन्द्र द्वारा संचूर्णित यह शकट (अनः) विपाशा नदी के तीर पर (विपाशि) पड़ा हुआ है (आशये) । शकट टूट जाने से उषा दूर देश से दूर चली गई (परावतः शीं ससार) ।

आशरीक - चारों ओर से राष्ट्र पर आघात करने वाला ।

'आशरीकं विशरीकम्'

अ. १९.३४.१०

आशस् - (१) प्रति प्रशंसित रूप, (२) प्रशस्त ज्ञान ।

'तवाशसा जातवेदो यदीदम्'

ऋ. ४.५.११

(३) उत्तम आज्ञा ।

'प्र सप्तवध्रिराशसा'

ऋ. ८.७३.९
(४) घात प्रतिघात, (५) पीड़ा कारी ।
'यदाशसा वदतो मे विचुक्षुभे'
अ. ७.५७.१
(७) इच्छा ।
'यदाशसा निःशमाभिशसा'
ऋ. १०.१९४.३

आशसन – (१) कन्या में प्राप्त कुछ ढिठाई ।
(८) खण्ड खण्ड करना ।
'मेनि राशसनम्'
अ. १२.५.३९
(३) रजस्वला होने के समय अंगों का कटना ।
(४) घात करना ।
'क्रूर यस्या आशसनम्'
अ. ५.१९.५

आश्वमेध – (१) अश्वमेध सम्बन्धी (२) अश्व अर्थात् भोक्ता आत्मा का, (३) भोक्ताआत्मा या अश्ववत् इन्द्रिय मन से युक्त (४) अश्व-सैन्यो से शत्रुओं का संग्राम करने वाला नायक ।
'आश्वमेधस्य रोहिता'
ऋ. ८.६८.१५

आश्वपस्तरः – आशु + अपस + तर । अधिक वेग से कार्य करने वाला ।
'विभ्वना चिदाश्वपस्तरेभ्यः'
ऋ. १०.७६.५

आश्वश्व – तेज वेगवान् अश्वों या अश्वारोहियों का स्वामी ।
'य आश्वश्वा अमवत् वहन्त'
ऋ. ५.५८.१

आश्वश्वतमः – आशु + अश्वतमः । अति वेगवान् अश्वारोही
'आजिंन जग्मुः आश्वश्वतमाः'
ऋ. ५.४१.४

आशा – (१) आशा शब्द वाली बच्चा ।
'विश्वा आशाः प्रभूवरीः'
वाज.सं. २३.३५
(२) व्यापने वाले तेज, अग्नि, आकाश, वायु जल आदि तत्व, (३) दिशा ।
'भुव आशा अजायन्त'
ऋ. १०.७२.४
(४) आशा ।
'देवा नामाशा उपवीतपृष्टः'
ऋ. १.१६२.७, वाज.सं. २५.३०, तै.सं. ४.६.८.३, मै.सं. ३.१६.१ः १८२.४, का.सं.(अश्व). ६.४.
सुन्दर पीठ वाला अश्व देवताओं की आशाओं की पूर्ति करने आवें ।
(५) आशा आसादनात् आभिमुख्येन ताः सर्वत्र सन्नाः (प्राप्ताः) । अर्थात् दिशाएं सर्वत्र सामने ही प्राप्त रहती हैं या कोई पदार्थ इन से दूर नहीं।
आङ् + अश् (व्याप्त्यर्थक) + अच् = आश ।
आश + टाप् = आशा (जो चारों ओर व्याप्त हो) । अथवा, आङ् + शद् (शातन अर्थ में) + ड = आश
आधुनिक अर्थ-आशा, प्रतीक्षा, भावी उन्नति, दिशा ।
'इन्द्र आशाभ्यस्परि सर्वाभ्यो अभयं करत्
जेता शत्रून् विचर्षणिः'
ऋ. २.४१.१२, अ. २०.२०.७, ५७.१०, तै.ब्रा. २.५.३.१, नि. ६.१.
अभिप्रव के द्वितीय दिन पढ़ा जाता है । सर्वद्रष्टा (विचर्षणिः) शत्रुओं या असुरों का विजेता इन्द्र सभी दिशाओं से (सर्वाभ्य आशाभ्यः परि) अभय करे ।

आशापाल – (१) दिशा का पालक, अध्यक्ष । पूर्व, दक्षिण, पश्चिम और उत्तर के अग्नि, वरुण और सोम क्रमशः अध्यक्ष हैं ।
'आशानामाशापालेभ्यः'
अ. १.३१.१, तै.ब्रा. २.५.३.३, ३.७.५.८, आश्व.श्रौ.सू. २.१०.१८, आप.श्रौ.सू. ४.११.१, ७.१६.७.
(२) दिशावासिनी प्रजाओं का पालक माण्डलिक राजा ।
'देवा आशापाला एतं देवेभ्योऽश्वं'
वाज.सं. २२.१९

आशारैषी – चारों तरफ से इच्छा करने वाला ।
'आशारैषी कृशगुरेत्वस्तम्'
अ. ४.१४.६

आशासंशित – अवान्तर दिशाओं की शक्तियों में सुशिक्षित ।
'आशासंशितो वाततेजाः'
अ. १०.५.२९

आशासाना – आशा करती हुई ।

‘आशासाना सौमनसम्’

अ. १४.१.४२, तै.सं. १.१.१०.१, का.सं. ११.१०, तै.ब्रा. ३.३.३.२, वै.सू. २.६, आप.श्रौ.सू. २.५.२, आप.मं.पा. १.२.७.

आशिक्षा – सब प्रकार की विस्तृत शिक्षा ।

‘आशिक्षायै प्रश्निनम्’

वाज.सं. ३०.१०, तै.ब्रा. ३.४.१.६.

आशित – खाने योग्य अन्न ।

‘कृषन्नित्फाल आशितं कृणोति’

ऋ. १०.११७.७

आशिनः – (१) व्यापी देवता, सा. (२) वृद्ध विद्वान् –(दया.) ।

‘आशिनाः देवाः’

अश् धातु व्याप्त्यर्थक है । देवता व्यापी होते हैं । स्वामी दयानन्द इसका अर्थ वृद्ध विद्वान् करते हैं ।

पुनः–

‘नमो युवभ्यो नम आशिनेभ्यः’

ऋ. १.२७.१३, आप.श्रौ.सू. २४.१३.३.

आशिनाः देवाः – (१) व्यापी देवता–सा. (२) वृद्ध विद्वान् । –(दया.)

‘नमो महद्भ्यो नमो अर्भकेभ्यः
नमो युवभ्यो नम आशिनेभ्यः’

ऋ. १.२७.१३, आप.श्रौ.सू. २४.१३.३.

यहां शक्ति ओर तेज के तारतम्य से देवताओं का भेद अभिप्रेत है । स्वामी दयानन्द ने देव का अर्थ विद्वान् किया है ।

आशिर् – (सं) आश्रयणात् प्राश्रयणात् आङ् + शॄ या श्रृ + क्विप् =आशिर् । नितपातन से सिद्ध । यहां ‘आङ्’ ईषत् अर्थ प्रयुक्त है । जो थोड़ा श्रृत हो । होमार्थ सोम के आश्रय से आशिर् का अर्थ पय हुआ । अर्थ है दूध उपभोग करने योग्य दुग्ध आदि उत्तम द्रव्य (२) स्वामी दयानन्द ने इसका अर्थ – ‘आश्रय’ किया है ।

‘किन्ते कृण्वन्तिकीकटेषु गावः
नाशिरं दुह्रे न तपन्ति धर्मम्’

ऋ. ३.५३.१४, नि. ६.३२.

अनार्य देश वासियों के पास जो गाए हैं वे भला कौन उपकार करती हैं, न तो वे सोम–मिश्रणयोग्य दुग्ध देती और न प्रवर्ग्य कर्म के उपयुक्त महावीर पात्र या अग्निकुण्ड को अपने दूध से तप्त ही करती हैं (नाशिरं दुह्रे न तपन्ति धर्मम्) ।

पुनः–

‘इन्द्राय गाव आशिरं दुदुह्रे वज्रिणे मधु
यत्सीम् उपह्वरे विदत् ।’

ऋ. ८.६९.६, अ. २०.२२.६,९२.३, साम. २.८४१, तै.ब्रा. २.७.१३.४

गायों ने वज्री इन्द्र के लिए मधुर दूध बार बार दिया (आशिरं दुदुह्रे) जब स्तन में (यत् उपह्वरे) सर्वतोभाव से (सीम्) जानता या प्राप्त करता है (अविदत्) या जिसे वह सदा समीप में प्राप्त करता है ।

‘देवासो नित्ययाशिरा’

ऋ. ८.३१.५

(३) परमानन्द रूप रस ।

‘स्वेदाञ्जिभिराशिर मिच्छमानः’

ऋ. १०.६७.६, अ. २०.९१.६, मै.सं. ४.१४.५, २२२.६.

आशिषः – सब पदार्थों को शासन करने वाली, सबकी नियामक शक्तियां ।

‘किमु धाम का आशिषः’

अ. ८.९.२५

आशिष्ट – आशु + इष्ट । शीघ्र वेग से जाने वाला रथ ।

‘उताशिष्ठा अनुश्रृण्वन्ति वह्नयः’

ऋ. २.२४.१३

आशिष् – आङ् + शास् (अभिलाषा अर्थ में) + क्विप् = आशिस् । उपधा का इ । अर्थ हुआ –हिता शंसा, आशीर्वाद

‘सा मे सत्याशीर्देवान् गम्यात्
श्रृण्वन्तु ते समर्धयन्तु जुष्टात्
जुष्टतरा पण्यात् पण्यतरा
अहेडता मनसा नु गच्छ
यज्ञो देवान् गच्छतु’

मै.सं. १.४.१:४७.१२, का.सं. ५.३, आप.श्रौ.सू. ४.१२.६

वह मेरा आशीर्वाद् देवों को प्राप्त हो । वे देवता सुनें और सुनकर समृद्ध करें । प्रिय से प्रिय (जुष्टतरा) और स्तुत्य से स्तुत्य (पण्यात् पण्यतरा) और अक्रुद्ध मन से (अहेडता मनसा) प्रहित हे प्रस्तर ! देवों के समीप जा । यज्ञ भी

देवों के समीप जाये ।

आश्विनः - (१) स्त्री पुरुष का सम्बन्ध ।

'लोपाश आश्विनः'

वाज.सं. २४.३६. मै.सं. ३.१४.१७, १७६.३

(२) स्त्री पुरुष जो राजवर्ग और प्रजा वर्ग से अभिसिक्त हो ।

'आश्विनः पयस्यानी यमाने'

वाज.सं. ३९.५

(३)सूर्यचन्द्रवत्अश्विन नामक अधिकारी ।

'अश्विनश्च मे प्रतिप्रस्थानश्च मे'

वाज.सं. १८.१९, तै.सं. ४.७.७.१, मै.सं. २.११.५, १४३.४, का.सं. १८.११ .

आश्विनौ - अश्वि देवता वाले ।

'आश्विनौ अधोरायौ बाह्वोः'

वाज.सं. २४.१. मै.सं. ३.१३.२, १६८, ११.

अश्विनकृत - प्रजा के स्त्री पुरुषों द्वारा कृत्, निश्चित्

'अश्विनकृतस्य ते सरस्वति कृतस्येन्द्रेण
सुत्राम्णा कृतस्य उपहूत उपहूतस्य भक्षयामि'

वाज.सं. २०.३५

आश्विनं तेजः - (१) सूर्य चन्द्र, दिनरात्रि स्त्री पुरुष -इन युगलों के समान राजा प्रजा का सम्मिलित वीर्य ।

'आश्विनं तेजः सारस्वतं वीर्यम्'

वाज.सं. १९.८, का.सं. ३७.१८, तै.ब्रा. २.६.१.५, आप.श्रौ.सू. १९.७. ५.

आशीर्त - आसेवित ।

'क्षीरैर्मध्यत आशीर्त'

ऋ. ८.२.९

आशीर्वान् - आ + शास् + क्विप् = आशीस्, आशीस् + वनुप् = आशीर्वत् । सायण ने श्रीञ् से आशीः की सिद्धि की है । अर्थ - नाना कामना एवं आशा वाला जीव ।

'तीव्राः सोमास आगहि
'आशीर्वन्तः सुता इमे ।
'वायो तान प्रस्थितान् पिब ।'

ऋ. १.२३.१

ये उत्पन्न (इमे सुताः) नाना प्रकार की कामना एवं आशाओं वाले (आशीर्वन्तः) तीव्र वेग से जाने वाले (तीव्राः) देह से देहान्तर में गति करने वाले जीव गण हैं । तू आकर दर्शन दे और उन समस्त जीवों एवं प्रस्थान करने वाले मुमुक्षुओं को अपनी शरण में ले । अथवा आचार्य दीक्षित कर तीव्र बुद्धि वाले शिष्यो को लें । उत्तम कामनाओं को पूर्ण करने वाले, तीक्ष्ण वेग अस्थिर जलों में वायु पान करता है ।

आशीविष - दाढ़ो में विष धारण करने वाला सूर्य

'आशीविष उद्धता'

अ. १२.५.३४.

आशुंग - शीघ्र गामी ।

'आशुंगःशिशु को यथा'

अ. ६.१४.३

आशुपत्वा - वेग से गति करने वाला ।

'प्रश्येनः श्येनेभ्य आशुपत्वा'

ऋ. ४.२६.४

आशुमत् - वेगवान् ।

'परागतति आशुमत्'

अ. ६.१०५.१, २.

आशुः - शीघ्र करने वाला ।

'यदद्रयः पर्वताः साकमाशवः
श्लोकं घोषं भरथेन्द्राय सोमिनः ।'

ऋ. १०.९४.१, नि.९ .९.

हे ऋत्विजो, जब शीघ्रकारी दृढ़ पर्वत एक साथ इन्द्र के लिए श्रवणीय घोष करते हैं तो आप भी इन्द्र के लिए स्तुति रूप वचन बोलें ।

(२) शीघ्र चलने वाला ।

'अरिष्टनेमिं पृतनाजमाशुम्'

ऋ. १०.१७४.१, अ. ७.८५.१, साम. १.३३२, ऐ.ब्रा. ४.२०.२४, नि. १०.२८.

(३) (अव्ययं) अतिशीघ्र, क्षिप्र ।

'त्वमग्ने द्युभिस्त्वमाशुशुक्षणिः
त्वमद्भ्यः त्वम् अश्मनस्परि ।
त्वं वनेभ्यः त्वम् ओषधीभ्यः
त्वं वृणां नृपते जायसे शुचिः'

ऋ. २.१.१, वाज.सं. ११.२७, तै.सं. ४.१.२५, मै.सं. २.७.२, ७६.१०, का.सं. १६.२, तै.आ.(आंध्र) १०.७६, कौ.ब्रा. २१.४, नि. ६.१, १३.१.

हे अग्ने या विद्युत्! तू द्योतनात्मक यज्ञ के दिनों से अर्थात् पौर्ममास्य आदि से मनुष्यों से मथे जाने पर उत्पन्न होता है (द्युभिः नृणां जायसे) अर्थात् यज्ञ के दिनों में प्रत्यक्ष होता है । तू शीघ्र दीप्ति से शत्रुओं का क्षय करने वाला है (त्वम् आशुशुक्षणिः) । हे यष्टाओं का पालक (नृपते)!

तू वृष्टि के जलों से या समुद्र के नलों से बड़वा रूप में उत्पन्न होता है (त्वम् अद् भ्यः) तू पाषाण के उत्तरोतर घात से उत्पन्न होता है (त्वं अश्मनः परि) या मेघ से अन्तरिक्ष में निर्घात रूप से तू दावाग्नि के रूप में वृक्षादि समूहों से उत्पन्न होता है (त्वम् वनेभ्यः) । तू ओषधि आदि ब्रीहियों से उत्पन्न होता है (त्वम् ओषधीभ्यः) । इसमें विद्युत्, के उत्पत्ति स्थान सूर्य की किरणें, जल, उद्भिद् और काष्ठ आदि बतलाए गए हैं । (४) ज्ञानोपदेश ग्रहण करने में आशुगति वाला शिष्य, (५) व्यापक ।

'एमाशुमाशवे भर'

ऋ. १.४.७, अ. २०.६८.७

आशुपत्वा - तेजी से चलने वाला ।

'उत श्वेत आशुपत्वा'

अ. २०.१३५.८, ऐ.ब्रा. ६.३५.१२, गो.ब्रा. २.६.१४, शां.श्रौ.सू. १२.१९.४.

आशुया - वेग से जाने वाले ।

'तव भ्रमास आशुया पतन्ति'

ऋ. ४.४.२, वाज.सं. १३.१०, तै.सं. १.२.१४.१, मै.सं. २.७.१५,९ ७.९, का.सं.१६.१५.

आशुरथ - शीघ्रगामी रथ सेना वाला ।

'नम आशुषेणाय च आशु रथाय च'

वाज.सं. १६.३४, तै.सं. ४.५.६.२, मै.सं. २.९.६, १२५.१, का.सं. १७. १४.

आशुशुक्षणि - (१) आशु + शु + क्षणि = आशु शुक्षणि । आशु का क्षिप्र और शु का अर्थ भी क्षिप्र ही है । 'आशु इति च शु इति च क्षिप्रन्तमनी भवतः' । 'क्षणि ' क्षण (हिंसार्थक) + इन से बना है । अतिशीघ्रं क्षणोति (अति शीघ्र नाश करता है) ।

अर्थ -अग्नि या विद्युत् ।

(२) आशु शोकं ददाति (शीघ्र शोक देता है । इस अर्थ में भी अग्नि का ही पर्याय है । 'आशु शुचा क्षणोति ' -शीघ्र अपनी ज्वाला से नष्ट करता है ।(३) शुच् धातु का सन्नन्त रूप भी हो सकता है । आङ् शुशुक्षणि = आशु शुक्षणिः । अर्थ सर्वतः दीप्तिमान् ।

(४) आशु शुचा दीप्त्या क्षणोति हिनस्ति । (शीघ्र दीप्ति से नाश करता है) । अग्नि ।

(५) आशु शुचा सनोति (शीघ्र शोक से युक्त करता है) । अग्नि

आशुषाणः - (१) प्राप्त करता हुआ (२) तपस्या करता हुआ ।

'अभि प्र सेदुः ऋतमाशुषाणाः'

ऋ. ४.१.१३

(३) उपभोग करता हुआ, (४) अति शीघ्रता से कार्य करता हुआ ।

'अश्यामतत्साप्तम् आशुषाणाः'

ऋ. २.१९.७

(५) निरन्तर या अति अल्प काल में ही ग्रहण कर लेने वाला - शिष्य ।

'ददाशुर्वाजेभिराशुषाणाः'

ऋ. १.१४७.१.

(६) आदर पूर्वक देह का शोषण करता हुआ तपस्वी ।

'आशुषाणासो मिथो अर्णसावौ'

ऋ. ४.२४.४

(७) शीघ्र गामिनी सेना का स्वामी ।

'नम आशुषेणाय च आशुरथाय च'

वाज.सं. १६.३४

आशुहेमन् , आशुहेमा - (१) शीघ्र चलने वाला पदार्थ, गतिशील रथ का विशेषण । (२) बहुत शीघ्र ऐश्वर्य आदि से बढ़ाने वाला ।

'त्वमाशुहेमा ररिषे स्वश्व्यम्'

ऋ. २.१.५

(३) शीघ्र प्रेरणा करने वाला (४) सेना, अश्वों या रथों को शीघ्र प्रेरणा करने वाला (५) शीघ्र बढ़ने या जाने वाला । अपांनपात्-विद्युत्

'अपांनपात् अवतु आशुहेमा'

ऋ. ७.४७.२

(६) शीघ्र क्रिया करने वाला, (७) ज्ञान और बल की वृद्धि करने वाला ।

'अपां न पात् आशुहेमा कुवित्स'

ऋ. २.३५.१, मै.सं. ४.१२.४, १८८.१, का.सं. १४.६, तै.ब्रा. १.३.५.४,

(८) शीघ्र गति से चलने वाले सूर्य, विद्युत् आदि लोकों ओर पदार्थों का प्रेरक परमेश्वर ।

(९) शीघ्रगामी अश्वों, यन्त्रों, का संचालक ।

'अपांनपात् आशुहेमा धिया शमि'

ऋ. २.३१.६

आशुहेषसा - (१) शीघ्र ही उत्तम ध्वनि करने वाले

आश्विद्वय, (२) अश्वारोही या जितेन्द्रिय जन ।

'इन्द्राविष्णू अश्विना वाशु हेषसा'

ऋ. ८.१०.२

आश्रुत्कर्ण - (१) सर्वत्र श्रोतारौ कर्णौयस्य सः (जिसके कान सर्वत्र सुनने वाले हों या भली प्रकार सुनने वाला जिनके कान हों) । इन्द्र का विशेषण, (२) भली भांति कानों से सुनने वाला विद्वान् । -(दया.)

'आश्रुत्कर्ण श्रुधी हवम्
नूचित् दधिष्व मे गिरः
इन्द्र स्तोम मिमं मम
कृष्वा युजश्चिदन्तरम्'

ऋ. १.१०.९, आश्व.श्रौ.सू. ७.८.३, नि. ७.६.

हे सर्वत्र सुनने वाले इन्द्र, हमारा आह्वान् आप शीघ्र सुनें । मेरी स्तुतियों को भी चित्त में धारें और हे इन्द्र, मेरे इस स्तोत्र को मित्र के सदृश हृदयंगम करें ।

स्वामी दयानन्द का अर्थ - भलीभांति सुनने वाले कानों से युक्त विद्वन् , मेरी प्रार्थना सुनिए एवं मेरे वचनों को शीघ्र धारण कीजिए। हे विद्वान् ब्राह्मण, मेरी इस वाणी को सुनकर एवं धारण कर अपने प्यारे सम्बन्धी की तरह मेरा अन्तः करण पवित्र कीजिए । (३) निरन्तर श्रवण शक्ति रूप कर्णवाला, (४) सर्वत्र श्रवण करने वाले कानों से युक्त इन्द्र या परमेश्वर

आश्रुतिः - सब तरफ से उत्तम रीति से श्रवण करने हारी ।

'आश्रुतिरुत्तरतो धातुराधिपव्ये रायस्पोषं मे दाः'

वाज.सं. ३७.१२, श.ब्रा. १४.१.३.२२.

आश्नुवानः - सर्वत्र व्याप्त होता हुआ । आ + श्नु + शानच् = आश्नुवान् ।

आश्रृण्वत् - आदर से सुनने वाला ।

'आश्रृण्वते आदृपिताय मन्म'

ऋ. ४.३.३.

आश्रृण्वन् - माता पिता आचार्य आदि की आज्ञा सुनने वाला बालक,।

'आश्रृण्वन्तं यवं देवम्'

अ. ६.१४२.२

आश्रेष - शीघ्र चिपट जाने वाले संक्रामक रोग से पीड़ित, (२) गर्मी सुजाक, आदि दाहकारी रोग से पीड़ित ।

'आश्रेषं वव्रिवाससम् '

अ. ८.६.२

आश्लेषा - आश्लेषानामक नक्षत्र ।

'भानुराश्लेषा अयनं मघा मे'

अ. १९.७.२

आष - ज्वाला, आंच ।

'मृत्योराषमा पद्यन्ताम्'

अ. ८.८.१८

'आष्ट्रीपदं कृणुते अग्निधाने'

ऋ. १०.१६५., ३. अ. ६.२७.३, मै.सं. ४.१२.१, १७८.२

आस् - (१) मुख ।

'नाना सन्तो बिभ्रतो ज्योतिरासा'

ऋ. १०.६७.१०, अ. २०.९१.१०,

(२) प्रमुख मनुष्य ।

'आसा देवा हवि रदन्ति आहुतम्'

ऋ. २.१.१४

आस - (१) मुख, (२) प्रमुख स्थान ।

'व्यास इन्द्रः पृतणाः स्वोजा'

ऋ. ७.२०.३.

(३) बाहर फेंका हुआ ।

'आसो बलासो भवतु'

अ. ९.८.१०

(४) स्थापन ।

'वषट् ते विष्णावास आकृणोमि'

ऋ. ७.९९.७, १००.७, साम. २.९.७७, तै.सं. २.२.१२.४, का.सं. ६.१०, आश्व. श्रौ.सू. ३.१३.१४.

मुख के अर्थ में ।

'मध्वः पिबतम् मधुपेभिरासभिः'

ऋ. १.३४.१०, ४.४५.३.

आसंग - असंगः, संगरहित ।

'आसंगस्य स्वनद्रथः'

ऋ. ८.१.३२

आसचत - (१) आसेवध्वम् (सर्वतोभाव से सेवन करो) (२) सुनो ।

'इमंमे गंगे यमुने सरस्वती
शुतुद्रि स्तोमं सचा परुष्ण्या'

ऋ. १०.७५.५, तै.आ. १०.१.१३, महा.ना.उप. ५.४, नि. ९.२६.

आसते - आस् (बैठना) धातु के लट् प्र.पु.ब.व.

का रूप ।
'पवित्रवन्तः परिवाचमासते'
ऋ. ९.७३.३, तै.आ. १.११.१, नि. १२.३२.
आ + सद् + क्विप् = आसद्

आसद् - (१) आकर बैठने का स्थान ।
'ऋतस्य योनिमासदम्'
ऋ. ३.६२.१३,९ .८.३, ६४.२२, तै.सं. ३.४.२.
(२) विराजना, ग्रहण करना, आसन जमाना ।
'यजिष्ठं बर्हिरासदे'
ऋ. ८.६०.१, अ. २०.१०३.२, साम. २.९०.२, का.सं. ३९.१५.
'इदं नो बर्हिरासदे'
ऋ. १.१३.७, ८.६५.६, १०.१८८.१, नि. ७.२०

आसद - (१) राज्य -सिंहासन, (२) राजसभा, (३) प्रतिष्ठा ।
'आ दक्षिणा सृज्यते शुष्म्यासदम्
ऋ.९ .७१.१.

आसदे - (१) आस्स्तुम् , प्राप्तुम् (पाने के लिए)
आङ् + सद् + केन् = आसदे ।
'प्रनूनं जातवेदसम्
अश्वं हिनोत वाजिनम् ।
इदं नो बर्हिरासदे ।'
ऋ. १०.१८८.१, नि. ७.२०.
हे स्तोता गण ! तुम इन कर्मों से समस्त जग व्याप्त करने वाले (अश्वम्) गति शील चंचल अग्नि को (वाजिनम् जातवेदसम्) हमारे इस आस्तीर्ण कुशासन पर आने के लिए (नः इदं बर्हिरासदे) स्तुतियों से प्रेरित करो (प्रहिणोत) । अन्य अर्थ-सर्वव्यापी गतिशील (वाजिनम्) वेद वेत्ता के आस्तीर्ण आसन पर आने के लिए आसन दे । (२) सुख से बैठने योग्य ।

आसन् - (१) मुख ।
'हव्या जुह्वान आसनि'
ऋ. १.७५.१, मै.सं. ३.१०.१, १३०.७, का.सं. १६.२१. तै.ब्रा. ३.६.७. १, ऐ.ब्रा. २.१२.४.
मुख में हव्य या अन्नो को रखता हुआ ।
(२) आस्यात् (मुख से) . ऐसा प्रयोग वेद में आया है । आस्य का आसन आदेश और पंचमी एक वचन में 'अ' का लोप हो जाता है ।

आसना - दुर्वृत्ति ।
'अजैष्याद्यासनाम च'
ऋ. ८.४७.१८, १०.१६४.५, अ. १६.६.११.

आसन्वान् - मुख से काटने वाला सर्प ।
'यद्भूतं भाव्यमासन्वत्'
अ. ६.१२.२

आसन्दी - (१) पृथिवी । अस्या हि इदं सर्वमासन्नम् (यह सब कुछ इस पृथ्वी से आसन्न है) ।
'आसन्दी रूपं राजसन्द्यै'
वाज.सं. १९.१६
(२) राज्य-सिंहासन ।
'वरुण आसन्द्यामसन्नोऽग्नि राग्नीध्रे'
वाज.सं. ८.५६,
(३) कुरसी, खाट, आसन ।
'यदासन्द्यामुपधाने
अ. १४.२.६५

आसया - समीप, निकट ।
'अतिथिं मानुषाणाम्
पितुर्न यस्यासया ।'
ऋ. १.१२७.८,
जिस सर्वपालक के निकट उसकी गोद और उपासना में स्थित (पितुः आसया) समस्त मनुष्यों में अतिथि के समान पूजनीय तुझ को हम प्राप्त होते हैं ।

आसवः - (१) सर्व कार्यों की अनुज्ञा देने वाला (२) सब प्रकार से से ऐश्वर्यवान् परमेश्वर (३) राजा ।
'आसवं देववीतये'
वाज.सं. २२.१३

आसस्राणासः - आससृवांसः नित्यम् आसर्पन्ति ये ते (जो नित्य चलने वाले हों)
'आसन्त्राणासः शवसानमच्छ
इन्द्रं सुचक्रे रथ्यासो अश्वा· ।
अभिश्रव ऋज्यन्तो वहेयुः
नू चिन्नु वायोरमृतं विदस्येत् ।'
ऋ. ६.३७.३, नि. १०.३.
नित्य चलने वाले (आसम्रणासः) रथ में जोते जाने वाले (रथ्यासः) घोड़े (अश्वाः) सुन्दर चक्के वाले रथ में (सुचक्रे) जोते जाकर सुन्दर चाल से चलते हुए (ऋज्यन्तः) अपने को बलवान् मानने वाले इन्द्र को (शवसानम् इन्द्रम्) सामने अच्छा 'नया' पुराना अन्न या सोम रस

(श्रवः) उस प्रकार लावे (अभिवहेयुः) जिससे इन्द्र का (वायोः) यह सोम (अमृतम्) शीघ्र घट न जाए (नु नूचित् विदस्यत्) ।

आतस्थिवान् - बैठा हुआ ।

'शतारित्रां नावमातस्थिवांसम्'

ऋ. १.११६.५

सैकड़ो चक्षुओं वाली नाव में बैठे हुए

आस्तरण - बिछावन ।

'वेद आस्तरणम् ब्रह्मोपबर्हणम्'

अ. १५.३.७

आ[illegible] - स्तुत किया जाता है ।

'अग्निष्ट्वे दम आ जातवेदाः'

ऋ. ६.१२.४, ७.१२.२, साम. २.६५५.

जात धन या जातप्रज्ञ अग्नि यहगृह में (दमे) स्तुत किये जाते हैं (आस्तवे) ।

आस्त्रबुध्न - अस्त्र विद्या का ज्ञाता ।

'त्वं त्यमिन्द्रमर्त्यमास्त्रबुध्नायवेन्यम्'

ऋ. १०.१७१.३

आस्पन्दमाना - सब तरफ से आती उछलती कूदती हुई ।

'आधेनवः सायमास्पन्दमानाः'

अ. ३.१२.३

आस्य - (१) मुख । अस् (क्षेपणार्थक) + ण्यत् = आस्य (जिसमें अन्न आदि क्षिप्त किया जाय) (२) आङ् + स्यन्द + ड = आस्यन्द । मुख में आस्यन्दित होता है । अतः यह आस्य है । (३) आश्य, खाने योग्य, देने योग्य ।

'इदं पितृणां हवि रास्यं यत्'

अ. ७.६८.२.

आसा - उपवेशन ।

आसात् - समीप से ।

'आ न इन्द्रो दूरात् आन आसाद्'

ऋ. ४.२०.२, वाज.सं. २०.४८, ऐ.ब्रा. ४.३०.१, कौ.ब्रा. २२.१, ऐ.आ. ५.२.२.३, शां.श्रौ.सू. १२.३.९.

आसाद - आसन्दी (पीढ़ा) पर लगाया पीठ रखने का आश्रय ।

'सामासाद उद्गीथोऽपश्रयः'

अ. १५.३.८

आसानः - (१) समीप बैठा हुआ, ।

'आसानेभिः यजमानो मियेधैः'

ऋ. ६.५१.१२

(२) रहता हुआ ।

'यं त आसानो जुहुते हविष्मान्'

ऋ. ६.१०.६

आस्कन्द - सब तरफ से राष्ट्र के रसों को शोषण करने या चूस लेने की कार्य-व्यवस्था ।

'आस्कन्दाय सभास्थाणुम्'

वाज.सं. ३०.१८

आस्कन्दम् - उछल कूद कर ।

'शश आस्कन्दमर्षति'

वाज.सं. २३.५६

आस्क्रः - (१) समन्तात् आहूतः -दया. (चारों ओर से आहूत) (२) सब प्रकार से खरीदा भृत्य

'त्वया वयं सहसावन् आस्क्राः'

ऋ. ७.४३.५

(३) शत्रुबलस्यक्रमिता। शत्रुओं पर आक्रमण करने वाला ।

'आवो विश्वा आस्क्रा गमन्तु देवाः'

ऋ. १.१८६.२, मै.सं. ४.१४.११, २३२.२ तै.ब्रा. २.८.६.३, आश्व.श्रौ.सू. ३.७.१०.

आस्थाता - अध्यक्ष

'आस्थाता ते जयतु जेत्वानि'

ऋ. ६.४७ ६, अ. ६.१२५.१, वाज.सं. २९.५२, तै.सं. ४.६.६.५, मै.सं. ३.१६.३, १८६.८, का.सं.(अश्व). ६.१, साम.मं.ब्रा. १.७.१६, गो.गृ.सू. ३.४.३२, नि. ९.१२.

आस्थान - (१) ठीक स्थान ।

'आस्थाने पर्वता अस्थुः'

अ. ६.७७.१, ७.९६.१

(२) आश्रय स्थान ।

'तासाम् आस्थानात् उज्जिहतामोषधयः सुपिप्पलाः'

वाज.सं. ११.३८, मै.सं. २.७.४, ७८.६,३.१.५ ६.२०, का.सं. १६.४, श. बा. ६.४.३.२.

(३) शरीर में चिपकने का गुण ।

'आस्थानमसितं तव'

अ. १.२३.३, तै.ब्रा. २.४.४.१.

आम्राव - अंग प्रत्यंग से इकट्ठा होकर बहने वाला बहुमूल्य ।

'एवा रोगं चाम्रावम्'

अ. १.२.४

आस्राव भेषन - रक्तस्राव को अच्छा करने वाला औषध-विषाणका नामक दवा ।

'श्रेष्ठमास्रावभेषजम्'

अ. ६.४४.२

आदित्यासः - (१) अदिति माता पृथिवी के पुत्र प्रजागण, (२) पृथ्वी के स्वामी तेजस्वी राजा गण, (३) अखण्ड ब्रह्म या अविनाशिनी वेदवाणी के उपासक ।

'त्वामग्न आदित्यास आस्यम्'

ऋ. २.१.१३, तै.ब्रा. २.७.१२.६.

आसिच् - (१) पूर्ण आसेचन, पुष्टि या दान, (२) समन्तात् सेचन -दया ।

'अध्वर्यवः सपूर्णां वष्ट्यासिचम् ।'

ऋ. २.३७.१

आसिञ्च - प्रक्षारम (ठार, डाल, रख) ।

आसिञ्चन्ती - बहुत सींचने वाली नदी का विशेषण ।

'आसिञ्चन्तीरवनयः समुद्रम्'

ऋ. ५.८५.६.

आसिष्विदाना - खूब पसीना बहाते हुए ।

'कीनारेव स्वेदमासिष्विदाना'

ऋ. १०.१०६.१०

आस्थित - शरीर में बैठा रोग जमा हुआ रोग ।

'तेन ते मृन्म आस्थितम्'

अ. ४.१७.८

'आस्थितम् हृदयामयम्'

अ. ६.१४.१

आसीन - गौ के बैठने का रूप ।

'आग्नि रासीन उत्थितोऽश्विना'

अ. ९.७.१९

आसुतिः - (१) बहुत सा अन्न आदि ऐश्वर्य ।

'पुरु सखिभ्य आसुतिं करिष्ठः'

ऋ. ७.९७.७, मै.सं. ४.१४.४, २२०.१, का.सं. १७.१८, तै.ब्रा. २.५.५.५.

(२) वीर्य की आधान क्रिया, (३) प्रसवक्रिया ।

'यदासुतेः क्रियमाणायाः'

अ. ३.७.६.

(४) रस । .(५) पान करने योग्य दुग्ध आदि रस

(६) प्रजा -(दया.)

'इन्द्र क्षुध्यद्भ्यो वय आसुतिं दाः'

ऋ. १.१०४.७

आसुन्वत् - सवन या चिन्तन करने वाला ।

'आसुन्वता सख्यं वष्टि शूरः'

अ. २०.८९.४

आसुर - (१) स्वयं अप्रकाशित पिण्ड, (२) अन्यों से प्रकाशित होने वाला चन्द्रादि आकाशीय पिण्ड ।

'तमसा विध्यदासुरः'

ऋ. ५.४०.५,९, कौ.ब्रा. २४.४.

(३) असुर अर्थात् प्रकाश से रहित वायु के आश्रय पर उत्पन्न होने वाला अग्नि

'तनूनपादुच्यते गर्भ आसुरः'

ऋ. ३.२९.११

(४) सब तरह से धन शाली दान ।

'देवा ददत्वासुरम्'

अ. २०.१३५.१०, ऐ.ब्रा. ६.३५.१८, गो.ब्रा. २.६.१४, शा.श्रौ.सू. १२.१९.३.

आसुरःस्वर्भानुः - चन्द्रादि अप्रकाशित पिण्ड जो सूर्य के प्रकाश से प्रकाशित होता है ।

'यत्त्वा सूर्य स्वर्भानुः
तमसा विध्यदासुरः'

ऋ. ५.४०.५.

आसुरी - (१) त्वचा दोष-नाशक एक ओषधि । कुष्ट की सर्वोत्तम ओषधि कही गई है । राई, लाल सरसों ही आसुरी है जो कृमि व्रणनाशक है ।

'तदासुरी युधाजित'

अ. १.२४.१

(२) बुद्धिमानों द्वारा उपदिष्ट विवेक बुद्धि ।

'येनानि चक्र आसुरी'

अ. ७.३८.२

आसुस्रस् - शीघ्र सुगम रीति से विनष्ट होने वाला । गण्डमाला रोग

'आ सुस्रसः सुस्रसः'

अ. ७.७६.१

आस्कु - पीड़ित करना ।

'यो अस्याः कर्णा वास्कुनोति'

अ. १२.४.६

आसेचन् - सेचन करने का साधन कूप तड़ाग । आदि स्थान

'या पात्राणि पूष्णा आसेचनानि'

ऋ. १.१६२.१३, वाज.सं. २५.३६, तै.सं. ४.६.९.१,

मै.सं. ३.१६.१, १८३.४, का.सं.(अश्व.) ६.६.

आस्ते – रहता है। 'आछे' और 'अछि' का प्रयोग जनपदीय भाषाओं में 'आस्ते ' का ही बिगड़ा रूप प्रतीत होता है ।

'ऋचां त्वः पोषमास्ते पुपुष्वान्'

ऋ. १०.७२.११, नि. १.८.

एक (त्वः) होता देवताओं की ऋचाओं का (ऋचाम्) यथाविधि उपयोग (पोषम्) करता हुआ (पुपुष्वान्) रहता है (आस्ते) ।

आस्क्रे – (१) आक्रमण शील, (२) आगे उन्नति की और बढ़ने वाले स्त्री पुरुष ।

'आस्क्रे सपत्नी अजरे अमृक्ते'

ऋ. ३.६.४

आस्तेयी – 'अस्ति ' अर्थात् हृदय या मुख में विद्यमान रुधिर या थूक ।

'आस्तेयीश्च वास्तेयीश्च'

अ. ११.८.२८

आहनन्य – सेना में जोश डालने के लिए नगाड़ों पर दण्डादि से आघात कर बजाने वाला ।

'नमो दुन्दुभ्याय च आहनन्याय च'

वाज.सं. १६.३५, तै.सं. ४.५.७.१, मै.सं. २.९.७, १२५.११, का.सं. १७. १४.

आहनाः,आहनस् – (१) अभिगन्ता पुरुष, (२) स्त्री संभोग कर्त्ता, (३) आघात करने वाला शिल्पी-राजा, (४) सर्वत्र व्यापक प्रभु ।

'य आहना दुहितुर्वक्षणासु
रूपा मिनानो अकृणोदिदं नः'

ऋ. ५.४२.१३

(५ आह नस् अर्थात् कटाक्षों से आघात् करने वाली स्त्री

'अन्येन मदाहनो याहितूयम्'

ऋ. १०.१०.८, अ. १८.१.९, नि. ५.२.

(६) आहननवान्, वञ्चनवान्, (७) सम्मोहयिता, (८) शत्रुओं का सामना सामनी हनन क़रने वाला । आङ्+हन्+ असुन् (मंत्वर्थीय) = आहनस् (९) उपदेश प्रद-दया. (१०) असत्य से दूसरे का चित्त दुखाने वाला

'आहनसः आहननवन्तः वचनवन्तः
इति यास्कः सुगतिवन्तः वचनवन्तः ।'

सायण के मत से इसका अर्थ अभिहन्यमान, अभिपूयमान, स्तुतिमान् या शब्दवान् है । सोम का विशेषण होकर यह प्रयुक्त हुआ है । सोम पीने वाले शत्रुओं का मुकाबला करते हैं और उन्हे मारते हैं अतः सोम को आहनस् कहा गया है । सोम रस चुलाने के लिए इसे दो ग्रावाओं के बीच मारना पड़ता है । इसी से सायण ने इसे अभिहन्यमान कहा । अभिषव करने के समय शब्द होता है इससे यह शब्दवान् भी हुआ । दुर्ग भी आहनवन्तः वञ्चवन्तः सम्मोहितारः ऐसा लिखा है । देवराज यज्वा ने जो दुर्ग के पूर्ववर्ती हैं लिखा है-सूत्रे दूरमाहतम् ब्राह्मणे इदमाहतम् इत्यादि प्रयोगदर्शनात् अहन्तिः वचनार्थः । अतः 'आहनस् ' का अर्थ आहनवन्तः वचनवन्तः हुआ ।

'परि सोमप्रधन्वा स्वस्तये
नृभिः पुनानो अभिवासयाशिरम् ।
ये ते मदा आहनसो विहायसः
तेभिरिन्द्रं चोदय दातवे मघम्'

ऋ. ९.७५.५

हे सोम ! हमारे कल्याण के लिए हम ऋत्विजों से पूयमान तू पात्रों में प्रवेश कर (परिप्रधन्वा) और क्षीर आदि में मिल जा (आशिरम् अभिवासय) एवं शत्रुओं को मारने वाले (आहनसः) जो तेरे प्रबल या महान् रस हैं (ये ते विहायसः मदाः) उन मदों से प्रसन्न हो हमें धन देने के लिए (मघं दातवे) इन्द्र को प्रेरित कर (इन्द्रं चोदय) ।

अन्य अर्थ-जगदुत्पादक प्रभो (सोम), हमारे कल्याण के लिए आप हमें सभी दिशाओं उपदिशाओं में हमें प्राप्त हों (स्वस्तये परिप्रधन्व) और हम मनुष्यों से पाए हुए आप (नृभिःपुनानः) हमें अपने आश्रय में निवास कराइये (आशिरम् अभिवासय) और ये जो आप के उपदेशक महान् आनन्दप्रद वेद हैं । उनके द्वारा हमारे आत्मा को (इन्द्रम्) धन दान के लिए प्रेरित करें ।

(११) असह्य भाषण से मर्माहत करने वाले के अर्थ में प्रयोग –

'न तिष्ठन्ति न निमिषन्त्येते
देवानां स्पश इह ये चरन्ति'

ऋ. १०.१०.८, अ. १८.१.९.

'अन्यनेमदाबनो याहि तूयं
तेन विवृह रथ्येव चक्रा ।'

ऋ. १०.१०.८, अ. १८.१.९, नि. ५.२.
हे यमी ! जो ये देवताओं के चोर अर्थात् जासूस इस लोक में चलते हैं वे न कभी विराम लेते हैं न सोते हैं । मुझे फुर्सत नहीं अतः हे बातों से मर्माहत करने वाली (आहनः) मेरे सिवा किसी अन्य के पास शीघ्र जा । और उसके साथ विवाह कर (तेन विवृह) जैसे रथ के दो चक्के एक ही धुरा पर अवलम्बित रहते हैं ।
(१२) सबके हृदय में चोट पहुंचाने वाली या हृदय में प्रवेश करने वाली प्रियतमा ।
'कदु ब्रव आहनो वीच्या नॄन्'
ऋ. १०.१०.६, अ. १८.१.७

आहना - (१) प्रेममयी माता, (२) व्याप्ता ।
'तदाहना अभवत् पिप्युषी पयः'
ऋ. २.१३.१.

आहनन - (१) मारना ।
'तस्या आहननं कृत्या'
अ. १२.५.३९
(२) डुग्गी पीटना ।
'दुन्दुभिमाहननाभ्याम्'
अ. २०.१३५.१, आश्व.श्रौ.सू. ८.३.१९, वै.सू. ३२.२५.

आहन्स्त्री - असत्य भाषण से मर्माहत करने वाली ।

आहलक् - कृषिनिमित्त हलादि चलाने में कुशल, (२) हृदय का विलेखन से अंकन या आकर्षण करने वाली ।
'आहलगिति वञ्चति'
वाज.सं. २३.२२

आहवनीय - द्यौरूप, इन्द्रजीव यजमान पुरुष, पुरुष का मुख प्राण, यज्ञ का मुख आहवनीय के रूप हैं ।
'सोदक्रामत् साहवनीयेन्यक्रामत्'
अ. ८.१०.४.
द्यौराहवनीयः -श.ब्रा.८.६.३.१४
यजमान आहवनीय पुरुषस्य मुखमेव ।
आहवनीयः -कौ.ब्रा. १७.७
यज्ञस्य शिर आहवनीय) कौ.ब्रा. १७.८
प्राणोदानावेवाहवनीयश्च गार्हपत्यः श.ब्रा. २.२.२.१८

आहार - आङ् + हृ + घञ् = आहार, भोजन । आह्रियते (भोजन चारों ओर से लाया जाता है ।

आहार्य - भोजन योग्य, लाने योग्य ।
'मधुमदस्याहार्यं भवति'
अ. ९.१.२३

आहाव - (१) कूप के समीप पशुओं के जल पानार्थ बनाया हुआ कुण्ड ।
'द्रोणाहावमवतमश्मचक्रम्'
ऋ. १०.१०१.७, नि. ५.२६.
लकड़ी का बना द्रोण ही जिस रथ का निपान है । उस द्रोणाहाव की रक्षा करो ।
(२) कटोरा ।
'पूर्ण आहावो मदिरस्य मध्वः'
ऋ. १०.११२.६.
(३) आह्वनात् , आहूयते अस्मिन् पाययिता (पानी पिलाने वाला जहां आह्वान् करता है) ।(४) वह कुण्ड जहां पशुओं को पानी पिलाने के लिए बुलाया जाता है । (५) रण भूमि को भी आहाव कहते हैं । आहूयन्ते योद्धार अस्मिन् (इस में योद्धा आहूत किए जाते हैं) ।
आङ् + हू + अप् = आहाव ।

अहिनुहि - प्राप्त कर ।
'अग्नि तं गीर्भिर्हिनुहि स्व आदमे'
ऋ. १.१४३.४.
उस अग्नि को स्तुतियों द्वारा अपने घर में प्राप्त कर ।

आहुत - अभिहुतम् (जो आहुति रूप से अग्नि में दिया जाय) । विसृष्टम् (दिया हुआ)

'हविष्पान्तमजरं स्वर्विदि
दिविस्पृश्याहुतं जुष्टमग्नौ
तस्य भर्मणे भुवनाय देवा
धर्मणे कं स्वधषा पप्रथन्त ।'

ऋ. १०.८८.१, नि. ७.२५.
सूर्य और वैश्वानर अग्नि देवता, जो यह पीने लायक सोमात्मक हवि (पान्तं हविः) जराधर्म रहित (अजर) देवताओं के प्रिय आदित्य को जानने वाले, प्राप्त करने वाले (स्वर्विदि), द्यौलौक को हवि द्वारा छूने वाले अग्नि में दिया जाता है, उस हवि को अधिक करने (भर्मण) देवताओं के तृप्तिकारक बनाने (भुवनाय) धारण रक्षा या अविच्छेद के लिए (धर्मणे) सुखद अग्नि को (कम्) अन्न, हवि और पुरोकाश से (स्वधया) देवता या ऋत्विज लोग बढ़ाते हैं ।

अन्य अर्थ – सूर्य की तरह वर्तमान ऊंची ज्वालाओं से अन्तरिक्ष को छूते हुए वैश्वानर अग्नि में जिस दुग्ध, घृत आदि रस और प्रीत स्वच्छ प्रभूत हवि को डालते हैं, विद्वान् लोग उसे जगत् पोषक बताने के लिए, सुगन्धिप्रद करने के लिए, जगद्धारक बनाने के लिए अन्न की हवि से निरन्तर विस्तृत करते हैं ।

आहुतयः – तत् यत् आह्वयति । कल्याणकारी आवाहन ।

'तस्मादाहुतिर्नाम'

श. ११.२.२.६

'वषट्कारा आहुतिभिराहुतयो मे कामान्
समर्धयन्तु भूः स्वाहा'

वाज.सं. २०.१२, का.सं. ३८.४, श.ब्रा. १२.८.३.३०, तै.ब्रा. २.६.५.८.

आहुतिः – (१) आह्वान्, (२) हवन, (३) दाता, (४) धारण करने और प्रकट करने वाला, (५) अन्न भृति देने वाला ।

'अत्राह तद्वहेथे मध्व आहुतिम्
यमश्वत्थमुपतिष्ठन्तजायवः
अस्मे ते सन्तु जायवः'

ऋ. १.१३५.८

मधुर फल के देने वाले पीपल को पक्षिगण प्राप्त होते और उसका आश्रय लेते हैं और अपत्य की कामना करने वाले (जायवः) पीपल को प्राप्त होते हैं और औषध रूप से सेवन करते हैं । उसी प्रकार इन्द्रवायू विजयी शूरवीर, जिस शत्रुदल को कंपा देने वाले सामर्थ्य को धारण और प्रकाशन वाले और अधीन भृत्यों को अन्न भृति देने वाले आश्रय वृक्ष के समान दृढ़ एवं अश्व सैन्य के बल पर संग्राम में स्थित होने वाले जिस नायक पुरुष का आश्रय लेते हैं हे राजन् और सेनापति इस राष्ट्र में उस वीर नायक को धारण करो ।

आहुतीवृध् – (१) आहुति धनादि से बढ़ने वाला अग्नि, (२) जठराग्नि ।

'युवानमाहुतीवृधम्'

ऋ. ९.६७.२९, अ. ७.३२.१.

आहुवामहे – आह्वयामहे (हम पुकारते हैं) आङ् + हू + महे = आहुवा महे । बहुलंछन्दसि से 'व' का सम्प्रसारण 'उ' हो गया है ।

'रथं नु मारुतं वयं
श्रवस्युमा हुवामहे ।
आ यस्मिन् तस्थौ सुरणानि बिभ्रती
सचा मरुत्सु रोदसी ।'

ऋ. ५.५६.८, नि. ११.५०.

हम आत्रेय श्रवस्यु एवं रंहण स्वभाव मेघ को (रथम्) मरुतों के साथ (मारुतम्) तुरत बुलाते हैं (आहुवामहे) जिस रथ से (यस्मिन्) सुन्दर जलों को (सुरणानि) धारण करती हुई (बिभ्रती) मरुतों के साथ (मरुत्सु सचा) मरुतों की माता रुद्र की पत्नी या वायु की पत्नी माध्यमिका देवी (रोदसी) रहती है (आतस्थौ) । मारुत रथ का 'मरुतों का ही रथ' ही अर्थ सहज मालूम पड़ता है ,किन्तु मेघ गतिवान् है अतः उसे रथ कहा गया है । बिना मरुत् की सहायता पाए मेघ चलता भी नहीं अतएव मरुत् का रथ भी मेघ को कह सकते हैं ।

आहूर्य – बुलाने योग्य ।

'जनेन शेव आहूर्यः सन्'

ऋ. १.६९.४

वह जनों के बीच में सबका सुखाकारी सर्वप्रिय के समान आदर से बुलाने योग्य हो ।

आहृत यज्ञक्रतुः – जो सदा यज्ञ का फल प्राप्त करता रहता है ।

'आहृतयज्ञक्रतुर्य उपहरति'

अ. ९.६.२७.

इ

इक्षवः – (१) नीचे की पलकों के लोम, (२) इच्छानुकूल पदार्थ ।

'पार्याणि पक्ष्माण्यवार्या इक्षवः'

वाज.सं. २५.१, मै.सं. ३.१५.१, १७८.१.

इक्ष्वाक – (१) इक्ष्वाक नामक पक्षी जो वाण के समान वेग से जाता है । (२) एक राजा का नाम–ग्रीफिथ (३) इक्ष्वाकुराजा ।

'यं त्वावेद पूर्व इक्ष्वाकः'

अ. १९.३९.९

अक्ष्वाकु – (१) गन्ने के समान मधुरवाणी युक्त विवेकी पुरुष, (२) इक्ष्वाकु नामक राजा ।

'यस्येक्ष्वाकु रुप व्रते'

ऋ. १०.६०.४

इङ्खयन्ति - उथल-पुथल करते हैं। इङ्ख धातु उथल पुथल करने के अर्थ में आया है।

'य ईङ्खयन्ति पर्वतान्
तिरः समुद्रमर्णवम्'

ऋ. १.१९.७

जो वायु पर्वतों, अन्तरिक्ष और समुद्र को उथल पुथल करते हैं।

इङ्ख - (१) उथल पुथल करना। (२) पति संग करना, (३) शरण में जाना।

इङ्खयन्ती - (१) पति-संग लाभ करती हुई, (२) परमेश्वर या राजा की शरण में जाती हुई।

इङ्ग - चलाना।

'शुनमष्ट्रामुदिङ्गय'

ऋ. ४.५७.४, अ. ३.१७.६.

इङ्गयन्ति - इधर उधर नहीं होती।

'गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयति '

ऋ. १.१६४.४५, अ. ९.१०.२७, श.ब्रा. ४.१.३.१७, तै.ब्रा. २.८.८.६, जै.उप.ब्रा. १.७.३, ४०.१, नि. १३.९.

वाणी के चार भेदों में तीन परा, पश्यन्ती और मध्यमा गुहा मे छिपी रहती है। वे इधर उधर नहीं होतीं (नं इंगयन्ति)।

इच्छक - (१) इच्छा शील, (२) लालची।

'स इच्छकं सघाघते'

अ. २०.१२९.१२

इच्छमानः - इच्छा, करता हुआ।

'ऋणावा बिभ्यद् धनमिच्छमानः
अन्येषामस्तमुपनक्तमेति।'

ऋ. १०.३४.१०

ऋण ग्रस्त जुड़ी (ऋणावा) धन की इच्छा से (धनामिच्छमानः) डरता डरता (बिभव्) दूसरों के घर में (अन्येषां असम्)। रात में (नक्तम्) चोरी करना आता है (उपएति)

इट - (१) घास, (२) इत- गुजरा हुआ, बीता हुआ

'अथो इट इव हायनः'

अ. ६.१४.३

(३) चढ़ाई।

'इटस्यं ते वि चृतामि'

अ. ९.३.१८, कौ.सू. ६६.२४.

इटत् - चाहना करने वाला।

'त्वं त्यमिटतो रथमिन्द्र प्रावः सुतावतः'

ऋ. १०.१७१.१

इड् - (१) भूमि (२) अन्न, (३) वाणी (४) इच्छा, (५) स्तुति।

'स न ईडानया सह'

ऋ. ८.१०२.२

(५) स्तोतुम अर्हः (स्तुति करने योग्य)। -(दया.)

(७) वेदवाणी, ।

'अदब्धो होता निषदद् इडस्पदे'

ऋ. १.१२८.१

सदा विघ्न पीड़ा आदि से रहित होकर (अदब्धः) ज्ञान प्रदान या हवन करने में कुशल पुरुष (होता) स्तुति योग्य वेदवाणी के ज्ञान और भूमि प्राप्त कराने के कार्य में प्रमाण योग्य पद पर (इडः पदे) विराजे (निषद्)।

अथवा, सुरक्षित हो पृथ्वी को प्राप्त करे और राजा के सिंहासन पर विराजे।

इड - स्त्युत्यर्थक इड् धातु से घत्र् प्रत्यय कर इड बना है। ईड, इड, इन्धडड। अर्थ-अन्न। (अन्नमेव तत प्रीणाति)। अर्थात् अन्न की इड है। अन्न ही उसे प्रसन्न करता है।

इडयत - विचरो।

इडः ऊर्मिः - (१) अन्न या भूमि का ऊपर उठने वाला जल (२) वाणी की तरंग।

'इन्द्र पानमूर्मिमकृण्वतेडः'

ऋ. ७.४७.१

इडस्पतिः - भूमि और वाणी की पालना करने वाला बृहस्पति।

'इडस्पतिं जरितुर्नूनमश्याः'

ऋ. ५.४२.१४

इडस्पद - (१) वाणी का मार्ग।

'दमे दमूना इषयन्निडस्पदे'

ऋ. १०.९१.१

(२) पृथ्वी, (३) अन्नादि का लाभ, (४) वाणी, वेद या विद्या को प्राप्त कराना।

'इडस्पदे मनुषा यत्समिद्धः'

ऋ. २.१०.१

(५) वेदवाणी की प्राप्ति, (६) पृथ्वी की प्राप्ति, (७) राजसिंहासन पद की प्राप्ति। (८) अन्न का आश्रय भूत भूतल, (९) श्रद्धा का आश्रय स्थान हृदय, (१०) चेतना एवं मनन शक्ति का आश्रय

आत्मा ।

'श्रद्धेडा'

श.ब्रा. ११.२.७.२०.

'इडा वै मानवी यज्ञानुकाशिनी आसीत्'

तै.ब्रा. १.१.४.४.

'पशवो वा इडा, पांक्ता वै पशवः'

श.ब्रा. १.८.१.१२

अर्थात् इडा का अर्थ श्रद्धा चितिशक्ति जिसके पांच विभाग पांच चैतन्य ज्ञानेन्द्रिय हैं ।

'इडस्पदे समिध्यसे'

ऋ. १०.१९१.१, अ. ६.६३.४, वाज.सं. १५.३०, तै.सं. २.६.११.४, ४.४.४..४ , मै.सं. २.१३.७, १५६.९, का.सं. २.१५.

(११) वाणी का परम प्राप्तव्य पद ओंकार ।

इडा - (१) स्तुति योग्य (२) अन्न के समान चाहने और शक्ति उत्पन्न करने वाला, (३) वाणी के समान सब अर्थों का प्रकाशक , (४) भूमि के समान सर्वाधार परमेश्वर ।

'इडा भगोबृहद्दिवोत रोदसी'

ऋ. २.३१.४

(५) ईड् (स्तुत्यर्थक) + घञ् (कर्म अर्थ में) + टाप् =इडा । ईकार का इ और ड का लोप हो जाता है ।

अर्थ -मध्यमा वाक् देवता जिसका स्थान अन्तरिक्ष है इडा कही जाती है । (६) प्रशस्त या चमकने वाला विद्युत्, (७) ईडयते स्तूयते अनेन इति सा वाणी इडा वाणी है क्योंकि इससे स्तुति की जाती है ।

ईड् + अन् + ण्य = इडा । -(दया.) ईड् + टाप् = इडा । ईड् अथवा इन्ध + घञ् = इडा । इण् (गत्यर्थक) + ड = इडा । इर् (प्रेरणार्थक) + अच् + टाप् = इडा ।

'अभिनइडा यूथस्य माता
स्मन्नदीभिरुर्वशी वा गृणातु ।
उर्वशी वा बृहद्दिवा गृणाना
अभ्यूर्ण्वाना प्रभृथस्यायोः'

ऋ. ५.४१.१९, नि. ११.४९.

मेघ समूह की निर्मात्री (यूथस्य माता) रूपवती विद्युत् उर्वशी नाम से प्रसिद्ध माध्यमिकावाक् देवी इडा है (उर्वशी इडा) वह हमें (सानः)जलों से खूब सन्तुष्ट करें (नदीभिः स्मत् अभिगृणातु) । उर्वशी की तरह (उर्वशी इवा) विद्युत् सहित उदकसमूह से शब्द करती हुई (दिवो गृणाना) सब कुछ प्रच्छादित करती (अभ्युर्ण्वाना) हमें इष्ट पदार्थ दे (बृहत् गृणातु) तथा प्रचुर मात्रा में एकात्रित जल से हमारे जलों को पुष्ट करने के लिए दें (प्रभृथस्य आयोः ऊर्ज व्यस्य पुष्टेः नः सिषक्तु) (८) पृथ्वी स्थानीय इडा देवी अग्नि

'इडा मनुष्वदिह चेतयन्ती'

ऋ. १०.११०.८, अ. ५.१२.८, वाज.सं. २९.३३, मै.सं. ४.१३.३, २०२.९ , का.सं. १६.२०, तै.ब्रा. ३.६.३.४, नि. ८.१३.

इस यज्ञ में मनुष्य की तरह चेताने वाली पृथ्वी स्थानीय इडा देवी अर्थात् अग्नि प्राप्त हो ।

(९) स्त्री, (१०) गौ, (११) अन्नवती, (१२) गोमती ।

'इयं पृथिवी वा इडा'

कौ.ब्रा. ९.२

(१३) पशु-

"पशवो वा इडाः'

श.ब्रा. १.८.१.२०

'इडा वै मानवी यज्ञानुकारिणी आसीत्

तै.ब्रा १.१.४.४

'इडा सदस्वती मही तिस्रो देवीर्मयोभुवः

ऋ. १.१३.९ ,१४२.९ ,५.५.८, अ. ५.२७.९, मै.सं. २.१२.६, १५०.१४,

(१४) पूज्य, ईश्वरोपासना योग्य , (१५) सामवेद अन्य व्युत्पत्ति-इल् (स्वपि और क्षेपण अर्थ में)। सुप्यते अस्यां क्षिप्यते बीजादिकम् इति पृथ्वी ।

इडानामानेता - समस्त प्राणियों का प्रवर्तक ।

'यो रायामानेता यं इडानाम्'

ऋ. ९.१०८.१३, साम. १.५८२, २.४४६.

इडायाःवयुनम् - भूमि रूपी स्त्री का अन्तरंग भाग

'इडायास्पुत्रो वयुनेऽजनिष्ट'

ऋ. ३.२९.३, वाज.सं. ३४.१४.

इडावती - उत्तम अन्न सम्पदा से युक्त ।

'इडावतीं शङ्गयीं जीरदानुम्'

ऋ.९ .९७.१७

इडावान् - उत्तम वाणी या भूमि का स्वामी ।

'इडावां एषो असुर प्रजावान्'

ऋ. ४.२.५, तै.सं. १.६.६.४, ३.१.११.१, मै.सं. १.४.३, ५१.३, १.४.८, ५६.९, का.सं. ५.६,३२.६.

इत् - (१) (अ.) एव, ही ।

'जुहोत वृष्णे तदिदेष वष्टि'

ऋ. २.१४.१

(वह इसे ही चाहता है)

(२) पादपूरक अनर्थक , ।

(३) अवधारण अर्थ में ।

(४) 'च' के अर्थ में ।

(५) तमस् प्रत्यय के समान ।

'य ईं चकार न सो अस्य वेद
य ईं ददर्श हिरुगिन्नु तस्मात्
स मातुर्योना परिवीतो अन्तर
बहुप्रजा निर्ऋतिमा विवेश'

ऋ. १.१६४.३२, अ.९ .१०.१०, नि. २.८.

जो यह गर्भ करता है वह इसका तत्व नहीं जानता, जो इस जठर में अन्तर्हित गर्भ का तत्व समझता है (य ईं हिरुक् ददर्श) उसी का यह निश्चित गर्भ है (तस्मात् नु इत) । वह आत्मा गर्भ में आ उदर में उल्व और जरायु से परिवेष्टित हो यथा समय उत्पन्न हो अनेकों जन्म प्राप्त करने वाला प्रकृष्ट दुःख प्राप्त करता है (स मातुः योना अन्तर् परिवीतः बहुप्रजाः निर्ऋतिम् आविवेश) ।

गर्भ-तत्त्व समझे बिना गर्भकर्त्ता दुःखभागी होता है । तत्वज्ञ पुनः पुनः जन्म ग्रहण करने से निवृत्त हो जाता है ।

अपि के अर्थ में इत् का प्रयोग

'युनक्त सीरा वि युगा तनुध्वं
कृते योनौ वपते ह बीजम्
गिरा च श्रुष्टिः सभरा असन्नो
नेदीय इत् सृण्यः पक्वमेयात्'

ऋ. १०.१०१.३, अ. ३.१७.२, वाज.सं. १२.६८, तै.सं. ४.२.५.५, मै.सं. २.७ .१२, ९१.१५, का.सं. १६.१२, श.ब्रा. ७.२.२.५.

हे देवो ! हलों को जोतो (सीरा युनक्त), युगों को विस्मृत करो (युगाच वितनुध्वम्), जोतने के बाद खेत में बीज डालो (कृते इह योनौ बीजं वपत) जिससे स्तुति द्वारा जिसकी हम याचना करते है वह शीघ्र ही हो (श्रुष्टिःअसत्) अर्थात् ये औषधियाँ फल के भार से अवनत हो जांय (सभरा नः) तथा पका हुआ अन्न हंसुआ या अंकुश से भी निकटतम आ जाय (सृण्यः इत् नेदीय पक्वम् एयात्) ।

इतऊती - इस लोक से ही रक्षा प्राप्त करने वाली । द्यावा पृथिवी ।

'संत स्थाने अजरे इत ऊती'

ऋ. १०.३१.७

इतरजान - आर्यजनों से इतर अनार्य जो चोरी डकैती आदि का जीवन बिताते हैं ।

'तां तिरोधामितरजना उपजीवन्ति ।'

अ. ८.१० (५) १२

इतः - इस भूलोक से । यहां से ।

'हविर्भिरिके स्वरितः सचन्ते'

ऋ. खि. १०.१०६.१, नि. १.११.

कुछ (एके) इस भूलोक से (इतः =) हवि आदि द्वारा प्राप्त करते हैं । (सचन्ते) ।

इत्वर - (१) सरीसृप आदि जीव । इ (गमन्नर्थक) + त्वर = इत्वर

(२) चलने वाला ।

'स पतत्रीत्वरं स्था जगत्
यच्छ्वात्रमग्निरकृणोज्जातवेदाः'

ऋ. १०.८८.४, नि. ५.३

इत्था - (१) इत्थम्, अनेन प्रकारेण (इस प्रकार से) (२) अमुत्र अत्र (यहां) (३) अमुस्मिन् (इसमें) -दुर्ग ।

व्युत्पत्ति -इदम् + थाल् (हेतु अर्थ मे) = इत्था (इदम् का इत् आदेश) (४) स्वामी दयानन्द ने इत्था का अर्थ सत्यवक्ता किया है, (४) अदस् + थाल् = इत्था (अदस् के सप्तमी अर्थ में थाल प्रत्यय किया गया है । (६) इस तरह (७) उस तरह, (८) इस हेतु से (९) इस प्रकार, (१०) वहां संस्कृत साहित्य में 'इस प्रकार' के अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ है । निघण्टु में यह शब्द सत्यवाची है । 'अपीच्य' इस प्रकार से या 'इसमें' के अर्थ में प्रयोग -

'त्यं चिदित्था कत्पयं शयानम्
असूर्ये तमसि वावृधानम्
तं चिन्मन्दानो वृषभः सुतस्य
उच्चैरिन्द्रो अपगूर्या जघान'

ऋ. ५.३२.६,

अभिसुत सोम से प्रसन्न (सुतस्य मन्दानः) मनोरथों को बरसाने वाला (वृषभः) इन्द्र इस प्रकार से या इस अन्तरिक्ष लोक में (इत्था)

सुखकर जलवाले (कत्पयम्) जलों में सोने वाले (शयानम्) सूर्यरहित अन्धकार में (असूर्येतमसि) बढ़ने वाले (वावृधानम्) उसी वृत्र असर या मेघ को (तं चित्) वज्र ऊंचा उठाकर (उच्चैः अपगूर्य) मारा (आजघान)।

अन्य अर्थ – जैसे उस सुखकारी जल देने वाले मेघ को (त्यम् चित् कत्पयम्) जो अन्तरिक्ष में पड़ा हुआ है (इत्था शंयानम्) और रात के समय बहुत वृद्धि करता है (असूर्ये तमसि वावृधानम्) सूर्य छिन्न भिन्न कर देता है, उसी प्रकार रात्रि काल में वृद्धि करने वाले उन चोर व्यभिचारी आदिकों को (तंचित्) पुत्र तुल्य प्रजा को आनन्द देने वाला (सुतस्य मन्दानः) श्रेष्ठ राजा (वृषभः इन्द्रः) धमका कर दण्डित करे (उच्चै अपगूर्य)।

अमुत्र (यहां) अर्थ में प्रयुक्त

'बडित्था पर्वतानां खिद्रं बिभर्षि पृथिवि।
प्र या भूमिं प्रवत्वति मह्ना जिनोषि महिनि।'

ऋ. ५.८४.१, तै.सं. २.२.१२.२, मै.सं. ४.१२.२, १८१.२, का.सं. १०.१२, आप.मं.पा. २.१८.९, नि. ११.३७.

पृथिवी माध्यमिका देवता अर्थात् विद्युत् भी मानी गई है। माध्यमिका देवता भी पृथिवी है। हे पृथिवी, अर्थात् विद्युत्, इस भूमि या अन्तरिक्ष में स्थित तू (इत्था) बल रखती है जिससे मेघ छेदे जा सकते हैं (पर्वतानां खिद्रं विभर्षि)। हे महिनि या जलवाली, हे चलने वाली जो तू (या) इस प्रत्यक्ष भूमि को (भूमिम्) महत्व से या जल से (मह्ना) वर्षा देकर प्रसन्न करती है (प्र जिनोषि) वह तू मेघों को छेदने वाला बल क्यो न धारण करेगी, अर्थात् अवश्य करतो है।

अन्य अर्थ–नीचे पृथ्वी की ओर आने वाली (प्रवत्वति) महान् गुणों वाली या मेघ जल वाली (महिनि) जो तू वृष्टि कर्म के महत्व से (या मह्ना) भूमि को तृप्त करती है (भूमि प्रजिनोषि) सो तू सचमुच (वट्) उस अन्तरिक्ष में (इत्था) मेघों के छेदन बल को धारण करती है (पर्वतानां खिद्रंभर्षि)।

'त्वेषमित्था समरणं शिमीवतोः'

ऋ. १.१५५.२, आश्व.श्रौ.सू. ६.७.९, नि. ११.८.

इष्ट प्रदान कर्म वाले या प्रहरणादि कर्म वाले इन्द्र और विष्णु का (शिमीवतोः) इस प्रकार (इत्था) प्रदीप्त समागम को (त्वेषं समरणम्) ...

सत्यवक्ता के अर्थ में –

'इत्था धीवन्तमद्रिवः काण्वं मेध्यातिथिम्'

ऋ. ८.२.४०.

हे वज्री राजन्! सत्यवक्ता (इत्था), कर्मशील (धीवन्तम्), मेधावी (काण्वम्) तथा संगति योग्य अतिथि को (मेधातिथिम्)। सायण ने इसका अर्थ 'इस प्रकार' ही किया है।

पुनः इस प्रकार के अर्थ में प्रयोग –

'अत्राह गोरमन्वत
नाम त्वष्टुरपीच्यम्
इत्था चन्द्रमसो गृहे।'

ऋ. १.८४.१५, अ. २०.४१.३, साम. १.१४७, २.२६५, मै.सं.२. १३.६, १५४.११, का.सं. ३९.१२, तै.ब्रा. १.५.८.१, आश्व.श्रौ.सू. ९.८.३, बौ.ध.शा. ३.८.८, नि. २.६,४.२५.

यहीं पर चलने वाले चन्द्रमा के मण्डल में दीप्त आदित्य के अन्तर्हित तेज का अवस्थान इस प्रकार हुआ है।

इत्थाधीः – (१) सत्य बुद्धि और सत्य कर्म वाला, (२) न्यायशील।

'त्वमिनो दाशुषो वरुतेत्थाधीः'

ऋ. २.२०.२.

(३) इस प्रकार की सत्य निश्चित बुद्धि वाला।

'पुरः सद्य इत्थाधिये'

ऋ. ९.६१.२, साम. २.५६१.

इत्या – (१) धारा, (२) प्राप्त करने योग्य। –(दया.)

'त्वेषप्रतीका नभसो नेत्या'

ऋ. १.१६७.५.

(३) इष्ट पदार्थ प्राप्त करने का साधन या ज्ञान।

'इत्याच मे गतिश्च मे'

वाज.सं. १८.१५, मै.सं. २.११.५, १४२.१०, का.सं. १८.१०.

इति – इ + क्तिन् = इति (१) आगमन।

'आते चिकित्र उषसा मिवेतयः'

ऋ. १०.९१.४

(२) इष्ट प्राप्ति, (३)जाना आना।

'प्रासावीत् द्विपत् प्र चतुष्पदित्यै'

ऋ. १.१२४.१

सर्व प्रेरक परमेश्वर इष्टप्राप्ति या आने जाने के लिए दो पाए चौपाए भृत्यादि और पशुधन भी दें ।

इदद्वसु - परम ऐश्वर्यवान् सूर्यादि पदार्थों में भी बसने वाला परमेश्वर ।
'भवद्वसुरिदद्वसुः'
अ. १३.४.५४.

इदंयु - इदं कामयमानः (इसकी कामना करने वाला)। मतुप् प्रत्यय के अर्थ में 'यु' का प्रयोग हुआ है ।

इद्ध - (१) प्रदीप्त, (२) समिद्ध, (३) सर्वभोगानाम् ईश्वरः वा प्रदाता (सभी भोग्य वस्तुओं का दाता) ।

इध्म - (१) जातवेदाः अग्निः (आग), (२) इध्मः समिन्धनात् , इध्मते अनेन अग्निः इति इध्मः (इस से अग्नि जलाया जाता है , अर्थात् जलावन, इन्धन) (३) ज्वलन नाम का इध्मः (जलता हुआ भी इध्म है) । अतः रूढि अर्थ अग्नि हुआ, (४) आचार्य काथक्य (कत्थकस्य पुत्रः) इध्म को यज्ञ का इन्धन भी समझते हैं (यज्ञेध्म इति कात्थक्यः) (५) शाकपूणि और यास्क इध्म का अर्थ अग्नि मानते हैं । दुर्ग ने इस शब्द को इन्धन के ही अर्थ में लिया है । आधुनिक अर्थ - इन्धन, सूर्य का प्रकाश, गर्मी, सौन्दर्य, आश्चर्य ।

'समिद्धो अद्य मनुषो दुरोणे
देवो देवान् यजसि जातवेदः ।
आच च वह मित्र महश्चिकित्वान्
त्वं दूतः कविरसि प्रचेताः ।'

ऋ. १०.११०.१, अ. ५.१२.१, वाज.सं. २९.२५, मै.सं. ४.१३.३, २०१.८, का.सं. १६.२०, तै.ब्रा. ३.६.३.१, नि. ८.५.

हे अग्ने ! जो तू संदीप्त होकर आज मनुष्य के घर में (जातवेदः समिद्धः अद्य मनुषः दुरोणे) दीप्य मान हवि देवताओं को पूजता है - (देवः यजसि) । इस लिए हे मित्रों के स्तुत्य (मित्रमहः) तथा चेतनवान् अर्थात् यजमानों की स्तुतियों को समझने वाला (चिकित्वान्) देवताओं को बुलाकर या उन्हें हवि पहुंचाकर उनकी पूजा कर (आवह च) क्योंकि तू ही देवताओं का दूत है, (दूतः) । कान्तप्रज्ञ या कान्त प्रकाश है (कविः) तथा प्रकृष्ट ज्ञान वाला है (प्रचेताः असि) ।

इध्यभृति - (१) लकड़ी से अपना भरण पोषण करने वाला, (२) अग्नि के समान तेज पात्र धारण करने वाला ।
'दभीतिरिध्मभृतिः प्रक्थ्यर्कैः'
ऋ. ६.२०.१३

इद्वत्सर - (१) इस लोक को बरसाने वाला-अग्नि, परमेश्वर ।
'इद्वत्सरोऽसि'
वाज.सं. २७.४५, श.ब्रा. ८.१.४.८, तै.ब्रा. ३.१०.४.१, तै.आ. ४.१९.१.
(२) पांचवा वर्ष ।
'इद्वत्सरायातिष्कद्वरीम्'
वाज.सं. ३०.१५

इदा - इसी अवसर पर ।
'इदा हिवो विधते रत्नमस्ति'
ऋ. ६.६५.४

इदावत्सर - (१) अन्न के द्वारा सब के बसाने वाला अग्नि परमेश्वर ।
'इदावत्सरोऽसि
वाज.सं. २७.४५, मै.सं. ४.९.१८, १३५.७, श.ब्रा. ८.१.४.८, तै.ब्रा. ३.१०.४.१, तै.आ. ४.१९.१.
(३) तीसरा वर्ष ।
'इदावन्सरायातीत्वरीम्'
वाज.सं. ३०.१५
(४) प्रभव आदि से लेकर प्रत्येक पंचयुगी के वर्षों क्रमश पांच वर्ष होते हैं -संवत्सर, परिवत्सर, इदावत्सर, अनुवत्सर और उदावत्सर
(५) चन्द्रमा ।
'चन्द्रमा इदावत्सरः'
तै.ब्रा. १.४.१०.१
'इदावत्सराय परिवत्सराय
संवत्सराय कृणुता बृहन्नमः'
अ. ६.५५.३

इदाहि - इस समय भी ।
'इदहिते वेविषतः पुराजाः'
ऋ. ६.२१.५

इद्धाग्नि - (१) अग्निहोत्रादिक्रिया करने वाला ।
'इद्धाग्नयः शम्या ये सुकृत्यया'
ऋ. १.८३.४, अ. २०.२५.४.

(२) बाहर का यज्ञाग्नि और भीतर का प्राणाग्नि प्रज्वलित करने वाला अंगिरा (३) ब्रह्म चारी ।

'आदङ्गिराः प्रथमं दधिरे वयः
इद्धाग्नयः शम्या ये सुकृत्यया'

ऋ. १.८३.४, अ. २०.२५.४

जो जले अंगारो के समान तेजस्वी ज्ञानी पुरुष बाहर के यज्ञाग्नियों और भीतर के प्राणाग्नियों को प्रज्वलित कर उत्तम कर्तव्य कर्मों से युक्त (सुकृत्यया) शान्तियुक्त साधनों से (शम्या) प्रथम अवस्था को ब्रह्मचर्य पूर्वक धारण करते हैं (प्रथमं वय दधिरे) ।

इदु - इत् + उ । अर्थ है -शीघ्र ही ।

'अस्मा..इदु प्रभरा तू तुजानो
वृत्राय वज्रमीशानः कियेधाः'

ऋ. १.१६.१२, अ. २०.३५.१२, मै.सं. ४.१२.३, १८३.१०, का.सं. ८.१६, नि. ६ .२०.

हे इन्द्र या राजन् ! तू आशुकारी (तूतुजान) हम लोगों का स्वामी या भूमि पति (ईशानः) अनेक गुणों का धारण करने वाला (कियेधाः) है । तू इस वृत्र या दुष्ट के प्रति (अस्मै वृत्राय) वज्र या खड्ग शीघ्र चला (इदु प्रभरा) ।

इध् - प्रदीप्त करना ।

इधानः - प्रकाशित होता हुआ, उदय लेता हुआ (२) तेजस्वी

'स इधान उषसोराम्या अनु'

ऋ. २.२.८

इन - (१) वध, हिंसाआदि करना ।

'नकिर्देवा मिनीमसी'

ऋ. १०.१३४.७

'न कि देवा इनीमसी'

साम. १.१७६, साम.वि.ब्रा. १.८.१०.

(सं.) (२) ऐश्वर्य अर्थ वाले चार धातु हैं -इर, पत, क्षि और रज । ऐश्वर्यवाची शब्द भी चार हैं -राष्ट्री, अर्यः, नियुत्वान् और इन ।

सनितः ऐश्वर्येण (जो ऐश्वर्य से संभक्त हो) अथवा -सनितम् अनेन ऐश्वर्यम् (इससे ऐश्वर्य संभक्त है) ।

इण् + नक् = इन, अथवा षण् + नक् = इन । (इणसिन् जिदीङुण्पविभ्योनक्)

अर्थ -ईश्वर,(३) आत्मा, (४) स्वामी ।

'इनो विश्वस्य भुवनस्य गोपाः'

ऋ. १.१६४.१२१, नि. ३.१२.

वह सकल भुवन का रक्षक धीर या पाक ईश्वर या सकल इन्द्रियों का रक्षक आत्मा ।

आधुनिक अर्थ - पराक्रमी, साहसी, सूर्य, स्वामी, राजा ।

इनक्षत् - इ + नक्ष + शतृ = इनक्षत् । अर्थ-व्याप्त होता हुआ, फैलता हुआ ।

'वृद्धस्यचित् वर्धतो द्यामिनक्षतः'

ऋ. १.५१.९

आकाश में फैलते हुए मेघ के समान तेजस्विता में बढ़ने वाले शत्रु बल को भी विविध उपायों से नाश करें ।

इनतमः - इन + तमप् = इनतम । अर्थ -ईश्वरतम, ऐश्वर्यवानों में श्रेष्ठ (२) अत्यन्त समर्थ ।

'इनतमः सत्वभिर्योहशूषैः'

ऋ. ३.४९.२.

(३) सर्वशक्तिमान-(४) राजाओं का राजा परमेश्वर ।

'इनतममाप्त्यमाप्त्यानाम्'

ऋ. १०.१२०.६, अ. ५.२.७, २०.१०७.९, नि. १.२१.

सर्वशक्तिमान् या राजाओं के राजा महान् स्तोतव्यो में स्तोत या आप्त पुरुषों में आप्त महात्मा को ।

इनधत - स्वामिवत् धारण करने वाली

इनधते - (१) इन्धते (प्रकाशित करना है (२) स्वामी जानकर सेवा करता है ।

'यस्त्वामग्न इनधते यतस्रुक्'

ऋ. ४.१२.१.

इनस्यइनः - (१) स्वामी कम स्वामी, (२) सूर्य, (३) परमेश्वर ।

'इन इनस्य वसुनः पद आ'

ऋ. १.१४९.१

इनस्पति - समान ऐश्वर्यों का स्वामी ।

'दुरो यवस्य वसुन इनस्पतिः'

ऋ. १.५३.२, अ. २०.२१.२.

तू यवादि अन्नों का देने वाला और समस्त ऐश्वर्यों का स्वामी है ।

इन्दवः - (१) ऐश्वर्यवान् पुरुष ।

'अस्माकमिन्द्रमिन्दवः'

ऋ. ८.१.१५

(२) सोमरस ।

'आत्वा विशन्तु इन्दवः'

ऋ. १.१५.१, ८.९२.२२, साम. १.१९७, २.१०१०, वाज.सं. ८.४२, तै.सं. ७.१.६.६, श.ब्रा. ४.५.८.६, शां.श्रौ.सू. ९.१९.३, १८७.१२.

इन्द्र – (१) इरां दृणाति (अन्न को पानी वरण कर अंकुरित करता है, (२) इरां ददाति (अन्न देता है), (३) इरां दधाति (अन्न धारण करता है, (४) इरां दास्यति (अन्न दरवाता है) (५) इरां धारयते (अन्न धारण करवाता है) (६) इरादः (इरा अर्थात् अन्न देने वाला) (७) इराधः (इरा धारण करने वाला) (८) इरा अर्थात् मेघ का विदारण करने वाला । इरा + 'दृ,' या 'दा ' या 'धा ' + रक् = इन्द्र । निपातन से सिद्ध ।

(९) इन्दवे द्रवति (सोम पीने के लिए आता है) = इन्द्रः । अमृतेन सर्वस्य क्लेदयित-अमृत से सभी को तृप्त करने वाला चन्द्रमा

(१०) इन्द्रौ रमते (सोम में रमता है) = इन्द्ररमः = इन्द्रः ।

(११) इन्ध् (दीप्ति अर्थ में) + रक् = इन्ध्र = इन्द्र । भूतानि इन्धे (जीवों को अन्नोत्पत्ति द्वारा दीप्त करता है) ।

(१२) तत् यत् एनं प्राणैः समैन्धन् तत् इन्द्रस्य इन्द्रत्वम् (जो प्राणों से दीप्त किया वह इन्द्र का इन्द्रत्व है) । इन्ध् + रक् = इन्ध्र = इन्द्रः-जीवात्मा

(१३) आग्रायण के मत से – 'इदं करणात्' । अर्थात् 'इदं सर्वम् असौअकरोत्' यह सब इसने किया । इदंकरः इन्द्रः परमात्मा ।

(१४) औपमन्युओं के मत से –इदं दर्शनात् –इदं सर्वम् असौअद्राक्षीत् (वह सब इसने देखा) । इदंदर्शी = इन्द्र-ईश्वर

(१५) इद् + शतृ = इन्दन् = ईश्वरः इदि ऐश्वर्य अर्थवाला है ।

(१६) इन्दवः –शत्रूणां दारयिता (ऐश्वर्यवान् हो शत्रुओं का दारण करने वाला,) अथवा द्रावयिता-द्रावित करने वाला ।

अथवा यज्वनाम् आदरयिता (यजमानों का आदर करने वाला)

(१७) स्वामी दयानन्द ने इन्द्र के कई अर्थ दिए हैं, जैसे- ईश्वर, जीवात्मा, राजा, विद्वान् आचार्य आदि । वेदों में सर्व शक्तिमान् के रूप में इसका प्रचुर प्रयोग हुआ है । जो कुछ शक्तिशाली या ऐश्वर्यवान् है, इन्द्र ही है ।

(१८) इन्द्र का अर्थ ऐश्वर्य भी किया गया है ।

(१९) सेनापति ।

(२०) राष्ट्र ।

'इन्द्रे सन्तु तुविवाजाः'

ऋ. १.३०.१३, अ. २०.१२२.१, साम. १.१५३, २.४३४, तै.सं. १.७ .१३.५, २.२.१२.८, मै.सं. ४.१२.४,१८९.५, का.सं. ८.१७.

राष्ट्र में अन्न विद्या आदि से युक्त (तुविवाजाः) स्त्रियाँ एवं प्रजाएं हो । पुनः, इन्द्र के अर्थ में प्रयोग–

'तस्मिन् ब्रह्माणि पूर्वथा
इन्द्र उक्था समग्मत
अर्चन्ननु स्वराज्यम्'

ऋ. १.८०.१६, नि. १२.३४

वे अन्न और मन्त्र इनके पास पूर्व की भांति आवे क्योकि इन्द्र ने वृत्रादि असुरों को मार कर अपना आधिपत्य प्रकटित किया और अपना राज्य शास्त्रीय रीति से चलाते हैं ।

(२)सूर्य के अर्थ में –

'महां इन्द्रो नृवदा चर्षणिप्रा
उत द्विबर्हा अमिनः सहोभिः'

ऋ. ६.१९.१, वाज.सं. ७.३९, तै.सं. १.४.२१.१, मै.सं. १.३.२५ , ३८.१२, का.सं. ४.८, ऐ.ब्रा. ५.१८.१४, कौ.ब्रा. २१.४, २६.१२, श.ब्रा. ४.३, ३.१८, तै.ब्रा. ३.५.७.४.

बड़ा नायक राजा की तरह सर्वत्र मनुष्यों का पालन करने वाला और द्युलोक तथा अन्तरिक्ष दोनों स्थानों में अपनी रश्मियों के द्वारा फैला हुआ (द्विबर्हाः) स्वकीय तेज के कारण दुराधर्ष (सहोभिः अमिनः) और हमें प्राप्त होने वाला सूर्य पुनः–

'वयः सुपर्णा उपसेदुरिन्द्रम्'

ऋ. १०.७३.११, साम. १.३१९, का.सं.९ .१९, ऐ.ब्रा. ३.१९.१२, तै.ब्रा. २.५.८.३, तै.आ. ४.४२.३, तै.आ. १०.७३, आप.श्रौ.सू. ६.२२.१, नि. ४.३ (आंध्र)

(३) विद्वान् –(दया.) ।

'अम्यक् सा त इन्द्र ऋष्टिरस्मे'

ऋ. १.१६९.३.

हे विद्वन्! वह तेरी आत्म ज्ञान देने वाली विद्या हमें प्राप्त हो-(दया.)! हे इन्द्र! वह प्रसिद्ध वज्र नाम की शक्ति जब मेघ की ओर जाती हो ... -यास्क

(४) पुत्र के अर्थ में।

'तमीमह इन्द्रमस्य रायः'

ऋ. ६.२२.३, अ. २०.३६.३.

इस धन के रक्षक उस पुत्र की हम कामना करते हैं। इस परमात्मा रूपी धन के अधिपति परमेश्वर की कामना करते हैं। (५) पुनः = ब्राह्मण के अर्थ में।

'येषामिन्द्रो युवा सखा'

ऋ. ८.४५.१-३,

जिनका मित्र पुरुषार्थी ब्राह्मण है या इन्द्र है।

(६) चन्द्रमा (७) जल से आर्द्र मेघ (८) जीव (९) ओषधिगण।

'सैनं सश्चत्
देवो देवं सत्यमिन्द्रं सत्य इन्दुः'

ऋ. २.२२.१-३, अ. २०.९५.१, साम. १.४५७, २.८३६-८३८, तै.ब्रा. २.५.८.१०.

वह जलप्रद बलशाली जल से आर्द्र मेघ (सत्य इन्दुः) बलवान् नित्य विद्युत् को प्राप्त होता है।

(१०) जीवात्मा, (११) परमात्मा, आत्मा के ज्ञापक लिंग का नाम इसीसे इन्द्रिय पड़ा। उसका देखा, उस से उत्पन्न , उससे सेवित और उसकी शक्ति से युक्त होने के कारण इन्द्रिय कहलाया है।

'इन्द्रियम् इन्द्रलिंगम् इन्द्र दृष्टम् इन्द्र सृष्टम्? इन्द्रजुष्टम् इन्द्रदत्तमितिवा।'

पा. ५.२.९३

स एतमेव पुरुषं ब्रह्म तमपश्यत् इदम दर्श मिति तस्मा दिन्द्रो नाम इन्द्रो ह वै नाम तम् इदन्द्रं सन्त मिन्द्र इत्या चक्षते परोक्षेण, परोक्ष प्रिया हि देवाः।

मुमुक्षु कहता है 'इदमदर्शम्' इसी से ब्रह्म इदन्द्र हो गया। इसी का परोक्ष रूप इन्द्र है।

(१२) अध्यात्म या प्रत्यक्ष तत्व को देखने वाला आचार्य।

'सत्यं तदिन्द्रो दशभिः दशग्वैः
सूर्यं विवेद तमसि क्षियन्तम्।'

ऋ. ३.३९.५

(१३) भूमि में जल देने वाला, भूमि को हल से विदारण करने वाला कृषक।

'इन्द्रः सीतां निगृह्णातु'

ऋ. ४.५७.७, अ. ३.१७.४, कौ.सू. १३७.१९.

कृषक हल की फाल खूब दबाकर पकड़े, बलवान् पुरुष स्त्री का पाणिग्रहण कर।

(१४) इन्द्र नामक सर्प की औषधि। इसे अश्मन्तक या अश्वान्तक भी कहते हैं। इन्द्रक भी इसे कहते।

'इन्द्रो मेऽहिमघायन्तम्'

अ. १०.४.१०

(१५) अन्नों को देने वाला, अन्नों को काटने वाला, अन्नों को धारण करने वाला।

'तवेदिन्द्राहमाशसा'

ऋ. ८.७८.१०, शां.श्रौ.सू. १८.११.२.

(१६) ऐश्वर्यवान् प्रभु।

'इन्दुं सहस्रचक्षसम्

ऋ. ९.६०.१

इन्द्रगोपाः - इन्द्र या ऐश्वर्यवान् शत्रु हन्ता राजा की रक्षा में रहने वाला।

'मदन्तीन्द्रगोपा
'मदन्ति देवगोपाः

ऋ. ८.४६.३२

इन्द्रजा - इन्द्र से उत्पन्न अर्थात् शक्ति पूर्वक किसी को वश में करने की क्रिया।

'इन्द्रजाः सोमाजा आथर्वणमसि व्याघ्रजम्भनम्'

अ. ४.३.७

इन्द्रजाल - इन्द्र का आवरण कारी जाल रूप यह लोक।

'अयं लोको जालमासीच्छक्रस्य महतो महान्
तेनाहमिन्द्रजालेनामूंस्वमसाभि दधामि सर्वान्'

अ. ८.८.८

इन्द्रजूत - (१) इन्द्र द्वारा प्रेरित, (२) सभाध्यक्ष, प्रेरित -(दया.)।

इन्द्रजूतः ग्रामः - विद्वान पुरुषों से प्रेरित विद्वज्जनों का संघ, ऐश्वर्यवान् शत्रुहन्ता नायक द्वारा प्रेरित इच्छावान् सैन्य समूह, (३) आत्मा द्वारा प्रेरित प्राणगण।

'गव्यन् ग्राम इषित इन्द्रजूतः'

ऋ. ३.३३.११

इन्द्रज्येष्ठः - (१) इन्द्र या राजा को ज्येष्ठ मानने वाला प्रजा गण ।

'इन्द्रज्येष्ठास इह मादयन्ताम्'

ऋ. ७.११.५

इन्द्रज्येष्ठाः - (१) मरुद्गण जिनमें इन्द्र अर्थात् सूर्य बड़ा प्रशंसनीय है, (२) जिनमें राजा और सेनापति सबसे श्रेष्ठ और श्रेष्ठ पद पर विराजते हैं वे वीर पुरुष (मरुद्गण) (३) सूर्य को प्रबल रूप से धारण करने वाले-सूर्य की शक्ति को प्राप्त करने वाले तेजोगण से युक्त वायुगण, (४) इन्द्र-ईश्वर को ही सर्वश्रेष्ठ मानने वाले (५) मरुद्गण का विशेषण ।

'इन्द्रज्येष्ठाः समगच्छन्त सर्वे'

अ. ७.७९.२

'इन्द्रज्येष्ठामरुद्गणाः'

ऋ. १.२३.८, २.४१.१५.

(६) विद्युत् वायु आदि बड़े बड़े शक्तिमान् तत्वो वाले अन्तरिक्ष आदि प्रदेश । (८)राजा या सेनापति सर्वश्रेष्ठ पदों से युक्त ।

'इन्द्रज्येष्ठान् बृहद्भ्यः पर्वतेभ्यः'

ऋ. ४.५४.५.

इन्द्रज्येष्ठाः देवाः - (१) इन्द्र या राजा को सबसे मुख्य मानने वाले राष्ट्र के अधिकारी (२) इन्द्र को मुख्य राष्ट्र के मानने वाले देवगण या मरुद्गण ।

'देवा इन्द्रज्येष्ठा मरुतो यन्तु सेनया'

अ. ३.१९.६.

इन्द्रतमा - (१) अत्यधिक ऐश्वर्य वाली उषा ।

'अभूदुषा इन्द्रतमा मघोनी'

ऋ. ७.७९.३

(२) सब से अधिक ऐश्वर्यवान् और शत्रुनाशक, (३) आत्मा के प्रमुख बल प्राण और अपान

'इन्द्रतमा हिधिष्ण्या मरुत्तमा'

ऋ. १.१८२.२.

इन्द्रद्विष्टा - सूर्य की विरोधिनी काली रात्रि ।

'इन्द्रद्विष्टामपधमन्ति मायया'

ऋ. ९.७३.५.

इन्द्रधनुः - ईश्वर का सत्त्व रजस्तमोमय त्रिगुणात्मक प्रकृति रुपी धनुष ।

'स धनुरादतंत तदेवेद्रधनुः'

अ. १४.१.६

इन्द्रः नासत्या - (१) इन्द्र और नासत्य और (अश्विद्वय), (२) ऐश्वर्यवान् और कभी असत्याचरण न करने वाले स्त्री पुरुष ।

'आ ने अस्य प्रतीव्यम्
इन्द्र नासत्यागतम्'

ऋ. ८.२६.८

इन्द्र पत्नी - (१) महान् ऐश्वर्यवान् प्रभु को पतिरूप में धारण करने वाली प्रकृति ।

'इन्द्रपत्नी मरुत्सखा'

ऋ. १०.८६.९, अ. २०.१२६.१०

(२) इन्द्र की स्त्री - (३) आत्मा की रक्षा करने वाली ।

'इन्द्र पत्नी मरुत्सखा
विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः'

मैं इन्द्रपत्नी हूँ और इन्द्र मरुतों के सखा एवं सब से बढ़कर है । मैं अपनी आत्मा की रक्षा करने वाली हूँ तथा प्राण, अपान आदि वायु मेरे मित्र हैं । मेरी आत्मा सम्पूर्ण प्राकृतिक जगत् से ऊपर उठी हुई है ।

इन्द्रपानम् - (१) जीवों के पीने योग्य -(दया.) (२) सूर्य द्वारा पान करने योग्य (३) इन्द्र के पान करने योग्य (४) राजा के समान पालक

'इन्द्रपानमूर्मिमकृण्वतेडः'

ऋ. ७.४७.१

इन्द्रपुत्रा - ऐश्वर्यवान् पुत्र वाली स्त्री

'इन्द्रपुत्रे सोमपुत्रे'

अ. ३.१०.१३.

इन्द्रभेदी - इन्द्र या राजा का स्नेही ।

'ताभ्याम् इन्द्रमेदिभ्याम्'

अ. ११.९.४.

पुनः -

'इन्द्रमेदी सत्वनो नि ह्वयस्व'

अ. ५.२०.८.

इन्द्रमादनासः - इन्द्र आत्मा या प्राणों को प्रसन्न करने वाले वायु या प्रजा ।

'ये वायव इन्द्र मादनासः'

ऋ. ७.९२.४, ऐ.ब्रा. ५.१६.११, आश्व.श्रौ.सू. ८.९.२.

इन्द्रमोदिनौ - इन्द्र या राजा के अर्वुदि और न्यर्वुदि नामक सेनापति । लक्षसेनाओं का अधिपति

अर्वुदि और दस लक्ष सैनिकों का अधिपति न्यर्वुदि है ।

'अमित्रां जयतामिन्द्र मोदिनौ'

अ. ११.९.१८

इन्द्रयुः - ऐश्वर्य पाने की आकांक्षा करता हुआ ।

'पुनान इन्दविन्द्रयुः'

ऋ. ९.५४.४

इन्द्रयोग - ऐश्वर्यवान् पुरुषों का साधन

'जिष्णवे योगायेन्द्रयोगैर्वो युनज्मि'

अ. १०.५.३

इन्द्रवन्ता - बहुत ऐश्वर्ययुक्त स्त्री पुरुष (२) अश्विद्वय (३) अति ज्ञान और धन वाले

'निरहतं दुच्छुना इन्द्रवन्ता
पृथुश्रवसो वृषणा वरातीः'

ऋ. १.११६.२१

ऐश्वर्यवान् राजा के बल से बढ़कर शत्रुओं पर अस्त्रों की वर्षा करते हुए (वृषणा) दुःख दायी, सुख के नाशक, विशाल ऐश्वर्यशाली (पृथुश्रवसः) अदानशील शत्रु सेनाओं को अच्छी प्रकार नाश करो । अथवा, स्त्री पुरुष बलवान् होकर अति ज्ञान और धन वाले (इन्द्र वन्ता) दुष्ट सुखों के नाशक, सुख न देने वाली दुश्चेष्टाओं को (दुच्छुना) दूर मार भगाओ ।

इन्द्रवतन्तः, इन्द्रवत् - (१)इन्द्र से युक्त, (२) श्रेष्ठ आत्मा वाले -(दया.) ।

'एनाङ्गूषेण वयमिन्द्रवन्तः'

ऋ. १.१०५.१९, का.सं. १२.१४, नि. ५.११.

इस स्तुति से अनुग्राहक इन्द्र से युक्त हम सा. । इस वेद के स्वाध्याय से श्रेष्ठ आत्मा वाले हम दया. । (३) रुद्रों का एक विशेषण । इन्द्र के साथ रहने वाले रुद्र ।

'आरुद्रासः इन्द्रवन्तः सजोषसः
हिरण्यरथाः सुविताय गन्तन ।'

ऋ. ५.५७.१, कौ.ब्रा. २०.४,२३.३, श.ब्रा. १३.५.१.१२, नि. ११.१५.

हे रुद्रो ! आप इन्द्र के साथ (इन्द्रवन्तः), समान प्रेम के साथ (सजोषसः) जल लाते हुए सोने के रथ से (हिरण्य रथाः) यथा शास्त्र किए गए यज्ञ के लिए (सुविताय) आओ (आगन्तन) ।

इन्द्रवाट्, इन्द्रवाह् - (१) ऐश्वर्य और बल को धारण करने वाला ।

'एन्द्रवाहो नृपतिं वज्रबाहुम्'

ऋ. १०.४४.३, अ. २०.९४.३.

(२) इन्द्र या राजा के कार्य को वहन या संचालन करने में समर्थ पुरुष ।

इन्द्रवायू - (१) इन्द्र और वायु, (२) ऐश्वर्यवान् और बलवान् (३) विद्युत् और वायु, (४) तीव्र और बली ।

'इन्द्रवायू सरथं यातम् अर्वाक्'

ऋ. ७.९१.५

इन्द्रवाहा - (१) इन्द्र को वहन करने वाले घोड़े (२) जीवात्मा का निरोधवृत्ति द्वारा वहन करने वाले प्राण और अपान ।

'इन्द्रवाहा वचोयुजा'

ऋ. ८.९८.९, अ. २०.१००.३

(३) विद्युत् संचालित रथ को वेग से दूर ले जाने में समर्थ दो यन्त्र, (४) ऐश्वर्यवान् राजा आदि को वहन करने वाले अश्व ।

'तक्षन् हरी इन्द्रवाहा वृषण्वसू'

ऋ. १.१११.१, ऐ.ब्रा. ४.३२.५, कौ.ब्रा. २०.४, २२.२.

इन्द्र शत्रु - (१) इन्द्र अस्य शमयिता (इन्द्र इसकी हत्या करने वाला है) । अथवा -इन्द्रः शत्रु यस्य (२) इन्द्र जिसका शत्रु है अर्थात् वृत्र । दे. 'अतिष्ठन्ती' (३) मेघ, मेघ का भी इन्द्र शत्रु है ।

'दीर्घं तम आशयदिन्द्रशत्रुः'

ऋ. १.३२.१०, नि. २.१६.

वृत्र मानो महानिद्रा में सो गया । अथवा, मेघ अपने पेट में चलते हुए जलप्रवाहों को रोकने की इच्छा से मानों अपना शरीर बढ़ाकर चारों ओर घोर अन्धकार विस्तारित कर देता है । (४) अथवा, शासयिता (हिंसा करने वाला है) शासयति इति शत्रुः। शात् + क्रुन् = शत्रु (बाहुलक भाव से णि का लोप) ।

इन्द्र सखा - (१) राजा का मित्र - पहरेदार, (२) आत्मा का मित्र प्राण ।

'शुनश्चेन्द्र सखा चरन्'

अ. ४.५.२

इन्द्रस्य अष्ट - परमात्मा के आठ रूप ।

'अष्टेन्द्रस्य षड् यमस्य'

अ. ८.९.२३

इन्द्रस्यकर्त्ता - मेघ के जल को विदारण करने में

समर्थ विद्युत् (इन्द्र) का उत्पादक –सूर्य ।

‘इन्द्रस्य कर्ता स्वपस्तमो भूत्’

ऋ. ४.१७.४.

इनद्रस्य युज्यः सखा –जीव का सर्वत्र साथ देने वाला विष्णु ।

‘विष्णोः कर्माणि पश्यत
यतो व्रतानि पस्पशे
इन्द्रस्य युज्यः शखा ।’

ऋ. १.२२.१९, अ. ७.२६.६, साम. २.१०२१, वाज.सं. ६.४, १३.३३, तै.सं. १.३.६ .२, मै.सं. १.२.१४ २३.१८, ३.९.३, ११८.२, का.सं. ३.३, १६.१६, २६.५, श .ब्रा. ३.७.१.१७, ७.५.१.२५, शां.श्रौ.सू. १३.७.६, आप.श्रौ.सू. ७. १०.९ ,११.३,

इन्द्रस्यबाहू – जीव के दो बाहु रूप प्राण और अपान ।

‘इन्द्रस्य बाहू स्थविरौ वृषाणौ’

अ. १९.१३.१, साम. २.१२१९, गो.ब्रा. २.१.१८.

इन्द्रहूति – (१) ऐश्वर्य को देने वाली भूमि, (२) ज्ञान–प्रकाश से युक्त विद्वान् द्वारा उपदेश करने योग्य वाणी, (३) इन्द्र की वाणी ।

‘महीं भर्वद् द्युमतीमिन्द्रहूतिम्’

ऋ. ६.३८.१.

इन्धते – प्रज्वलित करते हैं । ‘ईध्’ धातु (प्रज्ञवलित करना) के लट् प्र.पु.ब.व. का रूप ।

‘आ घा ये अग्निमिन्धते’

ऋ. ८.४५.१, साम. १.१३३, २.६८८, वाज.सं. ७.३२, मै.सं. ४.१२.६, १९४.९, का.सं. १३.१५, तै.ब्रा. २.४.५.७, ऐ.आ. ५.२.३.२, आश्व.श्रौ.सू. २.९ .१४, ६.४.१०, ७.८.१, शां.श्रौ.सू. १२.११.२०, १८.७.६, आप.श्रौ.सू. ११.१०.१७, १२.१.२.

इन्धन्वन् – प्रकाश करने वाला ।

‘इन्धन्वभिर्धेनुभीरप्शदूधभिः’

ऋ. २.३४.५

इन्व – इवि (प्रणिनार्थक) धातु से सम्पन्नअर्थ प्रसन्न करने वाला ।

‘पावकेभिर्विश्वमिन्वेभिरायुभिः’

ऋ. ५.६०.८.

पावक वृष्टि आदि के द्वारा जगत् को तृप्त करने वाली आयुष्प्रद ज्वालाओं से ...।

इन्वन् – व्याप्त करता हुआ ।

‘इन्वन्तोविश्वं प्रति यन्नृतेन’

ऋ. ३.४.५

इनासः – (१) सूर्य की किरणें, (२) स्वामी गण

‘पिन्वन्त्युत्सं यदिनास्तो अस्वरन्’

ऋ. ५.५४.८

इन्द्रा कुत्सा – (१) इन्द्र और कुत्स (२) ऐश्वर्यवान् सेनापति और शत्रुनाशक क्षेत्र बल या वेदों का उपदेष्टा ।

‘इन्द्राकुत्सा वहमाना रथेन’

ऋ. ५.३१.९,

इन्द्राग्न – (१) इन्द्र और अग्नि का पद, (२) एक यज्ञ ।

‘इन्द्राग्नश्च मे महावैश्वदेवश्च मे’

वाज.सं. १८.२०, तै.सं. ४.७.७.२, मै.सं. २.११.५, १४३.५, का.सं. १८.११.

इन्द्राग्नी – (१) इन्द्र और अग्नि, (२) इन्द्र, सूर्य, ‘वायु या विद्युत् के समान बलवान् पुरुष और अग्निवत् दीप्ति एवं उत्तेजना उत्पन्न करने वाली स्त्री ।

‘इन्द्राग्नी जीवथो युवम्’

ऋ. ६.५९.१

माता या स्त्री की अग्निरूपता छान्दोग्य के पञ्चाग्नि प्रकरण में देखें ।

‘मोषा वै अग्निः, तस्यां देवाःवीर्यं जुह्वति ।

सामवेद मंत्र ब्राह्मण में भी–

‘अग्नि क्रव्यादम कृण्वन् गुहानाः
स्त्रीणामुपस्थं ऋषयः पुराणाः
तेनाज्यमकृण्वन् त्रैश्रृंगं त्वाष्ट्रं
त्वयि तद् दधातु’

साम. मं.ब्रा. १.१.४.

(३) अध्यापक और उपदेशक ।

‘इन्द्राग्नी सोमं जनयामि नव्यम्’

ऋ.. १.१०९.२, तै.सं. १७.१४.१, का.सं. ४.१५, नि. ६.९.

हे इन्द्रग्नी या अध्यापक और उपदेशक, मैं तुम्हारे लिए नव्य स्तोत्र या नया नया भेंट उपस्थित करता हूँ ।

(४) ब्राह्मण मन्त्री और राजा –दुर्ग । दुर्ग ने ब्राह्मण के निम्नलिखित आधार पर ऐसा अर्थ किया है और इस अर्थ को आर्य–समाजी विद्वान् भी मानते हैं ।

‘यदिन्द्रश्च अग्निश्च भूयिष्ठभागौ देवतानां तस्मात्

ब्राह्मणाश्च राजा च भूयिष्ठ भोजौ मनुष्याणाम् ।' जैसे देवताओं में इन्द्र और अग्नि भूयिष्ट भाग वाले हैं । उसी से ब्राह्मण और राजा भी मनुष्यो में भूयिष्टभागी हैं । (५) मुख्य प्राण और जाठर अग्नि ।

'उदिन्द्राग्नी स्वस्तये'

अ. ८.१.२, १६.

इन्द्राणी – (१) इन्द्र की स्त्री, – (२) परमेश्वर की स्त्री प्रकृति ।

'इन्द्राणीमासु नारिषु
सुभगामहमश्रवम्'

अ. २०.१२६.११

इन्द्र + आनुक् + ङीष् = इन्द्राणी

(३) आत्मसहचारिणी अर्थात् आत्मा के विरुद्ध कभी कार्य न करने वाली विदुषी । मैंने इन सभी स्त्रियों में इन्द्राणी को ही सब से बढ़कर सुभगा सुना है –सा. ।

मैं इन सभी स्त्रियों में आत्मसहचारिणी अर्थात् आत्मा के विरुद्ध कभी कार्य न करने वाली विदुषी स्त्री को सौभाग्य वाली सुनता हूँ ।

इन्द्रापर्वता – (१) इन्द्र, सूर्य या विद्युत् और पर्वत अर्थात् सर्वपालक मेघ ।

(२) ऐश्वर्यवान् राजा और पर्व पर्व से बना सैन्य वर्ग ।

'इन्द्रापर्वता बृहता रथेन'

ऋ. ३.५३.१, साम. १.३३८, का.सं. २३.११.

(३) इन्द्र और पर्वत, (४) सर्वोपकारक ज्ञान प्रकाश और ऐश्वर्य जल को देने वाले पिता और गुरु ।

'शिशीतमिन्द्रा पर्वता युवं नः'

ऋ. १.१२२.३, तै.सं. २.११.१, का.सं. २३.११.

हे सूर्य, विद्युत् , वायु और पर्वत या मेघ के समान ज्ञान प्रकाश दाता एवं ऐश्वर्य दाता पिता और गुरु आप हम अधीनस्थ ब्रह्मचारियों और सन्तानों को तीक्ष्ण बुद्धि, तपस्या और अभ्यास से शिक्षित करें ।

इन्द्रापूषणा – (१) विद्युत् और वायु, (२) आत्मा और पुष्टि या प्रजानन शक्ति ।

'पातं न इन्द्रापूषणा'

अ. ९.३.१, वै.सू. १६.९.

(३) इन्द्र और पूषणा (४) ऐश्वर्य युक्त और निर्बलों का पोषक, (५) अन्नोत्पादक कृषकजन और भागधुक् पृथिवीपति ।

(६) व्यापारी वर्ग और कृषक वर्ग (७) सूर्य और वायु ।

'इन्द्रा नु पूषणा वयम्'

ऋ. ६.५७.१, साम. १.२०२, मै.सं. ४.१२.६, १९६.३, का.सं. २३.११.

(८) सेनापति और पोषक स्वामी ।

(९) ऐश्वर्यवान् और सर्वपोषक ।

'इन्द्रपूष्णोः प्रियमप्येति पाथः'

ऋ. १.१६२.२, वाज.सं. २५.२५, तै.सं. ४.६.८.१, मै.सं. ३.१६.१, १८१.१०, का.सं.(अश्व) ६.४,शां.श्रौ.सू.१६.३.३.२.

इन्द्रामरुत् – (१) इन्द्र और मरुत् (२) विद्युत् और वायु (३) ऐश्वर्यवान् सेनापति और शत्रुमारक बलवान पुरुष ।

'स्वस्तिमिन्द्रा मरुतो दधात'

ऋ. २.२९.३

इन्द्रावरुणा – (१) इन्द्र और वरुण, (२) कोशवान् और दण्डवान् (३) अर्थपति और बलाध्यक्ष ।

'इन्द्रावरुणा यदिमानि चक्रथुः'

ऋ. ७.८२.५.

(४) राजा और अज्ञान-नाशक शिक्षाध्यक्ष । –(दया.)

ऋ.७.८२.२ में इन्द्र को सम्राट और वरुण को स्वराट् कहा है तथा ऋ.७.८४.२.में –

'युवो राष्ट्रं बृहत् इन्वति' अर्थात् तुम्हारी अध्यक्षता में राष्ट्र बहुत प्रसन्न रहता है, ऐसा कहा है ।

पुनः ऋ ७.८५.३,में वरुण प्रजा को पवित्र तथा विवेकी और इन्द्र बलवान् शत्रुओं को हनन करता है, ऐसा कहा है ।

'कृष्टीरन्यो धारयति प्रविक्ता
वृत्राण्यन्यो अप्रतीनि हन्ति'

ऋ. ७.८५.३

इन्द्राविष्णू – (१) इन्द्र और विष्णु, (२) ऐश्वर्यवान् और सामर्थ्य वाले, (३) आत्मा और मन ।

'इन्द्राविष्णू मरुतो अश्विनोत'

ऋ. ४.२.४.

इन्द्राबृहस्पती – इन्द्र और बृहस्पति

इन्द्राब्रह्मणस्पती – (१) इन्द्र और बृहस्पति , (२)

ऐश्वर्यवान् और वेदज्ञान तथा बृहत् राज्य का पालक राजा और सभापति ।
'अच्छेन्द्रा ब्रह्मणस्पती हविर्नो'
ऋ. २.२४.१२

इन्द्रासोमा - (१) सूर्य और चन्द्रमा, (२) ऐश्वर्य और वीर्य से युक्त प्रजाओं के उत्पादक स्त्री पुरुष ।
'इन्द्रासोमा महि तद्वां महित्वम्'
ऋ. ६.७२.१
(३) राजा और राजा के पुत्रवत् प्रजानन-इन्द्रासोमा है, (४) ऐश्वर्य वान् राजा और शासक (५) इन्द्र और सोम -
'इन्द्रा सोमातपतं रक्ष उब्जतम्'
ऋ. ७.१०४.१, अ. ८.४.१, का.सं. २३.११.
(६) राजा और विद्वान् । अथवा,
(७) राजा और न्यायाधीश-(दया.) ।
'इन्द्रासोमा समघशंसमभ्यघम्'
ऋ. ७.१०४.२, अ. ८.४.२, का.सं. २३.११, नि. ६.११.

इन्धान - इध् (जलाना) + शानच् = इन्धान । प्रदीप्त करना जलाता हुआ ।
'इन्धान एनं जरते स्वाधीः
ऋ. १०.४५.१, वाज.सं. १२.१८, तै.सं. १.३.१४.५, ४.२.२.१, मै.सं. २.७.९ , ८६.६, का.सं. १६.९, श.ब्रा. ६.७.४.३, आप.मं.पा. २.११.२१, नि. ४.२४.
इस अग्नि को सुप्रज्ञनेता या यजमान (एनंस्वाधीः प्रज्वलित करता हुआ (इन्धावः) स्तुति करता है (जरते) ।

इन्द्रिय - (१) आत्मा सम्बन्धी बल, (२) आत्मा के सहायक इन्द्रियाँ भी इसी से इन्द्रिय हैं ।
'इन्द्रियेण त इन्द्रियं दत्तभोजः'
अ. १९.४२.४
(३) इन्द्रा या राजादि से सेवनीय ऐश्वर्य ।
'आतेदधामि इन्द्रियम्'
ऋ. ८.९३.२७
(४) इन्द्र (जीवात्मा सम्बन्धी) शरीर के दस इन्द्रियों के नाम (५) मन के अर्थ में प्रयोगः ।
'यद्ग्रामे यदरण्ये यत्सभायां यदिन्द्रिये
यदेनश्चकृमा वयमिदं तदवयजामहे स्वाहा'
वाज.सं. ३.४५, २०.१७, तै.सं. १.८.३.१, मै.सं. १.१०.२, १४१.१४, का.सं. ९.४, ३८.५, श.ब्रा. २.५.२.२५, १२.९.२.३, तै.ब्रा. १.६.५.३, २.६ .६.२,
जो पाप ग्राम में, अरण्य में, सभा में या मन मे किया है .... (६) ऐश्वर्य ।
'न क्षोणीभ्या परिभ्वेत इन्द्रियम्'
ऋ. २.१६.३
(७) महान् ऐश्वर्यमय स्वरूप ।
'इन्द्र नकिर्दद्दृश इन्द्रियं ते'
ऋ. ६.२७.३

इन्द्रियरस् - (१) इन्द्र, आत्मा से सेवन करने योग्य ओषधि आदि रस, (२) आत्मिक आनन्द ।
'नः सोम इन्द्रियो रसः'
ऋ. ८.३.२०.

इन्द्रियावत् - शरीर मे बल लाने वाला ।
'तेजः पशूनां हविरिन्द्रियावत्'
वाज.सं. १९.९५, मै.सं. ३.११.९ः १५५.३, का.सं. ३८.३, तै.ब्रा. २.६.४.६,

इन्द्रियावान् - समस्त इन्द्रियों से सम्पन्न ।
'देवीरापो अपां नपाद्यो व ऊर्मि
हविष्य इन्द्रियावान् मदिन्तमः'
वाज.सं. ६.२७, तै.सं. १.३.१३.२, का.सं. ३.९, श.ब्रा. ३.९.३.२५.

इन्दु - (१) अमृतेन सर्वस्य क्लेदयित् (अमृत से सभी को तृप्त करता है) (२) चन्द्रमा, (३) सोम ।
'इन्द्रायेन्दो परिस्रव'
ऋ. ८.९१.३, ९.१०६.४, ११२.१-४, ११३.१-११, ११४.१-४, साम.१.५६७, जै.ब्रा. १.२२०, नि. ६.६,९.२.
अंगिरस पुत्र की उक्ति-हे सोम, तू इन्द्र के लिए स्रवण कर (४) इन्द्र ।
'प्र तद् वोचेयं भव्यायेन्दवे'
ऋ. १.१२९.६, नि. १०.४२.
मैं भव्य इन्द्र के उस इष्टतम स्तुति को करता हूँ ।

इन्द्रेषिता - (१) इन्द्र , मेघ या विद्युत् द्वारा प्रेरित -गर्जना (२) परमेश्वर या गुरु की प्रेरित वाणी ।
'इन्द्रेषितां धमनि पप्रथनिन्'
ऋ. २.११.८

इन्द्रेषिताः देवाः - इन्द्र अर्थात् परमेश्वर द्वारा प्राकृतिक दैवी उत्पात ।
'इन्द्रेषिता देवा आज्यमस्य मथमन्तु'
अ. ७.७०.२, तै.ब्रा. २.४.२.२.

इन्द्रेषिते – (१) सूर्य या वृष्टि द्वारा अति वेग प्रेरित होकर दो नदियाँ–विपाशा और शुतुद्रि (२) अज्ञान नाशक विद्वान् पुरुष द्वारा सन्मार्ग में प्रेरित–स्त्री पुरुष ।

'इन्द्रेषिते प्रसवं भिक्षमाणे'

ऋ. ३.३३.२

इन्द्रोत – इन्द्र + ऊत । इन्द्र से रक्षित, (२) आत्मा से रक्षित शरीर, (३) इन्द्र से रक्षित राष्ट्र ।

'ऋजाविन्द्रोत आ ददे'

ऋ. ८.६८.१५

इभ – हस्तिबल, हस्ती, (२) निर्भय गण

'याहि राजेव अमवान् इभेन'

ऋ. ४.४.१, वाज.सं. १३.९, तै.सं. १.२.१४.१, मै.सं. २.७.१५, ९७.७, का.सं. १६.१५, नि. ६.१२.

व्युत्पत्ति – (१) इराभृत, अन्नभृत् । इराभृत शब्द ही इभ शब्द में परिवर्तित हुआ है ।

(२) इतमयः इभः –गतभय हाथी –(दया.) ।

(३) भोज्य पदार्थ वाला (रसद) मनुष्य वर्ग जो सेना के साथ साथ जाता है । – (दया.) ।

'याहि राजेवामवां इभेन'

हे सेनापति ! तू अमात्य सहित रोग भूत या राज्य कर्मचारियों से परिवेष्टित राजा की तरह भोज्य पदार्थ वाले मनुष्य वर्गों के साथ या भयरहित हाथी पर सवार हो युद्ध में प्रयाण कर ।

(४) अन्न से पाला पोसा हुआ ।

इभ्यः – (१) हाथी का नियमन करने वाला । (२) हाथी पर सवारी करने वाला ।

'इभ्यान्न राजा वनानि अत्ति'

ऋ. १.६५.७

इमथा – इम + थाल् (प्रत्नपूर्व विश्वेमात् थाल् छन्दसि) = इमथा । 'इदम्' से 'इम' निपातन् द्वारा सिद्ध है । अर्थ – (१) इन वर्तमान कालीनों के जैसा, (२) इस मन्त्रिमन्डल की तरह ।

'तं प्रत्नथा पूर्वथा विश्वथेमथा
ज्येष्ठतातिं बर्हिषदं स्वर्विदम् ।
प्रतीचीनं वृजनं दोहसे गिराऽऽशुं
जयन्तमनु मासु वर्धसे ।'

ऋ. ५.४४.१, वाज.सं. ७.१२, तै.सं. १.४.९.१, मै.सं. १.३.११, ३४.४, कौ.ब्रा. २४.९ श.ब्रा. ४.२.१.९, नि. ३.१६.

हे भगवन् सोम ! ज्येष्ठ कुशासन पर बैठने वाले सूर्य के सदृश दीख पड़ने वाले शीघ्र गामी, असुरादिकों को पराजित करने वाले इस इन्द्र को लक्ष्य कर जिन क्रियाओं में तू वृद्धि प्राप्त करता है । इन तमाम कही स्तुतियों से युक्त होकर तू अभिख इन्द्र या वैश्व देव को तृप्त कर पुरातन भृगु आदि ऋषियों की तरह सभी ऋषि पुत्रों तथा ऋषियों के मनोरथों को जैसे पूर्ण किया उस तरह (विश्वथा) तथा वर्तमान कालीन ऋषियों एवं यजमानों की कामनाएं जैसे तूने पूर्ण की उस तरह (इमथा) इस यजमान को धन दे (वृजनं दोहसे) ।

अन्य अर्थ, राजा के योग्य समस्त गुणों से सम्पन्न राजन् ! सनातन धर्म की तरह (प्रत्नथा) प्राचीन राजाओं की तरह (पूर्वथा) सभी प्रजाओं की अनुमति के अनुकूल (विश्वथा) मन्त्रिमण्डल की सम्मति के अनुकूल (इगथा) वर्तमान आप आयु में बढ़ें (ज्येष्ठ तातिम्) । राजसिंहासन पर बैठने वाले (बर्हिषदं), सुख पहुंचाने वाले (स्वर्विदन्), प्रजा के प्रति चलने वाले (प्रतिचीनम्) वृलावान् (वृजनम्) और शत्रुओं को जीतने वाले (आशुम्) अपने आपको जिन प्रजाओं में रहकर बढ़ाते हो (यासु अनुवर्धसे) उस प्रजावर्ग की शिक्षा से पूर्ण करो (तं गिरा दोहसे) (दया.) ।

इमा – इमानि (इदम् का प्रथम पुरुष ब.व. क्लीव लिंग का रूप) छन्द में 'शि' का लोप हो जाया करता है (शेश्छन्दसि बहुलम्) ।

इयक्षन् – (१) आदर करता हुआ, (२) याचना करता हुआ ।

'सुम्न गियक्षनाः त्वावतो नृन्'

ऋ. २.२०.१

इयक्षमाण – (१) अपने साथ संयुक्त पति या सूर्य ।

'एषि देवि देवमियक्षमाणम्'

ऋ. १.१२३.१०.

हे तेजस्विनि ! तू अपने साथ संयुक्त अपने योग्य एवं कामना शील प्रिय पति को प्राप्त होती है । हे उषा, तू तेजस्वी अपने साथ संगत सूर्य को प्राप्त होती है ।

इयत्तक – इतना छोटा, कुत्सित, मैला कुचैला ।

'इयत्तकः कुषुम्भकः
तकं भिनद्मि अश्मना'

ऋ. १.१९१.१५

इयत्तिका - (१) इतनी छोटी सी चिडिया । (२) हयति प्रदेशे भवा बाला -(दया.) । इस प्रदेश में हुई बाला ।

'इयत्तिका शकुन्तिका
सका जघास ते विषम्'

ऋ. १.१९१.११.

(३) इतनी बड़ी ।

'इयत्तिका शलाकका'

अ. २०.१३०.२०

इयती - सुख चाहने वाली ।

'स विशे दांति वार्यमियत्यै'

ऋ. ७.४२.४

इयध्यै - गमना गमन के लिए ।

'मातुर्न सीमुप सृजा इयध्यै'

ऋ. ६.२०.८

इयति - गच्छताम् (जायें) ।

'प्र वावृजे सुप्रया बर्हिरेषाम्
आ विश्पतीव बीरिट इयाते ।
विशामुक्तोरुषशः पूर्वहूतौ
वायुः पूषा स्वस्तये नियुत्वान् ।'

ऋ. ७.३९.३, वाज.सं. ३३.४४, नि. ५.२८.

सुन्दर बैठने या आने लायक (सुप्रयाः) कुशासन (बर्हिः) बिछाया जाता है (प्रवावृजे) और प्रजाओं के पालक (विश्पती) बड़वा को वाहन बनाने वाले (नियुत्वान्) वायु तथा पूषा प्रजाओं के कल्याण के लिए (विशां स्वस्तये) रात के बाद (अक्तोः) उषा के आगमन काल में (उस-सः) पहले ही आह्वान में (पूर्वहूतौ) अन्तरिक्ष में स्थित (बीरिटे) आवे (आ इयाते) । अन्य अर्थ-रात के चले जाने पर तथा उषा के प्रारम्भ होने पर (अक्ताः उससः पूर्वहूतौ) जब सब लोकों को नियम में रखने वाली या उन्हे परस्पर मिलाने वाली गति से युक्त वायु और सूर्य (नियुत्वान् वायुः पूषा) कल्याण के लिए अन्तरिक्ष में आते हैं (बीरिटे आ इयाते)तब इन मनुष्यों के लिए शुभागमनयुक्त वृद्धि प्रदान की जाती है (एषां सुप्रयाः बर्हिः प्रवावृजे) ये वायु और आदित्य सर्वजनों के रक्षक और पालक हैं (विश्व ही) ।

इयर्ति - प्रेरयति (प्रेरित करता है)

इयानः - (१) आता हुआ, (२) जाता हुआ ।

'इयानासो अमन्महि'

ऋ. ५.२२.३

'इयानास इषण्यन्तधीभिः'

ऋ. १०.६७.८, अ. २०.९१.८

(३) प्राप्त करता हुआ ।

'स्तोतृभ्योधृष्णवियानः'

ऋ. १.३०.१४, अ. २०.१२२.२, साम. २.४३५.

हे बलवान् वायुओं की पराजय करने वाले परमेश्वर (घृष्णो) स्तुति करने वालों को अभिलाषित फल प्राप्त कराता हुआ ।

इरध - इलान् प्रेरकान् दधति इति इरधः (जो प्रेरकों या शासकों को धारण करता है) । अर्थ शासक का भी रक्षक ।

इरधन् - यः इलान् प्रेरकान् दधति स इरधः । इरध इव आचरन् (इरध के समान आचरण करने वाला) - (दया.) ।

अर्थ - (१) प्रेरकों को धारण करने वाला इरध है । (२) समस्त शासकों का भी शासक

'तमीशानास इरधन्त वाजिनम्
पृक्षमत्यं न वाजिनम्'

ऋ. १.१२९.२.

उस ऐश्वर्यवान् और बलवान् पुरुष को शक्तिशाली अधिकारवान् पुरुष भी (ईशानासः) सत्संग योग्य और सुखों और ऐश्वर्यों से प्रजा और आश्रित जनों को सेचन और सेवर्द्धन करने वाला (पृक्षम्) जानकर अति वेगवान् बलवान् अश्व के समान (अत्यम् वाजिनम् न) समस्त शासकों का भी शासक बना देते हैं (इरधन्त) ।

इरस्या - (१) अन्न की इच्छा, (२) अन्न समृद्धि का लोभ ।

'इरस्या दुग्धो भियसा निगारीत्'

ऋ. ५.४०.७

इर्य - (१) प्रेरक -दया. (२) शत्रुओं को कंपाने और भृत्यों तथा समृद्धों को सन्मार्ग में चलाने वाला (३) गति देने वाला ।

'यूयं राजानम् हर्यं जनाय'

ऋ. ५.५८.४

'पशून्न गोपा इर्यः परिज्मा'

ऋ. ७.१३.३

(३) आज्ञापक ।

'इर्यो गोपाः पुष्टपतिर्वा आजत्'
अ. ३.८.४
(४) रक्षक, (५) स्वामी ।
'सहि गोपा इवेर्यः'
ऋ. ८.४१.४
(६) सन्मार्ग में ले जाने वाला पूषा
'इर्यम् अनष्ट वेदसम्'
ऋ. ६.५४.८

ईर्थ - अन्न का स्वामी ।
'इर्य इव गोपा अभिरक्ष पक्वम्'
अ. १२.३.११.

इरा - (१) जल ।
'स्वधामिरां च नो गृहे'
अ. १९.३१.३
(२) अन्न ।
आधुनिक अर्थ -पृथ्वी, वाणी, सरस्वती, जल, भोजन और सुरा ।

इरावत् - (१) अन्न से समृद्ध
'यासिष्टं वर्तिरश्विवना विरावत्
ऋ. ७.४०.५, ६७.१०.
(२)धन धान्यादियुक्त ।
'इरावन्तो हसामुदाः'
अ. ७.६०.६, हि.गृ.सू. १.२९.१.

इरावती - (१) पारुष्णी नदी का नाम पारुष्णी का अर्थ पर्ववती (पर्वों वाली) (२) भारवती, (३) कुटिल गामिनी, टेढ़ी मेढ़ी चालवाली ।
(४) 'इरा' जल का वाचक है, अतः 'इरावती' नदी का वाचक हुआ ।
(५) अन्नवती विराट् प्रकृति
'सूनृत एहि इरावत्येहीति'
अ. ८.१०.(२).४, मै.सं. ४.२.५, २६.१४, ४.२.६, २७.११, शां.श्रौ.सू. २.१२.३, आप.श्रौ.सू. ४.१०.४.
(६) जलों, अन्नो से युक्त द्यावा पृथिवी (७) अन्न और जल से पूर्ण ।
'इरावती धेनुमती हि भूतम्'
ऋ. ७.९९.३, वाज.सं. ५.१६, तै.सं. १.२.१३.२, मै.सं. १.२.९,१८.१९, श.ब्रा. ३.५.३.१४, तै.आ. १.८.२, आश्व.श्रौ.सू. ३.८.१.

ईर्या - (१) इर अर्थात् अन्न देने वाले मेघ और सूर्य, (२) अश्विद्वय (३) स्त्री पुरुष ।
'इर्येव पुष्ट्यै किरणेव भुज्यै'
ऋ. १०.१०६.४

इरिण - (१) जलाशय , (२) शुष्क भूमि -
'पातम् गौरा विवेरिणे'
ऋ. ८.८७.१
(३) निर्ऋण, निर्गतर्ण, अपार्ण, ऋण रहित, (४) जहां जल न हो वह स्थान-अपार्ण, अपगतोदक (५) जहां से ओषधियां समाप्त हो गई हों (अपरताः अस्मात् ओषधयः) (६) शून्य, (७) ऊसर भूमि । आज भी कहा जाता है ऋण से उऋण होना चाहिए ।
(८) बिना घास की भूमि
'मण्डूका इरिणानु'
अ. ४.१५.१२
पुनः -
'प्रवातेजा इरिणे वर्वृतानाः'
ऋ. १०.३४.१, नि. ९.८.
वर्षाऋतु या सूखे स्थल या शून्य रूप या ऊसर भूमि में बहुत पाए जाने वाले (हर्रे) ।

इरिण्य - ऊसर भूमियों का अधिकारी ।
'नम इरिण्याय च प्रपथ्याय च
वाज.सं. १६.४३, तै.सं. ४.५.९.१, मै.सं. २.९.८, १२६.८, का.सं. १७. १५.

इरिन् - (१) अन्न युक्त, (२)भय से कांपने वाला शत्रु ।
'विश्वमेरिणं प्रुषा यन्त सेनाः'
ऋ. १.१८६.९.

इरिवान् - उत्तम विद्वान् पुरुषों और अश्वादि सैन्यों का स्वामी ।
'अत्राह ते हरिवस्ता उ देवीः'
ऋ. ४.२२.७

इरी - (१) प्रेरक, संचालक ।
'न येषामिरी सधस्थ ईष्ट आं'
ऋ. ५.८७.३
(२) जलाशय
'तृष्यन्नेत्य वेरिणम्'
ऋ. ८.४.३, साम. १.२५२, २.१०७१.

इल-इर - चलाना ।
'तौविलिके अवेलय'
अ. ६.१६.३

इला - (१) अन्न, (२) अग्नि, (३) पृथ्वी स्थानीय इला देवी ।

पुनः-

'अग्नी पर्जन्या ववतं धियं मे
अस्मिन् हवे सुहवा सुष्टुतिंनः
इडामन्यो जनयत् गर्भमन्यः
प्रजावतीरिष आधन्तमस्मे'

ऋ. ६.५२.१६.

हे अग्नि तथा पर्जन्य ! आप दोनों मेरे यज्ञरूपी कर्म की रक्षा करें । (मेधियम् अवतम्) । हे सुखपूर्वक आहूत किए जाने वाले (सुहवा) इस यज्ञ में (हवे) हमारी स्तुति आप सुनें । आप में एक पर्जन्य अन्न उत्पन्न करें (इडां जनयत्) और दूसरा अग्नि गर्भ उत्पन्न करे (अन्यः गर्भम्) । आप दोनों प्रजा से युक्त अन्न हमें दें (प्रजावतीः इषः आधत्तम्)।

इलीविश् - इलाविलशय (पृथ्वी के विल में सोने वाला वृत्र) भूमेः विले शयानः वृत्रः । वर्ण-विपर्णय से 'विलेशय' से 'विश' हो गया है । इला का अर्थ पृथिवी है । वृत्र भी मेघ का नाम है । पृथिवी मध्यमस्थानीया अर्थात् अन्तरिक्ष और इस लोक का भी देवता है । मेघ अन्तरिक्ष में ही रहता है । अतः वह 'इलीविश' है । (२) सायण के मत से वृत्र का नाम इलीविश् है । (३)इलार्थं विलेशयः । दुर्ग के मत से भी इसका अर्थ मेघ ही है । (४) इला पृथ्वी या अन्न का वाचक है । इसके हेतु भूत उदक के निकलने के लिए बिलों को रोककर जो सोता है, वह मेघ है ।

'तस्याः हेतोः उदकस्य आत्मीयानि
निर्गमन विलानि संरुध्य शेते ।
तस्मैव विलेषु इलाहेतुः उदकं
शेते इति इलीविशः'

(५) इलाविल शय का इलांविश हुआ । भूमि के बिल में रहने वाला या भूमि के अन्दर कोठरी बनाकर रहने वाला ।

'न्याविध्यदिलीबिशस्य दृढ़ा
वि शृङ्गिणमभिनत् शुष्णमिन्द्रः
यावत्तरो मघवन् यावदोजो
वज्रेण शत्रुमवधीः पृतन्युम्'.

ऋ. १.३३.१२, नि. ६.१९.

इन्द्र ने वृत्र या मेघ के दृढ़ उदक रोकने वाले स्थानों को रोक दिया (इन्द्रः इलीविशस्य दृढ़ा न्याविध्यत्) और विशिष्ट शिखायुक्त तथा दीप्तिमान (विश्रृंगिणम्) एवं बलवान् मेघ को छिन्न भिन्न किया (अभिनत्) । हे मघवन्! जहां तक तुम में बल और ओज है उससे संघ की अभिलाषा करने वाले शत्रु को मारो (पृतन्यु शत्रुम् अवधीः)

अन्य अर्थ- राजा भूमि के अन्दर दुर्ग बनाकर रहने वाले शत्रुओं के दृढ़ दुर्गों को तोड़े और ऊंचा सिर उठाए हुए बलवान् शत्रु को कुचले । हे ऐश्वर्यवान् राजन्! जितना तेरा शारीरिक बल है उतने पराक्रम से (वज्रेण) सेना के साथ आक्रमण करने वाले शत्रु को मार ।

इव - सदृश, समान । उपमा का वाचक ।

आधुनिक अर्थ-सदृश,मानो, कुछ, कदाचित् ।

इष् - (१) गत्यर्थक इष् धातु दिवादि गण से पठित है अर्थ है - प्रयोग करना use का **पूर्व रूप** 'इष्' है ।

'द्विपाच्चतुष्पाद् इष्णामि'

अ. ८.८.१४

(२) जिसकी इच्छा की जाय अन्न । इष् + क्विप् = इष् ।

'जिगीषमाणमिष आ पदे गोः'

ऋ. १.१६३.७, वाज.सं. २९.१८, तै.सं. ४.६.७.३, का.सं.(अश्व). ६.३.

देव यजन प्रदेश में दिए जाने वाले अन्नों को जीतने के इच्छुक अश्व को (३) धेनु (४) उदक (सर्वतोमुखंतत् गच्छति जल सर्वतोमुख होकर बहता है) । (५) ज्ञान ।

'धेनुं न इषं पिन्वतमअसक्राम्'

ऋ. ६.६३.८, नि. ६.२९.

हमें धेनु और अन्यत्र न हटने योग्य अन्न दो (असक्राम् इषम्) पुनः जल के अर्थ में ।

'विश्वकर्मा विमना आद्विहाया
धाता विधाता परमोत संदृक्
तेषामिष्टानि समिषामदन्ति
यत्रा सप्त ऋषीन् पर एकमाहुः'

ऋ. १०.८२.२, वाज.सं. १७.२६, मै.सं. २.१०.३, १३४.३, का.सं. १८.१, आश्व.श्रौ.सू. ३.८.१, नि. १०.२६.

आधिभौतिक अर्थ - प्रकाश वृष्टि आदि का

कर्ता आदित्य (विश्वकर्मा), अप्रतिहत प्रज्ञान वाला (विमनाः) सर्व व्याप्त एवं महान् (आद्विहायाः) सभी जीवों का उत्पादिया (धाता), अन्न आदिआजीविका का स्त्रष्टा (विधाता) तथा प्रकृष्ट संदृष्टा (परमा संदृक्) है। जिस आदित्य में (यत्र) उन जीवों के इष्ट (तेषाम् इष्टानि) गतिशील या सात (सप्त) रसापकर्षक् रश्मियां (ऋषीन्) जलों के साथ सुख पूर्वक रहती है (इथा संमदन्ति)। उन रश्मियों से परे एक ही आदित्य में (यत्र) उन जीवों के इष्ट (तेषाम् इष्टानि) गतिशील या सात (सप्त) रसावकर्षक् रश्मियां (ऋसीन्) जलों के साथ सुख पूर्वक रहती है। उन रश्मियों से परे एक ही आदित्य है (परम एकम् आहुः) अर्थात् ये सप्त रश्मियों आदित्य मण्डल में एक हो गई हैं।

आध्यत्मिक अर्थ - प्रति शरीर में क्षेत्रज्ञ रूप से वर्तमान परमात्मा (विश्वकर्मा) सर्वप्रज्ञान महान् पुण्य पाप के फलों का आपयिता, अपनी शक्ति का धाता तथा तद् योग्य विषयों का विधाता उत्कृष्ट एवं इन्द्रियों का संदर्शयिता जिस अधिष्ठाता रूपी क्षेत्रज्ञ में सभी इन्द्रियां अन्न या जल के साथ तृप्त होती है वह क्षेत्रज्ञ इन्द्रियों से परे है तथा इन्द्रियां उस क्षेत्रज्ञ में एकवत् होकर रहती हैं। वही आत्मा आत्म तत्वज्ञ की दृष्टि में परमात्म है।

(६) सेना।

'इन्द्र ता रथिनीरिषः'

ऋ. १.९.२, अ. २०.७१.१४.

रथादि चतुरंग-सम्पन्न सेनाएं प्रदान कर।

इष - (१) आश्विन।

'उपयामगृहीतोऽसीषेत्वा'

वाज.सं. ७.३०,

(२) इच्छा करने वाला।

'एष इषाय मामहे'

अ. २०.१२७.३, शां.श्रौ.सू. १२.१४.१.३.

(३) बाण।

इषकृत् - बाण बनाने वाला।

'नम इषुकृद्भयो धनुष्कृद्भ्यश्च वो नमः'

वाज.सं. १६.४६, तै.सं. ४.५.४.२, मै.सं. २.९.४, १२३.९, का.सं. १७.१३.

इषण्यन् - प्रकट करता हुआ।

'इयानास इषणयन्तधीभिः'

ऋ. १०.६७.८, अ. २०.९१.८

इषति - 'ईष गतिहिंसा दर्शनेषु' गति हिंसा और दर्शन अर्थों में ईष धातु प्रयुक्त है। अर्थ-गच्छति (जाता है)। हिनस्ति (हिंसा करता है) और (पश्यति देखता है)।

इषध्यै - इष् धातु का ध्यै प्रत्यय कर। जानने और चाहने के लिए।

'द्यावा नमोभिः पृथिवी इषध्यै'

ऋ. ७.४३.१.

इषयन्ती - (१) अन्न उत्पन्न करती हुई नदी, (२) उत्तम अन्न बनाती हुई स्त्री।

'प्रपिन्वध्वम् इषयन्तीः सुराधा
आवक्षणाः पृणध्वं यातशीभम्'

ऋ. ३.३३.१२.

इषयुः - इष्यते सर्वैः विज्ञायते यत् तत् याति प्राप्नोति स -दया.। इष् + क = इष, इष + या + कु = इषयु।

(१) उत्तम ज्ञानों और प्राप्तव्य परम पद को प्राप्त करने में कुशल, (२) बाण चलाने में सिद्धहस्त, (३) लक्ष्य वेध में चतुर।

'प्रैषयुर्न विद्वान्'

ऋ. १.१२०.५

इषव्यः - धनुर्धर।

'आ राष्ट्रे राजन्यः शूर इषव्येऽतिव्याधी'

वाज.स. २२.२३, मै.सं. ३.१२.६, १६२.७, श.ब्रा.१३.१.९.२.

इषवान् - इष् +अङ्= इष। इष् + वतुपः इषवत्। अर्थ - अन्नवाला।

'हव्यो न य इषवान् मन्म रेजति'

ऋ. १.१२९.६, नि. १०.४२

जो अन्नवान् इन्द्र हमारी प्रज्ञाओं को आकम्पित करते हैं।

इषःस्तुतः - सेनाओं, आज्ञाओं और उत्तम इच्छाओं द्वारा प्रशंसित।

'इषस्तुतो मनामहे'

ऋ. ५.५०.५

इषस्पति - (१) अन्नों और समस्त कामनाओं का स्वामी आत्मा।

'अभिद्युम्नं बृहद्यश इषस्पते'

ऋ. ९.१०८.९, साम. १.५७९,२.३६.१.

(२) सेनाओं का पालक, (३) अन्नो का स्वामी।

'मर्जयन्तीरिषस्पतिम्'

ऋ. ९.१४.७.

इष्कर - (१) अन्न उत्पन्न करने वाला।

'अहं गुङ्गुभ्यो अतिथिग्वमिष्करम्'

ऋ. १०.४८.८

इष्कर्ता - (१) इस महान् जगत् मय यज्ञ का प्रेरक पूर्ण रूप से संचालक।

'इष्कर्तारमध्वरस्य प्रचेतसं'

ऋ. १०.१४०.५, साम. २.११७०, वाज.सं. १२.११०, मै.सं. २.७.१४,९६.४:, श.ब्रा. ७.३.१.३३

(२) ठीक कर देने वाला परमेश्वर या जीवात्मा

'उस्कर्ता विह्रुतं पुनः'

ऋ. ८.१.१२., २०.२६, का.श्रौ.सू. २५.५.३०.

(३) सबका संचालक परमेश्वर इन्द्र।

'इष्कर्तारमनिष्कृतम् सहस्कृतं'

ऋ. ८.९९.८.

इष्कृत - (१) बनाया हुआ चलने योग्य मार्ग, (२) सुशोभित।

'अमर्धन्तो वसुभिरिष्कृतासः'

ऋ. ७.७६.२.

इष्कृति - (१) अन्न उत्पन्न करने वाली पृथिवी

'इष्कृतिर्नाम वो माता।'

ऋ. १०.९७.९, वाज.सं. १२.८३.

(२) रोगियों की इच्छा से उत्पन्न होने वाली ओषधि।

इष्ट - इष + क्त = इष्ट। अर्थ (१) प्रिय। इष् इच्छार्थक धातु है।

इष्टक - ईंट (२) ईंटों का बना गृह आदि, (३) यज्ञ कर्म, (४) इष्ट अभिलषित पदार्थ (५) प्रिय सम्बन्धी जन।

'शं ते भवन्त्विष्टकाः'

वाज.सं. ३५.८, श.ब्रा. १३.८.३.५.

(६) अभीष्ट सुख साधना।

'अपां पतिर्वृषभ इष्टकानाम्'

वाज.सं. १३.३१, मै.सं. २.७.१६,१००.६, का.सं. ३९.३. श.ब्रा. ७.५.१.९, आप.श्रौ.सू. १६.२५.२.

(५) राज्य के नाना विभागों में नियुक्त शासक

'इमा मे अग्न इष्टकाः धेनवः सन्तु'

वाज.सं. १७.२, वाज.सं.(का.). १८.२, तै.सं. ४.४.११.३, ४, ५.४.२.४,मै. सं.२.८.१४, ११८.१४, १६,३.३.४, ३६.२, का.सं. १७.१०, २१.६, श.ब्रा. ९. १.२.१६, आप.श्रौ.सू. १७.११.२,

इष्टका - सबको इष्टया प्रिय लगने वाला।

'तस्यास्ते देवीष्टके विधेम हविषा वयम्'

वाज.सं. १३.२१, तै.सं. ४.२.९.२, श.ब्रा. ७.४.२.१५, तै.आ. १०.१.८.

इष्टनिः - इष् + अनि (नुक्) = इष्टनि। अर्थ - (१) इच्छा विशिष्ट (२) यष्टुंयोग्य (यज्ञ करने योग्य) दया.।

(३) सबकी इष्ट अभिलाषा पूर्ण करने वाला।

(४) सर्वादर योग्य एवं सत्य व्यवहार युक्त। प्रजाओं में पूज्य।

इष्टयामा - अपने इष्ट माता पिता आदि बन्धुओं की ओर जाने वाला ब्रह्मचारी, (२) सोम।

'वायुर्न यो नियुत्वाँ इष्टयामा'

ऋ. ९.८८.३.

इष्टरश्मि - (१) समस्त रश्मियों का प्रेरक -परमेश्वर ज्ञानतन्तुओं का प्रेरक आत्मा।

इष्टान् - प्रेरणा करता या देता हुआ।

'ब्रह्मा तूतोदिन्द्रो गातुमिष्णन्'

ऋ. २.२०.५

इष्टिणः - धनुषबाण वाले-मरुत्।

'स्वायुधास इष्मिणः'

ऋ. ५.८७.५, ७.५६.११.

इष्णन् - (१) समस्त जगत् को प्रेरणा करता हुआ।

'इष्णन्निषाणामुम्'

वाज.सं. ३१.२२

(२) पुत्रादि की इच्छा करता हुआ।

(३) ऐश्वर्य एवं पुत्रादि फलों की कामना करता हुआ।

'पूर्वीरिषचरति मध्व इष्णन्'

ऋ. १.१८१.६

इष्मी - (१) उत्तम अन्न का स्वामी, (२) उत्तम इच्छा शक्ति से युक्त।

इष्मन् - (१) इच्छा करता हुआ, (२) जाता हुआ।

'इष्यन्नर्णास्यपां चरध्यै'

ऋ. १.६१.१२, अ. २०.३५.१२, मै.सं. ४.१२.३, १८३.११, का.सं. ८.१६,६.२०.

हे इन्द्र। वृष्टि जलों की कामना करता हुआ तू

(अर्णांसि इष्यन्) जलों को बहाने के लिए (अपां चरध्यै)

हे राजन् ! तिरछी चाल से जाता हुआ सूर्य (तिरश्च इष्यन्) अन्तरिक्ष के जलों की प्राप्ति के लिए (अपां अर्णांसि चरध्यै) ।

इषा – इष् + क्विप् + टाप् = इषां । अर्थ (१) चाही हुई, मनोनुकूल । सेना का विशेषण ।

'आश्विनावश्ववावत्या इषायातं शुवीरया'

ऋ. १.३०.१७, आश्व.श्रौ.सू. ४.१५.२, शां.श्रौ.सू. ६.६.२.

अश्वारोहियों से बनी सैकड़ों वीरों से पूर्ण इच्छानुकूल सेना के साथ हे अश्विद्वय ! प्रयाण करो ।

इष्टापूर्त – परस्पर की संगति से होने वाले नाना शिल्प कार्य, देवोपासना और यज्ञ, कूप, उद्यान्, तडाग, सेतु आदि लोकोपकारक कार्य ।

'इष्टापूर्तस्य षोडशम्'

अ. ३.२९.१

इष्ट = यज्ञ, ईश्वरपूजा, आपूर्त = कूप तड़ाग आदि उपकार जनक कार्य ।

'इष्टापूर्तं स्म कृणुताविरस्मै'

अ. ६.१२३.२

(२) इष्ट अभिलषित सुख देने के वाले उत्तम कर्म, दान, यज्ञ, तप आदि और पूर्त अर्थात् शरीर और गृह को पूर्ण करने वाले ब्रह्मचर्य और कृषिकूप आदि कर्म ।

'त्वमिष्टापूर्ते सं सृजेथामयं च'

वाज.सं. १५.५४

इष्टावान – यज्ञ करने वाला ।

'इष्टावन्तो रातिसाचो दधानाः'

अ. १८.३.२०

इष्टाश्व – समस्त वेगवान् मन, अग्नि आदि व्यापक पदार्थों का इष्ट अर्थात् प्रेरक परमेश्वर, (२) अश्व, अर्थात् इन्द्रियों का प्रेरक आत्मा ।

'किमिष्टाश्व इष्टरश्मिरेत
ईशासानास स्तरुष ऋञ्जते नृन्'

ऋ. १.१२२.१३

ये सूर्य आदि लोक या बड़े बड़े राजा महाराजा (ईशानासः) या ये प्राण गण ही क्या ईश्वर हैं ? (किम् ईशानासः) नहीं । वह परमेश्वर ही समस्त वेगवान् मन अग्नि आदि व्यापक पदार्थों का इष्ट अर्थात् प्रेरक है (इष्टाश्वः) या आत्मा ही इन्द्रियों का प्रेरक है । वही समस्त रश्मियों का घोड़ो के सारथि के समान प्रेरक और संचालक है (इष्टरश्मि) ।

इष्णानः – (१) मारता हुआ ।

'युधे यदिष्णानम् आयुधानि
ऋधायमाणो निरिणाति शत्रून् ।'

ऋ. १.६१.१३, अ. २०.३५.१३.

(२) शत्रुओं का नाश करने वाले योद्धा के समान (इष्णानः) अभ्यास करने वाला अस्त्रों का अभ्यास करता हुआ (आयुधानि + धायमाणः) शत्रुओं का नाश करता है ।

इष्णासि – आक्रमण करता है ।

इष्वास – धनुर्धारी ।

'भवमिष्वासमनुष्ठातारमकुर्वन्'

अ. १५.५.१

इषित – (१) गतिमान पदार्थ ।

'इषितं ह वितिष्ठते'

अ. १९.५३.५.

संचालित

'उदश्विभ्याम् इषिताः पारयन्ति'

ऋ. १.१८२.६

दो इञ्जिनों से संचालित हो पार करती है ।

(३) प्रेषित, अधीष्ट (४) अध्येषित, याचित, प्रार्थित, (५) प्रेरित ।

'तमद्य होतरिषितो यजीयान्
देवं त्वष्टारमिह यक्षि विद्वान्'

ऋ. १०.११०.९, अ. ५.१२.९, वाज.सं. २९.३४, मै.सं. ४.१३.३, २०२.१२, का.सं. १६.२०, तै.ब्रा. ३.६.३.४, नि. ८.१४.

हे विद्वान् एवं प्रार्थित या ईश्वर से प्रेरित प्रवीणतम यज्ञकर्ता । उस त्वष्टा देने को तू स्तुतियों से आज पूज । पुनः,

'स एनान् यक्षीषितो यजीयान्'

ऋ. १०.११०.३, अ. ५.१२.३, वाज.सं. २९.२८, मै.सं. ४.१३.३ः २०१.१५, ४.१४.१५, २४२.७, का.सं. १६.२०, तै.ब्रा. ३.६.३.२, नि. ८.८.

वह अग्नि ! तू हम से प्रार्थित होकर (इषितः) इन देवों को हवि से पूज (एनान् यक्षि) क्योंकि तू महान् पूजक है (यजीयान्) ।

इषिधः – (१) नाना इच्छाओं को प्रकट कराने वाला

(२) रुचिकारक अन्न ।
'इषः पृक्ष इषिधो अनुपूर्वी'
ऋ. ६.६३.७.

इषिर – (१) इच्छानुकूल, अभिलाषित कार्य
'ग्रावाणो यस्योषिरं वदन्ति'
ऋ. ५.३७.२.
(२) आवश्यक रूप से अपेक्षित ।
(३) दीपक के समान मार्ग दिखाने वाला ।
'शुचिं यामन् इषिरं स्वर्दृशम्'
ऋ. ३.२.१४
(४) प्रबल इच्छा, ज्ञान और कर्म वाला ।
'धृतव्रता आदित्या इषिराः'
ऋ. २.२९.१
(५) अतिशक्तिशाली इन्द्र, ।
(६) इच्छा या आत्म संकल्प में रमण करने वाला आत्मा ।
'युञ्जन्ति हरी इषिरस्य गाथयः'
ऋ. ८.९८.९ अ. २०.१००.३.
(७) विशेषण पद । ईष् + किरच् = इषिर (सर्वात्मनागतः-सर्वात्म भाव से गया हुआ । वाहुलक नियम से ईष् का इष् आदेश)
(८) एषण (इष् इच्छायाम्) = फल प्रार्थना -युक्त
(९) ऋषण (गत्यर्थक ऋष धातु) ज्ञानमय, । गतिमय या दर्शनशील

'इषिरेण ने मनसा सुतस्य
भक्षीमहि पित्र्यस्येव रायः ।
सोम राजन् प्रण आयूंषि ताहिः
अहानीव सूर्यो वासराणि'

ऋ. ८.४८.७, का.सं. १७.१९. नि. ४.७.
हे सोम, हे स्वामिन् , हे राजन् । तेरे अति सर्वात्मभाव से गत मन से या तेरी कामना करते हुए मन से (इषिरेण मनसा) चुवाए सोमरस के भाग को, या स्वामी दयानन्द के अनुसार, जगत् को हम भोगें (सुतस्य ते भक्षीमहि) जैसे पैतृक धन को पुत्र भोगता है (पित्र्यस्य रायः इव) । हे राजन्, हमारी आयु बढ़ा (नः आयूंषि प्रतारीः) जैसे सूर्य दिनों को बढ़ाता है । (सूर्य वासराणि इव) । इन दिनों 'इषिर' आग का वाचक है ।

इषिरा – (१) अन्न से पूर्ण, (२) क्रान्ति मार्ग से चलने वाली पृथिवी, (३) अनुराग संयुक्त,(४) प्रेम वाली स्त्री, (५) परमेश्वर की इच्छा शक्ति से गति करने वाली प्रकृति ।
'नि सामनामिषिरामिन्द्र भूमिम्'
ऋ. ३.३०.९
(६) पुत्रोत्पादन करने में समर्थ पुरुष की इच्छा करने वाली स्त्री (७) प्रभु इच्छा शक्ति द्वारा प्रेरित करने योग्य प्रकृति । ईश्वर प्रकृति को जगत् की सृष्टि करने के लिए प्रेरित करते हैं ।
'इसिरा योषा युवतिः दमूनाः'
अ. १९.४९.१
(८) इच्छा से युक्त स्त्री ।
'य ईं वहाते महिषीमिषिराम्'
ऋ. ५.३७.३

इष्टि – (१) यज्ञ, (२) सत्कार
'त्वामग्ने पितरमिष्टिभिः नरः'
ऋ. २.१.९
(३) शक्ति देने वाली या साथ जुड़ी (४) इच्छा ।
'स इष्टिभिः मतिभी रंहयो भूत्'
ऋ. २.१८.१
(५) इच्छानकुल संचालित नीति ।
(६) इष्ट साधिका नीति ।
'इन्द्रस्याङ्गिरसां चेष्टौ
विदत् सरमा तनयाय धासिम्'
ऋ. १.६२.३.

ईष्मिन् – (१) ईषणिन् । हविषांस्तुतीनाञ्च उपगन्त –हवि या स्तुति के निकट जाने वाला । इष् (गत्यर्थक) + मक् + इनि = इष्मिन् = जाने वाला
(२) एषणिन् (इच्छावान्) इष् + मक् + इनि = इष्मिन् । (३) आर्षणिन् (अभिमुख्येन सर्वार्थानां द्रष्टा-सभी वस्तुओं को प्रत्यक्ष देखने वाला) । 'ऋष' गति, ज्ञान और दर्शन अर्थ में आया है । अर्थ – क्रियाशील, (४) आप्तकाम, (५) तत्वदर्शी ।

'श्रियसे कं मानुभिः संमिमिक्षिरे
ते रश्मिभिसा ऋक्वभिः सुखादयः
ते वाशीमनाः इष्मिणो अभीरवो
विद्रे प्रियस्य मारुतस्य धाम्नः'

ऋ. १.८७.६, तै.सं. २.१.११.२, ४.२.११.२, मै.सं. ४.११.२, १६७.१५, का.सं. ८. १७,
रस हरने वाली सूर्य की रश्मियों के साथ (ऋक्वभिःरश्मिभिः) वृष्टिजल (कम्) प्राणियों के सेवन के लिए (श्रियसे) वे मरुत् बरसाना चाहते

हैं (संमिमिशिरे) । वे मरुत् लोगों के सुखदायक यो शाभन हवि के खाने वाले (सुखादयः) सुन्दर स्तुतियों के निकट जाने वाले या इच्छा वाले या प्रत्यक्ष रूप से सभी पदार्थ को देखने वाले (इष्यिणः) तथा भयरहित हैं (अभीरवः) । अतएव प्रिय मरुतों के स्थान की प्राप्ति के लिए (प्रियस्य मारुतस्य स्थानस्य विद्रे) मै स्तुति करता हूं ।

अन्य अर्थ- सुख भोगने वाले विद्वान् मनुष्य (सुखादयः) सुख सेवन के लिए (श्रियसे) दीप्तिमान् विद्युत् आदि पदार्थों से (भानुभिः) सुख सेवन की कामना करते हैं (संमिमिक्षिरे) । वे सूर्य रश्मियों से तथा अन्य प्रशस्त पदार्थों से (से रश्मिभिः त ऋक्वभिः) सुख सेवन की कामना करते हैं । वे वाग्मी (वाशीमन्तः) क्रियाशील, आप्तकाम या तत्वदर्शी (इष्मिणः) निर्भय मानुषिक प्रिय तेज प्राप्त करते हैं (मारुतस्य प्रियस्य धाम्नः) ।

इषीका - (१) सींक ।

इसीकामिवं संनमः'

अ. ७.५६.४

(२) इष् (गर्भनाशक) + ईकक् + टाप् = इसीका । सा हि निर्गतां भवति मुञ्जात् (वह मुञ्ज से निकलती है) अतः इषीका है । सींक मुञ्ज से निकाली जाती है । सींक 'इषीका' का ही अपभ्रंश है । सींक से बाण भी बनाते हैं। अतः इषीका बाण का भी पर्याय वाची है ।

इषु - ईष् (हिसा, गति और दर्शन अर्थ में + उ = इषु । बाण जो छोड़कर चलता है और शत्रुओं की ओर जाता है और उसे मारता है (गच्छति शत्रून प्रति तान् हन्ति वा)।

'सुपर्णं वस्ते मृगो अस्या दन्तो
गोभिःसन्नद्धा पतति प्रसूता
यत्रा नरः संच विच द्रवन्ति
तत्रा स्मभ्यमिषुवः शर्म यंसन्'

ऋ. ६.७५.११, वाज.सं. २९.४८, तै.सं. ४.६.६.४, मै.सं. ३.१६.३, १८७.२, का.सं.(आश्व). ६.१, नि. ९.१९.

यह बाण सुन्दर पक्ष को (सुपर्णम्)आच्छादित करता है (वस्ते) इसका दांत मृग के सिंह की तरह है (अस्या मृगो दन्तः)। यह स्नायु, श्लेष्मा याज्या से सन्नद्ध है (गोभिः सन्नद्धा) तथा चलाए जाने पर गिरता है (प्रसूता पतति) जिस संग्राम में (यत्र) लोग एक साथ हो या पृथक् पृथक् भागते हैं (नर संद्रवन्ति विद्रवन्ति च) वहां (तत्र) हमारे (अस्मभ्यम्) ये बाण (इषव्याः) जयप्रद शरण और सुख देवें ।

इषुका - बाण ।

'यथेषुका परापतत्'

अ. १.३.९

इषुकार - बाण बनाने वाला ।

'शरव्याया इषुकारम्'

वाज.सं. ३०.७, तै.ब्रा. ३.४.१.३.

इषुकृता - (१) बाण विद्ध जन्तु के समान एक दूसरे के प्रति उत्पन्न अनुराग ।

(२) प्रबल मिलने की इच्छा रूप बाण से आहत, । (३) अति अनुरक्त स्त्री पुरुष ।

'श्रिये पूषन् इषुकृतेव देवा'

ऋ. १.१८४.३.

इषुध् - कामना करना ।

'धेनूनामिषुध्यसि'

ऋ. ८.६९.२, साम. २.८६२, ऐ.आ. १.३.५.५, ५.१.६.५.

इषुध्याः - जलवृष्टि धारक मरुत् ।

इषुध्यु - (१) नाना ऐश्वर्यों को चाहने वाली, (२) नाना देशों को जाने वाली, (३) बाण आदि अस्त्रों से युद्ध करने वाली प्रजा या सेना ।

'इषुध्यव ऋतसापः पुरन्धीः'

ऋ. ५.४१.६

इषुधि - इषूणां निधानम् (वाणों के रखने का स्थान), तूणीर, तरकश ।

'बह्वीनां पिता बहुरस्य पुत्रः
चिश्चाकृणोतिसमनावगत्य
इषुधिः सङ्काः पृतनाश्च सर्वाः
पृष्ठे निन्नद्धो जयति प्रसूतः'

ऋ. ६.७५.५,

यह तूणीर (इयुधिः) बहुत बाणों का रक्षक है (बह्वीनां पिताः) इसके इषु रुप अनेकों पुत्र हैं (अस्य बहुपुत्राः) यह तूणीर युद्ध में जाकर (समना अवगत्य) पीठ में बाधे जाकर (पृष्ठे निबद्धः) बाणों को प्रेरित करता हुआ (प्रसूतः) साथ हो शब्द करता हुआ (सङ्काः) सभी सेनाओं को जीतता हुआ (सर्वाश्च पृतनाः) चिञ्चिश जैसा

शब्द करता या हंसता है ।

इषुधिमत् - बाणों का तर्कश उठाने वाला ।

'नमो निषंगिण इषुधिमते'

वाज.सं. १६.२१, तै.सं. ४.५.३.१, मै.सं. २.९.३, १२३.२, का.सं. १७.१२, आप.मं.पा. २.१८.४६.

इषुबला - धनुष बाण के बल या सैन्य से युक्त ।

'चित्रसेनाः इषुबला अमृध्राः'

ऋ. ६.७५.९, वाज.सं. २९.४६, तै.सं. ४.६.६.३, मै.सं. ३.१६.३, १८६.१४, का.सं.(अश्व). ६.१.

इषुहस्तः - हाथ में धनुष धारण किए हुआ ।

'स इषुहस्तैः स निसंगिभिर्वशी'

ऋ. १०.१०३.३, अ. १९.१३.४, साम. २.१२०१, वाज.सं. १७.३५, तै.सं. ४.६.४.१, मै.सं. २.१०.४, १३५.१३, का.सं. १८.५.

इह - यहाँ ।

'स्वस्तये तार्क्ष्यमिहा हुवेम'

ऋ. १०.१७८.१, अ. ७.८५.१, साम. १.३३२, ऐ.ब्रा. ४.२०.२५, नि. १०.२८.

इहक्रतु - इस लोक में प्रशस्त कर्मों का करने वला ।

'इहचित्त इहक्रतुः'

अ.१८.४.३८

इहचित्त - इस लोक में सर्वप्रसिद्ध ।

'इहचित्त इहक्रतुः'

अ.१८.४.३८

इहेह - इह + इह = इहेह । अर्थ-यहीं पर ।

'इहेहजाता समवावशीताम्'

ऋ. १.१८१.४, नि. १२.३.

हे अश्विनी कुमारो ! तुम दोनों यहीं द्युस्थान में उत्पन्न हुए और रात्रि और उषा के पुत्र के रूप में स्तुत्य हुए ।

ई

ई - (१) याचना करना, (२) जाना, चलना ।

'मक्षू गोमन्तमीमहे'

ऋ. ८.३३.३, ८८.२, अ. २०.९.२, ४९.५, ५२.३, ५७.१६, साम. २.३६, २१६.

'मेद्यन्तु ते वह्नयो येभिरीयसे'

ऋ. २.३७.३, नि. ८.३

(२) जल ।

'आ तू षिञ्च हरिमीं द्रोरुपस्थे'

ऋ. १०.१०१.१०, नि. ४.१९.

हे अध्वर्यो, इस हरे रंग के सोम में लकड़ी के बने बर्तन से जल ढाल अथवा हरे रंग के सोम द्रोण कलश के ऊपर ढाल ।

(३) प्रार्थना करना ।

'तमीमह इन्द्रमस्य रायः'

ऋ.६.२२.३,अ.२०.३६.३.

इस धन के रक्षक पुत्र की हम याचना करते हैं-सा. । इस धन के अधिपति परमेश्वर की हम प्रार्थना करते हैं ।

ईक्ष - देखना, साक्षात् करना ।

ईक्षमाणः - साक्षात् करता हुआ ।

'ईक्षमाणाय स्वाहा'

वाज.सं. २२.८

ईक्षे - ईशिषे (ईशधातु के म.पु.ए.व. का लोट् में रूप) अर्थ है - तू स्वामी होता है (स्वामी भवसि) ईश् + से = 'ईक्षे । ईशः से' शूत्र से इट् का अभाव है ।

'नृवत्त इन्द्र नृतमाभिरूती
वंसीमहि त्वामं श्रोमतेभिः
ईक्षे हि वस्व उभयस्य राजन्
धारत्नं महि स्थूरं बृहन्तम्'

ऋ. ६.१९.१०

हे राजमान इन्द्र, (राजन् इन्द्र) हम तुझ से (ते) मनुष्यों या परिचारकों से युक्त (नृवत्) श्रवणीय यशों से युक्त (श्रोमतेभिः) सुन्दर याचनीय या संभजनीय (वामम्) एवं मनुष्यों की रक्षा करने की योग्यता से युक्त धन को (नृतमाभिःऊती) परस्पर बांटते हैं (वंसीमहि) । चूंकि पार्थिव तथा दिव्य धन को (उभयस्य वस्वः) देने में समर्थ है (इक्षे) अतः महान् स्थूल एवं बृहत् रमणीय धन हमें दे, (महिस्थूरं बृहन्तं रत्नं धाः) । अन्य अर्थ - तेजस्वी राजन् ! आपकी प्रशस्त मनुष्य बनाने वाली रक्षा से (ते नृतमाभिः ऊती) श्रवणीयतम उपदेशों के द्वारा (श्रोमतेभिः) मनुष्योचित प्रशंसनीय कर्म का सेवन करे (नृवत् वामं वंसीमहि) । हे राजन् , आप विद्याधन और सांसारिक धन दोनों के स्वामी हैं (उभयस्य वस्वः हि ईक्षे), आप हमें महान् रत्न समान विद्याधन और प्रभूत सांसारिक स्थूल धन प्रदान

करें (महिरत्नं बृहन्तं स्थूरं धाः) ।

ईक्षेण्यः – तत्व बोधनार्थ देखने वाला ।

'ईक्षेण्यासो अह्यो न चारवः'

ऋ. ९.७७.३

ईख – (क्रि.) (१) झूलना ।

'प्र प्रेङ्ख ईङ्खयावहै शुभे कम्'

ऋ. ७.८८.३

(२) देना, (३) प्रेरित करना ।

'वधैर्वधस्नवी'

ऋ. ९.५२.३

ईज – (क्रि.) प्रार्थना करना, स्तुति करना (२) यज्ञ करना, (४) संत्संग या व्यवस्था में रखना ।

'वर्षा ज्यावग्नी ईजाते'

अ. १३.१.४७

ईजानः – (१) देवोपासना करने वाला आत्मा ।

'ईजानं युक्ताः सुकृतां धत्तलोके'

अ. १८.४.१

'यैरीजानाः स्वर्गयन्ति लोकम्'

अ. १८.४.२

(देवोपासना करने वाला करने वाला स्वर्ग लोक जाता है ।)

(३) यज्ञ करने वाला ।

'ईजानमिद्यौ द्यौगूर्तावसुः'

ऋ. १०.१३२.१

(४) यज्ञशील, (५) सबको सत्संगति या व्यवस्था में रखने वाला ।

'ईजानञ्च यक्ष्यमाणञ्च धेनवः'

ऋ. १.१२५.४, तै.सं. १.८.२२.४, मै.सं. ४.११.२, १६५.५, का.सं. ११.१२.

ईड्डि – स्तुति करने के अर्थ में प्रयुक्त धातु ।

ईड – अग्नि । ईड (स्तुति अर्थ में) क्ष घञ् = ईड । अर्थ (१) स्तुत्य (२) अग्नि (३) इन्ध (दीपनार्थक) + घञ् = ईड (निपातन से सिद्ध) अर्थ- अग्नि जो दीप्त किया जाए ।

ईडते – स्तुवन्ति (स्तुति करते हैं) । ईड् के प्र पु. ब.व. का रूप ।

ईड्य – (१) स्तुति योग्य, प्रार्थनीय । ईड् + यत् (२) संदीप्य ।

'ईड्यं नाम ह्व इन्द्रम्'

अ. १७.१.२

पुनः–

'आनुह्वान् ईड्यो वन्द्यश्च'

हे अग्ने ! तू प्रार्थनीय एवं सभी के स्तोतव्य है। तू आहूत होकर । हे यज्ञाग्नि ! तू हवियों से भली प्रकार हूयमान है । अतः यज्ञशाला में संदीप्य (ईड्यः) और आदर के योग्य (वन्द्य)

ईडान् – ईड + शानच् = ईडानः) (१) ईडा अर्थात् अन्न का इच्छुक (२) अपनी स्तुति करने या चाहने वाला ।

'ईडानायावस्यवे'

ऋ. २.६.६.

ईडा – अन्न ।

ईडि – अध्येषणा, पूजा, प्रार्थना करना ।

ईडे – याचे (जांचता हूं) ।

सायण ने इसका अर्थ स्तौमि किया है ।

'अग्निमीडे पुरोहितम्'

ऋ. १.१.१, आ.सं. ३.४, तै.सं. ४.३.१३.३, मै.सं. ४.१०.५, १५५.१, का.सं. २.१४, गो.ब्रा. १.१.२.९, आश्व.श्रौ.सू. २.१.२६, शां.श्रौ.सू. ६.४.१, १४.५२.१, आश्व.गृ.सू. ३.५.६, शां.गृ.सू. ४.५.७, नि. ७.१५.

ईदृक्ष – (१) इस प्रकार का ।

ईदृक्षाः – (१) मरुद्गण ।

'ईदृक्षास एतादृक्षांस ऊ षु णः'

वाज.सं. १७.८४, तै.सं. ४.६.५.६, मै.सं. २.११.१, १४०.५, का.सं. १८.६

ईदृश् – इदम् + दृश् = इदृश् = ईदृश । अर्थ –इस प्रकार का ।

'क्षेत्रस्यपतिनावयं
हितेनेव जयामसि
गामश्वं पोषयित्वा
सनोमृडातीदृशे ।'

ऋ. ४.५७.१, तै.सं. १.१.१४.२, मै.सं. ४.११.१, १६०.३, का.सं. ४.१५, आश्व श्रौ.सू. ९.११.१४, आप.मं.पा. २.१८.४७, नि. १०.१५.

हम मित्र के साथ जैसे संयुक्त जय प्राप्त करते हैं उस प्रकार क्षेत्रपति के साहाय्य से जय करे तथा अन्नादि से युक्त होवें । (हितेनेव क्षेत्रस्य पतिना जयामसि)

धनी हो हम पोषण करने वाले गौ और अश्व (पोषयितु गाम् अश्वम्) लाओ- ऐसी आज्ञा हम परिचारकों को देवें । वह क्षेत्रपति (सः) हमें

इस प्रकार के लाभ तथा सुख भोग के लिए (ईदृशे) बल तथा धन से सत्कृत या युक्त करें ।

ईम् - (१) यह, इसे ।

'य ईं चकार न सो अस्य वेद'

अ. १.१६४.३२, अ. ९.१०.१०, नि. २.८.

जो यह गर्भ करता है वह इसका तत्त्व नहीं जानता ।

(२) पदपूरक अव्यय । कम्, ईम्, इत् और उये चार पदपूरक अव्यय हैं । इनका प्रायः विशेष अर्थ नहीं होता ।

(३) उदक, (४) वीर्य, (५) सब प्रकार का सुख ।

'आप यदीं होत्राभिर्ऋतावा'

ऋ. १.१२२.९.

जो मातापिता या गुरु या गुरुपत्नी को या मित्र वरुण को सत्य मार्ग पर चलने वाला (ऋतावा) सत्कार की वाणियों या होत्र से आदरसत्कार करता है वह सब प्रकार से सुख करता है (ईम् आप) ।

(६) राष्ट्र ।

'सत्रा यदीं भार्वरस्यवृष्णः'

ऋ. ४.२१.७.

ईमहे - हम जांचते हैं । 'ई' धातु याचना अर्थ में भी प्रयुक्त हुआ है ।

'राधोभागमिवेमहे'

ऋ. ८.९०.६. साम. २.७६२.

हमें तुझ से पैतृकधन की तरह (भागम् इव) झन जांचते हैं ।

ईयचक्षसा - ज्ञान करने योग्य दर्शन या कथन करने वाले विद्वान् पुरुष ।

'आ यद् वामीय चक्षसा'

ऋ. ५.६६.६

ईयते - जाना जाता है ।

'रूपा मिनन्तदपा एक ईयते'

ऋ. २.१३.३

ईयमान - सदा गतीशील ।

'व्रात्य आसीदीयमानः'

अ. १४.१.१

ईयसे - जाता है, चलता है । 'ई' धातु चलना अर्थ में प्रयुक्त हुआ है ।

'मेद्यन्तु ते वह्नयो येभिरीयसे'

ऋ. २.३७.३, नि. ८.३.

हे वनस्पते, तेरे अश्व जिनसे तू जलता है तृप्त हों ।

ईयिवान् - अतिक्रमण करने वाला ।

'ईयिवांसम् अतिस्रिधः'

ऋ. ३.९.४.

ईयुः - 'इ' (गमनअर्थ में) धातु का लिट् प्र.पु.ब.व.का रूप है । अर्थ है-जग्मुः (गए) ।

ईयुषी - आने वाली

'ईयुषीणामुपमा शश्वतीनाम्'

ऋ. १.११३.१५, १२४.२.

अनादिकाल से आने वाली समस्त उषाओं की उपमा अर्थात् उनके समान धर्मों को धारण करती हुई उषा ।

ईर - (क्रि) (१) उठना (२) गमन करना ।

'गिर स्तोमास ईरते'

ऋ. ८.३.१५, ४३.१, अ. २०.१०.१,५९.१, साम. १.२५१, २.७१२, मै.सं. १.३.३९, ४६.५, आप श्रौ.सू. १३.२१.३.

ईरण - ईर् + ल्युट् । अर्थ स्तुतियों का प्रेरक ।

'ईरयति हिअसौ स्तुतीन्'

ईरते-जाता है ।

ईर्त्स - (क्रि.आ.प.) प्राप्त करना । ऋणान्नो नर्णमेर्त्समानः

ऋ. ६.११८.२

ईर्म - (१) बाहु । arm यह अन्य अंगों से अधिक लम्बायमान होता है ।

'ईर्मान्तासः सिलिकमध्यमासः'

ऋ. १.१६३.१०, वाज.सं. २९.२१, तै.सं. ४.६.७.४, का.सं.(अश्व) ६.३, नि. ४.१३.

(२) यहां । here अव्यय ।

'ईर्मैव ते न्यविशन्त केपयः'

ऋ. १०.४४.६, अ. २०.९४.६, नि. ५.२५.

वे पापी अपने अपने कर्मानुसार इसी लोक में अधोगति को प्राप्त हो नीच योनि में चले जाते हैं ।

(३) गति, (४) शक्ति ।

'ईर्माभ्यामयनं जातम्'

अ. १०.१०.२१

ईर्मा - (१) इह (यहां) अव्यय, here शब्द से ईर्मा

मिलता जुलता है ।

(२) समीरित, पृथु, विस्तृत । प्रेरणार्थक-ईृ + मक् = ईर्म ।

ईर्मान्तासः - ईर्म + अन्त = ईमन्ति । बहुवचन में वैदिकरूप 'ईर्मान्तासः' अर्थ-

(१) विस्तृत अन्नों वाली सूर्यकिरणें । -दया.

(२) सूर्य के चार अश्व ।

'ईर्मान्तासः सिलिकमध्यभासः'

ऋ. १.१६३.१०.

(३) पिछले भागों पर कुश द्वारा प्रेरित अश्व !

(४) गुरूओं द्वारा प्रेरित उपदेशों द्वारा सिद्धान्तों और अन्तिम उद्देश्यों को धारण किये शिष्य ।

(५) सूर्य, (६) बाहुवत् बलवान् पुरुष ।

'ईर्मा तस्थुषीरहभिःदुदुह्रे'

ऋ. ५.६२.२, मै.सं. ४.१४.१०, २३१.१२, तै.ब्रा. २.८.६.६.

(७) संसार मार्ग पर जाने वाले युगल स्त्री पुरुष मित्रा वरुण ।

'ईर्मान्यि द्वपुषेवधुःचक्रं रथस्य येमथुः'

ऋ. ५.७३.३.

ईर्मान्तः - समीरितान्तः पृथिव्यन्तः वा (बाहुरूप से पृथ्वी के अन्त को विजय करने वाला) (२) प्रेरित प्राप्त अन्तवाला, उद्देश्य तक पहुंचा हुआ योगी ।

'ईर्मान्तासः सिलिकमध्यमासः'

ऋ. १.१६३.१०, वाज.सं. २९.२१

ईर्ष्या - दाह, एक मानस रोग ।

'ईर्ष्यायानाम भेषजम्'

अ. ७.४५.१

ईर्यता - दूसरों को सन्मार्ग पर ले जाना ।

'ईर्यताया अकितवम्'

वाज.सं. ३०.८

ईरिरे - ईर् धातु के लिट् प्र.पु. ब.व. का रूप । 'झस्' प्रत्यय का एरच् आदेश होने से 'ईरिरे' रूप हुआ है । अर्थ है प्रेरित किया (ईरितवन्तः)

'तांपूषन् शिवतमामेरयस्व
यस्यां बीजं मनुष्यावपन्ति ।
या व ऊरु उशतीविश्रयाते
यस्यामुशन्तःप्रहरामशेयम् ।'

ऋ. १०.८५.३७, अ. १४.२.३८, आप.मं.पा. १.११.६.

हे पूषन्, कल्याण कारिणी उस योनि को बीज ग्रहण के लिए सुपुष्ट करो (शिवतमा तां आ ईरयस्व) जिसमें मनुष्य बीज बोते हैं (यस्यां बीजं वपन्ति) जो यह कामयमाना कामिनी (या उशती) विविध प्रकार से उरूओं का आश्रय लेती है । जिस योनि में हम कामुक हों (यस्याम् उशन्तः) जननेन्द्रिय क्षिप्त करते हैं (शेषपम् प्रहराम्) । पुनः

'यमेरिरे भृगवो विश्ववेदसं
नाभा पृथिव्या भुवनस्य मज्मना
अग्नि तं गीभिर्हिनुहि स्व आ दमे
य एको वस्वो वरुणोन न राजति'

ऋ. १.१४३.४.

जिस विश्वधन अग्नि को अपने घर को भृगुओं ने पृथिवी की नाभि से जल के बल से प्रेरित किया उस अग्नि को अपने घर मैं स्तुतियों द्वारा प्राप्त था । जो वरुण के समान धन का ईश्वर है ।

ईवत् - (१) ज्ञान और रक्षा सहित ।

'प्रये वसुभ्य ईवद् आनमोदुः'

ऋ. ५.४९.५

(२) जलयुक्त, (३) धनयुक्त ।

'य ईवतो वृषणो अस्ति गोपाः'

ऋ. ७.५६.१८

(४) शरण में आने वाला, समीप आने वाला, उपासक ।

'उपश्रोता म ईवतो वचांसि'

ऋ. ७.२३.१, अ. २०.१२.१, साम. १.३३०.

(५) शरणागत ।

'जनाय चिद् य ईवत उलोकम्'

ऋ. ६.७३.२, अ. २०.९०.२, का.सं. ४.१६.

(६) आने वाला, जन्म लेने वाला ।

ईश - परमात्मा, ईश्वर, सकलैश्वर्य सम्पन्न

'ईशा वास्यमिदं सर्वम्'

वाज.सं. ४०.१, ईश.उप. १,

ईशा - (१) शासन ।

'ईशायै मन्युं राजानम्'

वाज.सं. २१.५७, मै.सं. ३.११.५, १४८.२, तै.ब्रा. २.६.१४.६.

(२) वशकारिणी सर्वोत्पादिका शक्ति ।

'ईशे वशस्य या जाया'

अ. ११.८.१७

पुनः -

'स देवानामीशां पर्यैत्'

अ. १५.१.५

ईशान - (१) ऐश्वर्य शील अग्नि, वायु, जल आदि । महान् शक्ति शक्तियों पर शासक ।

'स ईशानोऽभवत्'

अ. १५.१.५

(२) शासन करने योग्य, (३) भूमिपति, (४) समर्थ ।

'क ईशानं न याचिषत्'

ऋ. ८.१.२०, सा. १.३०७, नि. ६.२४.

भला समर्थ से कौन नहीं जांचता

ईशानकृत् - (१) गोस्वामी या सामर्थ्यवान् बनाने वाला-इन्द्र, परमेश्वर या राजा । (२) ऐश्वर्ययुक्त सूर्य, विद्युत्, वायु , आदि रचयिता ईश्वर ।

'ईशानकृद् दाशुषेदशस्यन्'

ऋ. १.६१.११, अ. २०.३५.११.

वह दानशील प्रजा गण को ऐश्वर्यवान् स्वामी बनाने वाला है और शत्रु नाशक है ।

ईशावास्य - ईश अर्थात् सर्वशक्तिमान् परमेश्वर से व्याप्त ।

'ईशावास्यमिदं सर्वम्'

वाज.सं. ४०.१, ईश उप.१.

ईष् - (१) हिंसा करना ।

'न य ईषन्ते जनुषोऽयानु.'

ऋ. ६.६६.४

(२) गति, हिंसा दर्शन अर्थ में ।

'या इषवो यातुधानानाम्'

वाज.सं. १३.७, तै.सं. ४.२.८.३, श.ब्रा. ७.४.१.२९, नील. उप. २०, आप मं.पा. २.१७.७.

ईषते - गच्छति (जाता है), भीतः उद्विग्नः सन् पलायते (डरकर भागता है), भागने के अर्थ में ईषधातु का प्रयोग वेद में हुआ है ।

'उतानगा ईषते वृष्ण्यावतः'

ऋ. ५.८३.२, नि. १०.११.

मेघ से निरपराध भी भागता है ।

पुनः

'जहा को अस्म दीषते'

ऋ. ८.४५.३७, तै.आ. १.३.१, नि. ४.२.

(२) आगे बढ़ता है ।

'कं ईषते तुज्यते को बिभाय'

ऋ. १.८४.१७, नि. १४.२६.

ईषमाणः - भय खाता हुआ, गति करता हुआ (२) प्रेरित, होता हुआ ।

'अस्यादहं तविषादीषमाणः'

ऋ. १.१७१.४

'वृत्रस्य त्वा श्वसथादोषमाणाः'

ऋ. ८.९६.७, साम. १.३२४.

ईषमाणा - चलती हुई, ।

'ईषमाणा उपस्पृशः'

अ. २०.१२७.२, शां.श्रौ.सू. १२.१४.१.२

ईषा - (१) रथ का वह दण्ड जिसके आगे घोडे जुते जाएं, रथ अग्रदण्ड ।

'विराडीषा'

अ. ८.८.२३

(२) रथ में लगा ईषादण्ड (३) आगे आगे चलने वाली विघ्नों एवं कष्टकारी कारणों का नाश करने वाली दर्शनीय स्त्री (४) शत्रु ।

'मेषा विवर्हिमा युगं विशारि'

ऋ. ३.५३.१७

'हिरण्ययी वां रभिःईषा अक्षो हिरण्ययः'

ऋ. ८.५.२९

ईषायुग - ईषा + युग (१) ईषा, अर्थात् हल जोतने के लिए लगाए जाने वाला दण्ड और युग जुआठ है जिसमें बैल जोते जाते हैं । (२) आत्मा और परमात्मा दोनों को जोड़ने के लिए 'ईषा' मानस प्रेरणा रूप चितिशति ।

'नम ईशायुगेभ्यः'

अ. २.८.५.

ईषे - शंकट के दो दण्ड, ।

'खलः पात्रं स्फ्यावंसावीसे अनूक्ये'

अ. ११.३.९

उ

उ - (१) भी ।

'नहि ग्रभायारणःसुशेवो
अन्योदर्यो मनसा मन्तवा उ'

ऋ. ७.४.८, नि. ३.३.

अत्यन्त सुख कारक होता हुआ भी अन्य से

उत्पन्न बालक ग्रहण करने योग्य नहीं है । ऐसा मन से भी न सोचे कि वह अपना होगा ।

(२) पादपूरण के लिए प्रयुक्त ।

(३) विनिग्रह अर्थ में (एव) 'ही' के अर्थ में भी । (४) अलग करने के अर्थ में ।

मृषमे वदन्ति सत्य मुते वदन्ति (ये झूठ बोलते हैं, वे सत्य बोलते हैं) (५) भी अर्थ में, (६) एव अर्थ में । तम् उ (उसे ही)

(७) पादपूरण में ।

'उदज्योतिरमृतं विश्वजन्यम्
विश्वानरः सविता देवो अश्रेत्'

ऋ. ७.७६.१, नि. ११.१०.

अमृतत्व साधक (अमुतम्) सर्वजन हितकारक, (विश्वजन्यम्) सूर्य (ज्योतिः) प्रेरयिता (सविता) मध्यम वायु नाम का विश्वानर देव (विश्वानरः) ऊपर ही ओर (उत् उ) उच्छ्रय करता है (अश्रेत्) पुनः 'ही' के अर्थ में -

'इमा उ वां भृमयो मन्यमाना'

ऋ. ३.६२.१, आश्व श्रौ.सू. ७.९.२.

उक्थ - वच् + स्थक् = उक्थ । अर्थ-मन्त्र, स्तोत्र ।

'तस्मिन् ब्रह्माणि पूर्वथा
'इन्द्र उक्था समग्मत ।'

ऋ. १.८०.१६, नि. १२.३४.

वे अन्न और सोम इन्द्र के पास पहले की तरह आवे ।

(२) प्रशस्यगुण, (३) कर्म

'मा चिद् अन्यद् विशंसत
सखायो मा रिषण्यत् ।
इन्द्रमित् स्तोता वृषणं सचा सुते
मुहुरुक्था च शंसत ।'

ऋ. ८.१.१, अ. २०.८५.१, साम. १.२४२, २.७१०, कौ.ब्रा. २३.७, २९.५, पंच.ब्रा. १५. १०.२, ऐ.आ. ५.२.४.२, आश्व श्रौ.सू. ५.१२.९, २१, ७.४.२, शा.श्रौ.सू. १२.३.२२, १८.८.११. वै.सू. ३१.१८, ४०.११, नि. ७.२.

हे मनुष्यो ! अन्य किसी की पुजा न करो (मा चित् अन्यत् विशंसत), अपने आप को दुःखी मत बनाओ (मा रिषण्यत), सोम तैयार होने पर या संसार में एकत्र होकर (सुते सचा) सुखकारक परमेश्वर की स्तुति करो (वृषणम् इन्द्रम् इत् स्तोत) और बराबर उसके प्रशस्य गुण कर्मों का गान करे (मुहुः उकथा च शंसत) ।

उक्थभृत् - ऋग्वेद का धारण करने वाला ।

'उक्थभृतं सामभृत्यं बिभर्ति'

ऋ. ७.३३.१४

उक्थवर्धन - (१) प्रकाशनीय गुणों को बढ़ाने वाला, (२) वेद के सूक्तों से जानने लायक ।

'इन्द्रास्युक्थवर्धनः'

ऋ. ८.१४.११, अ. २०.२९.१.

उक्थवाहाः - उत्तम स्तुति वचनों को (उक्थवाहस्) स्वीकार करने वाला ।

'उक्थवाहसे विभ्वे मनीषाम्'

ऋ. ८.९६.११

उक्थशंसी - (१) ऋचा कहने वाला, (२) उत्तम वचन बोलने वाला ।

'नयसीद्वतिद्विषः
कृणोस्युक्थ शंसिनः'

ऋ. ६.४५.६.

उक्थशास - (१) वचन मात्र से प्राण स्वरूप सूर्य परमेश्वर की स्तुति करने वाला (२) वेद वचनों या शास्त्र वचनों का ही उच्चारक ।

'असुतृप उक्थशासश्चरन्ति'

ऋ. १०.८२.७, वाज.सं. १७.३१, तै.सं. ४.६.२.२, मै.सं. २.१०.३, १३५.२ का.सं. १८.१, नि. १४.१०.

(३) ज्ञानवाणियों का उपदेशक ।

'नरः शंसन्ति उक्थशास उक्था'

ऋ. ७.१९.९, अ. २० ३७.९

उक्थशासा - (१) उक्थ अर्थात् उत्तम वेदों के सूक्तों को कहने वाले, ।

(२) अश्विनीद्वय या स्त्री पुरुष का विशेषण

'ब्रह्माणेय विदथ उक्थशासा'

ऋ. २.३९.१

उक्थशुष्म - (१) स्तुत्य एवं बलशाली (२) उपदिष्ट वेदज्ञान में वली ।

'उक्थशुष्मान् वृषभरान् स्वप्नसः'

ऋ. १०.६३.३, मै.सं. ४.१२.१, १७७.८.

उक्थशुष्मा - उत्तम प्रशंसनीय बल से युक्त-वाणी ।

'समुद्रं न सिन्धवः उक्थशुष्माः'

ऋ. ६.३६.३, मै.सं. ४.१४.१८,२४८.१४ का.सं. ३८.७, तै.ब्रा. २.४. ५.२.

उक्थामद - उक्थ या ब्रह्म का आनन्द ।

'इन्द्र उक्थामदान्यस्मिन्
यज्ञे प्रविद्वान् युनक्तु सुयुजः स्वाहा'

अ. ५.२६.३

उक्थार्क - उत्तम अर्चनायोग्य वचन वाला ।

'पस्पृध इन्द्रे अध्युक्थार्का'

ऋ. ६.३४.१

उक्थ्य - (१)अग्निष्टोम के बाद स्तुतिमन्त्रों का उच्चारण रूप-उक्थ्य ।

'सद्यः क्रीः प्रक्रीरुक्थ्यः'

अ. ११.७.१०.

(२) वच् + थक् + यत् = उक्थ्य । अर्थ - उक्थार्ह , प्रशंसनीय ।

'एकामहं सुहवां सुष्टुती हुवे
श्रृणोतु नः सुभगा बोध तु त्मना ।
सीव्यत्वपः सुच्याऽच्छिद्यमानया
ददातुवीरं शतदायमुक्थ्यम्'

ऋ. २.३४.४, अ. ७.४८.१, तै.सं. ३.३.११.५, मै.सं. ४.१२.६, १९४.१६, का.सं. १३.१६, साम.मं.ब्रा. १.५.३. आप.मं. पा. २.११.१०, नि. ११.३१.

मैं होता सुन्दर आह्वान वाली पूर्णिमा को (सुहवां राकाम्) सुन्दर स्तुति से (सुष्टुती) पुकारता हूँ (हुवे) । वह सुधना हमारी प्रार्थना सुने और हमारा अभिप्राय स्वयं (त्मना) समझ जाय (बोधतु) एवं अविच्छिन्न सुई से (अविच्छेद्य मानया सूच्या) सन्तति रूपी वस्त्र को सी (अयः सी व्यतु) और बहुत धन पैदा करने वाला (शतदायम्) प्रशंसनीय और वीर पुत्र दे (उक्थ्यं वीरं ददातु) ।

उक्ष - सींचना, पुष्ट करना ।

'उक्षेथां मित्रा वरुणा घृतेन'

ऋ. ७.६४.४

उक्षणः - (१) धर्म मेघ रूप आनन्द जल की वर्षा करने वाला

'सिन्धोरुच्छ्वासेपतयन्तमुक्षणम्'

ऋ. ९.८६.४३, अ. १८.३.१८, साम. १.५६४, २.९६४

(२) सींचने वाला (३) शरीर की शक्ति से खींचने वाला परमात्मा

'घसत् त इन्द्र उक्षणः'

ऋ. १०.८६.१३, अ. २०.१२६.१३, नि. १२.९.

(४) अवश्याय-संस्त्यायः (ओसों का समूह) । उक्ष (सेचन अर्थ में) + कनिन् = उक्षण । वृद्धि करण अर्थ में भी उक्षधातु आया है, ओस ओषधियों को बढ़ाती है । अतः उक्षण है (उक्षन्ति उदकेन) । 'ओस' शब्द 'उक्षण' का ही अपभ्रंश है । उक्षण-उक्खन ओक्खन-ओख-ओस ।

(५) एक गोत्र का नाम (६) बैल, (७) अश्व

उक्षण्यायन - (१) बलवान्, बैल या अश्व से जाने योग्य, (२) बलवान् सुख- सेचक पुरुषों का भी आश्रय स्थान ।

'ऋज्रमुक्षण्यायने'

ऋ. ८.२५.२२

(३) उक्षणगोत्रीय सुषामा का पुत्र वरु नामक राजा, ।

(४) बड़े-बड़े लोकों का गमन स्थान-दया.

उक्षस् - (१) वीर्य -सेचन में समर्थ युवा ।

'मा न उक्षन्तमुत मा न उक्षितम्'

ऋ. १.११४.७, वाज.सं. १६.१५, तै.सं. ४.५.१०.२, तै.आ.(आंध्र). १०.५२,

(२) सांढ़, (३) मेघ, (४) वीर्यवान् पुरुष ।

'वशाभिरुक्षभिः'

ऋ. २.७.५

हममें से जो वीर्य -सेचन समर्थ युवा पुरुष हैं, (उक्षन्तम्) और जो निषेक द्वारा गर्भाशय में स्थित है (उच्छितम्) उसे नष्ट मत होने दे ।

उक्षमाण - (१) बड़े भारों को दूर तक ले जाने वाला-अग्नि, (२) राष्ट्रभार को उठाने में समर्थ, (३) समृद्धि से सींचकर पुष्ट करने वाला ।

'तमुक्षमाणं रजसि स्व आदमे'

ऋ. २.२.४

उक्षा - (१) वीर्य सेचन में समर्थ बैल ।

'उक्षाच मे वशाच मे'

वाज.सं. १८.२७, तै.सं. ४.७.१०.१, का.सं. १८.१२

(२) महत् , महान् , (३) सेचक सूर्य (४) जगत् भर को उठाने वाला परमेश्वर ।

'उक्षा महां अभिववक्ष एने

ऋ. १.१४६.२

उक्षागौः - वीर्य -सेचन में समर्थ वृषभ-सांढ़ ।

'उक्षागौर्न वयो दधुः

वाज.सं. २१.२०, मै.सं. ३.११.११, १५८.१५, का.सं. ३८.१०, तै.ब्रा. २.६.१८.४.

उक्षाणः - (१) सेवक, (२) विद्याओं को वहन करने वाला और मेघ के समान अन्यों को देने के समर्थ ।

'उक्षाणं पृश्निमपचन्त वीराः'

'ऋ. १.१६४.४३, अ.९.१०.२५

उक्षान्न - (१) वीर्य-सेचन में समर्थ अन्न खाने वाला जीवात्मा, (२) उक्षाः-अर्थात् जल-सेचक नाना लोकों के वहन करने वाले सूर्यादि का अन्नवत् उपयोग करने वाला परमेश्वर ।

'उक्षान्नाय वशनानाय सोमपृष्ठाय वेधसे'

ऋ. ८.४३.११, अ. ३.२१.६, २०.१.३, तै.सं. १.३.१४.७, मै.सं. २.१३.१३, १६३.४, ४.११.४, १७२.१५, का.सं. ७.१६, ४०.५, ऐ.ब्रा. ६.१०.५, कौ.ब्रा. २८.३, गो.ब्रा. २.२.२०, आश्व.श्रौ.सू. ५.५.१८, आप.श्रौ .१६.३५.१.

(३) उक्ष + अन्न । शरीर को एवं समष्टि रूप से ब्रह्माण्ड को वहन करने वाले आत्मा को अपना अन्न अर्थात् प्राप्य विषय बनाने वाला भक्तजन योगी जन ।

(४) राज्य जिसका अन्न तृप्त करने में समर्थ है ।

उक्षित - (१) मेघवत् सबका सेचक उत्पादक तथा बृद्धिकारक ।

'इन्द्रम् अर्जुयम् जरयन्त मुक्षितम् ।'

ऋ. २.१६.१

(२) अभिषेचिता ।

(३) निषेक द्वारा गर्भ में स्थित बालक ।

(४) गर्भस्थ डिम्भ

'मा न उक्षन्तमुत मा न उक्षितम्'

ऋ. १.११४.७, वाज.सं. १६.१५, तै.सं. ४.५.१०.२ तै. आ.(आध्र) १०.५२,

उक्षिते - (१) द्यावा पृथिवी या स्त्री पुरुष (२) जलादि से सीचंती हुई , (३) परस्पर प्रेम से युक्त, हृष्टपुष्ट निषेक करने और धारने में समर्थ स्त्री पुरुष ।

'साध्वपांसि सनता न उक्षिते'

ऋ. २.३.६

उखच्छित् पर्व - (१) शत्रु की गति को काटने वाला, (२) आक्रमण रोकने वाला, (३) उखा अर्थात् पात्रों को भेदकर तीव्र गति वेग से छेदन करने वाला, तीर आदि अस्त्रं से निकलने वाला पोरु वाण (पर्व)- बन्दूक आदि (४) उखा अर्थात् हंडिया या दीर्घपात्र में विस्फोटक पदार्थों को बन्दकर प्रयोग किया जाने वाला बम आदि अस्त्र-

'निर्भूत् उखच्छित समरन्त पर्व'

ऋ. ४.१९.९

उख्य - (१) उखा अर्थात् स्थाली के योग्य, (२) पृथिवी के योग्य ।

'उखस्य केतुं प्रथमं जुषाणा'

वाज.सं. १४.१, तै.सं. ४.३.४.१, मै.सं. २.८.१, १०६.८, का.सं. १७.१, श.ब्रा. ८.२.१.४.

'उख्यं हस्तेषु बिभ्रतः'

अ. ४.१४.२, वाज.सं. १७.६५, तै.सं. ४.६.५.१, मै.सं. २.१०.६,५.१, का.सं. १८.४, श.ब्रा. ९.२.३.२४.

'सा तुभ्यदिते मही ओखांदधातु हस्तयोः'

वाज.सं. ११.५६, तै.सं. ४.१.५.३, मै.सं. २.७.५, ८०.१०, का.सं. १६.५, श.ब्रा. ६.५.१.१०.

(२) पाक-साधिका वह बर्तन जिमें कुछ पकाया जाता है । (३) शरीर जिसमें मांस परिपक्व होता है, (४) मस्तिष्क जिसमें उत्तम विचार परिपक्वव होता है ।

'यन्नीक्षणं मांस्पचन्या उखायाः'

ऋ. १.१६२.१३, वाज.सं. २५.३६, तै.सं. ४.६.९.१, मै.सं. ३.१६.१, १८३.४, का.सं.(आश्व). ६.४.

उगणा - उच्च कोटि के सैनिकों की सेना

'नम उगणाभ्यस्तृंहतीभ्यश्च वोनमः'

वाज.सं. १६.२४, तै.सं. ४.५.४.१, मै.सं. २.९.४, १२३.१५, का.सं. १७. १३.

उग्र - (१) उग्र । प्रातः कालीन आदित्य का एक विशेषण ।

'प्रातर्जितं भगमुग्रं हुवेम'

ऋ. ७.४१.२, अ. ३.१६.२, वाज.सं. ३४.३५, तै.ब्रा. २.८.९.७, आप.मं.पा. १.१४.२, नि. १२.१४. हम अन्धकार को जीतने वाले उग्रभग नामक आदित्य को बुलाते हैं । (२) भयङ्कर ।

(३) उद्गीर्ण (४) तेजस्वी ।

उग्रंऋतम् - भयकारी सत्य व्यवस्था

'सत्यं बृहत् ऋतमुग्रम् दीक्षा तपः'

अ. १२.१.१, मैं.सं. ४.१४.११, २३३.८,

उग्रजित् , उग्रजितौ - एक वचन में उग्रजित ।

द्वि.व. में उग्रजितौ । अर्थ-(१) उग्रता से सबको वश करने वाली संस्था, पुलिस (२) अपराधियों को खोजकर दण्ड देने वाली ।

'उग्रं पश्ये उग्रजितौ तदद्य'

अ. ६.११८.१

उग्रदेव - शिव का एक पर्याय ।

'उग्रं देवमिष्वासम्'

अ. १५.५.१०

उग्रपश्य - उग्रता से शत्रु पर देखने वाला, देखने में भयानक ।

'उग्रंपश्या राष्ट्रभृतो ह्यक्षाः'

अ. ७.१०९.६

उग्रंपश्ये - एकवचन में उग्रंपश्या । उग्र उद्यतदण्ड होकर देखने वाली संस्था, (२) पापियों को खोज खोजकर पता लगाने वाली

'उग्रंपश्ये उग्रजितौ तदद्य'

अ. ६.११८.१

उग्रपुत्रा - शत्रु को भय देने वाले पुत्रों की माता ।

'पर्षिदीने गभीर आं
उग्र पुत्रे जिघांसतः'

ऋ. ८.६७.११

उग्रःपुत्रः - दुष्टों को भयकारी और बहुतों का रक्षक प्रभु ।

'प्रातर्जितं भगमुग्रं हुवेम
वयं पुत्रमदितेर्योविधर्ता'

ऋ. ७.४१.२, अ. ३.१६.२, वाज.सं. ३४.३५, तै.ब्रा. २.८.९.७,आ.प.मं.पा. १.१४.२. नि. १२.१४.

उग्रादेव - तीव्र स्वभाववान विजिगीषु (तीव्र स्वभाव वाला विजय का इच्छुक), (२) उग्र (भयानक) पुरुषों को जीतने वाला ।

'उग्रादेवं हवामहे'

ऋ. १.३६.१८

उग्रामरुतः - (१) उग्रवायु ।

(२) तेजस्वी विद्वान् -दया. ।

'यूयं न उग्रामरुतः सुचेतुना
अरिष्टग्रामाः सुमति विपर्तन'

ऋ. १.१६६.६

हे उग्रमरुतो ! (सुचेतुनाः) तथा सदा साथ रहने वाले (अरिष्ट ग्रामाः) आप हमारी बुद्धि (नः सुमतिं) परिपूर्ण करें (विपर्तन)-

अन्य अर्थ, संघ शक्ति से सम्पन्न तेजस्वी विद्वानो ! (अरिष्ट ग्रामाः उग्रभरुतः) आप हमारी शिक्षा को (नः सुमतिम्) विज्ञान से (सुचेतना) परिपूर्ण करें (विपर्तन) ।

उग्री - उग्रशक्ति ।

'य उग्रीणामुग्रबाहुर्ययुः'

अ. ४.२४.२.

उचय - (१) वचन, उक्ति ।

'एताते अग्न उचथानि वेधः
जुष्टानि सन्तु मनसे हृदे च ।'

ऋ. १.७३.१०, ४.२.२०, मै.सं. ४.१४.१५, २४१.१३.

(२) प्रवचन, उपदेश, (३) अध्याय्य शिष्य ।

'स्वादिष्टा धीतिरुचथाय शस्यते'

ऋ. १.११०.१

स्वादिष्ट ज्ञान धारा प्रवचन, उपदेश या अध्याय्य शिष्य के लिए उपदेश की जाती है ।

उचथ्य - (१) वचनयोग्य, (२) स्तुतिपात्र ।

'उचथ्ये वपुषि यः स्वराट्'

ऋ. ८.४६.२८

उच्छन्ती - प्रकट होती हुई ।

'अतारिष्म तमसस्पारम्
अस्योषा उच्छन्ती वयुनाकृणोति'

ऋ. १.९२.६, १८३.६, १८४.६, ७.७३.१, मै.सं. २.७.१२, ९२.१७, का.सं. १७.१८, तै.आ. ६.६.२, आप.श्रौ.सू. १६.१९.८.

प्रभात बेला जिस प्रकार प्रकट होती हुई और अन्धकार को दूर करती हुई समस्त पदार्थों का ज्ञान कराती है, उसी प्रकार कन्या प्रथम वयस में बाल भाव का दूर करती हुई अन्य कर्मों और ज्ञानों को प्रकट करती है ।

(२) प्रकट करती हुई, अन्धकार दूर करती हुई, प्रकाश करती हुई ।

'उषा उच्छन्ती समिधाने अग्नौ'

ऋ. १.१२४.१

उच्छलंख - सिर के ऊपर के दोनों कपाल ।

'के नोच्छलंखौ मध्यतः कः प्रतिष्ठाम्'

अ. १०.२.१

उच्छ्वंचमाना - उत् + सु + अञ्चमाना = उच्छ्वंचमाना ।

अर्थ-ऊपर उठती हुई, ऊपर उठे शरीर वाली (२) पुलकित शरीर वाली, (३) कृषि आदि से

सम्पन्न पृथिवी ।

'उच्छ्ञ्चमानापृथिवी सुतिष्ठतु'

ऋ. १०.१८.१२, अ. १८.३.५१, तै.आ. ६.७.१.

(४) उत्साह उत्पन्न करती हुई ।

(५) उत्तम पूज्य पद प्राप्त करती हुई ।

उच्चा - उच्चैः (ऊंचा) ।

उच्चाचकम् - (१) जिसके ऊपर चक्का लगा हो-कूप, (२) शरीर जिसके ऊपर शिर रूप चक्र है ।

'उच्चाचकम् परिज्मानम्'

ऋ. ८.७२.१०, साम. २.९५४.

उच्चाबुध्न - (१) वह रथ जिसका अवकाश उच्च हो -दया.

(२) ऊपर आकाश में मूल आधार वाला मेघ

'परावतं नासत्या नुदेथाम्
उच्चाबुध्नं चक्रथुः जिह्मबारम्'

ऋ. १.११६.९

हे सत्यविज्ञान के नियमों से युक्त या अश्विद्वय ! तुम दोनों ऊपर आकाश में मूल आधार वाले (उच्चाबुध्नम्) सब की रक्षा करने वाले मेघ को दूर-दूर देशों तक ले जाते हो और से तिरछे जाने वाले बनाते हो ।

उच्छिष्टब्रह्म - (१) प्रलय के बाद शेष रह जाने वाला नेति नेति के बाद सबसे अतिरिक्त सत् ।

'उच्छिष्टे नाम रूप च
उच्छिष्टे लोक आहितः'

अ. ११.७.१

उच्छेषि - उच्छिष्ट रहने वाला, बचजाने वाला ।

'मैषामुच्छेषि किञ्चन'

अ. ११.९.१३

उच्चैस् - उत् + चि + डैस् (उदि येर्डैसिः) = उच्चै । अर्थ जो ऊंचा हो, उत्कृष्ट चिता हुआ ।

'उच्चैरिन्द्रो अपगूर्या जघान'

ऋ. ५.३२.६

इन्द्र ने वज्र ऊंचा ठाकर वृत्र को मारा । अथवा, सूर्य ने मेघ को छिन्न भिन्न किया या करता है । अथवा, राजा चोर आदि को खूब धमका कर दण्डित करे ।

उच्चैर्घोष - ऊंची आवाज वाला ।

'उच्चैर्घोषो दुन्दुभिः सत्व नायन्'

अ. ५.२०.१, कौ.सू. १६.१.

उच्छोचनौः - उत् + शोचनौ । अति अधिक कान्ति देने वाले आत्मा और प्राण ।

'उच्छोचन प्रशोचनौ'

अ. ७.९५.१

उज्जिति - उत्तम विजय ।

'अग्नीषोमयो रुज्जितिम् अनूज्जेष्'

वाज. सं. २.१५

उज्जिहान - दूर-दूर तक ऊंची ओर फैलाता हुआ ।

'यह्वा इव प्रवयामुज्जिहानाः'

ऋ. ५.१.१,अ. १३.२.४६, सा. १.७३.२.१०९६, वाज.सं. १५.२४, तै.सं. ४.४.४.२, मै.सं. २.१३.७, १५५.१५.

उज्जिहीते - अभि जिहीते-अभिलक्ष्य उत्पश्यति ।

(१) ऊपर देखता है -

(२) योग करता है -दया. ।

'उज्जिहीते निचाय्या तष्टेव
पृष्ट्यामयी वित्तं मे अस्य रोदसी'

ऋ. १.१०५.१८, नि. ५.२१.

जैसे पीठ का रोगी, बढ़ई नीचे की ओर नहीं देखता (तष्टा पृष्ट्या मयी इव) वैसे ही चन्द्रमा नक्षत्र को देखकर भी ऊपर ही देखता है (निचाय्य उज्जिहीते) । अतः हे द्यावा पृथिवी ! इस कुदशा में मेरी यह दशा तुम दोनों जानो ।

जैसे पृष्टरोग चित्रानक्षत्र चन्द्रमा से योग करता है एवं अन्य नक्षत्र भी योग करते हैं । हे स्त्रीपुरुष ! तुम मेरी इस नक्षत्र विद्या को जानो ।

(३) ओहाङ् (गत्यर्थक) के लट् प्र.पु.ए.व. में अभ्यास का इत् होकर जिहीते बनता है अर्थ उद्गच्छति (ऊपर जाता है)

उज्जेषी - उत्तम पदों का जय करने वाला ।

'च शाकी चोज्जेषी'

वाज.सं. १७.८५

उत् - (१) ऊपर ।

'वाशीमग्निर्भरत उच्चाव च'

ऋ. ८.१९.२३

'उदुज्योतिरमृतं विश्वजन्यं विश्वानरः सविंता देवो अश्रेत्'

ऋ. ७.७६.१, नि. ११.१.

अमृतत्वसाधक सूर्य (अभृतंज्योतः) ऊपर की ओर (उत् उ)उश्रयण करता है (अश्रेत्) (२) उद्ग्ररहण अर्थ में । जैसे 'वि' से विग्रह, 'नि'

से निग्रह और 'अव' से अवग्रह का बोध होता है। वैसे उत् से उद्ग्रह का बोध होता है।

(३) एक उपसर्ग जो ऊपर के अर्थ में प्रयुक्त है।

उत् - (अ) और।

'ऋधकया ऋधगुता शमिष्ठा'

वाज.सं. ८.२०, श.ब्रा. ४.४.४.१२, नि. ४.२५.

तूने हवियों को पृथक कर देवों के पास पहुँचा या और हवियों की त्रुटियों को दूर कर उन्हें समृद्ध बनाया।

(२) अपि, (३) वितर्क, (४) अपिच, (५) अतः

अपि के अर्थ में-

'उतत्वः पश्यन्नददर्शवाचम्
उतत्वः श्रृण्वन्नश्रृणोत्येनाम्।
उतो त्वस्मै तन्वं वि सस्रे
जायेव पत्य उशानी सुवासाः'

ऋ. १०.७१.४, नि. १.१९.

कोई एक पुरुष (त्वः) पढ़कर तथा मन से पर्यालोचन कर (पश्यन् उत) वेद की वाणी नहीं समझता (वाचं न ददर्श), इसी प्रकार कोई इस वाणी को (एनाम्) सुनता हुआ भी नहीं सुनता। किसी को यह वेदवाणी वाणी के शरीर, आत्म तत्व या भाव को (तन्वम्) विशेष रूप से स्पष्ट कर देती है (विसस्रे) जैसे स्त्री पति को कामना करती हुई (उशती जाया पत्ये) ऋतुकालों में सुन्दर वस्त्र पहनती है और पति स्त्री की बात सुनता है।

अपि च के अर्थ में

'उतादः परुषे गवि सूरश्चक्रं हिरण्ययम्
न्यैरयत् स्थीतमः'

ऋ. ६.५६.३, नि. २.६.

और (उत) प्रेरक (सूरः) तथा अतिशय रथों वाला या नेतृतम (रथीतमः) पर्व वाले या प्रकाश वाले आदित्य के लिए (परुषेगवि) सुवर्णमय (हिरण्ययम्) उसके रथ के काल रूपी चक्रे नित्य चलाता है (अदः चकं न्यैरयुत)

पुनः-

'उतस्मैनं वस्त्र मथिं न तायुम्
अनुक्रोशन्ति क्षितयो भरेषु
नीचाचमानं जसुरिं न श्येनम्
श्रवश्चाच्छा पशुमच्च यूथम्'

ऋ. ४.३८.५, नि. ४.२४.

अतः के अर्थ में 'उत' का प्रयोग

'सा ते जीवातुरुततस्य विद्धि'

ऋ. १०.२७.२४.

हे अन्तरात्मन् तेरी वह आदित्यात्मिका देवता (ते सा) जीवन का हेतु है (जीवातुः) अतः (उत) उसके उपकारों को मत भूल जाना (तस्य विद्धि)।

उतम् - भौहों का बाल।

'कुवलैरुतानि'

वाज.सं. १९.८९

उतवा - अपि च, अपिवा।

उतस्म - और, अपि च। सायण ने स्म का अर्थ शीघ्र किया है।

'उत स्मैनं वस्त्रमथिं न तायुम्
अनु क्रोशन्ति क्षितयो भरेषु।
नीचायमानं जसुरिं न श्येनम्।
श्रवश्चाच्छा पशुमच्च यूथम्'

ऋ. ४.३८.५, नि. ४.२४.

और (उतस्म) उस दधिक्तावा इन्द्र को देख युद्धों में वैरी चिल्लाने लगते हैं (एन भरेषु अनुक्रोशन्ति) जैसे वस्त्र लेकर भागने वाले चोर को देखकर लोग चिल्लाते हैं (वस्त्रमथिं तायुं क्षितयो न) तथा नीचे नीचे उड़ते हुए पालतू बाज के छोड़े जाने पर और पक्षी क्रन्दन करने लगते हैं (नीचायमानं जसुरिं श्येनं न)। ऐसे इन्द्र की हम धन एवं पशुओं के यूथ का लक्ष्य कर प्रार्थना करते हैं (श्रवःपशुनत् यूथं च अच्छा)।

स्वा. दयानन्द का अर्थ-और (उत) चोर की तरह (तायुं न) युद्धों में (भरेषु) वस्त्र तक चुरा लेने वाले (वस्त्रमथिम्) नीचता की ओर जाने वाले (नीचायमानम्) तथा मुक्त किये बाज की तरह हिंसक (जसुरिं श्येन न) जिस राजा को प्रजा या शत्रुजन (क्षितयः) कोसते हैं (अनु क्रोशन्ति) और जिसकी पशुतुल्य कीर्त्ति या धन को (पशुमत् श्रवः च) अथवा पशुतुल्य कर्मचारी वर्ग या सैनिक वर्ग को कोसते हैं। वह राजा शीघ्र (स्म) विनष्ट हो जाता है। (विनश्यति)।

उत्कस - उखड़ जाना।

'उत्कसन्तु हृदयानि'

अ. ११.९.२१

उत्क्रम – (१) उत्तम पद या स्थान पर क्रमण करने में समर्थ (२) उन्नति रूपा स्त्री ।
'उत्क्रमोऽसि उत्क्रमाय त्वा'
वाज.सं. १५.९.

उत्क्रान्ति – (१) उन्नति करने वाली स्त्री (२) उन्नति क्रिया (३) ऊंचे प्रदेशों में क्रमण करने में समर्थ ।
'उत्क्रान्तिरसि उत्क्रान्त्यैत्वा'
वाज.सं. १५.९

उत्तत – पद प्रतिष्ठा में उठा हुआ ।
'यदुत्ततं नितत्तनु'
अ. ७.९०.३

उत्तम्भनम् – ऊपर उठाने वाला ।
'वरुणोस्योत्तम्भनमसि'
वाज.सं. ४.३६, श.ब्रा. ३.३.४.२५.

उत्तम – (१) सबमें उत्कृष्ट शरीर वाला ।
'उत्तमेन तनूभिस्तनूर्जिन्व'
वाज.सं. १५.७
(२) उत्तम मोक्ष विषय सूक्त ।
'उत्तमेभ्यः स्वाहा'
अ. १९.२२.१२,
(३) सबसे उत्कृष्ट ।
'अत्रा ते रूपमुत्तममपश्यम्'
ऋ. १.१६३.७, वाज.सं. २९.१८, वाज.सं.(का.) ३१.३.३०, तै.सं.४.६.७.३, का.सं. (अश्व). ६.३.
हे अश्व ! इस समय मैं तेरे उत्तम रूप को देखता हूँ (४) सब से ऊपर वाला ।
'उदुत्तमं वरुण पाशमस्मत्'
ऋ. १.२४.१५, अ. ७.८३.३, १८.४.६९, वाज.सं. १२.१२, तै.सं. १.५.११.३, का.सं. ३.८,१६.८, मै.सं. १.२.१८: २८.८, श.ब्रा. ६.७.३.८.
हे आदित्य (वरुण) मेरे ऊपर वाले बन्धन को खोल ।

उत्तम पाश – पुण्य कर्म के फलस्वरूप देवलोकादि शुभकर्मबन्धन ।
'अधमं पाशमुत्तमम्'
अ. २.८.१, ३.७.४.

उत्तमादिक् – सबसे ऊंची दिशा ।
'स उत्तमां दिशमनुव्यऽचलत्'
अ. १५.६.७.

उत्तमाप्य – उत्तमजनों से प्राप्य मोक्षपद ।
'उतेदमुत्तमाय्यम्'
ऋ. ९.२२.६

उत्तर – (१) शत्रु के बल से अधिक बलवान् ।
'सोमपा उत्तरो भवन्'
ऋ. ८.१४.१५, अ. २०.२९.५.
(२) कर्मकाण्ड या यज्ञविषयक सूक्त ।
'उत्तरेभ्यःस्वाहा'
अ. १९.२२.१३.
(३) श्रेष्ठतर ।
'विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः'
ऋ. १०.८६.१-२३ अ. २०.१२६.१-२३, का.सं. ८.१७, नि. ११.३८,३९, १२.९,२८, १३.३,४.
(इन्द्र सबसे बढकर है)

उत्तरण – भवसागर से ऊपर उठाने वाला ।
'नमः प्रतरणाय चोत्तरणाय च'
वाज.सं. १६.४२, तै.सं. ४.५.८.२, मै.सं. २.९.८, १२६.१०, का.सं. १७. १५.

उत्तरद्रिः – ऊपर का जबड़ा ।
'यदुत्तरद्रावुपरश्च खादतः'
अ. ६.४९.२

उत्तरवेदी – उत्तरवेदी ।
'अन्तर उत्तर वेद्या रूपम् कारोतरो भिषक्'
वाज.सं. १९.१६

उत्तर समुद्रः – ऊपर का समुद्र ।
'स उत्तरस्मादधरं समुद्रम्
अपो दिव्या असृजत् वर्ष्या अभि'
ऋ. १०.९८.५, नि. २.११.
उस देवापि ऋषि ने ऊपर के समुद्र से नीचे के समुद्र में दिव्य वर्षा के जल बरसाए ।

उत्तरसुम्न – भविष्य में प्राप्त होने वाला या उत्कृष्ट सुख ।
'मा दुरेवा उत्तरं सुम्न मुन्नशन्'
ऋ. २.२३.८

उत्तानहस्त – हाथ को ऊपर की ओर बढ़ाए हुए प्रणाम मुद्रा में स्थित
'उत्तान हस्ता नमसोपसद्य'
ऋ. ३.१४.५, वाज.सं. १८.७५.
'उत्तानहस्तो नमसा विवासेत्'
ऋ. ६.१६.४६.

उत्तरहनु – ऊपर का जबड़ा ।
'द्यौरुत्तरहनुः पृथिव्या धरहनुः'

अ. ९.७.२.

उत्तरा - उत्तर और अधर सापेक्ष शब्द हैं। उत्तर का अर्थ ऊपरी या उपरिष्ठान् है।

(१) आगे आने वाले।

'आ घा ता गच्छान् उत्तरा युगानि'

ऋ. १०.१०.१०, अ. १८.१.११, नि. ४.२०.

आगे ऐसे युग आवेंगे (२) उर्ध्वलोक में तैराने वाली कर्मविद्या, (३) ब्रह्म विद्या।

'उत्तराहमुत्तरे'

ऋ.१०.१४५.३, अ. ३.१८.४, आप.मं.पा. १.१५.३.

(४) उत्तरा नामक नक्षत्र।

'ऊर्ज देव्युत्तरा आ वहन्तु'

अ. १९.७.४

उत्तराद्यौः - (१) ऊपर का आकाश, (२) सर्वोपरि शासक शक्ति।

'अमाय तो मरुतो यातवे द्यौः
जिहीत उत्तरा बृहत्'

ऋ. ८.२०.६

उत्तराधूः - उत्कृष्ट धारण शक्ति।

'दिवश्चिन्मे बृहत उत्तराधूः'

ऋ. १०.२८.६

उत्तरावत् - (१) उत्कृष्ट।

'उत्तरं राष्ट्र प्रजयोत्तरावत्'

अ. १२.३.१०

(२) उत्कृष्ट कर्मों से युक्त।

'अन्वारभेथां वय उत्तरावत्'

अ. १२.३.४७

उत्तरासद् - उत्तर दिशा में विराजने वाला।

'या देवा मिजावरुणनेत्रा वा मरुन्नेत्रा वोत्तरादसदः'

वाज.सं.९ .३६, वाज.सं.(का.) ११.१.२, श.ब्रा. ५.२.४.६.

उत्तस्थिवान् - दूसरे राष्ट्र पर चढ़ाई करने वाला।

'देवजनाः सेनयोत्तस्थिवांसः'

अ. ६.९३.१

उत्पतन्ति - ऊपर जाती हैं। सूर्य की किरणें।

'अपो वसाना दिवमुत्पतन्ति'

ऋ. १.१६४.४७, अ. ६.२२.१,९. १०.२२, १३.३.९, मै.सं. ४.१२.५, १९३.७, का.सं. ११.९ ,१३. नि. ७.२४.

सूर्य की किरणें लोकों का जल लेकर अन्तरिक्ष में रखती हुई सूर्य लोक में चली जाती हैं।

उत्स - (१) कोष, भण्डार।

'उत्सो देव हिरण्ययः'

ऋ. ८.६१.६,९. १०७.४, अ. २०.११८.२, साम. १.५११, २.२५, ९३०.

(२) उत् + सृ + ड = उत्स, अथवा उत् + सद् + ड उत्स, अथवा उत् + सद् + ड = उत्स (स्पन्द के य का बाहुलक नियम से लोप। अर्थ-(२) जिससे उदक निकलता है (उत्सरति) या (३) अवसन्न होकर मेघ ऊपर जाता है या (४) जो पृथ्वी को उन्नयाक्लिन्न करता है। आजकल इस शब्द का अर्थ है-झरना, सरोवर, जलप्राय भूभाग

(२) मेघ।

'अदर्दरुत्सम् असृजो वि खानि'

ऋ. ५.३२.१, साम. १.३१५, नि. १०.९.

तूने मेघ को बार बार विदीर्ण किया।

(३) कूप, (४) स्तोत्र।

'विद्या तमुत्सं यत आजगन्थ'

ऋ. १०.४५.२, वाज.सं. १२.१९, तै.सं. ४.२.२.१, का.सं. ९.१९,१६.९, श.ब्रा. ६.७.४.४, आप.मं.पा. २.११.२२.

हे मन्यु! हम उस कूप को या स्तोत्र को जानते हैं जहां से तू हुआ है।

(४) ऊपर उठता हुआ।

'बहु साकं सिसिचुरुत्समुद्रिणम्'

ऋ. २.२४.४, नि. १०.१३.

सूर्य की किरणों ने मिल कर उठते मेघ को बहुत जल दिया है। (५) जल।

'तृष्णजे न दिव उत्सा उदन्यवे'

ऋ. ५.५७.१, नि. ११.१५, कौ.ब्रा. २०.४.

जिस प्रकार वर्षा ऋतु में द्युलोक से जल (उत्साः) जलार्थी लोक के लिए (उदन्यवे) आते हैं।

उत्सव - उत् + सु + अच् = उत्सव। हर्ष का अवसर।

'तम् अप्सन्त शवस उत्सवेषु'

ऋ. १.१००.८.

हर्षों के अवसरों पर और संग्राम के कालों में उसी की शरण में रक्षा प्राप्त करने के लिए आते हैं।

उत्सधि - (१) उत्साःकूपाः धीयन्ते यस्मिन् भूभागे (जिस भूभाग में कूप हो) ।

(२) ऊंचे स्थान पर विद्यमान सर्वोच्च परमज्ञानान्द रसों को कूप के समान धारण करने वाला परमेश्वर ।

(३) ऊपर अन्तरिक्ष में कूप के समान अधिक जल को धारण करने वाला मेघ ।

'ब्रह्म कृण्वन्तो गोतयासो अर्कैः
ऊर्ध्वं नुनुद्र उत्सधिं पिबध्यै'

ऋ. १.८८.४.

वेदाध्येता उत्तम वाणी को धारण करने वाले विद्वान् (गोतमासः) उत्तम वेदमन्त्रों द्वारा (अर्कैः) ज्ञान रस का पान करने और औरों को पान कराने के लिए (पिबध्यै) सबसे ऊपर उच्च स्थान पर विराजमान सर्वोच्च परमानन्द रसों को कूप के समान धारण करने वाले परमेश्वर को (उत्सधिम) उत्तम रीति से स्तुति करते हैं (नुनुद्रे) ।

(४) कूप प्रदेश ।

उत्तान - (१) उत्ततान -ऊर्ध्वतान ऊपर की ओर तनाहुआ उत्तान (२) उत्तः उन्नः क्लिन्नः रसेन (रस से क्लिन्न) तानः विस्तारः यस्य । जिसका विस्तार रससें ओत प्रोत है वह उत्तान है । उत् + न = उन्न । पृषोदरादि से न का लोप । परस्पर तना हुआ (३) ऊर्ध्वं तानम् यस्य सः जिसका ऊपर की ओर विस्तार हो ।उत् उपसर्ग ऊर्ध्ववाची है ।

'द्यौर्मेपिता जनिता नाभिस्त्र
बन्धुर्मेमाता पृथिवी महीयम्
उत्तानयोश्चम्वो र्योनिन्तः
अत्रा पिता दुहितुर्गर्भभाधात्'

ऋ. १.१६४.३३, नि. ४.२१.

दीर्घतमा ऋषि कहते हैं -मेरा द्युलोक पिता है, अर्थात् रक्षक या पालयिता (मे द्यौः पिता), वह उत्पन्न करने वाला भी है (जनिता) । इस द्युलोक में (अत्र) नाभिभूत भूमि का रस रहता है । (नाभिः) जिससे अन्न, अन्न से रेत और रेत से मनुष्य होता है । द्युलोक स्थित रस से सब कुछ उत्पन्न होता है अतः वह जनयिता है । यह बन्धुरुपिणी (इयं बन्धुः) बड़ी पृथ्वी (महती पृथ्वी) मेरी माता है (मे माता) । भोग-साधन अर्थात् हमें खिलाने वाले तथा ऊपर तने (उत्तानयोः चम्वोः) द्यौ और पृथिवी के मध्य में (अन्तः) सभी जीवों के निर्माण तथा आश्रय का स्थान अन्तरिक्ष है (योनिः) । इस अन्तरिक्ष में (अत्र) द्युलोक नाम से प्रख्यात पर्जन्य अर्थात् मेघ (पिता) दूर निहित पृथ्वी पर (दुहितुः) सर्वोत्पादन वृष्टिका जल बरसता है (गर्भम् आधात्) । सूर्य और पृथ्वी के द्वारा ही समस्त औषध वनस्पतियों उत्पत्ति होती है ।

'औषधिभ्योऽन्नम् अन्नात् रेतः रेतसः पुरुषः ।'

सूर्यरूपी पिता भूमिरूपमाता में वृष्टि रूपी रस का सिञ्चन करता है ।

उत्तानपद - (१) ऊपर की ओर फैलाने वाले चरणों का किरणों वाला सूर्य, (२) ऊर्ध्व आकाश में गति करने वाला सूर्य चन्द्र आदि

'तदाशा अन्वजायन्त तदुत्तानपदस्परि'

ऋ.१०.७३.३

उत्तानपर्णा - (१) ब्रह्मविद्या, उच्चहृदयों में ब्रह्म विद्या के पूर्ण प्रज्ञान रस खिलते हैं (२) एक औषधि जिसके पत्ते ऊपर फ़ैले रहते हैं ।

'उत्तान पर्णे सुभगे देवजूते सहुस्वति ।'

ऋ. १०.१४५.२, अ.३.१८.२, आप.मं.पा.१.१५.२.

(३) ऊपर की ओर फैलने ज्ञानमय पत्रों वाली उपनिषद् ब्रह्मविद्या

उत्तानपदा - (१) उत्तानपाद नामक एक राजा जिसका पुराणों में भी वर्णन है । उन्ही से भूमि की उत्पत्ति हुई-सा. ।

'भूर्जज्ञ उत्तानपदो
भुव आशा अजायन्त'

ऋ. १०.७२.४.

उत्तानपाद से भूमि की उत्पत्ति हुई और भूमि से दिशा हुई ।

उत्तानशीवरी -ऊंचे खण्ड वालों में स्थित जल, सूर्य, चन्द्र और नक्षत्र की ज्योति में खुले रहने वाले जल ।

'आप उत्तान शीवरीः'

अ.३.२१.१०.

उत्ताना - विस्तृत भूमि ।

'न्यङ् उत्ताना मन्वेति भूमिम्'

ऋ. १०.२७.१३

उत्ताने -ऊपर तने द्यौ और पृथिवी ।

'उत्तानयोश्चम्वोः योनिरन्तः'
ऋ.१.१६४.३३, अ.९.१०.१२, नि.४.२१.
ऊपर तने भोग-साधन द्यौ और पृथ्वी के बीच में यह अन्तरिक्ष है (योनिः) ।

उत्थाता - प्राण ।
'उत्थातुरब्रुवन् पद'
अ। ९.४.१४

उत्पारण - शरीर त्याग के बाद की जीवन-यात्रा ।
'उतापरणस्य यो वेद तमग्निम्'
अ. ५.३०.१२

उत्साद - (१) उखाड़ने का व्यापार (२) शत्रु को उखाड़ने की शक्ति ।
'जिह्वाया उत्सादम्'
वाज.सं. २५.१, मै.सं.३.१५.१ः १७७.८
(३) विनाश कारी कार्य ।
'उत्सादेभ्यः कुब्जम्'
वाज.सं.३०.१०., तै.ब्रा.३.४.१६
(४) शरीर का छेदन प्रदेश
'होता यक्षदश्विनौ छागस्य
हविष आत्तामद्य मध्यतो मेद उद्भृतं'
वाज.सं.२१.४३., मै.सं.४.१३.७ः २०८.३, तै.ब्रा.३.६.११.१.

उत्सादत् - (१) राजा के विरुद्ध सिर उठाने वाल देश (२) उखड़ने वाला अर्थात् निर्बल, (३) हानि प्राप्त करने वाला, (४) शरीर का छेदन प्रदेश ।
'शितामत उत्सादतो ऽङ्गादङ्गात्'
वाज.सं.२१.४३
अश्विनीद्वय बकरे का हवि पंजरी से (पाश्वर्तः), कटिप्रदेश से (शोणितः), बाहु प्रदेश से (शितामतः), और छेदन प्रदेश से (उत्सादतः) खावें (अस्ताम्) ।

उत्स्याः - विशेष वेग से बहने वाली जलधाराएं ।
'शमु ते सन्तु उत्स्याः'
अ.१९.२.१

उत्तिरः - शत्रुओं को उखाड़ देने में समर्थ ।
'सहस्रपर्ण उत्तिरः'
अ.१९.३२.१

उत्थित - (१) व्यापार से उठाया हुआ नफा ।
Profit
'शुनं नो अस्तु चरित मुत्थितञ्च'
अ. ३.१५.४
(२) गौ के उठने का रूप ।
'अग्निरासीन उत्थितोऽश्विना'
अ. ९.७.१९

उत्पिपानः - बढ़ता हुआ ।
'अभिक्रन्दस्तनयोत्पिपानः'
अ. ५.२०.७

उत्सित - बंधा हुआ ।
'त्रयस्त्रिभिरुत्सिता येभिरासन्'
अ. ६.११२.२

उत्सिनाति - बांधता है । 'सि' धातु बांधना अर्थ में आया है
'मुक्षीजयेव पदिमुत्सिनाति'
ऋ. १.१२५.२, नि. ५.१९.
जैसे रस्सी से पक्षी को बांधते हैं । उत्सि सृप्सत् -ऊपर चढ़ने की इच्छा करने वाला ।
'मायाभिरुत् सिसृप्सतः'
ऋ. ८.१४.१४, अ. २०.२९.४

उत्तुदः - उत्तमरीति से व्यथा देने या प्रेरणा करने वाला उत्तेजक काम ।
'उत्तुदस्त्वोत् तुदतु'
अ. ३.२५.१

उत्कूल - (१) ऊंचा स्थान ।
'उत्कूल निकूलेभ्यः त्रिष्ठिनम्'
वाज.सं. ३०.१४
(२) नदी के किनारे को लांघ कर ।
'उत्कूलमुद्वहोभव'
अ. १९.२५.१

उतोनुचित् - और ।
'उतोनुचित् यओजसा'
ऋ. ८.४०.१०

उद् - नि और अब का प्रतिलोम
आधुनिक अर्थ- (१) स्थान में उच्चतर का सूचक, (२) ऊपर, (३) स्थान विशेष से निकलना, (४) ऊपर की गति, (५) आश्चर्य, (६) मोक्ष, (७) वृद्धि ।

उद - जल ।
'उदेव यन्त उदभिः'
ऋ. ८.९८.७, अ. २०.१००.१, साम. १.४०६, २.६०.

उदक् - उदय को प्राप्त करने वाला ।
'तद् विप्रो अब्रवीत् उदक्'

अ. २०.१२८.४, शां.श्रौ.सू. १२.२० २२.

उदक - (१) जल जिसे उत् अर्थात् ऊपर चढ़ाया जाता है-जिसे किरणें समुद्र से ऊपर उठा लेती है ।

'उदानिषुर्महीरिति तस्मादुदकमुच्यते'

अ. ३.१३.४, तै.सं. ५.६.१.३, मै.सं. २.१३.१, १५२.१४, का.सं. ३९.२.

(२) गहो प्रदेश से ऊपर निकाला गया जल

'उदकाय स्वाहा'

वाज.सं. २२.२५

(३) उन्द + क्वु = उद्क । उन्द (क्लेदनार्थक) धातु से निपातन द्वारा उदक बना है ।

उन्नति क्लेदयति (भिंगोता है), पढ़ाता है, सींचता है ।

उदक्तः - (१) ऊपर से , (२) उत्तर ।

'प्राक्तो अपाक्तो अधरादुदक्तः'

ऋ. ७.१०४.१९, अ. ८.४.१९

पुनः-

'त्वं नो अग्ने अधरादुदक्तः'

ऋ. १०.८७.२०, अ. ८.३.१९

उदत्कात् - उत्तर से ।

'आश्विनायातम् अधरादुदत्कात्'

ऋ. ७.७२.५, ७३.५

उदकात्मा - (१) जलमय देहवाली ओषधि-जल के बिना न जीने वाली ।

'अवकोल्बा उदकात्मान ओषधयः'

अ. ८.७.९

उदगात् - उदय लिया ।

'चित्रं देवानामुदगादनीकम्'

ऋ. १.११५.१, अ. १३.२.३५, २०.१०७.१४, आ.सं. ५.३, वाज.सं. ७.४२, १३.४६, तै.सं. १.४.४३.१, २.३.८.२, ४.१४.४, मै.सं. १.३.३७:, ४३.८, ४.१४, ४.२२०.१३, का.सं. ४.९, २२.५,६,८, ऐ.ब्रा. ४.९.११, श.ब्रा. ४.३.४.१०, ७.५.२.२७, तै.ब्रा. २.८.७.३, ऐ.आ. ३.२.३.१०, तै.आ. १.७.६, २.१३.१, आश्व श्रौ.सू. ३.८.१,९ .८.३, वै.सू. ३३.६, आप.श्रौ.सू. १९.२३.४, नि. १२.१६.

किरणों का विचित्र या पूजनीय समूह उदित हुआ ।

उद - (१) आदर सत्कार के लिए जल ग्रहण करने वाला (२) अभिपेचक प्रजाजन

'उदग्राभस्य नमयन् वधस्नैः'

ऋ. ९.९७.१५, साम. २.१५८.

उदङ् - उत्तम मार्ग से जाने वाला पुरुष ।

'यदुदञ्चो वृषाकपे
गृहमिन्द्राजगन्तन'

ऋ. १०.८६.२८, अ. २०.१२६.२२, नि. १३.३.

उत् + अञ्च् + क्विप् = उदञ्च । उत्तर दिशा ।

'राजा ववृत्रं जंघनत् प्रागपागुदक्'

ऋ. ३.५३.११

उदञ्चः - (१) सायण ने इसका अर्थ 'उत्तर से' किया है, (२) जयदेव शर्मा ने प्रथमा बहुवचन का रूपमान इसका 'उर्ध्वगामी मुक्तात्मा' किया है ।

सायण के अर्थ के अनुसार सूर्य के उत्तर से दक्षिण की ओर जाकर अस्त होने की बात आई है । सूर्य तो पूर्व से पश्चिम में ही अस्त होते हैं ।

'यदुदञ्चो वृषाकपे
गृहमिन्द्राजगन्तन'

ऋ. १०.८६.२८.

हे आदित्य ! जब तू उत्तर से दक्षिण की ओर भुवन की परिक्रमा करता है । अस्त हो घर पर आया ।

हे धर्म में श्रेष्ठ परमेश्वर ! (वृषाकपे) जब उर्ध्वगामी मुक्तात्मा (उदञ्च) ब्रह्म धाम में जाते हैं (गृहम् आ जगन्तन) ।

उदञ्चनः - (१) ज्ञानों का पात्रवत् उत्तम रीति से प्राप्त करने वाला, (२) उत्तमपद को प्राप्त करने वाला ।

'विश्वासामूधः स धियामुदञ्चनः'

ऋ. ५.४४.१३

उदधि समुद्र - ज्वार के साथ उमड़ता सागर ।

'समुद्रस्योदधेरिव'

अ. १.३.८

उदन् - जल । उद्क शब्द का उदन् ।

'उद्नाग्निमिव शमय'

अ. ७.४५.१

'मत्स्यं न दीन उदनिक्षियन्तम्'

ऋ. १०.६८.८, अ. २०.१६.८, नि. १०.१२.

मछआ सूखे जाल में जैसे मछली देखता है ।

उदन्य - उदक + यत् = उदन्य । अर्थ-समुद्र ।

Ocean और उदन्य की समता विचारणीय है ।

उदन्यजा - (१) समुद्र के दो रत्न या मोती ।

'उदन्य जेव जेमना मदेरू'

ऋ. १०.१०६.६, नि. १३.५.

(२) उदके साधु उदन्य समुद्रः तस्मिन् जातौ उदन्यजौ (समुद्र से उत्पन्न दो रत्न चन्द्रमा, रत्न) उदक + यत् = उदन्य, उदन्य + जन् + सड = उदन्यज । इसी के द्विवचन में उदन्यजा रूप है ।

उदन्या - जल-सम्बन्धी, जल की ।

'धारा उदन्या इव'

ऋ. २.१७.३, का.सं. ३५.१२, आप.मं.पा. १.५.५, हि.गृ.सू. १.२०.५, २९.२, २.१.३.

उदन्युः - (१) आदरार्थ जल लिये हुए ।

'हरिं नवन्तेऽव ता उदन्युवः'

ऋ. ९.८६.२७

(२) उदकम् इच्छन् (उदक का इच्छुक-जलार्थीजनता ।

'तृष्णजे न दिव उत्सा उदन्यवे'

ऋ. ५.५७.१, नि. ११.१५, कौ.ब्रा. २०.४.

(३) चातक-दया.

उदन्वती - (१) प्रचुर जल वाली नदी ।

'उदन्वती रनुदकाश्चयाः'

ऋ. ७.५०.४

(२) जलवाली, (३) भोगमयी, (४) तामसी, (५) मेघमयी द्यौ ।

'उदन्वती द्यौरवमा'

अ. १८.२.४८

उदनिमान् - (१) जलवाला मेघ (२) उत्तम पद पर ले जाने वाले कर्म से युक्त ।

'यो अब्दिमां उदनिमां इयर्ति'

ऋ. ५.४२.१४

उदप्रुत - (१) जल से भींगा ।

'उदप्रुतो न वयो रक्षमाणाः'

ऋ. १०.६८.१, अ. २०.१६.१, तै.सं. ३.४.११.३, मैं.सं. ४.१२.६, १९६.१८, का.सं. २३.१२, गो.ब्रा. २.४.१६, आश्व श्रौ.सू. ६.१२, शां.श्रौ. सू. ९.३.४, १२.१२.९.

(२) जल से भरी नदी ।

'प्र धेनव उदप्रुतोनवन्त'

ऋ. ७.४२.१

(३) जल से पूर्ण समुद्र ।

'वनक्रक्षमुदप्रुतम्'

ऋ. ९.१०८.७, साम. १.५८०, २.७४४.

उदपुनः - जल से पूर्ण मरुत् ।

'उदवाहा उदप्रुतः'

अ. १८.२.२२

उदल्पुत - जल में तैरने वाला ।

'उदप्लुतमिवदारु'

अ. १०.४.३,४

उदपू - जल से प्रजा का पालन या पवित्र करने वाला ।

'उदपूरसि मधुपूरसि'

अ. १८.३.३७

उदमेघ - यस्य उदकैः मिह्यते सिच्यते जगत् स समुद्रः (समुद्र जिसके जलों से संसार सिक्त होता है)-दया.

'तुग्रो ह भुज्युमश्विनोदमेघे
रयिं न कश्चित् ममृवां अवाहाः'

ऋ. १.११६.३, तै.आ. १.१०.२.

जैसे कोई मरता हुआ (ममृवान्) पुरुष अपनी जीवन रक्षा के लिए धन त्याग देता है (भुज्युं रयिम् अवाहाः) और जैसे समुद्र में (उदमेघे)

उदयन् - अर्थ-ऊपर मोक्ष धाम की ओर ले जाने वाला उत्तरायण मार्ग ।

'विद्वानु दयनं पथः'

अ. ५.३०.७

उदर - (१) उदर, पेट, (२) अन्नों को लेकर 'उद' अर्थात् 'रस' ग्रहण करने वाला और मल को बाहर निकालने वाला ।

'आसन्दी नाभिरुदरं न माता'

वाज. सं. १९.८६, मै.सं. ३.११.९, १५३.१४, का.सं. ३८.३, तै.ब्रा. २. ६.४.३.

'अस्माकमुदरेष्वा'

ऋ. १.२५.१५

(२) हृदय ।

'क्रत्व इत् पूर्णमुदरम्'

ऋ. ८.७८.७

उदरम् - अर्थ-उठूं ।

'अच्छा न हूत उदरम्'

ऋ. ४.१५.७

उदारदार - अतिसार, उदर रोग ।

'उदरदारस्त्वा हनिष्यति'

अ. ११.३.४२

उदर्क - उदितसूर्य, सूर्योदय का होता ।

'वायोरिव सूनृतानामुदर्के
ता अश्वदा अश्नवत् सोम सुत्वा'

ऋ. १.११३.१८.

परमेश्वर का उपासक (सोम सुत्वा) उन व्यापक सूर्य वत या प्राण को देने वाली (ता अश्वदा) अर्थात् उसको प्रकट करने वाली उषाओं को वायु या प्राण के समान (वायोः इव) उत्तम स्तुति वाणियों का उच्चारण करते करते (सूनृता नाम्) सूर्य के अस्त हो जाने पर (उदर्के) भोग करें अर्थात् प्राणायाम, स्तुति, भजन, कीर्ति तथा मन्त्रोच्चारण करते करते ध्यानी पुरुष को प्रभात वेला में उषाओं का आत्मिक सुख प्राप्त हो । अथवा, ब्रह्मचर्य का पालन करने वाला ब्रह्मचारी या ऐश्वर्य वान् पुरुष ही ज्ञानवान गुरु के समान (वायोरिव) वह वाणियों को उत्तम रीति से प्राप्त करके स्नातक बन अश्वादि पशुओं को देने और पालने वाली स्त्रियों को पतिरूप में प्राप्त हो ।

उदर्य - उदरस्थ यन्त्र ।

'नम उदर्येण'

वाज.सं. २५.८

उदव - अच्छी प्रकार से सुरक्षित रख ।

'अस्माकमंशमुदवा भरे भरे'

ऋ. १.१०२.४

प्रत्येक संग्राम में हमारा अंश उत्तम प्रकार से सुरक्षित रख ।

उदवन् - उत् + अवन् । ऊपर झपटता हुआ ।

'उदवन्तौ वृकाविव'

अ. ७.९५.२

उदव्रज - (१) जल के गमन योग्य मार्ग आकाश । (२) नदी ।

'उदव्रजे वर्चिनं शम्बरञ्च'

ऋ. ६.४७.२१

उदवाह - उदक + वत् + अण् = उदवाह । जल को वहन करने वाला मेघ

'दिवा चित्तमः कृण्वन्ति
पर्जन्येनोदवाहेन'

ऋ. १.३८.९, तै.सं. २.४.८.१, मै.सं. २.४.७, ४४.१६, का.सं. ११.९,

वायु जल युक्त मेघ से दिन में ही अन्धकारा कर देते हैं ।

उदवाहाः - जल उठाने वाले वायु मरुत् ।

'उदवाहा उदप्रुतः'

अ. १८.२.२२

उदशेन - उत् + अशेम । उन्नत, उत्कृष्ट पद प्राप्त करें ।

'भगभक्तस्य ते वयम्
उदशेम तवावसा ।'

ऋ. १.२४.५

उदश्रेत् - उदशि श्रियत्-उच्छ्रयति ऊर्ध्वम् उपनयति (ऊपर ले जाता है) । 'श्रि' धातु के लुङ.प्र.पु.ए.व. का छान्दस रूप है ।

उदहार्य - जल ढोने वाला कहार ।

'ऊर्ध्वं भरन्तमुदकं
कुम्भेनेवोदहार्यम्'

अ. १०.८.१४

उदहारी - जल लाने वाली कहारिन ।

'उतैनं गोपा अदृश्रन्नदृश्रन्नुदहार्युः
स दृष्टो मृडयातिनः'

वाज.सं. १६.७, तै.सं. ४.५.१.३, का.सं. १७.११, मै.सं. २.९.२, १२१.१२.

उद्रः - (१) प्रचण्ड ।

'उद्रः शीपाल मिववात आजत्'

ऋ. १०.६८.५, अ. २०.१६.५

(२) जल से पूर्ण ।

'उद्रो दिव्यस्य नोधातः'

अ. ७.१८, १९.१

उद्धर्षी - अति अधिक कामी ।

'उद्धर्षिणं मुनिकेशम्'

अ. ८.६.१७

उद्भयस - दूसरों में भय उत्पन्न करने में समर्थ सैनिक ।

'स्वभ्यसा ये च उदभ्यसा'

अ. ११.९.१७

उद्मन् - दलदल भूमि ।

'अपां त्वोद्मन् त्वा सादयामि'

वाज.सं. १३.५३, तै.सं. ४.३.१, मै.सं. २.७.१८, १०३.६, का.सं. १६.१८, शा.ब्रा. ७.५.२.४७.

उद्यत - उत्तम उत्तम व्यवस्था ।

'स देवतात्युद्यतानि कृण्वन्'

ऋ. १०.८.२

उद्यत् ऋतु - शिशिर ऋतु जिसमें सूर्य उत्तरायण को जाता है । अज पञ्चौदन का एक रूप ।

'एषवा उद्यन्नामर्तुर्यदजःपञ्चौदनः'

अ. ९.५.३५

उद्यतं ब्रह्म - श्रेष्ठ वेदवाणी ।

'इन्द्राय ब्रह्मोद्यतम्'

ऋ. ८.६९.९, १.८०.९, अ. २०.९२.६

उद्यत् स्रुक् - (१) जिसकी स्रुवा यज्ञ के लिये सदा गृहीत हो, यज्ञानुष्ठाता, (२) ऊर्ध्वमस्तक भाग में वीर्य को दमन करने वाली भृकुटि (३) ब्रह्म रन्ध्र जिसमें योग द्वारा समस्त प्राण वृत्तियों को रोक्रा जाता है ।

प्राण एव स्रवः । सोऽयं प्राणः सर्वाणि अंगानि अनुसंचरन्ति ।

'योषावैस्रुक् वृषा स्रुवः'

श.ब्रा. १.३.१.९

'उद्यतेस्रुचे भवसिश्रवाय्यः'

ऋ. १.३१.५

हे विज्ञानवान् परमेश्वर या अग्नि ! तू यज्ञानुष्ठाता के लिए सुनने सुनाने योग्य है । अथवा ऊर्ध्व मस्तक भाग में वीर्य को दमन करने वाली भृकुटि या ब्रह्मरन्ध्र में समस्त प्राण वृत्तियों को रोकने वाले योगियों के लिए श्रवण करने, साक्षात्कार करने और दूसरों को बतलाने योग्य होता है ।

उद्यति - (१) उत्थान, (२) उद्योग ।

'उपस्तुतिं नमस उद्यतिं च
श्लोकं यंसत् सवितेव प्र बाहू ।'

ऋ. १.१९०.३

उद्यती - निरन्तर उठती हुई शक्ति ।

'उद्यतीमुद्यतीमेवाप्रियस्य
भ्रातृव्यस्यश्रियमादत्ते'

अ. ९.५.३५

उद्यमान - बोला जाता हुआ, अध्ययन के समय गुरुमुख से निकलता हुआ ब्रह्मज्ञान, वेदाध्ययन करते समय उसका तात्त्विक श्रवण ।

(२) अधीयमान ।

'यदस्रवन् पशवः उद्यमानम्'

अ. ७.६६.१

उद्यमीयसी - (१) जंघा के ऊपर उठाने वाली

'न सक्थ्युद्यमीयसी'

ऋ. १०.८६.६, अ. २०.१२६.६.

(२) ईश्वरीय तेज को नियमन करने वाली । -प्रकृति (३) स्त्री ।

उद्युध् - परस्पर युद्ध करना ।

'उद्योधन्त्यभि वल्गन्ति तप्ताः'

अ. १२.३.२९

उद्र - उदक में रमण करने वाला कर्कट ।

'अपामुद्रः'

वाज.सं. २४.३७, तै.सं. ५.५.२१.१, मै.सं. ३.१४.१८, १७६.६, का.सं.(अश्व.) ७.११.

उद्वत् - उन्नत प्रदेश । अद्भिः अनाक्रान्तः भूभागः (जल से अनाक्रान्त भूभाग अर्थात् ऊंची भूमि) । उद् + वति = उद्धत् । उत् उपसर्ग ऊपर अर्थ वाला है ।

उद्वन्दन - उत्तम स्तुतिशील, उत्तम आचरणों से नित्य अभिवादन शील शिष्य या पुत्र ।

'उद्वन्दनम् ऐरतम् दंसनाभिः
उद्रेभं दात्रा वृषणा शचीभिः'

ऋ.१.११.८.६

हे नाना सुख प्रदान करने वाले एवं निषेक आदि करने वाले (वृषणा) आप लोग उत्तम आचरणों से नित्य अभिवादनशील तथा उत्तम स्तुति करने वाले पुत्र या शिष्य को ऊपर उठाओ । आप लोग उत्तम वाणियों, शादियों एवं कर्मों द्वारा अध्ययन शील शिष्य को (उद्रेभम्) उत्तम या उच्च पद प्राप्त कराओ ।

उद्येमिरे - महिमा बढ़ाते हैं ।

'ब्रह्माणस्त्वा शतक्रत उद्वंशमिव येमिरे ।'

ऋ. १.१०.१, साम. १.३४२, २.६९४, तै.सं. १.६.१२.३, नि. ५.५.

हे शतक्रतो ! परमात्मन् ! ब्राह्मण ध्वजा के समान स्तुति द्वारा तेरी महिमा बढ़ाते हैं ।

उद्वह - किनारों को लांघ कर बहने वाला जल ।

'उत्कूलमुद्वहोभव'

अ. १९.२५.१

उद्वहनति - ऊपर करते हैं, उदित करते हैं ।

'उदुत्यं जातवेदसं देवं
वहन्ति के तवः'

ऋ. १.५०.१, अ. १३.२.१६, २०.४७.१३, साम.१.३१, वाज.सा. ७.४१, ८.४१,. ३३: ३१, तै.सं. १.२.८.२, ४.४३.१, मै.सं. १.३.३७, ४३.६, का.सं. ४.९, ३०.५, श.ब्रा. ४.३.४.९, ६.२.२, नि. १२.१५.

रश्मियां या अश्व जिस जातप्रज्ञ या जातधन सूर्यदेव को उदित करती हैं। (उद् वहन्ति) उसे (त्यम्)

उद्वहन्ती - ऊपर उठाने वाली किरण

'देवीरा तस्थौ मधु मद्वहन्ती'

ऋ. ३.७.२

उद्व्रज - पानी और गोचर भूमिवाला देश। सम्भवतः रावलपिण्डी के आसपास का प्रदेश जहां पर पीछे गिरिव्रज बसा।

उद्वृति - उद् पूर्वक वृत्ति धातु छेदनार्थक है-उवट।

'अपां फेनेन नमुचेः शिर इन्द्रोदवर्तयः'

ऋ. ८.१४.१३, अ. २०.२९.३, साम. १.२११, वाज.सं. १९.७१, श.ब्रा. १२.७.३.४.

उदात्त - तीव्रार्थतरम् उदात्तम् (उत्कृष्ट अर्थ बतलाने वाला) पाणिनि ने 'उच्चैरुदात्तम्' कहा है।

'अस्या ऊ षु ण उप सातये भुवो
अहेडमानो ररिगँ अजाश्व
श्रवस्यतामजाश्व।'

ऋ. १.१३८.४, नि. ४.२५.

इस ऋचा में 'अस्या' उदात्त है। 'अस्याः सातये' (इसकी प्राप्ति के लिए) यही स्तुति का मुख्य उद्देश्य या अर्थ है। दे. 'अज'

उदान - उदान नामक वायु।

'उदानो यज्ञेनकल्पताम् स्वाहा'

वाज.सं. २२.२३

उदायत् - सूर्य के समान ऊपर आने वाला।

'उदायते नमः'

अ. १७.१.२२

उदायन् - उद्गताः, उत्पन्नाः (उत्+ आङ्+ इ (लङ् प्र.पु.ब.व. + झि = उदायन्। अर्थ-उत्पन्न हुए।

'देवानां माने प्रथमा अतिष्ठन्
कृन्तत्रात् एषाभ्रपरा दाययन्
त्रयस्तपन्ति पृथिवीमनूषा
द्वा बृबूकं वहतः पुरीषम्'

ऋ. १०.२७.२३, नि. २.२२.

देवताओं की सृष्टि के समय (देवानां माने) सबसे पहले ये माध्यमिक देवगण मेघ निर्मिति हुए (प्रथमा अतिष्ठान्)। इन मेघों के (एषाम्) इन्द्र के द्वारा छिन्न स्थानों से (कृनात्रात्) मेघ के जल निकले (उपराः उदायन्)। जलों के पतित होने पर इन्द्र की आज्ञा से पर्जन्य, वायु तथा आदित्य नामक तीन देवता (त्रयः) शीत, उष्ण और वर्षा से पृथ्वी की ओषधियों को (पृथिवीम्) परिपक्व करते हैं (तपन्ति)। वे देवता व्याप्त होने वाले या प्रक्षेपण करने वाले हैं (अनूपाः)। उनमें दो (द्वा) वायु और आदित्य ओषधियों के पोषक रस को (पुरीषम्) एवं जल को (बृबूकम्) इस पृथ्वी लोक से आदित्य मण्डल में ले जाते हैं (वहतः)। वायु शोषित कर तथा आदित्य रश्मियों द्वारा रस लेकर आदित्य मण्डल में पहुँचाते हैं।

अन्य अर्थ-देवताओं के निर्माण में वायु ही प्रथम है। इन वायुओं की प्रेरणा से (कृन्तत्रात्) अन्तरिक्ष से मेघ बरसते हैं (उपराः उदायन्) मेघ वायु, तथा आदित्य ये तीन अनुग्रह करने वाले देव पृथिवी की ओषधियों को पकाते हैं और वायु और आदित्य पालक और वृष्टि दाता जल पहुंचाते हैं (पुरीषं बृबूकम्)।

उदार - (१) उत् + आर = उदार। उन्नत करने वाला।

'श्रीणामुदारो धरुणो रयीणाम्'

ऋ. १०.४५.५, वाज.सं. १२.२२, तै.सं. ४.२.२.३, का.सं. १६.९ , मै.सं. २.७.९, ८६.११, आप.मं.पा. २.११.२७.

(२) विशाल, (३) ऊपर उठने वाला, (४) ऊपर से प्रहार करने वाला महास्त्र।

'सप्तजातान् न्यर्बुद उदाराणां समीक्षयन्'

अ. ११.९.६

(५) देहत्याग।

'सुप्रजा सन्त्स उदारे न सर्षद्'

अ. ४.११.३

(६) ऊर्ध्वगतः मेधाविना परिणतः -

(उदारचित्त वाला पवित्रात्मा)

'उदारान् गच्छोत वा नीहारान्'

अ. ६.११३.२

उदारत् - उत् + आरत् । उदित हुआ ।

'समुद्रादूर्मिर्मधुमां उदारत्'

ऋ. ४.५८.१, वाज.सं. १७.८९. मै.सं. १.६.२, ८७.१३, का.सं. ४०.१७, ऐ.ब्रा. ५.१६.६, कौ.ब्रा. २५.१, तै.आ. १०.१०.२, महा.ना.उप. ९.१२, आप.श्रौ.सू. ५ः१७.४, आप.मं.पा. २.३.२, नि. ७.१७.

अन्तरिक्ष से प्रकाश के द्वारा सब का आच्छादन करने वाला, सर्वप्रिय उदकवाला सूर्य (मधुमान् उर्मिः) उदित हुए ।

उदारथि - (१) शक्ति वीर्य आदि धातु का उद्दीपक ओषधि ।

(२) सबको उत्तेजना देने वाला राजा ।

'पीवो वृक्क उदारथिः'

ऋ. १.१८७.१०, का.सं. ४०.८.

(३) शरीर को सुला डालने वाला विष, (४) बहुत अधिक पीड़ा जनक ।

'पीबस्पाकमुदारथिम्'

अ. ४.७.३

उदावत् - उत्तममार्ग पर चलने वाला ।

'उदावता त्वक्षसा पन्यसा च'

ऋ. ६.१८.९

उद्रा - जल से ।

'एकं यदुद्रा न पृणन्त्येनीः'

ऋ. ५.८५.६

जैसे (यत्) अनेकों प्रगति शील नदियां भी (एनीः) एक समुद्र को (एकम्) जल से नहीं भर पातीं (उद्र न पृणन्ति) ।

उद्ग्राभ - ऊपर ले जाने वाला, उपाय ।

'उद्ग्राभेणो दग्रभीत्'

वाज.सं. १७.६३, तै.सं. १.१.१३.१, ६.४.२, ४.६.३.४, मै.सं. १.१.१३ः ८.१३ः ३.३.८,४१.९ का.सं. १.१२, १८.३, २१.८, श.ब्रा. ९.२.३.२१.

उद्यानम् - ऊपर की ओर गति, उन्नति ।

'उद्यानं पुरुष नावयानम्'

अ. ८.१.६

उद्यास - उठाने का परिश्रम ।

'उद्यासाय स्वाहा'

वाज.सं. ३९.११, तै.सं. १.४.३५.१, का.सं. (अश्व.) ५.६, तै.आ. ३.२०.१.

उद्रावः - बहुत तीव्र गति से जाता हुआ ।

'उद्द्रावाय स्वाहा'

वाज.सं. २२.८, तै.सं. ७.११३.१, मै.सं. ३.१२.३ः१६१.१ का.सं.(अश्व). १.४

उद्वाचन - (न.) उत्तेजक वाणी, ललकार ।

'यथेन्द्र उद्वाचनं लब्ध्वा चक्रे अधस्पदम्

अ. ५.८.८'

उद्वावृषाणः - उत्तम सुखों की वर्षा करता हुआ इन्द्र-परमेश्वर ।

'उद्वावृषाणस्तविषीव उग्र'

ऋ. ४.२०.७

उदित - (१) उच्चारण किया वाक्य ।

(२) जलयुक्त अन्न ।

'इमानि त उदिता शंतमानि'

अ. ७.६८.२, मै.सं. ४.१२.६, १९८.११.

(३) उन्नत, (४) उदय लेने वाला ।

'उदिता यो निदिता वेदिता वसु'

ऋ. ८.१०३.११

उदिता इन्द्राग्नी - ऊपर की तरफ गए वायु और अग्नि तत्व को जल से युक्त हो जल पूर्ण होते हैं ।

'यदिन्द्राग्नी उदिता सूर्यस्य
मध्ये दिवः स्वधया मादयेथे'

ऋ. १.१०८.१२

जिस कारण वायु और अग्नि तत्त्व ऊपर की तरफ जाकर सूर्य और अन्तरिक्ष के बीच में जल से युक्त होकर स्वयं तृप्त और जलपूर्ण होते हैं ।

उदिति - उत् + इ + क्तिन् = उदिति । ऊपर उठने की प्रवृत्ति ।

'राद्धिःसमृद्धिरव्यृद्धिर्मतिरुदितयः कुतः'

अ. १०.२.१०

(२) उदय ।

'अयस्थूणम् उदिता सूर्यस्य'

ऋ. ५.६२.८, तै.सं. १.८.१२.३, मै.सं. २.६.९, ६९.११, का .सं. १५.७.

सूर्य के ऊदय लेने पर ।

उदिनक्षन् - उत् + इन क्षन् । प्राप्त कराने वाला ।

'भूरीदिन्द्र उदिनक्षन्त मोनः'

ऋ. १०.८.९

उदियर्ति - (१) उच्चारण करता है, (२) प्रेरित करता है ।

'स भन्दना उदियर्ति प्रजावतीः'

ऋ. ९.८६.४१, नि. ५.२.
वह स्तुतियों को करता या प्रेरित करता है ।

उद्धिः - रथ के शरीर का ऊपर का भाग ।
'अन्तरिक्षमुद्धिः'
अ. ८.८.२२

उद्धिता - (१) उठाई हुई ।
'ब्रह्मणा वेदिरुद्धिता'
अ. १९.४२.२

उद्धिताः - जो उर्ध्ववगति को पदों पर पहुंच गये है-पितर ।
'ये दग्धा ये चोद्धिताः ।'
अ. १८.२.३४.

उद्भित् - (१) समस्त स्थावरों को पृथ्वी फोड़कर उत्पन्न करने वाला ।
(२) शत्रुओं को उखाड़ने वाला ।
(३) उर्ध्वभाग ब्रह्मरन्ध्र को भी भेदन करने समर्थवीर्य या प्राण ।
'विश्वजितं उद्भिदित् सोमः'
ऋ. ८.७९.१, तै.ब्रा. २.४.७.६
(४) उत् + भिद् + क्विप् शत्रुंओं नाशक का नाशक क्रतु यज्ञ ।
(५) मानसिक, कायिक और वाचिक पापों का उद्भेदन करने वाला विद्वान् ।
'आ नो भद्रा क्रतवो यन्तु विश्वतः
अदब्धासो अपरीतास उद्भिदः'
ऋ. १.८९.१, वाज.सं. २५.१४, का.सं. २६.११.
(६) आविर्भाव, (७) उद्भेदक धन, अन्न आदि जो पृथ्वी भेदकर उपजते हैं ।
'सदःसदो वरिवस्या त उद्भिदा'
ऋ. १०.७६.१
घर या प्रत्येक यज्ञग्रह को उद्भेदक धन से द्यौ और पृथ्वी पूर्ण करे -
दिन और रात अपने आविर्भाव से (उद्भिदा) हमारे प्रत्येक गृह को परिपूजित करे ।

उद्भिन्न - (१) उत्तम फल ।
'जितमस्माकम् उद्भिन्न मस्काकम्'
अ. १०.५.३६, १६.९.१
(२) राष्ट्र की उपज ।

उद्रिण, उद्रिन् - (१) उदकवान् (जल से पूर्ण) ।
(१) उदक देने वाला ।
'बहुसाकम् सिसिचुरुत्समुद्रिणम्'
ऋ. २.२४.४, नि. १०.१३.
सूर्य की किरणों से मिलकर उठते हुए मेघ को बहुत जल दिया ।
(२) जल से भरा कूप या मेघ ।

उदीच्य विषम् - (१) उत्तर दिशा के विष, (२) सिर की ओर फैलने वाला विष, (३) मध्यमबल वाला विष ।
'अरसं यदुदीच्यम्'
अ. ४.७.२.

उदीची - (१) पूर्वाभिमुख पुरुष के बाएं हाथ की दिशा-उत्तरदिशा ।
'उदीच्यै दिशे स्वाहा'
वाज.सं. २२.२४, तै.सं. ७.१.१५.१, मै.सं. ३.१२.८, १६३.५, का.सं.(अश्व.) १.६.
(२) उत्तर दिशा जो सब दिशाओं में श्रेष्ठ है ।
'दिशामुदीची कृणवन्नो अग्रम्'
अ. १२.३.१०

उदीचीनः पन्थाः - ऊर्ध्वगामी, पर ब्रह्म तक ले जाने वाला मार्ग ।

उदीरताम् - (१) ऊपर लोक में आवें ।
(२) शिक्षा प्रदान करें-ज.दे.श. ।
'उदीरतामवर उत्परासः
उन्मध्यमाः पितरः सोम्यासः'
ऋ. १०.१५.१, अ. १८.१.४४, वाज.सं. १९.४९, वाज.सं. १९.४९, तै.सं. २.६.१३.३, मै.सं. ४.१०.६, १५७.४, ऐ.ब्रा. ३.३७.१३. नि. ११.१८.
जो निष्कृष्ट पितर पृथिवी लोक में आश्रित हैं वे ऊपरी लोक में आवें (अवरे वितर उदारीताम्) । जो द्युलोक में स्थित हैं नीचे न आकर ऊपर उठें या मोक्ष प्राप्त करें तथा जो मध्यम स्थानाश्रयी हैं, वे उत्तम लोक प्राप्त करें तथा जो मध्यम् लोक प्राप्त करें (परास उत मध्यमा उत्)।

उदीरयन्ती - जगाती हुई, उठाती हुई उषा
'व्युच्छन्ती जीवम् उदीरयन्ती
उषा मृतं कंचन बोधयन्ती'
ऋ. १.११३.८.

उदीराणः - (१) उत्तम उपदेश देता हुआ ।
'उदीराणा यज्ञमुप प्रयन्तः'
ऋ. ४.३९.५, ७.४४.२.
(२) उठता हुआ ।
'उदीराणा उतासीनाः'

'अ. १२.१.२८

उदीष - उत् + ईष् । बाहर निकल जाना

'ऊर्ध्वःप्राण उदीषतु ।'

अ. ११.९.२१.

उद्गीथ - उद्गाता से गाया गया सामभाग

'उद्गीथः प्रस्तुत स्तुतम्'

अ. ११.७.५

उद्री - (१) कूप ।

'उद्रीव वज्रिन् अवतो न सिञ्चते'

ऋ. ८.४९.६

(२) उदकयुक्त मेघ ।

'उत्सं कवन्धमुद्रिणम्'

ऋ. ८.७.१०

उदुम्बर - (१) गूलर ।

सोऽब्रवीत् । अयं वाव मा सर्वस्मात् पाप्मन उदभार्षीदिति तस्मात् उदुम्बरः । उदुम्बर

'इति आचक्षते परोक्षम् ।'

श. ७.५.१.२२

(२) अन्नं वा ऊर्फ उदुम्बरः ऊर्जः

श.ब्रा. ३.२.१.३३

सभी पापों से मुक्त करता है अतः उदुम्बर है . अन्न भी उदुम्बर है ।

(३) गूलर, (४) भारी बलवान् पुरुष ।

'महान् भद्र उदम्बरः'

अ. २०.१३६.१५, शां.श्रौ.सू. १२.२४.२.८०.

उदुम्बल - अति अधिक भोगी ।

'उपेषन्तमुदुम्बलम्'

अ. ८.६.१७

उदुम्बलौ - (१) अति बलवान् रातदिन, (२) सारमेय नामक यम के दो दूत जो श्वान है ।

'उरूणसौ असुतृपौ उदुम्बलौ'

ऋ. १०.१४.१२, अ. १८.२.१३, तै.आ. ६.३.२, आश्व.श्रौ.सू. ६.१९.२०

(३) अति बलशाली राजपुरुष ।

(४) प्राण और अपान ।

उद्धुरमाण - भार उठाकर लाने वाला ।

'नम उद्धुरमाणाय चाभिघ्नते च'

वाज.सं. १६.४६

उद्भु - उद्भूत ।

'यत् ते काम शर्म त्रिवरूछोथमुद्भु ब्रह्म वर्म विततमनतिव्याध्यं कृतम्'

अ. ९.२.१६

उद्युग - क्षयी रोग ।

'बलासं कामसमुद्युगम्'

अ. ५.२२.११

उद्युत - उचटा हुआ ।

'यदितेमन उद्युतम्'

अ. ६.१११.२

उद्द्रु - उछल-उछल कर द्रुत गति से जाता हुआ ।

'उद्द्रुताय स्वाहा'

वाज.सं. २२.८, तै.सं. ७.१.१३.१, मै.सं ३.१२.३, १६१.१, का.सं.(अश्व.) १.४.

उदृक् - (१) उत् + ऋच् । यज्ञ की समाप्ति के समय का अन्तिम ऋचा पाठ ।

'अस्य यज्ञस्योदृचि स्वाहा'

अ. ६.४८.१-३

(२) अन्तिम ऋचा तक पूर्ण होने वाला यज्ञ ।

'य उदृचियज्ञे अध्वरेष्ठा'

ऋ. १०.७७.७

उदृची - जिसकी स्तुति या वर्णन में उत्कृष्ट ऋचाएं हों । इन्द्र या परमेश्वर का विशेषण ।

'य उदृचीन्द्र देवगोपाःसखायः'

ऋ. १.५३.११, अ. २०.२१.११.

उदूह्लत् - जलों को ऊपर उठाने वाला मेघ ।

'उदूह्लते स्वाहा'

वाज.सं. २२.२६, तै.सं. ७.५.११.२, का.सं.(अश्व.) ५.२.

उदूहीत - जलों से भरा मेघ ।

'उदूहीताय स्वाहा'

वाज.सं. २२.२६, तै.सं. ७.५.११.२, का.सं.(अश्व.) ५.२.

उद्भृ - (१) उत्पन्न ।

'दिवस्पृथिव्याः पर्योज उद्भृतम्'

ऋ. ६.४७.२७, अ. ६.१२५.२.

(२) उखाड़ कर लाया हुआ ।

'दूरात् त्वा मन्य उद्भृतम्'

अ. ७.४५.१

उद्वृह - लोट् के म. पु. ए.व. का रूप । उद् । वृह । अर्थ-उद्धर उन्मूलय - उन्मूलित कर । 'वृह् धातु उद्यमान अर्थ में प्रयुक्त है । उखाड़ दे, उजाड़ दे ।

उद्रेभ – उत्तम अध्ययनशील शिष्य या पुत्रे ।

उन्नयन्ती – रोगी की दशा में सुधार लाने वाली ओषधि ।
'अरुन्धतीमुन्नयन्तीम्'
अ. ८.७.६

उन्मत्त – उत्तम कोटि के हर्ष से युक्त योगी ।
'प्रयुग्म्य उन्मत्तम्'
वाज.सं. ३०.८

उन्मथाय – उलट पुलट कर नष्ट करना, हिलाना डुलाना ।
'तद्वात उन्मथायति'
अ. २०.१३२.४

उन्मदित – (१) उत्तम हर्षयुक्त ।
'उन्मदिता मौनेयेन
वातां आ तस्थिमावयम्'
ऋ. १०.१३६.३
(३) उन्मत्त, पागल ।
'देवै नसात् उन्मदितम्'
अ. ६.१११.३

उन्मोचन – जाल से किसी पदार्थ को ऊपर करना
'उन्मोचन प्रमोचने
अ. ५.३०.२-४.

उन्मुञ्चन्ती – रोग से मुक्त करने वाली ओषधि
'उन्मुञ्चन्तीर्विवरुणा'
अ. ८.७.१०

उप – (१) उपसर्ग, समीपार्थक । संज्ञा तथा धातु से मिलकर अनेकों अर्थों में प्रयुक्त होता है जैसे (१) उपकरोति (२ उपकीर्ण, (३) उपदेश, (४) उपरत-मृत, (५) उपनयति, (६) उपहरति (७) उपक्रम, (८) उपाध्याय, (९) उपाध्यक्ष, (१०) उपवन, (११) उपहरिं सुराः-हरि से नीचे सुर है ।.
'उपोय मे परामृश मामेदभ्राणि मन्यथाः
सर्वाहमस्मि रोमशा गान्धारीणाभिवाविका'
ऋ. १.१२६.७, नि. ३.२०.
भावयव्य से उनकी स्त्री का कथन-हे पति ! मेरे अति निकट आकर मेरे अंगों को छू (उपोयमे परामृश) मेरे छोटे-छोटे रोओं को मत देख (मामे दभ्राणिमन्यथाः) मेरे सभी अंगों में रोएं हो गये हैं (अहंसर्वा रोमशा अस्मि) जैसे गन्धार देश की भेड़यों में अविका नाम की भेड़ी होती है । (गान्धारीणाम् अविका इव) ।
स्वामी दयानन्द का अर्थ-हे पतिदेव राजन् मेरे साथ भली प्रकार परामर्श कीजिए (उपोय परामृशः), मेर सामर्थ्यों को कम न समझिए (मे दभ्राणि मा मन्यथा) मै पूर्णतया प्रशस्त रोमों वाली और पृथ्वी का राज्य धारण करने वाली स्त्रियों में से (गान्धारीणाम्) अधिक रक्षा करने वाली हूं (अविकाइव अस्मि) ।
पुनः-
'उपश्वासय पृथिवीमुकतद्याम्
पुरुत्रा ते मनुतां विष्ठितं जगत् ।
स दुन्दुभे सजूरिन्द्रेण देवैः
इराद्दवीयो अपसेध शत्रून्'
ऋ. ६.४७.२९, अ. ६.१२६.१, वाज.सं. २९.५५, तै.सं. ४.६.६.६, मै.सं.३.१६.३, १८७.८, का.सं.(अश्व.) ६.१, आश्व.गृ.सू. ३.१२.१७, नि. ९.१३.
हे दुन्दुभि, पृथ्वी और द्युलोक को अपनी ध्वनि से प्राणित कर दो (पृथिवीमुतद्यामु उपश्वासय) जिस से स्थावर और संगम जगत् तेरे शब्द को बहुत प्रकार से जान जाय (विष्ठितं जगत् पुरुत्रा मनुताम्) । हे दुन्दुभि, पृथिवी और द्युलोक को इन्द्र के साथ प्रसन्नता पूर्वक (इन्द्रेण सजूः) तथा और देवों के साथ (देवैः) शत्रुओं को दूर से दूर भगा दे (अपसेध दूरात् दवीयः)
(२) समीप अर्थ में-
'मानःसेना अररुषीरुपगुः'
अ. १९.१४.२

उपकक्ष, उपकक्षासः – (१) कक्षसमीप प्रमाणोदक कांख भरपानी वाला तालाब । दे. 'अक्षण्वत्'
'आदघ्नास उपकक्षास उत्वे
ह्रदा इव स्नात्वा उत्वे ददृश्रे'
ऋ. १०.७१.७, नि. १.९.

उपकक्ष्या – कन्धे, पीठ और बगल में की गण्डमाला ।
'अथो या उपपक्ष्याः'
अ. ७.७६.२

उपक्वस – टिड्डी आदि जीव ।
"तर्द है पतंग है जभ्यहा उपक्वस'
अ. ६.५०.२

उपक्षित् – समीप रहने वाला ।

'उपक्षितो वया इव'

ऋ. ८.१९.३३

उपच्यव - (१) ओखल में मूसल का डालना (२) धन संग्रह करना।

'यत्रनारी अपच्यवम् उपच्यवं च शिक्षते'

ऋ. १.२८.३

उपचित् - दोषों के एकत्र हो जाने से उठने वाला गण्डमाला आदि रोग।

'अर्शस उपचितामसि'

वाज.सं. १२.९७

उपजग्मुष् - समीप प्राप्त अतिथि, निकट आ गया अभ्यागत।

उपजिघ्नते - 'उपजिघ्नन्ति' का पद व्यत्यय है। अर्थ है - चारों ओर से मारते हैं। (समन्तात् घ्नन्ति)।

'जघनां उपजिघ्नते'

ऋ. ६.७५.१३, वाज.सं. २९.५०, तै.सं. ४.६.६.५, मै.सं. ३.१६.३,१ ८७.६, का.सं.(अश्व.) ६.१, नि. ९.२०.

(घोड़ो के जांघों पर मारते हैं)। दुर्ग ने इस का अर्थ 'उपजिध्रते' किया है। 'घ्रा' धातु हिंसाअर्थ में भी है। और इसका 'पा घ्राध्मा' सूत्र में जिघ्र आदेश होता है।

उपजिघ्रताम् - निकट से सूंघे।

'ऋजीषमुपजिघ्रताम्'

तेरे घोड़े 'ऋजीष' जीभ अर्थात् सोम की सीढ़ी को निकट से सूंघे (उपजिघ्रताम्)।

उपजिह्विका - (१) जिह्वा को वश करने वाली निर्लोभ स्त्री

'यदत्त्युपजिह्विका'

ऋ. ८.१०२.२१, वाज.सं. ११.७४, तै.सं. ४.१.१०.१, मै.सं. २.७.७, ८३.९, कौ.सं. १६.७, श.ब्रा. ६.६.३.६, नि. ३.२०.

(२) पिपीलिका। उपजिह्विका उपजिघ्न्यः। उपजिघ्रन्ति हिताः (वे सूंघती हैं)। इनकी प्राणशक्ति तीव्र होती है)। उपजिघ्री + कन् + टाप् = उपजिह्विका

'यदत्त्युपजिह्विका यद्वम्रो अतिसर्पयि।
सर्वतदस्तु ते घृतम्'

इस मंत्र से यज्ञ में अग्नि में समिध डाली जाती है। हे अग्ने! जिस काष्ठादि को पिपीलिका या दीमक खाता है (यत्उपजिह्विका अति) और जिसे दीमक भी भींगीमिट्टी से घेर लेते हैं (यत् वम्रःअति अपसर्पति) हे नित्य युवा अग्नि यह सब कुछ तेरा घृत हो (सर्वतत् ते घृतम् अस्तु) उसे तू सेवन कर (त्वं जुषस्व)।

उपजीकाः - (१) ब्रह्म के आश्रय में जीने वाले, (२) औषध बेचने वाले।

'उपजीका उद्धरन्ति'

अ. २.३.४

(३) उपजीव्य, जीवन के कारण-भूत-देव, किरण या दिव्य वायु आदि पदार्थ, (४) वल्मीक निर्मात्री दीमक-सा.। वल्मी विषनाशक है। (५) ग्रीफिथ के मत से सिलाची नामक विषौषधि।

'यद्वो देवा उपजीकाः'

अ. ६.१००.२

उपजीवः - जीवन को और भी अधिक बढ़ाने में समर्थ।

'उपजीवा स्थोप जीव्यासम्'

अ. १९.६९.२

उपजीवनीय - औरों का निर्वाह करने में समर्थ।

'उपजीवनीयोभवति य एवं वेद'

अ. ८.१०.(४) ४

उपतिष्ठन्ती - समीप आती हुई।

'सेदिरुपतिष्ठन्ती'

अ. १२.५.२४

उपतिष्ठमाना -- स्थिर होना।

'उपतिष्ठन्त उपतिष्ठमानाम्'

अ. ८.९.८

उपतृण्य - सर्प की एक जाति, घास के रंग का सांप।

'कैरात पृश्न उपतृण्यबभ्रो'

अ. ५.१३.५

उपद्रष्टा - दोष दर्शी, निन्दक।

'स य एवं विदुष उपद्रष्टाभवति प्राणं रुणद्धि'

अ. ११.३.५४

उपदा - भेंट पुरस्कार देने वाला पुरुष।

'बलायोपदाम्'

वाज.सं. ३०.९, तै.ब्रा. ३.४.१.७.

उपदृग् - प्रजा के व्यवहारों को समीपस्थ हो देखने

वाला ।
'अयं सूर्य इवोपदृक्'
ऋ. ९.५४.२

उपध्वय - (क्रि.) अच्छा संस्कार डालना ।
'पूतौ पवित्रै रूप तत् ध्वयेथाम्
अ. १२.३.३

उपधान - सिरहाना ।
'यदासन्द्यामुपधाने'
अ. १४.२.६५

उपध्मानी - 'ध्मा' शब्दाग्निसंयोगयोः। अर्थ- (१) अतिशब्द करने वाला, (२) आग लगा देने वाला ।
'पूतिरज्जुरुपध्मानी'
अ. ८.८.२

उपधि - लकड़ी का बना चक्र (चक्का) जिम पर लोहे का हाल दिया जाता है ।
'यथा प्रधिः यथोपधिः'
अ. ६.७०.३

उपधी - (द्वि.व.) (१) रथ के बीच के भाग में भार में भार सहने वाले, बगलों में लगे दण्ड, (२) उपधि के समान स्त्री पुरुष ।
'नभ्येव न उपधीव प्रधीव'
ऋ. २.३९.४

उपनिपद्यमान - (१) समीप रहता हुआ (२) नीचे मार्ग से जाता हुआ, (३) संकट या विपत्ति में पड़ा ।
'पश्यामसि नोपिनिपद्यमानम्'
ऋ. १.१५२.४
हम पति को कभी नीचे मार्ग से जाते न देखें या उसे सदा स्त्री के समीप रहते देखें ।

उपनतिः - समीप आने वाले लोगों को आदर से झुकाने वाली शक्ति ।
'मांसं म उपनतिः वसु'
वाज.सं. २०.१३, मै.सं. ३.११.८, १५२.१०, का.सं. ३८.४, श.ब्रा. १२.८.३.३१, तै.ब्रा. २.६.५.८.

उपपति - पति के समान भोग करने में प्रवृत्त
'गेहायोपपतिम्'
वाज़.सं. ३०.९, तै.ब्रा. ३.४.१.४.

उपपर्चनम् - (१) सम्पर्क, संयोग, उप + पृच् + ल्युट् ।
'उपेदमुप पर्चनम् आसु गोषूपपृच्यताम्'
ऋ. ६.२८.८, तै.ब्रा. २.८.८.१२, ला.श्रौ.सू. ३.३.४.

उपपर्चन - (प्र.) (१) अति समीप अनन्य भाव से संयुक्त सदा का संगी परमात्मा ।
'उपेहोपपर्चन'
अ. ९.४.२३

उपप्रक्ष - (१) सम्बन्ध, (२) पीछे
'उपप्रक्षे वृषणो मोदमाना
दिवस्पथा वध्वो यन्त्यच्छ'
ऋ .५.४७.६

उपप्रयन् - समीप जाता हुआ, उपासना करता हुआ ।
'उपप्रयन्तो अध्वरम् मन्त्रं वोचेम अग्नये'
ऋ. १.७४.१, साम. २.७२९, वाज.सं. ३.११, तै.सं. १.५.५.१, मै.सं.१.५.१, ६५.६ का.सं. ६.९, श.ब्रा. २.३.४.१०.

उपपाक - (१) यव (२) समीप आए शत्रु को दग्ध करने में समर्थ ।

उपयाम - (१) राज्य प्रबन्ध, (२) वाक् संयम, मौनमुद्रा ।
'उपयामगधरेणौष्ठेन'
वाज.सं. २५.२, तै.सं. ५.७.१२.१, मै.सं. ३.१५.२, १७८.३, का.सं. (अश्व.) १३.२.

उपप्रागात् - उपप्रैतु, प्रकर्षेण एतु (प्रकर्ष से निकट आवे) । लोट् के अर्थ में लङ् का प्रयोग ।
'उप प्रागात् सुमन्मेऽधायि मन्म
देवाना माशा उपवीतपृष्ठः
अन्वेनं विप्राऋषयोमदन्ति
देवानां दुष्टे चकृमासुबन्धुम्'
ऋ. १.१६२.७, वाज.सं. २५.३०, तै.सं. ४.६.८.३, मै.सं. ३.१६.१, १८२.४, का.सं.(अश्व.) ६.४, नि. ६.२२.
मेरा मननीय अर्थ (मे मना) स्वयं मेरे निकट आवे (सुमन् उप प्रागात्) जिसे मेरे मन ने ध्यान में रखा (मे अधायि) और यह सुन्दर पीठवाला अश्व भी मेरे निकट आवे (वीतपृष्ठः अश्वः) । देवताओं की आशा पूर्ण करने के लिए (देवानाम् आशाः) दूध में बांधे इस यज्ञीय अश्व को (एनं सुबन्धुम् देवताओं के पोषण के लिए हम करते हैं (देवानां पुष्टे चकृम) और इसे विप्र और अतीन्द्रियार्थ द्रष्टागण अनुमोदित करें (विपाःऋषयः अनुमदन्ति) ।

अन्य अर्थ -मेरा मन जिसका ध्यान करता है (मे मन्म अधायि) वह अभिलषित पदार्थ जिस राष्ट्र यज्ञ से स्वयं प्राप्त हो जाता है (सुमत् उपप्रागात्) सत्यज्ञान की गहराई तक पहुंचने वाला विद्वान् (वीत् पृष्ठः) जिस राष्ट्र यज्ञ में देवजनों की आशाओं को प्राप्त करता है, (देवानाम् आशाःउप) और जिस राष्ट्र को पाकर ब्राह्मण ऋषि लोग प्रसन्न रहते हैं (एनम् अनु विप्राः ऋषयः मदन्ति) देव जनों के परिपुष्ट उस राष्ट्र में (देवानां पुष्टे) सबके साथ बन्धुवत् उत्तम व्यवहार करने वाले मनुष्य को हम राजा बनाते हैं (सुबध्रं चकृम) -दया. ।

उपप्रुत - प्राप्त ।

'उपप्रुतं कृणुते निर्णिजं तना'

ऋ. ९.७१.२

उपपृक् - उपपर्चनः, संपर्कस्य कर्त्ता (निकट से संपर्क करने वाला) उप + पृच्.+ क्विप् = उपपृच् । प्रथमा ए.व. में उपपृक् ।

'अहन् वृत्रं वृत्रतरं व्यंसम्
इन्द्रो वज्रेण महता वधेन
स्कन्धांसीव कुलिशेना विवृक्ण
अहिः शयत उपपृक्पृथिव्याः'

ऋ. १.३२.५, मै.सं. ४.१२.३, १५८.९, तै.ब्रा. २.५.४.३.

इन्द्र ने अपने महान् वध करने वाले वज्र से (महता वधेन वज्रेण) संसार को अत्यन्त आवृत करने वाले मेघ को (वृत्ततरं वृत्रम्) का वृत्र नामक असुर को छिन्न स्कन्ध कर मार डाला (व्यंसम् अहन्), जैसे कुठार से (कुलिशनम) बिल्कुल छिन्नभिन्न (विवृक्णा) वृक्ष की शाखाएं हों (स्कन्धासि इव) । इस प्रकार छिन्न वातु मेघ या चल नहीं सकने वाला वृत्रासुर (अहिः) पृथ्वी के निकट संपर्क में आ (पृथिव्याः उपपृक्) जलरूप में पृथ्वी पर वासकर मानों सोता है ।

स्वा.दयानन्द का अर्थ -राजा बड़ावध करने वाले खड्ग से जब अत्यन्त पापी शत्रु की गर्दन काट देता है तो कुल्हाड़े से कटे वृक्ष के स्कन्धों की तरह यह शत्रु पृथ्वी का संपर्क करता हुआ सदा के लिए सो जाता है ।

(२) ऊपर ।

'अहिः शयत उपपृक् पृथिव्याः'

ऋ. १.३२.४, मै.सं. ४.१२.३, १८५.१० तै.ब्रा. २.५.४.३, नि. ६.१७.

मेघ पृथिवी के ऊपर जल के रूप में गिर पड़ता है ।

उपपृञ्च् - (क्रि.) प्राप्त होना, प्रेम करना ।

'यौवने जीवानुपपृञ्चतीजरा'

अ. १८.४.५०

उपपृञ्चीत - संगठित करता है ।

'उपक्षत्रं पृञ्चीत हन्ति राजभिः'

ऋ. १.४०.८

उपपृञ्चती - प्राप्त होती हुई, प्रेम करती हुई ।

उपब्द -(सं) गर्जना, घोषणा ।

'ग्रावाणो घ्नन्तु रक्षस उपब्दैः'

ऋ. ७.१०४.१७, अ. ८.४.१७.

उपब्दिः - (१) गुप्त रूप से कलह करने वाली और परपुरुष से संग करने वाली स्त्री, (२) निन्दा ।

'उपब्दे पुनर्वः'

अ. २.२४.६

(३) उपदेष्टा ।

'जनो न युध्वा महत उपब्दिः'

ऋ. ९.८८.५.

उपभुवः - पृथ्वी के निकट ।

उपभृत् - (१) यज्ञ के तीन स्रुवों-जुहू, उपभृत और ध्रुवों में एक । ये ब्रह्माण्ड में द्यौ, अन्तरिक्ष और पृथिवी वाचक हैं । और राष्ट्र में राजा के भृत्य और प्रजा के ।

'घृताच्यसि उपभृन्नाम्ना'

वाज.सं. २.६, वाज.सं.(का.) २.१.८, श.ब्रा. १.३.४.१४.

(२) समस्त प्राणियों का भरण पोषण करने वाली महती परमेश्वरी शक्ति ।

'जुहूदीधार द्यामुपभृत्'

अ. १८.४.५

उपमः - (१) सर्वभूतोप निर्माता आदित्यानर पुरुष नारायण ।

(२) उच्चतम शान्ति -सा.

का धाम परमात्मा -ज.दे.श. ।

'आयोर्हस्कम्भउपमस्य नीडे
पथां विसर्गे धरुणेषु तस्थौ'

ऋ. १०.५.६, अ. १.६.

(३) गुणों का बहुत ज्ञान कराने वाला, (४) उपमानों द्वारा वर्णन करने वाला ।

'इन्द्रं नमस्यन् उपमेभिरर्कैः'

ऋ. १.३३.२

गुणों का बहुत ज्ञान कराने वाली उपमाओं द्वारा वर्णन करने वाली स्तुतियों से परमेश्वर की प्रार्थना करता हुआ-।

(५) उपमान, दृष्टान्त ।

उपमन्त्रिन् - (१) नर्म सचिव । (२) समीपत्त सलाटकार मित्र ।

'हसवामुपमन्त्रिणः'

ऋ. ९.११२.४, नि. ९.२.

उपमन्थिता - दण्ड देने वाला ।

'अवक्रत्यै बधायोपमन्थितारम्'

वाज.सं. ३०.१२, तै.ब्रा. ३.४.१.८.

उपमश्रवस्तम् - सर्वोपमायोग्य, श्रवण करने योग्य, कीर्ति, विद्या, और बल में सर्व श्रेष्ठ-गणपति का विशेषण ।

'कविं कवीनामुपमश्रवस्तमम्'

ऋ. २.२३.१, तै.सं. २.३.१४.३, का.सं. १०.१३, व.पू.ता.उप. १.५.

उपमश्रवाः - अति उत्तम ज्ञान से सम्पन्न गुरु या प्रभु ।

'उपमश्रवसः पितुः'

ऋ. १०.३३.६

उपमस्यनीड् - (१) आदित्यान्तर पुरुष नारायण का धाम (२) उच्चतम शान्ति का धाम (३) परमात्मा का धाम ।

उपमा - (१) सबकी रचना की कारणभूत प्रकृति से उत्पन्न विकृति रूप महत्तत्व, सूक्ष्म और स्थूल भूत आदि सामग्रियां

'स बुध्न्या उपमा अस्यविष्ठाः'

अ. ४.१.१,५.६.१, साम. १.३२१,वाज.सं. १३.३, तै.सं. ४.२.८.२, मै. सं. २.७.१५, ९६.१२, का.सं. १६.१५, ३८.१४, श.ब्रा.७.४.१.१४, तै.ब्रा. २.८.८.८, तै.आ. १०.१.१०, आश्व .श्रौ.सू. ४.६.३, शां.श्रौ.सू. ५.९.५.

(२) 'यत् अतत् तत् सदृशम्' (जो पदार्थ तद्भिन्न होकर भी उसके सदृश हो वह उपमा है)-गार्ग्य (३) उपेति आन्यधर्मैः गार्य मानम् उपमा (दूसरे पदार्थों के धर्मों से जो मान प्राप्त करे वह उपमा है । (४) साधर्म्यमुपमा भेदे (भेद रहने पर भी दो पदार्थों मेंसाधर्म्य होने पर उपमा होती है) -मम्मट

न, इव आदि उपमा के वाचक हैं । (५) जगत् निर्माण करने वाली शक्ति ।

'दिवश्चिदन्तात् उपमामुदानट्'

ऋ. १०.८.१, अ. १८.३.६५, साम. १.७१. तै.आ. ६.३.१.

(६) अपने समान अन्य ।

'उतोपमानां प्रथमे नि षीदसि'

ऋ. ८.६१.२, अ. २०.११३.२, साम. २.५८४.

उपमातिः - (१) उपमान ।

'पूर्वीष्ट इन्द्र उपमातयः'

ऋ. ८.४०.९, ऐ.ब्रा. ६.२४.३, आश्व.श्रौ.सू. ७.२.१७.

(२) समीपस्थ शत्रु हनन कारिणी (३) मान उत्पन्न करने वाली, (४) सम्मति या अनुमति देने वाली, (५) ज्ञान शक्ति, (६) मान-पद ।

'का अस्य पूर्वीरूपमातयोह'

ऋ. ४.२३.३

उपमातिवनि - ज्ञान देने वाला ।

'अस्माकं भूदुपमति वनिः'

ऋ. ५.४१.१६

'उपमानां प्रथमः'

अपने समान अन्यों के बीच में सबसे श्रेष्ठ ।

'उतोपमानां प्रथमो निषीदसि'

ऋ. ८.६१.२, अ. २०.११३.२, साम. २.५८४.

उपमाबुध्न्याः - महान् शक्ति के बतलाने वाले निदर्शक नाना स्थूलों और नाना रूपों में स्थित आकाशस्थ लोक ।

'स बुध्न्या उपमा अस्य विष्ठाः'

उपमास्य - (१) मासिक वृत्ति वेतन । (२) मासिक श्रद्धि, (३) स्वधा

'तस्मात् पितृभ्यो मास्युपमास्यम् ददति'

अ. ८.१० (३) ४

उपमास्व - (१) दे, (२) बना, निर्माणकर ।

उपमित् - जगत् को स्वंय जानने, बनाने और चलाने वाला-वैश्वानर सूर्य ।

'उपस्तभायद् उपमिन्नरोधः'

ऋ. ४.५.१

उपमिता - सुन्दर रूप से योजना के अनुकूल बनाई गई शाला ।

'उपमितां प्रतिमिताम्'

अ. ९.३.१

उपमुहूर्त्तम् - मुहूर्तभर ।

'रमध्वं मे वचसे सोम्याय
ऋतावरीं रूप मुहूर्तमेवैः ।'

ऋ. ३.३३.५, नि. २.२५.

ऐ नदियो ! मुझ सोम बनाने वाले के लिए अपनी तीव्र गतियों से मुहूर्त भर ठहर जाओ ।

उपयन्तः - उप + इ + शतृ = उपयत् । बहुवचन में उपयन्तः । अर्थ निकट जाते हुए ।

'न्यक्रन्दयन् उपयन्त एनम्'

ऋ. १०.१०२.५, नि. ९.२३.

संग्राम गए सैनिक इस वृषभ को उच्च शब्द में शब्दायमान करते हैं ।

उपयाज - वेद में तीन प्रकार के मन्त्र हैं-प्रयाज, अनुयाज और उपयाज । प्रयाज मन्त्र यज्ञ के मुख्य भाग हैं, अनुयाज प्रयाज के बाद पढ़े जाते हैं और उपयाज मन्त्र प्रयाजों के सहयोगी हैं । इन मन्त्रों का उच्चारण कर सोमरस के सिवा अन्य पदार्थों की आहुति दी जाती है ।

उपयाम गृहीत - (१) प्रजातन्त्र स्वीकृत राजा, (२) विवाह द्वारा स्वीकृत पति ।

'उपयामगृहीतोऽसि'

वाज.सं. ७.४, ८,१२,१६,२०,२५,३०,३१,३५,३६, ४०, ८,१,७,८, ९,११,३३, ३४३५.३८.४१.४४.४७, ९.२,३,४, १०,३२, १९.६,८,२०.३३, २३.२,४;२६.३-१०. मै.सं. १.३.५, का.सं. ४.१,२.

उपयासत् - आवें ।

'युक्त्वा हरिभ्या उपयासदर्वाङ्'

ऋ. ५.४.४, अ. २०.१२.७.

घोड़े के रथ जोतकर सामने आवें (अर्वाङ् उपयासत्)

उपर - (१) वपन दिए हुए बीजों को शस्य सम्पत्ति देने वाला मेघ, (२) शत्रु सेना को वपन या छेदन करने वाला ।

'वृधे चिदर्य उपरस्य आयोः'

ऋ. ४.२.१८, अ. १८.३.२३.

(३) उपल-नीचे का जबड़ा

'यदुत्तराद्रावुपरश्च खादतः'

अ. ६.४९.२

(४) उप + रम् + ड = ऊपर । यूपस्य अतष्टभागः पञ्चमांशः (यूपका पञ्चमभाग जो छिला हुआन हो 'उपर' कहलाता है) ।

(५) मेघ (इसमें जल टिका हुआ रहता है)

'त्रयः सुपर्णा उपरस्य मायू'

अ. १८.४.४.

'नोपरस्याविष्कुर्यात् यदुपस्याविष्कुर्यात्
गर्तेष्ठाः स्यात् प्रमायुक्तः यजमानः ।'

यज्ञ के खम्भे का बिना छिला हुआ पांचवा भाग व्यक्त न करे अर्थात् मिट्टी में गाड़ दे । यदि कोई इस ऊपर को व्यक्त करेगा तो वह यजमान श्मशानस्थ (गर्तष्ठाः) सा होकर प्रमरण धर्मशाला (प्रमायुक्तः) हो जाता है । अर्थात् उसका आयुर्बल क्षीण हो जाता है ।

(६) गर्भाशय ।

'वृधे चिदर्य उपरस्यायोः'

ऋ. ४.२.१८, अ. १८.३.२३.

उपरतातिः - (१) मेघादि के समान शरवर्षी अस्त्रों से करने योग्य युद्ध काल ।

'विश्वां अर्य उपरताति वन्वन्'

ऋ. ७.४८.३

(२) मेघ के समान ज्ञान वर्षक ।

(३) मेघों का अवकाश-अन्तरिक्ष ।

'स्वरन्तिता उपरतातिसूर्यम्'

ऋ. १.१५१.५

उपरमयति - ध्रुवीकरोति । (स्थिर करता है) उप + रम + णिच् + तिप् = उपरमयति । किसी कार्य से उपरत या मुक्त करता है । काम धाम छोड़कर स्थिर करता है ।

उपरस्ययोनिः - (१) मेघ के उत्पन्न होने का स्थान, (२) गर्भाशय उत्पत्ति कमल

'अर्यमा मित्रो वरुणो परिज्मा
त्वचं पृञ्चन्ति उपरस्ययोनौ'

ऋ. १.७९.३,

सूर्य, वायु, जल और सर्वत्र व्यापक भूमि के अंश रूप धूलि आदि मेघ के उत्पन्न होने के स्थान में (उपास्य योनौ) जल की त्वचा को अर्थात् जल के बाह्यांश को (त्वचम्) संयुक्त करते हैं (पृञ्चन्ति) ।

उपराः - (ब.व) (१) मेघ के जल (२) मेघ ।

'कृन्तत्रादेषामुपरा उदायन्'
ऋ. १०.२७.२३, नि. २.२२.
इन मेघों के इन्द्र के द्वारा छिन्न स्थानों से (एषां कृन्तत्रात्) मेघ के जल निकले (उपरा उदायन्) ।
इन वायुओं की प्रेरणा से (एषां कृन्तत्रात्) मेघ बरसते हैं (उपरा उदायन्)
(३) यज्ञवेदी, (४) दिशा, (५) भीतर ध्यानपूर्वक रमणयोग्य योग्य आभ्यन्तरिक चित्त भूमि
'तमस्य पृक्षम् उपरासु धीमहि'
ऋ. १.१२७.५
इस महान् संसार के सेचने वाले जीवनप्रद या सुव्यवस्थित करने वाले सर्वत्र संगत, सर्वव्यापक प्रभु को (पृक्षम्) हम यज्ञ वेदियों में अग्नि के समान (उपरासु) समस्त दिशाओं में और भी भीतरी रमण करने योग्य आभ्यन्तर चित्त भूमियों में भी (उपरासु) धारण करे (धीमहि) ।

उपरिमतिः - सबसे ऊपर विराजमान मननशील प्रज्ञा
'इयमुपरिमतिः तस्यैवाक्'
वाज.सं. १३.५८, तै.सं. ४.३.२.३, ५.२.१०.४, मै.सं. २.७.१९:१०४.१२, का.सं. १६.१९, २०.९, श.ब्रा. ८.१.२.७, ४.२.

उपरिशयन - खाट पर का उपरी विछावन ।

उपरिसद् - ऊपर विराजने वाली ।
'उपरिसदो दुवस्वन्तस्तेभ्यः स्वाहा'
वाज.सं. ९.३६.

उपलः - (१) उप + रम + र= उपर = उपल । अर्थ -उपरः उपलः, मेघः भवति , मेघ के अर्थ में उपल शब्द आया है । (२) पर्वत, पर्वत भी उपलशब्दवाच्य है ।
'उपरमन्ते अस्मिन् अभ्राणि'
(इसमें बादल निकट से ही रमण करते हैं- पर्वत अथवा उपरताः आपः अस्मिन् भवन्ति (इसमें जल निकट आकर लीन हो जाते हैं । अतः मेघ उपर या उपल हुआ) ।
माधव ने 'उपरोजल वापनात्' कहा है । अर्थात् मेघ जल को गिराता है अतः उपर कहलाया । इनके अनुसार वप + अरन् = उपर है ।
(३) बालुका ।
वेद में मेघ के अर्थ में ही इस शब्द का उपयोग हुआ है ।
(४) पत्थर या पत्थर की चक्की ।

उपलप्रक्षिणी - (१) चक्की चलाने वाली, (२) पिसाई कर जीविका चलाने वाली । यह कार्य निकृष्ट समझा गया है । इसके लिए अंगिरस के पुत्र ने पश्चाताप किया है ।
उपलप्रक्षिणी नना (मेरी मां या पुत्री चक्की चलाने वाली थी ।)
(३) सवनीयानां पेष्ट्री, दासी कर्मकरी, पशुपुरोडाशादीनां सोमानां वा पेष्ट्री संचूरिका पशुओं का पुरोडाश सोमलताओं को उपल में पीसने वाला ।
(४) धानासक्तुक रम्भादीनां कारिका (सत्तू आट्टा आदि पीसने वाली धान्य भुनने वाली) । उपल + प्र + क्षिप् + णिनि + ङीष् = उपल प्रक्षिणी । अथवा उपल + प्र + क्षि + णिनि + ङीष् = उपल प्रक्षिणी ।

उपवक्ता - उपदेश करने वाला ।
'उपवक्ता जनानाम्'
ऋ. ४.९.५
'उदू अयां उपवक्तेव बाहू'
ऋ. ६.७१.५

उपबन्द्य - नमस्कार करने योग्य ।
'सायं न्यह्न उपबन्द्यो नृभिः'
अ. १८.४.९५

उपब्द - (१) वाक् प्रहार (२) तीक्ष्ण दण्डाज्ञा (३) घर घराहट का शब्द ।
'ग्रावाणोघ्नन्तु रक्षस उपब्दैः'
ऋ. ७.१०४.१७, अ. ८.४.१७.

उपवर्वृहिः - उपवर्हणं कुरु, उपधानंकुरु (तकिया बना), उपधेहि ।
'चित्तिरा उपवर्हणम्'
ऋ. १०.८५.७, अ. १४.१.६, शां.गृ.सू. १.१२.४.
(२) सिरहाना ।
'ब्रह्मोपवर्हणम्'
अ. १५.३.७.
(३) अन्न ।
'अनड्वाहमुपवर्हणम् ।'
अ. ९.५.२९

उपबर्हिणी - (१) खूब ऐश्वर्य बढ़ाने वाली सुवर्द्धिका (२) नाशकारिणी ।

'क्षां दासयोपबर्हणीं कः'

ऋ. ९.१७४.७

उपवाक - (१) तत्त्व ज्ञान, (२) नाना प्रकार की वाणी ।

'नमस्वन्त इदुपवाकमीयुः'

ऋ. १.१६४.८, अ. ९.९.८.

(३) परस्पर का वचन प्रतिवचन (४) वेदवाक्य का तत्त्व ।

उपवाक्य - स्तुति करने योग्य ।

'सनकात् प्रेद्धो नमसोपवाक्यः'

ऋ. १०.६४.१२

उपवाका - (१) गुरुओं की दीक्षा, (२) उपदेश-क्रिया ।

'बदरैरुपवाकाभिः भेषजं तोक्मभिः'

वाज.सं. २१.३०, ३१, मै.सं. ३.११.२ः १४१.५, ३.११.२, १४१.८, तै.ब्रा. २.६.११.२, २.

उपवाच्य - (१) प्रार्थना करने योग्य ।

'इदानीमह्न उपवाच्योनृभिः'

ऋ. ४.५४.१, का.सं. ३४.१८, गो.ब्रा. २.२.१२, तै.ब्रा. ३.७.१३.४,

(२) समीप बैठकर अनुकरण द्वारा बांचने योगा ।

'अहन् इन्द्रो यथा विदे
शीर्ष्णा शीर्ष्णोपवाच्यः'

ऋ. १.१३२.२

जैसे सूर्य प्रत्यक्ष ज्ञान कराने के लिए (विदे) अन्धकार का नाश करता है (अहन्) और प्रत्येक शिर या मुख द्वारा स्तुति योग्य होता है उसी प्रकार ज्ञानोपदेश करने के लिए अज्ञान नाशक गुरु अज्ञान का नाश करता और ज्ञान का उपदेश करता और वह प्रत्येक शिर से समीप बैठकर अनुकरण द्वारा बांचने योग्य होता है ।

उपवासन - (१) रहन सहन, (२) वस्त्र ।

'यावतीः कृत्या उपवासने'

अ. १४.२.४९

'यद्वापवासने कृतम्'

अ. १४.२.६५

उपनाह - अति समीप होकर बांधकर वश करने वाला ।

'देवानां भाग उपनाह एषः'

अ. ९.४.५

उपब्दिः - (१) शब्द, (२) हितकारीशब्द ।

'न योः उपब्दिः अश्व्यः
श्रृण्वे रथस्य कञ्चन'

ऋ. १.७४.७, शां.श्रौ.सू. १४.५२.५.

(३) उपदेशमयी वाणी ।

'मरुतां श्रृण्व आयतामुपब्दिः'

ऋ. १.१६९.७

उपविष्ट - आसन वृत्ति से नीति पूर्वक विराज़ने वाला ।

'उपविष्टाय स्वाहा'

वाज.सं. २२.७, मै.सं. ३.१२.३ः १६०.१४.

उपवीतपृष्ठः - (१) सुन्दर पीठ वाला, ।

'देवानामांशा उपवीत पृष्ठः'

ऋ. १.१६२.७, वाज.सं. २५.३०, तै.सं. ४.६.८.३, मै.सं. ३.१६.१, १८२.४, का.सं.(अश्व.) ६.४.

सुन्दर पीठ वाले अश्व देवताओं की आशा पूर्ण करने यज्ञ में आवें ।

(३) सत्य ज्ञान की गहराई तक पहुंचने वाला विद्वान् -दया. ।

(४) जिसकी पीठ पर यज्ञोपवीत हो (५) उत्तम वस्त्रादि से यज्ञोपवीत के समान दुपट्टा धारण करने वाला (६) हृष्ट पुष्ट पीठ वाला द्विज, आचार्य ।

उपवती - यज्ञोपवीतधारण करने वाला बाल ब्रह्मचारी ।

'हरिकेशायोपवीतिने'

वाज.सं. १६.१७

उपशाक - (१) शक्तिशाली प्रयत्न और सहायक, (२) सामर्थ्य पूर्ण कर्म ।

'एकश्चरन् उपशाकेभिरिन्द्र'

ऋ. १.३३.४

हे ऐश्वर्यवान् , शक्तिशाली प्रयत्न और सहायकों सहित या समार्थ्य पूर्ण कर्मों से अकेला विचरता हुआ भी तू ।

उपश्रति - (१) सूक्ष्म श्रवणशक्ति ।

'सुश्रुतिश्च मोपश्रुतिश्च मा'

अ. १६.२.५.

(२) उपयुक्त श्रवण ।

'गिरामपुश्रुतिं चर'

ऋ. १.१०.३, साम. २.६९६, वाज.सं. ८.३४, श.ब्रा. ४.५.३.१०.

वाणियों का उपयुक्त श्रवणकर ।

उपश्रोता - निकट होकर ध्यान से सुनने वाला ।

'उपश्रोता म ईवतोवचांसि'

ऋ. ७.२३.१, अ. २०.१२.१, साम. १.३३०.

उपश्वस् - स्थिर जीवन-यात्रा ।

'उपश्वसे द्रुवये सीदता यूयम्'

अ. ११.१.१२.

उपश्वासय - श्वास दे, प्राणितकर, जानफूंक दे ।

'उपश्वासय पृथिवी मुत द्याम्'

ऋ. ६.४७.२९, अ. ६.१२६.१. वाज.सं. २९.५५ तै.सं. ४.६.६.६., मै.सं. ३.१६.३, १८७.८, का.सं.(अश्व.) ६.१, आश्व.गृ.सू. ३.१२.१३. नि. ९.१३.

हे दुन्दुभि! अपनी ध्वनि से तू पृथ्वी और द्युलोक को प्राणित कर दे ।

उपशिक्षा - (१) समीपस्थ विद्यार्थियों की शिक्षा, (२) अतिसूक्ष्म विषयों की इच्छा ।

'उपशिक्षाया अभिप्रश्निनम्'

वाज.सं. ३०.१०, तै.ब्रा. ३.४.१.६.

उपस् - (उपसि) उपस्थः, आत्मनः उपस्थानम् -अन्तरिक्ष लोकः मण्डलं वा (गोद, अन्तरिक्ष लोक या मण्डल)

उपस्थ = उपस्

'पत्तो जगार प्रत्यञ्चमत्ति
शीर्ष्णा शिरः प्रतिदधौ वरूथम्
आसीन ऊर्ध्वामुपसि क्षिणाति
न्युङ्ङुत्ताना मन्वेति भूमिन्'

ऋ. १०.२७.१३.

आदित्य रश्मिरूपी चरणों से या पादस्थानीय भूमि से को ग्रहण करता या निगलता है (पत्तःजगार), उस प्रतिकूल जाते हुए जल को ग्रहम कर स्वयं पी जाता है (प्रत्यञ्चम अत्ति) अर्थात् अपने मन्डल में स्थापित करता है । तत्पश्चात् उस ताप-निवारक वृष्टिजल को या उत्तम जल को (रूथम् शिरस्थानीय रश्मिजल से (शीर्ष्णा) समस्त संसार के सिरपर (शिरः) बरसाता है या रखता है (प्रतिदधौ) तथा अपने मण्डल में बैठा (उपसि आसीनः) ऊपर अन्तरिक्ष लोक में अवस्थित नीचे की ओर सब विस्तृत भूमि के समीप आता है तब वृष्टि को प्रच्युत करता या दीप्ति को संसार में आकीर्ण करता है (ऊर्द्धवाम् क्षिणाति) और नीचे जाता हुआ (न्यङ्) इस विस्तृत भूमि को (उतानाम्) आच्छादित करता है (अन्वेति) जिस से सर्वत्र प्रकाश फैल जाय ।

उपसत्ता - (१) बैठने वाला, (२) गृहों को बरसाने वाला

'मा ते रिषन् उपसत्तारो गृहाणाम्'

अ. ३.१२.६.

(३) समीप बैठने वाला उपासक

(४) अमात्य, (५) शिष्य, (६) मित्र

'माचरिषदुपसत्तातेऽग्ने'

वाज.सं. २७.२, तै.सं. ४.१.७, मै.सं. २.१२.५, १४८.१४, का.सं. १८.१६.

(७) आश्रय लेने वाला प्रजा

'उपासत्ता वर्द्धतां ते अनिष्टुतः'

अ. ७.८२.३, वाज.सं. २७.४, तै.सं. ४.१.७.२, मै.सं. २.१२.५,१४९.१,१८.१६.

उपसद् - (१) उपजीवी, (२) भृत्य, (३) दरबारी, (४) शरण में आने वाला ।

'विश्वानि भूतानि उपसदः'

अ. १५. ३.१०

(५) निकट में स्थित रखा हुआ ।

(६) वेदी जिसमें हवन किया जाता है ।

'इमामुप सदं वनेः'

ऋ. २.६.१, ऐ.ब्रा. १.२५.७.

(७) समीप समीप स्थित होकर विचार करने वाली उपसमिति (८) निकटतम मित्र ।

'प्रकामोद्यायोसदम्'

वाज.सं. ३०.९, तै.ब्रा. ३.४.१.६.

(९) आश्रित जन, समीप बैठने वाला ।

'अक्षितास्त उपसदोऽक्षिताः सन्त राशयः'

अ. ६.१४२.३

(१०) वज्रा वा उपसद ।

श.ब्रा. १०.२.४.२

'जितयो वै नामैता यदुपसदः'

ऐ.आ. १.२५.

'इषुं वा एते देवाः समस्कुर्वत
यदुपसदः तस्य अग्निरनी मासीत्'

ए.आ. १.२४

उपसद् नामक दृष्टि वज्र ।

(११) समीप विराजने वाला अधिकारी पुरुष ।

'रूपमुपसदामेतत्'
वाज.सं. १९.१४
'उपसदः पर्शवः'
अ.९ .७.६

उपसद्य - (१) प्राप्त करने योग्य, (२) शरण योग्य
'उपसद्यो नमस्यो भवेह ।'
अ. ३.४.१
(३) अपनी दुख-कथा कहने के लिए प्राप्त करने. योग्य ।
'चर्कृत्य ईड्यो वन्दयश्चोयसद्यः'
अ. ६.९८.१
'भरेषु हव्यो नमसोपसद्य'
ऋ. २.२३.१३

उपसर्ग - (१) उपगृह्य सृजन्ति-आख्यातस्य अर्थ विशेषं सृजन्ति (जो आख्यात के अर्थ में विशेषतः उत्पन्न करता है वह उपसर्ग है)
(२) शाकटायन के मत से उपसर्ग वह है जो पद से अलग किए जाने पर निरर्थक हो जाता है और पद से युक्त हो जाने पर अर्थ में विशेषत पैदा करता है (ननिर्वदद्धा उपसर्गा अर्थान् निराहुः) ।
(३) गांर्ग्य के मत से उपसर्ग पदों का अर्थ बहुत प्रकार का होता है चाहे वे उपसर्ग नाम और आख्यात से अलग ही क्यों न हो (उच्चावचाः पदार्थाः भवन्ति इति गार्ग्यः) ।
पद से युक्त और अयुक्त रहने पर भी उपसर्ग का अर्थ होता है । वेदों में विमुक्त उपसर्गों का प्रयोग प्रचुर मात्रा में है ।

उपसर्पत् - सरकता हुआ ।
'नीचीनस्योपसर्पतः'
अ. ७.५६.५

उपस्तरण - (१) आच्छादक आवरण ।
'उपस्तरणं चम्वोर्नभस्मयम्'
ऋ. ९.६९.५
(२) चटाई या खाट आदि विछावन ।
'यदुपस्तृणन्ति बर्हिरिव तत्'
अ. ९.६.८.

उपस्थसत् - सबसे समीपतम हृदय देश में विराजमान आत्मा ।
'प्रेष्ठःश्रेष्ठः उपस्थ सत्'
ऋ. १०.१५६.५, सा. २.८८१.

उपस्थावरा - (१) उपवन में लगे छोटे-छोटे स्थावर वृक्षों की वाटिका ।
(२) उपस्थित तुच्छ कार्यं ।
'उपस्थावराभ्यो दाशम्'
वाज.सं. ३०.१६

उपसि - निकट, समीप ।
'पितुर्नपुत्र उपसि प्रेष्ठः'
ऋ. ५.४३.७, मै.सं. ४.९.३, १२३.१४, तै.आ. ४.५.२.
'आसीन ऊर्ध्वामुपसि क्षिणाति'
ऋ. १०.२७.१३, नि. ६.६

उपसिष्मियाणा - ईषत् स्मित करती हुई ।
'अप्सरा जारम् उपसिष्मियाणा'
ऋ. १०.१२३.५.

उपस्तिः - (१) उपस्थित ।
'उपस्तीन् पर्ण मह्यम् त्वं'
अ. ३.५.६,७.
(२) वश में रहने वाला, (३) समीपस्थ ।
'उपस्तिरस्तु सोऽस्माकम्'
ऋ. १०.९७.२३, अ. ६.१५.१, वाज.सं. १२.१०१.
(३) संघ बनाकर समीप रहने वाला ।
(४) उपासक ।
'तव वृक्षा उपस्तयः'
ऋ. १०.९७.२३, अ. ६.१५.१, वाज.सं. १२.१०१.

उपस्पिज - उपस्पिज मिति स्पर्धा ।
'युक्तं वचन मिति सायणः'
(१) स्पर्धायुक्त वचन ।
'नोपस्पिजं वः पितरो वदामि'
ऋ. १०.८८.१८

उपस्तुत - उपगतः स्तौति (उपगत हो स्तुति करता है । (१) उपगत स्तुति करने वाला विद्वान् ।
'यं वृषा यमुपस्तुतः'
ऋ. १.३६.१०
जिसको वर्षाने वाला और जिसे स्तुति करने वाला विद्वान् ।
(२) निकट पहुंचा हुआ या निकट पहुंचकर, साक्षात्, कर विनाश न होने वाले नित्य पदार्थों में ।
'उपस्तुता उपमं नाधमानाः
अमर्त्येषु श्रव इच्छमानाः'
ऋ. १.११०.५

विनाश न होने वाले नित्य पदार्थों में (अमर्त्येषु) श्रवण, गुरूपदेश अर्थात् सत्यज्ञान को प्राप्त करने की इच्छा करते हुए उसका प्रति समीप तक पहुंचकर (उपस्तुता) उस साक्षात् कर विद्वान् पुरुष उन अविनाशी पदार्थों के सदृश उपमान को दृष्टान्त रूप में चाहते हुए (नाधमानाः) अति तीक्ष्ण ज्ञान से ज्ञान प्राप्त करते हैं ।

उपस्तुता – (१) स्तुति आदर करने योग्य, (२) सम्मति ग्रहण करने योग्य परमेश्वर और आचार्य माता पिता, प्राण और अपान

'यज्ञे यज्ञे उपस्तुता'

ऋ. १.१३६.१

उपस्तुति – (१) उपमा द्वारा की हुई स्तुति ।

'उपस्तुति र्मधोनां प्रत्वावतु'

ऋ. ८.१.१६

(२) प्रशंसा ।

'उपस्तुतिं नमस उदयतिंच'

ऋ. १.१९०.३

(३) स्तोत्र ।

'तवाहमद्यमघवन् उपस्तुतौ'

ऋ. १०.१६७.३, नि. ११.१२.

हे भगवन् । आज मैं तेरे स्तोत्र में प्रवृत्त हूं । हे विद्युत । आज मैं तेरी स्तुति में वर्त्तमान हूं– ज.दे.श .

(४) समीप बैठकर तथा राज्य के हित के लिए यथार्थ बातों की चर्चा ।

'उपस्तुतित रौचथ्य मुरुष्येत्'

ऋ. १.१५८.४.

उपस्थम् – (अ.) (१) निकट ।

'आ वामुपस्थम द्रुहा
देवाःसीदन्तु यज्ञियाः'

ऋ. २.४१.२१, मै.सं. ३.८.७:१०५.७ कौ.ब्रा. ९.४. नि. ९.३७.

तुम्हारे निकट यज्ञार्ह देव उपस्थित हो ।

(२) गोद ।

'मातेव पुत्रं विभृतामुपस्थे'

ऋ. ६.७५.४, वाज.सं. २९.४१, तै.सं. ४.६.६.२. मै.सं. ३.१६.३, १८५.१६, का.सं.(अश्व.) ६.१, नि. ९.४०.

जिस प्रकार माता पुत्र को गोद में धारण करती है, उसी प्रकार धनुष की कोटियां धनुष खींचने वाले की रक्षा करे । (३) स्थान ।

'जिह्वानामूर्ध्वः स्वयशा उपस्थे'

ऋ. १.९५.५, मै.सं. ४.१४.१८: २२७.४, तै.ब्रा. २.८.७.४, आप.श्रौ.सू. १६.७.४, नि. ८.१५.

उपस्थसत् – सदा समीप रहने वाला –अग्नि ।

'प्रेष्ठः श्रेष्ठ उपस्थसत्'

ऋ. १०.१५६.५, साम. २.८८१

उपस्पृक् – (१) पास पहुंचने वाला ।

'अहिंसन्ती रूप स्पृशः'

ऋ. १०.२२.१३

(२) छूनेवाली ।

'ईषमाणा उपस्पृशः'

अ. २०.१२७.२, शां.श्रौ.सू. १२.१४.१.२.

उपसेक्ता – (१) जल का या सुखों का सेचन करने वाला, (२) वीर्य सेचक पुरुष ।

'सर्वेभ्यो लोकेभ्यः उपसेक्तारम्'

वाज.सं. ३०.१२, तै.ब्रा. ३.४.१.८.

उपसेचनः – (१) सिञ्चन करने वाला, (२) आनन्द की वर्षा बरसाने वाला ।

'त्रय कोशास ज्यसेचनासः'

ऋ. ७.१०१.४

(३) ओदन (भात) आदि में मिलाए जाने वाला । व्जञ्जन द्रव्य

'नाल्प इतिब्रूयात् नानुपसेचन इति'

अ. ११.३.२४

(४) गूंधने का जल ।

'कुल्योपसेचनम्'

अ. ११.३.१३

उपसेचनी – अभिषेक क्रिया ।

'वेति त्वामुपसेचनी वि वो मद'

ऋ. १०.२१.२

उपसदिम – उपसीदेम, प्राप्नुयाम (प्राप्त करें), उपगच्छेम । उप + सद् के लिट् उत्तम पुरुष एक वचन का रूप । 'छन्दसि लुङ् लङ् लिट् से वर्तमान अर्थ में लिट् का प्रयोग ।

'देवानां भद्रा सुमर्तिर्ऋजूयताम्
देवानां राति रभिनो निवर्ततताम्
देवानां सख्यमुपसेदिमा वयम्
देवा न आयुःप्रतिरन्तु जीवसे ।'

ऋ. १.८९.२, वाज.सं. २५.१५, मै.सं. ४.१४.२, २१६.६, नि. १२.३९.

ऋतुगानी देवों या रश्मियों की (ऋजूयताम् देवानाम्) कल्याण कारिणी सुन्दर मति (भद्रासुमतिः) हमारे प्रति हो, देवताओं का दान हमारे प्रति आभिमुख्य से नियम पूर्वक हुआ करे (अभिनिवर्तताम्) । हम उन देवों की मित्रता प्राप्त करें (वयं देवानां सख्यम् उपसेदिम) और हमारी आयु को चिरजीवन के लिए (जीवसे) वे देव गण प्रवर्द्धित करें (ते देवाः प्रतिरन्तु) ।
दुर्गने रश्मियों को ही देव माना है जो बहुत होने के कारण विश्वेदेवाः कही जाती हैं । यह स्तुति विश्वदेवों के लिए ही है ।

'ओमासश्चर्षणीधृतः
विश्वेदेवास आगत
दाश्वांसो दाशुषः सुतम्'

ऋ. १.३.७, वाज.सं. ७.३३, ३३.४७, तै.सं. १.४.१६.१, मै.सं. १.३.१८.३७.२, का.सं. ४.७. श.ब्रा. ४.३.१.२७, ऐ.आ. १.१.४.१३, नि. १२.४०.

उपसेदुष् - प्राप्त करने वाला, ।
'तं भागमुपसेदुषे'
ऋ. ८.४७.१६

उपसेदु - उप + सद् के लिट् प्र.पु.ब.व. का रूप । अर्थ है-निकट गईं ।
'वयः सुपर्णा उपसेदुरिन्द्रम्'
ऋ. १०.७३.११, साम. १.३१९, का.सं. ९.१९, ऐ.ब्रा. ३.१९.१२, तै.ब्रा. २.५.८.३, तै.आ. ४.४२.३, तै.आ.(आंध्र). १०.७३, आप.श्रौ.सू. ६.२२.१, नि. ४.३.
चलने वाली सूर्य की रश्मियां सूर्य के निकट गईं ।

उपस्थेयाम - (१) सेवा या उपस्थान करते हैं - (२) प्राप्त करें ।
'ऋष्वात इन्द्र स्थविरस्यबाहू
उपस्थेयाम शरणबृहन्ता'
ऋ. ६.४७.८, तै.ब्रा. २.७.१३.४, नि. ७.६.
हम तुम हमान् या वृद्ध के (ते स्थविरस्य) दर्शनीय, बृहत् एवं रक्षक हाथों की (ऋष्वा बृहन्ता शरणा बाहू) सेवा या उपस्थान करते हैं (उपस्थेयाम) ।
हे राजन् ! ज्ञान वयोवृद्ध आप को (स्थविरस्य ते) दर्शनीय आश्रय देने वाली एवं लम्बायमान भुजाओं को हम प्राप्त करें (उपस्थेयाम) ।

उपस्तोषाम - निकट जाकर स्तुति करते या गाते हैं ।
'नराशंसस्य महिमानमेषाम्
'उपस्तोषाम यजतस्ययज्ञैः'
ऋ. ७.२.२, वाज.सं. २९.२७, मै.सं. ४.१३.३, २०१.१२, का.सं. ३७.४, तै.ब्रा. ३.६.३.१, नि. ८.७.
उन देवताओं में हविया स्तोत्रों से (एषाम् यज्ञैः) यजनीय अग्निका (यजतस्य नराशंसस्य) महत्व (महिमानम्) हम निकट जाकर गाते हैं (उपस्तोषाम) ।

उपहत्नु - (१) शत्रु का नाशक । रुद्र का विशेषण
'मृगं न भीममुपहत्नुमुग्रम्'
ऋ. २.३३.११, तै.सं. ४.५.१०.४, नृसिंह पू.ता.उप. २.४.
(२) दण्डकर्ता ।

उपहव्य - एक सोमयाग ।
'उपहव्यं विषूवन्तम्'
अ. ११.७.१५

उपहस्वा - उपहास करने वाला, खिल्ली उड़ाने वाला । 'उपहस्वन्' का प्रथमा एकवचन में रूप ।
'मोपहस्वान आ दभन्'
ऋ. ८.४५.२३, अ. २०.२२.२, साम. २.८२.

उपह्वये - बुलाता हूँ, आह्वान करता हूँ ।
'उपह्वये सुदुघां धेनुमेताम्'
ऋ. १.१६४.२६, अ. ७.७३.७,९ .१०.४, ऐ.ब्रा. १.२२.२, आश्व.श्रौ.सू. ४.७.४, नि. ११.४३.
मैं अच्छी तरह से दुही जाने वाली धेनु या माध्यमिक वाक् को बुलाता हूँ ।

उपह्वर - (१) पर्वतों के समीप गुप्त एकान्त स्थान, ।
'उपह्वरे गिरीणाम्'
ऋ. ८.६.२८, साम. १.१४३, वाज.सं. २६.१५
(२) समीप, (३) सुरक्षित स्थान (४) खजाना ।
'यत्सीम उपह्वरे विदत्'
अ. २०.२२.६
(५) स्तन-सा. (६) समीप -दया. ।
'यत्सीम् उपह्वरे विदत्'
ऋ. ८.६९.६, अ. २०.२२.६,९२.३, साम. २.८४१, तै.ब्रा. २.७.१४.४.
जब दूध (यत्) स्तन में (उपह्वरे) सर्वतोभाव से (सीम्) प्राप्त करता है (विदत्) ।

अथवा, जिसे सदा (यत् सीम्) समीप में (उपह्वरे) प्राप्त करता है या जानता है (विदत्)
(६) कुटिलता युक्त व्यवहार - दया. ।
(७) आकाश, (८) आश्रम योग्य भूप्रदेश ।
'उपह्वरे यदुपरा अपिन्वन्
मध्वर्णसो नद्यश्चतस्रः'
ऋ. १.६२.६
कि आकाश में ही चारों मेघ युक्त दिशाएं मधुर जल से युक्त होकर तृप्त हो सींचती हैं ।
अथवा, इस आश्रय योग्य भू प्रदेश पर चारों दिशाओं की प्रजाएं, मेघ बरसने पर मधुर जल से भरी नदियों के समान सभी को तृप्त करती हैं
(९) कुटिलता से जाने योग्य आकाश मार्ग ।
'उपह्वरेषु यदचिध्वं ययिम्
वय इव मरुतः केनचितपथा'
ऋ. १.८७.२, तै.सम. ४.३.१३.७.
वायुगण कुटिलता से जाने योग्य आकाश मार्गों में (उपह्वरेषु) जाते हुए मेघ को किसी भी मार्ग से हटाकार संचित कर देते हैं ।

उपहूत - (१) अनुगृहीत ।
'उपहूतोऽहं सुमेधा वर्चस्वी'
अ. १९.४०.२.
(२) निमन्त्रित ।
'स उपहूतः पृथिव्याम्'
अ. ९.६.५५.

उप्त - लगाया हुआ, रोया हुआ, बोया गया ।
'इस उप्ता मृत्युपाशा'
अ. ८.८.१६

उब्ज - (१) उब्ज आर्जवे (तुदादि)। अर्थ-वश करना, अधीन कर विनीत करना, दबाना ।
'तेन शत्रून अभि सर्वान् न्युब्ज'
अ. ८.८.६
आजकल 'उब्जना' से ही उजबुजाना हो गया है । (२) ढंकना to cover
'वरुणेन समुब्जिताम्'
अ. ९.३.१८

उब्जतम् - झुकाओ गर्व चूर करो ।
'इन्द्रसोमा तपतं रक्ष उब्जतम्'
ऋ. ७.१०४.१,
(२) झुका दे, मूलोच्छेदकर दे ।
'इन्द्राग्नी रक्षे उब्जतम्'
ऋ. १.२१.५
इन्द्र और अग्नि दुष्ट राक्षसों को झुका दे मूलोच्छेद कर दे या क्रूर स्वभाव छुड़ा कर सरल बना दे ।

उब्जन् - (१) दुष्टों का दमन न करता हुआ
'उब्जन्तो यन्तु ओजसा'
अ. ८.८.१३
(२) फेंकता हुआ ।
'उब्जन अर्णांसि जर्हषाणो अन्धसा'
ऋ. १.५२.२
जलों को फेंकता हुआ और प्रचुर अन्न सामग्री से जगत् को हर्षित करता हुआ (जर्हृषाणः)
अथवा इन्द्र जलों को फेंकता हुआ और अन्न से प्रसन्न होता हुआ ।

उब्ध - उन्दकः (सब ओर से मिला हुआ,)
(२) ज्ञान से पूर्ण (३) अन्यों का अज्ञाननष्ट करने वाला ।
'ते गव्यता मनसा दृध्रमुब्धम्'
ऋ. ४.१.१५

उपाक - समीप ।
'सिन्धोरूर्मा उपाकआ'
ऋ. १.२७.६, साम. २.८४८
समुद्र के तरंगों के उठने पर समीप ही ।
(२) पार्श्ववर्ती, समीपस्थ ।
'श्रियक्रष्व उपाकयोः निशिप्री हरिवान्
दधे हस्तयोःवज्रमायसम्'
ऋ. १.८१.४, साम. १.४२३.
हाथों में लोहे के बने खड्ग के समान ही पार्श्ववर्ती स्थित सेनाओं में भी वेग से जाने वाले बल वीर्य को धारण कराये ।

उपाकृत - योग-साधनों से संस्कृत ।
'उपाकृतं शशमानं यदस्थात्'
अ. २.३४.२, तै.सं. ३.१.४.३, का.सं. ३०.८,

उपाके - (द्वि.व.) (१) एक दूसरे के समीप रहने वाले -उषसा-रातदिन (२) स्त्री पुरुष ।
'आभन्दमाने उषसा उपाके'
ऋ. ३.४.६
(३) उपक्रान्ते, उपक्रम्य इतरे तरं क्रान्ते, प्रशस्ये (एक दूसरे से निकट आक्रान्त हुए लिपटे हुए सेवित किए हुए) ।
'आ सुष्वयन्ती यजते उपाके

उषासानक्ता सदतां नियोनौ
दिव्ये योषणे बृहती सुरुक्मे
आधेश्रियं शुक्रपिशंदधानो'

ऋ. १०.११०.६, अ. ५.१२.६, २७.८, वाज.सं. २९.३१, मै.सं. ४.१३.३, २०२.५, का.सं. १६.२०, तै.ब्रा. ३.६.३.३, नि. ८.११.

सुन्दर रीति से चलने वाली या परस्पर एक दूसरे का वैभव देख विस्मय करती हुई या लोगों को अच्छी तरह से सुलाती हुई (सुष्वपन्ती) यज्ञ की सम्पादयित्रियां या पूज्य (यजते), एक दूसरे के निकट जा परस्पर क्रान्त या संलग्न (उपाके), द्युलोक से उत्पन्न या द्युति-युक्त (दिव्ये), परस्पर संमिश्र (योषणे), गणों से महती (वृहती), सुन्दर शोभायुक्त सुरुक्मे) उषा तथा रात्रि रूपी देवता (उषासानक्ते), शुक्लरूपिणी शोभा स्थापित करती हुई, (शुक्रपिशं श्रियं अधिदधाने) इस यज्ञ स्थान में या सृष्टि में (योनौ) नियमपूर्वक नित्य रहे (नि आसदताम्) ।

अन्य अर्थ-परमात्मा यज्ञ कर्त्ताओं को आशीर्वाद देता है-हे यज्ञकर्त्ता मनुष्यो । यज्ञ करने के योग्य में प्रातः और सायं (यजते उषासानक्ता) सेवित किये हुए (उपाके) तुम्हारे घर में (योनौ) मुस्कुराते हुए या शयनावस्था की तरह सौमनस्य स्थापित करती हुई (सुष्वयन्ती) सब व्यवहारों के साधन, शुभ कर्मों को संयुक्त करने वाले (दिव्येयोषणे) महान् सुख देने वाले (वृहती सुरुक्मे) शुभवर्गा लक्ष्मी को धारण करते हुए (शुक्रपिशं श्रिय में अधिदधाने) निरन्तर प्राप्त हों (न्यासीदताम्) ।

उपाकचक्षाः - (१) अति समीप अन्तः शत्रु के भीतर दृश्य, (२) गुरु द्वारा समीप रहकर उपदेश करने योग्य ।

'अभि व्रजं न तत्निये सूर उपाकचक्षसम्'

ऋ. ८.६.२५

उपानस - अनस अर्थात् यज्ञस्थान या देह ।

'निरक्षात् निरुपानसात्'

अ. २.१४.२

उपातसत् - विनष्ट ।

'कृधुस्थूलमुपातसत्'

अ. २०.१३६.१, वाज.सं. २३.२८, शा.श्रौ.सू. १२.२४.२.२.

उपायन - निकट आगमन ।

'उपायन उषसांगोमतीनाम्'

ऋ. २.२८.२

उपानह् - जूता । जूता पैर को चारों तरफ से नद्ध कर देता है ।

'उपानहिपादम्'

अ. २०.१३३.४, आ.श्रौ.सू. ८.३.१९.

उपावसु - (१) धनप्रद, धन देने वाला ।

'आरे अधामुपावसुम्'

ऋ. ६.५६.६

(२) उपवसुः सर्वत्र सदा समीप बसने वाला ।

'देवानां सुम्न इषयन् उपावसुः'

ऋ. ९.८४.३

उपावसृज - (१) उप + अवसृज । अर्थ निकट आकर दे -सा. (२) बना ।

'उपावसृज त्मन्या समञ्जन्
देवानां पाथ ऋतुथा हवींषि'

ऋ. १०.११०.१०

हे यूप या अग्नि या गार्हपत्य अग्नि, (वनस्पते), आत्मा से या जीव से या स्वयं (त्मनया) अन्न या आज्य आदि हवि, (हवींषि) ऋतु के अनुसार (ऋतुथा) देवताओं के निकट आकर दो (देवानाम् उपावसृज) ।

अन्य अर्थ-हे अग्नि ! तू अपने आपको स्वयं अभिव्यक्त कर (त्मनया समञ्जन) देवजनों के अन्न तथा मिष्टान्न आदि हवियों को बना (देवानां पाथ हवींषि ऋतुथा उपावसृज) ।

उपावह्रियमाण - सन्निकट स्थापित ।

'अथर्वोपावह्रियमाणः'

वाज.सं. ८.५६

उपावीः - समीप रहकर रक्षा करने वाला ।

'उपावीरसि उपदेवान्दैवीर्विशः'

वाज.सं. ६.७, का.सं. ३.४,२६,७, श.ब्रा. ३.७.३.९, का.श्रौ.सू. ६.३.१९.

उपावृत् - (१) समीप आगमन । उप + आवृत् । (२) कर्मबन्धन, (३) समीप देश प्राप्ति का उपाय, ।

'सहस्रं त उपावृतः'

अ. ६.७७.३, वाज.सं. १२.८, तै.सं. ४.२.१.३, मै.सं. १.७.१, १०९.१४, का.सं. १६.८, कौ.सू. ७२.१४

उपांशु - गायत्रबल से उत्पन्न उपांशु नामक जय-प्राण ।

'गायत्रादुपांशुः'

वाज.सं. १३.५४, तै.सं. ४.३.२.१, मै.सं. २.७.१९, १०४.१, का.सं. १६. १९, श.ब्रा. ८.१.१.५.

उपाहृत - उप + आ + हृ + क्त । उपहार रूप में दिया गया ।

'उपाहृतमनुबुद्धम् निखातं'

अ. १०.१.१९

उपेति - उपायन, उपहार, भेंट ।

'कात उपेतिः मनसो वराय'

ऋ. १.७६.१, का.सं. ३९.१४, आश्व.श्रौ.सू. ४.१३.७.

हे प्रभो या विद्वान् , मन या संकल्प विकल्प करने वाले चित्त और ज्ञान को वरण करने या श्रेष्ठ बनाने के लिए (मनसःवरायः) तुझे क्या उपायन उचित है ? (उपेतिः)

उपेष् - उप + इष् + क्विप् = उपेष् । अर्थ-पकड़, आक्रमण

'स्वंय सा रिषध्यै या न उपेषे अत्रैः'

ऋ. १.१२९.८.

वह हमें हिंसित करने के लिए या जो हमें पकड़ने या आक्रमण करने के लिए (उपेषे)

उपेषन् - भोग के लिए निकट आने की इच्छा करता हुआ ।

'उपेषन्तम् उदुम्बलम्'

अ. ८.६.१७

उपोत्तम - उत्तम सूक्तों के समीप साधन विषयक सूक्त ।

'उपोत्तमेभ्यः स्वाहा'

अ. १९.२२.११

उपोदय - नदियों की बाढ़ ।

'यः सिन्धूनाम् उपोदये सप्तस्वसा समध्यमः ।'

ऋ. ८.४१.२, नि. १०.५.

जो वरुण नदियों में बाढ़ आने पर सात बहन वाले हो जाते हैं और जिनकी स्तुति सात स्वरों में मध्यम स्वर से की जाती है ।

उपोदर - गर्भाशय

'ओदिदं म उपोदरे'

ऋ. ८.९१.५, सै.ब्रा. १.२२१.

उपोय - (१) अति निकट (२) भली भाँति -दया ।

'उपोय मे परामृश'

ऋ. १.१२६.७, नि. ३.२०.

हे पति देव । मेरे अति निकट आ मेरे अंगों को छू-सा. । हे पति देव, मेरे साथ भलीप्रकार परामर्श की जिए -दया. ।

उपोह - (१) धान्य को खेत में प्राप्त कराने वाली शक्ति, (२) राष्ट्र को फटक फटक कर साफ करना ।

'उपोहश्च समूहश्च'

अ. ३.२४.७

उभ् (उम्भ) - उभ् उम्भ पूरणे (तुदादिः) । समाप्त करना ।

'यमदूता अपोम्भत'

अ. ८.८.११

उभयं - दोनों ।

'शृण्वेवीर उग्रमुग्रं दमायन्
अन्यमन्यमतिनेनीयमानः
एधमानद्विडुभयस्य राजा
चोष्कूयते विश इन्द्रो मनुष्यान्'

ऋ. ६.४७.१६

यह इन्द्र बलवान् है, ऐसा सुनता हूँ । (इन्द्रःवीरःशृण्वे) क्योंकि वह शत्रु के प्रति उग्र (उग्रम् उग्रम्) शत्रुओं का दमन करने वाला (दमायन्) परस्पर व्यवहार से स्तोताओं को अभीष्ट सिद्धि की ओर पुनः पहुँचाने वाला (अन्यम् अन्यम् अतिनेनीय मानः) दीप्यमान या यज्ञ न ही करने वालों या सोमाभिषवण नहीं करने वालों का द्वेष्टा (एधमानद्विट) है । वह दिव्य और पार्थिव दोनों प्रकारों के मानव धनों का प्रदाता है (उभयस्य राजा) तथा यज्ञविमुख मनुष्यो को (विशः) दण्ड देता है । (चोष्कूयते) और यज्ञशील मनुष्यो को मनुष्यान् पुण्य लोक में स्थान देता है ।

उभयङ्कर - (१) अनुग्रह या दण्ड देने वाला, (२) दोनों लोकों मे कल्याण करने वाला इन्द्र या परमेश्वर ।

'विद्वेषणं संवननो भयङ्करम्'

ऋ. ८.१.२, अ. २०.८५.२, साम. २.७११.

(३) निग्रह, अनुग्रह दण्ड और कृपा करने में समर्थ इन्द्र ।

उभयजन्म - दोनों जन्म, (२) अतीत आगामी और वर्तमान-ये तीन जन्म और आचार्य प्रदत्त द्विजन्मता ये चारों मिलकर एक जन्म है और मुक्त होने के पश्चात् पुनः जन्म लेना द्वितीय जन्म है ।

'यस्तातृषाण उभयाय जन्मने
मयःकृणोषि प्रयआचसूरये'

ऋ. १.३१.७

उभयतःशीर्ष्णी - चेतना जो ज्ञान शीर्ष्णी है, जैसे गौ प्रसव काल में बच्चा के आधा बाहर आने पर उभयतः शीर्ष्णी दोनों तरफ वाली हो जाती है । चेतना का एक अंश बाहर पदार्थ का ज्ञान करता है । और दूसरा अंश भीतर मनन करता है ।

'अदितिरसुभयतः शीर्ष्णी'

वाज.सं. ४.१९, तै.सं. १.२.४.२, ६.१.७.५, मै.सं. १.२.४:१३.४, ३.७.५, ८१.१९, का.सं. २.५, २४.३, श.ब्रा. ३.२.४.१६.

उभयद्युः - (१) दोनों दिनों के अन्तर पर आने वाला ज्वर ।

'यो अन्येद्युः उभयद्युः अभ्येतिः'

अ. १.२५.४, ७.११६.२.

(२) हर दूसरे दिन

'तस्मान्मनुष्येभ्य उभयद्युः उपहरन्ति'

अ. ८.१० (३) ८.

उभयस्यराजा - इन्द्र का विशेषण । वह दिव्य या पार्थिव दोनों प्रकार के धनों का स्वामी या दाता है ।

'एधमानद्विट् उभयस्यराजा'

ऋ. ६.४७.१६, नि. ६.२२.

उभयहव्य - (१) वनस्पतियों से उत्पन्न तथा पशुओं से उत्पन्न घृत दुग्ध आदि दोनों प्रकार के हव्य पदार्थ

'स्वदन्ति देवा उभयानिहव्या'

ऋ. ७.२.२, वाज.सं. २९.२७, मै.सं. ४.१३.३, २०१.१३, का.सं. ३७.४, तै.ब्रा. ३.६.३.२, नि. ८.७

'मदन्ति देवा उभयानि हव्या'

अ. ७.१०९.२.

(२) सौमिक तथा हविमयहव्य ।

'स्वदन्ति देवा उभयानि हव्या'

पृथ्वी, जल आदि पञ्चभूतदेव (देवाः) सौमिक तथा हवि मय दोनों हव्यों को आस्वादित करते हैं (स्वदन्ति) ।

उभयादत् - दोनों जबड़ो मे दांत वाला जीव ।

'ये के चोभयादतः'

ऋ. १०.९०.१०, वाज.सं. ३१.८., तै.आ. ३.१२.५.

उभयादति - जिनके दोनों जबड़ो में दांत हो ।

'पशूनाम् उभयादति'

अ. ५.३१.३

उभयादम् - जबड़ो के बीच में (अद) चबा जाना ।

'पेत्वस्तेषामुभयादम्'

अ. ५.१९.२

उभयानिहव्या - दो प्रकार के हव्य-एक सोमरस तथा दुग्ध घृतादि का बनाया और दूसरा अन्नों का बनाया हुआ ।

उभयावी - (१) दोनों लोकों में कर्म और भोग की रक्षा करने वाला, (२) दोनों योनियों में विद्यमान जीवों की रक्षा करने वाला परमेश्वर ।

'मंहिष्ठमुभयाविनम्'

ऋ. ८.१.२, अ. २०.८५.२, साम. २.७११.

(३) स्थावर जंगम या शत्रु मित्र दोनों का रक्षक-इन्द्र (४) दोनों का सम्मिलित ।

'अदुष्टे देवाःपुत्रं सोमपा उभयाविनम्'

अ. ५.२५.९

उभयाहस्त्या - दोनों हाथों में भर भरकर ।

'उभयाहस्त्या वसु
शिशीहि राय आ भर'

ऋ. १.८१.७, अ. २०.५६.४, मै.सं. ४.१२.४, १८९.१६, का.सं. १०.१२, तै.ब्रा. २.४.४.७.

दोनों हाथों से भरभर कर ऐश्वर्य आदिदे ।

उभयाहस्ति - (अ.) (१) उभौ हस्तौ यस्मिन् कर्मणि (जिस कर्म में दोनों हाथ लगाए जाएं)

(२) उभाभ्यां हस्ताभ्याम् दोनों हाथों से द्विदण्डयादिभ्यश्च (पा.५.४.१२८) से इच् प्रत्यय

'उभयाहस्ति आभर'

ऋ. ५.३९.१, साम. १.३४५, २.५२२, पंच.ब्रा. १४.६.४, नि. ४.४.

उभयेद्युः - दो दिन छोड़कर या दो दिन आकर तीसरे दिन न आने वाला ज्वर ।

'यो अन्येद्युः उभयद्युः अभ्येति'

अ. १.२५.४, ७.११६.२

उभा - उभौ (दोनों) । संहिता में 'औङ्' का 'आ'

हो जाता है ।

'तुविक्षं ते सुकृतं सूमय धनुः
साधुर्हुन्दो हिरण्ययः ।
उभाते बाहू रण्या सुसंस्कृत
ऋदूपे चिदृइवृधा'

ऋ. ८.७७.११, नि. ६.३३.

हे इन्द्र या हे राजन ! तेरा धनुष बहुत बाणों का चलाने वाला बहु वाणवर्षी (तुविक्षम्) सुन्दर कर्मों का करने वाला (सुकृतम्), सुखकर (सूमयम्) और सोने का बना है । (हिरण्यमः) तेरा बाण (बुन्दः) शत्रु समूह का साधक है (साध्रः) और तेरे दोनों हाथ (ते उभा बाहू) रमणीय या रण के योग्य हैं (रण्या), सुसंस्कृत (सुसंस्कृता) शत्रुओं के नाशक (ऋदूपे) तथा मर्मभेदी (ऋदूवृधा) हैं ।

उभावन्तौ - परा और अपरा विद्या की दोनों सीमाओं के मध्य में समन्वय भाव से प्राप्त मुमुक्षु आत्मा

'उभावन्तौ समर्षति वत्सः सं मातराविव ।'

अ. १३.२.१३

उभावरा - एक दूसरे को वरण करने वाले स्त्री पुरुष ।

'अश्विनास्तामुभावरा'

ऋ. १०.८५.९, अ. १४.१.९

उभाशंसा - (१) दोनों पक्ष, दोनों वादी ।

'उभाशंसा सूदय सत्यताले'

ऋ. ४.४.१४, तै.सं. १.२.१४.६, मै.सं. ४.११.५, १७४.६, का.सं. ६.११.

(२) निकट या दूर के, (३) सामने या पीठ पीछे निन्दा करने वाला, ।

(४) स्वदेशी विदेशी दोनों प्रकार के पाप प्रशंसक शत्रु-दया .

उभे - (१) द्यौ और पृथिवी, (२) अन्तरिक्ष और पृथिवी के निवासी (३) अग्नि उत्पन्न करने वाले दो अरणि ।

'उभे त्वष्टुर्बिभ्यतुर्जायमानात्'

ऋ. १.९५.५, मै.सं. ४.१४.८, २२७.५, तै.ब्रा. २.८.७.५, नि. ८.१५.

उत्पन्न होने त्वष्टा अग्नि से दोनों द्यौ और पृथिवी या उनके निवासी या दो अरणियों से अग्नि उत्पन्न करने वाले डर गए ।

उभे अहनी - (१) दोनों द्यौ और पृथिवी (२) दोनों दिन और रात ।

'उभे यथा जो अहनीसचाभुवा
सदःसदो वरिवस्यातउद्भिदा'

ऋ. १०.७६.१

जिस से (यथा) परिचर्या करते हुए हमें (वरिवस्यतःनः) साथ ही उत्पन्न (सचाभुवा) दोनों द्यौ और पृथिवी (उभे अहनी) घर घर या सभी यज्ञ गृहों में (सदः सदः) उद्भेदक धन से पूर्ण करें-सा .

अन्य अर्थ-जिससे हमारे दोनों दिन रात (नः उभे अहनी) हमारे अनुकूल होते हुए (सचाभुवा) अपने आविर्भाव से (उद्भिदा) हमारे प्रत्येक गृह को (सदः सदः) परिपूजित करें (वरिवस्यतः)

उभेजन्मनी - इहलोक और परलोक । दोनों लोकों में जीवात्मा का जन्म होता है ।

'रश्मीरिव योयमति जन्मनी उभे'

ऋ. १.१४१.११

सूर्य जिस प्रकार किरणों को और सारथि घोड़े के बाणों को वश में करता है (यमति) इसी प्रकार दोनों जन्म इहलोक और परलोक दोनों को नियम में रखता है ।

उभेजनसी - (१) जनयिन्यौ द्यावा पृथिव्यौ -दया. जन्म देने वाले द्यौ और पृथिवी (२) दोनों राजा (३) और प्रजा वर्ग के जन ।

'पाथो न पायुं जनसीउभेअनु'

ऋ. २.२.४

उभेजनुषी - (१) दोनों, जन्म, (२) इहलोक और परलोक ।

'जनुषी उभे अनु'

ऋ. ९.७०.३

(२) स्थावर और जंगम दोनों जन्म वाले, (३) आकाश और भूमि ।

'अदाभ्यासौ जनुषी उभेअनु'

ऋ.९.७०.३, साम.२.७७५.

उभेविशौ - दोनों उत्तम, और निकृष्ट, स्थावर, गंगम या मानव तिर्यङ्दोनों प्रकार की प्रजाएं ।

'उभेनृचक्षा अनुपश्यते विशौ'

ऋ.९.७०.४

उभोभयावी - दोनों प्रकार के शस्त्रास्त्रों और बलों से युक्त ।

'उभोभयाविन् उपधेहि दष्ट्रौ'

ऋ. १०.८७.३,अ.८.३.३.

उभौ समुद्रा – (१) दो समुद्र, (२) मन के पक्ष में स्वप्न और जाग्रत ।

'उभौ समुद्रावाक्षेति'

ऋ.१०.१३६.५

उयम् – (अ.) ओ देखो ।

'उयं य कांश लोकका:'

उर – मेष, भेड़ । उर्ण शब्द से बना शब्द । मेष ऊन वाला होता है । अत वह उर कहा गया है ।

उरण – (१) आच्छादक –दया. ।

(२) दूसरे के धन को या सत्य को छिपाने वाला, (३) मेध के समान प्रतिस्पर्ध्धा से हटने वाला, (४) एक असुर–

'अध्वर्यवा य उरण जघान'

ऋ.२.१४.४

(५) उरणः ऊर्णावान् (ऊनवाला) । ऊर्णा + न (मतुप् अर्थ में) = उर्णन = उरण । अर्थ–मेष, भेड़ा, ऊर्णा शब्द 'वृ' धातु से बना है, क्योकि ऊन विशेषरूप से लोगों के द्वारा अभिलषित है (शीतरक्षार्थ विव्रियन्ते) । अथवा आच्छादनार्थक उर्ण धातु से 'ड' प्रत्यय कर 'टाप्' प्रत्यय जोड़ ऊर्णा बना । ऊर्णा से आच्छन्न होने के कारण भेड़ का नाम उरण पड़ा

'वृकश्चिदस्य वारण उरामथिः आ तयुनेषु भूषति
सेमं नस्तोमं जुजुषाम आगहि
इन्द्र प्रचित्रया धिया ।'

ऋ. ८.६६.८, अ. २०.९७.२, सान. २.१०४.२, नि. ५.२१.

इस इन्द्र का कुत्ता भी (अस्यवृकः चित्) शत्रुओं का वारयिता है (वारणः) जो भेड़ों को शिकारी होकर भी (उरामथिः) प्रशस्त मार्गों या प्रज्ञानों में इन्द्र के अनुकूल आचरण करता है (वयुनेषु आभूषति) । हे इन्द्र, वह तू हमारी इस स्तुति को सुनकर प्रसन्न होता हुआ (हे इन्द्र सत्वम् इमनः जुजुषाः), कमनीय स्तुतिरूपी कर्म से (चित्रेण धिया) शीघ्र आ (आ आगहि) । अन्य अर्थ–इस राजा का कुत्ता (अस्य वृकः चित्) शत्रुओं को निवारण करने वाला (वारणः) तथा भेड़ो को हांकने वाला हो (उरामथिः) वह कुत्ता इशारों पर (वयुननेषु) आक्रमण करने वाला हो (आभूषति) । वह तू हे राजा प्रजा से प्रीति करता हुआ (जुजुषाणः) अद्भुतबुद्धि से (प्रचित्रयाधिया) हमारे इस दुष्ट जनों से रक्षा के लिए (नः इम स्तोमम् आगहि) ।

उरवः – महान् सामर्थ्य वाले 'आदित्यासः' का विशेषण ।

'त आदित्यास उरवः गभीराः'

ऋ. २.२७.३, आश्व.श्रौ.सू. ३.८.१.

ऊर्व – (१) नाश करने वाला ।

'ऊर्वान् दयन्त गोनाम्'

ऋ. ७.१६.७, साम. १.३८. वाज.सं. ३३.१४.

(२) बड़वा मुरव में स्थित अपूर्ण काम अग्नि

(३) प्रचण्ड अग्नि–दया. ।

'उर्व इव पप्रथे कामो अस्मे'

तै.ब्रा. २.५.४.१.

बड़वामुख में स्थित अपूर्ण काम अग्नि के समान (उर्वइव) हमारी कामनाएं बढ़ती ही जाती हैं –सा. । प्रचण्ड अग्नि की तरह तेजस्वी हमारे वैदिक कर्म विस्तृत हैं–दया. (४) बड़ा महान्

'अपार ऊर्वे अमृतं दुहानाः'

ऋ. ३.१.१४

उर्वर्य – (१) बड़े बड़े ऐश्वर्यों का स्वामी, ।

(२) उर्वरा भूमिओं का क्षेत्र या उद्यान बनाने में कुशल ।

'न उर्वर्याय च खल्वाय च'

वाज.सं.१६.३३,तै.सं.४.५.६.१.

उर्वरा – (१) उरुवरा –विशाल वरांग देशा नितम्बनी इत्यर्थ (गर्भग्रहण करने योग्य कन्या ।

'असौ च या न उर्वरा'

ऋ. ८.९१.६

(२) उत्तमवेदी, (३) उपजाऊ भूमि, (४) नानाधनधान्य उत्पन्न करने वाली समृद्ध भूमि (५) हरी भरी प्रजा ।

(६) बड़े बड़ों से करण करने योग्य अति उत्तम प्रकृति ।

उर्वराजित् – शस्यादि उत्पन्न करने में श्रेष्ठ भूमि के समान और बड़े बड़ो में वरण करने योग्य अति उत्तम प्रकृति को भी अपने वश करने वाला–इन्द्र परमेश्वर ।

'सत्राजिते नृजित उर्वराजिते'

ऋ. २.२१.१

उर्वरापतिः – उत्पादक भूमि का स्वामी ।

'अश्वपते गोपत उर्वरापते'

ऋ. ८.२१.३, साम. १.४०२

उर्वशी – (१) जंघाओं से लांघने वाली या बड़े राष्ट्रों को वश करने वाली उर्वशी –सेना

'मर्तानां चिदुर्वशीरकृप्रन्'

ऋ. ४.२.१८

(२) अति कान्तिमती, तैजस सात्विक विकार से युक्त (३) अति विस्तृत व्यापक प्रकृति (४) उर्वशी नाम्नी अप्सरा ।

'उर्वश्या ब्रह्मन् मनसोऽधिजातः'

ऋ. ७.३३.११, नि. ५.१४

उर्वशी प्रकृति, वसिष्ठ, जीव और ब्रह्म परमेश्वर है । उर्वशीसे वसिष्ठ की उत्पत्ति की कथा तथा प्रकृति से जीव की उत्पत्ति का रहस्य विचारणीय है ।

(५) 'उरु अभ्यश्नुते' अर्थात् बहुत व्यापक होती है । उरु + अशुङ् + इन् + ङीष् = उर्वशी । या उरुभ्याम् अश्नुते (जो विस्त दो वस्तुओं से व्यापक होती है ।) विद्युत् धन और ऋण नामक दो शक्तियों से व्याप्त हैं । एवं स्त्री भी ज्ञान और कर्म से व्याप्त है । अतः उर्वशी विद्युत् और (६) स्त्री का वाचक है । (७) कुछ भाष्य कारों ने उरु का अर्थ जंघा किया है जो कि ठीक नहीं है । ऊरु का अर्थ जंघा होता है । उरुभ्या जानुपरिभागाम्या अश्नुते व्याप्नोति वशीकरोति (जानु के ऊपर वाले भागों से जो मैथुन कर्म से पुरुष को वश में लाती है) । उर्वाशिनी से ऊर्वशी हुआ है ।

(८) उरुः वशः अस्याः–महान् कामः अस्याः जिसका काम अत्यन्त बढ़ा चढ़ा हो वह 'उरुवशिनी' अर्थात् उर्वशी है । कामिनी ।

(९) स्त्री और विद्युत के वश में बहुत रहते हैं । उरु + वश (कान्त्यर्थक) + इन् + ङीष् = उर्वशी।

(१०) उरु अभ्यश्नुते –महत् यशः अभिव्याप्नोति (महान् यश जिसे अभिव्याप्त करे)

(११) माध्यमिका देवी विद्युतइडा । आधुनिक अर्थ – (१) स्वर्ग की एक अप्सरा जो प्रकरण की स्त्री बनी । ऋग्वेद में उर्वशी का नाम अनेक स्थलों पर आया है । कहा जाता है उसे देखकर मित्र और वरुण का वीर्य गिर पड़ा जिससे अगस्त और वसिष्ठ उत्पन्न हुए । मित्र और वरुण के शाप से वह मर्त्य लोक में आई और पुरुरवा की स्त्री बन गई । शाप की अवधि समाप्त होने पर उर्वशी पुनः स्वर्ग चली गई परन्तु पुरुरवा से उसका पुनर्मिलन हुआ और आयु नामक एक पुत्र उत्पन्न कर पुनः स्वर्ग को विदा हुई । पौराणिक कथा में नारायण ऋषि की जंघा से उसकी उत्पत्ति बतलाई गई है ।

'उर्वश्या ब्रह्मन् मनसोऽधिजातः'

ऋ. ७.३३.११, नि. ५.१४.

हे वसिष्ठ ! तू उर्वशी के मन से उत्पन्न हुआ । अथवा, हे अन्न दाता जल । तू विद्युत् के सामर्थ्य से उत्पन्न हुआ ।

उर्वशी इडा – उर्वशी नाम से प्रसिद्ध रूपवती विद्युत् जिसे इडा कहते हैं ।

'अभि न इडा यूथस्यमाता
स्मत् नदीभिरुर्वशी वागृणातु'

ऋ. ५.४१.१९, नि. ११.४९

मेघ समूह की निर्मात्री (यूथस्य माता) रूपवती विद्युत, उर्वशी नाम से जो प्रसिद्ध माध्यमिका वाक् देवी इडा है । (उर्वशी इडा) वह हमें जलों से (नदीभिः) खूब सन्तुष्ट करें (अभि गृणातु) ।

उरा – (१) भेड़ ।

'उरांन धूनुते वृकः'

ऋ. ८.३४.३, साम. २.११५८.

(२) विस्तृत वाणी ।

उराणः – (१) प्राणवान् बलवान् प्रवक ।

(२) बहुत सेवा करने वाला शिष्य जन

'प्रदक्षिणित् देवतातिम् उराणः'

ऋ. ३.१९.२, ४.६.३.

(३) अल्पमपि उरु कुर्वाणः (थोड़े को भी अधिक करता हुआ) ।

(४) उरु कुर्वाणः (बहुकर्मा) । 'उरु कुर्वाणः' से 'उराणः' हुआ है ।

'वेरध्वरस्य दूत्यानि विद्वान्
उभे अन्ता रोदसी संचिकित्वान्
दूत ईयसे प्रदिव उराणः
विदुष्टरो दिव आरोधनानि ।'

ऋ. ४.७.८.

हे अग्नि ! अभीष्ट फलदायक यज्ञ के (वेःअध्वरस्य) दूत कर्मों को जानता हुआ (दूत्यानि विद्वान्) दोनों द्यौ और पृथिवी के बीच में (उभेरोदसी अन्तः) स्थित अन्तरिक्ष को जानता हुआ (संचिकित्वान्) पुराण एवं अल्प हवि को बहुत करने वाला (प्रदिवः उराणः) विद्वन्तर (विदुष्टुरः) मनुष्य होता के निकट से स्वर्ग के मार्गों से (दिवः आरोधनानि) देवताओं को हवि देने जाता है (ईयसे) ।

अन्य अर्थ- हे ज्ञान स्वरूप परमेश्वर, आप अनर्थ-निवारक कर्मों को जानते हैं (अध्वरस्य दूत्यानि वेः) और दोनों द्यावा पृथिवी तथा दोनों के अन्तराल अन्तरिक्ष को जानते हैं अतः आप सर्वज्ञ हैं (संचिकित्वान्) । अनर्थ निवारक (दूतः), सनातन (प्रदिवः) विश्वकर्मा और विद्वानों को तारने वाले आप (विदुष्टरः) द्युलोक को नियम में रखने वाले कर्मों को प्राप्त किये हैं (दिवः आरोधनामि ईयसे) ।

(५) बहुत बड़ा यज्ञ करने वाला

'अहेम यज्ञं पथामुराणा'

ऋ. ७.७३.३

(६) अतिदानशील ।

'प्रहोतागूर्तमना उराणः'

ऋ. ६.६३.४

(७) बहुतों को जीवन देने वाला सूर्य ।

(८) बहुतों से जीविका देने में समर्थ ।

उरामथिः - (१) उरान् मेषान् मथ्नाति इति उरामथिः (भेड़ो का शिकार करने वाला कुत्ता)।

(१) भेड़ो को हांकने वाला कुत्ता-

'वृकश्चिदस्य वारणउरामथिः'

ऋ. ८.६६.८, साम. २.१०४२, नि. ५.२१.

उर + मथ् + इन् = उरामथिन् (पूर्वपद का दीर्घ) । यहां 'उर' शब्द का अर्थ उरण है जो भेड़ का वाचक है ।

(३) हल के समान भूमि को खनने वाला,

(४) चन्द्र के समान रात्रि के अन्धकार का नाशक ।

(५) संकटों का मन्थन करने वाला ।

'वृकश्चिदस्य वारण उरामथिः'

ऋ. ८.६६.८,

ऊर्जोनपात् - (१) पराक्रम के कारण कभी पछाड़ न खाने वाला राजा (२) बल के कारण कभी शिष्ट मर्यादा से न गिरने वाला ।

'अग्ने गृणन्तं अंहस उरुष्य
ऊर्जोनपात् पूर्भिरायसीभिः'

ऋ. १.५८.८

हे विद्वन् ! हे अग्ने ! हे आत्मन् ! तू बल के कारण कभी भी शिष्ट मर्यादा से न गिरता हुआ (ऊर्जोनपात्) स्वंय दृढ़ रहकर स्तुति करने वाले की ज्ञान-साधनोंसे बनी पालन करने वाली साधनाओं से पाप से रक्षा कर (आयसीभिः पूर्भिः उरुष्य) जैसे राजा लोह से बनी या शस्त्रों से सजी परकटों से प्रजा जन की रक्षा करता है ।

उर्वारु - उरु + वारि = उरुवारि = उर्वारु । बहुत जल वाला, ककड़ी, कर्कटी, खरबूज ।

'मूलमुर्वा र्वा इव'

अ. ६.१४.२

उर्वारुक - उर्वारुक फलम् । ककड़ी, खरबूजा

'उर्वारुक मिवबन्धनात्
मृत्योर्मुक्षीयमामृतात्'

ऋ. ७.५९.१२, वाज.सं. ३.६०. तै.सं. १.८.६.२, मै.सं. १.१०.४, १४४.१३, का.सं.९.७, शा.ब्रा. २.६.२.१२, तै आ. (आंध्र) १०.५६. वै.सू. ९.१९. ला.सौ.सू. ५.३.७, नि. १४.३५.

उर्विया - उरुत्वेन (भावप्रभान-निर्देश) । अर्थ-उरु होकर, चौड़ा होकर । 'उरु' शब्द के तृतीय एक वचन का रूप ।

'इयाडियाजीकाराणाभुपसंख्यानम्' से उरु के बाद तृतीया एकवचन में 'इयाट्' आदेश हो जाता है और 'उर्विया' रूप सिद्ध होता है ।

'व्यचस्वती रुर्विया विश्रयन्ताम्
पतिभ्यो न जनयः शुम्भमानाः
देवीद्विरो बृहतीर्विश्वमिन्वा
देवेभ्यो भवत सुप्रायणाः ।'

ऋ. १०.११०.५, अ. ५.१२.५, वाज.सं. २९.३०, मै.सं. ४.१३.३,२०२.३, का.सं. १६.२०, तै.ब्रा. ३.६.३.३, नि. ८.१०

व्याप्ति वाली या अंटाने वाली, काफी चौड़ी (व्यचस्वतीः) अतएव बड़ी (बृहतीः) द्वाररूपी देवता या शाकपूणि के अनुसार अग्नि या अग्नि की ज्वालाएं रूपी द्वार (द्वारःदेवीः) चौड़ी होकर रहें (उर्विया विश्रयनाम्) जैसे शोभने की इच्छा

करती हुई कामिनियां अपने पतियों के निमित्त मैथुन के लिए। हे द्वारो (देवीः द्वारः) तुम सभी को प्रसन्न करने वाली या सभी यज्ञ की सामग्रियों को द्वार से होकर जाने देने वाली (विश्वमिन्वाः) तथा इन देवताओं या ऋत्विजों के आने जाने लायक (देवेभ्यः सुप्रायणाः) हो (भवत) ।

अन्य अर्थ - जैसे पतियों के लिए शोभायमान पत्नियां गर्भाधान काल में पतियों के जाँघों को सेवती हैं, उसी प्रकार अनेक प्रकार के यज्ञों में वर्तमान अग्नि अधिकतया हमें सेवन करें (व्यचस्वतीः उर्विया विश्रयनराम्) । हे दिव्य पदार्थों का दाता (देवोः), अनेक गुणों वाली एवं सारे जगत को चलाने वाली गतिशील या रोगादि विनाशक यज्ञाग्नि (बृहतीः विश्वमिन्वाः द्वार) तू यज्ञकर्ता द्विजों के लिए सुगति वाली हो (देवेभ्यः म्रप्रायणी भवत) ।

उर्वी - (१) पृथिवी-उरु + ङीष् । विस्तृत या बड़ी हुई ।

'स यो व्यस्थात् अभिदक्षदुर्वीम्'

ऋ. २.४.७

'तस्य वयं प्रसवेयाम उर्वीः'

ऋ. ३.३३.६, नि. २.२६.

हम उस इन्द्र या सूर्य आज्ञा या प्रसव में बड़ी हुई जा रही हैं ।

(२) उदकैः प्रभूतः (जल से पूर्ण क्योकि वे बहुत विस्तृत होती है । नदियों का विशेषण -सा. (३) ऊर्ण (आच्छादनार्थक) और वृ (संभजनार्थक) धातुओं से इसकी व्युत्पत्ति यास्क मानते हैं । ऊर्ण + उ = उरु, उरु + ङीष् = उर्वी । अथवा वृञ् + उ = उरु, उरु + ङीष् = उर्वी । अर्थ बड़ी । (४) उर्वी नाम्नी छः देवियां जैसे द्यौ, पृथिवी, रात्रि, अपः और ओषधियां ।

'देवीः षडुर्वीरुरुनः कृणोत'

ऋ. १०.१२८.५, तै.सं. ४.७.१४.२, आप.मं.पा. २.९.६.

हे छः उर्वी देवियो ! आप से हम जो कुछ जांचे उसे विस्तृत करें ।

उरु - (१) अन्धकार-निवारक सूर्य ।

'उरु पृथुः सुकृतः कर्तृभिर्भूत्'

ऋ. ६.१९.१, वाज.सं. ७.३९, तै.सं. १.४.२१.१, मै.सं. १.३.२५, ३८.१३, का.सं. ४.८, कौ.ब्रा. २१.४, श.ब्रा. ४.३.३.१८, तै.ब्रा. ३.५.७.५.

यह अन्धकार निवारक और विस्तृत सूर्य कर्मकर्ता मनुष्यों से सुकृत हो ।

(२) अधिक, विस्तीर्ण उरु ।

'प्रथा उरु प्रथस्व उससे यज्ञपतिः प्रथताम्'

वाज.सं. १.२२, श.ब्रा. १.२.२.८.

पुरोडाश के प्रति यह मंत्र कहा गया है । हे पुरोडाश, तू स्वभावतः विस्तीर्ण होने वाला या फैलने वाला है (उरु प्रथाः) । अतः अधिक फैलना (उरु प्रथस्व) और यह तेरा यज्ञपति या यजमान (यज्ञपतिः) उसी प्रकार धन धान्य से फैले समृद्ध हो (प्रथताम्) ।

उरुक्रमः - (१) बड़े बड़े डेगों वाला, (२) बहुत पराक्रमी ।

'विश्वेत् ता विष्णुराभरत् उरुक्रमरत्वेषितः ।'

ऋ. ८.७७.१०, मै.सं. ३.८.३९ ५.१३.

उरुक्षयः - बड़े बड़े महलों में निवास करने वाला

"उरुक्षयाः सगणा मानुसासः'

अ. ७.७७.३, तै.सं. ४.३.१३.४

उरुक्षयाः - जिनके अनेकों जगत् के पदार्थों में निंवास हो । मित्रावरुण का विशेषण ।

'कवी नो मित्रवरुणा तुविजाता उरुक्षया ।'

ऋ. १.२.९, साम. २.१९९

उरुक्षितिः - बहुत मनुष्यो के बसने योग्य पृथिवी ।

'उरुक्षितिं सुजनिम् आचकार'

ऋ. ७.१००.४, मै.सं. ४.१४.५, २२१.८, तै.ब्रा. २.४.३.५.

उरुगातुः - महान् अतिश्रेष्ठ गमन मार्ग

'सहि घृणिरुरुर्वराय गातुः'

अ. ७.३.१, तै.सं. १.७.१२.२, मै.सं. १.१०.३:१४३.१०, का.सं. ९.६,१४.३, का.सं.(अश्व). ५.१२, आश्व.श्रौ.सू. २.१९.३२, शां.श्रौ.सू. ३.१७.१, का.श्रौ.सू. २५.६.१०.

उरुगायः - (१) बंहुभिः महात्मभिः गातव्यः (अनेक महात्माओं द्वारा गाने योग्य) अतिस्तुत्य (२) सब को गति देने वाला विष्णु परमेश्वर ।

'अत्राहतदुरुगायस्य वृष्णः
परमं पदमवभाति भूरि ।'

ऋ. १.१५४.६, वाज.सं. ६.३, तै.सं. १.३.६.२.

मै.सं. १.२.१४,२३.१७, का.सं. ३.३, श.ब्रा. ३.७.१.१५, नि. २.७.

ऐसे ही स्थान में अति स्तुत्य या सबको गति देने विष्णु का परम पद अत्यन्त शोभता है ।

(३) विशालवाणी वेद का स्वामी (४) महान् लोकों में व्यापक, महान् कीर्त्तिमान् प्रभु ।

'त्रीण्येक उरुगायो विचक्रमे'

ऋ. ८.२९.७

उरुग्राह् - (१) बड़ी पकड़ वाला ।

(२) जंघाओं को पकड़ने या जकड़ने वाला अस्त्र-

'उरुग्राहैः बाह्वङ्कैः'

अ. ११.९.१२

उरुगूला - बड़ी गुदा वाली सर्प की एक जाति ।

'उरुगूलाया दुहिता'

अ. ५.१३.८

उरुचक्र - बड़े बड़े चक्रों वाला रथ ।

'रथे युञ्जन्तु रुचक्र ऋष्वम्'

ऋ. ९.८९.४

उरुचक्रिः - (१) बहुकर्त्ता, बड़ा भारी कारीगर-परमेश्वर ।

'अंहोश्चिदस्मा उरुचक्रिरद्भुतः'

ऋ. २.२६.४

उरुचक्षस् उरुचक्षाः - (१) विस्तृत दर्शनशक्ति (२) दीर्घ दर्शनी धर्मपत्नी ।

'सं दक्षिणयोरुचक्षसा'

वाज.सं. ४.२३, श.ब्रा. ३.३.१.१२.

(३) बहुत प्रकार के ज्ञानों का द्रष्टा ।

'मृडीकायोरुचक्षसम्'

ऋ. १.२५.५

(४) दूरदर्शी ।

'तां आनमोभिरुरुचक्षसोनॄन्'

ऋ. ६.५१.९

उरूची - (१) बह्वीनां पदार्थ विद्यानां ज्ञापिका (अनेक पदार्थ विद्याओं को जनाने वाली), (२) बहुत ऐश्वर्यों से युक्त (३) बहुतों का सत्कार करती हुई ।

'उरूच्यस्मै घृतवत् भरन्ती'

ऋ. ३.३१.११

उरुज्मा - समस्त लोकों में व्यापक परमात्मा ।

'उरुष्या ण उरुज्मन् अप्रयुच्छन्'

अ. ६.४.३

उरुज्योतिः - (१) विस्तीर्ण प्रकाश, (२) विस्तीर्ण आंख, (३) आनन्दज्योति का प्रकाश -(दया)

'उरुजोतिश्चक्रथुरार्याय'

ऋ. १.११७.२१, नि. ६.२६.

ईश्वर पुत्र ऋजाश्व को तुमने विस्तीर्ण आंखें दीं । आर्य मनुष्य के लिए तुमने ज्योति की - अथवा,

परमेश्वर के सुपुत्र श्रेष्ठ मनुष्य के लिए आनन्द ज्योति का प्रकाश करो -(दया.)

उरुज्रयः - एक वचन में उरुज्रिः । उरु + ज्रि, + विच् + सु = उरुज्रिः । निरुक्त में 'ज्रि' धातु गमनार्थक है । उरुज्रि में गुण के अभाव आर्ष है ।

अर्थ - (१) बहुत गति वाला (२) बहुत प्रकार के गमनमार्ग ।

'अर्वाक्पथ उरुज्रयः कृणुध्वम्
श्रोता इतस्य जग्मुषो नो अस्य ।'

ऋ. ७.३९.३, नि. १२.४३

हे देवो ! हमारे रस आपके निकट जाने वाले अग्नि रूप दूत के आह्वान को सुनें तथा सामने से बहुत प्रकार के आगमन मार्गों को बनाएं ।

उरुज्रिः - (१) बड़े बड़े मार्ग पर चलने वाला (२) बहुत गति वाला (३) बहुत प्रकार के गमनमार्ग ।

उरुञ्जिरा - उरुजला (बहुत जल वाली) । वर्ण विपर्यय से सिद्ध शब्द । यह विपाशा नामक नदी का पूर्व नाम है । विश्वामित्र के शाप से जब वसिष्ठ के सभी पुत्र मर गये तो शोकाभिभूत हो वसिष्ठ अपने शरीर को रस्सी से बांध उरुञ्जिरा नदी में डूब गए परन्तु नदी की धाराओं से उनके शरीर के पाश खुल गए । इसी से इस नदी का नाम विपाशा पड़ गया । (२) एक नाड़ी जिसके फटने से प्राण शरीर छोड़ देते हैं ।

उरूणसौ - (१) महान् शब्द करने वाले सारमेय, (२) रातदिन

'उरूणसा वसुतृपा उदुम्बलौ'

ऋ. १०.१४.१२,अ. १८.२.१३, तै.आ. ६.३.२, आश्व.श्रौ.सू. ६.१०.२०.

(३) ऊंची नाक वाले दो दूत -सारमेय श्वान (४) तीण शक्ति वाले राज पुरुष, (५) नासिका

गत प्राण और अपान वायु ।

उरुण्ड- तामस ।

'उरुण्डा ये च मट्मटाः ।'

अ. ८.६.१५

उरुधारा - (१) बहुतों की पोषकभूमि (२) बहुत धारा वाली गौ (३) विशाल वेद वाणी ।

'उरुधारेव दोहते'

ऋ. ८.९३.३, अ. २०.७.३, साम. २.८०.२.

उरुप्रथाः - उरू + प्रथ + असुन् = उरु प्रथाः ।

अर्थ-स्वभावतः विस्तीर्ण होने वाला, या फैलने वाला ।

'उरुप्रथा उरु प्रथस्व उसने यज्ञपतिः प्रथताम्'

वाज.सं. १.२२, श.ब्रा. १.२.२.८.

उरुब्ज - उरु + अप् + जन् + ड = उरूब्ज ।

अर्थ- (१) महान् प्रभूतप्राणों या सूक्ष्मजलों या प्रकृति के परमाणुओं से उत्पन्न ।

'गवामुरुब्जमभ्यर्षति व्रजम्'

ऋ. ९.७७.४

उरुयुगः - बड़े भारी जुए वाला रथ ।

'उरौरथ उरुयगे'

ऋ. ८.९८.९, अ. २०.१००.३, साम. २.६२.

उरुलोकः - (१) स्वर्ग लोक,

(२) महान् अभ्युदयज.

'उरुनो लोकमनुनेषिविद्वान्'

ऋ. ६.४७.८, अ. १९.१५.४, ऐ.ब्रा. ६.२२.५, कौ.ब्रा. २५.७,८, २९.४, गौ.ब्रा. २.६.४, तै.ब्रा. १.२.१.९, २.७.१३.३, आश्व. श्रौ.सू. ३.७.११, ५.३.२१, ७.४.७, शां.श्रौ.सू. १८.४.१, आप.श्रौ.सू. ५.३.१.

हे इन्द्र ! जानता हुआ तू स्वर्ग नामक लोक हो हमें संचाल-

हे राजन् । ज्ञानवान् होते हुए आप हमारे लिए महान् अभ्युदय को (उरुलोकम्) पहुंचा (अनुनेषि) ।

उरुव्यचाः - (१) बहुत अधिक गुणवान् । शक्तिमान् अधिकारवान् ।

'ओरुव्यचाः पृणतामेभिरनैः'

ऋ. ३.५०.१

(२) बहुत प्रसिद्ध ।

'न यं शुक्रो न दुराशीः
न तृप्रा उरुव्यचसम्'

ऋ. ८.२.५.

(३) बहुत सत्कारों से युक्त ।

'उरुव्यचा जठर आवृषस्व'

ऋ. १.१०४.९, अ. २०.८.२.

तू विविध सत्कारों से युक्त होकर (उरुव्यचाः) जठर में दुग्ध आदि के समान राष्ट्र में सुख का वर्णन कर ।

उरुव्यचसा - बहुव्यापिन्यौ -(दया.) (१) बहुत विस्तृत पृथिवी, (२) विविध कांन्तियों और पदार्थों से युक्त ।

'उरुव्यचसा महिनी असश्चता
पिता माता च भुवनानि रक्षतः'

ऋ. १.१६०.२

उरुव्रजा - (१) दूर दूर तक जाने वाली, (२) वैश्य-सभा या उनकी संस्था (३) गमनागमन की व्यवस्था करने वाली संस्था ।

'अनेहो न उरुव्रजे

ऋ. ८.६७.१२, आश्व.श्रौ.सू. ३.८.१.

उरुवाक् - (१) विशाल वेदवाणी का प्रवर्तक गुरु, (२) परम गुरु परमेश्वर ।

'उरुवाचो अधृष्णुहि'

अ. २०.४९.२

उरुशर्मा - (१) बहुतों को शरण देने वाली अदिति-पृथिवी ।

'आवित्तादितिरुरु शर्मा'

वाज.सं. १०.९, श.ब्रा. ५.३.५.३७.

उरुशंसः - (१) बहुतों से स्तुति करने योग्य वरुण-परमेश्वर ।

'उरुशंस मान आयुः प्रमोषीः'

ऋ. १.२४.११, वाज.सं. १८.४९, २१.२, तै.सं. २.१.११.६, मै.सं. ३.४.८: ५६.८, ४.१४.१७: २४६.४, का.सं. ४.१६, ४०.११, श.ब्रा. ९.४.२.१७, आप.मं.पा. १.४.१३.

हे बहुतों से स्तुत्य परमेश्वर, हमारी आयु नष्ट न कर ।

(२) बहुतों को उपदेश करने वाला ।

'उरुशंस्य वरुण प्रणेतः'

ऋ. २.२८.३

उरुष् - (१) रक्षा करना (२) दुर्ग के अनुसार निकट आकार रक्षा करना । अतः दोनों अर्थों को

मिलाकर इस धातु का अर्थ निकट आकर रक्षा करना ।

उरुष्य - (१) महान् ।

'समेद्धारम् अंहस उरुष्यात्'

'ऋ. ७.१.१५

(१) उरुष् धातु रक्षा करने के अर्थ में माना गया है । अतः उरुष्य का अर्थ हुआ-रक्षा कर । दुर्ग ने उरुष का अर्थ निकट आकर रक्षा कना माना है । अतः दोनों अर्थों को मिलाकर अर्थ हुआ-निकट आकर रक्षा कर ।

'तं त्वा शोचिष्ठ दीदिवः
सुम्नाय नूनमीमहे सखिभ्यः
सन नो बोधि श्रुधी हवम्
उरुष्याणो अघायतः समस्मात्'

ऋ. ५.२४.४, साम. २.२४५९, वाज.सं.३.२६, १५.४८,२५.४७,तै.सं. १.५.६. ३, ४.४.३.८, मै.सं. १.५.३, ६९.१०, का.सं. ७.१, श.ब्रा. २.३.४.३१, कौ.सू. ६८.३१.

हे अत्यन्त दीप्तिमान् (शोचिष्ठ), हे सभी को दीप्त करने वाला (दीदिवः) तुझे (तं त्वाम्) हम अपने मित्रों के लिए (सखिभ्यः) तथा सुख के लिए (सुम्नाय) निश्चय पूर्वक जांचते हैं (नूनम् ईमहे) । वह तू हमारा अभिप्राय समझ (सनः बोधि) और हमारा आह्वान सुन (हवं श्रुधी) आहूत हो हमारे निकट आ (उरुष्याणः) सभी परापकारियों से (समस्मात् अघायतः) हमारी रक्षा कर ।

उरुष्यति - 'उरुष्य' पूजा करना या वर्णन करना अर्थ में प्रयुक्त हुआ है । प्रस्तुत करना या देना अर्थ में भी इसका प्रयोग हुआ है । अर्थ है पूजित या वर्णित करता है ।

'इन्द्राविष्णू सतपा वामुरुष्यति'

ऋ. १.१५५.२, नि. ११.८.

हे इन्द्र और विष्णु , तुम दोनों के आगमन को (वाम्) सोमपीती यजमान (सुतपा) पूजित या वर्णित करता है (उरुष्यति) ।

उरुष्यथः - उरुष्य, पूजित करना, वर्णित करना, प्रस्तुत करना या देना अर्थ में प्रयुक्त प्रस्तुत करना या देना अर्थ में प्रयोग ।

'कृशानोरस्तुरसनामुरुष्यथः'

ऋ. १.१५५.२, नि. ११.८.

जो आप दोनों इन्द्र और विष्णु ! भोजन या अन्न को (असताम्) हविपहुंचाने वाले (अस्तुः) अग्नि के द्वारा (कृशानोः) अविच्छेद्य भाव से प्रस्तुत या प्रदान करते हैं (उरुष्यथः) ।

उरुषा - उरु + या । बहुत सुख समृद्धि देने वाली भूमि ।

'मही मस्मभ्यमुरुषामुरु ज्रयः'

ऋ. ५.४४.६

उरुषी - रक्षा करने की इच्छा ।

'ससवान् स्तौलाभिधौंतरीभिः'

ऋ. ६.४४.७

उरूची - (१) बहुत ऐश्वर्यों को प्राप्त करते हुए द्यावापृथिवी या स्त्री पुरुष ।

'उरूची विश्वे यजते निपातम्'

ऋ. ४.५६.४

(२) विशाल राष्ट्र के शासक रूप से व्यापक ।

'तुविक्षत्रामजरन्तीमुरूचीम्'

अ. ७.६.२, वाज.सं. २१.५, तै.सं. १.५.११.५, मै.सं. ४.१०.१, १४४.११, का.सं. ३०.४,५, आश्व.श्रौ.सू. २.१.२९, शा.श्रौ.सू. २.२.१४.

(३) बहुत वेग से जाने वाली ।

'उरूचि विप्रसर्तवे'

ऋ: ८.६७.१२.

उल - (१) ऊन का वस्त्र देने वाला ।

'उलो हलिक्ष्णो वृषदंशस्ते धात्रे'

वाज.सं. २४.३१, मै.सं. ३.१४.१२, १७४.११ का.सं.(अश्व.) ७.२.

(२) श्रृगाल - wolf

'उलं वृकं पृथिवि दुच्छुनामित्'

अ. १२.१.४९

उलप - (१) तृण, उलभशब्दः शस्यमात्रो पलक्षणम् ।

'बहोरग्न उलपस्य स्वधावः'

ऋ. १०.१४२.३

(२) धान्य आदि । इन दिनों 'पुआल' शब्द उलभ से वर्ण विपर्णया और वर्णवृद्धि से हुआ प्रतीत होता है ।

(३) कीट पंतगों का दृण धान्यादि पर किया गया विघ्न, (४) इधर उधर का दृश्य ।

'यदि वृक्षेषु यदिवोलपेषु'

अ. ७.६६.१

उलप्य - तृण राशि का संग्रह करने वाला ।

'नमो लोप्याय चोलप्याय च'

वाज.सं. १६.४५, तै.सं. ४.५.९.१, मै.सं. २.९.८:१२६.१३ का.सं. १७.१५.

उल्व - 'ऊर्' अथवा 'वृ' + घञ् (करण अर्थ में) = ऊर्ण । ऊर का उल होकर व प्रत्यय लगाने से उल्व बना है । तेनहिगर्भ आवृतः भवति (उससे गर्भ आवृत होता है) ।

अर्थ है - (१) जरायु ।

'गर्भाशयो जरायुःस्यात् उल्वञ्च-अमरकोस'

(२) आवरण - 'ऊर्ण' अथवा 'वृञ्' + व = उल्वं ।

आधुनिक अर्थ-गर्भाशय, योनि, गर्भ ।

'महत्तदुल्बं स्थविरं तदासीत्
येनाविष्टितः प्रविवेशिथापः ।
विश्वा अपश्यत् बहुधा ते अग्ने
जानवेदस्तन्वो देव एकः'

ऋ. १०.५१.१, नि. ६.३५.

हे अग्नि ! (अग्ने) उस समय (तत्) तेरा वह जरायु (तत् ते उल्बम्) बड़ा (महत्) तथा चिरन्तन या स्थूल (स्थविरम्) था (आसीत्) जिससे आवेष्टित हो तू (येन आवेष्टितः) सृष्टि के आरम्भ में जल में प्रविष्ट हुआ (अपः प्रविवोशिथ) और हे जातप्रज्ञ अग्नि (जातवेदः) तेरे सभी अंग (ते विश्वाः तन्वः) बहुत प्रकार दीख पड़ते हैं (बहुधा) किन्तु एक प्रजापति ने ही तुझे देखा (एकः देवः अपश्यत्) ।

इस पर एक कथा भी है । वज्रभूत वषट्कार तथा देवताओं के हविर्वहन द्वारा अपने ज्येष्ठ भाइयों के मारे जाने पर सौचीक नामक अग्नि डरकर देवताओं के यहां से भाग कर जल में घुस गए । देवता लोग खोजते आए और मछलियों ने जब उन्हे दिखलाया तब देवताओं ने अग्नि से बातें की ।

अन्य अर्थ - हे सभी पदार्थों में विद्यमान विद्युत् (जातवेदः अग्ने), वह आवरण महत् परिमाण वाला और चिरन्तन है । (तत् उल्बम् महत् तत् स्थविरम् आसीत्) जिससे घिर हुए तुम जलों में प्रविष्ट हो । तेरे सम्पूर्ण शरीरों को कोई बड़ा वैज्ञानिक (एक देवः) अनेक साधनों से (बहुधा) देखता है (अपश्यत्) ।

उल्का - (१) आकाश से गिरने वाला चमकता तारा, (२) चमकता आग्नेयास्त्र ।

'असन्दितो विसृज विष्वगुल्काः'

ऋ. ४.४.२, वाज.सं. १३.१०, तै.सं. १.२.१४.१, मै.सं. २.७.१५: ९७.१० का.सं. १६.१५.

(३) आकाश से भूमि पर गिरने वाल लघु ग्रह ।

'शमुल्का निर्हतं च यत्'

अ. १९.९.८

'अवक्षिपन् अर्क उल्कामिव द्योः'

ऋ. १०.६८.४, अ. २०.१६.४

उल्काभिहतनक्षत्र - उल्का से युक्त नक्षत्र ।

'नक्षत्रमुल्काभिहतम् शमस्तुनः'

अ. १९.९.९.

उलुलु - विजयनाद प्रदर्शकध्वनि ।

'पृथग्घोषा उलुलयः'

अ. ३.१९.६.

उल्कुषीमान् - उल्कुषी + मतुप् = उल्कुषीमत् । प्रथमा ए.व. में उल्कुषीमान् । अर्थ गर्म मिजाज वाला आदमी ।

'यत्र प्रापादि शश उल्कुषीमान्'

अ. ५.१७.४

उल्कुषी - गर्म मिजाज ।

उल्लुप्त - (१) आवृत ।

'घृतादुल्लुप्तं मधुनासमक्तम्'

अ. ५.२८.१४

(२) सम्पन्न ।

'घृतादुल्लुप्तो मधुमान् पयस्वान्'

अ. १९.३३.२, अ. १९.४६.६

(३) व्याप्त ।

उलूक - (१) उल्लू, ।

'वनस्पतिभ्य उलूकान्'

वाज.सं. २४.२३

(२) मूर्ख दूत ।

'यदुलूको वदतिमोघमेतत्'

ऋ. १०.१६५.४ अ. ६.२९.१,

उलूकयातुः - (१) उलूक के समान चाल चलने वाला, (२) छिपकर प्रजा के धन प्राण पर आघात करने वाला ।

'उलूकयातुं शुशुलूकयातुम्'

ऋ .७.१०४.२२, अ. ८.४.२२

(३) रात में छापा मारने वाला ।

उलूखल - (१) उरुकर (बहुअन्नं करोति -बहुत अन्न करता है) से परोक्ष वृत्ति द्वारा 'उलूखल' बना है।

(२) ब्राह्मण ग्रन्थ में उरु में कुरु (तू मेरे लिए बहुत अन्न संस्कृत कर) ऐसा आया है।

(३) ऊर्करम् (ऊर्ज अन्नस्य एव ही हि करणार्थ तत् उपपद्यते-अन्न करने के लिए ही उसका उत्पादन होता है)। ऊर्ककरम् ('झरो झरिसवर्णे' से क का लोप) = उलूखल

(४) ऊर्ध्वखम् (ऊर्ध्वमेव हितस्य एवं भवति इसके ऊपर ही 'ख' अर्थात् गढ्ढा होता है या जिसका मुख छिद्र ऊंचा होता है। ऊर्ध्वखम् - व् ध् ख् अ-ऊधूखर -उलूखल।

अर्थ- (१) ओखल, (२) बहुत बड़े कार्य को करने वाला पुरुष-

'यत्रग्नावा पृथु बुध्नः
ऊर्ध्वो भवति सोतवे
उलूखल सुतानाम्
अवेद्विन्द्रजल्गुलः।'

ऋ. १.२८.१

पुनः -

'यच्चिद्धि त्वं गृहे गृहे
उलूखलक युज्यसे
इह द्युमत्तंम वद
जयतामिव दुन्दुभिः'

ऋ. १.२८.५, ऐ.ब्रा. ७.१७.२, शां.श्रौ.सू. १५.२३, आप.श्रौ.सू. १६.२६.१, नि. ९.२१.

हे ओखल! यद्यपि (यच्चिद्धि) तू घर घर में काम लाया जाता है (त्वं गृहे गृहे युज्यसे) तथापि इस सोमाभिषवण में तू खूब ध्वनिकर (इह द्युमत्तमं वदः) जैसे विजयी राजाओं की दुन्दुभि बजती है।

उर्वव्र - उरु + अव्र = 'उर्वव्र'। अर्थ-महान् आकाश।

'अहं यवाद उर्वव्रे अन्तः'

ऋ. १०.२७.९

उवा - जन्मदात्री प्रकृति।

'उवे अम्ब सुलाभिके'

ऋ. १०.८६.७, अ. २०.१२६.७.

उव्यूतिः - उरु + ऊतिः। बड़ी रक्षा-सामर्थ्य वाला।

'श्रोता हवं गृणत उर्व्यूतिः'

ऋ. ६.२४.२

उवे - सम्बोधन में प्रयुक्त अव्यय इन दिनों प्रचलित 'अबे' का समानार्थक।

'उवे अम्ब सुलाभिके'

उशत् - वश् (कामना करना) + शतृ = उशत् कामयमानः। अर्थ - कामना करता हुआ।

'ते हियज्ञेषु यज्ञियास ऊमाः
सधस्थं विश्वे असभिसन्ति देवाः।
तां अध्वर शतो यक्ष्यग्ने
श्रुष्टी भगं नासत्या पुरन्धिम्'

ऋ. ७.३९.४, शां.श्रौ.सू. ६.१०.६.

वे यज्ञार्ह तथा रक्षा करने वाले विश्वेदेव (ते यज्ञियासः ऊमाः विश्वेदेवाः) यज्ञों में समान स्थान पर आते हैं (यज्ञेषुसधस्थं अभिसन्ति)। हे अग्नि! हमारे यज्ञ में अपने अपने अंश चाहने वाले उन विश्वे देवों को पूज (अग्ने अध्वरे उशतः तान् यक्षि) तथा भग, अश्विनी कुमारों एवं इन्द्र को भी पूज (भंग नासत्यौ पुरन्धिम्)।

उशती - वश् + शतृ + ङीष्। कामना करने वाली। स्त्री का विशेषण है। दे. 'अप्सः'।

'जायेव पत्य उशती सुवासाः'

ऋ. १.१२४.७, ४.३.२, १०.७१.४, ९१.१३, नि. १.१९, ३.५.

जैसे सुन्दर वस्त्र पहन स्त्री पति की कामना करती है।

उशधक् - (१) अग्नि।

'अहन् व्यंसमुशधक् वनेषु'

ऋ. ३.३४.३, अ. २०.११.३, वाज.सं. ३३.२६.

(२) चाहे।

'जम्भेभिर्विश्वमुशधग्वनानि'

ऋ. ७.७.२

उशन्तः - वश् + शतृ + जस् = उशन्तः। अर्थ-कामना करते हुए।

'पत्नीवन्तः सुता इमे उशन्तो यन्ति वीतये
अपां जग्मि र्निचुम्पुणः'

ऋ. ८.९३.२२, शां.श्रौ.सू. १८.७.१४, नि. ५.१८.

ये जलमय अभिसुत सोम इस उद्देश्य से कि हमें देव गण पीवें उन देवताओं की ओर जाते हैं। (इमे पत्नीवन्तः सुता वीतये उशन्तः यन्ति) और सोमरस की जो सीढ़ी है (निचुम्पणः) वह भी

जलों के बीच से बहती चली जा रही है (अपाम् जग्मिः) ।

उश्मसि – हम कामना करते हैं । 'वश्' धातु के उत्तम पुरुरष बहुवचन में रूप । वेद में 'मस्' का मसि हो जाता है ।

'ता वां वास्तून्युश्मसिगमध्यै'

ऋ. १.१५४.६, का.सं. ३.३. नि. २.७.

हे दम्पति युगल ! तुम दोनों इन सुखदायक निवास स्थानों में रहो ऐसी हम कामना करते हैं ।

उशानः – कामनाशील ।

'पृथुगाणमुशन्तमुशानः'

ऋ. ३.५.७

उशमानः – कामना करने वाला ।

'दृढ़ा न्यौभ्नादुशमानओजः'

ऋ. ४.१९.४, तै. २.४.५.३.

उशिक् – (१) धनादि की अभिलाषा करने वाला वणिक् विभाग (२) कान्ति ।

'उशिजा वसुभ्यो वसून् जिन्व'

वाज.सं. १५.६, मै.सू. २.८.८, ११२.८.

उशिज् – (१) एक ऋषि का नाम जिसके कक्ष से कक्षीवान् नामक ऋषि उत्पन्न हुए । वश् (कान्त्यर्थक धातु) + इजि = उशिज् ('व' का सम्प्रसारण नियम से 'उ')

(२) कमनीय –शब्द कल्प द्रुम

(३) कामना करने वाला ।

(४) इच्छुक –(दया.)

'सोमानं स्वरणं कृणुहि ब्रह्मणस्पते
कक्षीवन्तं य औशिजः'

ऋ. १.१८.१, साम. १.१३९, वाज.सं. ३.२८, तै.सं. १.५.६.४, ८.४, मै.सं. १ .५.४, ७०.१३, १.५.११:७९.११ का.सं. ७.२.९, श.ब्रा. २.३.४.३५, तै.आ. १०.१.११, शां.श्रौ.सू. २.१२.५, आप.श्रौ.सू. ६.१८.१, ३.१.२९, नि. ६.१०.

हे ब्राह्मणस्पते ! मुझ सोमकर्त्ता को (सोमानम्) उस तरफ से सुयशश्वी, ज्ञानवान् या प्रकाशवान् बना (स्वरणं कृणुहि) जैसे उशिज् ऋषिका पुत्र (औशिजः) अपने अनुष्ठानों से यशस्वी बना ।

स्वामी दयानन्द का अर्थ– हे वेदपति परमेश्वर ! (ब्रह्मणस्पते) जो मैं आप कमनीय का सुपुत्र हूँ (औशिजः) उस मुझको उद्योगीपुरुष की तरह अथवा मुझ मनुष्य को (कक्षीवन्तम्) ऐश्वर्य सम्पदाक और तेजस्वी कीजिए (स्वरणं कृणुहि) ।

उशीनराणी – पृथिवी ।

'य आवहत् उशनिराण्या अनः'

ऋ. १०.५९.१०

उशेन्य – कमनीय, ।

'आयो मात्रोरुशेन्यो जनिष्ट'

ऋ. ७.३.८

उषत् – दाहकारी किरण ।

'समुषद्भिरजायथाः'

ऋ. १.६.३, अ. २०.२६.६, ४७.१२, ६९.११, साम. २.८२०, वाज.सं. २९.३७, तै.सं. ७.४.२०.१, मै.सं. ३.१६.३: १८५.९, का.सं.(अश्व) ४.९.

उषमाणः – और धारण करता हुआ ।

'श्रिये परुष्णीमुषमाण ऊर्णाम्'

ऋ. ४.२२.२

उषर्भुत् – (१) प्रातः काल में बोध कराने वाला सूर्य ।

(२) प्रथम वयस् में बोध कराने वाला राजा या आचार्य ।

'क्रत्वा चेतिष्ठो विशाम् उषर्भुत्'

ऋ. १.६५.९.

उषर्बुध् – (१) उषा का बोध कराने वाली किरण, (२) सृष्टि के आरम्भ में बोध कराने वाला वेदमन्त्र ।

'आकीं सूर्यस्यरोचनात्
विश्वान्देवां उषर्बुधः'

ऋ. १.१४.९

(३) प्रातः काल जागने वाला ।

(४) उषा काल में उत्पन्न होने वाली । पापों को जलादेने वाली विशोका प्रज्ञा ।

'आदाशुषे जातवेदो वहात्वम् ·
अद्या देवां उषर्बुधः'

ऋ. १.४४.१, साम. १.४०, २.११३०.

उषस् – (१) उच्छी (समाप्ति या नाश अर्थ में) धातु से 'असि' प्रत्यय जोड़ 'छ' का पृषोदरादि के समान ष का 'उषस्' शब्द बना है ।

उच्छी + असि = उषस् । अर्थ है–नाशक, अन्धकार का नाशक उष–काल । रात्रि का अपर

काल उषा है । (रात्रेः अपरःकालः) । ५५ घटी रात बीतने पर उषा का आरम्भ होता है ।

(२) उष् (दाहार्थक) + का = उषा । उषा रात्रेः अवसाने-अमरकोष ।

(३) विद्युत् ।

आधुनिक अर्थ- (१) रात और दिन का अन्तिम भाग (२) नमक वाली मिट्टी, (३) पकाने वाला पात्र (४) बाणासुर की कन्या, (४) उषा देवता

उषस् का प्रयोग-

'हिरण्यरूपमुषसो व्युष्टा
वयः स्थूपा मुदिता सूर्यस्य ।
आ रोहथो वरुण मित्र गर्तम्
अतश्चक्षाथे अदितिं दितिं च'

ऋ. ५.६२.८.

हे मित्र और वरुणः ! तुम दोनों उषा के उच्छेदकाल में (मित्र वरुण उषसो व्युष्टौ) तथा सूर्य के उदयकाल में (सूर्यस्य उदिता) अपने सुनहले लोहे के स्थूण वाले रथ पर चढ़ते हो (हिरण्य रूपम् अयः स्थूणम् आरोहथः) । अतः इस रथ पर चढ़कर अपने पक्ष को अनुपक्षीण (अदितिम्) तथा शत्रु पक्ष को उपक्षीण (दितिम्) करो ।

उषसः - (ब.व.) (१) कामनावान् इन्द्रियगण, (२) उषाएं ।

'सचन्त यत् उषसः सूर्येण'

ऋ. १०.१११.७

उषस्यति - उषा का स्वामी सूर्य ।

'उषस्पतिः वाचस्पतिना संविदानः ।'

अ. १६.६.६

उषस्य - उषा, शत्रु वाहक या प्रकाशकारी दिमाग

'कृष्णाञ्जिरल्पाञ्जिर्महाञ्जिस्त उपस्याः'

वाज.सं. २४.४, मै.सं. ३.१३.५, १६९.१०.

उषसा - (१) एक दूसरे को चाहने वाले (१) पति पत्नी (२) दिन और रात्रि ।

'आभन्दमाने उषसा उपाके'

ऋ. ३.४.६

उषसां प्रतरीता - उषाओं का प्रवर्तक सूर्य ।

'सूरो अह्नां प्रतरीताषसां दिवः'

अ. १८.४.५८.

उष्ट्र - (१) ऊंट ।

'त्वष्ट्र उष्ट्रान्'

वाज.सं. २४.२८, मै.सं. ३.१४.१०, १७४.६

(२) राष्ट्र में बसने वाला, (३) शत्रु को दग्ध करने वाला (४) नाना पदार्थों की कामना करने वाला, (५) कर्म बीजों को ज्ञानग्नि से दहन करने वाला

'उष्ट्राञ्चतुर्युजो ददत्'

ऋ. ८.६.४८.

(६) राष्ट्र में बसने वाली प्रजा का पालन करने में समर्थ ।

'उष्ट्रो न पपीरो मृधः'

ऋ. १.१३८.२

जैसे ऊंट रोगिस्तान को पार कर लेता है उसी संग्राम कारियों को (मृधः) पार कर (पीपरः) ।

उष्ण - (१) उष् (दाहार्थकः) + क्त = उष्ण इस शब्द को घृत के अर्थ में लिया गया है ।

आधुनिक अर्थ - गर्म तीक्ष्ण, कर्मठ, दाहक र, चतुर, विसूचिकाग्रस्त प्रदेशं गर्मी, ग्रीष्म ऋतु सूर्य की किरण, त्याग।

उष्पल - खाट के पौवे पर लगाने वाला दण्ड-पाटी ।

'भगस्ततक्ष चत्वार्युष्पलानि'

अ. १४.१.६०

उष्णन् - जलाता हुआ ।

'अग्निः शोचिष्मा अतसानि उष्णन्'

ऋ. २.४.७

उषा - (१) उषा काल, सूर्योदय से पूर्व का समय ।

'अपोषा अनसः सरत्'

ऋ. ४.३०, १०, नि. ११.४७.

उषा वायु से दूर हट गई (२) कन्या, (३) शत्रुपीड़क होने से सेना आदि भी उषा है ।

'भास्वती नेत्री सूनृतानाम्
दिवःस्तवे दुहित गोतमेभिः
प्रजावतो नृवतो अश्वबुध्यान्
उषो गो अग्रां उपमासि वाजान्'

ऋ. १.९२.७

उषाण - (१) प्रदीप्त करता हुआ (२) धारण करता हुआ ।

'मृगो न हस्ती तविषीमुषाणः'

ऋ. ४.१६.१४

उषासानक्ता - अहोरात्र्य भिमानान्यौ देवते । (दिन और रात्रि के अभिमानी देवता) । अर्थ-(१) उषा

और रात्रि ।

(२) उषाश्च नक्तञ्च उषासानक्ता । 'उषासोषसः' पा. ६.३.३१ से 'उषस्' का उषासा आदेश ।

'उषासानक्ता सदनां नियोनौ'

ऋ. १०.७०.६, ११०.६, अ. ५.१२.६, वाज.सं. २९.३१, मै.सं. ४.१३.३, २०२.५, का.सं. १६.२०, तै.ब्रा. ३.६.३.३, नि. ८.११.

उषा और रात्रि यज्ञ सृष्टि या गृह में नियमपूर्वक नित्य रहे (३) दिन की तरह ज्ञान का प्रकाश करने वाला पुरुष और रात्रि की तरह सद्गुणों के तारामण्डल से विभूषित स्त्री

'उशासानक्ता पुरुधा विदाने'

ऋ. १.१२२.२

पुरुष और स्त्री (उषासानक्ता) नाना विद्याओं के जानने वाले हो (पुरुधा विदाने) ।

उषाः - अज्ञानोङ्कुरों का दहन करने वाली साधकों की विशोका प्रज्ञा

'सखाभूत् अश्विन्तेरुषाः'

ऋ. ४.५२.२, साम. २.१०.७६

उष्टारा - (१) एक दूसरे की सदा कामना करने वाले स्त्री पुरुष ।

(२) अश्विद्वय ।

'उष्टारेव फर्वरिषु श्रयेथे'

ऋ. १०.१०९.२

उष्णिक् - (१) उत् + स्निह् + क्विप् = उष्णिह् (उद् के द् का ष्) । अर्थ है । अधिकं स्निग्धं देवानाम् (देवताओं का अधिक प्रिय) (२) एक वैदिक छन्द का नाम जिसमें गायत्री छन्द से चार अक्षर अधिक रहते हैं ।

(३) उद् + स्ना + इक् (कर्मवाच्य में) = उष्णिक् । अर्थ है उत्स्नाता-खुब धोई मंजी ।

(४) उष्णीषिणी उष्णीषवती- जो उष्णीष के समान शुद्ध स्वच्छ दीख पड़े । अधिक स्नायात् इति उष्णीषम्-जो आधिक स्नान करे । शुद्ध शुल्क अर्थात् अत्यन्त शुद्ध छन्द

(५) इससे उत्कृष्ट कोटि की पवित्रता का लाभ होता है ।

उत् उत्कृष्टं स्नातम् शुद्धत्वं यथा सा उष्णिक् । उत् + स्ना + इज् = उष्णिज् । गायत्री के प्रति चरण में आठ और उष्णिक् के प्रति चरण में नौ अक्षर होते हैं । इस प्रकार गायत्री के तीनों पादों में एक अक्षर अधिक होने से 'उष्णिक्' पगड़ी सी है । उष्णीषिणी उष्णिष्-उष्णिन् ।

(६) उत्तम बड़ी शक्ति प्रकृति ।

'उष्णिक् छन्दः'

वाज.सं. १४.१०.१८, मै.सं. २.१३.१४, १६३.१२, श.ब्रा. ८.२.४.१४, ३.३.६.

(७) आयु, (८) चक्षु, (९)पशु ।

उष्णिहा - (१) ऊपर की ओर जाने वाली धमनी

'ग्रीवाभ्यस्त उष्णिहाभ्यः'

ऋ. १०.१६३.२, अ. २.३३.२, २०.९६.१८, आप.मं.पा. १.१७.२.

(२) उष्णिक् छन्द ।

'उष्णिहया सविता सं बभूव'

ऋ. १०.१३०.४

(३) गर्दन की नाड़ी ।

'अनूका दर्षणी रुष्णिहाभ्यः'

अ. ९.८.२१

'श्रृणातु ग्रीवाः
प्रश्रृणातु उष्णिहाः'

अ. ६.१३४.१

उष्णिहाछन्दः - (१) उष्णिहा नामक छन्द, (२) उष्णिक छन्द के २८ अक्षरों के समान २८ वर्षों तक अपने बलवीर्य को आच्छादित करने वाला पगड़ी पहने के समान विशेष अधिकार से शोभित पुरुष-

'उष्णिहाछन्द इन्द्रियम्'

वाज.सं. २१.१३, का.सं. ३८.१०.

उष्णिक् इति उत्स्नानात् स्निहयतेर्वा कान्तिकर्मणः अपिवा उष्णीषिणो वा इति औपभिकम् ।

(३) आयु । 'आयुवी उष्णिक्' ऐ.आ.-१.५

(४) चक्षु ।

'चक्षुरुष्णिक्'

श.ब्रा.

(५) पशु ।

'पशवोवा उष्णिक्'

उष्मीष - (१)पगड़ी

'इन्द्राण्या उष्णीषः'

वाज.सं. ३८.३, श.ब्रा. १४.२.१.८.

(नः) पगड़ी ।

'अहरुष्णीषम्'

अ. १५.२.५.
उत् + स्ना + इषक् = उष्णीष । अत्यन्त शुद्ध उज्ज्वल श्वेत पगड़ी ।

उष्णीषी – पगड़ी पहनने वाला उष्णीष + इन् =
'नम उष्णीषिणे गिरिचराय'
वाज.सं. १६.२२, तै.सं. ४.५.३.१, मै.सं. २.९.३, १२३.७, का.सं. १७.१२.

उस्र – (१) – सूर्य की किरण ।
'उस्रा इव स्वसराणि'
ऋ. १.३.८, नि. ५.४.
(२) वृष (सांढ) । वश् + रक् = उस्र)

'सास्माकेभिरेतरी न शूषैः
आग्निःष्टे वे दम आ जातवेदाः
द्रवन्नो वन्वन् नार्वा
उस्रः पितेव जारयायि यज्ञैः'

ऋ. ६.१२.४.
जात धन या जातप्रज्ञ अग्नि (जातवेदाः स अग्निः) हमारे सुखकर स्तोत्रों से (अस्माकेभिः शूषैः) हमारे यज्ञगृह में (दमे) अतिथि या याचक के सदृश (एतरीन)स्तुत किये जाते हैं (आ स्तवे) तथा वृक्षों का भक्षयिता (द्रवन्नः) वनों का संभजन करता हुआ (वन्वन्) अपने कर्म से (क्रत्वा) अनाश्रित, स्वतन्त्र, छूटा अनेरिया (अनार्वा) सांढ़ के सदृश (उस्रः इव) यज्ञों से उत्पन्न किया जाता है । (जारयायि) ।
कुछ भाष्य कारों ने जारयामि को 'उस्र' का विशेषण माना है । गौवों के यौवन का जारयिता अर्थात् जार और गौवों पर अभिगमन करने वाला 'यायि' ।

उस्रयामा – सूर्यवत् तेजस्वी होकर जाने वाला ।
'त्रिवन्धुरो वसुमां उस्रयामा'
ऋ. ७.७१.४

उस्रा – उत्स्राविणः अस्याः भोगाः (गौ से दूध, दही, घी आदि भोग्य पदार्थ निकलते हैं) ।
उत् + स्रु + उ = उस्र, उस्र + घ (स्वार्थ में)= उस्रा अथवा, –उत्स्रवन्ति आभ्यः रसाः (इस से रस निकलते हैं) लौकिक व्युत्पत्ति –वसति क्षीरादि अस्यात् (इसमें क्षीरआदि रहता है) । अन्तः यह उस्रा है । वस् + रक् + टाप् = उस्रा 'वचिस्वपि यजादीनां किति' से 'व' का 'उ'

उस्रिक – (१) यः उस्राभिः चरति (जो गौओं के साथ चलता है), अर्थ – सांढ ।
(२) वेदवाणियों के साथ विचरने वाला । ज्ञानवर्षक गोतम विद्वान्
'ये त्वा देवोस्रिकं मन्यमानाः'
ऋ. १.१९०.५.

उस्रियः – (१) किरणों वाला सूर्य ।
'ईशेयो वृष्टेरित उस्रियो वृषा'
ऋ. ९.७४.३
(२) सब के भीतर स्वंय बसने वाला, (३) सब को अपने में वास देने वाला परमेश्वर ।
'बार्हस्पत्य उस्रियस्तन्तुमातान्'
अ. ९.४.१

उस्रिया – उस्र + घ + टाप् = उस्रिया । उस्रा की व्युत्पत्ति के लिए देखिए 'उस्रा' । अर्थ –(१) गौ.दे. 'अक्र' (२) जल–सा. (३) तेजस्विता –(दया.)
'उदुस्रिया जनिता यो जजान'
ऋ. ३.१.१२
पुनः–

'उतवां विक्षु मद्यास्वन्धो
गाव आपश्च पीपयन्त देवीः
उतोनो अस्य पूर्व्यः पतिर्दन्
वीतं पातं पयस उस्रियायाः'

ऋ. १.१५३.४.
मित्र और वरुण से ऋत्विज् कहते हैं –हे मित्र और वरुण ! आप दोनों की मादयित्री या मादनीय इन प्रजाओं में जो यह अन्न है (उत वांमद्यासु विक्षु अन्धः) उसे वे देवियां (देवीः) गौएं और जल आप्यायित करें (गाव आपश्च पीपयन्त) तथा हमारे इस यजमान के पूर्व कालीन पालक अग्नि (नःअस्य पूर्व्यःपति) दाता बने (दन्) । हे मित्र और वरुण ! तुम दोनों गाय का दही (उस्रियायाः पयसः) खाओ और पीओ (वीतम् पातम्) ।
स्वामी दयानन्द का अर्थ – हे उपदेशक तथा अध्यापक, आप की सुखी प्रजाओं में (वां मद्यासु विक्षु) अन्न, गाय तथा उत्तम जल (अन्धःगावः देवी ! आपश्च) निरन्तर बढ़े (पीपयन्त) और इस जगत् का मुख्य मालिक (उतो अस्य पूर्व्यःपतिः) उन पदार्थों को हमें दें (नः दन्) आप गो दुग्ध के बने खीर आदि ।

पदार्थों का आसन करें (उस्रियायाः पयसः) । (४) उत्सर्पण शील चितिशक्ति, (५) ऊर्ध्व मूर्धा भाग की ओर ऊर्ध्व गामी वीर्य के बल से सर्पण करने वाली चितिशक्ति

उहानः – धारण करता हुआ ।

'उहानायन्ति सिन्धवः'

ऋ. ८.४०.८.

ऊ

ऊ – (१) 'ऊ' वितर्क अर्थ में आता है परन्तु वेदों में 'ऊ' होता है । सायण के अनुसार इसका अर्थ 'एव' है ।

'मूर्धा भुवो भवति नक्तमग्निः
ततः सूर्योजायते प्रातरुद्यन्
मायमूतु यज्ञियानामेता
अपो यत्तूर्णिश्चरतिप्रजानन् ।'

ऋ. १०.८८.६, नि. ७.२७.

जो यह वेगवान् वैश्वान्तर अग्नि अपने कर्म को जानता हुआ तीनों लोकों में संचारण करता है (यत् तूर्णिःअग्निः अपः प्रजानन् चरति) वह रात के समय (नक्तम्) सुप्त मनुष्यों की मूर्धा होता है (भुवःमूर्धा भवति) अर्थात् सिर की तरह पदार्थ प्रकाशक होता है । और फिर वही अग्नि प्रातःकाल उदय होते हुए सूर्य के रूप में प्रकट होता है । यज्ञ -सम्पादक अग्नि, विद्युत् और सूर्य देवों के इस विज्ञान को तत्त्ववे लोग जानते हैं (यज्ञियाम् एताम् मायां ऊतु) । 'एव' अर्थ में प्रयोग के लिए देखिए 'अरिष्टनेमि' ।

ऊढ़ा – विवाहिता पत्नी ।

'अपः स्वरूषसो अग्न ऊढ़ाः'

ऋ. ६.६०.२, का.सं. ४.१५.

ऊतः – रक्षित । घत्वोताः' (तुझ से रक्षित)

ऊतिः – अव (रक्षा करना) + क्तिन् = ऊतिः। 'व' का 'ऊति यूतिजूति साति हेतिश्च' पा.३.३.९७ से 'व' का ऊङ् । अव धातु रक्षा, गति, शोभा, प्रीति, तृप्ति, बोध, प्रवेश, श्रवण, स्वामित्व, क्रिया, इच्छा, तेज, प्राप्ति आलिङ्गन, हिंसा, आदान, भजन और वृद्धि अर्थों में प्रयुक्त हुआ है ।

'बर्हिषदः पितरः ऊत्यर्वाक्'

ऋ. १०.१५.४, अ. १८.१.५१, वाज.सं. १९.५५, तै.सं. २.६.१२.२, मै.सं. ४.१०.६, १५६.१२, का.सं. २१.१४, आश्व.श्रौ.सू. २.१९.२२.

हे यज्ञ में बैठने वाले पितरों ! आप अर्वाचीनों की रक्षा करें ।

'आ त्वा रथं यथोतये सुम्नाय वर्तयामसि
तुविकूर्मिमृतीषहमिन्द्र शविष्ठ सत्पते'

ऋ. ८.६८.१,साम. १.३५४.

हे वसिष्ठ (शविष्ठ) सज्जनों का पालक इन्द्र (सत्पतेइन्द्र) अनेक कर्मों को करने वाले (तुविकूर्मिम्) तथा आर्तों के अभिभावक तुझे (ऋतीषह्मत्वा) हम अपनी रक्षा तथा सुख के लिए (ऊतये सुम्नाय) उसीतरह से स्तुति द्वारा तेरा आश्रय लेते हैं (आवर्तयामसि), जैसे कोई अशक्त रथ का आश्रय लेता है (रथं यथा)

ऊधन् ऊधनि – (१) रात्रि । वेद में सप्तमी में 'अनङ्' आदेश होता है ।

उद्धततरम् -उच्छ्रिततरम् प्रसव काले अङ्गान्तरेभ्यः (प्रसव काल में उद्धृत या उच्छ्रिततर हो जाय अर्थात् निकल जाय उठ जाया) । 'उद्धततर' का ही ऊधस् आदेश हो जाता है ।

अर्थ है -दूध का थन (स्तन) । (२) उपोन्नद्धम् (उपश्लिष्य गोः उदरे नद्धम्)। जो गौ के उदर में उपनद्ध है । उपनद्ध का ही निपात से 'ऊध' हो गया है ।

अर्थ-स्नेह, रस, दुग्ध, अवश्याय (ओस) । रात्रिरूपी स्तन से भी दूध की तरह ओस गिरता है अतः ऊधस् का अर्थ रात्रि भी है । (रात्रिरपि ऊध उच्यते) । उदक के आधान से ऊध कहा जाता है । (उदकाधानात् ऊध + उच्यते) ।

'यो अस्मै घ्रंस उतवा य ऊधनि
सोमं सुनोति भवति द्युमां अह'

ऋ. ५.३४.३, नि. ६.१९.

जो इस इन्द्र के लिए दिनों में या रात में सोमरस अभिसुत करता है वह निश्चय रूप से द्युतिमान होता है ।

क्षीरस्वामी के मत से -उद् (क्लेदनार्थक) + असुन् = ऊधस् । बाहुलक से न् का लोप द् का ध् और उ का ऊ हुआ है । रात्रि ओस के द्वारा ओषधियों का सिञ्चन करती है । (उन्नन्ति

अवश्यापेन ओषधिवनस्पतीन्) ।

(३) सोमरस रखने का पात्र, (४) अज्ञानता-

'हिनोता नो अध्वरं देवयज्या
हिनोत ब्रह्म सनयेधनानाम्
ऋतस्य योगे विष्यध्वमूधः
श्रुष्टीवरीर्भूत नास्मभ्यमापः'

ऋ. १०.३०.११, नि. ६.२२.

हे ऋत्विजो ! देवयजन मार्ग में इस हमारे यज्ञ को प्रवृत्त करें (नः अध्वरं देव यज्या हिनो) तथा धनों की प्राप्ति के लिए ब्रह्म को प्रवृत्त करें, सोम रखने के यज्ञ-पात्र रूपी ऊध को यज्ञ के शकट वियुक्त करो (ऊधः ऋतस्य योगे विष्यध्वम्) । हे सोम-मिश्रित जल (आपः) तुम भी ऋत्विजों से इस प्रकार उत्सिक्त होकर हमारे लिए सुख कारक बनो (अस्मभ्यं श्रुष्टीवरीः भूतन) ।

अन्य अर्थ -हे आप्त देवियो ! (आपः) तुम देव पूजा के लिए हमारे यज्ञ में आओ (देवयज्या नः अध्वरं हिनोत), धनों के लाभ के लिए वेद को जानो (धनानां सनये ब्रह्म हिमोत), यज्ञ के सम्बन्ध में अज्ञानता को छोड़ो (ऋतस्य योगे ऊधः विष्यध्वम्) या यज्ञ सम्बन्धी शकट के जोड़ने में रात्रि का त्याग करो तथा हमारे लिए सुख कारिणी बनो (अस्मभ्यं श्रुष्टीवरीः भूतन)।

(४) ज्ञान-रस का धारक वेद

ऊधःरोमशम् - उत्तम आधान और धारण करने वाला रोमयुक्त अर्थात् यौवनयुक्त-गुप्तांग

'समूधो रोमशं हतः'

ऋ. ८.३१.९

ऊनयीः - ऊन (कम) से नाम धातु कर 'ऊनयीः' । किया गया है । अर्थ है- नष्ट कर ।

'मा त्वायतो जरितुः काममूनयीः'

ऋ. १.५३.३, अ. २०.२१.३.

हे इन्द्र ! तुझे चाहने वाले स्तुति वचनों को कहने वाले भक्त की (त्वायतः जरितुः) अभिलाषा को (कायम्) नष्ट न होने दे (मा ऊनयीः) ।

ऊवध्य - (१) ताड़नीय -दया. (२) विनाश करने योग्य, (३) चिकित्सनीय ।

'यद् ऊवध्यम् उदरास्य अपवाति'

ऋ. १.१६२.१०, वाज.सं. २५.३३, तै.सं. ४.६.८.४, मै.सं. ३.१६.१:१८२.१२, का.सं.(अश्व.). ६.४.

(४) अन्नादि का नाश ।

'वलग ऊबध्यम्'

अ. १२.५.३९.

(५) अपक्व भोजन, मल ।

'ऊवध्यमस्य कीटेभ्यः'

अ. ९.४.१६

(६) उच्छेद करने योग्य, (७) मलिन कार्य करने वाला राष्ट्र का भाग (८) पेट में बैठी अपान वायु, (९) लटका कर मारने योग्य ।

'ऊवध्यं वातं सब्वं तदारात्'

वाज.सं. १९.८४, मै.सं. ३.११.९,१५३.१०, का.सं.३८.३, तै.ब्रा. २.६.४२.

ऊमाः - (ब.व.) रक्षा करने वाले । विश्वेदेवों का विशेषण ।

'ते हि यज्ञेषु यज्ञियास ऊमाः
सधस्थं विश्वे अभिसन्ति देवाः'

ऋ. ७.३९.४, शां.श्रौ.सू. ६.१०.६.

वे यज्ञार्ह तथा रक्षा करने वाले विश्वदेव यज्ञों में समान स्थान पर आते हैं ।

ऊर्ज् - (१) कार्तिक ।

'उपयाम गृहीतोऽस्यूर्जे त्वा'

वाज.सं. ६.३०,

(१) ऊर्ज (बल प्राणन अर्थ में) + क्विप् = ऊर्ज् । अर्थ जो बल दे. अन्न (२) अथवा 'पक्व' के 'प' का लोप कर 'क्व' के 'क्' और 'व' का व्यत्यास कर 'व' का उर् होने से 'उर्क' हुआ है

(१) ऊर्ज + असन्न् = ऊर्जस् (२) बल-दया. (३) क्षीरादि रस-सा. ।

'पितुमतीमूर्जमस्मा अधत्तम्'

ऋ. १.११,६,८, नि. ६.३६.

हे अश्विद्रय ! या सूर्य और पृथिवी ! तुम दोनों ने प्रजा वर्ग के लिए अन्नयुक्त बल दिया । या, सायण के अनुसार, हे अश्विनीकुमार ! तुम दोनों ने अत्रि ऋषि के लिए उन्हे आग से निकाल अन्न तथा दुग्धादिरस दिया, या अग्नि के लिए अन्न सहित आज्य उत्पन्न किया ।

(४) अन्न ।

'ऊर्जाद उत यज्ञियासः
पञ्चजना मम होत्रं जुषध्वम्'

ऋ. १०.५३.४, आप.श्रौ.सू. २४.१३.३, नि. ३.८.

हे अन्न खाने वाले तथा यज्ञ करने वालो ! पञ्चजनो, मेरे इस होत्र को स्वीकार करो ।

पुनः देखें –

'आपो हि ष्ठा मयोभुवः
ता न ऊर्जे दधातन ।
महे रणाय चक्षसे ।'

ऋ. १०.९.१, अ. १.५.१, साम. २.११८७, वाज.सं. ११.५०, ३६.१४, तै.सं. ४.१ .५.१, ५.६.१.४, ७.४.१९.४, मै.सं. २.७.५ः ७९.१६; ४.९.२७, १३९.३, का.सं. १६.४, ३५.३, तै.आ. ४.४२.४, १०.१.१२, आप.मं.पा. २.७.१३, नि. ९.२७ .

हे जल यतः तुम सुखदायक हो (मयोभुवः) ऐसे तुम (ताः) हमारे भोजनार्थ अन्न के लिए (ऊर्जे) अनुग्रह करो (दधातन), महान् एवं सुन्दर ज्ञान के लिए भी (महेरणाय चक्षसे)

बल के अर्थ में–

'देवी ऊर्जाहुती दुघे सुदुघे इषमूर्जमन्या वक्षत्सग्धि सपीतिमन्या नवेन पूर्वं दयमाने पुराणेन नवमधातामूर्जमूर्जाहुती ऊर्जयमाने वसु वार्याणि यजमानाय शिक्षिते वसुवने वसुधेयस्य वीतां यज ।'

वाज.सं. २८.१६, तै.ब्रा. २.६.१०.३.

अन्न को निष्पादन करने वाली देवियां (ऊर्जाहुती देव्यौ) द्यौ और पृथिवी हैं । उनमें से एक अन्न रस तथा क्षीर आदि लाती है । (आवक्षत्) और दूसरी पुत्र पौत्रों के साथ भोजन (सग्धिम्) और बन्धु वर्गों के साथ दुग्धाधि का पाने लाती है । (सपीतिम्) हम नए अन्न से पुराने अन्न की रक्षा करते रहे (पुराणेन नवम्) उस अन्न को (ताम् ऊर्जम्) वे युगल देवियां बल एवं प्राण देने वाले धन के निधान के लिए (ऊर्जयमाने वसुवने) यजमान को देवें (अधाताम्) तथा धन से सिद्ध यज्ञ के आज्य को अपना अपना भाग वे पीवें (वसुधेयस्य वीताम्)। हे होता ! तू इन देवियों की उपासना कर (यज) ।

रस के अर्थ में–

'देवीं वाचमजनयन्त देवाः
तां विश्वरूपाः पशवो वदन्ति ।
सानो मन्द्रेषमूर्जं दुहाना
धेनुर्वागस्मानुप सुष्टुतैतु ।'

ऋ. ८.१००.११, तै.ब्रा. २.४६.१०, पा.गृ.सू. १.१९.२, नि. ११.२९.

माध्यमिक देवों ने वाक् देवी को उत्पन्न किया (देवाः वाक् देवीम् अजनयन्त) । उन सभी प्राणियों के अन्तर्गत रहने वाली वाक् को सब प्रकार के जीव बोलते हैं । (तां विश्वरूपाः पशवः वदन्ति) । वह वाणी स्तुति से प्रसन्न होने तथा जल से हर्षित करने वाली है (सा मन्द्रा), अतः हमें अन्न (इषम्) तथा दूध घी के रूप में रस देती हुई (ऊर्जम् दुहाना) गाय की तरह अच्छी तरह से स्तुत हो (सुष्टुता) हमारे पास आवे (अस्मान् उपैतु) । (५) बल दायिनी उषा को भी ऊर्ज कहते हैं । (६) अन्नयुक्त, (७) बलवान्

'इमाहित्वामूर्जो वर्धयन्ति'

ऋ. २.११.१

ऊर्जःपुत्रः – (१) बल और अन्न से उत्पन्न परमेश्वर, (२) पुरुकोष क्षुधादि भरण से त्राण करने वाला ।

'ऊर्जःपुत्रं भरतं सृप्रदानुम्
देवा अग्निं धारयन् द्रविणोदाम्'

ऋ. १.९६.३

बल और अन्न से उत्पन्न, पुरुष को क्षुधादि भरण से त्राण करने वाले, भरण पोषण करने वाले, सर्पण शील व्यापक चेतना या बल को देने वाले (सृप्रदानुम्) प्राण और अन्न को उत्पन्न करने वाले (द्रविणोदाम्) सर्व-पूज्य धनैश्वर्य के दायक परमेश्वर को देवगण धारण करें ।

ऊर्जयन्ती – (१) बल बढ़ाने वाली ओषधि ।

'ऊर्जयन्तीमुदोजसम्'

ऋ. १०.९७.७, वाज.सं. १२.८, तै.सं. ४.२.६.४, मै.सं. २.७.१३,९ ३.१५, का.सं. १६.१३.

(२) अन्न उत्पन्न करने वाली भूमि, (३) पराक्रम शील सेना ।

'ऊर्जयन्त्या अपरिविष्टमास्यम्'

ऋ. २.१३.८

(४) अधिक बल देने वाली शक्ति (५) बल रूप में बदलने वाली दीप्ति ।

'महि त्वाष्ट्रमूर्जयन्तीरजुर्यम्'

ऋ. ३.७.४

ऊर्जव्य – (१) अन्न और बल पराक्रम से प्रकाशित

'सिषुक्तु न ऊर्जव्यस्य पुष्टेः'

ऋ. ५.४१.२०, नि. ११.४९.

(न.) यवादि अन्न ।

ऊर्जसनः – अन्नो बलों का देना वाला अग्नि ।

'स त्वं न ऊर्जसन ऊर्जधाः'

ऋ. ६.४.४, तै.सं. १.३.१४.७.

ऊर्जास्कम्भः – (१) बल पराक्रम रूप स्कम्भ को धारण करने वाला ।

'ऊर्जःस्कम्भं धरुण आवृषायसे'

ऋ. १०.४४.४, अ. २०.९४.४

(२) बलों से स्तम्भन करने वाला ।

ऊर्जस्वत् – ऊर्ज + असुन् + वतुप् = ऊर्जस्वत् । अर्थ (१) साखान्, (२) रसवान्, (३) बलवान्, (४) अन्नवान्, (५) धनधान्य से पूर्ण ।

'प्रयाजान् मे अनुयाजांश्च केवलान्
ऊर्जस्वन्तं हविषो दत्त भागम्
घृतं चापां पुरुषं चौषधीनाम् अग्नेश्च दीर्घमायुरस्तु देवाः'

ऋ. १०.५१.८, नि. ८.२२, कौ.ब्रा. १.२.

हे देवो ! मुझे आप केवल प्रधान देवों के मुख में यष्टव्य हवि के भागों को (प्रयाजान्) तथा प्रधान के पश्चात् देवों को देय हवियों को (अनुयाजान्) दें (दत्त), तथा मुझे रस युक्त, बलयुक्त हवि का भाग ही दें (ऊर्जस्वन्तं हविषभागम्) तथा जल का सारभाग तथा घृत एवं ओषधियों में पुरुषौषधि जैसे पुरोड़ाश ही दें (घृतञ्च अपाञ्च ओषधीनां पुरुषम्) और हे देवो, मुझ अग्नि की आयु लम्बी हो (अग्नेश्च दीर्घम् आयुःअस्तु) अर्थात् मुझे वषट्कार से मारे जाने का भय न हो ।

'ऊर्जस्वन्तः प्रयस्वन्तः'

ऋ. ७.६०.२, हि.गृ.सू. १.२९.१.

ऊर्जस्वती – (१) खूब दुधवाली गौ, (२) बल वाली औषधि ।

'मयोभूः वातो अभि वातूस्रा
ऊर्जस्वतीरोषधीरा रिशन्ताम्'

ऋ. १०.१६९.१, तै.सं. ७.४.१७.१.

वायु गायों के सम्मुख होकर बहे तथा ऐसी हवा से खूब दूधवाली होकर औषध घासों का घूमघूमकर स्वाद लें ।

ऊर्णम्रदाः – (१) ऊन के समान कोमल पृथिवी ।

'ऊर्गस्याङ्गिरस्यूर्णम्म्रदाः'

वाज.सं. ४.१०.

'ऊर्णम्रदसं त्वा स्तृणामि'

वाज.सं. २.२,५, तै.सं. १.१.११.१. का.सं. १.११, श.ब्रा. १.३.३.११, ४.११, तै.ब्रा. ३.३.६.७, कौ.सू. २.१७.

'ऊर्णम्रदाः पृथिवी रक्षिणावतः'

अ. १८.३.४९

(२) ऊन की तरह शरीरवत् राष्ट्र की रक्षा करने वाला वीर पुरुष (३) राष्ट्र पर आच्छादन आवरण करने वाले, (४) ऊन के समान अति मृदु, सुखकारी, (५) ऱाष्ट्र का रक्षक होकर शत्रु का मान मर्दन करने वाला

'ऊर्णम्रदा विप्रथस्व'

ऋ. ५.५.४

(६) ऊन के समान मृदु ।

'ऊर्णम्रदा युवतिः दक्षिणावते'

ऋ. १०.१८.१०, अ. १८.३.४९, तै.आ. ६.७.१.

ऊर्दर – कृदर, आवपन (धान्य आदि रखने का भाण्ड) । ऊर्दरम् उदीर्णं भवति (ऊर्दर उदीर्ण होता है) । मटका, घड़ा, भांड़ ।

अथवा – ऊर्जे दीर्णम् (अन्न के लिए दीर्ण)। अर्थ–कुसूल (कोठिला) जो ऊपर से दीर्ण रहता है और जिस में अन्नादि रखा जाता है ।

'अध्वर्यवोयो दिव्यस्यवस्वः
यः पार्थिवस्य क्षम्यस्य राजा
तमूर्दरं न पृणता यवेन
इन्द्र सोमेभिः तदपो वो अस्तु'

ऋ. २.१४.११.

हे अध्वर्युवो ! या अहिंसक प्रजाजनो ! जो इन्द्र द्विलोक में स्थित धन का (दिव्यस्यवस्वः) जो अन्तरिक्ष के धन का (पार्थिवस्त्र) तथा गड़े पृथ्वी के धन का (क्षम्यस्य) राजा है (राजा) ऐसे इन्द्र को यव से जैसे कोठिला भरा जाता है (यवेन ऊर्दरंन), उसी प्रकार सोमरसों से या धन धान्यो से (सोमेभिः) पूर्ण करो (पृणत)। यही आप लोगों का एक मात्र कार्य हो (तत् एतत् वः–अपः स्तुति) ।

स्वा. दयानन्द ने अध्वर्य का अर्थ अहिंसक प्रजा मान कर इस ऋचा का भाव यह निकाला है कि प्रजा राजा को धनधान्य दे तथा पृथिवी के खनिज पदार्थ का स्वामी राजा ही है ।

ऊर्ध्व – (१) ऊपर उठने वाला अग्नि का

विशेषण ।

'जिह्मानामूर्ध्वः स्वयशा उपस्थे'

ऋ. १.९५.५, मै.सं. ४.१४.८, २२७.४, तै.ब्रा. २.८.७.४, आप.श्रौ.सू. १६.७.४, नि. ८.१५.

कुटिल इन्धनों से सीधे ऊपर की ओर जाता है। यह अपने वंश में रहने वाला अपने स्थान में (उपस्थे) कुटिल इन्धनों से ऊपर बढ़ता है ।

(२) ऊर्ध्व गति से जाने वाला ।

'वषड्वइत्यूर्ध्वासो अनक्षन्'

ऋ. १०.११५.९

ऊर्ध्वकृशनः - (१) ऊर्ध्वकृशन यामायन नामक एक वैदिक ऋषि । (२) उत्तम पद की ओर तेजी से जाने वाला अग्नि ।

'अयं बिभर्त्युर्ध्वकृशनम् मदम्'

ऋ. १०.१४४.२

ऊर्द्ध्वग्रावा - (१) उपदेष्टवा पुरुष को सबसे ऊंचा रखने वाला, (२) ग्रावा अर्थात् क्षत्रिय को अपने ऊपर नायक बनाने वाला ।

'ऊर्ध्वग्रावाणो अध्वरमतष्ट'

ऋ. ३.५४.१२

ऊर्ध्वचित् - मोक्ष पद का प्रवचन या ज्ञान करने वाला ।

'चितस्थ परिचित ऊर्ध्वचितःश्रयध्यम्'

वाज.सं. १२.४६

ऊर्ध्वदेव - (१) सबसे ऊपर विराजने वाला सर्वाध्यक्ष परमेश्वर ।

(२) सूर्य ।

'विश्वस्य हि श्रुष्टये देव ऊर्ध्वः'

ऋ. २.३८.२.

ऊर्ध्वनभस्ऊर्ध्वनभाः - सबका परम बन्धनकारी ।

'ऊर्ध्वनभसं मारुतं गच्छतम्'

तै.सं. १.३.९.२, मै.सं. १.२.१६, २७.१, का.सं. ३.६, कौ.सू. ४५.१२.

ऊर्ध्वप्राण - मुख्यप्राणः ।

'योऽस्य प्रथमःप्राणऊर्ध्वो
नामायं सो अग्निः'

अ. १५.१५.३.

ऊर्ध्वपृश्निः - ऊपर की ओर चित्रविन्दुवाली ।

'पृश्नीस्तिरश्चीनपृश्निः
ऊर्ध्वपृश्निस्ते मारुताः'

वाय.स. २४.४

ऊर्ध्वमायुः - उच्च शब्द करता हुआ ।

'संजयन् पृतना ऊर्ध्वमायुः'

अ. ५.२०.४

ऊर्ध्वबुघ्न - (१) ऊर्ध्वावस्थितः बोधयति प्रकाशेन (ऊपर स्थित द्यो प्रकाश से बोधन कराने वाला-आदित्य मण्डल) (२) अध्यात्म पक्ष में शिर जो शरीर के ऊपर विद्यमान है और सम्पूर्ण शरीर पर नियन्त्रण रखता है । ऊर्ध्वबन्धन ऊपर से बांधने वाला । यदि शिर स्थिर न रहे तो समस्त शरीर विश्रृंखलित एवं निष्कर्मण्य हो जाय ।

'तिर्यग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुघ्नो
तास्मिन् यहो निहितं विश्वरूपम् ।
तदा ऋषयः सप्त साकं
ये अस्य गोपा महतो बभूवुः ।'

नीचे छिद्र वाला (तिर्यग्बिलः) अर्थात् नीचे की ओर किरणों को फैलाने वाला यह सूर्यरूपी चमस (चमसः) जो जल गिराता है, ऊपर से समस्त जगत् को प्रकाशित या उद्बोधित करता है या नियन्त्रण रूपी बन्धन में जगत् को जकड़े रहता है (ऊर्ध्वबुघ्नः) । जिस आदित्य मण्डल में (यस्मिन्) अनेक प्रकार का जल रखा हुआ है । (विश्वरूपं यशः निहितम्) उस जल को रखने वाले वे हैं जो इस जगत् के रक्षक रूप रश्मियां हैं (ये अस्य महतः गोपा बभूवः) और जो सात ऋषियों के नाम से इस आदित्य मण्डल में (अत्र) साथ ही रहते हैं । (सप्त ऋषयः साकम् आसते) ।

अध्यात्म पक्ष में -नीचे की ओर बिल वाला यह शिर समस्त शरीर को ऊपर से ही बांध कर नियन्त्रित रखता है और इस शरीर में स्थित इन्द्रियां शरीर की रक्षा करती हैं तथा साथ ही रहती हैं ।

ऊर्ध्वशोचिः - ऊपर उठती हुई कान्ति वाला -अग्नि ।

'वनस्पतावीड्यम् ऊर्ध्वशोचिषम्'

ऋ. ६.१५.२

ऊर्ध्वस्वप्नाः - विशाल खड़े-खड़े सोने वाले वृक्ष ।

'अस्थुर्वृक्षा ऊर्ध्वस्वप्नाः'

अ. ६.४४.१

ऊर्ध्वसानः – उच्च पद को प्राप्त करने वाला ।
'स द्रुह्वणे मनुष ऊर्ध्वसानः'
ऋ. १०.९९.७

ऊर्ध्वसानुः – (१) पर्वत आदि उच्च प्रदेशों में व्याप्त सूर्य, (२) शिरों स्कन्धो को ऊंचा रखता हुआ, (३) सर्वोपरि प्राप्तव्य ब्रह्म ।
'कनिक्रदत् पतयत् ऊर्ध्वसानुः'
ऋ. १.१५२.५

ऊर्म्य – तरंग या उमंग में आकर काम करने वाला ।
'नम ऊर्म्याय चा वस्वनाय च'
वाज.सं. १६.३१, तै.सं. ४.५,५.२, मै.सं. २.९.५, १२४.१४, का.सं. १७. १४.

ऊर्म्य – (१) हिंसा कारी शक्ति ।
'उदूर्वाद् गा असृजोअङ्गिरस्वान्'
ऋ. ६.१७.६
(२) अग्नि ।
'ऊर्व इवपप्रथे कामो अस्मे'
ऋ. ४.३०.१९, नि. ६.७.
(३) समूह, वर्ग ।
'समान ऊर्वे अधिसंगतासः'
ऋ. ७.७६.५
(५)विनश्वर पदार्थ ।
'उरु ऊर्वा अभितः सास्युक्थ्यः'
ऋ. २.१३.७

ऊर्व्य – भूमि विस्तृत खेतों का स्वामी ।

ऊर्जा – अन्नमयी विराट् प्राकृति ।
'ऊर्ज एहि स्वध एहि'
अ. ८.१०.११.
ऊर्जाद् = ऊर्जा + अद् (भोजन करना) + क्विप् = ऊर्जाद् । अन्न खाने वाला ।

ऊर्जादःपञ्चजना – अन्न खाने वाले पञ्चजन- ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और चाण्डाल । अथवा-देव, यक्ष, राक्षस किन्नर और गन्धर्व ।

ऊर्जानपात् – (१) बल शक्ति को न गिरने देने वाला- अग्नि ।
'ऊर्जोनपादश्वमिष्टे'
ऋ. २.६.२
(२) अन्न का नप्ता -अग्नि -
(३) बल का नाश नहीं करने-दया. । उपदेशक का विशेषण ।
'एनावोअग्निं नमसा
ऊर्जोनपात माहुवे ।'
ऋ. ७.१६.१, साम. १.४५,२.९९, वाज.सं.१५.३२
हे ऋत्विक् यजमानो । इस अन्न से (एना नमसा) अपा लोगों के (वः) अन्न के नप्ता (ऊर्जा नपात्) अग्नि को आमन्त्रित करता हूँ ।
हे प्रजाजनो ! तुम्हारे लिये (वः) इस अन्नादि से (एना नमसा) सत्कार पूर्वक बल का नाश न करने वाले (ऊर्जा नपात्) तेजस्वी उपदेशक को (अग्निम्) स्वीकार करता हूं (आहुवे) ।

ऊर्जानी – (१) पराक्रम युक्त नीति, (२) अन्न सम्पत्ति, (३) पराक्रम शक्ति ।
'आवाम् ऊर्जानी रथमश्विनारुहत्'
ऋ. १.११९.२

ऊर्जांपति – अन्नों, बलों, पराक्रमों और समस्त परम रसों का परिपालक आदित्य ।
'वसिष्वाहि मियेध्य वस्त्राण्यूर्जांपते ।'
ऋ. १.२६.१.
हे ऋत्विक्! सत्संग उपासना योग्य परमेश्वर! हे अन्नों, बलों और परमरसों का परिपालक तू वस्त्रों को धारण कर ।

ऊर्जायमान – बल और प्राण देने वाला ।
'तामूर्जमूर्जाहुती ऊर्जायमाने अधाताम्'
वाज.सं. २८.१६, मै.सं. ४.१३.८, २१०.६ का.सं. १९.३, तै.ब्रा. ३.६.१३.१, नि. ९.४३.
उस अन्न को निष्पादन करने वाली देवियां द्यौ और पृथिवी (ऊर्जाहुती) बल एवं प्राण देने वाले धन के निधान के लिए (ऊर्जायमाने वसुवने) यजमान को देवें (अधाताम्) ।

ऊर्जांव्युष्टि – (१) बल दायिनी उषाओं का प्रादुर्भाव, (२) अन्नवती या सारवती उषाओं का विभाग ।
'आव ऋञ्जस ऊर्जां व्युष्टिषु'
ऋ. १०.७६.१, नि. ६.२१.
हे पत्थरो ! तुम्हे अन्नवती या सारवती उषाओं के विभागों में चारों ओर से अलङ्कृत करता हूँ. (अऋञ्जसे) -
हे मनुष्यो ! बलदायिनी उषाओं के प्रादुर्भूत होने पर हृदय मन्दिर को सजाने के लिए (ऋञ्जसे) आप ।

ऊर्जाहुती – (१) द्यौ और पृथिवी नाम की देवियां

जो अन्न और रस लाती हैं । ऊर्ज + आहुती । ऊर्जाह्वान्यौ अन्नं च ।

रसं च आवहत्यौ ।

ऊर्जस्य निष्पादयित्र्यौ अन्न निष्पन्न करने वाली दो देवियाँ। (२) अन्न की थाली (३) अन्न और वीर्य की आहुतियां

'देवी ऊर्जाहुती दुघे सुदुघे'

वाज.सं. २१..५२, २८.१६,३९, मै.सं. ३.११.५, १४७.७, तै.ब्रा. २.६.१०.३, १४.३.

(४) राष्ट्र को अन्न सम्पत् देने वाली

'ऊर्जामूर्जाहुती ऊर्जयमाने'

वाज.सं. २८.१६

ऊर्जाहुतिः - बल, ज्ञान और अन्नादिका दान

'ऊर्जाहुतिर्वसूनाम्
शंच योश्चमयो दधे'

ऋ. ८.३९.४

ऊर्णा - 'वृ' (वरण करना) या 'ऊर' (आच्छादन करना) + ड + टाप् = ऊर्णा । शरीर की रक्षा के लिए जिसकी विशेष रूप से वरणा या अभिकांक्षा की जाय या जिससे आच्छादन किया जाय वह ऊर्णा है ।

अर्थ - (१) ऊन । (२) सुरक्षित । (३) आच्छादन करने वाली ऊन की बनी ।

'श्रियेपरुष्णी मुषमाण ऊर्णाम्'

ऋ. ४.२२.२

ऊर्णायुः - ऊन देने वाला भेड़ ।

'इममूर्णायुं वरुणाय नाभिम्'

वाज.सं. १३.५०, मै.सं. २.७.१७, १०२.१७, का.सं. १६.१७, श.ब्रा. ७.५.२.३५.

ऊर्णावती - (१) आच्छादक लोक त्वचा से युक्त ।

'ऊर्णावती युवतिः सीलमावती'

ऋ. १०.७५.८

(२) ऊनवाली भेड़ ।

'शतमूर्णावतीनाम्'

ऋ. ८.५६.३

ऊर्णा सूत्र - ऊन का सूत ।

'ऊर्णासुत्रेण कवयो वयन्ति'

वाज.सं. १९.८०, मै.सं. ३.११९, १५३.१, का.सं. ३८.३, तै.ब्रा. २.६.४.१.

ऊर्ध्वा - (१) ऊर्ध्व दिशा, (२) ऊर्ध्व दिशा के समान उन्नत ।

'ऊर्ध्वायैत्वा दिशेबृहस्पतयेऽधिपतयेश्वित्राय रक्षित्रे वर्षायेषुमते'

अ. १२.३.६०

(३) अग्नि की ज्वालाओं के समान ऊपर रहने वाली आदरणीया स्त्री ।

'ऊर्ध्वाभवन्ति दर्शता यजत्राः'

ऋ. ३.५७.४

ऊर्ध्वादिक् - ऊर्ध्वदिशा ।

'स ऊर्ध्वादिशमनुव्यचलत्'

अ. १५.६.४

ऊर्ध्वाधीति - (१) ऊंची धारणा दया. (२) ऊंची स्थिति (३) देह और आत्मा के धारण पोषण का कार्य ।

'ऊर्ध्वा धीतिः प्रत्यस्यप्रयामनि
अधायि शस्मन्त्समयन्त आदिशः'

ऋ. १.११९.२

हे विद्वान् स्त्री पुरुषो ! रथ के उत्तम मार्ग में (अस्य प्रयामनि) जिस प्रकार रथ की ऊंची स्थिति रखी जाती है । (ऊर्ध्वाधीतिः अधायि) उसी प्रकार इस देह और आत्मा के धारण पोषण का कार्य उत्तम मोक्ष मार्ग में जाने वाले के लिए ही प्रतिक्षण रखा जाये ।

ऊर्ध्वानदी - (१) ऊपर से पड़ने वाली उमड़ती, हुई नदी (२) उत्तम कोटि के गुणों से समृद्ध स्त्री

'वेष्वन्तीरूर्ध्वा नद्यो न आगुः'

ऋ. १.१८१.६

ऊर्ध्वाम् - ऊपर की ओर ।

'आसीन ऊर्ध्वामुपसि क्षिणाति'

ऋ. १०.२७.१३, नि. ६.६.

ऊपर अन्तरिक्ष में या अपने मण्डल में (उपसि) स्थित (आसीन) आदित्य नीचे की ओर जब विस्तृत भूमि के समीप आता है तो वृष्टि को प्रच्युत करता है (क्षिणाति) या दीप्ति को संसार में आकीर्ण करता है ।

ऊर्ध्वासःइन्दवः - उत्तम कोटि के ऐश्वर्य या ऐश्वर्य युक्तजन ।

'ऊर्ध्वासः त्वा नुइन्दवः'

ऋ. ७.३१.९

ऊर्म्या - (१) रात्रि, (२) उत्तम ज्ञान-सम्पादन करने में लग्न जनता ।

‘अध बहु चित्तम ऊर्म्यायाः’

ऋ. ६.१०.४

(३) रात्रि के समान सुखदायिनी (४) उत्तम ऊंचे से शब्द करने वाली विद्युत्।

‘एतं मे स्तोममूर्म्ये दार्म्याय परावह’

ऋ. ५.६१.१७

ऊर्मि - ऊर (उर्णुञ) + मि = ऊर्मि। ‘ऊर’ धातु आच्छादनार्थक है। ऊर्मि नीर को या जल में स्थित अन्य किसी पदार्थ को आच्छादित करती है। अर्थ (१) लहर, (२) संधाता,

‘आसिञ्च स्वजठरे मध्य ऊर्मिम्’

ऋ. ३.४७.१, वाज.सं. ७.३८, वाज.सं.(का.) २८.१०, तै.सं. १.४.१९.१, मै.सं. १.३.२२, ३८.२, का.सं. ४.८,नि. ४.८.

अपने पेट में सोमरस की धारा या संधात आसिञ्चित कर।

पुनः-

‘मानः समस्य दूढ्यः परिद्वेषसो अंहतिः
ऊर्मिर्न नाव मावधीत्।’

ऋ. ८.७५.९, तै.सं. २.६.११.२, मै.सं. ४.११.६, १७५.१०, का.सं. ७.१७, नि. ५.२३.

जिस प्रकार समुद्र या नदी की लहर (ऊर्मिः) नाव को पीड़त करती है (नावं न) उस तरह हमें (नः) सभी परिद्वेषी और पापर बुद्धि वाले का वध या उत्पात् (समस्य परिद्वेषसः दूढ्यः अंहतिः) हमें चोट न पहुंचावे (मा अवधीत्)। (३) छादक, (४) प्रकाश के द्वारा सभी को आच्छादित करने वाला सूर्य।

‘समुद्रादूर्मिर्मधुमां उदारद्
उपांशुना सममृतत्वमानट।
घृतस्य नाम गृह्यं यदास्ति
जिह्वा देवानाम् अमृतास्यनाभिः’

ऋ. ४.५८.१, वाज.सं. १७.८९, मै.सं. १.६.२, ८७.१३, का.सं. ४०.७, ऐ.ब्रा. ५.१६.६, कौ.ब्रा. २५.१, तै.आ. १०.१०.२, महा.ना.उप. ९.१२, आप.श्रौ.सू. ५.१७.४, आप.मं.पा. २.३.२, नि. ७.१७.

प्रकाश के द्वारा सबका आच्छादन करने वाला सर्व प्रिय या उदक वाला सूर्य (मधुमान् ऊर्मिः) सागर या अन्तरिक्ष से उदित हुए (समुद्रात् उदारत्)। चन्द्रमा के साथ उस सूर्य का संयोग होने पर (अंशुना सम्) मनुष्य अमृतत्व को प्राप्त करता है (अमृतत्वम् उपानट्)। जिन ओषधियों में जल का गुप्त रूप से वास है (यत् घृतस्य गुह्यं नाम अस्ति) वहां सूर्य रश्मियों की जिह्वा (देवानां जिह्वा) पहुँचती है अर्थात् सूर्य रश्मियां उस रस का आस्वादन करती हैं और वह सूर्य वृष्टिजन्य अमृत जल का कारण है। (अमृतस्य नाभिः)

ऊरु - जंघा।

‘या न ऊरु उशती विश्रयाते’

ऋ. १०.८५.३७, अ. १४.२.३८, आप.मं.पा. १.११.६,

जो यह कामयमाना कामिनी (या उशती) विविध प्रकार से उरुओं का आश्रय लेती है।

ऊरूची - या ऊर्वी विद्याः अञ्चति (जो बहुत सी विद्याओं या ज्ञानों को धारण करती है) वाणी

‘अग्नेदेवेषूच्यत ऊरूची’

ऋ. ३.५७.५.

ऊर्जोनपात् - (१) बल सामर्थ्य एवं ब्रह्मानन्द रस का कभी परित्याग न करने वाला-अग्नि परमात्मा।

‘ऊर्जोनपात् जातवेदः सुशस्तिभिः’

ऋ. १०.१४०.३, साम. २.११६८, वाज.सं. १२.१०८, तै.सं. ४.२.७.२, मै.सं. २.७.१४, ९५.१८, का.सं. १६.१४, श.ब्रा. ७.३.१.३१.

(२) बल का अक्षय भण्डार स्वरूप-अग्नि।

‘ऊर्जोनपातम्घृतकेशमीमहे’

ऋ. ८.६०.२, अ. २०.१०३, ३, साम. २.९०३.

(३) बल से उत्पन्न एवं अन्न बलवीर्य का नाश न होने देने वाला ब्रह्मचारी।

‘ऊर्जोनपातमाहुवे’

ऋ. ७.१६.१, ८.४४.१३, साम. १.४५,२.९९, १०६२, वाज.सं. १५.३२, तै.सं. ४.४.४.४., मै.सं. २.१३.८:१५७.३ का.सं. ३९.१५.

ऊषतुः - वस् (वसना) के लिट् प्र.पु. द्वि.व. का रूप। वेद में पुरुष का व्यत्यय हुआ है और लट् में प्रयुक्त हुआ है। अर्थ है - वसथः (बसते हो)।

ऊष्मण्य - (१) ऊष्मासु साधुः (जो ग्रीष्मकाल में सुख कारी हो)।

‘ऊष्मण्यापिधाना चरूणाम्’

ऋ. १.१६२.१३, वाज.सं. २५.३६, तै.सं. ४.६.९.१, मै.सं. ३.१६.१, १८३.५, का.सं.(अश्व) ६.४.

विचरने वाले पथिकों के निमित्त (चरुणाम्) ग्रीष्मकाल में सुखकारी (ऊष्मण्या) आच्छादित स्थान अर्थात् विश्राम गृह हैं (अपिधानानि) और जो स्थान स्थान पर अंकित मार्ग हैं ।

(२) गर्म करने वाला उवट (३) देह के ताप की रक्षा करने वाली त्वचा का आच्छादक ।

ऊष्मा, ऊष्मन् - शरीरस्थ गर्मी, गर्मी ।

'नीहारमूष्मणा'

वाज.सं. २५.९, मै.सं. ३.१५.८,१८०.१

ऊह - (१) एकत्र करना ।

'यतस्तयः समूहसि'

अ. १.१३.२

(२) नष्ट करना ।

ऊहति - नष्ट करता है ।

'अपापशक्रस्ततनुष्टिमूहति'

ऋ. ५.३४.३, नि. ६.१९.

इन्द्र सनातन धर्म से दूर, आत्ममण्डन परायण, विषयोपयोभोग परायण, या धर्मरहित अनेक प्रकार से अपने धन को बढ़ाने वाले मनुष्य को बार बार नष्ट करते हैं ।

ऊहे - वह (ढोना) धातु के लट् प्र.पु.ए.व. का रूप । अर्थ है ढोता है, प्राप्त करता है ।

'कमप्यूहे यत्समञ्जन्ति देवाः'

ऋ.१०.५२.३, नि. ६.३५.

यह अग्नि अन्न भी ढोता या प्राप्त कराता है (कम् अपि इऊहे) जिसे देवता लोग या आर्य (देवाः) खाते या प्राप्त करते हैं (यत् देवाः समञ्जन्ति) ।

ऋ

ऋ - उद्वेग जनक क्रोध आदिदुर्भाव ।

ऋक्व - (१) वाणी या आज्ञा के अधीन पुरुष, (२) ज्ञानी विद्वान् (२) वेद की ऋचा

'बृहत् शरीरो विमिमान ऋक्वभिः
युवा कुमारः प्रत्येति आहवम् ।'

ऋ. १.१५५.६

ब्रह्मचारी नित्य वृद्धिशील, विशालकाय होकर (बृहत्शरीरः) वेद की ऋचाओं या ज्ञानी विद्वानों से (ऋक्वभिः) विविध ज्ञानों को प्राप्त करता हुआ (विमिमानः) समस्त ज्ञान को (आहवम्) प्राप्त हो (प्रति एति) ।

अथवा, युवा पुरुष अपनी वाणी या आज्ञा के अधीन रहने वालों से (ऋक्वभिः) विविध दिशाओं के शत्रुओं को गिराता हुआ (विमिमानः) युद्ध के प्रति जाता है (आहवं प्रति एति) ।

ऋक्वत् - (१) ज्ञानवान् , (२) मन्त्रों से युक्त

'स सुष्टुभा स ऋक्वता गणेन'

ऋ. ४:५०.५, अ. २०.८८.५, तै.सं. २.३.१४.४, मै.सं. ४.१२.१ , १७८.५, का.सं. १०.१३,

(३) ऋग्वत्, स्तुत्य, (४) प्रशस्त

'अग्ने मरुद्भिः शुभयद्भिर्ऋक्वभिः
सोमं पिब मन्दसानो गणश्रिभिः
पावकेभिः विश्वमिन्वभिरायुभिः
वैश्वानर प्रदिवा केतुना सजूः'

ऋ. ५.६०.८, ऐ.ब्रा. ३.३८.१९, कौ.ब्रा. १६.९, आश्व.श्रौ.सू. ५.२०.८.

हे सर्वजन-हितकारी अग्नि ! शोभायमान, प्रशस्त (शुभयद्भिः ऋक्वभिः) समूह रूप में आश्रित (गणश्रिभिः) पावक वृष्टि आदि के द्वारा जगतच् को तृप्त करने वाली (पावकेभिः विश्वम् इन्वेभिः) आयुष्प्रद तथा परिमित चमकने वाली ज्वालाओं के साथ (आनन्दित करने वाली (मन्दसानुः) सोम, दुग्ध आदि उत्तम रसों का पान कर (सोमं पिब) ।

ऋक्वन् - (१) प्रशस्त पदार्थ -दया. (२) रस हरने वाली सूर्य-रश्मि ।

'ते रश्मिभिस्त ऋक्वभिः सुखादयः'

ऋ. १.८७.६, तै.सं. २.१.११.२, ४.२.११.२, मै.सं. ४.११.२,१६७.१५, का.सं. ८.१७.

वे सुख दायक या शोभन हवि के खाने वाले मरुत् रस हरने वाली सूर्य की रश्मियों से जल बरसते हैं ।-

वे सुख भोगने वाले पुरुष (सुखादयः) प्रशस्त पदार्थों से सुख-सेवन करते हैं-दया.

ऋक्सम - जगती छन्द से उत्पन्न ऋक् नामक साम ।

'जगत्या ऋक्सममम्'

वाज.सं. १३.५६, तै.सं. ४.३.२.२, मै.सं. २.७.१९,

१०४.७, का.सं. १६.१९, श.ब्रा. ८.१.२.२.

ऋक्संशित – ऋग्वेद के ज्ञान में सुशिक्षित ।

'विष्णोःक्रमोऽसि सपत्नह
ऋक्संशितः सामतेजाः'

अ. १०.५.३०

ऋक्ष – (१) सूर्य, (२) सदा अर्चणीय , (३) वेदाज्ञाओं का पालक, (४) ऋक्ष (भालू), (५) भालू सा भयङ्कर बलशाली ।

'ऋक्षोनवो मरुतः शिमीवान् अमः'

ऋ. ५.५६.३

रीछ जो पशु होकर भी अपुच्छ है ।

'ऋक्षोजतूः सुषिलीका त इतरजनानाम्'

वाज.सं. २४.३६, मै.सं. ३.१४.१७, १७६.४

(६) ऋष् (गत्यर्थक) + स = ऋक्ष (कित् का आगम) अर्थ है नक्षत्र । नक्षत्र उद्गत से दीखते हैं (उदीर्णानि- उदीरितानि इव ख्यायन्ते ।

आधुनिक अर्थ – (१) भालु, (२)एक पर्वत का नाम, (३) नक्षत्र, (४) सप्तर्षि या सात नक्षत्रों का समूह ।

'अमी य ऋक्षा निहितास उच्चा
नक्तं ददृश्रे कुहचित् दिवेयुः ।
अदब्धानि वरुणस्य व्रतानि
विचाकशत् चन्द्रमानक्तमेति'

ऋ. १.२४.१०, तै.आ. १.११.२, नि. ३.२०.

ये जो नक्षत्र ऊपर आकाश में निहित रात में दीख पड़ते हैं वे दिन में कहां चले जाते हैं (दिवा कुहचित् ईयुः) । अवश्य ही ये अनमहिंसित अतः आश्चर्यमय कार्य सूर्य के हैं (वरुणस्य अदब्धानि व्रतानि) जो न जाने कहां इन्हे दिन में छिपा रखते हैं और रात में आकाश में ला रखते हैं । उसी प्रकार दीप्तिमान् चन्द्रमा (विचाकशत् चन्द्रमा) रात में आते हैं । तात्पर्य यह कि चन्द्रमा भी सूर्य से ही प्रकाशित होते हैं ।

ऋक्षग्रीव – अक्ष के समान मोटी गर्दन वाला, अतिलोमश ।

'ऋक्षग्रीवं प्रमीलिनम्'

अ. ८.६.२

ऋक्षर – कण्टक ।

'अनृक्षरो वरुण साधुरस्ति ।'

ऋ. २.२७.६

'अनृक्षरा ऋजवः सन्तु पन्थानः'

ऋ. १०.८५.२३, अ. १४.१.३४, आप.मं.पा. १.१.२.

ऋक्षरा – कंटकाकीर्ण । ऋक्ष + करच = ऋक्षर । ऋक्ष हिंसार्थक धातु है । टाप् प्रत्यय के योग से बहुब्रीहि समास में में 'ऋक्षरा' हुआ ।

'स्योना पृथिवी भवानृशा निवेशनी, '

ऋ. १.२२.१५, वाज.सं. ३५.२१, ३६.१३, मै.सं. ४.१२.२, १८०.१६, का.सं. ८.१३, तै.आ. १०.१.१०, आश्व.श्रौ.सू. ८.१४.१८, आप.श्रौ.सू. १६.१७. १७, आश्व.गृ.सू. २.३.७, शां.गृ.सू. १.२७.९, ३.१०.१६, ४.१८.५, साम. मं.ब्रा. २.२.७, गो.गृ.सू. ३.९.१८, पा.गृ.सू. ३.२.१३, आप.मं.पा. २.१५.२, १८.८, हि.गृ.सू. २.१७.९, नि. ९.२३.

हे पृथिवी ! तू सुख कारक बन, निष्कण्टक एवं निवास योग्य बन ।

आधुनिक अर्थ – (१) पुरोहित, (२) कण्टक

ऋक्षला – (१) चूतड़ के नीचे नाड़ी ।

(२) ऋक्षरा कंपाटिका जिससे गोरैया आदि पक्षी पकड़े जाते हैं ।

'ऋक्षलाभिः कपिञ्जलान्'

वाज.सं. २५.३

ऋक्षाक – (१) भालुओं से पूर्ण (२) ज्ञानेन्द्रिय गण ।

'आर्क्षाकं वा प्रतरं नवीयः'

अ. १८.२.३१

ऋक्षीका – (१) ऋक्ष जाति के वनचारी जन्तु, (२) कुटिल चालों को चलने वाली स्त्री ।

'ऋक्षीकाभ्यो नैषादम्'

वाज.सं. ३०.८., तै.ब्रा. ३.४.१.५.

(३) ऋज जाति का एक दुःख दायी पशु ।

'ऋक्षीकां रक्षो अपबाधयास्मत्'

अ. १२.१.४९.

ऋग्मियः – (१) ऋचाओं से जानने योग्य ।

(२) वेदों का कर्ता ।

'गीर्भिर्गृणन्त ऋग्मियम्'

ऋ. १.९.९, अ. २०.७१.१५

(३) ऋच् + घ (मत्वर्थीय) = ऋग्मिय । बाहुलक से ऋच् के बाद मुक् का आगम । अथवा पुजार्थक अर्च के सम्प्रासरम रूप ऋच से 'मिय' प्रत्यय कर ऋग्मिय शब्द बना । अर्थ-ऋग्मान, स्तुतियुक्त (४) अर्चनीय, पूजनीय (५) वेदज्ञाता, (६) अर्चनीय अग्नि का वाचक ।

'विशो राजानमुपतस्थुं ऋग्मियम् ।'
ऋ. ६.८.४, नि. ७.२६.

ऋग्मी – (१) ऋग्वेदी वेदमन्त्रों का ज्ञाता ।
'ऋग्मिभिः ऋग्मी गातुभिर्ज्येष्ठो'
ऋ. १.१००.४
वह वेदमन्त्रों के ज्ञातापुरुषों के साथ सब से अधिक वेदों का अर्थज्ञ हो । (२) वेद मंत्र से स्तुति करने वाला ।
'गिरा यदि निर्णिजमृग्मिणोमयुः'
ऋ. ९.८६.४६

ऋघ – (१) शत्रु को मारने वाला अस्त्र, (२) त्रट अर्थात् भीतरी शत्रु उद्वेगजक क्रोधादि दुर्भाव को नाश करने वाली शक्ति ।
(२) ऋध्यत इति ऋध्यः पूज्यः । ऋघ् + क = ऋघ । अर्थ-जिसकी पूजा हो ।
'नहित्वा रोदसी उभे
ऋघायमाणमिन्वतः'
ऋ. १.१०.८
हे परमेश्वर ! आकाश और पृथिवी दोनों भी (रोदसी) उपासना करने योग्य तुझ को (ऋघायमाणम्) नहीं व्यापते (नहि इन्वतः)

ऋघायत् – 'ऋतं हन्तुं गन्तुम् इच्छत्' (१) सत्य का हनन करने वाला (२) शस्त्र से आघात करने वाला (३) सत्य ज्ञान प्राप्त करने का इच्छुक ।
'सिन्धुर्नक्षोदः शिमीवां ऋघायतः'
ऋ. २.२५.३

ऋघायमाण – ऋघ धातु परिचरण अर्थ में आया है । जिसकी पूजा की जाती है । वह ऋघ है । ऋघयत इति ऋघः पूज्यः ।
ऋघवत् आचरति इति ऋघायमाणः-दया.
(२) गृन् हनति इति – ऋघा । अनृघा ऋघा भवति ऋघायमाणः-सा. । (मनुष्यों को जो मारता है वह ऋघा है । मनुष्यो को नहीं मारने वाला हो जाए तो वह 'ऋघायमाण' है ।
(३) उपासना करने योग्य परमेश्वर -दया. ।
(४) अभ्यास करता हुआ ।
'ऋघायमाणः निरिणाति शत्रून्'
ऋ. १.६१.१३, अ. २०.३५.३५.१३.

ऋघावत् – हिंसादि से युक्त संग्राम ।
'यदावाख्यत् समरणमृघावत्'
ऋ. १०.२७.३

ऋघावान् – (१) शत्रुओं को मारने वाले नाना शस्त्रों, नाना वी पुरुषों और सेनाओं का स्वामी इन्द्र (२) भीतरी शत्रु 'ऋ' अर्थात् उद्वेग जनित क्रोधादि दुर्भावों को नाश करने वाली शक्ति का स्वामी-परमेश्वर, आत्म द्रष्टा ।
'महाव्रातः तुविकूर्मिःऋघावान्'
ऋ. ३.३०.३

ऋङ्गा – सत् मार्ग पर चलने वाले ।
'मन ऋङ्गामनन्या न जग्मी'
ऋ. १०.१०६.८

ऋच् – (१) ऋचन्ति अर्चन्ति अनेन इति ऋक् (इससे पूजा करते हैं) ऋच् + क्विप् = ऋच् ।
अर्थ – (१)मंत्र जिससे पूजा की जाती है, (२) वेद का मंत्र जो सत्य विद्या का प्रचारक है, (३) आधियाज्ञिक अर्थ ॐ, (४) आधिदैविक अर्थ आदित्य, (५) आध्यात्मिक अर्थ आत्मा । प्रणव (ओम्) सभी वेदों में व्याप्त है । सभी वेदों का यह सार है ।
'तान् वेदान् अन्वतपत् तेभ्यः
अभितप्तेभ्यः त्रयः वर्णाः'
अजायन्त अकार उकार मकार इति । तान् एकधा समभरत् तत् एतत् ओ३म् इति । (तै.ब्रा.पा.३२)
मनु ने कहा है ।
'अकार चाप्युकारञ्चमकारञ्च प्रजापतिः ।
वेदत्रयात् निरऊहत्
भूभ्रर्व स्वरितीति च ।
ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्
यस्मिन् देवा अधिविश्वे निषेदुः
यस्तन वेद किमृचा करिष्यति
इत्तद्विदुस्ते अमी समासते'
ऋ. १.१६४.३९, अ.९.१०.१८, गो.ब्रा. १.१.२२, तै.ब्रा. ३.१०.९.४, तै.आ. २.११.१, श्वेत.उप. ४.८, नृसिंह पू.ता.उप. ४.२, ५.२, नि. १३.१०.
शाकपूणि का आधियाज्ञिक अर्थ ऋच् के प्रणवरूप अक्षर में जो अविनाशी और सभी वेदों में व्याप्त है तथा जो सर्व श्रेष्ठ है और जिसमें विविध शब्द ओतप्रोत हैं उस परम व्योमरूप ओम् में (परमे व्योमन्) जिस प्रणव में सभी देवता वर्तमान हैं (यस्मिन् विश्वे देवाः अधिनिषेदुः) अर्थात् 'अ' में पृथिवी, अग्नि, ऋग्वेद तथा पृथिवी लोक-निवासी देवता, 'उ'

में अन्तरिक्ष, वायु, यजुर्वेद तथा अन्तरिक्ष निवासी देवता या प्राणी और 'म' में द्यौ, आदित्य, सामवेद, तथा द्युलोक निवासी जन हैं। जिस अक्षर को जो नहीं जानता है (यत् यः न वेद) वह इस ऋचा नामक मन्त्रों से क्या करेगा जो उसे सिर्फ अक्षर मात्र समझे ? (असौ ऋचा किं करिष्यति)। और जो भी इस अक्षर को जान जाता है (य इत् तत् विदुः) वे ही (त इमे) प्रणव रूपी आत्मा में प्रविष्ट हो शान्त ज्वाला अग्नि की तरह समीभाव से रहते है।

देवता मंत्रों में, मन्त्र वर्णों में और वर्ण प्रणव में रहते हैं।

शाकपूणि के मत से ऋच् अर्चनीय आदित्य है। इस आदित्य को सभी ऋचाओं का प्रतिनिधिमान कर पूजते हैं। इसी आदित्य में रश्मि के रूप में सभी देवता निवास करते हैं (य एष अन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषः दृश्यते, यस्मिन् सर्वे देवाः रश्मयो अधिनिषेदुः) इस आदित्य मण्डल रूपी ऋच् को जिसे न समझा वह क्या करेगा ? आध्यात्मिक अर्थ-इन्द्रियों देवता, शरीर ऋच् जिससे सभी इन्द्रियों की पूजा की जाती है और उस शरीर में अविनाशी रूप से वर्तमान आत्मा ही को इन्द्रियों रूपी ऋचाएं पूजती हैं। इसी आत्मा का आश्रय ले सभी इन्द्रियां रहती हैं उस आत्मा को जिसने न समझा वह कुछ नहीं समझ सका।

आधुनिक अर्थ - (१) ऋचा, (२) स्तुति, (३) सौन्दर्य।

ऋचस् - (१) सेवन करना,।

'प्र वां मन्मानि ऋचसे नवानि'

ऋ. ७.६१.६

(२) उत्तम कार्य।

'गा अर्वतो नृन् ऋचसेरिरीहि'

ऋ. ६.३९.५

ऋचः - (१) प्राण

'प्राणाव ऋक्'

कौ.सू ७.१०.

(२) अमृत,।

'अमृतं ऋक्,'

कौ.सू ७.१०

(३) वाक्।

'वाक् ऋक्'

जै ब्रा-३-४-२३-४

(४) अस्थि

'अस्थि वा ऋक् आहुतियां'

श.ब्रा. ७.५.२.२५

(५) पयस् की आहुतियां

'पय आहुतयो यदृचः'

श.ब्रा. १.५.६.४

'सामानि ऋग्भिर्ऋः पुरोऽनुवाक्याभिः'

वाज.सं. २०.१२, श.ब्रा. १२.८.३.३०.

ऋचा - सत्य विद्या का प्रचारक मन्त्र

ऋचीषमः - ऋच् (स्तुति अर्थ में) + कि + ङीष् + सम = ऋचीषम। अर्थ (१) स्तुति के समान अर्थात् जिस अर्थ में स्तुति की जाती है। उसी अर्थ के तुल्य स्तुत पुरुष है (यावता एव अर्थेन युक्ता उच्चार्यते ऋक् तावान् एव असौ भवति ऐश्वर्य योगात्)।

(२) ऋचा के अनुरूप ऐश्वर्यवाला, (३) ऋचा के तुल्य गुणों वाला इन्द्र, परमेश्वर (४) विद्वान्।

'इहश्रुत इन्द्रो अस्मे अद्य
स्तवे वज्री ऋचीषमः।
मित्रोन यो जनेष्वा
पयश्च के असाम्या।'

ऋ. १०.२२.२.

ऋचा के समान गुणों वाला (ऋषीचमः) वज्रहस्त्र इन्द्र (वज्री) सभी दिशाओं में ख्यात (श्रुतः) इस यज्ञ या कर्म में (इह) आज (अद्य) हम लोगों से (अस्मे) स्तुत हो रहा है (स्तुवे)। जो इन्द्र (यः) मित्र के सदृश (मित्रोन) अनन्त है (असामि) और सभी दिशाओं में यश फैलाता (यशः आचक्रे)।

अन्य अर्थ - और जो विद्वान् मित्रों की तरह मनुष्यों में पूर्ण यश को स्थापित करता है। (आ यःमित्रः न जनेषु असामि यशः आचक्रे) वह राष्ट्र में प्रख्यात वीर्यदान् और स्तुति के अनुरूप विद्वान् (श्रुतः वज्री ऋचीषमः) सर्वदा हम से प्रशंसित किया जाता है (अस्मे स्तवे)।

पुनः-

'ऋचीषमायाधिगव ओहम्'

ऋ. १.६१.१, अ. २०.३५.१,

'घृषौ मीढ ऋचीषम

ऋ.६.४६.४

पुनः - ऋचा या स्तुति द्वारा सर्वत्र समान रूप से स्तुत्य - इन्द्र ।

'परोमात्रमृचीषमम्'

ऋ. ८.६८.६

ऋज्यन् - (१) ऋजु, सरल धर्मानुकूल आचरण करता हुआ ।

'अभिश्रव ऋज्यन्तो वहेयुः'

ऋ. ६.३७.३, नि. १०.३.

सुन्दर चाल से चलते हुए घोड़े नया पुराना अन्न या सोम रस लावें ।

(२) ऋजुगामी, सीधा चलने वाला या चलता हुआ अश्व ।

ऋज्र - (१) ऋजुगामी-

'स्यूमन्यू ऋजा वातस्याश्वा'

ऋ. १.१७४.५

वायु के वेग से जाने वाले सुखप्रद दोनों ऋजुगामी अश्व को ।

(२) ऋञ्ज् (प्रसाधन कर्म) + र = ऋज्र । अर्थ सत्याचरण, (३) सीधा मार्ग या राजपथ ।

(४) सरल धार्मिक व्यवहारवाला

'ऋज्रासो मा पृथिविष्ठाः सुदासः'

ऋ. ७.१८.२३

ऋज्रा - ऋञ्जू, (प्रसाधन कर्म) अर्थ- (१) सत्याचरण, ऋजुगामी, (२) सीधा मार्ग, (३) राजपथ

(४) सायण ने इसे बहुवचन मानकर 'ऋजुगामी घोड़े' अर्थ किया है । स्वामी दयानन्द ने सत्याचरण की बहुवचन रूप माना है ।

'ऋज्रावाजं न गद्यं युयूषन्'

ऋ. ४.१६.११, नि. ५.१५.

ऋजु अर्थात् सुन्दर और सीधे राजपथ से ग्रहणार्ह सोम रस को (गद्यम्) अन्न की तरह (वाजं न) सेवनेच्छुक (युयूषन्) हे इन्द्र ! तू जाता है । अथवा ऋजुगामी घोड़ों को (ऋज्रा) -सा.

अन्य अर्थ - हे राजन् , ग्राह्य बल की तरह (गद्यं वाजं न) सत्याचरण की प्राप्ति की इच्छा रखते हुए (ऋजा युयूषन्) तू जाता है - (दया.) ।

ऋज्राश्व - (१) एक राजर्षि का नाम जो शतसंख्यक भेड़ों को वृकीको देने का कारण पिता से शप्त हो अन्धे हो गए, (२) सधे हुए घोड़े वाला शिकारी-दया. । (३) सधे हुए युद्ध कुशल अश्वों और अश्वारोहियों का स्वामी सेनापति या (४) इन्द्र ।

ऋज्वक्, ऋज्वञ्च् - (१) ऋजु + अञ्च् + क्विप् = ऋज्वञ्च । प्रथमा एक वचन में रूप ऋज्वक् अर्थ- सरल धार्मिक मार्ग पर चलने वाला, (२) अग्नि ज्वाला ।

'रोहितास ऋज्वञ्चः स्वञ्चः'

ऋ. ४.६.१९

ऋजिप्यासःऋजिप्य -- एक वचन में ऋजिप्य । बहुवचन में ऋजिप्यमासः । अर्थ ऋजु अर्थात् सरल या धर्मानुकूल मार्ग को प्राप्त होते हुए, (२) सरल सीधे मार्ग से जाने वाले मरुद्गण ।

'ऋजिप्यासो न वयुनेषु धूर्षदः'

ऋ. २.३४.४.

(३) सत्य धर्म का पालक ।

'अनुयद् गावः स्फुरान् ऋजिप्यम्'

ऋ. ६.६७.११

ऋजिश्वन् - (१) ऋजुगामी, (२) सरल ज्ञान-दया. ऋजि = ऋजु = सरल । ऋजि + श्व (गत्यर्थक) + कनिन् = ऋजिश्वन् ।

अर्थ - सरल गति का ज्ञान । (२) सधे हुए कुत्ते के समान आज्ञाकारी एवं वशवर्ती सेनाबल ।

(३) ऋजिगण युक्ताः सुशिक्षिताः श्वानो येन (कोमल गुण युक्त कुत्तों को सिखलाने वाला)

ऋजिश्वा - सरल स्वभाव का कुत्ता ।

'आत्वाक् ऋजिश्वा सख्याय चक्रे'

ऋ. ५.२९.११

ऋजीक - ऋज् (गति , स्थान, अर्जन और उपार्जन अर्थों में) + ईकन् = ऋजीक अर्थ-(१) स्थान (२) ऋजु का, अकुटिल गति वाला (३) प्रसिद्ध (४) ऋजीक नामक पर्वत, आर्जक नदी ऋजीक पर्वत से निकलती है । ऋजीक + अण् + टाप् = आर्जीका ।

ऋजीतिः - (१) सत्य न्याय, (२) सरल सीधे मार्ग पर जाने वाला बाण ।

'ऋजीते परि वृंधि नः'

ऋ. ६.७५.१२, वाज.सं. २९.४९, तै.सं. ४.६.६.४, मै.सं. ३.१६.३.१७६.१७, आप.श्रौ.सू. २०.१६.१२.

(४) तापदायक खाने या भोगने की इच्छा ।

'ऋचीतिभी रशनाभिः गृभीतान्'

ऋ. १०.७९.७

(५) सत्यमार्ग से जाने वाली ।

'ऋजीतिरग्न आहुतिर्विवक्षसे'

ऋ. १०.२९.२.

ऋजीती - सरल गति वाली नाड़ी ।

'ऋजीत्येनी रुशती महित्वा'

ऋ. १०.७५.७

ऋजीयः - ऋजु + ईयसु = ऋजीयस् । अर्थ - (१) अधिक सरल, (२) ऋजुधर्मानुकूल ।

'तयोर्यत् सत्यं यतरत् ऋजीयः'

ऋ. ७.१०४.१२, अ. ८.४.१२.

ऋजीष - (१) सोमरस को छान लेने के बाद जो सीढ़ी बच जाती है वही ऋजीष है ।

'शूर्पं पवित्रं तुषा ऋजीषा भषवणीरापः'

अ. ९ .६.१६

(२) ऋज् + तीषन् = ऋजीष । 'अर्जे ऋजि च' से तीषन् । ऋजीष् + अच् (मत्वर्थीय) = ऋजीष्य । अर्थ-सोमस्य निर्गतः रसः शिष्टमानः निर्गतः निकाल लेने पर बची हुई सीढी ।

पिष्ट पचनम् पीसी चीज को पकाने का पात्र अर्थात् तवा ।

वेदों में 'ऋजीष' शब्द सोमरस की सीढी के ही अर्थ में आया है । यह इन्द्र के घोड़ों को दिया जाता है (स हि इन्द्रस्य अश्वयोःभागः)।

(३) घास को भी ऋजीष कहते हैं, (४) इन्द्र, (५) प्रयत्न शील-दया. । अर्ज + ईषन् = ऋजीष । (६) ठंडी पृथिवी , (७) पृथिवी-दया.

'ऋजीषे अत्रिमश्विनावनीतम्
उन्निन्यथुः सर्वगर्णं स्वस्ति'

ऋ. १.११६.८, नि. ६.३६.

हे अश्विद्वय ! तुम दोनों ने पृथ्वी के भीतर अवाङ्मुख पड़ी हुई सभी गुणों की ओषधियों को जगत् के कल्याण के लिए जमाया ।

अथवा स्वामी दयानन्द के अनुसार, हे सूर्य और पृथिवी ! तुम दोनों पृथिवी के भीतर गई आग को ऊपर निकाल देते हो और इस प्रजावर्ग के लिए प्रशस्त अन्न से युक्त बल को प्रदान करते हो ।

सायण के अनुसार -हे अश्विनी कुमारो ! तुमने अवाङ् भाव से पड़े गणयुक्त अत्रि ऋषि को अग्नि से बचाया और उनका कल्याण किया ।

आधुनिक अर्थ - (१) ऋचीष (नरक) (२) चना भूंजने का पात्र ।

ऋजीषी - (१) इन्द्र के अर्थ में

'ऋजीषी वज्री वृषभस्तुराषाट्
शुष्मी राजा वृत्रहा सोम पावा
युक्त्वा हरिभ्यामुपयासदर्वाङ्
माध्यन्दिने सवने मत्सदिन्द्रः'

ऋ. ५.४०.४,

ऋजीषवाला इन्द्र (ऋजीषी) जिसके घोड़े को सोमरस निकाल ऋजीष दिया जाता है, वज्रहस्त (वज्री), मनोरथों या जलों को बरसाने वाला (वृषभः) त्वरमाण शत्रुओं को अभिभूत करने वाला (तुराषाट्) बलवान् (शुष्मी), अधिपति (राजा), वृत्र नामक असुर या मेघ को हनन करने वाला (वृत्रहा) तथा सोमरस को पीने वाला (सोमपावा) इन्द्र घोड़ो से (हरिभ्याम्) रथ जोतकर (युक्त्वा) तथा उस पर सवार हो हमारे समक्ष (अर्वाक्) आवे (उपयासत्) तथा माध्यन्दिन सवन में (माध्यन्दिने सवने) सोमरस का पान कर मस्त होवे (मत्सत्) ।

अन्य अर्थ - प्रशस्त घोड़ों वाला (ऋजीषी) वज्री, बलिष्ठ, हिसंकों का घातक, बलिष्ठ सेनावाला, वृत्र या दुर्जनों का हन्ता, सन्तानों का रक्षक, इन्द्र घोड़ों से गाड़ी जोतकर हमारे समक्ष आवें ओर माध्यान्दिन सवन में हमारा दिया सोमरस पान करे ।

स्वा. दयानन्द ने इसका अर्थ इस प्रकार किया है- राजा राज सभा में आवे और मध्यदिन में आराम करे ।

(२)ऋज् + तीषन् = ऋजीष, ऋजीष + इन् = ऋजीषिन् । अर्थ-ऋजीष वाला इन्द्र ।

(३) प्रशस्त घोड़ों वाला इन्द्र या राजा ।

'धुनिः शिमीवाञ्छरुमाँ ऋजीषी'

ऋ. १०.८९.५, तै.सं. २.२.१२.३, तै.आ. १०.१.९, नि. ५.१२.

(४) सार-रहित सोमरस वाला ।

(५) सरलस्वभाव वाला विद्वान् -(दया.)

ऋजीषिणः - 'ऋजीषिन्' का बुहुवचन रूप । मरुतों का विशेषण । अर्थ- (१) जलों से पूर्ण मरुत,

(२) धर्मानुकूल सन्मार्ग पर चलने वाले और अन्यों को चलाने वाले विद्वान्

'अग्नयो न शुशुचाना ऋजीषिणः'

ऋ. २.३४.१, तै.ब्रा. २.५.५.४.

ऋजु - ऋञ्ज् (प्रसाधन अर्थ में)+कु= ऋजु (न का लोप)। यहां पर 'ऋञ्जन्' धातु अ कौटिल्य अर्थ में है। अर्थ है (१) सरल, सीधा, सत्य। (दया.) आधुनिक अर्थ. -सीधा, ईमान दार, सरल प्रकृतिवाला, बाण।

'ऋजुनीती नो वरुणः
मित्रोनयतुविद्वान्
अर्यमा देवैः सजोषाः'

ऋ. १.९०.१, साम. १.२.१८, ऐ.ब्रा. ६.२.२., कौ.ब्रा. २६.१०, गो.ब्रा. २.५.१२, आश्व.श्रौ.सू. ७.२.१०, नि. ६.२१.

दिन का देवता मित्र तथा वही रात का देवता और लक्ष्यस्थान का ज्ञाता है (विद्वान्) हमें सरल मार्ग से (ऋजुनीती) कर्ममार्ग की प्राप्ति के निमित्त एक लोक से दूसरे लोक को ले जांय (नयतु) तथा इन्द्र आदि और देवों क साथ (देवैः) प्रेमपूर्वक (सजोषाः) दिनरात का विभाजक सूर्य (अर्यमा) हमें सरल मार्ग से ले चलें।

स्वा. दयानन्द का अर्थ- देव इन्द्रियों से संयुक्त (देवैः सजोषाः) श्रेष्ठ उपकारी और न्यायकारी (वरुणःमित्रः अर्यमा) विद्वान् हमें सत्य मार्ग से (ऋजुनीती से चले नयतु)।

ऋजुक्रतु - (१) सरल क्रिया से सम्पन्न (२) सरल धर्मानुकूल सुखप्रद विज्ञानों या कर्म सामर्थ्यवाला परमेश्वर (३) राजा।

'मदेमदे हि नो ददिः
यूथा गवाम् ऋजुक्रतुः'

ऋ. १.८१.७, अ. २०.५६.४, मै.सं. ४.१२.४, १८९.१५, का.सं. १०.१२, तै.ब्रा. २.४.४.७, आश्व.श्रौ.सू. ७.४.३.

हे परमेश्वर! तू अति सरल धर्मानुकूल सुखप्रद, विज्ञानवान् और कर्म सामर्थ्यवान् है। तू हमें प्रत्येक हर्ष के अवसर में या प्रत्येक आनन्द जनक पदार्थ में ज्ञान वाणियों, लोक समूहों, विद्वानों तथा पशुसमूहों को प्रदान कर।

ऋजुगः - (१) संरल सीधे मार्ग से निकलता हुआ गर्भस्थ बालक।

'स नो मृडाति तन्वऋजुगो रुजन्'

अ. १.१२.१.

ऋजुगाथः - (१) ऋजु, सरल, सत्य धर्म को उपदेश करने वाला (२) धर्मनीति में प्रजाओं को ले जाने वाला।

'धारवाकेषु ऋजुगाथ शोभसे'

ऋ. ५.४४.५

ऋजुनीतिः - सरलमार्ग।

'ऋजुनीती नो वरुणो मित्रो नयतु विद्वान्'

ऋ. १.९०.१

श्रेष्ठ उपकारी और न्यायकारी विद्वान् (वरुणः मित्रः अर्यमा विद्वान्) हमें सत्य मार्ग से ले चले (ऋजुनीती नयतु)। -(दया.)

दिन का देवता मित्र तथा रात्रि का देवता वरुण जो लक्ष्य स्थान का ज्ञाता है (विद्वान्) हमें सरल मार्ग से (नःऋजुनीती) कर्ममार्ग की प्राप्ति के निमित्ति एक लोक से दूसरे लोक को ले जाए।

ऋजुमुष्क - यः ऋजुणामुष्णाति (१) ऋजु सरल धर्ममार्ग से परिपुष्ट होने वाला, (२) धर्मनीति से पुष्ट

'ऋजुमुष्कान् वृषणः शुक्राश्च'

ऋ. ४.२.२.

ऋजुमुष्काः - (१) सरल धार्मिक नीति से पुष्ट होने वाले, (२) अग्नि की ज्वालाएं।

'अरुषासो वृषण ऋजुमुष्काः'

ऋ. ४.६.९

ऋजुवनिः - सरल धर्मयुक्त पुरुषों को नाना पदार्थ देने वाली पृथिवी।

'स्मत् सूरिभिः ऋजुहस्त ऋजुवनिः'

ऋ. ५.४१.१५.

ऋजुस् - ऋञ्ज् + असुन् = ऋजुष्। अर्थ - (१) प्रसाधन कर्म, (२) सजावट।

ऋजुहस्ता - सरल धार्मिक सिद्धहस्त हाथों या कार्य-कलाओं वाली पृथिवी।

ऋजूनाः - ऋजु + नास्। सरल नासिका वाला, योगाभ्यासी पुरुष।

'स्यूमरश्मावृजूनसि'

ऋ. ८.५२.२

ऋजूयत् - ऋतु के अनुकूल गमन करने वाला ऋतुगामी। सूर्य रश्मि या देवों का विशेषण।

'देवानां भद्रा सुमतिः ऋजूयताम्'

ऋ. १.८९.२, वाज.सं. २५.१५, मै.सं. ४.१४.२:२१७.७, नि. १२.३९.

ऋतुगामी देवों या रश्मियों की (ऋजूयताम् देवानाम्) कल्याणकारिणी सुन्दरमति हमारे प्रति हो (भ्रद्रा सुमतिः)

ऋजूयन् - अति विनयशील होकर रहने वाला ।

'ऋजूयन्तम् अनुव्रतम्'

ऋ. १.१३६.५

ऋजूया - अत्यन्त सरल मार्ग ।

'दिशं न दिष्टामृजूयेव यन्ता'

ऋ. १.१८३.५

ऋजूयु - (१) कर्मों से अपनी सरलता चाहने वाला, । (२) धर्म मार्ग पर चलने वाला ।

'सत्यमन्त्रा ऋजूयवः'

ऋ. १.२०.४.

ऋञ्ज् - (१) संगत होना, छाना ।

'समस्मिन् ऋञ्जतेगिरः'

ऋ. १.६.९, अ. २०.७०.५

(२) प्रसाधन करना ।

ऋञ्जति - ऋञ्ज् धातु प्रसाधन कर्म में प्रयुक्त होता है । अर्थ है (१) अलङ्कृत करता है ।

'आ व ऋञ्जस ऊर्जां व्युष्टिषु
इन्द्रं मरुतो रोदसी अनक्तन
उभे यथा नो अहनी सचाभुवा
सदः सदो वरिवस्यात उद्भिदा ।'

ऋ. १०.७६.१, नि. ६.२१.

हे पत्थरो ! तुम्हे अन्नवती या सारवती उषाओं के विभागों में (ग्रावाणः वः ऊर्जां व्युष्टिषु) चारों ओर से अलंकृत करता हूँ (आ ऋञ्जसे) । तुम सोम से इन्द्र , मरुत्, द्यौ और पृथ्वी को (इन्द्र मरुतं रोदसी) व्यक्त करो (अनक्तन) जिससे (यथा) परिचर्या करते हुए हमें (परिवस्यतः नः) साथ ही उत्पन्न (सचाभुवा) दोनों (उभे) द्यौ और पृथिवी (अहनी) घर घर या सभी यज्ञगृहों में (सदः सदः) उद्भेदक धन से (उद्भिदा) पूर्ण करें ।

अन्य अर्थ-हे मनुष्यो ! (मरुतः) बल दायिनी उषाओं के प्रादुर्भूत होने पर (ऊर्जाम् व्युष्टिषु) हृदय मन्दिर को सजाने के लिए (ऋञ्जसे) आप (वः) परमेश्वर (इन्द्रः) और द्युलोक एवं पृथिवी लोक को (रोदसी) विद्या द्वारा प्रकाशित कीजिए (आ अनक्तन) जिससे (यथा) हमारे दोनों दिनरात (उभे अहनी) हमारे अनुकूल होते हुए (सचाभुवा) आविर्भाव से (उद्भिदा) हमारे प्रत्येक गृह की परिपूजित करें । (सदः सदः वरिवस्यतः) ।

ऋञ्जती - (१) बहुत वेग से जाने वाली, (२) उत्तम कार्य साधिका विद्या ।

'मरुत ऋञ्जती शरुः'

ऋ. १.७२.२

ऋञ्जती शरु - बहुत वेग से जाने वाली, शत्रुओं को संताप देते और जलाने वाली, हिंसा करने वाली पंक्ति, (२) धार या शस्त्र (३) उत्तम कार्य साधन करने वाली विद्या (४) प्राणों की रोगादि नाशक शक्ति ।

ऋञ्जन् - ऋञ्ज् + शतृ = अञ्जन् । प्रसाधयन् । अलंकृत करता हुआ

'शासद्वह्निर्दुहितुर्नप्त्यङ्गात्
विद्वां ऋतस्यदीधितिं सपर्यन्
पिता यत्र दुहितुः सेकमृञ्जन्
सं शग्म्येन मनसा दधन्वे ।'

ऋ. ३.३१.१, ऐ.ब्रा. ६.१८.२, १९.४, गो.ब्रा. २.५.१५, ६.१, नि. ३.४.

अपुत्र पिता जो कन्या को अन्य कुल में भेजता है (वह्निः) विवाह करते समय वर से इस प्रकार कहता हुआ कि तुझे मैं इस अभ्रातृ का कन्या को अलङ्कृत कर देता हूँ तथा इस कन्या से जो पुत्र होगा वह मेरा होगा (शासन्) अपनी कन्या के पुत्र को (दुहितुः नप्त्यम्) अपना पुत्र समझता उसे अपनाता है (गात्) यह जानता हुआ कि (विद्वान्) यह पुत्र मुझे पिण्ड-दान करेगा । वह पिता पुत्रोत्पादन समर्थ रेतस् को धारण करने वाले (ऋतस्य दीधितिम्) जामाता को वस्त्रालंकारादि से पूजता हुआ (सपर्यत्) उसके पुत्र में नप्तृ का भाव उत्पन्न करता है । विवाह करते समय (यत्र) वह अपुत्र पिता लड़की के सेक्ता या पति को (सेकम्) अंलकृत करता हुआ (ऋञ्जन्) सुखी मन से (शग्मेन मनसा) अपने मन को आश्वस्त करता है कि इस प्रकार मैं भी पुत्रवान् हो जाऊंगा (सन्दधन्वे) अथवा जिस कन्या का पति (पिता) उसमें वीर्य

सिञ्चन सिर्फ सुख भाव से ही करता है यह सोच कर कि तुमसे होने वाला पुत्र उसके श्वसुर का होगा- सा.

इस ऋचा का अर्थ कई विद्वान् कन्या के दायभागित्व के प्रामाण रूप में उपस्थिति करते हैं और कई पुत्र के दायभागी होने में । मन्त्र के पूर्वार्द्ध और उत्तरराद्ध का एक साथ अर्थ करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि पुत्र न होने पर कन्या को पुत्र स्थानी मानकर नप्ता को ही पौत्र समझें ।

(२) ऋञ्ज् (अलंकृत करना) + असुन् = ऋञ्जम् । अर्थ सजावट, अलंकरण ।

अंग्रेजी का range धातु ऋञ्ज् का ही विकृत रूप है। जिससे arrange बनता है ।

ऋञ्जसानः - (१) उत्तम रीति से समृद्ध करता हुआ परमेश्वर ।

'विश आरीः आहुतमृञ्जसानम्'

ऋ. १.९६.३

(३) किए कर्मों को प्राप्त करता हुआ ।

(४) सब कार्यों को सहज ही में साधता हुआ ।

'रथान वि क्ष्वृञ्जसान आयुषु'

ऋ. १.५८.३

एक देह से दूसरी देह में जाने वाला जीव (रथः) सब कार्यों को सहज ही में साधता हुआ (ऋञ्जसानः) बाल्य, यौवन और वार्द्धक्य आदि आयु की नाना दिशाओं में (आयुषु) ।

(४) अच्छी प्रकार वश करता हुआ

'ऋञ्जसानः पुरुवार उक्थैः'

ऋ. ४.२१.५

ऋण - (न) (१) जल, (२)मेघ, (३) कर, (४) ऋण ।

'ऋतवानः चयमानाः ऋणाति'

ऋ. २.२७.४, तै.सं. २.१.११.५, मै.सं. ४.१२.१, १७७.१०, का.सं. ११.१२.

(पुः) (५) चुपचाप निकल भागने वाला (६)वर्ग वर्धन करने वाला, (७) योग करने वाला ।

'ऋणोनतायुः अतिधन्वाराट्'

ऋ. ६.१२.५

कर्ज के अर्थ में -

'यथर्ण संनयन्ति'

अ. ६.४६.३, अ. १९.५७.१

जल के अर्थ के लिए । जिसका अर्थ अपगतार्ण (जिससे जल सम्बन्ध न हो) किया गया है । दशार्ण देश में ऋण का अर्थ भट्टोजिदीक्षित ने जल किया है । हेम ने 'ऋणं देये जले दुर्गे' ऐसा कहा है । दुर्ग ने ऋण को ही जलवाची माना है ।

(८) ओषधि ।

ऋणकाति - धनोत्पादक ।

'ऋणकातिमदाभ्यम्'

ऋ. ८.६१.१२

ऋणचित् - धनों का संग्रह करने वाला बृहस्पति का विशेषण ।

'स ऋणचित् ऋणया ब्रह्मणस्पतिः'

ऋ. २.२३.१७

ऋणच्युत - (१) जलों से प्राप्त होने वाला विद्युत्, (२) ऋण से मुक्त करने वाला, (३) पितृऋण से मुक्त कर देने वाला पुत्र ।

'इयमददात् रभसं ऋणच्युतम्'

ऋ.६.६१.१, का.सं. ४.१६, ऐ.ब्रा. ५.१२.५, आश्व.श्रौ.सू. ८.१.१२.

ऋणञ्चयः - (१) धन-संग्रही, (२)जिससे ऋण लिया जाता है ।

'ऋणञ्चयस्य प्रयता मघानि'

ऋ. ५.३०.१२

ऋणयावा - (१) जल लाने वाला वायु, ।

(२) सत्य धर्माचरण करने वाला, ईमानदार, (३) अपने और पराए के ऋम को चुकाने वाला ।

'असिसत्य ऋमयावा नेद्यः'

ऋ.१.८७.४

हे वायु या वीर नायक ! तू जल लाने वाला या ईमानदार ऋण चुकाने वाला पृथिवी पर विद्यमान जन्तुओं का हितकारी एवं अनिन्द्य ।

ऋणयाः- (१) ऋण लेने वाला, अधमर्ण ।

'ऋणा चिद्यत्र ऋणया न उग्रः'

ऋ. ४.२३.७

(२) ऋण चुकाने वाला, ।

(३) सबके अन्त हो जाने पर भी प्राप्त होने वाला- परमेश्वर ।

'असिसत्; ऋणया ब्रह्मणस्पते'

ऋ. २.२३.११.

ऋण्वति – प्राप्त करता और भोगता है ।

'व्यानुषक् वार्या देव ऋण्वति'

ऋ. १.५८.३

बाल्य, यौवन एवं वार्द्धक्य सभी दशाओं में अनुकूल या निरन्तर (आनुषक्) परिवर्तन –रहित रहकर नाना वरणीय ऐश्वर्यों के (वार्या), स्वयं विविध उपायों से प्राप्त करता और भोगता है (ऋण्वति) ।

ऋणावा – ऋणी ।

'जायातप्यते कितवस्य हीना
माता पुत्रस्य चरतः क्वसित्
ऋणावा बिभ्यत् धनमिच्छमानः
अन्येषामस्तमुपनक्तमेति ।

ऋ. १०.३४.१०

कहीं (क्वसित) मारे फिरते हुए जुआड़ी की स्त्री हीनावस्था को प्राप्त हो दुःख भोगती है, पुत्र की दुरवस्था देख माता संतप्त होती है और वह ऋण ग्रस्त जुआरी धन की इच्छा से रात में डरता डरता दूसरे के घर में चोरी करने जाता है ।

ऋणावान् – ऋणवाला ।

'येमर्त्यं पृतनायन्तमूमैः
ऋणावाणं न पतयन्त सर्गैः'

ऋ. १.१६९.७

ऋतायत् – जल प्रदान करता हुआ, (२) सत्य धर्मानुकूल सुख की कामना करता हुआ । 'ऋन' से 'ऋक्तय' धातु बना है ।

'अस्य मे द्यावापृथिवी ऋतायतः'

ऋ. २.३२.१

ऋणोः – पहुंचाता है।

'ऋणोरक्षं च चक्रयोः'

ऋ. १.३०.१४, अ. २०.१२२.२, साम. २.५३५.

जैसे चक्रो के बीच में लगा हुआ धुरा गति करता हुआ स्वंय भी चलता है और अन्यों को भी अभिलषित स्थान तक पहुंचाता है ।

ऋतम् – ऋ (गत्यर्थक) + क्त = ऋत । अर्थ – (१) जल । ऋतमिति उदक नाम (ऋत उदक का नाम है) ।

'प्रत्यृतं भवति ।'

(२) यज्ञ । .

'तनूनपात् पथ ऋतस्य यानान्
मध्वा समञ्जन् स्वदया सुजिह्व'

ऋ. १०.११०.२, अ. ५.१२.२, वाज.सं. २९.२६, मै.सं. ४.१३.३: २०१.१०, का.सं. १६.२०, तै.ब्रा. ३.६.३.१, नि. ८.६.

हे अग्ने ! यज्ञ के इन फल प्राप्ति कारक मार्गों को मधु से मिलाते हुए स्वादिष्ट बना ।

पुनः,

'मा शिश्नदेवा अपि गुर्ऋतं नः'

ऋ. ७.२१.५, नि. ४.१९.

विषयी अब्रह्मचारी भी हमारे यज्ञ में न आवें ।

(३) सत्यात्मक आदित्य, (४) सृष्टि, (५) यज्ञ, (६) संवत्सर रूपी काल ।

'द्वादशारं नहि तज्जराय
वर्वर्ति चक्रं परिद्यामृतस्य'

ऋ. १.१६४.११, अ. ९.९.१३, नि. ४.२७.

सत्यात्मक आदित्य, सृष्टि, यज्ञा या संवत्सर काल का अंगभूत चक्र या मण्डल जिसमें १२ अर हैं सदा अन्तरिक्ष के ऊपर चलता रहता है (७) सत्यविद्या या यज्ञ ।

'रथीर्ऋतस्य नो भव'

ऋ. ६.५५.१.

हे पूषन, सूर्य या विद्वन् ! आप हमारे यज्ञ के गमयिता या सत्यविद्या के प्राप्त कराने वाले हैं । (८) मध्यम ऋतदेव जो अन्तरिक्षस्थ है और जल बरसाता है । अन्तरिक्ष का देवता ।

'ऋतस्यहिं शरुधः सन्ति पूर्वी'

ऋ. ४.२३.८, आश्व.श्रौ.सू. ९.७.३६, नि. ६.१६, १०.४१.

मध्यम ऋतदेव के पूर्वकालीन जल हैं ।

(९) वेदज्ञान, –दया. (१०) रेतस् वीर्य ।

'ऋतस्य दीधितिः'

(११) शकट, । (१२) संवत्सर ।

(१३) गतिशील व्यक्त संसार, (१४) अन्न ।

'प्रसीमादित्यो असृजत् विधर्ता
ऋतम् सिन्धवो वरुणस्य यन्ति'

ऋ. २.२८.४

अंग्रेजी का right शब्द ऋत का बिगड़ा रूप है ।

ऋतकर्मा – सत्पुरुषों के आचारित हितकर्मों को करने वाला ।

ऋतचित् - (१) सत्यज्ञान या ऐश्वर्य को संग्रह करने वाला ।

'अग्निर्विद्वाँ ऋतचित् हि सत्यः'

ऋ. १.१४५.५

(२) सत्यज्ञान और पुण्य ज्ञान का उपार्जन करने वाला, (३) वेदद्वारा यज्ञ चयन करने वाला ।

'स सुक्रतुः ऋतचित् अस्तु होता'

ऋ. ७.८५.४

ऋतचित् नारी - (१) सत्य वचन की प्रतिज्ञा करने वाली स्त्री, (२) धन संचय करने वाली नरों से युक्त पृथिवी, (३) सत्यवचन से बद्ध नायक मनुष्यो से युक्त सेना ।

'विवां चिकित्सत् ऋतचिद्ध नारी'

ऋ. ४.१६.१०

ऋतज्ञः - (१) सत्यस्य वेदिता वा यज्ञस्य वेदिता । सत्य या यज्ञ या वेद या ऋतु या उदक -विज्ञान का ज्ञाता । (२) सत्य व्यवस्था का ज्ञाता

'धनेषु विप्रा अमृता ऋतज्ञाः'

ऋ. ७.३८.८, वाज.सं. ९.१८, २१.११, तै.सं. १.७.८.२, ४.७.१२.१, मै.सं. १.११.२, १६२.१२, का.सं. १३.१४, श.ब्रा. ५.१.५. २४.

ऋतज्ञाः पितरः - (१) पितर जो यथावत् सत्य के ज्ञाता हैं ।

(२) सत्य ज्ञाता हैं या यज्ञज्ञाता -दया ।

'असुं य ईयुरवृका ऋतज्ञाः
ते नोऽवन्तु पितरः हवेषुः'

ऋ. १०.१५.१, अ. १८.१.४४, वाज.सं. १९.४९, तै.सं. २.६.१२.३, मै.सं. ४.१०.६, १५७.५, नि. ११.१८.

ऋतज्य - (१) सत्यं ज्या यस्मिन् (जिसमें सत्य ही ज्या है) -दया. (२) उत्तम डोरी वाला धनुष (३) सत्य वचन और व्यवहार रूपी डोरी

'ऋतज्येन क्षिप्रेण ब्रह्मणस्पतिः'

ऋ. २.२४.८

ऋतजाः - (१) सत्य से परिष्कृत (२) ऋत से उत्पन्न

'रथो ह वामृतजा अद्रिजूतः'

ऋ. ३.५८.८

(३) सत्य और ज्ञान से विशेष सामर्थ्यवान्

'अब्जा गोजा ऋतजा अद्रिजा ऋतंबृहत्'

ऋ. ४.४०.५, वाज.सं. १०.२४, १२.१४, तै.सं. १.८.१५.२, ४.२.१.५, मै.सं. २.६.१२, ७१.१५, का.सं. १५.८.१६.८, ऐ.ब्रा. ४.२०.५, श.ब्रा.५.४.३.२२, ६.७.३.११, तै.आ. १०.१०.२, ५०.१, कठ.उप. ५.२, महा.ना.उप. ९.३,१७.८, नि. १४.२९.

ऋतजात - (१) सत्याचरण से प्रसिद्ध (२) सत्य, राष्ट्रशास्त्र प्रजापालन एवं धर्माचरण में कुशल ।

'दीदेथ कण्व ऋतजात उक्षितः'

ऋ. १.३६.१९

तू विद्वान् ज्ञानी पुरुष के आश्रय में रहकर सत्याचरण से प्रसिद्ध एवं धर्माचरण में कुशल हो अभिषेचित होकर चमक ।

(३) सत्यज्ञान में उत्पन्न ।

'ऋतजाता ऋतावृधः'

अ. १८.२.१५

ऋतजाता-ः - (१) सत्य में उत्पन्न होने वाले वायुगण ।

(२) सत्य, न्याय, व्यवहार, ऐश्वर्य और सत्य ज्ञान के लिए प्रसिद्ध (३) जल से उत्पन्न प्राणगण ।

'ऋतजाता अरेपसः'

ऋ. ५.६१.१४

ऋतजाता - सत्य ज्ञान को देने वाली वाणी ।

'शुशोच सूर्य ऋतजातया गिरा'

ऋ. १०.१३८.२

ऋतज्ञा - (१) जलोत्पादक नदी ।

(२) सत्य प्रतिज्ञावाली स्त्री

'ध्वस्त्राअपिन्वत् युवती ऋतज्ञाः'

ऋ. ४.१९.७

ऋतजुर - सत्यज्ञान को प्राप्त करने वाला जन ।

'त्यं चिदत्रिमृतजुरम्   '

ऋ. १०.१४३.१

ऋतद्युम्न - (१) सत्य ज्ञानमय वेद से कान्ति युक्त (२) सत्य कान्ति युक्त ।

'ऋतं वदन ऋतद्युम्न'

ऋ. ९.११३.४

ऋतधामा - (१) सत्यं पर दृढ़, (२) सत्य ज्ञान रूप अवनाशी तेज वाला ।

'ऋताषाद् ऋतधामाग्निर्गन्धर्वः'

वाज.सं. १८.३८

ऋतधीति - (१) ऋत अर्थात् सत्य ज्ञान का धारक ।

'प्रसप्तगुमृतधीतिं सुमेधाम्'

ऋ. १०.४७.६

(२) ऐश्वर्य, न्याय या सत्य ज्ञान का धारण या पालन ।

'ऋतधीतय आगत'

ऋ. ५.५१.२

पुनः

'ऋतधीतयो रुरुचन्त दस्माः'

ऋ. ४.५५.२

(३) जल धारक किरण ।

(४) ज्ञान धारण करने का उपाय ।

'ऋतधीतिभिः ऋतयुक् युजानः'

ऋ. ६.३९.२

(४) सत्य कर्म करने और सत्य शास्त्रों के पढ़ने वाला ।

'ऋतधीतयो वक्म राज सत्याः'

ऋ. ६.५१.१०

ऋतानिः - (१) सत्य मार्ग में ले जाने वाला उत्तम नायक ।

(२) सत्य वचनानुसार परिणय करने वाली स्त्री ।

'योराजभ्य ऋतनिभ्यो ददाश'

ऋ. २.२७.१२

ऋतप्रजात - (१) वेदज्ञान, सत्य, न्याय और धर्म से प्रसिद्ध पुरुष ।

'यद्दीदयत् शवस ऋतप्रजात्'

ऋ. २.२३.१५, वाज.सं. २६.३, तै.सं. १.८.२२.२, मै.सं. ४.१४.४, २२०.४ का.सं. ४.१६, ४०.११, ऐ.ब्रा. ४.११.८.

(२) कारण से उत्पन्न वायु-दया. ।

'सोमो न वेधा ऋतप्रजातः'

ऋ. १.६५.१०

(३) सत्य व्यवहार, धर्म और ज्ञान द्वारा प्रसिद्ध, एवं उत्कृष्ट, (४) व्यक्त जगत् का उत्पादक, सत्य रूप प्रसिद्ध परमेश्वर ।

ऋतप्रजाता - (१) ठीक रीति से जीवित बालक को प्रसव करने वाली स्त्री ।

'सिस्रतां नारी ऋतप्रजाता'

अ. १.११.१

(२) समस्त ऋत-संसार को उत्पन्न करने वाली प्रकृति ।

(३) सत्य ज्ञान को उत्पन्न करने वाली वेदवाणी ।

'ऋतप्रजातां बृहतीमविन्दत्'

ऋ. १०.६७.१, अ. २०.९१.१

ऋतप्रवीत - (१) जल युक्त भूमि, (२) सूर्य से प्रेरित भूमि, (३) सत्य कारण से जात या उदक से चालित ।

'स्थातुश्च रथम् ऋतप्रवीतम्'

ऋ. १.७०.७

जो जल से युक्त या सूर्य से प्रेरित भूमि स्थावर वृक्ष से बने रथ के तुल्य बनाता है ।

ऋतप्सू - अश्विद्वय या पति पत्नी का विशेषण । अर्थ-सत्य ज्ञान को प्राप्त करने के अभिलाषी

'अन्तर्यत् वनिनो वाम् ऋतप्सू'

ऋ. १.१८०.३.

ऋतपा - सत्य व्यवहार को पालन करने वाली उषा या स्त्री ।

'यावयत् द्वेषा ऋतपा ऋतेजाः'

ऋ. १.११३.१२

हे उषा के समान तेज और कान्ति को धारण करने वाली स्त्री ! तू समस्त अप्रीति कारक द्वेषोत्पादक कर्मों को दूर करती हुई सत्य व्यवहार, ज्ञान, यज्ञ, अन्न आदि ऐश्वर्यों के निमित्त गुणों में विख्यात होने वाली ।

ऋतपेशस् - सत्य ज्ञान का धनी ।

'वरुणाय ऋतपेशसे
दधीत प्रयसे महे '

ऋ. ५.६६.१

ऋतकृण्वत् - (१) जल निर्माता सूर्य ।

(२) सत्यज्ञान, वेद और सत्य जगत् का कर्त्ता परमेश्वर ।

(३) ऐश्वर्य या राज्य व्यवस्था नियमादिका संचालक राजा ।

'ऋतं देवाय कृण्वते सवित्रे'

ऋ. २.३०.१

ऋतंयत् - (१) अन्न प्राप्त करने का प्रयत्न करने वाला, (२) वेद और ऐश्वर्यों को प्राप्त होने वाला ।

'तनूनपात् ऋतं यते'

ऋ. १.१८८.२.

ऋतंयती सरमा - (१) सत्य ज्ञान को प्राप्त करने में यत्नशील बुद्धि ।

'ऋतं यती सरमा गा अविन्दत्'
ऋ. ५.४५.७

ऋतं शसन् - (१) जल की सूचना देता हुआ मेघ। (२) सत्योपदेश करता हुआ।
'ऋतं शंसन्त ऋतमित्त आहुः'
ऋ. ३.४.७, ७.८.

ऋतयन् - सत्यज्ञान की प्राप्ति का जिज्ञासु पुरुष।
'कदु स्तुवन्त ऋतयन्त देवता'
ऋ. ८.३.१४, अ. २०.५०.२,२१.१, कौ.ब्रा. २४.६, गो.ब्रा. २.६.३, आश्व श्रौ.सू. ७.४.६.

ऋतयुक् - (१) तेजो युक्त सूर्य या विद्युत्, (२) सत्य-ज्ञान के भीतर योग देने वाला, (३) सत्य ज्ञान का योग कराने वाला गुरु। ऋत + युज् + क्विप्।
'ऋतधीतिभिःऋतयुक्युजानः'
ऋ. ६.३९.२

ऋतयुक्ति - ऋत + युज + क्तिन्। ऋतुकाल में स्त्री गम।
'ऋतं वदन्त ऋतयुक्ति मग्मन्'
ऋ. १०.६१.१०

ऋतयुः - व्यवहार, ज्ञान या यज्ञादि को चाहने वाला।
'त्वं न इन्द्र ऋतयुः'
ऋ. ८.७०.१०.

ऋतवाक - त्रिकालबाधितसत्य, ज्ञानमय वेदवचन।
'ऋतवाकेन सत्येन'
ऋ. ९.११३.२

ऋतवादी - सत्यवादी, सत्यज्ञानी।
'ऋतमृतवादिभ्यो नमोद्यावापृथिवीभ्याम्'
वाज.सं. ५.७, तै.सं. १.२.११.१, मै.सं. १.२.७, १७.२, का.सं. २.८, ऐ.ब्रा. १.२६.५, गो.ब्रा. २.२.४, श.ब्रा. ३.४.३.२१, आश्व.श्रौ.सू. ४.५.७, शा.श्रौ.शू. ५.८.५, वै.सू. १३.२४.

ऋतसद् - ऋत अर्थात् सत्य पर आश्रित।
'नृषद्वरसद् ऋतसद् व्योमसत्'
ऋ. ४.४०.५, वाज.सं. १०.२४, १२.१४, तै.सं. १.८.१५.२, ४.२.१.५, मै.सं. २.६.१२, ७१.१५, का.सं. १५.८,१६.८, ऐ.ब्रा. ४.२०.५, श.ब्रा. ५.४.३.२२, ६.७.३.११, तै.आ. १०.१०.२, ५०.१, कौ.सू. १८.३.६, कठ.उप. ५.२, महा.ना.उप. ९.३, १७.८, नि. १४.२९.

ऋतसदनम् - (१) राज्य शासन का मुख्य स्थान-सभावन।
'वरुणस्य ऋतसदनमासीद'
वाज.सं. ४.३६, मै.सं. १.२.६, १६.५, श.ब्रा. ३.३.४.२९, का.श्रौ.सू. ७.९.३०,
'वरुणस्य ऋतसदनमसि'
वाज.सं. ४.३६, का.सं. २.७, श.ब्रा. ३.३.४.२९.

ऋतसदनी - ज्ञानों का आश्रयभूत विद्वत्सभा।
'वरुणस्य ऋतसदन्यसि'
वाज.सं. ४.३६, श.ब्रा. ३.३.४.२९, का.श्रौ.सू. ७.९.२८. आप.श्रौ. सू. १०.३१.२.

ऋतसाप् - ऋत + सप् (स्पर्श करण) = ऋतसाप्। अर्थ -(१) वेदाध्यायी, (२) वेदवाणी, (३) धन और ज्ञान का संचय करने वाली
'इषुध्यवः ऋतसापः पुरन्धीः'
ऋ. ५.४१.६
(४) सत्यवचन के आधार पर दृढ़ता से समवाय बनाने वाला, सत्य पर दृढ़ पुरुष।
'ये अग्निजिह्वाऋतसाप आसुः'
ऋ. ६.२१.११

ऋतस्तुम् - ऋत + स्तुभ् + क्विप्। सत्य ज्ञान का उपदेष्टा।

ऋतस्थाः - सत कारण में आधार रूप से बैठा हुआ परमेश्वर ब्रह्म।
'स हि दिवः सपृथिव्या ऋतस्थाः'
अ. ४.१.४

ऋतस्पतिः - सत्यपालक।
'तव वायवृतस्पते'
ऋ. ८.२६.२१, वाज.सं. २७.३४, वाज.सं.(का.) २७.३३, आश्व.श्रौ.सू. ३.८.१, शां.श्रौ.सू. ३.१८.५.

ऋतस्पृक् - ऋत + स्पृश् + क्विप्। (१) सत्यतत्व को पहुँचने वाला विद्वान् (२) अखण्ड ब्रह्म शक्ति का दोहन करने वाला।
'अत आत ऋतस्पृशो निषेदुः'
ऋ. ४.५०.३, अ. २०.८८.३
(३) सत्य का ज्ञान कराने वाली वाणी।
'नवस्त्रक्तिम् ऋतस्पृशम्'
ऋ. ८.७६.१२, अ. २०.४२.१, साम. २.३४०, ऐ.आ. २.३.६.४,५.

(४) तेजस्वी।
'ते हि सत्या ऋतस्पृशः'
ऋ. ५.६७.४

ऋतस्पृशा - (१) ब्रह्म की प्राप्ति कराने के निमित्त, (२) उचित समय पर जल वृष्टि कराने वाले।
'ऋतावृधावृतस्पृशा'
ऋ. १.२.८, साम. २.१९८.

ऋतस्यऋतम् - (१) सत्यमय ईश्वर का सत्य ज्ञान, (२) वेद व्यवहार।
'ऋतस्यर्तेन मुञ्चत'
अ. ६.११४.१, तै.ब्रा. २.४.४.८.

ऋतस्यगर्भः - (१) तेज को अपने भीतर धारण करने वाला अग्नि।
(२) सत्य न्याय व्यवहार को अपने में धारण करने वाला पुरुष।
'यमायो अद्रयो वना गर्भम् ऋतस्य पिप्रति'
ऋ. ६.४८.५

ऋतस्य गोपाः - सत्य तथा वेद ज्ञान का रक्षक विद्वान्
'ऋतस्य या अभिरक्षन्ति गोपाः'
ऋ. १.१६३.५, वाज.सं. २९.१६, तै.सं. ४.६.७.२, का.सं. ४०.६.

ऋतस्य ज्योतिषः पतिः - जीवनमय ज्योति अर्थात् चेतना का परिपालक।
'ऋतस्य ज्योतिषस्पतिम्'
अ. ६.३६.१, साम. २.१०५८, वाज.सं. २६.६, तै.सं. १.५.११.१, मै.स. ४.११.१, १६०.११, का.सं. ४.१६, आश्व.श्रौ.सू. ८.१०.३, शां.श्रौ.सू. ३.३.५.

ऋतस्य दीधितिः - (१) पुत्रोत्पादन -समर्थ रेतस् को (ऋतस्य) धारण करने वाला।
पुत्रोत्पादन - समर्थ रेतस को धारण करने वाले जामाता को पूजता हुआ लड़की का पिता
(२) धर्मशास्त्र या सत्य को धारण करने वाली व्यवस्था
'विद्वाँ ऋतस्य दीधितिं सपर्यन्'
ऋ. ३.३१.१, नि. ३.४.

ऋतस्यनाभिः- सत्य ज्ञान, समस्त संसार या यज्ञ का एकमात्र आश्रय-परमेश्वर।
'ऋतस्य नाभावभि संपुनाति'
ऋ. १०.१३.३, अ. १८.३.४०.

ऋतस्यपत्नी - महत् यज्ञ, सत्य और ज्ञान का पालन करने वाली ब्रह्म की ज्ञानमयी भवतारिणी शक्ति।
'ऋतस्य पत्नी मवसे हवामहे'
अ. ७.६.२, वाज.सं. २१.५, तै.सं. १.५.११.५, का.सं. ३०.४, ५, मै.सं. ४.१०.१, १४४.१०, आश्व.श्रौ.सू. २.१.२९, शां.श्रौ.सू. २.२.१४.

ऋतस्यपन्थाः - सत्यस्वरूप यज्ञप्रजापति का मार्ग।
'ऋतस्य पन्था मनुपश्य साधु'
अ. १८.४.३

ऋतस्य प्रथमजा - (१) सब नियमों का प्रथम उत्पादक परमेश्वर।
'उपातिष्ठे प्रथमजामृतस्य'
अ. २.१.४
(२) सत्य ज्ञान अथवा इस गतिमान् जगत् के भी पूर्व ही मूल कारण रूप से विद्यमान विश्वकर्मा-परमेश्वर।
'विश्वकर्मन् प्रथमजा ऋतस्य'
अ. ६.१२२.१
(३) सत्य ज्ञानमय वेद के प्रथम प्रथम उत्पन्न ज्ञान।
'यदामागन् प्रथमजाऋतस्य'
ऋ. १.१६४.३७, अ. ९.१०.१५.

ऋतस्य पूर्वी - सत्यज्ञान की सनातन वेदवाणी।
'पूर्वीर्ऋतस्य बृहती रनूषत'
ऋ. ८.५२.९, अ. २०.११९.१, साम. २.१०२७.

ऋतस्यमातरः - सत्यज्ञाना वेद के जानने वाले विद्वान्।
'यह्वीर्ऋतस्य मातरः'
ऋ. ९.३३.५

ऋतस्ययोनिः - (१) जल का आश्रय स्थान महान् आकाश।
'ऋतस्य योना विघृते मदन्ती'
ऋ. ३.५४.६
(२) सत्य का आश्रय परमेश्वर।
'ऋतस्य योना गर्भे सुजातम्'
ऋ. १.६५.४.
(३) जल का आश्रय मेघ।
'आपुषायन् मधुन ऋतस्य योनिम्'
ऋ. १०.६८.४, अ. २०.१६.४

ऋतस्य वर्तनयः - (१) अन्न के उत्पादक विद्वान्, (२) ज्ञान, सत्य निर्णय और ऐश्वर्य को प्राप्त

करने वाले (३) ज्ञानार्थी (४) सत्यार्थी, (५) धनार्थी ।

'ऋतस्य हि वर्तनयः सुजातम्'

ऋ. १०.५.४

ऋतस्य वाक् - मन्त्र वाणी ।

'अस्य होतुः प्रदिश्यृतस्य वाचि
स्वाहा कृतं हविरदन्तु देवाः'

ऋ. १०.११०.११, अ. ५.१२.११, वाज.सं. २९.३६, मै.सं. ४.१३.५, २०५.६, का.सं. १६.२०, तै.ब्रा. ३.६.३.४, नि. ८.२१.

इस आहवनीय अग्नि के स्वाहपूर्वक मन्त्र द्वारा दिया आज्य रूपी हवि देवता पीवें ।

ऋतस्य वेधा - गतिशील जगत् की विधात्री प्रकृति ।

'वेधा ऋतस्य वीरिणी'

ऋ. १०.८६.१०, अ. २०.१२६.१०

ऋतस्य सदनम् - (१) जल का घर, सूर्य ।

'त आववृत्रन् सदनात् ऋतस्य'

ऋ. १.१६४.४७, अ. ६.२२.१, ९.१०.२२, १३.३.९, मै.सं. ४.१२.५, १९३.८, का.सं. ११.१३, नि. ७.२४.

वे रश्मियां जल के गृह सूर्य से लौटती हैं ।

(२) सत्य ज्ञान प्राप्त करने का स्थान-गुरु गृह (३) सत्य ज्ञान के आश्रय स्थान परमात्मा का सदन ।

'प्र ब्रह्मैतु सदनात् ऋतस्य'

ऋ. ७.३६.१, कौ.ब्रा. २५.२.

ऋतस्य सदः - (१) जल या गति शील संसार का एकमात्र स्थान अन्तरिक्ष (२) सत्य व्यवहार या अन्न से पूर्ण राजसभा ।

'ऋतस्य त्वा सदसि क्षेमयन्तम्'

ऋ. ३.७.२

ऋतस्य सुदुघा - (१) सत्य ज्ञान को अच्छी तरह देनेवाली ऋतम्भरा नामक प्रज्ञा ।

'भूया ऋतस्य सुदुघा पुराणवत्'

ऋ. १०.४३.९, अ. २०.१७.९.

ऋतसात - तय या स्वाध्याय में संलग्न ।

'येचित् पूर्वऋतसाताः'

अ. १८.२.१५

ऋतसाप् - यः आप्नुते स आप् आप् च समानश्च, साप् ऋत सत्यज्ञान, वेद को समान रूप से प्राप्त करने वाला ।

'ये चिद्धिपूर्वे ऋतसाप आसन्'

ऋ. १.१७९.२

ऋत्व्य - ऋतुकाल ।

'स्वायां तनूऋत्व्येनाधमानाम्'

ऋ. १०.१८३.२, आप.मं.पा. १.११.२,

ऋता - (१) वेदवाणी ।

'धियं वनेम ऋतया सपन्तः'

ऋ. २.११.१२.

(२) परस्पर सत्यव्यवहार से युक्त स्त्री पुरुष, (३) अश्विद्वय ।

'मित्रेव ऋताशतरा शातपन्ता'

ऋ. १०.१०६.५

ऋतात् अधि - (१) मेघ मण्डलस्थ जल के ऊपर विद्यमान सूर्य ।

(२) सत्य व्यवहार और सत्य व्यवस्था के ऊपर प्रकाशित राजा ।

'यमग्निं मेधातिथिः
कण्व ईध ऋतादधिं'

ऋ. १.३६.११

मेध्यातिथि कण्व या उत्तम संगत होने वाले अतिथिरूप शिष्यों से युक्त विद्वान् पुरुष मेघमण्डलस्थ जल के ऊपर स्थित सूर्य को ...स्थापित करते हैं ।

ऋतायत् - (१) सत्य ज्ञान, ऐश्वर्य, अन्न और वेदानुकूल न्याय व्यवस्था को कहने वाला (२) अग्नि ।

'तवनेष्ट्रं त्वमग्नित् ऋतायतः'

ऋ. २.१.२,१०.९१.१०

ऋतायन् - (१) जाता हुआ, (२) ज्ञान पूर्वक संचालित करता हुआ ।

'सर्गो न सृष्टो अर्वतीः ऋतायन्'

ऋ. ७.८७.१, का.सं. १२.१५.

(२) सत्य न्याय, और बल में बढ़ने वाला ।

'को नु वां मित्रावरुणा वृतायन्'

ऋ. ५.४१.१, मै.सं. ४.१४.१०,२३१.९ कौ.ब्रा. २३.३. श.ब्रा. १३.५.१.११.

ऋतायिनी - (१) अन्न वाले माता पिता, (२) अन्न और तेज से सम्पन्न ।

'ऋतायिनी मायिनी संदधाते'

ऋ. १०.५.३

ऋतायु - (१) जल का इच्छुक (२) सत्य और धन का इच्छुक।

'प्रणेतारः कस्यचित् ऋतायोः'

ऋ. १.१६९.५.

(३) ऋत + कयच् + उ= ऋतायु। यज्ञकाम (यज्ञ की इच्छा वाला) (४) जल युक्त मेघ

'स्वरन्ति घोषं विततं ऋतायवः'

ऋ. ५.५४.१२

ऋतावन् - ऋत + वनिप् = ऋतावान् (छन्दसि वनियौ च)। अर्थ (१) जलवाला , (२) नद, (३) तड़ाग, (४) सागर, (५) मेघ, (६)सत्यवान् (७) ब्रह्म यज्ञ में युक्त।

ऋतावरी - (१) सत्य कारण युक्ते द्यावा पृथिवी -दया. (सत्य कारण से युक्त दयौ और पृथिवी)।

(२) प्रकाश और जल से पूर्ण द्यावा पृथिवी।

(३) सत्य व्यवहार। उत्तम धन को चाहने और स्वीकार करने वाले पति पत्नी।

'ऋतावरी रजसो धारयत्कवी'

ऋ. १.१६०.१.

(४) सत्य कारण परमेश्वर की शक्ति को धारण करने वाली प्रकृति।

(५) धन के बल पर चलने वाली सेना

'ऋतावरीरिव संक्रोशमानाः'

ऋ. ४.१८.६

(६) सत्यज्ञान का वरण करने वाली ऋतम्भरा प्रज्ञा।

'माता गवामृतावरी'

ऋ. ४.५२.२, साम. २.१०७६.

(७) सत्यमयी।

'उपातिष्ठऋतावरि'

अ. १०.१०.९

(८) ऋत + वनिप् = ऋतत्वन्, ऋतत्वन् + ङीष= ऋतावरी, बाहुलक नियम से।

अर्थ-नदी

'रमध्वं में वचसे सोम्याय
ऋतावरीरुप मुहूर्त मे वैः'

ऋ. ३.३३.५, नि. २.२५.

ऐ नदियों, मुझ सोम बनाने वाले के लिए अपनी तीव्र गतियों से मुहूर्तमात्र ठहर जाओ।

(९) अन्न धनादि से सम्पन्न उषा या स्त्री।

'ऋतावरीमरुणप्सुं विभातीम्'

ऋ. ५.८०.१

(१०) चेतना शक्ति को अपने भीतर गुप्त रखने वाली आपः।

'अयं वत्स ऋतावरीः'

अ. ३.१३.७

ऋतावा - (१) सत्य ज्ञान और मूल कारण प्रकृति रूप ऋत या अव्यक्त तत्त्व का स्वामी।

'ऋतावानं विचेतसम्'

ऋ. ४.७.३

(२) जल से पूर्ण।

'यो अद्रिभित् प्रथमजा ऋतावा'

ऋ. ६.७३.१, अ. २०.९०.१, वै.सू. ३३.२०.

(३) धन-सम्पन्न, (४) सत्य न्याय विधान का पालक।

'दैवीनां देव ऋतुपा ऋतावा'

ऋ. ३.२०.४

ऋतावान् - (१) सत्य स्वरूप, (२) यज्ञवान् -यज्ञकर्त्ता।

ऋतावाना - (द्वि.व.) (१) सत्य न्यायशील प्रमुख पुरुष (२) मित्रावरुण का विशेषण।

'तथाराजाना करथो यदीमह
ऋतावाना यदीमहे'

ऋ. १.१३६.४

ऋतावृध् - (१) ऋतस्य सत्यस्य यत्रस्य वा वर्धयिता (सत्य या यज्ञ का बढ़ाने या प्रचार करने वाला (२) उदक वृध् जल का बढ़ाने वाला (३) वेदविद्या से वृद्ध।

'उत नोऽअहिर्बुध्न्यः शृणोत्वज
एकपात पृथिवी समुद्रः।
विश्वे देवा ऋतावृधो हुवानाः
स्तुता मन्त्राः कविशस्ता अवन्तु'

ऋ. ६.५०.१४, वाज.सं. ३४.५३, मै.सं. १.६.२, ८८.१२, अश्व.श्रौ.सू. ५.२०.६, शा.श्रौ.सू. ८.६.८, आप.श्रौ.सू. ५.१९.४,१३.१६.३, नि. १२.३३.

और (उत) अहिर्बुध्न्य हमारी स्तुति सुनें तथा अज स्तुति एकपात् पृथिवी, समुद्र एवं विश्वेदेव, ये सभी और दूसरे भी सत्य या यज्ञ के प्रचारक या वेद विद्या से वृद्ध हम से आहूयमान एवं पूर्व ऋषियों द्वारा स्तुत और

मेधावियों द्वारा प्रशंसित मित्र हमें रक्षा करें ।

ऋतावृधा - सत्य और यज्ञ को बढ़ाने वाले इन्द्र और अग्नि ।

'य इन्द्राग्नी सुतेषु वां
स्तवत्तेस्वृतावृधा ।'

ऋ. ६.५९.४, नि. ५.२२.

हे सत्य या यज्ञ के बढ़ाने वाले इन्द्र और अग्नि जो यजमान सोम रस चलाकर तेरी स्तुति करते हैं ।

(२) जल वृष्टि का हेतु होकर वृद्धि कार्य करने वाले ।

ऋताषाड् - (१) सत्य व्यवहार को सहन् करने वाला अर्थात असत्य को न सहन करने वाला (२) सत्य ज्ञान के बल पर पृथ्वी पर विजय प्राप्त करने वाला ।

'ऋताषाड्ऋतधामाऽग्निर्गन्धर्वः'

वाज.सं. १८.३८, वाज.सं.(का.) २०.२१. तै.सं. ३.४.७.१, मै.स. २.१२.२,१४५.१. का.सं. १८.१४, श.ब्रा. ९.४.१.७.

ऋजिष्य - (१) ऋजु सरल धर्मानुकूल व्यवहार करने वाला, (२) सरल व्यवहारों का वर्द्धक -दया.

'सखाय इन्द्रकाम्या ऋजिप्याः'

ऋ. ३.३१.१७

ऋति - (१) हत्या आदि का कार्य, (२) शत्रुनाशे ।

'ऋतये स्तेन हृदयम्'

वाज.सं. ३०.१३

ऋतिषाट् - (ऋतीषाट्) दुःखदायी हिंसकों को पराजित करने वाला ।

ऋत्विक् - (१) ईरणः-स्तुतीनाम ईरयिता (स्तुतियों को प्रेरित करने वाला) (२) शाकपूणि के मत से ऋत्विक ऋग्यष्टा अर्थात् ऋचाओं से पूजा करने वाला है । (३) ऋतुयाजी (ऋतु के अनुसार यजन करने वाला) ।

'वसन्ते ब्राह्मणो अग्नीन् आदधीत,
वर्षासु राजन्यः शरदि वैश्यः'

वसन्त ऋतु में ब्राह्मण, वर्षा में क्षत्रिय और शरद् में वैश्य अग्नि का आधान करें ।

ऋत्विज् के चार भेद हैं ।

(१) होतृ (२) उद्गातृ (३) अध्वर्यु और (४) ब्रह्मन् (५) समय समय पर शिल्पादि यज्ञों में सहायक -दया.

व्युत्पत्ति - ऋतु + यज् + क्विप् = ऋत्विज् ।

ऋत्विय - (१) सत्य ज्ञान को धारण करने वाले गुरुओं के अधीन रहने वाला शिष्य ।

'होता पृथिव्यां न्यसीदत् ऋत्वियः'

ऋ. १.१४३.१

(२) प्रति ऋतु के अनुकूल यज्ञ करने वाले ऋत्विजों के योग्य आदर सत्कार, (३) अग्नि ।

'तवाग्ने होत्रं तव पोत्रम् ऋत्वियम्'

ऋ. २.१.२, १०.९१.१०.

(४) ऋतु के अनुकूल यज्ञ करने वाला ।

'सत्तो होता न ऋत्वियः'

अ. २०.२३.२

ऋत्वियभागः - (१) ऋतु अनुकूल भाग (२) सत्यज्ञान, ब्रह्ममय, प्राप्तव्य मोक्षपद, (३) प्राण-सम्बन्धी भाग- इन्द्रियगण ।

'इन्द्रस्यभाग मृत्वियम्'

ऋ. १०.१७९.१, अ. ७.७२.२.

ऋत्वियः योनिः - ऋतुओं, राजकर्त्ताओं और सदस्यो में आश्रित राजाग्नि का मूल आश्रय स्थान

'ऋतवो वै सोमस्य राज्ञो राजभ्रातरो
यथा मनुष्यस्य'

वै १.१.१.१३

'ऋतव उपसद'

श.ब्रा. १०.२.५.७

'सदस्या ऋतवोऽभवन्'

तै.ब्रा. ३.१२.९.४

श.ब्रा. २.३.४.१३

'अयं ते योनिर्ऋत्वियः'

ऋ. ३.२९.१०, अ. ३.२०.१, वाज.सं. ३.१४, १२.५२,१५.५६, तै.सं. १.५.५.२,७.२, ३.४.१०.४, ४.२.४.३.७.१३.५, मै.सं. १.५.१:६६.४, १.५.५,७४.१,१.५.६,७४.७,१.६.१,८५,७ का.सं. २.४,६.९, ७.४,५.१६.११, १८.१८,२३.६. जै.ब्रा. १.६१. श.ब्रा. २.३.४.१३, ७.१०१.२८, ८.६.३.२४, तै.ब्रा. १.२.१.१६, २.५.८.८, आश्व.श्रौ.सू. ३.१०.५, आप.श्रौ.सू. ५.८.५, ६.२.८.९, १६.१४.६

ऋत्विया - ऋतुधर्म ।

'योषेव दृष्ट्वा पतिमृत्वियै'

अ. १२.३.२९

ऋत्वियावती - काल पर फल देने वाली ।
'इयं धीर्ऋत्वियावती'
ऋ. ८.८०.७

ऋत्वियावाक् - (१) पावस ऋतु की वाणी, (२) ज्ञानवान् सदस्य पुरुषों की वाणी, (३) सदस्यों की वाणी, ।

ऋतीषह - (१) दुःखों को नष्ट करने वाला इन्द्र का विशेषण ।
'तुविकूर्मिमृतीषहम्'
ऋ. ८.६८.१, साम. १.३५४,२.११२१.
अनेकों कर्म करने वाले तथा दुःखों को नष्ट करने वाले इन्द्र को ।
(२) आर्तों का अभिभावक सा. (३) सत्य से बलवान् -दया. (४) ज्ञान, प्रयाण यां चालों से शत्रुओं को परास्त करने वाला इन्द्र या राजा ।
'तं वो दस्म मृतीषहम्'
ऋ. ८.८८.१, अ. २०.९.१, ४९.४, साम. १.२३६, २.३५, वाज.सं. २६.११, गो.ब्रा. २.४.२. पंच.ब्रा. ११.४.३, ऐ.आ. ५.२.४.२, आश्व.श्रौ.सू. ७.४.३, ८.६.१६, शां.श्रौ.सू. १८.१०.८. वै.सू. २२.७, ३१.२३,३३.७,४२.५.

ऋतीषाट् - ऋतिषाट् (१) शत्रुकृत हिंसा का हिंसक सेनाओं को पराजित करने में समर्थ ।
(२) सब पीड़ाओं को मिटा देने वाला इन्द्र ।
'दस्मादहमृतीषहः'
ऋ.. ८.४५.३५
(३) शत्रुओं को पराजित करने वाला ।
'अग्निरप्सामृतीषहम्
वीरं ददाति सत्पतिम्'
ऋ. ६.१४.४.

ऋजीषी - (१) सरल इच्छाओं वाला (२) ऋतु अर्थात् सारा उत्तम अन्न का भोग करने वाला ।
'प्रपुथ्या शिप्रेमघवन् ऋजीषिन्'
ऋ.३.३२.१
(३) सोमरस चुलाने के बाद अवशिष्ट सीठी को खाने वाला इन्द्र का घोड़ा, ऐसे अश्ववाला इन्द्र ।

ऋतीसह - सर्वदुःखनाशक ।
'तं वो दस्ममृतीषहम्'
ऋ. ८.८८.१, अ. २०.९.१.

ऋतु - (१) ऋतु, (२) मृत्यु, (३) प्रयाण काल ।
'मा मात्रा शारि अयसः पुर ऋतोः'
ऋ. २.२८.५, मै.सं. ४.१४.९,२२८.१४.
(४) ऋ (.गत्यर्थक) + तु = ऋतु
अर्थ-सदागतिशील
(५) ऋच्छतिप्राप्नोति येन सः समय पर आने वाला ।
'नेष्ट्रात् सोमं द्रविणोदः पिब ऋतुभिः'
ऋ. २.३७.३, नि. ८.३.
हे द्रविणोद नामक अग्नि तू ! यज्ञ से सोम ऋतुओं के साथ पी ।
(६) समय ।
'व्यन्तुदेवीर्य ऋतुर्जनीनाम्'
ऋ. ५.४६.८, अ. ७.४९.२, मै.सं. ४.१३.१०, २१३.११, नि. १२.४६.
सभी देवियां, जो भोजन का समय है । उस समय भोजन करें ।
धरणि ने ऋतु का अर्थ यों किया है । -
ऋतुर्मासि वसन्तादौ धीरे स्त्री कुसुमेऽपि च
'-धरणि'
अर्थात् ऋतु का अर्थ - मास, वसन्तादि ऋतु, धीर, स्त्री का रजो धर्म है ।
(७) सत्य धारक बल ।
'ऋतुना यज्ञमाशाथे'
ऋ. १.१५.६
हे मित्रावरुण (सूर्य, चन्द्र, प्राण और अपान वायु, राजा और मन्त्री या गृहस्थ और गृहपत्नी) तुम दोनों सत्य धारक बल से (ऋतुना) परस्पर संग से उत्पन्न प्रजापालने व्यवहार में व्याप्त होकर रहो या यज्ञ करो (यज्ञ में आशाथे) ।
(८) विभूति
'या षट् विभूतयः ऋ तवस्ते
जो छः विभूतियां हैं वे ऋतु हैं ।
(९) उपसद् उपसभा ।
'ऋ तव उपसदः'
श.ब्रा १०.२.५
(१०) मोर्चा राजाओं का सम्बन्धी जन ।
ऋतवो वै सोमस्य राज्ञः
'राजभ्रातरो यथा मनुष्यस्य'
(११) क्षत्रियपदाधिकारी ।
'ऋतव ऐते य ऋतव्याः
क्षत्रं वा ऋतव्याः

विशइमा इतरा इष्टकाः'

पुनः

'अग्निष्वात्तान् ऋतुमतो हवामहे'

वाज.सं. १९.६१, मै.स. ४.१०.६,१५७.८,का.सं. २१.१४, तै.ब्रा. २.६.१६.१.

(१२) गर्भधारण सामर्थ्य (१३) विशेषरूप से सृष्टि रचने का सामर्थ्य (१४) जगत् के मूल कारण रूप ब्रह्म शक्ति का उत्पादक बीज, (१५) गर्भधारण करने का काल ।

'क ऋतून् क उ कल्पमस्याः'

अ. ८.९.१०

ऋतुःजनित्री – (१) ऋतुमती स्त्री, ।

(२) सब औषधियों को उत्पन्न करने वाला मौसम, (३) ज्ञानवान् पुरुषों की बनी सभा ।

'ऋतुर्जनित्री तस्या अपस्परि'

ऋ. २.१३.१, गो.ब्रा. २.४.१७.

ऋतुथा – ऋ (गत्यर्थक) + तु = ऋतु (गतिशील, नियत समय पर आने वाला) ऋतु + थाल् (प्रकार वचन में) = ऋतुथा । अर्थ । ऋतुऋतु में ।

'उपावसृजत्मन्या समञ्जन्
देवानां पाथ ऋतुथा हवींषि ।
वनस्पतिः शमिता देवो अग्निः
स्वदन्तु हव्यं मधुना घृतेन ।'

ऋ. १०.११०.१०, अ. ५.१२.१०, वाज.सं. २९.३५, मैं.सं. ४.१३.३, २०२.१३, का.सं. १६.२०. तै.ब्रा. ३.६.३.१४, नि. ८.१७.

हे यूप या अग्नि (वनस्पते), आत्मा से या जीव से या स्वयं (त्मनया) अन्न तथा आज्य आदि हवि (हवीषिं) ऋतु ऋतु के अनुसार (ऋतुथा) सम्मुख कर (समञ्जन) । देवताओं के लिए निकट आकर दो (उप अवसृज) ।

अन्य अर्थ – हे वनस्पति अग्नि, तू अपने आप से अपने को अभिव्यक्त कर (त्मनया समञ्जन्), ऋतु ऋतु के अनुकूल (ऋतुथा) देवजनों के अन्न और मिष्ठान्न आदि हवियों को (देवानां पाथः हवीषि) बना (उपावसृज) । गार्हपत्याग्नि (वनस्पतिः) दक्षिणाग्नि (शमिता) और आहवणीय अग्नि (देवः अग्निः) ये तीनों मिष्ट और घृत के साथ (मधुना घृतेन) हवि का आस्वादन करायें । (हव्यं स्वदन्तु) ।

(१) वनस्पति का अर्थ कात्थक्य ने 'यूप' और शाकपूणि ने अग्नि किया है ।

(२) 'त्मनया' और 'त्मन्या' दो पाठ हैं । अर्थ है – आत्मना (आत्मा से) । किसी किसी ने 'त्मना' या 'त्मनी' का अर्थ 'पशु का मांश' मानकर पशु के मांस के साथ अन्न दो, ऐसा अर्थ किया है । तीसरी अर्थ 'स्वयं' है जो उचित जान पड़ता है ।

पुनः–

'त्रयः केशिन ऋतुथा वि चक्षते
संवत्सरे वपत एक एषाम् ।
विश्वमन्यो अभिचष्टे शचीभिः
ध्राजिः एकस्य ददृशे न रूपम् ।'

ऋ. १.१६४. ४४, अ. ९.१०.२६, नि. १२.२७

अग्नि, वायु और आदित्य, ये तीन केशवाले देवता (त्रयःकेशिनः) ऋतु के अनुसार (ऋतुथा) लोक पर अनुग्रह करते है (विचक्षते) । एक अर्थात् पृथ्वीस्थानी य अग्नि (एकः) संवत्सर के अन्त में पृथ्वी को दोहता है (वपते) जिस से पृथ्वी उपजाऊ होती है । दूसरा आदित्य वर्षा आदि कर्मों के द्वारा विश्व का उपकार करता है (विश्वम् अभिचष्टे शचीभिः) और तीसरे वायु की गति (एकस्य ध्राजिः) केवल अनुभूत की जाती है, रूप नहीं दिखाई पड़ता (न रूपं ददृशे)

पुनः–

'नहि स्थूरिः ऋतुथा यातमस्ति'

ऋ. १०.१३१.३, अ. २०.१२५.३

ऋतुयाः – (१) ऋतुओं का पालन करने वाला ।

'अयं कनीन ऋतुपा अवेदि'

ऋ. १०.९९.१०,

(२) वसन्त आदि ऋतुओं का पालक–सूर्य ।

(३) ऋतु का पालक ऋतुगामी पति ।

(४) राजा–भ्राताओं और राज सभा के सदस्यों का स्वामी ।

'दैवीनां देव ऋतुपा ऋतावा'

ऋ. ३.२०.४

ऋतुमत् – (१) क्षात्रबल का स्वामी पुरुष (२) अग्निष्वात्त का विशेषण ।

'अग्निष्वात्तान् ऋतुमतोहवामहे'

वाज.सं. १९.६१, मै.सं. ४.१०.६, १५७.८, का.सं. २१.१४, तै. ब्रा. २.६.१६.१.

ऋते – (१) ऋ (गत्यर्थक) धातु से बना है । अर्थ है बिना, बगैर ।

'सूर्यस्येव रश्यमो द्रावयित्लवो
मत्सरासः प्रसुयः साकमीरते ।
तन्तुं ततं परिसर्गास आशवो
नेन्द्रात् ऋते पवते धाम किञ्चना'

ऋ. ९.६९.६, साम. २.७.२०.

सूर्य की रश्मियों के सदृश द्रावण शील या आकर्षक (द्रावयित्लवः) मदकारक (मत्सरासः) सोमरस प्रसूत होकर (प्रसुपः) इन ऋत्विजों के साथ ही (साकम्) इन्द्र के समीप जाते हैं (ईरते) । जाकर वितस्त वस्त्र में जैसे छोटे अवयव व्याप्त रहते हैं (ततं तन्तुं परिसर्गास आश्वः) उसी प्रकार ये सोमरस इन्द्र में व्याप्त हो जाते हैं क्योकि यह सोम इन्द्र को छोड़ (इन्द्रात् ऋते) किसी अन्य स्थान को नहीं जाता (नकिञ्चन धाम पवते) । यहां सोम आत्मा का बोधक है ।

अन्य अर्थ – सूर्य की रश्मियों की तरह आकर्षण करने वाले हर्षप्रद, प्रसुप्त हो जाने वाले अर्थात् अन्त में कारण में मिल जाने वाले (प्रसुपः) में फैले हुए लोक लोकान्त (आशवः–सर्गासः) विस्तृत ब्रह्मरूप सूत्र में पिरोये एकत्र विचर रहे हैं । (ततं तन्तु परिसाकम् ईरते) उस परमेश्वर के बिना (इन्द्रात् ऋते) कोई भी लोक (किञ्चनधाम) गति नहीं करता (न पवते) ।

ऋतेजा – (१) सत्य व्यावहार, ज्ञान, यज्ञ, अन्न और ऐश्वर्य के निमित्त गुणों में विख्यात होने वाली उषा या स्त्री ।

(२) सत्य से निष्ठ ।

'क्षयत् सराय ऋतपा ऋतेजाः'

ऋ. ६.३.१, मै.सं. ४.४.१५, २४०.३.

ऋतोद्य – (१) सत्य + वद् + यत् = ऋतोद्य ।

'ऋतं वदन्तावृतोद्येषु'

अ. १४.१.३१.

ऋद – कष्टपाना, नष्ट होना । पीड़ा से शरीर का ऐंठना या मरोड़ना ।

'विग्रीवासो मूरदेवा ऋदन्तु'

ऋ. ७.१०४.२४, अ. ८.४.२४.

ऋदु – (१) मर्म ।

'ऋदूदरेण सख्या सचेय

ऋ. ८.४८.१०, तै.सं. २.२.१२.३, मै.सं. ४.११.२, १६४.९, का.सं. ९.१९, नि. ६.४.

मैं मृदु उदर वाले सोम से या मित्र रूप दुग्धादि हल्के सात्विक भोजन से युक्त होऊं ।

ऋदूपे – शत्रुनाशक । बाहु का विशेषण ।

'ऋदूपे चिद् ऋदूवृधा'

ऋ. ८.७७.११, नि. ६.३३.

तेरे हाथ शत्रुनाशक (ऋदूपे) तथा मर्मभेदी हैं (ऋदूवृधाः) ।

ऋदूदर – (१) सोम का नाम । 'ऋदूदरः सोमः' । मृदु उदर वाला (मृदूदरः) या उदरों में जाने में जो मृदु हो (मृदुः उदरेषु) ।

सोम का उदर मृदु होता है, क्योकि इसके भीतर छिद्र होते हैं (मृदु हिसोमस्य उदरं सुषिरत्वात) ।

(२) हल्का भोज्य पदार्थ जो उदर में शीघ्र पच जाय ।

'ऋदूदरेण सख्या सचेय
यो मा न रिष्येद्धर्यश्व पीतः ।
अयं यः सोमो न्यध्यायिअस्मे
तस्मा इन्द्रं प्रतिरमेम्यायुः ।'

ऋ. ८.४८.१०

मैं प्रगाथ मृदु उदर वाले सोम से (मृदूदरेण) सुहृदभाव से संगत होऊं (सख्या सचेम) जो सोम पिए जाने पर हानि न पहुँचावे (यः पीतः मान रिष्येत्), हे सोम का स्वामी इन्द्र (हर्यश्व) जो यह सोम हमें दे दिया गया था या मिला दिया गया था (यः अयं सोमः अस्मे न्यधायि) उसके लिए प्रतीर्ण आयु (तस्मै प्रतिरम् आयुः) तुझ इन्द्र से याचता हूँ (इन्द्रम् एभि) ।

अन्य अर्थ – हरण तथा भरण गुणों से युक्त परमेश्वर ! मैं मित्र, सूप, दुग्धादि हलके सात्विक भोजन से युक्त होऊं (संख्या ऋदूदरेण सचेम) जो पीया या खाया हुआ (यः पीतः) मुझे हानि न पहुंचाये और हममें जो यह सात्विक भोजन अर्पित किया गया है (यः अयं सोमः न्याधायि) उस से दीर्घायु की प्राप्ति के लिए (तस्मै प्रतिर आयुः) अन्न दाता प्रभु से (इन्द्रम्) याचना करता हूँ (एमि)

(३) सत्य को अपने भीतर धारण करने वाला, (४) कोमल हृदय वाला

'ऋदूदराः श्रृणवन् अग्नि जिह्वाः'

ऋ. ३.५४.१०.

ऋदूये - अर्द + उण = ऋदु (अर्द का ऋत आदेश) ऋदूपा का अर्थ है- 'अर्दनपातिनी' या 'गमनपातिनी' । ऋदु + पत् (णि प्रत्यय अन्तर्भावित है) + ड = ऋदूप । 'अन्येषामपि दृश्यते' पा. ६.३.१३७ से दीर्घ यह शब्द बाहु का का विशेषण है । (१) शत्रुओं को अर्दन द्वारा गिराने वाले बाहु (शत्रूणाम् अर्दनेन पातितोरो । (२) शत्रुओं के नाशक । प्रथमा के द्विवचन में प्रयुक्त । (३) निरन्तर गति से शस्त्रास्त्र चलाने वाला,

ऋदूवृधा - (द्वि.व.) (१) मर्म भेदी ।

ऋदूवृध् - हाथ का विशेषण ।

'ऋदूपे चिद् ऋदूवृधा'

ऋ. ८.७७.११, नि. ६.३३.

तेरे हाथ शत्रुनाशक (ऋदुपे) तथा मर्मभेदी हैं (ऋदूवृधा)

ऋदुवृध् - एक वचन में 'ऋदूवृध्' रूप है । 'ऋदु' का अर्थ मर्म है । उसे भेदने वाला बाहु है । 'वृध्' धातु अदेन या पीड़ित करने के अर्थ में प्रयुक्त है ।

ऋदु + वृध् + क्विप् = ऋदूवृध् । (वृध धातु यहां वेधनार्थक है ।

ऋध् - समृद्ध होना ।

'ऋध्याम ते वरुण खामृतस्य'

ऋ. २.२८.५, मै.सं. ४.१४.९, २२८.१३.

पुनः-

'इन्धानास्त्वा शतंहिमा ऋधेम'

अ. १९.५५.४.

ऋधक् - (१) विभूति युक्त महानकार्य, बड़ा -बड़ा कार्य ।

'किंस ऋधक् कृणवत्यं सहस्रम्
मासो जभार शरदश्च पूर्वीः'

ऋ. ४.१८.४

(अ.) (२) कभी कदापि, सर्वथा ।

'ना ब्रह्मा यज्ञ ऋधक् जोष तित्वे'

ऋ. १०.१०५.८.

(३) ऋध् (समृद्ध करना) से ऋधक् बना है । अर्थ-पृथक्-सा. (४) समृद्धि प्राप्त करता हुआ-दया. (५) शक्ति सम्पन्न होता हुआ ।

'ऋधगया ऋधगुता शमिष्ठाः
प्रजानन् यज्ञमुपयाहि
विद्वान् स्वाहा'

वाज.सं. ८.२०, तै.सं. १.४.४४.२, मै.सं. १.३.३८: ४४.१५, का.सं. ४.१२, श.ब्रा. ४.४.४.१२, नि. ४.२५.

हे अग्नि ! तूने हवियों को पृथक् कर देवों को पहुँचाया और तूने हवियों की त्रुटियों को दूर कर समृद्ध बनाया ।

हे ब्रह्मचारी ! तू समृद्धि को प्राप्त करता हुआ इस यज्ञ को कर और शक्ति सम्पन्न होता हुआ विघ्नबाधाओं को दूर कर । -(दया.)

(६) सच्ची

'ऋधक् सावो मरुतो दिद्युदस्तु'

ऋ. ७.५७.४

(७) पृथक् पृथक् ।

'गुहाशिरो निहितं ऋधगक्षी'

ऋ. १०.७९.२

(८) सत्यस्वरूप में ।

'ऋधक् हुमेव कविनेषितासः'

ऋ. ६.४९.१०

ऋदङ्मन्त्रः - (१) मानव शक्ति से पृथक् विशेष ज्ञान से रहित (२) वेदमय बृहत् सत्य ज्ञान से युक्त परमेश्वर ।

'ऋधङ्मन्त्रो योनिं य आबभूव'

अ. ५.१.१.

ऋधत् - समृद्ध । ऋध् (समृद्ध होना)

'ऋधत् यस्ते सुदानवे'

ऋ. ६.२.४.

ऋधद्रयः - बहुत वेगवाला ।

'दशश्यावा ऋधद्रयः'

ऋ. ८.४६.२३.

ऋधद्वारः - सम्पन्न एवं समृद्ध करने वाले धनों व्यवहारों से युक्त अग्नि ।

'ऋधद्वारायाग्नये ददाश'

ऋ. ६.३.२.

ऋधा - सत्यासत्य विवेक करने वाली मति ।

ऋघावा - शत्रुओं को नाश करने में समर्थ ।

'यदा समर्यं व्यचेत् ऋघावा'

ऋ. ४.२४.८

ऋघायन्त - बाधित होते हुए।

'ऋघायन्त सुभ्वः पर्वतासः'

ऋ. ४.१७.२

ऋघायमाणः - (१) मारता हुआ।

'ऋघायमाणो निरिणाति शत्रून्'

ऋ. १.६१.१३, अ. २०.३५.१३.

(२) वर्द्धमान, (३) शत्रुओं का हनन करता हुआ।

'ऋघायमाण इन्वसि
शत्रुमन्ति न विन्दसि'

ऋ. १.१७६.१

ऋघावान् - (१) सत्यासत्य विवेक करने वाली मति से युक्त।

'सत्योमन्त्रः कविशस्त ऋघावान्'

ऋ. १.१५२.२

ऋध्याम - बढ़ावें, अधिक फलदायक बनावें।

'ऋध्याम कर्मा पसा नवेन'

ऋ. १.३१.८

नित्य नये नए उत्साह और प्रयत्न से हम अपने अभिलषित कर्म और उद्देश्य को बढ़ावें (ऋध्याम)।

ऋन्धन् - अर्धयित्वा वर्धयित्वा (पोस पालकर बढ़ाकर)। ऋध् (वृद्धि अर्थ में) + शतृ = ऋन्धन् (नुम् का आगम)।

अर्थ-(१) समृद्ध करता हुआ। ऋन्ध धातु किसी चीज को सुन्दर या सिद्ध करने के अर्थ में आया है। हिन्दी का 'रींधना' इसी अर्थ का वाचक है। जैसे भात रींधना।

'मन्मानि धीभिरुत यज्ञमृन्धन्'

ऋ. १०.११०.२, अ. ५.१२.२, वाज.सं. २९.२६, मै.सं. ४.१३.३. २०१.११, का.सं. १६.२०, तै.ब्रा. ३.६.३.१, नि. ८.६. हमारे अभिप्रेत पदार्थों का अपने कर्मों का बुद्धियों से समृद्ध करता हुआ। (२) पोसता पालता हुआ।

'यही मातरो जनयन्त वह्निम्
अन्यः कर्त्ता सुकृतोरन्य ऋन्धन्'

ऋ. ३.३१.२, नि. ३.६.

यदि ये माताएं कुल को बढ़ाने वाली पुत्र और पुत्री उत्पन्न करती हैं तो इन दोनों सुकृतों में एक पुत्र कुल का कर्त्ता होता है और दूसरी पुत्री पाल पोस कर दूसरे को दी जाती है। पुनः, 'समृद्ध करता हुआ' के अर्थ में।

'यज्ञोहि ष्मेन्द्रं कश्चिदृन्धन्'

ऋ. १.१७३.११

ऋवीस - अपगत भास, अपहृत भास, अन्तर्हित भास, मत भास। अपगत + भास = ऋवीस (अपगत का ऋ, भास के भ का ब और आ का ई आदेश हुआ है)। अर्थ है जिसका भास समाप्त हो गया है - पृथ्वी। पृथ्वी में प्रकाश नहीं रह गया है - अपगततेजस्वक हो गई है।

ऋभवः, ऋभुः - (सं.ब.व.) एक वचन में ऋभु। अर्थ है (१) खूब प्रकाश से समझने वाले सूर्य किरण, (२) ज्ञान पूर्वक कर्म करने में समर्थ शिल्पी (३) सत्य, ज्ञान और ऐश्वर्य में प्रकाशित होने वाले

'तेन देवत्वमृभवः समानश'

ऋ. ३.६०.२

ऋभ्व - ऊरुभूत (बड़ा) बहु भासमान (बहुत दीप्ति वाला)।

ऋभ्वस् - (१) ऋभून् मनुष्यादीन् पदार्थान् वा अस्यन्तियेन स. (जिसमें मनुष्यादि पदार्थों को प्रक्षेपित करते हैं)-यान - दया.

(२) अतिदीप्ति के साथ तीव्रवाण आदि फेंकने में समर्थ यान-

'दक्षं महे पाययते हिरण्मयं
रथमावृत्या हरियोगमृभ्वसम्'

ऋ. १.५६.१

बहुत अधिक दीप्ति के साथ तीव्र बाण आदि अस्त्रों को फेंकने में समर्थ (ऋभ्वसम्) अश्वों द्वारा जोते जाने वाले (हरियोगाम्) लोहे के बने रथ या तोप को (हिरण्ययं रथम्) बड़े भारी विजय के लिए (महे) बल या क्रिया सामर्थ्य में (दक्षम्) सुरक्षित रखता है। (पाययते)।

(३) (१)सत्य ज्ञान वान् गुणों में महान् विद्वान्।

'ऊर्ध्वस्तस्था वृभ्वा यज्ञे'

ऋ. १०.२०.५

(४) सत्य के बल से बढ़ने वाला।

'इन्द्रं न यज्ञैर्विश्वगूर्तमृभ्वसम्'

ऋ. ८.७०.३, अ. २०.९२.१८, साम. १.२४३, २.५०५.

ऋभु - उरु भाति (बहुत शोभता है)। ऋतेन भाति (सत्य या यज्ञ से शोभता है), ऋतेन भवति (सत्य या यज्ञ से होता है । उरु + भा + कु = ऋभु (उरु के उ का लोप और र् का निपातन से सम्प्रसारण ऋ) । ऋतम् + भा + कु = ऋभु । ऋत +· भू = ऋभु ।

अर्थ - (१) पुराण-प्रसिद्ध आङ्गिरस सुधन्वा के तीन पुत्र जिन्होने अपने कर्म से देवपद प्राप्त किया (२) सूर्य की किरण । (३) सत्यवादी ब्रह्मचारी -दया.

'अयं वो यज्ञ ऋभवो अकारि, '

ऋ. ४.३४.३

(४) अतिदीप्त-सा (४) व्यापक । (६) सत्यशील विद्वान्

'ऋभुः ऋभुभिरभिवः स्याम'

ऋ. ७.४८.२, का.सं. २३.११.

(७) इन्द्र या परमात्मा

पुनः -

'स्तुषेय्यं पुरुवर्पसमृभ्वम्'

ऋ. १०.१२०.६, अ. २०.१०७.९, नि. ११.२१.

स्तुत्य, अनेक रुपों वाले, अतिदीप्त या व्यापक इन्द्र या परमात्मा को (८) मेधावी, (९) वैश्यराष्ट्र की रक्षा से वैश्य बहुत चमकते हैं ।

आङ्गिरस सुधन्वा के तीन पुत्र थे ? ऋभु, विभ्वा और बाज जो क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य के द्योतक हैं । 'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत् के अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये चार वर्ण हुए, जिनमें प्रथम तीन आर्य (अर्य या परमेश्वर के पुत्र) और अज्ञानी होने से शूद्र अनार्य । ऋभु, विभ्वा और बाज ये तीन ओंकार वाची प्राण स्वरूप परमेश्वर के पुत्र उत्पन्न हुए। 'ऋभु' और 'बाज', दोनों बहुवचन में और विभ्वा एकवचन में प्रयुक्त होता है ।

'विष्ट्वी शमी तरणित्वेन वाघतो
मर्तासः सन्तो अमृतत्वमानशुः
सौधन्वना ऋभवः सूरचक्षसः
संवत्सरे समपृच्यन्त धीतिभिः '

ऋ. १.११०.४, नि. ११.१६.

कर्मों या यज्ञों को (शमी) सर्वयज्ञ सम्पद् दर्शन करने के कारण क्षिप्रकारिता के साथ (तरणित्वेन) कर या व्याप्त कर (विष्ट्वी) । ढोने वाले या यज्ञ के अनुष्ठाता या अनुष्ठाता या मेधावी (वाघतः) मनुष्यों ने (मतसिः) अमृतत्व प्राप्त किया (सन्तः अमृतत्वम् आनशुः) । इस प्रकार अमृतत्व या देवत्व प्राप्त कर सुधन्वा के पुत्र (सौधन्वनः) सूर्य -समान दर्शन वाले या (सूरचक्षसः) ऋभु लोग (ऋभवः) या बहुत शोभने वाले संवत्सर के वसन्तादि ऋतुओं में (संवत्सरे) अग्निष्टोमादि सूर्य समान ज्ञान वाले अनुष्ठ्य कर्मों से (धीतिभिः) अर्थात् हुए (समपृच्यन्तः) अर्थात हवि के भागी हुए ।

अन्य अर्थ- अन्नादिवाहक या मेधावी सत्यावादी वैश्य लोग (वाघतःसन्तः मर्तासः) शीघ्रता से (तरणित्वेन) व्यावहारिक कर्मों को कर (शमी विष्ट्वी) सुख का भोग करते हैं अमृतत्वम् आनशुः) । ये सूर्य-समान् यथार्थवादी या परमेश्वर की आज्ञा के अनुसार चलने वाले (सौधन्वनः सूरचक्षसःऋभवः) आर्य वैश्य लोग वर्ष भर व्यापारिक कर्मों से युक्त रहते हैं (संवत्सरे धीतिभिः समपृच्यन्त)

विद्वान् पुरुषों या ऋत अर्थात् राष्ट्र से चमक वाला राजा (१) शिल्पी ।

'ऋभुभ्योऽजिनसंधम्'

वाज.सं. ३०.१५

ऋभुक्षण - महान्

'ऋभुक्षणं न वर्तव उक्थेषु तुग्र्यावृधम्'

ऋ. ८.४५.२९

ऋभुक्षाः - उदौ अन्तरिक्षे क्षयति इति ऋभुक्षाः (अन्तरिक्ष में निवास करने वाला,) या ऐश्वर्यार्थक 'क्षि' धातु से-ऋभु + क्षि + इन् = ऋभुक्षा ('पथिमथ्यृभुक्षामात्' से इ का आत्व)। अर्थ (३) सब प्रजाओं का आश्रय दाता (४)सत्यवादी प्रजा का राजा (५) ऋभु अर्थात् विद्वानों के बीच में रहने वाला (६) विद्वान् ।

'ऋभुक्षा वाजो दैव्यो विधाता'

ऋ. ६.५०.१२

(६) महान् तेज से चमकने वाला ।

'रथो वाजा ऋभुक्षणो अमृक्तः'

ऋ. ७.३७.१

ऋभुक्षिन् - उरु + क्षि (ऐश्वर्य या निवास अर्थ में) + इनि (वृतेः छन्दसि उ. ४.१३६) ऋभुक्षिन् । 'क्षि' के 'टि' का लोप और मुट् का आगम,

सम्प्रसारण तथा पूर्वरूप करने पर वर्ण व्यत्यय किया गया है और 'उरु' से 'ऋभु' हो गया है।

अर्थ- (१) महा ऐश्वर्य वाला, (२) अन्तरिक्ष में रहने वाला, (उरौ अन्तरिक्षे क्षियति यःसः) (३) ऋभु नामक देवों का निवास भूत-महा ऐश्वर्य वाला, (४) इन्द्र का विशेषण- महा ऐश्वर्यवाला, (५) ऋभुदेवों का राजा (ऋभूजा देवानां राजा), (६) ऋभुओं की पूजा करने वाला (ऋभून् क्षियति इष्टे)। क्षि के बाद इनि प्रत्यय जोड़ टि का लोप और न का आ।

इन दिनों 'ऋभुक्षिन्' इन्द्र का पर्याय है। ऋभुक्ष का अर्थ है स्वर्ग।

ऋभुमद्वय – सत्यज्ञान के प्रकाश से युक्त या अति बलवान् प्राण से युक्त जीवन।

'आ नो यज्ञाय तक्षत ऋभुमद्वयः'

ऋ. १.१११.२

ऋभुमन्ता – ऋभुओं या सत्य ज्ञान से चमकने वाले पुरुषों से युक्त अश्विद्वय या स्त्रीपुरुष।

'ऋभुमन्ता वृषणा वाजयन्ता'

ऋ. ८.३५.१५

ऋश – धनुर्धर, हिंसक, शिकारी जीव।

'क्रमस्वर्श इव रोहितम्'

अ. ४.४.७, ६.१०१.३,

ऋष् – जाना, प्राप्त होना।

'हृदं न हित्वा न्यृऋषन्ति ऊर्मयः।'

ऋ. १.५२.७, मै.सं. ४.१२.३, १८५.२.

हे परमेश्वर! जैसे तरंगें स्वतः जलाशय में चली जाती हैं। (हृदं ऋषन्ति) उसी प्रकार...।

ऋषयः – सूर्य की किरणें प्रकाशक होने के कारण सर्वद्रष्टा होने से ऋषि हैं।

'वयः सुपर्णा उपसेदुरिन्द्रम्
पियमेधा ऋषयो नाधमानाः'

ऋ. १०.७३.११, साम. १.३१९, का.सं. ९.१९, ऐ.ब्रा. ३.१९.१२, तै.ब्रा. २.५.८.३, तै.आ. ४.४२.३, तै.आ.(आंध्र). १०.७३, आप. श्रौ.सू. ६.२२.१, नि. ४.३.

चलने वाली सूर्य की रश्मियां सूर्य के निकट गईं। वे यज्ञ से प्रेम करने वाली (प्रियमेधाः) प्रकाशक होने से सर्वद्रष्टा (ऋषयः) तथा लोगों की प्रज्ञा को जांचने वाली हैं नाधमानाः)।

– (१) बड़ा बैल (२) शरीर में गति देने वाला आत्मा या मुख्य प्राण (३) ऋषभदेव।

'इन्द्रस्य रूपमृषभोबलाय'

वाज.सं. १९.९१, मै.सं. ३.११.९, १५४.८, का.सं. ३८.३, तै.ब्रा. २.६.४.५.

(४) वृष गण की ओषधि जिससे वीर्य पुष्ट होता है।

'सार ऋषभाणाम्'

अ. ४.४.४.

(५) सर्वव्यापक सर्वप्रकाशक परमात्मा।

'अथ ऋषभस्य ये वाजा'

अ. ४.४.८.

'साहस्रस्त्वेष ऋषभः पयस्वान्'

ऋ. ९.४.१.

ऋभदायी – (१) ऋषभ अर्थात् गौ का दान देने वाला, (२) सर्वश्रेष्ठ प्रभु का उपदेश करने वाला- ज.दे.श.

'तत् सर्वमनुमन्यन्तां देव ऋषभदायिने'

अ. ९.४.२०

ऋष्ट – पूर्ण।

'उद्रेव कोशं वसुन्त न्यृष्टम्'

ऋ. ४.२०.६

ऋष्य – मृगों की पाचं जातियां हैं-ऋष्य, रुद्र, न्यङ्क, पृषत और कुलङ्ग।

'वसुभ्या ऋष्यानालभते'

वाज.सं. २४.२७, मै.सं. ३.१४.९, १७४.३.

ऋष्य नामक मृग जो संगीत से मुग्ध हो जाता है। ऋष्यमृग का स्वर ऋषभ होता है।

'ऋष्यो मयूरः सुपर्णस्ते गन्धर्वाणाम्'

वाज.सं. २४.३७

ऋष्यदः – कष्टदायी दुःख।

'युवं वन्दनमृश्यदादुदूपथुः'

ऋ. १०.३९.८

ऋष्व – (१) महान् ज्ञाता इन्द्र, परमेश्वर

'गम्भीर ऋष्वो असमष्टकाव्यः'

ऋ. २.२१.४

(२) महान्।

'प्र दिव ऋष्वाद् बृहतः सुदानू'

ऋ. ७.६१.३

(३) ऋष् + वन = ऋष्व। 'ऋष्' धातु दर्शनार्थक है। सम्भवतः 'ऋष' धातु का वर्ण विपर्यय

नियम से अंग्रेजी में See हुआ है । अर्थ है दर्शनीय ।

'उरं नो लोक मनुनेषिविद्वान्
स्वर्वज्ज्योतिरभयं स्वस्ति ।
ऋष्वा त इन्द्र स्थविरस्य बाहू
उपस्थेयाम शरणा बृहन्ता ।'

ऋ. ६.४७.८,

हे इन्द्र ! जानता हुआ तू आदित्य के समान प्रकाशवाले (इन्द्र विद्वान् स्वर्वत् ज्योतिः) तथा भयरहित (अभयम्) स्वर्ग नामक लोक को (लोकम्) हमें (नः) कल्याण के लिए (स्वस्ति) ले चल (अनुनेषि) हम तुझ महान् या वृक के (ते स्थविरस्य) दर्शनीय (ऋष्वा) बृहत् (बृहन्ता) रक्षक (शरणा) हाथों की (बाहू) सेवा या उपस्थान करते हैं (उपस्थेयामः) ।

अन्य अर्थ - हे राजन् , ज्ञानवान् होते हुए आप हमारे लिए महान् अभ्युदय को (उरु लोकम्) निःश्रेयस् को देने वाले ज्ञान प्रकाश को (स्वर्वत् ज्योति) और अभय रूपी कल्याण को अभयं स्वस्ति पहुंचाओ (अवनेषि) । राजन् ! ज्ञान पयोवृद्ध आपको (स्थविरस्य ते) दर्शनीय आश्रय देने वाली (ऋष्वा शरणा) और लम्बायमान बाहुओं को हम प्राप्त करें (बृहन्ता बाहू उपस्थेयाम) । (४) आघातकारी, हिंसाजनक ।

'यस्तेपृथु स्तनयित्नुर्य ऋष्वः'

अ. ७.११.१

(५) प्राप्तविद्य, जिसने विद्या प्राप्त की हो, (६) प्रबल तेजस्वी ।

'श्रिय ऋष्व उपकयोः'

ऋ. १.८१.४, साम. १.४२३

ऋष्ववीरः - (१) ऋष्वाः महान्तः गुणाः वीराः वा यस्य (जिसके महान् वीर या गुण)-परमात्मा (२) बड़े-बड़े सामर्थ्यों वालों सूर्यादि लोकों और बड़े बड़े वीर पुरुषों से युक्त ।

ऋषाणः - प्यासा । ऋष + शानच् = ऋषाण । 'ऋष आत्मेनपदी-प्यास लगना ।

'धन्वान्यज्राँ अपृणक् तृषाणाँ'

ऋ. ४.१९.७

ऋष्टि- (१) ऋष् (गति या ज्ञान अर्थ में) + इन् = ऋषि (इगुपधात् कित्) (२) दृश् + इन् = दृषि = ऋषि । दर्शनात् ऋषिः । अर्थ -(१) सूक्ष्म अर्थों का द्रष्टा (२) औपमन्युओं ने ऋषि का अर्थ 'स्तोमान् ददर्श' (मन्त्रों को तारक ज्ञान से देखा अतः वह ऋषि कहलाया - ऐसा कहा है) । मन्त्रद्रष्टा (३) मेदिनी कोष में ऋषि -देव और दीधिति का वाचक है ।

(४) तपस्या करते हुए ऋषियों को स्वयम्भू ब्रह्म स्वयं आविर्भूत हुआ । यही ऋषियों का ऋषित्व है । तत् यत् एनान् तपस्यमानान् ब्रह्म स्वयभ्यु अभ्यानर्षत् ते ऋषयः अभवन् तत् ऋषीणां ऋषित्वम् इति विज्ञायते ।

वेद (ऋग् , यजुः, साम) ऋषियों को स्वयं दृष्ट हुआ अतः वे ऋषि कहलाए और वेद अपौरुषेय माना गया । बिना अध्ययन किए ही तपोबल से ऋषियों ने वेदमन्त्रों को देखा ।

(५) रस का अपकर्षक अर्थात् रश्मि । ऋष् + कीनन् = ऋषीण । ऋष् धातु गति, आकर्षण और ज्ञान अर्थ में प्रयुक्त है । ऋषीण से ऋषि होकर रश्मि के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है । यास्क ने लिखा है - साक्षात् कृतधर्माणो ऋषयो बभूवुः । ते अवरेभ्योऽसाक्षात्कृत धर्मभ्यः उपदेशेन मन्त्रान् सम्प्रापुः ।

(६) मंत्रार्थ देखने वाले अध्यापक -दया. । स्वामी दयानन्द ने भी ऋषि शब्द का प्रयोग विद्वान गुरु शिष्यो में ही होना बतलाया है । जैसे ऋ. १.१.२ में

'अग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभिरीड्यो नूतनैरुत ।'

. विद्या के पढ़ने वाले अब के और पुराने मन्त्रार्थ देखने वाले अध्यापक

(७) कात्यायन ने भी सर्वानुक्रमणी में ऋषि को मन्त्रद्रष्टा ही माना है ।

गृत्समदो द्वितीय मण्डलमपश्यत् । गाथिनो विश्वामित्रः स तृतीयं मण्डलमपश्यत् । वामदेवो गौतमः चतुर्थ मण्डलमपश्यत । बार्हस्पत्यो भरद्वाजः षष्ठी मण्डलमपश्यत । सप्तमं मण्डलम् वसिष्ठोऽपश्यत् ।

अर्थात् -गृत्समदने द्वितीय मण्डल, विश्वामित्र ने तृतीय, वामदेव गौतम ने चतुर्थ, बार्हस्पत्य भरद्वाज ने षष्ठ और वसिष्ठ ने सप्तम मण्डल देखा

(८) अन्य व्युत्पत्ति-ऋं गतिं सिनाति यःसः (गति अर्थात् क्रिया और ज्ञान शक्ति को उत्तम रीति से बांधने में समर्थ विद्वान् पुरुष)

'स्तोता वामश्विना ऋषिः'

ऋ. ५.७५.१,साम. १.४१८,२.१०९३

(९) वेदार्थ जानने के लिए उत्सुक शिष्य, (१) साक्षात् ज्ञाता ।

'तमृषे मारुतं गणम्
नमस्या रमया गिरा ।'

ऋ. ५.५२.१३

ऋषिकृत् - (१) दर्शनकारी, सभी पदार्थों को प्रत्यक्ष कराने वाला अग्नि (२) सौम्य जनों का तत्वदर्शी बनाने वाला परमेश्वर-दया. ।

'भृमिरसि ऋषिकृन् मर्त्यानाम्'

ऋ. १.३१.१६, ला.श्रौ.सु. ३.२.७. नि. ६.२०.

हे अग्नि ! तू सोमयज्ञ करने वाले मनुष्यों के प्रापणीय, संसार में भ्रामयिता, भ्रामक या कर्म-निर्वाहक है और तू दर्शनकारी अर्थात् सभी पदार्थों को प्रत्यक्ष करने वाला है (ऋषिकृत् असि)-

हे परमेश्वर! तू सौम्य जनों को तत्व दर्शी बनाने वाला है (सौम्यानां मर्त्यानाम् ऋषिकृत्) एवं सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का नायक है (भूमिः असि) ।

ऋषिचोदन - ऋषियों या तत्वदर्शी पुरुषों से उपदेश करने योग्य-आत्मा ।

'चिकिद् य ऋषिचोदनः'

ऋ. ८.५१.३.

ऋषिबन्धुः - जगत् द्रष्टा के वन्धुस्वरूप एवं उसको प्राप्त होने वाला भक्त ।

'अपावृणोः शरभाय ऋषिबन्धवे'

ऋ. ८.१००.६

ऋषिषाट् - (१) दर्शनकारी इन्द्रियों को अभिभूत करने वाला आत्मा (२) सूर्य का प्रकाश ।

'ऋतस्य धीतिम् ऋषिषाडवीवशत्'

ऋ. ९.७६.४

ऋषिषाणाः - तत्त्वद्रष्टाव्य ऋषिजनों से सेवित, उपासित - आत्मा

'ये त्वामृजन्ति ऋषिषाण वेधसः'

ऋ. ९.८६.४, साम. २.२३६.

ऋषिस्वर, - (१) ऋषियों से स्तुत्य, सूर्य का विशेषण ।

'ऋषिस्वरं चरति'

ऋषियों से स्तुत्य सूर्य की स्तुतित करता है ।

(२) ऋषियों का उपदेश ।

'ऋषिस्वरं चरति यासु नामते'

ऋ. ५.४४.८

ऋष्टि - (१) शक्ति, (२) हिंसाकारी अस्त्र । ऋष् (गमन करना, नाश करना, हिंसा करना) + क्तिन् = ऋष्टि ।

'पृषतीभिः ऋष्टिभिः यामं'

अ. २०.६७.४

(२) इन्द्र का वज्र यास्क (३) ज्ञानार्थक-ऋष् + क्तिन् = ऋष्टि । अर्थ-विद्या-दया । अभ्यक् सा त इन्द्र ऋष्टिः । हे इन्द्र ! वह तेरा प्रसिद्ध वज्र जब मेघ की ओर जाता है - यास्क हे विद्वान् ! आत्मज्ञान देने वाली विद्या हमें प्राप्त हो -दया.

(३) वे कलायन्ता जिनसे व्यवहार का ज्ञान होता है । (४) तलवार - मैक्समूलर

ऋष्टिमत् - (१) ऋष् + क्तिन् + मतुप् = ऋष्टिमत् । रेषणवत् (नाशवाला) (२) अकाल नाशक मेघ मेघ का विशेषण ।

'आ विद्युन्मद्युद्भिर्मरुतः स्वर्कैः
रथेभिर्यातऋष्टिमद्भिरश्वपर्णैः'

ऋ. १.८८.१, नि. ११.१४.

हे मरुतों ! तुम विशिष्ट दीप्तियुक्त ! सुगमन, सुपूजित या सुन्दर अर्चियों से अकाल नाशक अशन-पतन-युक्त मेघों के सहित आओ ।

(२) गत्यर्थक ऋष् धातु से सिद्ध होने पर अर्थ है-गतिमान्

(३) ज्ञानार्थक ऋष् धातु से निष्पन्न होने पर अर्थ होगा-ज्ञानवान्

(४) अस्त्र शास्त्रों से युक्त रथ ।

ऋष्टिविद्युत - विद्युति ऋष्टिः विज्ञानं यस्य (जिसका विद्युत् शास्त्र में विज्ञान हो) -दया.

(२) शस्त्रों से विशेषरूप से चमकने वाला

(३) शस्त्रों में विद्युत का प्रयोग करने वाला

(४) विद्युत् का विशेष ज्ञानी

'य ऋष्वा ऋष्टि विद्युतः'

ऋ. ५.५२.१३

(५) मरुतों का विशेषण, विद्युत् की तरह गति वाला, (६) दुधार तलवार के समान बिजली को धारण करने वाले वायुगण, (७ आत्मा में ज्ञान दीप्ति को धारण करने वाला ।

'को वोऽन्तर्मरुतऋष्टिविद्युतः'

ऋ. १.१६८.५.

ऋष्टिषेण – (१) एक राजा का नाम जिसका पुत्र आर्ष्टिषेण हुआ । इनका नाम इषितसेन भी था (आर्ष्टिषेणः ऋष्टिसेनस्य पुत्रः इषितसेनस्य वा) (२) ऋष्टि एक आयुध विशेष है । ऐसे आयुध वाली जिसकी सेना है वह 'ऋर्ष्टिषेण' है (ऋष्टिः आयुध विशेषः तद्बहुला सेना यस्य सः) (३) जो नित्य अपनी सेना को शत्रुओं पर आक्रमण के लिए भेजे वह इषित सेन (नित्यमेव प्रेषितसेनः शत्रून् प्रति) ।

इषित का पृषोदरादि के समान 'ऋष्टि' आदेश हुआ है ।

ऋषीणां नपात् – (१) ऋषि सिद्धान्तों को न गिरने वाला विद्वान्, (२) मन्त्रार्थ द्रष्टा ऋषियों का पुत्र

'त्वामद्य ऋष् आर्षेय
ऋषीणां नपादवृणीतायं यजमानः'

वाज.सं. २१.६१, २८.२३,४६, मै.सं. ४.१३.९, २११.९, का.सं. १९.१३, तै.ब्रा. २.६.१५.२, ३.६.१५.१.

ऋषीवा – ऋषियों द्रष्टाओं या इन्द्रियों का स्वामी इन्द्र परमेश्वर ।

'शिप्रिन् ऋषीवः शचीवः'

ऋ. ८.२.२८

ऋषु – (१) प्राप्तविद्य, जिज्ञासु (२) बड़ा ज्ञानवान् पुरुष (३) विद्यावान् वैद्य (४) दर्शनीय जिज्ञासु विद्यार्थी ।

(५) श्रद्धा से आने वाला जिज्ञासु शिष्य ।

'अग्ने रेभो न जात ऋषूणाम् जूर्णिर्होत ऋषूणाम्

ऋ. १.१२७.१०

ऋष्णु – हिंसाकारी पदार्थ ।

'यष्णवो देवकृताः'

अ. १९.३५.५

ऋतसापः ऋतसाप् – एक वचन में ऋतसाप् । सत्य ज्ञान का सेवन करने वाले ।

'येचित् पूर्व ऋतसापः'

ऋ. १०.१५४.४, अ. १८.२.१५.

ऋहत् – बढ़ाने वाला ।

'बृहन्तं चिद् ऋहते रन्धयानि'

ऋ.

ए

एक – (१) इ (गत्यर्थक) + इक = एक । इ का गुण ए हुआ और 'अ' का पूर्वरूप हो गया । अथवा 'इण् + कत् = एक' । अर्थ–जो संख्या सर्वत्र अनुगत हो । एक सभी संख्याओं में गत है (एकः इता संख्या) एकत्वं केवल न्वयी (एकत्व केवल का अन्वयी है) अन्य संख्याएं एक से ही होती हैं (प्रभवति अस्मात्) ।

(२) एक परमेश्वर ।

'एकस्मै स्वाहा'

वाज.सं. २२.३४, तै.सं. ७.२.११.१, १२.१, मै.सं. ३.१२.१५, १६४.१३, का.सं. (अश्व). २.१.२, तै.ब्रा. ३.८.१५.३, १६.१, आप. श्रौ.सू. २०.१०.७, १२.१०,

एकः अश्व – (१) एक व्यापक संवत्सर (२) एक मात्र कर्मफल भोक्ता जीव, (३) विराट् विश्वमय देह में व्यापक परमात्मा ।

'एको अश्वो वहति सप्तनामा'

ऋ. १.१६४.२, अ. ९.९.२, १३.३.१८, तै.आ. ३.११.९, नि. ४.२७.

एकक – एकमात्र, अकेला ।

'आद लाबुकमेककम्'

अ. २०.१३२.१

एकचक्रः – (१) अकेला चलने वाला (एक एवहि अन्तरिक्षे चलति) और अपनी ज्योति से अन्य ज्योतियों को नष्ट करने वाला इतराणिज्योतिंषि नाशपति) अर्थ है– 'आदित्य' । चक्र की व्युत्पत्ति–चक्र (तृप्ति,तति तथा प्रतिघात अर्थ में) +रक् = चक्र , अथवा चर् + अच् = चक्र । (कुक् का आगम), अथवा क्रम् (गत्यर्थक) + ड = चक्र (ड प्रत्यय आने से द्वित्व) ।

(२) एकाकी घूमने वाला एक चक्र वाला सूर्य का रथ ।

'सप्तयुञ्जन्ति रथमेकचक्रम्'

ऋ. १.१६४.२, अ. ९.९.२, १३.३.१८, तै.आ. ३.११.८, नि. ४.२७.

एक चक्रवाले आदित्य रूपी रथ में साथ किरणें रहती हैं । अथवा, एकाकी घूमने वाले एक चक्र सूर्य रूपी रथ को किरण रूपी सात अश्व जोड़ते हैं ।

एक चक्ररथ – (१) संवत्सररूपी एक चक्र रथ, (२) कर्त्ता से युक्त रमण साधन यह देह ।

एकज – (१) एक अधिक मास से उत्पन्न ऋतु, (२) आत्मा के मुख्य बल से उत्पन्न

'साकंजानां सप्तथमाहुरेकजम्'

ऋ. १.६४.१५, अ. ९.९.१६, तै.आ. १.३.१, नि. १४.१९.

(३) अकेला, (४) स्वयं सामर्थ्यवान् ।

'पुरुणामानमेकजम्'

अ. ६.९९.१

(५) एक स्वयं उत्पन्न, (६) सूर्य, (७) मन ।

'षड्यमा एक एकजः'

अ. १०.८.५.

एकत – एक वेद में पारंगत होना ।

'द्विताय त्वैकताय त्वा'

वाज.सं. १.२३, श.ब्रा. १.२.३.५.

एकत्व – एकता, समानता ।

'एकत्व मनुपश्यतः'

वाज.सं. ४०.७, ईश.उप. ७.

एकतेजना – (१) एक काण्डवाला बाण, (२) अध्याय में यह शरीर ।

'येनेषुमेक तेजनाम्'

अ. ६.५७.१

एकःदेव – (१) एक प्रजापति– (२) एक वैज्ञानिक ज.दे.श. ।

'विश्वाअपश्यत् बहुधा ते अग्ने
जातवेदस्तन्वो देव एकः ।'

ऋ. १०.५१.१.

हे जातप्रज्ञ अग्नि ! (जातवेदः अग्ने) तेरे सम्पूर्ण अंग बहुत प्रकार से दीखते हैं (बहुधा) किन्तु एक प्रजापति ने ही (एकःदेवः) तुझे देखा (अपश्यत्)-सा. । अथवा हे सभी पदार्थों में विद्यमान विद्युत् (जातवेदः अग्ने), तेरे सम्पूर्ण अंगों को (विश्वा तन्वः) कोई वैज्ञानिक (एकःदेवः) अनेक साधनों से (बहुधा) देखता है ।

एकनीड – (१) एक ही नीड अर्थात् स्थान में रखने के समान, (२) एक आश्रय पर स्थित ।

'यत्र विश्वं भवत्येक नीडम्'

अ. २.१.१, वाज.सं. ३२.८, वाज.सं. (का.) ३५.३५, तै.आ. १०.१.३ , महा.ना.उप. २.३.

एकपदी – (१) एक ब्रह्म रूप से जानने योग्य ब्रह्मशक्ति, (२) अजः एकपाद्-वेद, (३) ओम् रुप एकपदा वाणी ।

'एकपदी द्विपदी सा चतुष्पदी'

ऋ. १.१६४.४१, अ. ९.१०.२१, १३.२.४, तै.ब्रा. २.४.६.११, तै.आ. १.९.४, नि. ११.४०.

(४) माध्यमिक वाक् गौरी विद्युत् का विशेषण । वह एक ही अधिष्ठान से इन्द्र के साथ एक होकर जल बरसाने से एक पदी है ।

'गौरीर्मिमाय सलिलानि तक्षती
एकपदी द्विपदी सा चतुष्पदी ।'

ऋ. १.१६४.४१

एकपरः – (१) एक की प्रधानता वाला, एक परायण

'अक्षस्याहमेक परस्य हेतोः'

ऋ. १०.३४.२

एकपात् – एकश्च कस्य ब्रह्मणः पादः (ब्रह्म का एक चरण अग्निःपादः, वायु पादः आदित्य पादः, विशः पादः, इस प्रकार अज भी एकपात् कहा गया है । अर्थ-(१) एक पाद वाला (२) या एकेन पादेनु पाति (एक अंश से रक्षा करता है) । सोने के समय प्राण रूपी अंश से अन्न आदि पचाता है । अतः वह 'एक पाद' कहा गया । (३) एकेन पादेन पिवति एक अंश से समस्त जगत् का उदक पीता है ।

पा + क्विप् = पात् (त् का आगम् आर्ष है । (४) एक अस्य पादः (इसका एक ही चरण है) । ब्रह्म का जीव रूपी अंश समस्त जगत् में एक चरण के सदृश व्याप्त है अतः एक 'अज पात्' कहा गया है ।

(५) एकं पादं न उत्खिदति

'सलिलात् हंस उच्चरन् ।'

अ. ११.४.२१.

हंस एकंचरण को जल के ऊपर आता हुआ नहीं उठाता है । अगर वह उठावे तो उठाते ही शीघ्र सब कुछ अव्यपदेश्य हो जाय ।

यहां आदित्य ह्री हंस है । वह महान् अन्धकार का नाशक है । ब्रह्म महान् अन्धकार का नाशक है । ब्रह्म रुपी सत् में लीन इस जगत् से (सलिलात्) रोज रोज ऊपर उठता हुआ (उच्चरन्) अपने एक चरण को नहीं उठाता है । (एकं पादं न उत्खिदति) । अगर वह जीवभूत

उस अपने चरण को उठावे तो शीघ्र सब कुछ अस्त व्यस्त हो जाय। (६)शक्ति के एक चतुर्थाश के द्वारा चराचर जगत् को धारण करने वाला प्रकाशमय परमेश्वर

'शं नो अज एकपाद् देवो अस्तु'

ऋ. ७.३५.१२, अ. १९.११.३,

(७) वायु

वायुरेकपादः तस्य आकाशे पादः -गो.ब्रा. ५.२.८.

'एकपाद् द्विपदो भूयो विचक्रमे'

अ. १३.२.२७, ३.२५

एकं चक्रम् - एक कालचक्र।

'द्वादश प्रधयश्चक्रमेकम् '

ऋ. १.१६४.४८.अ. १०.८.४, नि. ४.२७

एक काल चक्र है। और मास रूपी उसके बारह घेरे हैं।

एकमुखा - एक परमेश्वर के ही मुख्य विषय को प्रतिपादन करने वाली वेदवाणी

'सहस्रं स एकमुखा ददाति'

अ. ९.४.९

एकमूर्ध्नी - (१) एक ही शिरवाली, (२) एक ही मूर्धा में लगी हुई पांच ज्ञानेन्द्रियां, (३) एक ही मूल धनी -एक ही मूलवाली पांच ज्ञानेन्द्रियां जिनका एक ही मूल आत्मा या मुख्य प्राण है।

'ता एकमूर्ध्नीरभि लोकमेकम्'

अ. ८.९.१५

(४) एक ही आकाश रूप मूल में बद्ध दिशाएं।

एकया अर्वाङ् - एक शक्ति परम प्रकृति या भीतरी चिति शक्ति से डरे।

'पञ्चभिः पराङ् तपसि एकयार्वाङ्'

अ. १७.१.१७.

एकया - एक ही से।

'एकया प्रतिधाऽपिबत् साकम् सरांसि त्रिंशतम् इन्द्रः सोमस्य काणुका'

ऋ. ८.७७.४, नि. ५.११.

यह इन्द्र एक ही प्राण धान से या एक ही झोंके में (एकया प्रतिधा) एक साथ ही (साकम्) सोम रस के तीस सुन्दर बर्तनों को पी गए (त्रिंशतम् सोमस्य काणुका सरांसि अपिबत्)-

अन्य अर्थ-कालाभिमानी इन्द्र, कृष्ण और शुक्ल पक्ष से तीसों रात्रों का एकसा अनुभव करता है।

अथवा, यह सूर्य (इन्द्रः) एक टिकाव से (एकया प्रतिधा) पक्ष के तीस दिन रात में आई हुई चन्द्रमा की प्रदीप्त, प्राप्त अथवा निर्मल रश्मियों को पीता है (त्रिंशत् सरांसि सोमस्य काणुका अपिवत्)।

अथवा सूर्य चन्द्रमा की रश्मियों को अपनी इच्छा भर पीता है। (काणुका अपिवत्)

एकराट्- एक मात्र सबके ऊपर अधिकारी।

'प्राङ् विशांपति रेकराट् त्वं विराज'

अ. ३.४.१.

एकरात्र - एक प्रकार का सोमयज्ञ

'एकरात्रो द्विरात्रः'

अ. ११.७.१०

एकर्तु - (१) एकमात्र ऋतु के समान संवत्सर रूपी काल (२) एकमात्र शरीर का प्रेरक प्राणरूप।

'एकर्तुः कतमोनुसः'

अ. ८.९.२५.

एकर्षिः - अकेला विराजने वाला सूर्य।

'एकर्षिर्यस्मिन्नर्पितः'

अ. १०.७.१४

एकराट् - (१) अद्वितीय प्रकाशमान् इन्द्र, परमेश्वर, (२) एकछत्र सम्राट, ।

'एकराडस्य भुवनस्य राजसि शचीपते'

ऋ. ८.३७.३

एकरूपाः - निष्काम कर्म से एकरूप है।

'विरूपां सन्तो बहुधैकरूपाः'

अ. २.३.४.४, तै.सं. ३.१.४.२, का.सं. ३०.८, तै.आ. ३.११.१११२,

एकविंश - (१) एक विंश नामक आत्मा, ।

'कथमनुष्टुप् कथमेक विशः'

अ. ८.९.२०

एकवाद्या - एक ही बात दुहाराते जाने का आदत।

'एकवाद्यां जिघत्स्वम्'

अ. २.१४.१

एकव्रात्य - एक मात्र समस्त व्रतों का आश्रय-व्रात्य प्रजापति, (२) प्रजापालक मेघ, पर्जन्य।

'स एकव्रात्योऽभवत्'

अ. १५.१.६

एकविंश - (१) यज्ञ का एकविंश नामक साम। वाणी के बल पर हृदय मंथन हो जाने पर बीस

अंगों सहित इक्कीसवां आत्मा स्त्री के गर्घ से उत्पन्न होता है ।

'मन्थिनः एकविंशः'

वाज.सं. १३.५७, तै.सं. ४.३.२.२., मै.सं. २.७.१९, १०४.१०, का .सं. १६.१९, श.ब्रा. ८.१.२.५.

एकवीरः - एकमात्र शूरवीर ।

एकवृत् - एकमात्र वरण करने और पूजने योग्य ।

'यक्षं पृथिव्यामेकवृत्'

ऋ. ८.९.२५, २६·

एकवृतः - (१) एक परमात्मा में आश्रित सभी देवगण, (२) आत्मा में आश्रित इन्द्रियाँ

'एते अस्मिन् देवा एकवृतो भवन्ति ।'

अ. १३.४.१३

(३) एकरूप में सदा वर्तमान परमेश्वर ।

'य एतं देवमेकवृतं वेद'

अ. १३.४.१५

एकवृष - (१) एक मात्र सब सुख बरसाने वाला-सर्वश्रेष्ठ ।

'वृषा विश्वस्य भूतस्य त्वमेक वृषो भव ।'

अ. ६.८६.१

(२) एक मात्र सबसे श्रेष्ठ ।

'एकवृष इन्द्र सखा जिगीवान्'

अ. ४.२२.६,७, तै.ब्रा. २.४.७.८,

(३) एक प्राण वाला-आत्मा ।

'यद्येक वृषोऽसि सृजारसोऽसि'

अ. ५.१६.१

एकशतः - (१) एक सौ वर्ष का जीवन ।

'एकशताय स्वाहा'

वाज.सं. २२.३४, मै.सं. ३.१२.१५, १६४.१३.

एकशतं मृत्यवः - एकसौ एक प्रकार की मृत्यु ।

'ये मृत्यव एकशतम्'

अ. ८.२.२७

एकशतमृत्यु - १०० या १०१ प्रकार की मृत्यु ।

'मृत्युन् एकशतं ब्रूमः'

अ. ११.६.१६

एकशतं लक्ष्म्यः - एक सौ एक मनुष्य के शरीर को दर्शाने वाली मानस वृत्तियाँ ।

'एकशतं लक्ष्म्यो मर्त्यस्य'

अ. ७.११५.३

(२) एक सौ एक मनुष्य के स्वरूप को दर्शाने वाली मा वृत्तियां ।

एक शफः-एक खुर वाला अश्व, खच्चर आदि पशु ।

'इमं मा हिंसीरेकशफं पशुम्'

वाज.सं. १३.४८, तै.सं. ४.२.१०.२, मै.सं. २.७.१७.१०२.१२, का.सं. १६.१७, श.ब्रा. ७.५.२.३३.

'यां ते चक्रुरेकशफे'

अ. ५.३१.३

एकशितिपात् - एक पैर काले रंग का रखने वाला 'पेत्व' नामक अधिकारी ।

'वारुणः कृष्ण एकशितिपात् पेत्वः'

वाज.सं. २९.५८, तै.सं. ५.५.२४.१, का.सं. (आश्व). ८.३.

एकशीर्षाणो दशवत्साः - एक शिर से युक्त दश प्राण ।

'तं वत्सा उप तिष्ठन्ति एकशीर्षाणो युता दश'

अ. १३.४.६

एकशुङ्गा - एक सरपत वाली ओषधि ।

'प्रस्तृणाती स्तम्बिरेकशुङ्गाः'

अ. ८.७.४.

एकश्रुष्टि - एक जैसा भोजन ।

'एकश्रुष्टीन् संवननेन सर्वान्'

अ. ३.३०.७

एकःजातः - आद्वितीय, एक हिरण्यगर्भ ।

'हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे
भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्'

ऋ. १०.१२१.१, अ. ४.२.७, वाज.सं. १३.४, २३.१,२५.१०, वाज.सं. (का). २९.३३, तै.सं. ४.१.८.३, २.८.२, मै.सं. .२.७.१५, ९६.१३, २.१३.२३, १६८.५, ३.१२.१६, १६५.१, का.सं. १६.१५, ४०.१, का.सं. (अश्व). ५.११, श.ब्रा. ७.४.१.१९, नि. १०.२३.

सृष्टि के पूर्व परमात्मा से हिरण्यगर्भ उत्पन्न हुआ । वह अद्वितीय एक जन्मे लेते मात्र (एकःजातः) इस स्थावर जंगमात्मक जगत् का (भूतस्य) पति, पालक या ईश्वर हुआ (भूतस्य पतिः आसीत्) ।

एकः सत् बहुधा - एक ही परमेश्वर बहुत नामों से ख्यात है जैसे इन्द्र (ऐश्वर्यवान्), मित्र (स्नेही या मृत्यु से त्राणकारी), वरुण (सर्वश्रेष्ठदुःख निवारक), दिव्य (तेजोमय) सुपर्ण (भलीभाँति पालन कर्ता), गरुत्मान् (महान् आत्मा), अग्नि

(अग्रणी, सबसे पूर्व और ज्ञानवान्) यम (सर्व नियन्ता) मातरिश्वा (जगन्निर्मात्री प्रकृति में और ज्ञाता आत्मा में भी सूक्ष्मतया व्यापक और गति दाता)। परमेश्वर अद्वितीय होने से एक, बलरूप और कारण होने से सत् है ।

'इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुः
अथो दिव्यः ससुपर्णो गरुत्मान्
एकं सत् विप्रा बहुधा वदन्ति,
अग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ।'

ऋ. १.१६४.४६, अ. ९.१०.२८, नि. ७.१८.१४, १.

एकःसन् वृत्रहा - एक होता हुआ भी वृत्त को मारने वाला इन्द्र, परमात्मा ।

'एको दृढमवदो वृत्रहासन्'

ऋ. ३.३०.५.

हे इन्द्र । तूने अकेले ही जो वृत्र का वध किया इस देवताओं को अभयदान दिया ।

एकः सम्राट् - लोकों का एक मात्र प्रकाशक, अग्नि, स्वयं सबमें अकेला प्रकाशमय, सबका एक महेश्वर ।

'सम्राडेकोविराजति'

अ. ६.३६.३, साम. २.१०.६०, वाज़.सं. १२.११७, वाज.सं. (का.) १३.७.१६, तै.ब्रा. २.४.१.९, आश्व. श्रौ.सू. ८.१०.३, शांश्रौ.सू. ३.५.८.

एकःसुपर्णः - एक ही अद्वितीय वायु । सुन्दर गति वाला वायु भी है । 'सुपर्ण' का बहुवचन में प्रयोग सूर्य की किरणों के अर्थ में हुआ है । एक वचन में इस शब्द का प्रयोग वायु के अर्थ में हुआ है ।

'एकः सुपर्ण स संमुद्रमा विवेश'

ऋ. १०.११४.४, ऐ.आ. ३.१.६.१५, नि. १०.४६.

एक वह अद्वितीय वायु नित्य अन्तरिक्ष में रहता है । (समुद्रम् आविवेश) ।

एका - चितिशक्ति, एक महान् प्रकृति ।

'एकपा च दशभिश्चा सुहूते'

अ. ७.४.१, वाज.सं. २७.३३, मै.सं. ४.६.२, ७९.६, श.ब्रा. ४.४ .१.१५, तै.आ. १.११.८,आश्व श्रौ.सू. ५.१८.५, शां.श्रौ.सू. ८. ३.१०.

एकाक्षर - (१) एक मात्र वायु की अक्षय शक्ति, (२) अग्नि, की एकमात्र प्रकाश शक्ति ।

'अग्निरेकाक्षरेण प्राणमुदजयतत्तमुज्जेषम्'

वाज.सं. ९.३१, शा.ब्रा. ५.२.२.१६.

(३) एक मात्र अक्षर 'ओम्' । पदवाच्य परमेश्वर

'एकाक्षरमभिसंभूय शक्राः'

अ. १.२८.८

एकाकी - अकेला

'कःस्विदेका की चरति'

वाज.सं. २३.९,४५, तै.सं. ७.४.१८.१, मै.सं. ३.१२.९:१६५.१७, का.सं. (अश्व). ४.७, श ब्रा. १३.२.६.१०, ५.२.१२, तै.ब्रा. ३.९.५.४, आश्व.श्रौ.सू. १०.९.२, शां श्रौ.सू. १६.५.३

एकगौः - एक पृथिवी ।

'पर्येका चरति वर्तनि गौः'

ऋ. ३.७.२

सूर्य के चारों ओर यह एक पृथिवी बार बार लौटकर आने वाला मार्ग चलती है ।

एकादश - (१) दस प्राण और जीवात्मा, (२) दस इन्द्रियां और मन, (३) दस दिशाएं और सूर्य या प्रजापति ।

'ये देवासो दिवि एकादशस्थ
पृथिव्यामधि एकदशस्थ
अप्सुक्षितो महिनैकादशस्थ
दे देवासो यज्ञमिमं जुषध्वम् ।'

ऋ. १.१३९.११, वाज.सं. ७.१९, ऐ.ब्रा. ५.१२.५, श.ब्रा. ४.२.२.९, आश्व.श्रौ.सू. ८.१.१२.

(४) दस प्राणों से अतिरिक्त ग्यारहवां अत्मा ।

'यद्येकादशोऽसि सोऽपोदकोऽसि'

अ. ५.१६.११

एकादशकपालः - (१) ग्यारह मस्तिष्कों का विचार, (२) ग्यारह शिर वाला ।

'इन्द्राय त्रैष्टुभाय पञ्चदशाय
बार्हतायैकादशकपालः'

वाज.सं. २९.९०, तै.सं. ७.५.१४.१, मै.सं. ३.१५.१०, १८०.८ का.सं. (अश्व). ५.१०.

एकादशाक्षर - (१) परमेश्वर के ग्यारह रुद्र रुप सामर्थ्य (२) दस सदस्य और ग्यारहवां सभापति,(३) जीवात्मा के ग्यारह प्राण ।

'इन्द्र एकादशाक्षरेण त्रिष्टुभमुदजयत्'

वाज.सं. ९.३३, तै.सं. १०.७.११.२, का.सं. १४.४.

एकानृच - एकचरण का मन्त्र जो पूर्ण ऋच नहीं है । और जिसमें पाद की व्यवस्था नहीं है ।

'एकानृचेभ्यः स्वाहा'

अ. १९.२३.२२.

एकायुः – एकं सत्यगुणस्वभावम् में आयुः यस्य (जिसका सत्यगुण स्वभाव एक आयु है) । (१) एक मात्र समस्त संसार रूप जीव-परमेश्वर (२) समष्टि महान् चैतन्य चित् ।

एकाष्टका – एकमात्र गृह की आठों पहर सुधि लेने वाली गृहिणी ।
'एकाष्टके सुप्रजसः सुवीराः'
अ. ३.१०.५, साम.मं.ब्रा. २.२.१३, हि.गृ.सू. २.१४.४, आप.मं.पा. २.२०.३४.

एकेष – ईषारूप अग्रदण्ड वाला रथ या शरीर ।
'एकेषं विश्वतः प्राञ्चम्'
ऋ. १०.१३५.३

एज – (क्रिया.) करना, कांपना, चलना, गतिशील होना तथा क्रमशः बढ़ने के अर्थ में आता है । अंग्रेजी का Age शब्द भी इसी अर्थ का द्योदक है । प्राणी के बढ़ने की मात्रा Age है ।
वाज.सं. ४०.५, ईश.उप. ५.

एजत् – (१) शरीर को संचालित करता हुआ आत्मा, (२) संसार संचालित करता हुआ परमेश्वर ।
'एजत् ध्रुवं मध्य आपस्त्यानाम्'
ऋ. १.१६४.३, अ. ९.१०.८.
(३) चर, जीवितसंसार ।
'ताभ्यामिदं विश्वमेजत्समेति'
ऋ. १०.८८.१५, वाज.सं. १९.४७, का.सं. १७.१९, ३८.२, श.ब्रा. १२.८.१.२१, १४.९.१.४, तै.ब्रा. १.४.२.३, आप.श्रौ.सू. १९.३.५, बृ.आ.उप. ६.१.४.

एजत् विश्व – गतिमान विश्व ।
'अर्धर्चेन चाक्लृपुर्विश्वमेजत्'
अ. ९.१०.१९

एजत्कः – एजत्क नामक रोग कीट जो थोड़ा थोड़ा कांपता है, ।
'एजत्का शिपवित्लुकाः'
अ. ५.२३.७.

एजति – 'एज' धातु कांपना, चलना, गतिशील होना, तथा क्रमशः बढ़ने के के अर्थों में आता है । कहां क्रमश बढ़ते रहने के अर्थ में आया है ।
'यथा वातो यथा वनम्
यथा समुद्र एजति ।
एवात्वं दशमास्य
सहा वेहि जरायुणा ।'
ऋ. ४.७८.८, नि. ३.१५.
जिस प्रकार हवा, बन और समुद्र कांपते या स्पन्दन या गति करते हैं उसी प्रकार हे दस महीनों का गर्भ ! तू जरायु के साथ नीचे आ ।

एजथुः – कम्पन । एज धातु से सम्पन्न ।
'महान् वेग एजथुर्वेपथुष्टे'
अ. १२.१.१८

एनी – (१) गेहुएं रंग की कपिलागौ ।
'एणीर्धाना हरिणीरर्जनी सन्त धनेवः'
तै.आ. ६.७.१.
'एनीःश्येनीः सरूपा विरूपाः'
अ. १८.४.३३

एणी – (१) हलकी, लाल श्वेत रंग की गंडमाला (इसत् रक्तमिश्रःश्वेतः एतवर्ण) ।
'एन्येका श्येन्येका कृष्णैका रोहिणी द्वे'
अ. ६.८३.२

एत – (१) शुक्ल वर्ण के वस्त्रों वाला (२) उत्तम कर्म ज्ञान से सम्पन्न ।
'प्रति घोराणाम् एतानाम् अयासाम्'
ऋ. १.१६९.७.
(२) कर्वुर (चितकबरा रंग का) ।
'एता ऐन्द्राग्नाः'
वाज.सं. २४.८,१५,१७, मै.सं. ३.१३.९ः १७०.६, ३.१३.१३, १७१.४, ३.१३.१५, १७१.१०, आप.श्रौ.सू. २०.१४.९, १२.१५.३.

एतग्वा – (१) शुद्ध श्वेतवर्ण के शुद्ध चरित्रयुक्त स्त्री पुरुष ।
'एतग्वा चिद्य एतशा युयोजते'
ऋ. ८.७०.७, साम. १.२६८.
(ए.व.) (२) इन प्रत्यक्ष पदार्थों का प्राप्त होती हुई, (३) इनके अनुसार ही ।
ऋ. १.११५.३, मै.सं. ४.१०.२, १४७.३, तै.ब्रा. २.८.७.१.
(३) अश्ववत् गृहस्थ रथ में नियुक्त स्त्री पुरुष
'एतग्वा चिन्न सुयुजा युजानः'
ऋ. ७.७०.२

एतरसम् – बिना, बगैर ।
'अहानेतरसं न विचेतनानि'
अ. २०.१३५.७, ऐ.ब्रा. ६.३५.१०.गो.ब्रा. २.६.१४, शां.श्रौ.सू. १२.१९.२.

एतरी - गत्यर्थक 'इ' धातु से बना है । अर्थ -(१) अतिथि, (२) याचक ।

'सा स्माकेभिरेतरी न शूषैः
अग्निष्ट्वे दम आजातवेदाः'

ऋ. ६.१२.४.

जातधनं या जातप्रज्ञ अग्नि हमारे सुखकर स्तोत्रों से (अस्माकेभिः शूषैः) हमारे यज्ञ गृह में (दमे) अतिथि या याचक के सदृश (एतरीन) स्तुतित किये जाते हैं (आस्तवे) ।

एतश - (१) वेगादियुक्त अश्व वाला ।

'त्वं रथमेतशं कृत्व्ये धने'

ऋ. १.५४.६

(२) आवागमन कारी आत्मा (३) जल वर्षी मेघ (४) अश्व, अश्वसैन्य, (५) देह से देहान्तर में जाने वाला जीव ।

'यत् तुदत् सूर एतशम्'

ऋ. ८.१.११

(६) बलवान् अश्व ।

'भरच्चक्रमेतशो नायमिन्द्र'

ऋ. १.१२१.१३

वेगवान् बलवान् अश्व जिस प्रकार चक्रवान् रथ को या रथ के चक्र को (चक्रम्) धारता और ले जाता है ।

एता - (१) रथ ।

'गृणीते अग्निरेतरी न शूषैः'

ऋ. ५.४१.१०

(२) एतत् शब्द के नपुंसक पु.ब.व. का वैदिक रूप 'एतानि' के स्थान में 'एता' अर्थ-ये

एतादृक् - एतत् + दृश् + क्विप् = एतादृश् । प्रथम पुरुष एकवचन में एतादृक् । अर्थ इस प्रकार का ।

'मा स्मैता दृगपगूहः समर्ये'

ऋ. १०.२७.२४.

इस मृत्यु के साथ होने वाले संग्राम में (समर्ये) अन्तरात्मन् , तू आदित्य के इस प्रकार के उपकरणों को (एतादृक्) मत छिपा या मत भूल (मा स्म अपगूहः)

एतादृक्ष - इस प्रकार का ।

'ईदृक्षास एतादृक्षास ऊ षु णः'

वाज.सं. १७.८४, तै.सं. ४.६.५.६, मै.सं. २.११.१:१४०.५, का.सं. १८.६.

एतिः - रक्षक ।

एतोः - (१) बराबर चलते रहने कि लिए, पार करने के लिए, ।

'स ईं महीं धुनिमेतोः अरम्णात्'

ऋ. २.१५.५, आश्व.श्रौ.सू. ९.८.४.

(२) व्यापने के लिए ।

'अरीरमत् अतमानं चिदेतोः'

ऋ. २.३८.३

एदिधिषुपतिः - पूर्व ही धारण करने योग्य सम्पत्ति का स्वामी, (२) बड़ी बहन के विवाह के पूर्व ब्याही गई छोटी बहन 'एदिधिषु' है, उसका पति ।

'अराध्या एदिधिषुपतिम्'

वाज.स. ३०.९

एदिधिषु - (१) बड़ी बहन के विवाह के पूर्व ब्याही गई छोटी बहन । अग्रे दिधिषु से एदिधिषु हुआ है । (२) पूर्व ही धारण करने योग्य सम्पत्ति

एधतु - वृद्धि ।

'व्याप्तिर्महएधतुः'

अ. ११.७.२२

एधमानः - एध + शानच् = एधमान । अर्थ- दीप्यमान या यज्ञ या सोमाभिषवण नहीं करने वाला पुरुष ।

एधमानद्विट् - दीप्यमानान् अपि असुन्वतः सोमाभिषवम् अकुर्वाणा यज्वनः द्वेष्टि (दीप्यमान होते हुए भी सोमाभिषवण नहीं करने वालों से जो द्वेष करता है इन्द्र परमेश्वर ।

एध + शानच् = एधमान । एधमान + द्विष् + क्विप् = एधमानद्विष । उसीका प्र. पु. ए. व. में रूप एधमान द्विट् ।

'एधमानद्विट् उभयस्य राजा'

ऋ. ६.४७.१६, नि. ६.२२.

इन्द्र या परमेश्वर का विशेषण । वह यज्ञ नहीं करने वाले का द्वेष्टा है । तथा दिव्य और प्रार्थिव दोनों प्रकारों के धनों का दाता है (उभयस्य राजा) (२) पाप से बढ़ने वाले का शत्रु । 'एध' धातु वृद्ध्येर्थक और 'इन्ध्' दीप्त्यर्थक है । जो वृद्धि शील है वही दीप्त भी रहता है । धनी पुरुष यज्ञ नहीं करे तो वह परमेश्वर के द्वारा दण्डनीय है । अतः इन्द्र को 'एधमान द्विट्' कहा गया है ।

(३) अपने से बढ़ते हुए प्रतिस्पर्धी शत्रु से द्वेष करने वाला ।

एधस् - काष्ठ, इन्धन

'मामाम् एधो दशतयः चितोधाक्'

ऋ. १.१५८.४.

मुझे दसगुणा संचित सेना न जलावे ।

एधि - भव (हो) । अस् (होना) + हि = एधि । अ का ए और हि काधि ।

एनश्चिपङ्क्तिका - पाप के समूह से सम्बन्ध रखने वाली ।

'एनश्चिपंक्तिका हविः'

अ. २०.१३०.११

एनस् - इ (गत्यर्थक) + नस् = एनस् (इ का गुण) । अर्थ है (१) जाने वाला अथवा इण् + अस् = एनस् । अर्थ है । (२) पाप करने वाले निकट पाप का फल अवश्य जाता है अतः यह 'एनस्' है । अंग्रेजी में पाप का वाचक Sin शब्द है । मेदिनी कोश में एनः पापापराधयो एसा कहा है ।

एनस्यः - एनस् + यत् = एनस्य । अर्थ- (१) पाप करने वाला ।

'एन एनस्यो ऽकरम्'

अ. ६.११५.२, तै.ब्रा. २.४.४.९

(२) पाप से उत्पन्न

'तास्ते यक्ष्ममेनस्यम्'

अ. ८.७.३.

एनस्वान् - एनस् + वतुप् = एनस्वत् । प्र.पु. एक वचन में 'एनस्वान्' । अर्थ-पापी

'मा त एनस्वन्तौ यक्षिन् युजेम'

ऋ. ७.८८.६.

एन्द्रवसुक्रः - वह पुरुष जो इन्द्र अर्थात् ऐश्वर्यवान् पुरुष के धन (वसु) द्वारा अपने को बेच देता है और भृत्य या वेतनभोगी बनकर रहता है ।

एना - (१) अनेन (इससे) । नपुंसक और पुल्लिंग दोनों में तृतीया एक वचन में 'एना' होता है । नपुंसकलिंग मे तृतीया के एकवचन में-

'एना वो अग्नि नमसा
ऊर्जो नपातमा हुवे ।
प्रियं चेतिष्ठमरतिं स्वध्वरं
विश्वस्य दूतमगृतम् ।'

ऋ. ७.१६.१, साम. १.४५,२.९९, वाज.सं. १५.३२, तै.सं. ४.४.४.४, मै.सं. २.१३.८, १५७.३, का.सं. ३९.१५.

हे ऋत्विक यजमानो ! इस अन्न से (एना नमसा) आप लोगों के (वः) अन्न के नप्ता (ऊर्जौनपातम्) देवताओं के प्रिय (प्रियम्) अत्यन्त चेतनावान् (चेतिष्टम्) पर्याप्त बुद्धि वाले (अरतिम्) यज्ञ को सुशोभित करने वाले (स्वध्वरम्) अग्नि को आमन्त्रित करता हूँ (अग्निम् आहुवे)।

स्वामी दयानन्द का अर्थ-हे प्रजाजनो ! तुम्हारे बल का नाश न करने वाले (ऊर्जो नपात्) .हितकर (प्रियम्) चिताने वाले (चेष्ठिम्), आर्य (अरतिम्), हिंसा रहित शुभ कर्म करने वाले (स्वध्वरम्), संसार को अनर्थों से बचाने वाले (अमृतम्), तेजस्वी (अग्निम्) । विश्व के उपदेशक को (विश्वस्य् दूतम्) स्वीकार करता हूँ (आहुवे) ।

'एना' का पुल्लिंग तृतीयैकवचन मे प्रयोग -

'इह प्रियं प्रजया ते समृध्ययताम्
अस्मिन् गृहे गार्हपत्याय जागृहि ।
एना पत्यो तन्वं ससृजस्व ।
अधा जिव्री विदथमावदाथः ।'

ऋ. १०.८५.२७, अ. १४.१.२१., आश्व.गृ.सू. १.८.८, आश्व.मं.पा. १.९.४.

हे वधू ! इस गृह में संतति से युक्त तेरा मंगल बढ़े (प्रजया ते प्रियम् समृध्यताम्) । इस घर में गार्हस्थ्य धर्म पालन करने के लिए या गृहपत्नीत्व के लिए (गार्हपत्याय) जागृत् हो तत्पर हो । इस पति के साथ अपने शरीर को एक कर दो या मिला दो (एना पत्या तन्वं संसृजस्व) और इस प्रकार हिलमिल कर (अधा) पति पत्नी बुढ़ापे तक संयुक्त हो यज्ञ में मन्त्रोच्चारण करो (जिव्री विदथं आवदाथः) यही आशीर्वाद है ।

एनाम् - एतत् शब्द के स्त्रीलिंग द्वितीया एकवचन में रूप । अर्थ-इसको एतत् का अन्वादेश 'एना' होता है ।

एनी - (१) शुभ्र गौ, (२) नदी, (३) जलधारा (४) श्वेत वर्ण की मज्जा वाहिनी या शुक्र वाहिनी नाड़ी ।

'ऋजीत्येनी रुशती महित्वा'

ऋ. १०.७५.७

नदी के अर्थ में-

'वियद् वर्तन्त एन्यः'

ऋ. ५.५३.७

(५) श्वेत, शुक्लवर्ण, गौर (६) सदाचारिणी, (७) प्राप्त होने योग्य मन्तव्या स्त्री ।

'सन एनीं वसवा नो रयिं दाः'

ऋ. ५.३३.६

(८) इ (गत्यर्थक) धातु से सिद्ध । अर्थ है-प्रगतिशीला ।

'एनीः अवनयः'

(प्रगतिशील नदिया) । शुद्ध श्वेतवर्ण की गौ के अर्थ में-

'आयत् पतन्त्येन्यः'

ऋ.८.६९.१०, २०.९२.७, शा.श्रौ.सू. ९.६.१५.

(९) एक तरफ से चित्रित वर्ण का वस्त्र पहनने वाली

'एन्योमैत्र्यः'

वाज.सं. २४.८.

एनी अवनिः - (१) सदा बहती हुई नदी, (२) भूमिवासिनी प्रजा

'एकं यदुद्ना न पृणन्ति एनीः
आसिञ्चन्तीरवनयः समुद्रम्'

ऋ. ५.८५.६

एम - (१) मार्ग । अंग्रेजी Aim से इस शब्द की समानता विचारणीय । मार्ग पर चला जाता है । अतः यह एम है ।

'कृष्णं त एम रुशतः पुरोभाः'

ऋ. ४.७.९

(२) प्राप्तव्य पदार्थ (३) यत्न ।

'एमश्च म इत्या च मे'

वाज. सं. १८.१५

(४) प्राप्त करने योग्य परमपद (५) लक्ष्य (aim) ।

'कृष्णं त एम रुशदूर्मे अजरः'

ऋ. १.५८.४

हे जन्ममरण रहित (अजर), प्रकाश युक्त जीवात्मन्, तेरा प्राप्त करने योग्य परम पद (एम) अत्यन्त आकर्षण करने वाला है ।

अथवा हे दीप्त ज्वाला युक्त अग्ने ! तेरा मार्ग (एमः) कृष्ण है ।

एमीत् - आता या आ जाता हूँ ।

'एमीदेषां निष्कृतं जारिणीव'

ऋ. १०.३४.५.

तब मैं इन जुआरियों के (एषाम्) अड्डे पर (निष्कृतम्) व्यभिचारिणी स्त्री की तरह (जारिणी इव) आ जाता हूं (एमीत्) ।

एमुषः - (१) आमुषम् । 'आमुषम्' के आ का ए छान्दस है । अर्थ है-सर्वेषाम् असुराणां मध्ये मोहस्थानीयम् (सभी असुरों में प्रसिद्ध) । 'आमुष्य' का अर्थ प्रसिद्ध सम्भ्रान्त परिवार का । यह शब्द 'सर्वश्रेष्ठ' का वाचक है ।

(२) आ अधिष्ठिताः मुषाः मोषकाः अत्र (जहां चोर रहते हों वह स्थान आमुष है) । आमुष से ही एमुष हुआ है ।

'विश्वेत्ता विष्णुराभरत्
उरुक्रमस्त्वेषितः ।
शतं महिषान् क्षीरपाकमोदनम्
वराहमिन्द्र एमुषम् ।'

ऋ. ८.७७.१०, मै.सं. ३.८.३, ९५.१४, नि.५.४

बड़े बड़े डेगों वाला या बहुत पराक्रमी (उरुक्रमः) व्यापनशील (विष्णुः) स्तुति परक मन्त्रों से संदीपित (त्वेषितः) इन्द्र ने (इन्द्रः) सैकड़ो चरु आदि से सिद्ध होने वाले आदेन (क्षीरपाकम् ओदनम्) बड़े-बड़े यज्ञों (महिषान्) तथा श्रेष्ठ वराह (एमुषम् वराहम्) रूपी सभी (विश्वा इत्) उन धेनों को (ता) लाया (आभरत्) ।

दुर्ग ने इसका अर्थ 'सभी धनों को लाया और वराह नामक प्रसिद्ध असुर को मारा' किया है । वस्तुतः आभरत् क्रिया का कर्म यज्ञ और वराह है । महिष का अर्थ बड़ा यज्ञ है ।

अन्य अर्थ-बहुत पराक्रमी (उरुक्रमः) तेजस्वी (त्वेषितः) तथा उत्तमगुणों को प्राप्त किया हुआ (विष्णुः) सेनापति (इन्द्रः) चोरों के निवास स्थान पर्वत प्रदेशों को जीतकर (एमुष वराहम्) अनेक प्रशस्त पदार्थों (शतं महिषान्) दूध में पकाए हुए चावल आदि सभी वस्तुओं को (क्षीरपाकम् ओदनम्) लाया (विश्वाइत् आभरत्) ।

एयात् - आवे ।

'नेदीय इत् सृण्यः पक्वमेयात्'

ऋ. १०.१०१.३, वाज.सं. १२.६८, श.ब्रा. ७.२.२.५, नि. ५.२८.

पका अन्न अंकुश या हंसुआ से भी निकटतर आ जाय ।

एयुषी – आने वाली ।

'शश्वत्तमागात् पुनरेयुषीणाम्'

ऋ. १.१२४.४, नि. ४.१६.

चर कर लौटने वाली गौ आदि के लिए उषा बार बार आने वाली है ।

एर्त्समान – आ + ईर्त्समान । अर्थ-प्राप्त करता हुआ ।

'ऋणान्नो नर्णमेर्त्स मानाः'

अ. ६.११८.२

एरिरे – आङ् +ईरिरे । आभिमुख्येन प्रेरितवन्तः (बार-बार सामने प्रेरित किया) । ईर् धातु प्रेरणा अर्थ में आया है । उसी के लिट् प्र. पु. बहुवचन का यह रूप है, । 'झि' का 'इरेच्' आदेश होता है । आङ् का प्र उपसर्ग के अर्थ में प्रयोग हुआ है ।

एरु – प्रेरक ।

'एरुं तुन्दाना पत्येव जाया'

अ. ६.२२.३.

एवः – (१) बुरा अभिप्राय, (२) कुटिल जाल, चाल बाजी ।

'ये पाकशंसं विहरन्त एवैः'

ऋ. ७.१०४.९, अ. ८.४.९.

एव – (१) ज्ञान, (२) प्रजाओं का शिक्षण, (३) गमनागमन का साधन रथ आदि, (४) यह लोक (शतपथ के अनुसार) ।

'एव श्छन्दः'

वाज.सं. १५.४.५, तै.सं. ४.३.१२.२,३, ५.३.५.४, मै.सं. २.८.७, ११२.२, का.सं. १७.६, श.ब्रा. ८.५.२.३,५, का.श्रौ.सू. १७.११.५, आ.श्रौ.सू. १७.३.४,

ज्ञान के अर्थ में-

'स्वेभिरेवैः'

अ. २०.९१.११.

गति के अर्थ में –

'रमध्वं मे वचसे सोम्याय
ऋतावरी रूपमुहूर्तमेवैः'

ऋ. ३.३३.५, नि. २.२५.

ऐ नदियो ! मुझ सोम बनाने वाले के लिए अपनी तीव्र गतियों से मुहूर्त भर ठहर जाओ ।

(५) अवन, प्रार्थना या कामना विशेष । इ (गत्यर्थक) + व (भाव में) = एव, अथवा अव (रक्षा करना) + घञ् (भाव में) = एव ।

(६) गति शील वायु (Air)

'आते सुपर्णा अमिनन्तएवैः'

ऋ. १.७९.२, तै.सं. ३.१.११.५, मै.सं. ४.१२.५, १९३.९, का.सं. ११.१३, ऐ.ब्रा. ७.९.४.

जब किरणें (सुपर्णा) वायुओं से (एवैः) मिलकर इस प्रकार सब तरफ से मेघ पर आघात करता है तब श्याम रंग का बादल (कृष्णः) गर्जन करता है ।

एवया मरुत् – (१) ज्ञान वान् मनुष्य -दया. (२) उत्तम गमन करने योग्य मार्गों पर जाने या पहुंचाने वाला और वायु के समान ज्ञानवान् बलवान् पुरुष, (३) सब जीवों का स्वामी परमेश्वर, (४) ज्ञान मार्ग पर जाने वाले जीवों का स्वामी, (५) प्राणों का प्राण ।

'मरुत्वते गिरिजा एवया मरुत्'

ऋ. ५.८७.१,

(६) मार्गों पर या साधनों से जाने वाला ।

'प्र विद्मना ब्रुवत एवयामरुत्'

ऋ. ५.८७.२

एवयावन् – (१) यः एवं विज्ञानं याति (जो विज्ञान को प्राप्त करता है) -दया. (२) ज्ञानों को प्राप्त करने वाला ।

'तान् वो महो मरुतो एव याव्नः'

ऋ. २.३४.११.

एवयावरी – एव + यावरी (१) वेगयुक्त अश्वों, उत्तम उपायों द्वारा प्राप्त होने वाली भूमि या ज्ञान वाणी ।

'या सुम्नैरेवयावरी'

ऋ. ६.४८.१२

एवयावाः – एवं बोधं याति प्रापयति यः सः (ज्ञानों को प्राप्त कराने वाला परमेश्वर-विद्वान्) ।

'उतनोधियो गोअग्राः
पूषन् विष्णो एवयावः
कर्तानःस्वस्तिमतः ।'

ऋ. १.९०.५, आश्व.श्रौ.सू. ९.११.१८.

हे सबके पोषण करने वाले, हे व्यापक सामर्थ्य

वाले (विष्णो), हे ज्ञानों को स्वयं प्राप्त करने और औरों को प्राप्त कराने वाले (एवयावाः) आप लोग हमारी बुद्धियों को उत्तम वेद वाणियों से प्रकाशित होने वाला करो (नः धियः गो अग्रा) तू हमें सब कल्याण से युक्त कर ।

एवयाः - एव + याः । रक्षक के पास आने वाला -विष्णु
'विभूत द्युम्न एवया उ सप्रथाः'
ऋ. १.१५६.१, तै.ब्रा. २.४.३.८.

एवा - एवम् । पृषोदरादि की तरह एवम् के म् का लोप और 'निपातस्य' च पा. (६.३.१३६) से संहिता मे दीर्घ । अर्थ है इसी प्रकार ।
'एवा रात्र्युषसे योनिमारैक्'
ऋ. १.११३.१, साम. २.१०९९, नि. २.१९.
जिस प्रकार रात सूर्य से उत्पन्न होती है उसी प्रकार रात ने उषा के लिए अपने अपर भाग अर्थात् अन्तिम प्रहर की कल्पना की (योनि मारैक्) ।

एवार - आदरों से प्राप्त होने योग्य ।
'एवारे वृषभा सुते'
ऋ. ८.४५.३८

एवावदः - (१) आगे जाने योग्य मार्ग का उपदेश करने वाला, (२) प्राप्त तथ्यों को कहने वाला -दया.
'एवावदस्य यजतस्य सध्रेः'
ऋ. ५.४४.१०

एवाहि - एवहि । इस प्रकार ।
'एवाहि मां तवसंवर्धयन्ति'
ऋ. १०.२८.६

एवैव - एवएव । वैसे वैसे ।
'एवैव तस्थुः सवितः सवायते'
ऋ. ४.५४.५

एष् - (१) इच्छावान् , (२) सब प्रकार की इच्छाओं को पूर्ण करना ।
'अपोन क्षोदोऽवृणीतमेषे'
ऋ. १.१८०.४

एष - इष् + अच् = एष । अर्थ (१) अभिलषणीय, (२) अभिलषणीय तत्व ।
'विष्णोरेषस्य मीढुषाम्'
ऋ. ८.२०.३
(३) सबकी इच्छा का पात्र, (४) सबका संचालक, (५) अर्थ और यश का इच्छुक प्रजा प्रिय राजा ।
'विष्णोरेषस्य प्रभृथेहवामहे'
ऋ. २.३४.११, ७.४०.५.

एष्टा - (१) पर्यालोचक, (२) प्राप्त करता हूँ ।
'श्रुतं म अच्छोक्तिभिःमतीनाम्
एष्टानरा निचेतरा च कर्णैः'
ऋ. १.१८४.२
हे उत्तम नायको या स्त्री पुरुषो ! प्राप्त संपदाओं और ज्ञानों को अच्छी तरह से संचय करने वालो (निचेतारा) मननशील विद्वान् पुरुषों के उत्तम प्रशंसा वचनों से मैं आप दोनों को प्राप्त करता हूँ (एष्टा) ।

एष्टि - कार्य-साधक, प्रजा की प्रेरक आज्ञा ।
'तस्य ऋक्सामा न्यप्सरस एष्टयोनाम'
वाज.सं. १८.४३, मै.सं. २.१२.२, १४५.८, श.ब्रा. ९.४.१.१२.

एहिमाय - आङ् + ईह (चेष्टार्थक) + इन् । क्रिया में बुद्धि रखने वाला, क्रियापरायण ।
'एहिमायासो अद्रुहः'
ऋ. १.३.९.

ऐकपदिक - एकएकपद के क्रम से ।

ऐट्ट - मांगता है, ।
'उपस्थाय मातरम् अन्नमैट्ट'
ऋ. ३.४८.३

ऐड - (१) अनुष्टुप् छन्द से उत्पन्न ऐड नामक साम । इडा + अण्= ऐड (२) वाणी का विस्तार ।
'अनुष्टुभ ऐडम्, '
वाज.सं. १३.५७, वाज.सं. (का). १४.७.८, मै.सं. २.७.१९, १०४.१०, का.सं. १६.९, श.ब्रा. ८.१.२.५.
(३) 'इडाया अन्नस्य इदम् ऐडम्' कृषिकर्म, (४) अन्न, ओषधि या पृथ्वी के गुणों को जानने वाला विभाग ।
'ऐडेनौषधीभिरोषधीर्जिन्व'
वाज.सं. १५.७, वाज.सं. (का). १६.२.४.
(४) इडा अर्थात् पृथिवी का स्वामी ।
'इतित्वा देवा इम आहुरैड'
ऋ. १०.९५.१८

ऐतन - आओ ।
'आभोगयं प्रयदिच्छन्न ऐतना'

ऋ. १.११०.२

ऐतरेयब्राह्मण - (१) ऋग्वेद के आठ स्थानों में एक। (२) एक ब्राह्मण ग्रन्थ

ऐतरेयारण्यक - ऋग्वेद के आठ स्थानों में एक।

ऐन्द्रवायव - इन्द्र और वायु का सम्मिलित पद।

'ऐन्द्रवायश्च मे मैत्रावरुणश्च मे'

वाज.सं. १८.१९. तै.सं. ४.७.७.१, मै.सं. २.११.५, १४३.३, का.सं. १८.११.

ऐन्द्राग्नः - (१) इन्द्र और अग्नि का (२) सेनापति और अग्रणी नेता पुरुषों के वर्ग का।

'कृष्णग्रीवः शितिकक्षोऽञ्जि सक्थस्त ऐन्द्राग्ना'

वाज.सं. २४.४, मै.स. ३.१३.५, १६९.१०.

(३) इन्द्र और अग्नि, (४) राजा और सेनापति का प्रदान क्रिया हुआ।

'ऐन्द्राग्नं वर्म बहुलम् यदुग्रं'

अ. ८.५.१९, का.सं. ३८.१४, आप.श्रौ.सू. १६.१९.१.

(४) सामवेद के ऐन्द्र और आग्नेय काण्ड

'ऐन्द्राग्नं पावमानम्'

अ. ११.७.६

ऐरयत् - ईर् (चलनार्थक) के लङ् प्रथम पुरुष एक वचन का रूप। अर्थ- चलाया या चलाता है।

'उतादः परुषे गवि
सूरश्चक्रं हिरण्ययम्
न्यैरयत् रथीतमः।'

ऋ. ६.५६.३, नि. २.६.

और प्रेरक (सूरः) तथा अतिशय रथों वाला नृतमं (रथीतमः) पर्ववाले या प्रकाशवाले आदित्य के लिए (परुषेगवि) सुवर्णमय (हिरण्ययम्) उसके रथ के काल रूपी चक्के को (अदः चक्रम्) नित्य (नि) चलाता है (ऐरयत्)।

ऐरय - ईर् (चलनार्थक प्रेरणार्थक) धातु के लङ् म.पु. एकवचन का रूप।

'आमासु पक्वमैरयः'

ऋ. ८.८९.७, साम. २.७८१, का.सं. ८.१६, तै.सं. १.६.१२.२, शां.श्रौ.सू. १८.११.२.

हे इन्द्र! तू ने अपक्व या अप्राप्त यौवना गौवों में पूर्ण दुग्ध प्रेरित किया या तू आपक्व ओषधियों में पक्व रस डालता है।

ऐरावतधृतराष्ट्र - जिसने विषवती विराट् से विष का दोहन किया।

'तां धृतराष्ट्र ऐरावतोऽधोक्'

अ. ८.१० (५) १५

ऐलब - (१) ऐलब नामक चक्षुरोग- (२) प्रकृति-संचालक शक्ति का स्वामी - इला + अण् = ऐलब। इला का अर्थ पृथिवी, प्रकृति, वाणी आदि है।

'अवायमैलब ऐलयीत्'

अ. ६.१६.३

(३) गीधों जैसा कोलाहल, कुत्सित ध्वनि, चीत्कार।

'गृध्राः कुर्वत ऐलबम्'

अ. १२.५.४७

ऐलबकार - सैनिक क्रीड़ाओं का करने वाला सैनिक।

'रुद्रस्यै लब कारेभ्यः'

अ. ११.२.३०

ऐलबृद - पृथ्वी पर के अन्न आदि पदार्थों को बढ़ाने का वाला।

'ऐलबृदा आयुर्धुधः'

वाज.सं. १६.६०, तै.सं. ४.५.११.१, मै.सं. २.९.९, १२९.१.

ओ

ओ - (१) सम्बोधन अर्थ में।

'ओ सुष्टुत इन्द्रयाहि अर्वाङ्'

ऋ. १.१७७.५

(२) अभिमुख्य अर्थ में एक अव्यय।

'ओ त्ये नर इन्द्रमूतये गुः'

ऋ. १.१०४.२

(३) आ + उ। आदर पूर्वक।

'ओचित् सखायं सख्या ववृत्याम्'

ऋ. १०.१०.१, अ. १८.१.१.

ओकस् - (न.) उच् (समवाय अर्थ में) + क = ओक।

'ओकः शब्दाश्रयश्चौकाः' -अमरकोश

शकुन्त और वृषल के अर्थ में भी यह शब्द आया है।

वेद में गृह (घर) के अर्थ में प्रयुक्त है।

'अधाचिदोकः पुनरित्स एति'

ऋ. ७.४.८, नि. ३.३.

क्योकि वह अन्य से उत्पन्न बालक फिर अपने ही पिता के घर चला जाता है ।

ओक्त - आ + उक्त = ओक्त । अर्थ-समन्तात् प्रशंसित, ।
'ब्रह्माण्योक्ता नमसा हरिभ्याम्'
ऋ. १.६३.९

ओक्य - (१) गृहवत् , आश्रयभूत ।
'आपो न वज्रिन् नन्वोक्यं सरः'
ऋ. ८.४९.३
(२) भुवनों या गृहों का व्यवस्थापक नियम ।
'अनु पूर्वाण्योक्या
साम्राज्यस्य सश्चिम'
ऋ. ८.२५.१७
(३) निवास स्थान, गृह ।
'अस्मिन् सुते सवने अस्तु ओक्यम्'
ऋ. १०.४४.९ अ. २०.९४.९
पुनः-
'तुभ्येदिन्द्र स्व ओक्ये'
ऋ. ३.४२.८, अ. २०.२४.८
(५) गृहे साधुः (गृह कार्य में कुशल)-दया.
(६) आश्रय, गृह, देश या पद को धारण पोषण करने योग्य, (७) प्रवचन योग्य गुरु का उपदेश
'इन्द्र ओक्यं दिधिषन्त धीतयः
देवां अच्छा न धीतयः'
ऋ. १.१३२.५

जिस प्रकार दान लेने वाले पुरुष दान देने वालों के सम्मुख रहे उसी प्रकार अध्ययन करने वाले शिष्य जन अविद्यानाशक गुरु के अधीन रहकर (इन्द्रे) प्रवचन योग्य गुरूपदेश को (ओक्यम्) धारण करे (दिधिषन्त)

अथवा, उस ऐश्वर्य वान् सेनापति के अधीन ही अपने आश्रय देख, गृह या पद को धारण पोषण करने योग्य जन जिस प्रकार अपने दाताओं का आदर करते हैं उसी प्रकार वेतन-भृत होकर वे दानशील राजाओं को पुष्ट करें । घर के अर्थ में-
'मर्म इव स्व ओक्ये'
ऋ. १.९१.१३
जैसे पुरुष अपने घर में प्रसन्न रहता है,

ओकिवांसा - परस्पर मिलकर रहने वाले, परस्पर समवेत, एक दूसरे से नित्य सम्बन्ध बना कर रहने वाले स्त्री पुरुष
'ओकिवांसा सुते सचा'
ऋ. ६.५९.३

ओघ - (१) बाढ़, (२) जलप्लावन, (३) धारा, (४) ढेर, प्रचुरता, (५) संख्या, (६) समूह, (७) पूर्ण, (८) क्रम, (९) प्रणाली, रिवाज, परिपाटी (१०) चिरन्तन विधान

ओजस् - (१) बल, (२) पुरुषार्थ । ओज् (वृद्ध्यर्थक नैरुक्त धातु) + असुन् = ओजस्, अथवा उब्ज + असुन् = ओजस् (न का लोप) । उब्ज धातु न्यक् भाव के अर्थ में प्रयुक्त होता है । जो बढ़ावे या न्यक् भाव करे । (वर्द्धयति उब्जयाति इति वा) (३) प्रभाव ।
'श्रायन्त इव सूर्यं विश्वेदिन्द्रस्य भक्षत
वसूनि जाते जनमान ओजसा
प्रतिभागं न दीधिम ।'
ऋ. ८.९९.३, अ. २०.५८.१, साम. १.२६७, २.६६९, वाज.सं. ३३.४१, कौ.ब्रा. २५.६, आश्व.श्रौ.सू. ७.४.३, शां.श्रौ.सू. ११.१३.२१, १२.४.१९, १६.२१.१९, वै.सू. ३३.६, ४०.५, ४१.९, १०,१९, ४२.५, ला.श्रौ.सू. ४.६.२३, नि. ६.८.

जैसे सूर्य में समाश्रित रश्मियां सूर्य में स्थित जलोंका विभाग करने की इच्छा करती हैं (श्रायन्तः सूर्यम् इव) उसी प्रकार मरुद्गण इन्द्र से सभी (इन्द्रस्य विश्व इत्) धन (वसूनि) उत्पन्न हुए तथा उत्पन्न होने वाले (जाते जनमाने) मनुष्य के लिए बल से विभक्त करते हैं (भक्षत) उन धनों में जो हमारा धन है उसके लिए हम ध्यान करते हैं (नः प्रतिभागं दीधिमः) -दुर्ग

अन्य अर्थ, हे मनुष्यो ! जैसे समाश्रित रश्मियां सूर्य को भजती हैं उसी प्रकार इन्द्र के सभी धनों को भजो । वह इन्द्र जिन धनों को उत्पन्न या उत्पन्न होने से वाले मनुष्यों के लिए अपने बल से पैदा करते हैं उन धनों को पैतक धन के समान हम समझते हैं । -सा.

अन्य अर्थ-परमात्मा के आश्रित मनुष्य उस सर्व प्रेरक परमेश्वर की उपासना करते हैं (श्रायन्तः सूर्यम् इव) जैसे सूर्य की रश्मियां सूर्य की उपासना करती हैं । इसी प्रकार परमात्माश्रित

तेजस्वी पुरुष इन्द्र अथवा परमेश्वर की उपासना करते हैं । हम उत्पन्न तथा उत्पन्न होने वाले जगत् में (जाते जनमाने) परमेश्वर के सब धनों का विभाग करने की इच्छा रखते हुए ही (इन्द्रस्य विश्वा वसूनि भक्षत् इत्) पुरुषार्थ से (ओजसा) अपने भाग का अनुचिन्तन करें । (भागं प्रति दीधिमः)

प्रभाव के अर्थ में –

'पितुं नु स्तोषं महोधर्माणं तविषीम् ।
यस्य त्रितो व्योजसा वृत्रं विपर्वमर्दयत् ।'

ऋ. १.१८७.१, वाज.सं. ३४.७, का.सं. ४०.८, नि. ६.२५.

मैं अगस्त्य अत्यन्त बल धारण करने वाले अन्न को (महः तविषीं धर्माणाम् पितुम् नु) भजता हूं (स्तोषम्) जिसके प्रभाव से (यस्य ओजसा) तीनों लोकों में अप्रतिहत इन्द्र ने (त्रितः) वृत्र नामक असुर या मेघ को (वृत्रम्) टुकड़े टुकड़े कर या गाँठ गाँठ तोड़कर (विपर्वम्) विदीर्ण किया (व्यर्दयन)

(४) २६ अध्यक्षों का स्वयं प्रवर्त्तक २७ वा राजा । – दया.

'ओजस्त्रिणवः'

वाज.सं. १४.२३, तै.सं. ४.३.८.१, ५.३.३.४, मै.सं. २.८.४, १०९.५, का.सं. १७.४, २०.१३, श.ब्रा. ८.४.१. २०.

ओज्मा – (१) ओज, बल, तेज ।

'उग्रं ओज्मानमादधत्'

अ. ४.१९.८

(२) बलरुप ।

'अपाम् ओज्मानम् परिगोभि रावृतम्'

ऋ. ६.४७.२७, अ. ६.१२५.२, वाज.सं. २९.५३, तै.सं. ४. ६.६.६, मै.सं. ३.१६.३, १८६.१०, का.सं. (अश्व) ६.१.

ओजायमानः – बल पकड़ता हुआ ।

'ओजायमानं यो अहिं जघान'

ऋ. २.१२.११, अ. २०.३४.११

ओजिष्ठ – (१)अत्यधिक ओजस्वी, (२) अत्यधिक पुरुषार्थी, (३) अत्यन्त प्रभाव शाली ।

ओजिष्ठा – अतिबल प्रदान करने वाली, अत्यन्त प्रभाव या पुरुषार्थ देने वाली ।

'ओजिष्ठया दक्षिणयेवरातिम्

ऋ. १.१६९.४

ओणि – (१) ब्रह्मचर्य, (२) व्रतपालन (३) शारीरिक, आत्मिक एवं मानसिक बलवीर्य, (४) दुःख नाशक रक्षण, (४) दुःखान्धकार का अपनयन ।

'उपो वेनस्य जोगुवाणं ओणिम्
सद्यो भुवद् वीर्याय नोधधः'

ऋ. १.६१.१४, अ. २०.३५.१४

तेजस्वी विद्वान् आचार्य का (वेनस्य) अज्ञान को दूर करने वाला ज्ञानधारी और व्रतधारी शिष्य जिस प्रकार शीघ्र ही ब्रह्मचर्य एवं शारीरिक, मानसिक, आत्मिक बल वीर्य को प्राप्त करने में समर्थ होता है, उसी प्रकार तेजस्वी सभापति या सेना पति के दुःख नाशक रक्षण के अधीन रहकर (ओणिम्) उसके साथ मंत्रणा करता हुआ (जोगुवानः) शीघ्र ही बल वृद्धि करने में समर्थ होता है (सद्यो भुवत् वीर्याय नोधाः) ।

ओणी – द्यवापृथिवी ।

'अभित्यं देवं सवितारमोण्योः कविक्रतुम्
अर्चामि सत्यसवम् रत्नधामभि प्रियं मतिम्'

ऋ. ७.१४.१, साम. १.४६४, वाज.सं. ४.२५, तै.सं. १.२. ६.१, मै.सं. १.२.५, १४.४, का.सं. २.६, कौ.ब्रा. २३.८.२७.२, श.ब्रा. ३.३.२.१२, आश्व.श्रौ.सू. ४.६.३, शां.श्रौ.सू. ५.९.७.

द्यावापृथिवी के उत्पादक, सर्वद्रष्टा तथा सर्वकर्मा सत्य की आज्ञा देने वाले सविता अर्थात् सृष्टि कर्ता परमात्मा की अर्चना करता हूँ ।

ओतवै– (१) बुनने के लिए, (२) ओत–प्रोत करने के लिए ।

'वितत्निरे कवय ओतवा उ'

ऋ. १.१६४, ५, अ. ९.९.६.

(३) रचना के लिए ।

अ. ५.२३.१, ६.९४.३

ओतःप्रोतः – (१) उरोया पिरोया, (२) परमात्मा ।

'स ओतः प्रोतश्च विभूःप्रजासु'

वाज.सं. ३२.८, तै.सं. १०.१.३, महा.ना.उप. २.३.

ओता – (१) निरंतर बंधी धारा से बहने वाली

'ओता आपः कर्मण्याः'

अ. ६.२३.२

(२) सब प्रकार से संगत

'ओता देवी सरस्वती'

अ. ५.२३.१, ६.९४.३

ओतु – (१) भरनी, वस्त्र बुनने में तानी और भरनी की प्रक्रियाओं में एक (२) अध्वर्यु के कर्म ओतु है, यज्ञ वस्त्र है, गायत्री आदि तन्तु है (३) सूक्ष्म पञ्चभूत 'तन्तु' और स्थूल पञ्चभूत 'ओतु' हैं ।

'नाहं तन्तुं न विजानाम्योतुम्'

ऋ. ६.९.२

(४) बाने का सूत ।

'य ओतवो ये च तन्तवः'

अ. १४.२.५१

ओदती – (१) स्तुति करती हुई ।

'नदं व ओदतीनाम्'

ऋ. ८.६९.२, साम. २.८६२, ऐ. आ. १.३.५.२, ८.२,५.१.६.४,५, शां.श्रौ.सू. १८.१.१३, ला.श्रौ.सू. ७.३.८.

(२) उदन्तं कुर्वती (ओदा करती हुई, गीली करती हुई) उषा का विशेषण । उषा ओसों से पृथ्वी को गीली करती हुई आती हैं ।

'पदं न वे त्योदती'

ऋ. १.४८.६

जिस प्रकार युद्ध कुशला स्त्री देश को रक्त से गीला करती हुई आगे बढ़ती है और जिस प्रकार आंचल गीला करती हुई नववधू पतिगृह जाती है उसी प्रकार ओसों से पृथ्वी को गीला करती हुई (ओदती) उषा आती है ।

ओदनम् – (१) चावल का भात ।

'शतं महिषान् क्षीरपाकमोदनम्'

ऋ. ८.७७.१०, मै.सं. ३.८.३, ९५.१४.

इन्द्र ने सैकड़ों यज्ञों या प्रशस्त पदार्थों एवं दूध मे पकाए चावल को दिया ।

(२) अन्न , (३) उदकदाता मेघ, (४) खीर, (दूध में सिद्ध किया गया चावल) ।

'निराविध्यद्गिरिभ्य आ
धारयत् पक्वमोदनम्
इन्द्रो बुन्दं स्वाततम्'

ऋ. ८.७७.६, नि. ६.३४.

इन्द्र ने मेघों को उद्दिष्टकर (गिरिभ्यः) अच्छी तरह से खींचे वज्र को (स्वाततम् बुन्दम्) चलाया (निरविध्यत्) और ऐसा कर पके भात या पके अन्न की उत्पत्ति का आधार रूप जल स्थिर किया (पक्वम् ओदनम् आधारयत्) ।

दुर्ग ने ओदन का अर्थ मेघ किया है । और इस ऋचा का अर्थ यह किया है- कि मेघों में जो परिपक्व मेघ था उसे ही विदीर्ण किया ।

आर्य समाजी विद्वान् भी यहां दुर्ग से सम्मत हैं । इन्द्र ने मेघों को विदीर्ण कर जल बरसाया जिससे प्रजा भात या पक्का अन्न पा सकी ।

(५) यज्ञमय प्रजापति का एक नाम

'वामदेव्यमुदरमोदनस्य'

अ. ४.३४.१,

'परमेष्ठी वा एष यदोदेनः'

तै.आ. १.७.१०.

'प्रजापति र्वा ओदनः'

श.ब्रा. १३.३.९.७.

'रेजो वा ओदनः'

(६) परमेष्ठी, (७) रेतस् , वीर्य । भात के अर्थ में –

'भिनत् कनीन ओदनम्'

ऋ. ८.६९.१४, अ. २०.९२.११

वीर्य के अर्थ में –

'यं वां पितापचति यंच माता
रिप्रात् निर्मुक्त्यै शमलाच्च वाचः'
'स ओदनः शतधारः स्वर्गः
उभे व्यापि नभसी महित्वा'

अ. १२.३.५.

जिसे पिता और माता पकाते, जिससे पाप और प्रतिज्ञा भंग के दोष से मुक्त हो सके वह शतधार ओदन है । पतिपत्नी वीर्यरक्षा कर सैकड़ो जीवों का पालन करते हैं अतः यह शतधार ओदन है । गृहस्थ के पालक पति पत्नी का जीवन शत वर्ष तक रहता है वही गृहस्थ स्वर्ग है ।

ओपश – (१) (प्र.) आङ् + उप + शी + असुन् अर्थ –पति के समीप शयन । ओपस सहशयनम्

'कुरीरं छन्द ओपशः'

ऋ. १०.८५.८, अ. १४.१.८.

(२) मेघ, (३) स्थिति, सब प्रकार से स्थिति ।

'चक्राणं ओपशं दिवि'

ऋ. ८.१४.५, अ. २०.२७.५, साम. १.१२१, २.९८९.

(४) स्त्री के योग्य पोशाक ।

'क्लीबमोपशिनं कृशि'
अ. ६.१३८.१
(५) स्त्री के सिर का एक आभूषण ।
'अक्षुमोपशम् विततम्'
अ. ९.३.८.
(६) समीप में विद्यमान, (७) समीप सोने वाली स्त्री ।
'भर्ति स्वधावां ओपशमिव द्याम्'
ऋ. १.१७३.६,

ओपशिन् - स्त्री के योग्य पोशाक से युक्त ।
'क्लीबमोपशिनं कृधि'
अ. ६.१३८.१

ओप्यमान - प्रजा के कार्य में लगाया गया ।
'असंख्याता ओप्यमानाः सुवर्णाः'
अ. १२.३.२८.

ओपिषे - बोता है । 'वप्' धातु का रूप ।
'त्वं कल्याण वसुविश्वमोपिषे'
ऋ. १.३१.९
हे सुखमय, तू जगद्विधाता के लिए समस्त जीव संसार को मानों बोता है । (विश्वं वसु ओपिषे) ।

ओम् - अव + म् = ओम् (१) प्रणव, (२) रक्षक परमात्मा ।

ओम - (पु.) (१) रक्षक, (२) ज्ञानी, (३) विद्याकाम, (४) उपदेश प्रेमी (५) व्यवहार में पुरुषार्थी (६) ज्ञानवृद्ध ।
अव धातु रक्षण, गति, कान्ति, प्रीति, तृप्ति अवगम, प्रवेश, श्रवण आदि अर्थ में आया है । (७) रक्षा बन्धन ।
'विश्वेभिर्गन्तु ओमभिर्हुवानः'
ऋ. ५.४३.१३

ओमन् - अव (रक्षा करना) + मन् = ओमन् । अथवा 'अवन' शब्द से ही अ का ओ और व का म होकर ओमन बना । अर्थ है (१) रक्षा, (२) तृप्ति ।
'युवोः श्रियं परियोषा वृणीत
सूरोदुहिता परितकम्यायाम् ।
यद् देवयन्तमवथः शचीभिः
परि घ्रंसमोमना वां वयो गात्'
ऋ. ७.६९.४, मै.सं. ४.१४.१०, २३०.५, तै.ब्रा. २.८.७.८.
हे अश्विनी द्वय ! आप के रथ को या आप की कान्ति को (युवः श्रियम्) सूर्य की उषा नाम्नी दुहिता (सूरःदुहिता) तुम में अपने को मिश्रित करती हुई (योषा) अर्द्धरात्रि के बाद (परितकम्यायाम्) सब प्रकार से भजती है (पर्यवृणीत) और आप दोनों देव पूजक मनुष्य को (देवयन्तम्) अपने कर्मों से (शचीभिः) रक्षा करते हैं (अवथः) । अतः यह हवि रूप अन्न (वयः) दिन में रक्षा के लिए या रक्षा के निमित्त से (ओमना) आपको समर्पित है । (वां पर्यगात्) ।
अन्य अर्थ-हे अध्यापक तथा उपदेशका आपकी विद्या-लक्ष्मी तथा धर्म लक्ष्मी को (युवोः श्रियम्) अविद्यान्धकार के समय (परितकम्यायाम्) स्त्री, पुत्र एवं पुत्रियां सभी ग्रहण करें (योषा सूरः दुहिता परिवृणीत) और यतः आप देवत्व की कामना करने वाले की उन सुमतियों से रक्षा करते हो (यत् देवयन्तम् शचीभिः अवथः) । अत आपकी तृप्ति के लिए प्रतिदिन (वाम् ओमना घ्रसम्) उत्तम अन्न प्राप्त होता है (पर्यगोत्) ।

ओमन्वान् - नाना रक्षाओं से युक्त सुखदायी ।
' ओमन्वन्तं चक्रथुः सप्तवध्रये'
ऋ. १०.३९.९

ओम्य - रक्षक के पास जाने वाला ।

ओमा - रक्षाकारी उपाय ।
'ओमानं शंयोर्ममकायसूनवे'
ऋ. १.३४.६
शान्ति- सुख को चाहने वाले के योग्य मेरे रक्षाकारी उपाय (शंयोःओमानम्) निजबन्धुपुत्र को प्रदान करो (ममकाय सूनवे) ।

ओमात्रा - रक्षण शक्ति ।
'महीं त ओमात्रां कृष्टयो विदुः'
ऋ. १०.५०.५

ओमासः - अव (पालन या तर्पण अर्थ में) + मन् (कृत या कर्म वाच्य में) + ऊमन् = ओमन (व्यत्यय से गुण), ओमन् + जस् =ओमासः (आज्ञसरेसुक् पा.७.१.५० से जस् का असुक्) । अर्थ है - (१) रक्षितारः या तर्पितारः अथवा (२) रक्षणीयाः या तर्पणीयाः ।

ओम्यावत् - ये अवन्ति ते ओमान्नः तान् ये यान्ति ते ओम्याः एतेप्रशस्ताः विद्यन्ते यस्य सः -दया. रक्षक वर्गों का रक्षक सेना पति ।

ओम्यावती - सत्य ज्ञान और अन्न को धारण करने वाली रक्षणशील पुरषों की विद्या या नीति ।

'ओम्यावतीं सुभरामृतस्तुभम्'

ऋ. १.११२.२०

सत्यज्ञान के उपदेष्टा पुरुष (ऋतस्तुभम्) और सत्य ज्ञान और अन्न को धारण करने वाली रक्षण शील पुरुषों की उत्तम विद्या या नीति से युक्त (ओम्यावती) उत्तम रीति से प्रजा के भरण पोषण करने वाली नीति की (सुभराम्) जिन उपायों से रक्षा करते हो ।

ओषः - (१) अग्नि ।

'ओषः पात्रं च शोचिषा'

ऋ. १.१७५.३, साम. २.७८४.

(२) सहवास

'ओषंपत्या सौभगमस्त्वस्यै'

अ. २.३६.१

(३) दाहकारी, अन्धकारनाशख तेज

'उपद्रव पयसा गोधुगोषम्'

अ. ७.७३.६, ऐ.ब्रा. १.२२.२, आश्व.श्रौ.सू. ४.७.४, शां.श्रौ. सू. ५.१०.१०.

ओषधि - ओषं धयति (शरीर में जो कुछ जलाने वाला-ओषत्-जैसे यक्ष्मा आदि रोग है, उसे पी जाता या नाश करता है) । ओषत् + धे (पीना अर्थ में) + कि = ओषधि (ओषत् के त् का लोप और धे क ए का आनिपातन नियम से) ।

अथवा दोषं धयति जो वातादि कृत दोषों को पी जाय । अर्थ - (१) अन्न-सा ।

'आदित् ग्रसिष्ठ ओषधीरजीगः'

ऋ. १.१६३.७, वाज.सं. २९.१८, तै.सं. ४.६.७.३, का.सं. (अश्व.) ६.३, नि. ६.८.

शीघ्र ही तू अन्नों को खाने लगता है ।

(२) जड़ी बूटी, दवा, दवा का चूर्ण

'या ओषधीः पूर्वाजाता देवेभ्यस्त्रियुगं पुंरा
मनैनु बभ्रूणामहं शतं धामनि सप्त च ।'

ऋ. १०.९७.१,

ज्वरादि उत्पात् में इस मंत्र से मार्जन किया जाता है । जो ये ओषधियां (या ओषधीः) देवताओं से (देवेभ्यः) कलि, द्वापर और त्रेता के पहले अर्थात् आदियुग में (त्रियुगं परा) उत्पन्न हुई (जाताः) उन पीले रंग की या रोग हरने वाली ओषधियों के (बभ्रूणाम्) एक सौ सात स्थानों को (शतं सप्त च धाम्रानि) मैं जानता हूँ । (मनैनु) । शरीर के १०७ मर्मस्थान हैं। 'धामन्' का अर्थ -स्थान, नाम, और जन्म है ।

पुनः-

'सोमं मन्यते पपिवान्
यत् सं पिंषन्त्योषधिम् ।
सोमं यं ब्रह्माणो विदुः
न तस्याश्नाति कश्चम ।'

ऋ. १०.८५.३, अ. १४.१.३, गौ.ब्रा. १.२.९, नि. ११.४.

विवाह में इसका विनियोग है । जिस सोम को आनन्दोपभोग के लिए पीता ओसधि और बनाने के लिए पीसता है उसे भी वह सोम ही समझता है । परन्तु वस्तुतः वह सोम नहीं है वह सोम सोम है जिसे ब्राह्मण या. यज्ञकर्त्ता जानते हैं । उस सोम को कोई यज्ञ-विमुख पान नहीं करता ।

(३) ओष अर्थात् कामना को धारण करने वाला पति

'त्वमस्मै धेह्योषधे'

अ. २.३६.८

(४) उष्णता को धारण करने वाली जीवन शक्ति

'प्राशं प्रतिपाशे जह्यरसान् कृण्वोषधे'

अ. २.२७.१-६

ओषधी - (१) रोग- निवारक ओषधि, (२) शत्रु दाहक वीर्य को धारण करने वाली सेना और प्रजा

'यस्तेरसः संभृत ओषधीषु'

वाज.सं. १९.३३, मै.सं ३.११.७, १५०.१८, का.सं. ३८.२, श.ब्रा. १२.८.१.४, तै.ब्रा. २.६.३.१,

(३) तेजोमय वीर्य को धारण करने में समर्थ माता ।

'सौषधीरनुरुध्यसे'

ऋ. ८.४३.९, वाज.सं. १२.३६, तै.सं. ४.२.३.३, ११.३, मै.सं. २.७.१०:८८.६, का.सं. १६.१०, शा.ब्रा. ६.८.२.४, १२.४.४.४.

ओषधीनां पुरुषः - ओषधियों में पुरुषौषधि जैसे पुरोडाश -

'घृतं चापंपुरुषं चौषधीनाम्'

ऋ. १०.५१.८, नि. ८.२२, कौ.ब्रा. १.२.

ओषधीभ्यः – ओषधि आदि ब्रीहियों से । अग्नि या विद्युत की उत्पत्ति होने के प्रसंग में कहा गया है विद्युत् ओषधियों से उत्पन् होती है ।

'त्वं वनेभ्यः त्वमोषधीम्यः'

ऋ. २.१.१, वाज.सं. ११.२७, तै.सं. ४.१.२, ५, मै.सं. २.७.२, ७६.११, का.सं. १६.२, तै.आ. (आंध्र) १०.७६, नि. ६.१.

ओषधीमती – ओषधियों समृद्ध जल ।

'अपस्त ओषधीमती र्ऋच्छन्तु
ये माघायव एतस्या दिशोऽभिदासात्'

अ. १९.१८.६

ओषधीसंशित – ओषधियों की शक्तियों में सुशिक्षित ।

'विष्णोः क्रमोऽसि सपत्नहा
ओषधीसंशितः सोमतेजाः'

अ. १०.५.३२.

ओषन्ती – जलाती हुई ।

'ओषन्ती समोषन्ती ब्रह्मणो वज्रः'

अ. १२.५.५४

ओषु – (अ).आ + उ + सु = ओषु । अच्छी तरह से ।

'ओषु त्वाववृतीमहि'

ऋ. १.१३८.४

अच्छी तरह से हम तुझे लाते हैं –सा. । हम आपके समीप वर्तमान रहें –दया.

ओष्ठौ – (१) दोनो ओठ (२) दोनों ओठों के समान मधुरभाषी स्त्री पुरुष ।

'ओष्ठाविव मध्वास्ने वदन्ता'

ऋ. २.३९.६

ओह – (१) बीजादि का स्थापन, –दया. (२) वहन करना, चलाना, (३) अपने ऊपर भार धारण करना, (४) वाणी का वितर्क, ऊहापोह ।

'गोरोहेण तौग्र्यो न जिव्रिः'

ऋ. १.१८०.५

गमनशील सवार के वहन करने या चलाने से या पृथ्वी के भार को अपने ऊपर धारण करने से (गोः ओहेण) या वाणी के तर्क वितर्क या ऊहापोह से ...।

(५) वह् (प्रापणार्थक धातु) + घञ् = ओह (छान्दस सम्प्रसारण) । अर्थ–प्रापणीय ।

'अस्मा इदु प्रतवसे तुराय
प्रयो न हर्मिस्तोमं महिनाय ।
ऋचीष मायाध्रिगव ओहम्
इन्द्राय ब्रह्माणि राततमा ।'

ऋ. १.६१.१, आ. २०.३५.१, ऐ.ब्रा. ६.१८.३.५, कौ.ब्रा. २६.१६ , गो.ब्रा. २.५.१५, वै.सू. ३१.१९.

उस बलवान् फुर्तीले पुज्य प्रशंसनीय तथा अज्ञेय गति वाले जिसकी गतियों को शत्रु धारण न कर सके ऐसे इन्द्र या राजा के लिए (अस्मै तवसे तुराय मोहिनाय, ऋचीषमाय, अध्रिगवे इन्द्राय) तृप्तिकारक अन्न की तरह (प्रयो न) प्रापणीय उचित सत्कार (ओहमस्तम्) तथा दातव्य धनों को (राततमा ब्रह्माणि) देता हूँ (प्रहर्मि) ।

(६) ओह – तर्क करना ।

'ऋषिः को विप्रओहते'

ऋ. ८.३.१४, अ. २०.५०.२

(७) अति विचारणीय ।

'ओहमिन्द्राय ब्रह्माणि राततमा'

ऋ. १.६१.१, अ. २०.३५.१, ऐ.ब्रा. ६.१८.५.

(८) उखाड़ना ।

'शफेन इव ओहते'

अ. २०.१३१.७

ओहत् – वितर्क युक्त ।

'ओ देवानाम् ओहते विव्रयो हृदि'

ऋ. २.२३.१९

ओहन् (आद्य) – (१) सत्कर्म पथ का त्यागी, (२) गतिशील ।

'अहिमोहोनम् अपं आशयानम्'

ऋ. ५.३०.६

औ

औक्ष – प्रोक्षण , अर्घ्य, पाद्य का जल (२) दूध का बना पदार्थ ।

'अयमौक्षो अथोभगः'

अ. २.३६.७

औक्षगन्धि – (१) मांसी का एक भेद, गंधमांसी । यह विष नाशक है । (२) नासिका ।

'औक्षगन्धिः प्रमन्दनी'

अ. ४.३७.३

औचथ्यः – (१) उपदेश करने योग्य उत्तम शिष्य, (२) प्रशंसितेषु भवः –दया. (३) उत्तम वचनों के परम प्रशंसनीय (४) गुरु द्वारा प्रवचन या उपदेश पाने के योग्य होने से औचथ्य जीव है ।

'दस्रा हयद् रेक्ण औचथ्यो वाम्'

ऋ. १.१५८.१

उपदेश करने योग्य उत्तम शिष्य (औचथ्यः) तुम दोनों के समीप जब विद्या प्राप्ति के लिए प्राप्त होता है ।

औच्चैः श्रवाः – उच्च कानों वाला घोड़ा ।

'औच्चैः श्रवसमब्रुवन्'

अ. २०.१२.१५, शां.श्रौ.सू. १२.१६.१.२.

और्णवाभ् – (१) मकड़ी का जाल

'अवाभिनद् दानुमौर्णवाभम्'

ऋ. २.११.१८

(२) उर्णां वहन्ति इति वर्णवाभः (भत्वम् छान्दसम्) ।

स्वार्थे अण् । (२) और्णवाभ नामक राजा (३) तेजस्वी दण्डधर राजा (उर्णायाः वस्त्रं आहननार्थ तोदो वा और्णम् तद् वहति वा । विशेषपरिच्छद –भूषितो दण्डधरो वा)

औद्भिद – उद्भिद् + अण्ः– औद्भिद् । दुःखों और शत्रुओं को उखाड़ फेकने में समर्थ ।

'रायस्योष मौद्भिदम्'

ऋ. खि. १०.१२८.२, वाज.सं. ३४.५०, हि.गृ.सू. १.१०.६, आप.मं.पा. २.८.१.

औदुम्बरः – (१) उरुम्भरः । सबको उत्पन्न करने वाला या प्रजा को बहुत पुष्ट करने वाला अधिकारी (२) औदुम्बर नामक मणि या तावीज

'मह्यमौदुम्बरो मणिः'

अ. १९.३१.६

औदुम्बरमणि – (१) उत्तम पुष्टि करने वाला, (२) पापों से ऊंचा उठाने वाला, (३) अन्नाध्यक्ष (४) विद्वान् नर शिरोमणि (५) औदुम्बर नामक मणि या यन्त्र । सोऽब्रवीत् अयं वाव समासर्वस्मात् पाम्मन उद् अभार्षीत्, तस्मात् उदुम्बर । उदुम्बर इति आचक्षते परोक्षम् ।

श.ब्रा. ७.५.१.२२.

सभी पापों से उद्धार करने से उदुम्भर है ।

'अन्नं वा ऊर्ग उदुम्बरः'

श.ब्रा. ३.२.१.३३

औपद्रष्ट्र्य – सूक्ष्मता से सब पदार्थों को दिखाने वाले का कार्य ।

'औपद्रष्ट्र्यायानु क्षत्तारम्'

वाज.सं. ३०.१३, वाज.सं. (का.) ३४.१३.

और्वभृगुवत् – (१) भूमि के भीतर सब पदार्थों को भर्जन या परिपाक करने वाले तेज से युक्त अग्नि (२) भूमि के पदार्थों का परिपाक करने की शक्ति से युक्तसूर्य ।

'और्वभृगुवत् शुचि मप्न वानवदा हवे'

ऋ. ८.१०२.४, साम. १.१८, तै.सं. ३.१.११.८, मै.सं. ४.११.२, १६६.१५, का.सं. ४०.१४.

औलाना – जीव ।

'अप्यौ लानं दिविदेवेषु धेहि'

ऋ. १०.९८.११

औशिजः – (१) उशिजः पुत्रः औशिजः (उशिज् ऋषि के पुत्र जो उशिज ऋषि के कक्ष से उत्पन्न होने के कारण कक्षीवान् कहलाए) ।

(२) उशिज् का अर्थ कमनीय ब्रह्म मानकर औशिज का अर्थ कमनीय परमात्मा का पुत्र, या भक्त होगा –दया. ।

'सोमानं स्वरणं कृणुहिब्रह्मणस्पते
कक्षीवन्तं य औशिजः'

ऋ. १.१८.१, साम. १.१३९, वाज.सं. ३.२८, तै.सं. १.५.६.४, मै.सं. १.५.४, ७०.१४, का.सं. ७.२, श.ब्रा. २.३.४.३५, तै.आ. १० .१.११, नि. ६.१०.

हे वेदपति परमेश्वर, मैं जो कमनीय परमात्मा का पुत्र हूँ (य औशिजः) उस मुझ मनुष्य को ऐश्वर्य सम्पदाक सथा तेजस्वी बनाएं । (कक्षीवन्तम् सोमानम् स्वरणं कृणुहि) । –दया. ।

हे ब्रह्मणस्पते इन्द्र ! मुझ सोम कर्त्ता को (सोमानम्) उस प्रकार यशस्वी ज्ञानवान् एवं प्रकाशवान् बना (स्वरणं कृणुहि) जैसे उशिज् ऋषि का पुत्र (औशिजः) अपने अनुष्ठानों से यशस्वी बना। –

(३) विद्याभिलाषी पुरुष (४) उशिज् अश्विनों का भी वाचक है ।

(५) विद्या के प्रकाश में संसार को विदित होने वाला, विद्वानों के पुत्र या शिष्य के समान ।

क

क – (न.) (१)सुख ।

'कमिति सुख नाम्'

नि. ३.६ ।

(२) कम् + ड = क , क्रम् + ड = क

(रेफ का लोप) । क्रः क्रमणो वा क्रमनो वा (कामियों के काम्य अर्थों में जो साधनभूत वह 'फ' है अथवा जो क्रमण का साधन या जो स्वयमेव क्रमण करे–प्रजापति) ।

क्रमनो वा (कामियों के काम्य अर्थों में जो साधनभूत वह 'क' है अथवा जो क्रमण का साधन या जो स्वयमेव क्रमण करे –प्रजापति

'प्रजापतिः अकामयत्'

(३) सुखकारक अन्न । यह अर्थ नपुंसक 'कम्' का है ।

'कमप्यूहे यत्समञ्जन्ति देवाः'

ऋ. १०.५२.३, नि. ६.३५.

यह अग्नि अन्न भी ढोता है (कम् अपि ऊहे) जिसे देवता लोग खाते हैं–

यह अग्नि सुखकारी अन्न को भी प्राप्त कराता है । जिसे आर्य लोग (देवाः) प्राप्त करते हैं (समञ्जन्तिः)

(५) वृष्टि जल ।

'श्रियसे कं भानुभिः संमिमिक्षिरे'

ऋ. १.८७.६, तै.सं. २.१.११.२, ४.२.११.२, मै.सं. ४.११.२, १६७ .१५, का.सं. ८.१७,

सुख सेवन के लिए मरुत् वृष्टि जल बरसाना चाहते हैं – अथवा, विद्युत् आदि दीप्तिमान पदार्थों से (भानुभिः) सुख सेवन की कामना करते हैं (कम् समिमिक्षिरे) ।

प्रजापति के अर्थ में प्रयोग–

'हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे
भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां
कस्मै देवाय हविषा विधेम'

ऋ. १०.१२१.१, अ. ४.२.७, वाज.सं. १३.४,२३.१, २५.१०, तै.सं. ४.१.८.३, २.८.२, मै.सं. २.७.१५ः ९६.१३, २.१३.२३ः १६८.५, ३, १२.१६ः१६५.१, का.सं. १६.१५, ४०.१, का.सं. (अश्व.) ५.११. नि शा.ब्रा. ७.४.१.१९, नि. १०.२३.

सृष्टि के पहले (अग्रे) हिरण्यगर्भ परमात्मा से उत्पन्न हुआ (हिरण्य गर्भः समवर्तत) जन्म लेने मात्र अद्वितीय वह (जातः एकः) स्थावर जंग मात्मक जगत् का पति अर्थात् पालक हुआ, स्वर्ग (पतिः आसीत्)। उसने अन्तरिक्ष (पृथिवीम्), स्वर्ग (द्याम्), तथा (उत्) इस पृथिवी को (इमाम्) धारण किया (दाधार) । उस प्रजापति देव को (कस्मै देवाय) हवि से हम परिचरित करते हैं (हविया विधेम) ।

(५) करोति इति कः (कर्त्ताप्रभु)

ककजाकृतां – दुर्दशा से पीड़ित सेना ।

'विविधा ककजाकृता'

अ. ११.१०.२५

ककर – हेमन्त ऋतु में पाए जाने वाला एक पक्षी विशेष ।

'हेमन्ताय ककरान्'

वाज.सं. २४.२०, मै.सं. ३.१४.१, १७२.९, का.सं. (अश्व). १०.४ , आप.श्रौ.सू. २०.१४.५.

ककर्दु – काटना , दुःखबन्धन को काटना ।

'ककर्दवे वृषभो युक्त आसीत्'

ऋ. १०.१०२.६

कक्कट – निरन्तर ज्ञान का अभ्यास करने वाला ।

'पिद्वोन्युङ्क कक्कटः'

वाज.सं. २४.३२

कक्ष – (१) गाह (विलोडन अर्थ में) + कस (संज्ञात्व प्रयोजक प्रत्यय) = क, क+ क्ष = कक्ष = कक्ष (आदेश प्रत्यययोः से क् स का क्ष), (२) ख्या (प्रकथनार्थक धातु) का अनर्थक द्वित्व कर 'ख्या ख्या' बनाया और 'खख्या'– कख्या–कख्य–कक्ष किया । अर्थ है–ख्याति इव अयम् कुछ कहता है अतः कक्ष कहलाया । (३) किम् अस्मिन् ख्यानम् (इस कांख में कौन सी ख्यापनीय बात है ? कुछ नहीं, क्योंकि यह अदर्शनीय है । अतः 'किंख्यः' से कख्य और कक्ष हो गया (४) हिंसार्थक कष् + स (वृ तृ वदि हनि कपि कषिभ्यः सः) = कक्ष । अर्थ है – कांख जो नख से खुजलाया जाता है (नखैः कष्यते खेद शीलत्वात्) । (५) काशृ (दीप्त्यर्थक) + स = कश् + स = कक्ष

(१) घोड़े की पीठ जिस पर जीन कसा जाता है ।

'ग्रीकयां बद्धो अपि कक्ष आसनि'

(२) बाहु, (३) घोड़े के अगले पैर का मूल प्रदेश, (४) कांख, (५) एक कक्षा वाला सहयोगी ।

'पक्षेभिरपि कक्षेभिः
अत्राभि संरभामहे'

ऋ. १०.१३४.७

आधुनिक अर्थ -(१) छिपने का स्थान (२) अधोवस्त्र का अन्तिम छोर, (३) लता, (४) घास (५) कांस, (६) सूखी घास, (७) सूखे वृक्षों का जंगल (८) कांख, (९) राजा का अन्तः पुर, (१०) वन का मध्यभाग, (११) किसी वस्तु का किनारा, (१२) भैंस, (१३) द्वार फाटक मेले (१४) गीली जमीन ।

कक्ष्य - उत्तम कसा कसाया हुआ अश्व, (२) उत्तम पेटियों से सुशोभित ।

'श्येन आसामदितिः कक्ष्यः'

ऋ. ५.४४.११

(३) पर्वतों और नदियों के तटों का अध्यक्ष ।

'नमो वन्याय च कक्ष्याय च'

वाज.सं. १६.३४, तै.सं. ४.५.६.१, मै.सं. २.९.६, १२५.७, का.सं .१७.१४.

(४) अंगुलि ।

'दशावनिभ्यो दशकक्ष्येभ्यः'

ऋ. १०.९४.७, नि. ३.९.

लौकिक अर्थ - कक्ष्या गजबन्धन को कहते हैं ।

'दूष्या कक्ष्या वस्त्रा अपा
कक्ष्या वृहति कार्यास्यात्
काञ्च्यां मध्येभबन्धने ।
हर्म्यादीनां प्रकोष्ठे च'
- मेदिनी

कक्ष्यप्रा - कक्ष्य + प्रा । कक्ष का अर्त है कुक्षि या किसी पदार्थ का अवयव । 'कक्ष्यप्रा' का अर्थ (१) जिनकी कुक्षि भरी पूरी हो तथा जिनकी कुक्षि पर हृष्ट पुष्ट मांस हो । घोड़ों का विशेषण (२) आध्यात्मिक अर्थ है-सभी पदार्थ को अवयव अवयव में व्याप्त परमेश्वर ।

'युक्ष्वा हि केशिना हरी
वृषणा कक्ष्यप्रा'

ऋ. १.१०.३, वाज.सं. ८.३४, श.ब्रा. ४.५.३.१०, ऐ ऐश्वर्यवान् प्रकाशस्वरूप ! जिस प्रकार तेजस्वी राजा लम्बे बालों वाले, कोसों पर भरे पूरे हृष्ट पुष्ट दो घोड़ों को रथ में जोड़ता है उसी प्रकार तू प्रकाश युक्त किरण रूप केशों वाले, व्यापकशील, वृष्टि करने वाले , सब पदार्थों के अवयव अवयव में व्याप्त धन और ऋण दोनों विद्युत् बलों के निश्चय से जोड़ता है ।

(३) कोखों में पूर्ण शरीर ।

'सुधुरं कक्ष्यप्राम्'

ऋ. ८.३.२२.

कक्ष्या - (१) कक्ष्या रज्जुः अश्वस्य (घोड़े की जिन कसने की रस्सी ।

'अन्याकिल त्वां कक्ष्येव युक्तम्
परिष्वजाते लिबुजेव वृक्षम्'

ऋ. १०.१०.१३, अ. १८.१.१५, नि. ६.२८,

(२) अंगुली, ।

'परिष्वजध्वं दश कक्ष्याभिः'

ऋ. १०.१०१.१०

सोम रस को दश अंगुलियों से ग्रहण करो या दश विभागो सें युक्त सोम को ग्रहण करो ।

(३) विभाग । कक्ष + यत् = कक्ष्य, कक्ष्य + टाप् = कक्ष्या । 'कक्ष', जो कांख के अगल बगल लगायी जाती है उसे कक्ष्या कहते हैं (कक्षं सेवते) ।

अथवा -गाह (विलोडन अर्थ में) + कस = गाह्स = गह्स = कक्ष । अथवा - कक्ष्याः प्रकाशयन्ति कर्माणि (अनुष्ठान से अथवा फल से अंगुलियां ही कर्मों को प्रकट करती हैं) । कक्षे भवः कक्ष्याः (कांख में होने वाली कक्ष्या हैं) । अंगुलियां भी कांख से ही सम्बन्ध रखती हैं । कक्ष नित्य क्रोध से प्रकाशित होने के कारण प्रकाश्य है । अथवा 'कक्ष्या' रस्सी का नाम है । रस्सी बनाने में साधनभूत अंगुलियाँ भी कक्ष्या ही हुईं ।

(३) विद्या प्रदेशेषु भवाः बोधाः (कक्षाओं में हुआ ज्ञान) दया. ।

कक्षीवत् - (१) अश्व के समान कसे कसाए, (२) सदा कटिबद्ध, (३) कक्षा में यज्ञोपवीत धारण करने वाला (४) अपनी कक्षा में उत्तम रहने वाला (५) प्रशस्त ।

'कक्षीवते अरदतं पुरन्धिम्'

ऋ. १.११६.७,

(६) कक्षीवान् नामक प्राण (७) उशिज् नामक ऋषि के कक्ष (कोख) से उत्पन्न पुत्र (उशिज्) नाम ऋषेः कक्षे (उत्पन्नः) कक्ष से कक्षीवान नाम पड़ा । यह शब्द निपातन से सिद्ध है । –सा.

(८) उद्योगी पुरुष । कक्ष्याभ्याम् अंगुलिभ्याम् जायन्त इति कक्ष्याः क्रियाः ता. प्रशस्ताः विद्यन्तेयस्य स कक्ष्यावान् (जिससे प्रशस्त क्रियाएं हो अर्थात् उद्योगी)कक्ष्यावान् से कक्षीवत् बना है- दया. । (९) कक्ष (बगलों) से युक्त पुरुष ।

'कक्षीवन्तं य औशिजः'

ऋ. १.१८.१, साम. १.१३९, वाज.सं ३.२८, तै.सं. १.५.६.४, मै.सं. १.५.४, ७०.१४, का.सं. ७.२, श.ब्रा. २.३.४.३५, तै.आ. १०.१.११, नि. ६.१०.

(१०) कोखों में विचरने वाला प्राण ।

'स कक्षीवन्तं रेजयत्'

ऋ. १०.६१.१६

कक्षीवान् – (१) कक्षं सेवते –यास्क (२) एक ऋषि, (३) प्राण रश्मियों को अपने वश में करने वाला ।

'कण्वः कक्षीवान् पुरुनिधो अगस्त्यः'

अ. १८.३.१५

(४) शासन शक्ति का स्वामी (५) व्यापक ज्ञान और शासन वाला आत्मा, ।

'यद् वां कक्षीवान्'

ऋ. ८.९.१०, अ. २०.१४०.५

(६) कक्ष + वतुप् । शिल्पविद्यावान् आंगुलि क्रिया में कुशल ।

कङ्क – (१) गृध्र, (२) सुखाभिलाषी पुरुष ।

'कङ्काः सुपर्णा अनुयन्त्वेनान्'

साम. २.१२१४

(३) काक ।

'तत् कंकपर्वणो विषम्'

अ. ७.५६.१

कंकपर्वा – काक के समान पोरुओं वाला उड़ाकू सांप ।

ककुदमान् – ककुद् + मतुप् । अर्थ-ककुद् वाला, श्रेष्ठ ।

'अरंहत पद्याभिः ककुद्मान् ।'

ऋ. १०.१०२.७

ककुन्मान् – ककुद् + मतुप् । सर्व श्रेष्ठ पद और सामर्थ्य धारण करने वाला ।

'देवीरापो यो व ऊर्मिः प्रतूर्तिः ककुन्मान् वाजसास्तेनायं वाजं सेत्'

वाज.सं. ९.६, वाज.सं. (काण्व) १०.२.२, श.ब्रा. ५.१.४.६, का श्रौ.सू. १४.३.४.

ककुप् – (१) क + कुभ् + क्विप् = ककुप् । प्रजा का सुखवर्धक उपाय, (२) प्राण (३). एक वैदिक छन्द ।

'ककुप् छन्दः'

वाज.सं. १५.४

ककुप् छन्द – (१) २८ अक्षरों वाला ककुभ नामक वैदक छन्द (२) २८ वर्षों तक ब्रह्मचर्य पालक, (३) प्राण के समान श्रेष्ठ मुख्य नेता ।

'ककुप् छन्द इहेन्द्रियम्'

वाज.सं. २१.२१, मै.सं. ३.११.११, १५८.१७, का.सं. ३४.१०, तै.ब्रा. १.६.१८.४.

ककुभ् – (१) कुभ् (कौटिल्य अर्थ में) + क्विप् = ककुभ् (कु का द्वित्व हुआ है, (२) उब्ज, (न्यक् या आर्जव भाव में) + क्विप् = ककुभ् (पृषोदरादि के जैसा), (३) कुज् + कुज् = ककुज् = ककुभ् (४) उब्ज – ज् + उन् – कुभ्–कुकुभ् (५) कुज् कुब्ज, उब्ज ककुभ (५) क्षीरस्वामी के मत से ककुभ् (विस्तार करना) + क्विप् = ककुभ् हुआ है । अर्थ है–कुकुभ्नाति । अर्थ – (१) एक छन्द का नाम जो उष्णिक् नामक छन्द में जगती छन्द का एक चरण जोड़कर बनता है और मध्य में चोटी अर्थात् ककुभ् जैसा बन जाता है । इस छन्द के पादों में मध्यवर्ती पाद अधिक अक्षरों वाला होने के कारण ककुभ् की तरह उठा रहता है, (२) पीठ में उठा हुआ भाग- कूबड़ा (पृष्ठे समुन्नतः प्रदेशः) (३) दिशा ।

मेदिनीकोष – ककुप् स्त्रियां प्रवेणी दिक्

'शोभासु चम्बक स्त्रजि ।'

ककुभ – (१) कुभि (आच्छादन अर्थ में) से बना । अर्थ (१) कुत्सित आच्छादनशील, (२) कुत्सित निन्द्य वस्त्र पहनने वाला, बदपोशाक ।

'कुकुभाः करुमाः स्त्रिमाः'

ऋ. ८.४.६६.

ककुत्सल – कन्धे का भाग ।

'*ककुत्सलमिव जामयः*'

अ. १८.४.६६

ककुह – (पु.) (१) उत्तम बैल या अश्व ।

'*वहन्ति यत् ककुहासो रथे वाम्*'

ऋ. ४.४४.२, अ. २०.१४३. २

(२) विद्वान् पुरुष, (३) वृद्ध पुरुष ।

'*वच्यन्ते वां ककुहासो*
जूर्णायामधि विष्टपि'

ऋ. १.४६.३, साम. २.१०८०

वृद्धावस्था में (जूर्णायाम् विष्टिपि अधि) वर्तमान बड़े बूढ़े आदमी (ककुहासः) तुम दोनों को (वाम्) सदा उपदेश करते रहे (वच्यन्ते)।

(४) श्रेष्ठ ।

'*उग्रो वां ककुहो ययिः*'

ऋ. ५.७३.७

कच्छ – (१) क + छद् + ड = कच्छ । 'अन्येष्वपि दृश्यते' पा. ३.२.१०१. से ड प्रत्यय (२) खश्चः, खच्छदः । अर्थ-कटाह-कड़ाह । कड़ाह आकाश को आच्छादित करता है (खम् आकाशम् छादयति) । 'खच्चर' से 'खश्च' और 'खच्छ' से 'कच्छ' हुआ ।

(२) नदी का तट । कम् उदकम् तेन छादयते (उससे जल छाया जाता है अतः वह कच्छ हुआ । (३) अनूप देश, (४) कच्छा जो कमर चारों ओर लपेटा जाता है । (५) कछुए का मुखसंपुट । आधुनिक अर्थ -(१) तट, सीमाप्रान्त चाहे जल के निकट या दूर हो, (३) ओदर भू भाग, (४) घंघरी का किनारा, (५) नाव का एक भाग, (६) झील ।

कच्छप – कच्छं पाति, कच्छेन पाति, कच्छं पिबति इति कच्छपः (अपने मुख संपुट को कड़ाह में छिपाकर रक्षा करता है । अथवा कड़ाह के जैसे अपनी पीठी से अपनी रक्षा करता है या मुख संपुट से पीता है । अर्थ है-कछुआ । कच्छ = संपुट । कच्छरूपी संपुट से जो रक्षा करे वह कच्छप है । कच्छ की व्युत्पत्ति के लिए ।

कश्चित् – कोई

'*यद्वोवयं चकृमा कच्चिदागः*'

ऋ. २.२७.१४.

कटुक – (१) कटु अर्थात् अजभिलषित परिणाम उत्पन्न करने वाला शरीर

'*तृष्टमेतत् कटुकमेतत्*'

ऋ. १०.८५.३४, अ. १४.१.२९.

(२) रजोधर्म के समय विषम कष्ट उत्पन्न करने रजस्वला का शरीर

'*तृष्टमेतत् कटुकम्*'

ऋ. १०.८५.३४. वाज.सं. १४.१.२९.

कण – कण् (छोटा होना, अणुभाव) + अच् = कण । अर्थ – (१) कन (२) अतिसूक्ष्म, (३) अन्न का अंश (४) काना, (५) काक ।

कण शब्द अपूर्ण दर्शन, अणुदर्शन- जो पूरा-पूरा दीख न पड़े या जो पूरा पूरा देख न सके – इस अर्थ में आया है ।

मेदिनी कोश में –

'*कणोऽतिसूक्ष्मे धान्यांशे*
कणः काकैक चक्षुषोः ।'

कणति – कण (कम होना, अणुभाव में) के लट् प्र.पु.ए.व. का रूप । अर्थ है-कम होता है । वस्तुतः कणति से ही 'कम होता है' बिगड़ा है ।

कण्टक – (१) कंघी

'*कृत्रिमः कण्टकः शतदन् य एषः*'

अ. १४.२.६८, कौ.सू. ७६.५.

कण्ट (गत्यर्थक धातु) + ण्वुल् = कण्टक । यहां कण्ट धातु हिंसा अर्थ में भी प्रयुक्त है । कांटा हिंसित करता है अथवा कांटा उद्गततम होता है-पेड़ या पौधे से निकला हुआ,

(२) कन्तपः (कम् सुखम् तपति दहति) । अर्थात् यह सुख को जलाता है अतः कण्टक है । (३) कृत् (काटना) । + ण्वुल = कण्टक (ऋ का अ और त काटे) । कण्टकः कन्तपा वा कृन्तत वा

कण्टतैर्वास्यात् गति कर्मणः – निः

कण्टति पश्यति परान् स्कन्दस्वामी

अंग्रेजी का Cut धातु कण्ट का ही बिगड़ा रुप है ।

कण्टकी – हिंसा करने वाली नीति ।

कण्टकीकारी – कण्टकी अर्थात् हिंसा करने वाली नीति को अपने व्यवहार में लाने वाली सेना ।

'*यातुधानेभ्यः कण्टकीकारीम्*'

वाज.सं. ३०.८, तै.ब्रा. ३.४.१.५.

कण्व – (१) जीवन को मिटा देने वाला रोग ।

'गर्भादं कण्वं नाशय'

(२) कण (निमीलन अर्थ में) + क्वन् = कण्व (ब्राह्मेन्द्रिय को निमीलित करके ध्यान करने वाला योगी, (३) कण्व नामक एक ऋषि – (४) मेधावी विद्वान् –(दया.) ।

'कण्वा इव भृगवः सूर्या इव'

ऋ. ८.३.१६, अ. २०.१०.२, ५९.२, साम. २.७.१३, मै.सं. १.३.३९. ४६.७, आप.श्रौ.सू. १३.२१.३.

'कण्वेषुसुसचा पिब'

ऋ. ८.४.३, साम. १.२५२,१.१०७१

हे इन्द्र ! मेधावियों के साथ सोम रस पी

कण्व ऋषि के अर्थ में –

'महक्षोणस्य अश्विना कण्वाय'

ऋ. १.११७.८, नि. ६.६.

हे अश्विनी कुमारो ! क्षीण दृष्टि के कारण एक ही स्थान पर रहने वाले कण्व ऋषि को तेज या प्रकाश दिया ।

हे राजा या राजपुरुषो ! उत्तम स्थान के दायक मेधा विद्वान् के लिए तुम दोनों लक्ष्मी हो । –(दया.)

(४) ज्ञान का उपदेश करने वाला ।

'कण्वः कक्षीवान् पुरुमीढो अगस्त्यः'

अ. १८.३.१५

(५) कणकणकर खाने वाले मुर्गा आदि पक्षी ।

कण्वजम्भनी – (१) पाप और पाप से उत्पन्न होने वाले कुष्ट आदि रोगों को नाश करने वाली पृश्निपर्णी नामक औषधि ।

'उग्राहि कण्व जम्भनी'

अ. २.२५.१

कण्वमित्रः – (१) स्तुति कर्त्ता जनों के परममित्र, (२) कण्वो का मित्र ।

'स इदग्निः कण्वतमः कण्वसखा'

ऋ. १०.११५.५

कण्ववत् – कण्व + वतुप् । कण कण् कर खाने वाला मुर्गा आदि पक्षी के जैसा ।

'कण्ववज् जमदग्निवत्'

अ .२.३२.३, ५.२३.१०.

कण्ववान् – कण्वो या विद्वान् पुरुषों से युक्त जन ।

'आतू षिञ्च कण्वमन्तम्'

ऋ. ८.२.२२.

कणूकयन्ती – रोती बिलखती दुःखी प्रजा ।

'तानः कणूकयन्ती नृमेधः'

ऋ. १०.१३२.७.

कणेहतः – कणे शब्दः अभिलाषा तिशये (कणे शब्द अभिलाषातिशय का द्योतक है) । तत्प्रती घातंयावत् अपिवत् अभिलाषातिशय प्रतीघात होने तक पान किया– जब तक तृप्त नहीं हुआ पीता रहा ।

पाणिनि ने भी कहा है–

'कणे मनसी श्रद्धाप्रतीघाते'

पा. १.४.६६

कणेहतः – आकण धातः । यावत् कणे कणे हन्यते तावत् (जब तक इच्छा पूर्ण न हो जाय तब तक) ।

कत् – (१) कितना, कैसे, किस प्रकार ।

'कदित्वषन्त सूरयः'

ऋ. ८.९४.७

(२) सुखकर । कम् (सुख) के म् का तो हो गया है । (३) कब ।

'कदराये चिकितुषे भगाय'

ऋ. ५.४१.११

पुनः–

'कथा कदस्या उषसो व्युष्टौ'

ऋ. ४.२३.५

'कदु द्युम्न मिन्द्र त्वावतः'

ऋ. १०.२९.४, अ. २०.७६.४.

कत्पयः – सुखकरं पयः यस्य तत् (जिसका जल सुखकर हो) । कम् + पयस् = कल्पयः। (म् का त् और पयस् के स् का लोप)।

अर्थ है– (१) सुखखर जल वाला मेघ ।

'त्यंचिदित्था कत्पयं शयानम्'

ऋ. ५.३२.६, नि. ६.३.

इस प्रकार से या इस अन्तरिक्ष में (इत्था) सुखकर जल वाले मेघ में सोने वाले (कत्पयं शयानम्) वृत्रासुर को या मेघ को मारा –सा. । उस सुखकारी जल देने वाले मेघ को (त्यं चित् कत्पयम्) जो अन्तरिक्ष में पड़ा हुआ है (इत्या शयानम्) जैसे सूर्य छिन्न भिन्न करता है–दया.

कतयः – (१) कौन सबसे श्रेष्ठ (२) परम का अर्थात् सुख रूप ।

'को अर्क इन्द्र कतमः स होता'

ऋ. ६.२१.४.

कतर - (पु.) दो में कौन ।

'यज्ञन्योः कतरो नौ विवेद'

ऋ. १०.८८.१७, नि. ७.३०.

हम दोनों यज्ञ के नेताओं में कौन यज्ञकर्म अधिक जानता है ।

कतरा - दो में से कौन ।

'कतरापूर्वा कतरा परायोः'

ऋ. १.१८५.१, ऐ.ब्रा. ५.१३.१०, कौ.ब्रा. २३.८. ऐ.ब्रा. १.५.३.४, नि. ३.२२.

द्यौ और पृथिवी इन दोनों में कौन पहले और कौन पीछे हुआ ।

कतिधा - कितने ही रूपों में दिखाई देन वाला परमेश्वर ।

'द्विमाता शयुः कतिधा चिदायवे'

ऋ. १.३१.२.

क्रतुविदा - यज्ञ आदि उत्तम कर्म और श्रेष्ठ ज्ञान का लाभ करने वाले स्त्री या आश्व रूप ।

'दम्पतीव क्रतुविदा जनेषु'

ऋ. २.३९.२.

कथा - (१) कथमपि, किसी प्रकार ।

'मा जिह्वा बर्हिः प्रमयुः कथा स्याः'

अ. ८.१.१६.

(२) कैसे किस प्रकार से ।

'कथादाशेमाग्नये कास्मै'

ऋ. १.७७.१.

(३) क्यों, किस प्रयोजन से ।

'कथाजाते कवय को विवेद'

ऋ. १.१८५.१, नि. ३.२२.

हे अतीन्द्रियज्ञ कवियो, द्यौ और पृथिवी ये दोनों कैसे उत्पन्न हुए आप बतावें । यह रहस्य भला कौन जान सका ।

कथो - कथा + उ = कथो । किस प्रकार ।

'कथो नु ते परिचाराणि विद्वान्'

ऋ. ५.२९.१३, आश्व.श्रौ.सू. ९.५.१६.

कद् - कब ।

'कद्वाहो अर्वाक् उपमामनीषा'

ऋ. १०.२९.३, अ. २०.७६.३.

'कदित्था नॄं पात्रं देवयतां
श्रवद् गिरो अंगिरसां तुरण्यन्'

ऋ. १.१२१.१.

सब मनुष्यो और नायकों का पालक, सत्कार योग्य राजा या प्राणों का पालक जितेन्द्रिय तथा सब मनुष्यो का आश्रय होकर (नृन् पात्रम्) उत्सुक होकर (तुरण्यन्) उत्तम राजा को हृदय से चाहने वाले (देवयताम्) तेजस्वी विद्वानों की वाणियों और उपदेशों को (अंगिरसां गिरः) इस प्रकार से (इत्था) कब (कद्) श्रवण करें ।

कद्रः - कत् + द्रा + अङ् = कद्रं । कद्र + टाप् = कछ्रा श्वभिः सह कद्रा (कुत्तों की तरह कुत्सित गति) । विविधाः श्वद्राः यस्य स विश्वकद्रः (जिसकी कुत्ते की तरह विविध गतियाँ हों वह विश्व कद्रा है) । अथवा कुत्ते के समान जीवन यापन करने वाले पुरुष (श्वजीवनः पुरुषः) । अथवा 'विश्वकं द्रवति' अथवा 'विश्वं कन्दति' । 'द्रु' गत्यर्थक और 'कन्द आह्वानार्थक है ।

कत् द्राति इति कद्र (जिस की गति कुत्सित से भी कुत्सित है वह कद्र है) । कुत्सित अर्थ में 'किम्' का 'कत्' हो जाता है । 'द्रा' धातु भी कुत्सित अर्थ में आता है (द्राति इति गति कुत्सना) । यह कुत्सित और कुत्सिततर दोनों गति है जिससे वह विश्वकद्रा है । कुत्ते का ही दूसरा नाम विश्वकद्र है । वि और कद्र कुत्ते की जातियों के नाम हैं । कद्र से विगड़ कर कुत्ता हुआ है । जो पाद्यदिविकल मृगयानुगत श्वान को आकर्षित करता है वह विश्वकद्राकर्ष कहा जाता है ।

आधुनिक अर्थ - (१) खल, (२) विश्व कद्रु, (३) श्वान (४) आखेट का श्वान,

'विश्वकद्रुः त्रिषु खले
ध्वानाखेटशुनोः पुमान्' -मेदिनीकोश

श्व का पर्यायवाची तथा खल अर्थ में विश्वकद्रु शब्द आता है ।

कद्ध - (१) कत् ह = कद्ध । कहीं भी क्व नु, कत् ह (कहीं पर) कतहूँ ।

'जीवान्नो अभिधेतन
आदित्यासः पुराहथात्
कद्धस्थ हवनश्रुतः'

ऋ. ८.६७.५, नि. ६.२७.

हे आदित्यो ! चाहे कहीं भी हो हमारी पुकार

सुन हमारे प्राणों की रक्षा के लिए दौड़ पड़ो ।

'कद्ध' का ही विकृत रूप कहीं किम् + ह = कद्ध (किम् का कत् हुआ है) ।

कदा - (अ). कब । किम् शब्द से बना है ।

कद्रानि - कुत्सित गति से चलता है ।

कद्रीची - (१) न जाने कहां से आने और कहां जाने वाली ब्रह्म शक्ति ।

'सा कद्रीची कंस्विदर्धं परागात्'

ऋ. १.१६४.१७, अ. ९.९.१७, १३.१.४१.

(२) अचाक्षुष्य गमना

(३) अदृश्य स्थान से न जाने कहां से आती हुई उषा

(४) अदृश्य परमेश्वरी शक्ति, ।

कदु - (१) कत् + उ = कदु । कभी

'कदु प्रेष्ठाविषां रयीणाम्'

ऋ. १.१८१.१.

'कदूमहीरधृष्टा अस्य तविषीः'

ऋ. ८.६६.१०.

कब इस इन्द्र के बल महान् और अधृष्ट हैं ।

(१)सुख कारक ।

सुख के लिए प्रिय स्थान के लिए हम उस नीति को समझें ।

कद्रुद्रः - दुष्टों को सताने वाला ।

'कद् रुद्राय प्रचेतसे
मीढुष्टमाय तव्यसे'

ऋ. १.४३.१, तै.आ. १०.१७.१, महा. ना. उप. १३.३.

कद्रू - (१) पृथ्वी ।

(२) कवते उपदिशति असौ कद्रू (उपदेष्टा विद्वान्)

(३) ब्रह्म विद्या ।

'अपिबत् कद्रुवं सुतम्'

ऋ. ८.४५.२६.साम. १.१३१.

कधप्रियः - सत्य कथाओं से प्रीति रखने वाला ।

'कद्ध नूनं कधप्रियः'

ऋ. १.३८.१, ८.७.३१, कौ.ब्रा. २६.१३, शां.श्रौ.सू. १०.१०.८.

कधप्रिया -जिस समय कथा प्रिय हो -रात्रि बेला, उषा (२) स्तुति एवं ज्ञान कथा से प्रिय ।

'कस्त उषः कधप्रिये
भुजे मर्तो अमर्त्ये
कं नक्षसे विभावरि ।'

ऋ. १.३०.२०

हे पाप नाशिनी उषा या ज्योतिर्मयी परमेश्वरी शक्ति ! हे स्तुति ज्ञानकथा से अतिप्रिय ! हे कभी न मरने वाली अविनाशिनी, नित्ये तेरे परमानन्द के भोग या सुख को प्राप्त करने के लिए (भुजे) कौन मरण धर्मा प्राणी समर्थ है ? हे विशेष तेजोयुक्त तेजस्विनि ! तू किस मनुष्य को प्राप्त हो सकती है । तू सुखमय परमेश्वर को ही प्राप्त है (कम्)

कन् - यह धातु कान्ति कर्म में पठित है । इसी धातु से कन्या शब्द बना है ।

कनक्नक - धतूरे का विष ।

'कान्दाविषं कनक्नकम्'

अ. १०.४.२२.

कन्यला - कन्या, नवयुवति ।

'वृषण्यन्तीव कन्यला'

अ. ५.५.३.

'उशतीः कन्यला इमाः'

अ. १४.२.५२.

कन्या - (१) कम (कान्ति अर्थ में) + यक् + टाप् = कन्या (निपातन से सिद्ध) । अर्थ है -

(१) कमनीया, कुमारी ।

(२) कमनेन आनीयत इति वा (पति द्वारा अत्यन्त अभिलाषा से लायी जाती हैं) ।

(३) इयं नेतव्याइति वा (पिता सदा इसी चिन्ता में रहता है कि कहां किससे इसका विवाह किया जाय) । और किम् + नी + यक् + टाप् = कन्या । यह शब्द नाम और धातु दोनों से बन सकता है ।

(४) कन् + यक् + टाप् = कन्या । कन् धातु भी कान्ति अर्थ में प्रयुक्त होता है ।

'मर्यायेव कन्या शश्व चैते'

ऋ. ३.३३.१०, नि. २.२७.

कनिक्रदत् - पुनः पुनः शब्दायमान । 'दाधर्ति दधर्ति' पा. ७.४.६५, से निपातन हुआ है । क्रन्द + शतृ (बार बार बोलता हुआ) ।

'कनिक्रदज्जनुषं प्रब्रुवाणः
इयर्ति वाचमरितेव नावम्'

ऋ. २.४२.१, आश्व.गृ.सू. ३.१०.९.

कनिष्कन् - (१) कूदता हुआ, (२) अन्यों को विद्या

प्रदान करता हुआ ।

'मण्डूको यदभिवृष्टः कनिष्कन्'

ऋ. ७.१०३.४

कनिष्ठिका -(१) शरीर की छोटी से छोटी गाड़ी, (२) रिश्ते में छोटी स्त्रियाँ ।

'कनिष्ठिका च तिष्ठति'

अ. १.१७.२

कनी - (१) कन्या ।

'अनुगावोऽनुभगः कनीनाम्'

ऋ. १.१६३.८, वाज.सं. २९.१९, तै.सं. ४.६.७.३, का.सं. (अश्व). ६.३.

(२) स्त्री, (३) कन्यका, (३) शालभञ्जिका (कठपुतली) । कम् + मक् + टाप् = कन्या = कनी (य का ई सम्प्रारण से तथा बाहुलक नियम से)

'जारः कनीनां पतिर्जनीनाम्'

ऋ. १.६६.८, नि. १०.२१.

अग्नि कन्याओं का जार तथा स्त्रियों का पालक है ।

(५) दीप्ति करने वाली किरण, (६) दीप्ति वाला तेज या प्रकाश ।

'स विद्वां अपगोहं कनीनाम्'

ऋ. २.१५.७.

कनीनः - (१) कान्तियुक्त सूर्य, (२) तेजस्वी कनिष्ठ शिष्य ।

'भिन त्कनीन ओदनम्'

ऋ. ८.६९.१४, अ. २०.९२. ११.

(३) कान्तिमान् (४) सुन्दर कमनीय ।

'अंय कनीन ऋतुपा अवेदि'

ऋ. १०.९९.१०.

कनीनकः - (१) आंख की पुतली ।

'वृत्रस्यासि कनीनकः'

वाज.सं. ४.३, मै.सं. १.२.१, १०.४, श.ब्रा. ३.१.३.१५,

(२) उज्ज्वल वालक ।

'जनिष्ट योषा पतयत् कनीनकः'

ऋ. १०.४०.९

कनीनिका, कनीनका - कम् + यक् + टाप् = कन्या । कमनेन अभिलाषेण इयम् आनीयते (विवाह करने वाला लालसा से कन्या लाता है) । अर्थ कन्या (२) कठपुतली ।

'प्रतेबभ्रू विचक्षणा
शंसामि गोषणोनपात्
माभ्यां गाः अनुशिश्रिथः ।'

ऋ. ४.३२.२२.

हे दूरदर्शी तथा वेदवाणी को भजने वाला राजन् (विचक्षण गोषणः), मै तेरी विद्याधर्म को धारण करने वाली तथा अविद्या तथा अधर्म को हरने वाली अध्यापिका तथा उपदेशिका की प्रार्थना करता हूँ (ते बभ्रू प्रशंसामि), इनकी शिक्षा द्वारा राष्ट्र के धर्म से न पतित करने वाले राजन (आभ्यां नपात्) तू धर्म को शिथिल न कर ।

पुनः-

'कनीनकेव विद्रधे
नवे द्रुपदे अर्भके
बभ्रूयामेषु शोभते ।'

ऋ. ४.३२.२३

हे इन्द्र ! षीले रंग की घोड़ियां (बभ्रू) यज्ञों में (यामेषु) छिद्र की हुई पादुका में (विद्रधे द्रुपदे) नवजात छोटी छोटी (नवे अर्भके) कठपुतलियों की तरह (कनीनकेव) शोभती हैं (शोभेते) ।

अन्य अर्थ - यह अध्यापिका तथा उपदेशिका (बभ्रू) गढ़ी हुई नवीन पादुकाओं पर (विद्रधे नये द्रुपदे) छोटी लड़कियों की तरह (अर्भके कनीनके इव) यम नियमों पर आरुढ़ हो (यामेषु) शोभती है (शोभेते) ।

(३) वस्तु प्रकाश कारिणी शक्ति ।

'तस्य हासि कनीनिका'

अ. ४.२०.३

(४)आंख की पुतली ।

'विद्युतं कनीनकाभ्याम्'

वाज.सं. २५.१,२, मै.सं. ३.१५.१, १७७.१०, ३.१५.२, १७८.५, का.सं. (अश्व). १३.२.

कनीयः - अल्प से भी अल्प ।

'कनीयः कृणुते स्वम्

अ. १२.४.६

(२) स्वल्प ।

'भूयसा वस्नम् अचरत् कनीयः'

ऋ. ४.२४.९

अल्प + ईयस् = कनीयस् (अल्प का कन आदेश) । अन्य से छोटा

कपन - (१) कपन, (२) क्रिमि, (३) घुण (घुन) ।

कप् + युच् = कपन (यु का अन् और नुम् का लोप) । कपनाः अल्प सत्वाः (घुन एक कीड़ा है जो काठ में घुसकर काठ खाता है और अति अल्प सत्व वाला होता है) (२) क्रिमि-ये गति शील होते हैं ।

'अभ्राजि शर्धो मरुतो यदर्णसं
मोषथा वृक्षं कपनेव वेधसः ।
अधस्मानो अरमतिं सजोषसः
चक्षुरिव यन्तमनुनेषथा सुगम्'

ऋ. ५.५४.६

हे वृष्टि के विधाता मरुतो (वेधसः) ! आप लोगों का गण या बल (शर्ध) शोभता है (अभ्राजि) जिस गण या बल से (यत्) जलयुक्त मेघ को (अर्णसं वृक्षम्) निरुदक करते हो (मोषथा) जैसे घुन (कपना इव) वृक्ष को चाट जाता है और (अधस्मा) हे हममें समग्र स्नेह रखने वालो (सजोषसः) आप (यूयम्) इस लोक से उस लोक में जाते हुए पर्याप्त मति वाले यजमान को (यन्तम् अरमतिम्) शोभन मार्ग बताओ (सुगम् अनुनेषथ) जैसे आंखें राह बतलाने में अनुग्रह करती हैं (चक्षुः इव)

अन्य अर्थ - हे विद्वान् मनुष्यो (मरुतः) ! तुम्हारा उत्साह (शर्धः) प्रदीप्त हो रहा है (अभ्राजि) जोकि तुम (यत्) जैसे बींधने वाले छोटे छोटे कृमि (वेधसः कपनाः) वृक्ष को धीरे धीरे हर लेते हैं (वृक्षम् इव) एवं शब्द सागर वेद को (अर्णसम्) धीरे धीरे ग्रहण कर लेते हो (मोषथ) और इस प्रकार वेदाध्ययन के पश्चात् सब के साथ मित्रवत (सजोषसः) विद्या के लिए प्राप्त हुए हमारे उद्योगीपुत्रों को (नः यन्तम् अरमतिम्) चक्षु के समान दर्शक ज्ञान कराओ ।

कपना - (१) वायुगति, (२) कृमिगण ।

'मोषथा वृक्षं कपनेव वेधसः'

ऋ. ५.५४.६, नि. ६.४.

कपर्दिनः - कपर्द + इति = कपर्दिन । बहुवचन में कपर्दिनः । कपर्द का अर्थ जटाजूट या कौड़ी है अतः कपर्दिन् का अर्थ (१) जटाजूट वाला और (२) धनाढ्य है।

'श्वित्यञ्चो यत्र नमसा कपर्दिनः'

ऋ. ७.८३.८

(३) मानसूचक शिखा धारण करने वाला, (४) प्रमुख ।

'रथीतमं कपर्दिनम्'

ऋ. ६.५५.२

(४) क + पर्दी । सुख से पूर्ण करने वाला प्रभु ।

'शुनमष्ट्रा व्यचरत् कपर्दी'

ऋ. १०.१०२.८

(५) सिर पर कपर्द जटाजूट धारण करने वाला - रुद्र ।

(६) सिर पर शुभ फुनगी या मौर को धारण करने वाला वीर पुरुष ।

'विज्यं धनुः कपर्दिनः'

वाज.सं. १६.१०, तै.सं. ४.५.१.४, मै.सं. २.९.२:१२२.३, का.सं . १७.११.

(७) कौड़ी, सीप, शंख आदि का अध्यक्ष ।

'नमः कपर्दिने च पुलस्तये च'

वाज.सं. १६.४३, वाज.सं. (का.) १७.७.२, तै.सं. ४.५.९.१.

रुद्र के अर्थ में ।

'इमां रुद्राय तवसे कपर्दिने
क्षयद्वीराय प्रभरामहे मतीः'

ऋ. १.११४.१, वाज.सं. १६.४८, मै.सं. २.९.९:१२७.९. का.सं. १७.१६, शां.गृ.सू. ५.६.२.

कपाल - खोपड़ी ।

'ककृकाटिकां प्रथमोयः कपालम्'

अ. १०.२.८

कपि - (१) कप् (कांपना) + इन् । कम्पनवान् -अग्नि, (२) क + पा + इ = कपि । कम् उदकं शरीरगतं रसं पिवति इति कपिः (शरीरगत रस को पीने वाला)-(३) कस्य प्रजापतेः हिरण्यगर्भस्य पालक परमात्मा ।

'कपि र्बभस्ति तेजनम्'

अ. ६.४९.१ का.सं. ३५.१४, तै.आ. ६.१०.१, आप.श्रौ.सू. १४.२९.३.

(४) विषय वेगों से विचलित आत्मा (५) वानर के समान अति चंचल स्वभाव वाला, (६) वानर

'प्रिया तष्टानि मे कपिः'

ऋ. १०.८६.५, अ. २०.१२६.५

कपिञ्जलः - (१) कपिः इव जीर्णः (वानर के जैसा जीर्ण (२) कपिः इव जवते (वानर के समान जो चलता है), कपि इव ईषत् पिंगलः (वानर के

समान कुछ कुछ पिंगल वर्ण का) (४) कमनीयं शब्दं पिञ्जयति (जो मधुर बोली बोलता है),

कपि + गृ + अप = कपिञ्जल, कुपिङ्गलः = कपिञ्जलः कपि + जू (चलना) + डल् = कपिञ्जल ।

(५) कपिञ्जल नामक एक पक्षी, (६) कपिञ्जल इन्द्र, (७) पक्षी तुल्य आत्मदर्शी संन्यासी -(दया.)

आधुनिक अर्थ - चातक, तीतर

कपिल - (१) सबको कम्पित करने वाला सबका संचालक-जीव ।

'दशानामेकं कपिलं समानाम्'

ऋ. १०.२७.१६

कपूय - केपयः कपूयाः भवन्ति (केपि ही कपूय है) पापी प्रायश्चित द्वारा कुत्सित कर्म को पवित्र बनाता है। (पापकारी प्रायश्चित्तेन कुत्सित कर्म पुनाति) वह कर्म दुष्पूय होता है, (दुष्पूयं दूष्पावं दुःशोधं भवति) ऐसे कर्म के लिए प्रायश्चित करना ही 'कपूय' है ।

कु + पु + कयप् (कर्मवाच्य में कपूय) । (कु का क हो जाता है) । कुत्सितं सत् पूयते तत् (कुत्सित होने से वह पवित्र, किया जाता है अतः वह कपूय है) ।

कपूया - कपूय + अच् (मतुप् अर्थ में) = कपूया, अर्थात् कपूय वाला कुत्सित कर्म के लिए प्रायश्चित करने वाला ।

कपृत् , - (१) क + पृत् । सुखग्राही अन्तःकरण,

'न सेशेयस्य रम्बते
अन्तरा सक्थयाकपृत्'

ऋ. १०.८६.१६, अ. २०.१२६.१६.

(२) क + पृत् । सुख से जगत् को पूर्ण करने वाला परमेश्वर ।

'कपृन्नरः कपृथमुद्दधातन'

ऋ. १०.१०१.१२, अ. २०.१३७.२, कौ.ब्रा. ३०.७, आश्व. श्रौ.सू. ८.३.३०, शां.श्रौ.सू. १२.२४.२.

(३) सुख एवं प्रजा पालक पद को पूर्ण करने एवं निभाने में समर्थ ।

(४) कपाल, मस्तक ।

कपृथ - (१) सुख का पालक ।

'कपृथमुत् दृधातन'

ऋ. १०.१०१.१२. अ. २०.१३७.२, कौ.ब्रा. ३०.७, आश्व श्रौ.सू. ८.३.३०. शां.श्रौ.सू. १२.२४.२.

(२)सुख पूरक आनन्द धन प्रभु ।

कपोत - कबूतर ।

'मित्रावरुणाभ्यां कपोतान्'

वाज.सं. २४.२३, मै.सं. ३.१४.४, १७३.६,

'कपोत इव गर्भधिम्'

ऋ. १.३०.४.अ. २०.४५.१, साम. १.१८३,२.९४९

(२)कवते वर्णयाति दर्शयति इति कपोतः (जो वर्णन करता है, दिखलाता है, वह कपोत है) ।

कव (वर्णन करना) + ओतच् = कपोत्

'शिवः कपोत इषितो नो अस्त्व'

ऋ. १०.१६५.२, अ. ६.२७.२,

कबूतर के अर्थ में प्रयोग-

'देवाः कपोत इषितो यदिच्छन्
दूतो निर्ऋत्या इदमाजगाम'

ऋ. १०.१६५.१, अ. ६.२७.१

हे देवो ! पाप देवता के निकट से आया हुआ (निर्ऋत्या इषितः कपोतः) जिस धन आदि की कामना करता हुआ (यंत् इच्छन्) हमारे इस घर में आया (इदम् आजगाम)....

कफोडौ, कफोड - द्वि.व. । एक वचन नें कफोड । दोनों हंसलियां या गाल ।

'कतिस्तनौ व्यदधुः कः कफोडौ'

अ. १०.२.४.

कबन्ध, कवन्ध - (१) उदक । कबते गच्छति इति कवः । कब + ल्यु = कबन्ध (नप् आदेश) (२) अथवा कबम् धीयते अस्मिन् (जल भरा जाता है इसमें) । अतः वह कबन्ध अर्थात् मेघ है ।

'नीचीनबारं वरुणः कवन्धम्
प्र ससर्ज रोदसी अन्तरिक्षम्
तेन विश्वस्य भुवनस्य राजा
यवं न वृष्टिर्व्युनत्तिभूम ।'

ऋ. ५.८५.३, नि.१०.४.

सम्पूर्ण भूतजात या उदक के राजा वरुण ने (विश्वस्य मुख्यस्य राजा वरुण) अधोमुख मेघ को (नीचीनबारम् कवन्धम्) द्यौ अन्तरिक्ष और पृथ्वी पर मानो पसार दिया (रोदसी अन्तरिक्ष प्रससर्ज) जैसे पटाने वाला (वृष्टिः) यव जमाने के लिए भूमि को विविध प्रकार से पटाता है (यवं न भूम व्युनत्ति) ।

(३) शरीर का भाग, (४) ज्ञानमय, सुखमय,

शक्तिमय बन्धन-सामर्थ्य ।

'वसोः कबन्धम् ऋषभो बिभर्ति'

अ. ९.४.३

(५) कुत्सित, दुर्गन्ध, मलमूत्र बहाने वाला, विचित्र रूप से बंधा हुआ, परस्पर संसक्त, छोटी-छोटी नाडियों से पूर्ण, कटि से ऊपर का शरीर भाग ।

'जानुभ्यांमूर्ध्वं शिथिरं कबन्धम्'

अ. १०.२.३

आधुनिक अर्थ- (१) सिर रहित शरीर जब इसमें प्राण हों, (२)पेट, (३) मेघ, (४) एक तारा, (५) राहु, (६) जल (७) रामायण में कबन्ध नामक राक्षस ।

कबन्धिनः मरुतः- (१) जल से भरे वायुगण, (२) हृष्ट-पुष्ट शरीर वाले मनुष्य ।

'अर्यमणो न मरुतः कबन्धिनः'

ऋ. ५.५४.८

कब्रु - नाना प्रकार के दृश्य ।

'कब्रुफलीकरणाः शरोऽभ्रम्'

अ. ११.३.६

कम् - (१) एक अनर्थक अव्यय ।

'वैश्वानरस्य सुमतौ स्याम
राजा हिं क भुवनानामभिश्रीः
इतो जातो विश्वमिदं वि चष्टे
वैश्वानरो यतते सूर्येण'

ऋ. १.९८.१, वाज.सं. २६.७, तै.सं. १.५.११.३, मै.सं. ४.११.१, १६१.३, का.सं. ४.१६, नि. ७.२२. अग्नि की सुमति में हम होवे (वैश्वानरस्य सुमनौ स्याम), क्योंकि वह अग्नि सम्मुख हो सेवनीय है। (हि अभिश्रीः) सभी जीवों का राजा है (भुवनानां राजा कम्) जो वैश्वानर इस अरणि से उत्पन्न है (इतःजातः), सम्पूर्ण जगत् को देखता है (इदं विश्वं विचष्टे) तथा प्रातः उदय लेने वाले सूर्य के साथ चलता है (सूर्येण यतते) । यहां पर 'कम्' पाद पूरक मात्र निरर्थक अव्यय है और 'हि' के साथ मिलकर 'क्योंकि' अर्थ देता है ।

(२) सुखपूर्वक (३) अव्यय ।

'अरमयः सरपसः तराय कम्'

ऋ. २.१३.१२.

कमल - जार, परस्त्रीगामी ।

'अस्याः कमलमञ्जिवम्'

अ. ८.६.९

कंकत् - (१) अति चंचल, (२) विषैलाजीव ।

'कंकतो न कंकतः'

ऋ. १.१९१.१.

कंकूप - कान का भीतरी भाग ।

'कर्णाभ्यां ते कङ्कूषेभ्यः'

अ. ९.८.२

कम्पील - कं सुखं पीलयति वदनाति गृह्णाति इति कम्पीलः । स्वार्थ अण् । (सुखों को बांधने वाला पति) ।

कम्बल - (१) जल ।

'कम्बले दुरितं वयम्'

अ. १४.२.६७

(२) जाड़े से बचने के लिए वस्त्र जिसे कम्बल कहते हैं (३) कम + युक + कल = कम्बल (३) कम्यते अभीप्स्यत इति कम्बलः (जो सभी शीतार्त्त पुरुषों से चाहा जाय) (४) अथवा कमनीयः स भवति वह (प्रार्थनीय या सुन्दर होता है) । (५) एक प्रकार का हरिण या मृग, (६) दीवाल, ।

कम्बूक - छिलका ।

'परः कम्बूकान् अपमृढ्ढिदूरम्'

अ. ११.१.२९

कम्बोज - एक देश विशेष का नाम जिसे आजकल कम्बोडिया कहते हैं ।

व्युत्पत्ति - (१) कम्बोजः कम्बल योजाः (कम्बल का प्रयोग करने वाले मनुष्य जो शीत प्रधान देश में रहते हैं, (२) कमनीय भोजाः (जहां के लोग कमनीय भोजन करते हैं) । कम् + भुज् + अच् (कर्म अर्थ में) = कम्भोज= कम्बोज । कहा जाता है कम्बोज देश में बहुत रत्न पाया जाता है (प्रचुर रत्नोहि स देशः) यह दूसरी व्यत्पत्ति अधिक युक्ति संगत जान पड़ती है ।

(३) कम्बोज के राजा का नाम भी कम्बोज और कम्बोज देशवासियों को भी कम्बोज कहा जाता है । कम्बोज + अञ् = कम्बोजा (कम्बोजातु लक्)

(४) कम्बोजना राज्ञाम् अपत्यानि कम्बोजाः मनुष्याः देशाच्च (कम्बोज के राजाओं की प्रजाएं तथा उनके सन्तान भी कहे जाते हैं) ।

आधुनिक अर्थ - (१) एक देश, (२) कम्बोज निवासी, (३) एक प्रकार का सितुहा, (४) एक प्रकार का हाथी ।

कम्भन -(न) कभ् + ल्युट् थामने वाला सामर्थ्य ।

'चास्कम्भ चित् कम्भनेन स्कभीयान्'

ऋ. १०.१११.५

कयः- (१) कस्य इत्यत्र यकारोपजन इति सायणः । (२) चिकेतिजानाति इति कयः-दयानन्दः । सायण के अनुसार कस्य का कयस्य हो गया है परन्तु दयानन्द इसका अर्थ विद्वान् कहते हैं । अर्थ - (१) ज्ञानवान् युद्धविद्याकुशल ।

'नकिरस्य सहन्त्य पर्येत्या कयस्य चित्
घवाजो अस्ति श्रवाय्यः ।'

ऋ. १.२७.८, साम. २.७६६

हे सहनशील (सहन्त्य) इस ज्ञानवान् युद्धविद्याकुशल पराक्रमी सेनापति का मुकाबला करने वाला कोई नहीं है । और इसका बलवीर्य स्तुत्य और आश्चर्यकारी है ।

(२) कोई ।

'अभिमातिं कयस्य चित्'

ऋ. ८.२५.१५

(३) जल, (४) ज्ञानोपदेश विद्वान् ।

'निषू नमातिमतिं कयस्य चित्'

ऋ. १.१२९.५

कर - (१) कृ + अच् = कर । अर्थ-कर्म । (२) करपत्र, हिंसासाधन शस्त्र (३) किरण ।

'करेणेव विचकर्ता रवेण'

ऋ. १०.६७.६, अ. २०.९१.६, मै.सं. ४.१४.५, २२२.५

(४) हाथ ।

करञ्ज - कृ + अञ्जन = करञ्ज । अर्थ- (१) धार्मिकों को दुःख देने वाला, (२) प्रजाओं पर हाथ छोड़ने वाला (३) शस्त्रों को फेंकने वाला ।

'त्वं करञ्जमुत पर्णयं वधीः
तेजिष्ठयातिथिग्वस्य वर्तनी'

ऋ. १.५३.८, अ. २०.२१.८

तू धार्मिकों को दुःख देने वाला या प्रजाजनों पर शस्त्र प्रहार करने वाले को (करञ्जम्) तथा प्राप्त या अप्राप्त या पालन योग्य पदार्थों को चलाने वाले या प्रजा के पालक पुरुषों पर आक्रमण करने वाले शत्रु को (पर्णयम्) अतिथि के समान पूजनीय पुरुषों को प्राप्त होने वाले (अतिथिग्वस्य) प्रजाजन की रक्षा के लिए (वर्तनी) अति तेजस्विनी अग्नि से दीप्त होने वाली शक्ति से (तेजिष्ठया) विनाश कर (वधीः) । (४) कुत्सित स्वभाव वाला (५) हिंसा व्यसनी । आज भी कञ्जर 'घुमन्तु' लोगों को कहते हैं जिनकी देखभाल पुलिस करती है ।

करञ्जह् - करावलम्ब देने वाले का हाथ छोड़ देने वाला ।

'यत्पर्णयघ्न इत वा करञ्जहे'

ऋ. १०.४८.८

करण - साधन ।

'सत्या सत्यस्य करणानि वोचम्'

ऋ. २.१५.१.

करणा - अश्विद्वय या स्त्री पुरुष का विशेषण । (१) कार्य करने में कुशल, (२) गृहस्थी करने वाले स्त्री पुरुष ।

'रथं न दस्रा करणा समन्विथः'

ऋ. १.११९.७

हे दर्शनीय रूपवाले या एक दूसरे दुःखों को दूर करने वाले स्त्री पुरुष (दस्रा), कार्य करने में कुशल होकर (करणा) सागर की दूर यात्रा करने के लिए सत्संग करो (समन्विथः) ।

करत् - करोतु । करें ।

करतः - 'कुरुथः' का वैदिक प्रयोग । अर्थ है-करते हो । कृ (करना) के लट् में म.पु.द्वि.व. का रूप ।

करन् - कुर्वन्तु (करें, बनावें) ।

'करन् सुषाहा विथुरं न शवः'

ऋ. १.१८६.२, मै.सं. ४.१४.११, २३२.४, तै.ब्रा. २.८.६.३.

करन्ति - कुर्वन्ति (करते हैं) या करिष्यन्ति (करेंगे) । कृ (करना) का लट् में प्र.पु.ब.व. का रूप ।

करम्भः - (१) भात की लस्सी (२) राज्य कार्य करने वाला कर्मचारी (३) दही से मिला सत्तू ।

'धानाः करम्भः सक्तवः'

वाज.सं. १९.२१

(४) कृ + अम्भच् = करम्भ । कर्मफल का भोक्ता ।

'करम्भादिति पूषणम्'

ऋ. ६.५६.१

(५) कर्म सामर्थ्य से युक्त क्षात्रबल ।

'पूषण्वते ते चकृमा करम्भम्'

ऋ. ३.५२.७

(६) उत्तम कर्म करने वाला ।

'करम्भेण सजोषसः'

वाज.सं. ३.४४, तै.सं. १.८.३.१, मै.सं. १.१०.२, १४१.११, का.सं. ९.४, श.ब्रा. २.५.२.२१

(७) ओषधि का लेप या मिश्रण ।

'करम्भेण विकल्पति'

अ. ४.७.२

(८) दिया हुआ अन्न, (९) सुखमयरम्भ लम्भ या ज्ञान संवेदन (१०) सार्षपातैल मिश्र भृष्ट सरसों के पत्ते की साग–

'आ ते करम्भमद्मसि'

अ. ६.१६.१

(९) शरीर को रचने वाली ओषधि (१०) राज्यादि का कर्त्ता राजा ।

'करम्भ ओषधेभव'

ऋ. १.८७.१०, का.सं. ४०.८

करम्भी – कृ + अम्बच् = करम्ब = करम्भ । करम्भ + इणि= करम्भी ।

अर्थ– क्रिया शील, उद्यमी पुरुषों से सम्पन्न

'धानावन्तं करम्भिणम्'

ऋ. ३.५२.१, ८.९१.२, साम. १.२१०, वाज.सं. २०.२९, जै.ब्रा. १.२२०, आश्व.श्रौ.सू. ५.४.२, गो.गृ.सू. ३.३.६.

(२) क्रिया कुशल, (३) शौर्ययुक्त (३) पुरुषार्थी, कर्मण्य (४) दही से मिला सत्तू वाला, (५) ध्यान योग विवेकद्वारा पवित्र किया सत्यज्ञान वाला ।

करसू – करने योग्य कार्य ।

'आविद्वां आह विदुषे करांसि'

ऋ. ४.१९.१०,

करस्न – (१) बाहु । कर + स्ना + अच् = करस्न । कर का न अर्थ कर्म है ।

'अशपत यः करस्नं व आददे'

ऋ. १.१६१.१२

जो आप लोगों की बांह पकड़े और कार्य–साधन में हस्तक्षेप करे उसे शाप दो । कर्मणां प्रस्नातारौ (कर्मों को विवर्तित करने वाली भुजाएं)

(२) कर्म को करने वाला भी करस्न ही है ।

'बृबदुक्थं हवामहे
सृप्रकरस्नमूतये
साधु कृण्वन्तमवसे'

ऋ. ८.३२.१०, साम. १.२१७,

हम अदीर्घबाहु वाले (सृप्रकरस्नम्) सुन्दर कर्म करने वाले (साधु कृण्वन्तम्) बृबदुक्थ को (बृबदुक्थम्) रक्षा के लिए बुलाते हैं (ऊतये हवामहे)

करस्ना – नाना कर्मों को करने वाले, आर्यजनों को शुद्ध निर्दोष करने वाले –बाहु ।

'पृथू करस्ना बहुला गभस्ती'

ऋ. ६.१९.३

करा – (द्वि.व.) अश्वियों का विशेषण । अर्थ– कार्यकुशल ।

'अजोहवीत् नासत्या करावाम्
महेयामन् पुरुभुजा पुरन्धिः'

ऋ. १.११६.१३

हे कभी असत्य आचरण न करने वालो (नासत्या) ! हे मुख पर नासिका के समान मुख्य पद पर विराजमान ! आप दोनों को कार्य कुशल (करा) और बहुत सी प्रजाओं और राष्ट्रों के पालने और बहुत सी भुजाओं अर्थात् वीरजनों सहित बलवान् जान कर (पुरुभुजा) पुर की रक्षा करने वाला संस्था (पुरन्धिः) बड़े भारी युद्ध यात्रा के काल में (महे यामन्) बुलाती है और मुख्य कार्य कर्त्ता के रूप में स्वीकार करती है ।

करामहे – करें, बनावें ।

'आ वरुणं करामहे'

ऋ. १:२५.५

करिक्रत – करैत सर्प ।

'दर्विं करिक्रतं श्वित्रम्'

अ. १०.४.१३

करिक्रत् – (१) अत्यन्त करने वाला –(दया) (२) साक्षात् करने वाला ।

करीष – (१) समृद्धि । पुरीष और करीष समान है ।

'समानं वै पुरीषं च करीषं च'

श.ब्रा.२.१.१.७

'पुरीष्य इति वैतमाहुः यः श्रियं गच्छति'

श.ब्रा. २.१.१.७

करिष्ठः – सबसे बड़ा उत्पन्न करने वाला –वृहस्पति ।

‘पुरू सखिभ्य आसुतिं करिष्ठः’

ऋ. ७.९७.७, मै.सं. ४.१४.४, २२०.१, का.सं. १७.१८, तै.ब्रा. २.५.५.५

करिष्य – कर्त्तव्य, अद्भुद् कर्म ।

‘यानिं करिष्या कृणुहि प्रवृद्ध’

ऋ. १.१६५.९, वाज.सं. ३३.७९, मै.सं. ४.११.३, १६९.९, का.सं. ९.१८ .

सबसे अधिक बढ़ा हुआ तू जिन कर्त्तव्यों और अद्भुत कर्मों को करता है ।

करीषिणी – (१) गोबर और मूत्र आदि करने वाली गौ, (२) ऐश्वर्य सम्पन्न ।

‘आस्मिन् गोष्ठे करीषिणीः’

अ. ३.१४.३, मै.सं. ४.२.१०, ३३.३, कौ.सू. ८९.१२.

‘करीषिणीं फलवतीम्’

अ. १९.३१.३

करुण – (१) कार्य व्यवहार ।

‘ममेदु कर्मन् करुणेऽधिजाया’

अ. १२.३.४७

(२) अनुग्रह विग्रह आदि कर्म ।

‘स विश्वस्य करुणस्य ईशः एकः’

ऋ. १.१००.७

वह समस्त अनुग्रह, विग्रह आदि कार्य करने में समर्थ है ।

करुमः – रु + मन् (ओणादि प्रत्यय) कुत्सित शब्दकारी, गाली गलौज करने वाला ।

‘ककुभाः करुमाः स्त्रिमाः’

अ. ८.६.१०

करुकर – हाथ पैर की हड्डी ।

‘संकर्षन्ती करुकरम्’

अ. ११.९.८

करुडती – कृत्तदती (जिस के दांत तोड़ दिये गये हैं या कटे हों) ‘पूषन्’ का एक विशेषण या संज्ञा । पूषन् अदन्तक है ऐसा ब्राह्मण ग्रन्थों में मिलता है । वेद में द का ड होता है । ‘ल’ और ‘ड’ की समानता मानी गई है । ‘करूडती’ या ‘करूलती’ का अर्थ बिना दाँत वाला पूषन् । कृत् (काटना) धातु का करू रूप हुआ है और समास होने पर दन्त का दत् आदेश हो जाता है । करूदत् + इन् = करूदतिन् = करूदती = करुडती है ।

अर्थ – एक देवता ।

‘वामं पूषा वामं भगो
वामं देवः करूडती ।’

ऋ. ४.३०.२४, नि. ६.३१.

कर्कन्धुः – (१) कर्कान् कारुकान् अन्तति व्यवहारे बध्नाति यः (कारीगरों को व्यवहार में बांधने वाला इन्जीनियर,) (२ कर्मकर शिल्पियों को भृति वेतन आदि से बांधने वाला ।

‘याभिः कर्कन्धुं वय्यं च जिन्वथः
ताभिरूषु ऊतिभि रश्विना गतम्’

ऋ. १.११२.६

जिन उपायों से कर्मकार शिल्पियों को भृति आदि द्वारा बांधने वाला शिल्पज्ञ उत्तम कारीगरों को सन्तुष्ट करते हों वे बड़े इन्जिनियर और वस्त्रादि बनाने वाले (वय्यम्) आप दोनों उन्हीं उपायों से एक दूसरे के उपकारक हुए ।

(२) काँटेदार वृक्ष, बैर आदि, (३) हिंसा कारी शस्त्र ।

‘यवैः कर्कन्धुभिर्मधु’

वाज.सं. २१.३२, मै.सं. ३.११.२, १४१.११, तै.ब्रा. २.६.११.३.

‘कर्क कण्टकं दधाति इति कर्कन्धुः’ –दया.

(४) बेरफल, (५) सेनावान् (कण्टक ।

‘रूपान् शत्रून् धुन्वते
दघ्नो रूपं कर्कन्धूनि’

वाज.सं. १९.२३

कर्कन्धुरोहितः – (१) बेर के फल का सा लाल रंग, (२) कर्कन्धुरोहित रंग का पोशाक पहने अधिकारी ।

‘रोहितोधूम्ररोहितःकर्कन्धुरोहितास्ते सौम्याः’

वाज.सं. २४.२, तै.सं. ५.६.११.१, मै.सं. ३.१३.३, १६९.१,

कर्कन्धूका – वनबैर ।

‘कर्कन्धूकेव पद्यते’

अ. २०.१३६.३

कर्करि – (१) एक प्रकार का बाजा, कर्त्ता, (२) कद्दू का फल, (३) ककरी, (४) भृशं कुर्वन –दया. (५) प्रधान कार्य कर्त्ता ।

‘कएषी कर्करिं लिखत्’

अ. २०.१३२.८

'यदुत्पतन् वदसि कर्करिर्यथा'

ऋ. २.४३.३, कौ.सू. ४६.५४.

कर्करिक – कंकरी।

'कर्करिको निरवातकः'

अ. २०.१३२.३, शां.श्रौ.सू. १२.१८.११.

कर्कीवत्सा – ज्योतिष्मती प्रज्ञारूप देहवासिनी गौ।

'कर्कीवत्सा मिह रक्षवाजिनम्'

अ. ४.३८.६,७.

कर्ण – (१) कार्यं, (२) गुरूपदेश का श्रवण।

'सुदीतयो वो अद्रुहोऽपिकर्णे'

ऋ. ८.९७.१२, अ. २०.५४.३, साम. २.२८,१.

(३) कार्य-साधक शरीर।

'अग्निर्हत्यं जरतः कर्णमावान्

ऋ. १०.८०.३

(४) कृत् (छेदनार्थक धातु) + अन् = कर्ण (पृषोदरादि की तरह)। निकृत्तद्वारः छिन्नद्वारः (जिस का द्वार छेदा गया हो। कान में छिद्र होता है वह कर्ण कहलाता है) (५) रथ या वेगवान् मन्त्र ब्राह्मण में ऋक्ष् (गत्यर्थक) + न अच्छँ। अच्छँ + न = च्छ + अर् + न = कर्ण। अर्थ है- 'खे ऋच्छन्ति इव'। (अकाश में अभिव्यक्त शब्द इन कानों की ओर आते हैं अतः ये कर्ण कहे गए हैं)।

'ऋतस्य श्लोको वधिराततर्द
कर्णाबुधानः शुच्यमान आयोः'

ऋ. ४.२३.८, नि. १०.४१.

ऋतदेव का स्तुति वचन बोधित करता तथा चमकता हुआ मनुष्य के बधिर कानों को भी छेद डालता है।

'नदस्य कर्णैः तुरयन्त आशुभिः'

ऋ. २.३४.३.

कर्णकौ – (१)क्रियाशील जीव और प्रकृति।

'निगृह्य कर्णकौद्वौ'

अ. २०.१३३.३, शां.श्रौ.सू. १२.२२.३.

(२) दोनों कान।

कर्णगृह्या – कान पकड़कर

'कर्णगृह्या मघवा शौर देव्यः'

ऋ. ८.७०.१५

कर्णयोनिः – (१) जिसकी योनि कर्ण हो -(दया.)

'नृचक्षयो दृशये कर्णयोनयः'

ऋ. २.२४.८

(२) कान तक पहुँचने वाला धनुष।

(३) कर्ण गोचर होकर।

कर्णवत्, कर्णवन्तः– कर्ण + मतुप् = कर्णवत्।

अर्थ–कान वाला।

'अक्षण्वन्तः कर्णवन्तः सखायो
मनोजवेष्वसमा बभूवुः'

ऋ. १०.७१.७. नि. १.९.

कर्णशूल – कान का दर्द

'कर्णशूलम् विलोहितम्'

अ. ९.८.१

कर्णशोभन – (१) कानों को सजाने का साधन, (२) उत्तम वचन, (३) कर्णकुण्डल आदि अलंकार।

'उत्तनः कर्णशोभना'

ऋ. ८.७८.३

कर्ण्य – कानों में फैला विसर्पक।

'यो अङ्ग्यो यो कर्ण्यः'

अ. ६.१२७.३

कर्णोगर्दभः – कानों वाला गधा।

'श्वा कृष्णः कर्णोगर्दभः'

वाज.सं. २४.४०

कर्त – (न) काटने वाला, तलवार, गड़ांस, कत्ता, आदि।

'यदि कर्तं पतित्वा संशश्रे'

अ. ४.१२.७

कर्णेतरस्वी – कर्त्तव्य कर्म में शीघ्रता करने वाला।

'सुदीतयो वो अद्रुहोऽपिकर्णे तरस्विनः समृक्वभिः'

ऋ. ८.९७.१२, अ. २०.५४.३, साम. २.२८१.

कर्त – (१) गर्त, गूढ़ा (२) छेदन हिंसन् आदि कार्य। कृन्तन योग्य छेदन भेदन रूपे कर्मणि वा करोते वौंणादिके तपरे कर्त्त कर्म तस्मिन्।

'आवाजुष्टान् विध्यति कर्ते अव्रतान्'

ऋ. ९.७३.८.

'त्राध्वं कर्तात् अवपदो यजत्राः'

ऋ. २.२९.६, वाज.सं. ३३.५१, मै.सं. ४.१२.६,१९४.६.

कर्ता – (१) कृ + सृच्। वंष को चलाने वाला।

'यदी मातरो जनयन्त वह्निम्
अन्यः कर्ता सुकृतोरन्य ऋन्धन्'

ऋ. ३.३१.२, नि. ३.६.

यदि ये माताएं कुल को बढ़ाने वाली सन्तति - पुत्र पुत्री उत्पन्न करती हैं तो उनमें एक पुत्र कुल का कर्त्ता होता है और दूसरी पुत्री पाली पोसी जाती है ।

कर्त्व - (१) कृ + त्वन् = कर्त्व । अर्थ किया जाने वाला कार्य, कर्म

'कृतानि या च कर्त्वा'

ऋ. १.२५.११

किये कर्मों को तथा भविष्य में किये जाने वाले कर्मों को देखता है ।

(२) काटना चाहिए। कृ + त्वन्। कर्तुम् अर्हः। कर्तव्य करने योग्य ।

'सिन्धुभ्यः कर्त्वं हविः'

ऋ. १.२३.१८, अ. १.४.३.

'अश्वः कर्त्वो रथ उतेह कर्त्वः'

ऋ. १.१६१.३

उत्तम अश्व तथा आशुगामी रथ और अश्व सैन्य तैयार कर चाहिए ।

कर्त्वा - अर्थ-करना चाहिए ।

'धेनुःकर्त्वा युवशा कर्त्वा द्वा'

ऋ. १.१६१.३

नाना रस पिलाने वाली गौ के समान पृथिवी तैयार करनी चाहिए और उत्तम वाणी बोलनी चाहिए तथा स्त्री पुरुष दोनों को युवा बलवान् बनाना चाहिए ।

कर्तु - कृ + तु = कर्तु । (१) क्रियाशील जगत् ।

'मध्या कर्तोः विततं संजभार'

ऋ. १.११५.४, अ. २०.१२३.१, वाज.सं. ३३.३७, मै.सं. ४.१०.२, १४७.१, तै.ब्रा. २.८.७.१, नि. ४.११.

सूर्य ने किए जाते हुए कर्मों के मध्य से अपने विस्तीर्ण रश्मिजाल को खींच लिया ।

कर्तो - (३) अन्तरिक्ष कमर्बल

'मध्या कर्तोः न्यधात्शक्म धीरः'

ऋ. २.३८.४

कर्म - (१) क + मनिन् । यज्ञादि कर्म, कार्य ।

'न किष्टं कर्मणानशत्'

ऋ. ८.३१.१७, ७०.३, अ. २०.९२.१८, साम. १.२४३, २.५०५, तै.सं. १.८.२२.४, मै.सं. ४.११.२, १६५.१, का.सं. ११.१२. पंच.ब्रा. १४.४.२, आश्व.श्रौ.सू. ७.४.४.

'य आरितः कर्मणि कर्मणिस्थिरः'

ऋ. १.१०१.४. नि. ५.१५.

जो इन्द्र या राजा अपराधीन स्वतन्त्र है, जो सबके आधारभूत मर्यादित मार्ग की तरह है । या जो राजा वेदानुसार चलने वाला है और जो प्रत्येक कर्म में स्थिर है ।

कर्मकृत्य - संसार की रचना ।

'यः प्रथमः कर्मकृत्याय जज्ञे'

अ. ४.२४.६

कर्मण्य - कर्मकुशल ।

'सोमोवीरं कर्मण्य ददाति'

ऋ. १.९१.२०, वाज.सं. ३४.२१, मै.सं. ४.१४.१, २१४.२, तै.ब्रा. २.८.३.१.

कर्मण्या - (१) कर्म, (२) क्रियाशील उत्पन्न करने में समर्थ ।

'ओताआपः कर्मण्याः'

अ. ६.२३.२

(३) उत्तम कर्म करने वाली प्रजा ।

'धीरैः कर्मण्या मृदम्'

वाज.सं. ११.५५, तै.सं. ४.१५.२, मै.सं. २.७.५, ८०.७, का.सं. १६.५, श.ब्रा. ६.५.१.९.

कर्मणि कर्मणि स्थिरः - (१) प्रत्येक कर्म में स्थिर, (२) जिसके बिना कोई कार्य नहीं हो सकता, (३)परमात्मा, इन्द्र या राजा का विशेषण ।

कर्मनिष्ठाः - कर्म में निष्ठ ।

'अग्निर्वीरं श्रुत्यं कर्मनिष्ठाम्'

ऋ. १०.८०.१

कर्मार - लोहार, लौहकार ।

'ब्रह्मणस्पतिरेता सं कर्मार इवाधमत्'

ऋ. १०.७२.२

'मायायै कर्मारम्'

वाज.सं. ३०.७, तै.ब्रा. ३.४.१.३.

कर्म्मार - लौहकार ।

'नमः कुलालेभ्यः कमरिभ्यश्च वो नामः'

वाज.सं. १६.२७, तै.सं. ४.५.४.२, मै.सं. २.९.५, १२४.६, का.सं. १७.१३.

कर्मोपसंग्रह - दो या अनेक अर्थों का एकत्र समास में लाया जाना कर्मोपसंग्रह कहलाता है । विग्रह का उलटा संग्रह है । दो या अनेक अर्थों को अलग करना विग्रह है (द्वौ अर्थौ बहून् वा

गृहीत्वा एकस्मिन् समसनम् उपसंग्रहणम् द्वयोः बहूनां वा अर्थानां विविच्य पृथक् ग्रहणम् विग्रहः)। सम् + गृह् + अच् = संग्रह ।

कर्वर - (१) विक्षेपक, चित्त डुलाने वाला कार्य, विषय विघ्न ।

'अत इन्वत कर्वराणि भूरि'

अ. ५.२.६

(२) सर्जन का कार्य ।

'आय विष्ठा जनयन् कर्वराणि'

अ. ७.३.१, तै.सं. १.७.१२.२, मै.सं. १.१०.३, १४३.१०, का.सं. ९.६,१४.३, ३३.४, ३६.१३, का.सं.(अश्व.) ५.१२, आश्व.श्रौ.सू. २.१९.३२. शां.श्रौ.सू. ३.१७.१, का.श्रौ.सू. २५.६.१०, आप.श्रौ.सू. ८.१६.५, १८.२.३, शां.गृ.सू . ५.८.२.

(३) नदी का अति क्षुब्ध मध्यबाग ।

'पौञ्जिष्ठ इव कर्वरम्'

अ. १०.४.१९

(४) कर्म ।

'अन्यदद्य कर्वरम् अन्यदुश्वः'

ऋ. ६.२४.५

कर्शफ - (१) कर शफ अथवा कृशशफ जिन पशुओं के खुर पंजे के समान है जैसे व्याघ्र आदि अथवा जिनके खुर निर्बल हैं ।

श्री क्षेमकरण त्रिवेदी ने 'कृशृ शलिवलि गर्दिभ्योऽ भवत्' तथा 'ऋषि वृषिभ्यां कित्' इन सूत्रों से शरभ वृषभ शब्दों की सिद्धि होती है ।

'कर्शफस्य विशफस्य'

अ. ३.९.१

कर्णिनी - कानों वाली ।

'शीर्षण्वती नस्वती कर्णिनी'

अ. १०.१.२.

कर्हिचित् - कहीं भी ।

'अश्विना यद्ध कर्हिचित्'

ऋ. ५.७४.१०

कलविङ्क - (१) ग्रीष्मऋतु में पाए जाने वाला पक्षी विशेष ।

'ग्रीष्म कलविङ्कान्'

वाज.सं. २४.२०, मै.सं. ३.१४.१, १७२.८, का.सं.(अश्व). १०.४, श.ब्रा. १३.५.१.१३, आप.श्रौ.सू. २०.१४.५.

(२) मधुर ध्वनियों या कला यन्त्रों को प्रकट करने वाला ।

'कलविङ्को लोहिताहिः पुष्कर सादस्ते त्वाष्ट्राः

वाज.सं. २४.३१, मै.सं. ३.१४.१२,१७५.१.

कलश - (१) राष्ट्र, (२) ब्रह्माण्ड, (३) कलश

' आपूर्णो अस्य कलशः स्वाहा ।'

ऋ. ३.३२.१५, अ. २०.८.३, ऐ.ब्रा. ६.११.१३, गो.ब्रा. २.२.२१, आश्व.श्रौ.सू. ५.५.१९.

कलाः मात्राः शेरते अस्मिन् (इसमें सोमरस को समुदाय से पृथक् कर कुछ कला या मात्रा रखी जाती है । अतः कलश हुआ) । कला +. शीङ् = कलाश = कलश ।

कला शब्द 'कृ' (विक्षेप अर्थ में) धातु से बना है । 'कला' किसी समुदाय से निकाल कर विक्षिप्त की जाती है । कृ + अच् + टाप = करा = कला ।

'सोमस्य राज्ञो वरुणस्य धर्मणि
बृहस्पतेनुमत्या उ शर्मणि ।'
'तवाहमद्य मघवन्नुपस्तुतौ
धातर्विधातः कलशांअभक्षयम्'

ऋ. १०.१६७.३, नि. ११.१२

मैं राजा सोम के कर्म या या यज्ञ में वर्तमान (अहं राज्ञः सोमस्य धर्मणि) तथा बृहस्पति एवं अनुमति के यज्ञ गृह में वर्तमान (बृहस्पतेः अनुमत्या उ शर्मणि) हे इन्द्र (मघवन्), तेरे स्तोत्र में प्रवृत्त हूं । हे धाता (धातः) तथा हे विधाता (विधातः), आप सभी से अनुज्ञात हो मैं ने इन सोम कलशों को पीया (कलशान् अभक्षयम्) ।

अन्य अर्थ - मैं ने प्रकाशमान अग्नि, चन्द्रमा और मेघ के धर्म में (राज्ञः सोमस्य वरुणस्य धर्मणि) तथा सूर्य और चतुर्दशी युक्त पूर्णिमा के आश्रय में रहकर तथा हे विद्युत् हे वायु तथा हे मृत्यु (उ बृहस्पतेः अनुमत्याः शर्मणि मघवन्, धात विधातः) मैं ने तेरी स्तुति में वर्तमान रहकर (अहम् अद्य तव उपस्तुतौ) ऐश्वर्य कलाओं का भक्षन् किया (सोम कलशान् अभक्षयम्) ।

(४) कलाओं, राज्य के अंशों को सुचारु रूप से धारण करने वाला राष्ट्र और राष्ट्रपति ।

'आजिघ्र कलशं मह्या त्वा विशन्त्विन्दवः'

वाज.सं. ८.४२, तै.सं. ७.१.६.६,

कल्प - (१) उत्पादन-सामर्थ्य ।

'क ऋतून् क उ कल्पमस्याः'
अ. ८.९.१०
(२) कार्य का अवसर ।
'तोता कल्प्येषु संमिताः'
अ. २०.१२८.६,११, शां.श्रौ.सू. १२.२१.१,६.

कल्पी – (१) कल्पना शील, (२) सामर्थ्यवान्, (३) दूरदर्शी, (४) विज्ञ पुरुष ।
'त्रेतायै कल्पिनम्'
वाज.सं. ३०.१८

कल्मलि – तारागण ।
'रात्री केशा हरितौ प्रवर्तौ कल्मलिर्मणिः'
अ. १५.२.५.

कल्मलीकिन् – (१) मतों को शोधने वाला उज्ज्वल अग्नि के समान परम पावन ।
'नमस्या कल्मली किनं नमोभिः'
ऋ. २.३३.८

कला – कृ (विक्षेप अर्थ में) + अच् + टाप् = कला । कला किसी समुदाय से निकाल कर कहीं विक्षिप्त की जाती है । अर्थ – (१) अंश, भाग, सम्पूर्ण पदार्थ से निकला हुआ भाग, (२) कलाः मानोन्मान प्रतिमानादिविषयाः (तौल आदि का नाम कला है)

'इन्द्रेणैते तृत्सवो वेविषाणा
आपो न सृष्टा अधवन्त नीचीः
दुर्मित्रासः प्रकलविन्मिमाना
जहुर्विश्वानि भोजना सुदासे'

ऋ. ७.१८.१५.

हे मेघ या असुर जो पहले ऊंची गति से या उत्तान होकर चलते थे, इन्द्र से दीर्ण होकर (एते इन्द्रेण तृत्सवः) छिन्न भिन्न हो या युद्ध के लिए संगत होकर भी जल के सदृश विलीन हो नीचे हो विनत हो चलने लगे (वेविषाणाः आपो न सृष्टाः नीचीः अधवन्त) और दुष्ट कलाबाज बनिया जिस प्रकार कम सौदा देने पर राजा से प्रताड़ित हो पूरा तौल देता है उसी प्रकार (दुर्मित्रासः प्रकलवित् मिनानाः) ये सभी भोज्य पदार्थ या धन (विश्वानि भोजना) सुदास नामक राजा को या अच्छा दान देने वाले यजमान को देने लगे (सुदासे जहुः) । अर्थात् कम जल देने वाले मेघ या कम धन देने वाले असुर भी अधिक जल या धन इन्द्र से डरकर देने लगे ।

अन्य अर्थ– ये सारे राज्य में फैले हुए दुष्टों के हिंसक क्षत्रिय (एते वे विषाणाः तृत्सवः) राजा के साथ मिलकर (इन्द्रेण) जो राजद्रोही हैं उन्हें (दुर्मित्रासः) फेंके हुए जाल की तरह (सृष्टाः आपः न) नीचे पहुंचा दे (नीचीः अधवन्त) और तोलने वाले व्यापारी लोग (मिमानाः प्रकलवित्) उत्तम दाता ब्रह्मणादिकों के लिए (सुदासे) सब प्रकार के भोग्य पदार्थ दें । (विश्वानि भोजनानि जहुः)

आधुनिक अर्थ – (१) किसी पदार्थ का अंश (२) चन्द्रमा की कला, (३) ब्याज, सूद, (४) समय-विभाग-कला, विकला-१ मिनट, ४८ सेंकेड, या ८ सेंकेड, (५) कोई व्यावहारिक गुण-संगीत, वाद्य, चित्रकारी आदि (६) बुद्धि प्रवीणता, (८) धोखा, जाल, प्रवञ्चना, (९) छन्द की मात्रा, (१०)नौका, (११) आर्तयम्राव
(३) काल की मात्रा ।
'यथा कलां यथा शफम्'
ऋ. ८.४७.१७, अ. ६.४६.३, १९.५७.१
(४) षोड़श भाग, सोलहवां हिस्सा ।

कल्माष – (१) श्वेतकाला (२) चितकबरा या खाकी रंग की पोषाक वाला अधिकारी ।
'शुकरूपा वाजिनाः कल्माषा अग्निमारुताः'
वाज.सं. २४.७, मैं.सं. ३.१३.८, १७०.४.
'मारुतः कल्माषः'
वाज.सं. २९.५८,५९, तै.सं. ५.५.२२.१, २४.१, का.सं.(अश्व.). ८.१,३,

कल्माषग्रीवः – हरे, लाल नाना रंगो से सुशोभित, वृक्ष लता आदि से चित्रित वनस्पति संसार जिसकी ग्रीवा है.-ध्रुवा दिक्, पृथिवी ।
'कल्माषग्रीवो रक्षिता'
अ. ३.२७.५, तै.सं. ५.५.१०.२, मै.सं. २.१३.२१, १६७.९, आप.मं.पा. २.१७.१९.

कल्याण – कमनीय, प्रार्थनीय । कम् + यक् (सार्वधातुक) + आन = कल्याण (म् का ल् और न का ण) । जो पदार्थ कमनीय हो और जिसकी सभी कामना करे वह कल्याण है । अथवा कृ + यक् + आन् । आधुनिक अर्थ– (१) भाग्यशाली, (२) सुन्दर, कमनीय, (३) अति उत्तम, (४) उदाहरणीय (५) शुभ

शकुनप्रद, (६) समृद्धि, सुख।

कल्याण वर्ण रूपः – सुवर्ण के सदृश रूप वाला (कल्याण वर्णस्यइव रूपं यस्य) । यह शब्द अग्नि और देवता के विशेषण के रूप में प्रयुक्त हुआ है ।

कृ + यक् + आन = कल्याण । अर्थ है- कमनीय । कमनीय वर्ण का अर्थ है सुवर्ण (सोना) । वृ + नन् = वर्ण । रुच् + पन् = रूप (रुच् के च् का उ)

कल्याणी – (१) कम् + यक् + आन = कल्याण । कल्याण + ङीष् = कल्याणी । अर्थ- कल्याणकारी गुणों से युक्त । (२) कल्याण करने वाला देवता-सा.

(३) देश का कल्याण करने वाली परिषद् ।

'कल्याणि सर्वविदेमापरिदेहि'

अ. ६.१०७.४

कल्याणी जाय – (१) कल्याणी स्त्री (२) इन्द्र की स्त्री शची, (३) कल्याणकारिणी स्त्री ।

'कल्याणीर्जाया सुरणं गृहे ते'

ऋ. ३.५३.६, नि. ७.६.

हे इन्द्र या हे शत्रुमर्दन राजन् आपके गृह में कल्याणी स्त्री या शची है तथा अन्य सुन्दर पदार्थ हैं ।

कलि – (१) कृ (विक्षेप अर्थ में) + कि = करि = कलि । कलौ वचांसि परस्परं विक्षिप्यन्ते (कलह में परस्पर बातों का विक्षेप किया जाता है) अर्थ है (१) कलह, (२) कलियुग ।

(३) कल (गिनना) + कि = कलि । धन राशि गिनने में कुशल पुरुष ।

'कलिंयाभिः वित्तजानिं दुवस्यथः'

ऋ. १.११२.१५

जिन उपायों से धनराशि को गिनने में कुशल पुरुष को (कलिम्) तथा नववधू को प्राप्त पुरुष को या वित्त को स्त्री के समान मानने वाले धनी को (वित्त जानिम्) रक्षा करते हो । (४) उत्तम ज्ञान वाला, कर्मशील पुरुष ।

'कलयो मा बिभीतन'

ऋ. ८.६६.१५

(५) ज्ञान करने वाला पन ।

'घृतेन कलिंशिक्षामि'

ऋ. ७.१०९.१

आधुनिक अर्थ – (१) झगड़ा, (२) युद्ध (३) कलियुग जिसका आरम्भ १८ वीं फरवरी ३१०२ ईसा पूर्व हुआ, (४) हर्रे का पेड़ (विभीतकी), (५)रुपया या मोहर का एक कोर, (६) बहादुर (७) बाण, (८) फूल की कली ।

कलिगन्धर्व – क्रीड़ा करने वाली गन्धर्व शक्ति ।

'वशा समुद्रमध्यष्ठाद्
गन्धर्वैः कलिभिःसह ।'

अ. १०.१०.१३

कवची – कवच धारण करने वाला ।

'नमो बिल्मिने च कवचिने च'

वाज.सं. १६.३५, तै.सं. ४.५.६.२, मै.सं. २.९.६, १२५.१, का.सं. १७.१४.

'यश्च कवची यश्चाकवचः'

अ. ११.१०.२२

कवत्नु – कुत्सित आचरण वाला पुरुष ।

'न देवासः कवत्नवे'

ऋ. ७.३२.९

कवच – कु + अञ्च् + अच् = कवच । (१) कु अञ्चितम्-टेढ़ा किया हुआ -कुटिल (२) काञ्चितम्-कुटिलीकृत या (३) काये अञ्चितम् -शरीर में पहनाया हुआ (शरीरे गतम्)

कवच नामक अस्त्र जिसे शरीर में रक्षार्थ लगाया जाता है ।

आधुनिक अर्थ – (१) एक अस्त्र का नाम, (२) युद्ध में रक्षा निमित्त शरीर को ढंकने वाला पदार्थ, (३) ताबीज, यन्त्र, (४) तन्त्र शास्त्र में एक अक्षर हुम् जो कवच के सदृश रक्षा करता है ।

कवचपाश – कवच की फांस ।

'ज्यापाशैः कवच पाशैः'

अ. ११.१०.२२

कवना – कु (शब्द करना) + ल्युट् + टाप् = कवना । अर्थ-शब्द करने वाली ।

कवषः – (१) उपदेष्टा, विद्वान् ।

'अधश्रुतं कषयं वृद्धमप्सु'

ऋ. ७.१८.१२

(२) किवाड़ ।

कवषी – (१) किवाड़युक्त, (२) शब्द करने वाली, (३) उत्तमस्तुति करने वाली, (४) उत्तम

हर्षध्वन्ति करने वाली
'इन्द्रं दुरः कवष्यो धावमानाः'
वाज.सं. २०.४०, मै.सं. ३.११.१, १४०.४, का.सं. ३८.६, तै.ब्रा. २ .६.८.२.

कव्य – (न) (१) पितृ दैवत्य कव्य– सा. (२) कवि (३) विद्वानों के लिए हितकारी अन्न ।
'अग्नये कव्य वाहनाय'
अ. १८.४.७१

कव्यवाहन – (१) विद्वान् कवि पुरुषों के देने योग्य ऐश्वर्य का धारक –दया. (२) अग्नि–
'यमग्ने कव्यवाहन'
वाज.सं. १९.६४.
(३) देवों या विद्वान् मेधावी पुरुषों के लिए हितकारी सात्त्विक अन्न रूप पदार्थों को प्राप्त कराने वाला अग्नि ।
'अग्नये कव्यवाहनाय स्वधा नमः'
अ. १८.४.७१ तै.ब्रा. १.३.१०.३, आश्व. श्रौ.सू. २.६.१२, आप.श्रौ.सू. १.८.४,

कवारिः – कव + अरि । कुस्वामी, कुत्सितधनों का स्वामी ।
'न कवारिभ्योनहि ते पृणन्ति ।'
ऋ. १०.१०७.३

कवासखः – कपूयाः कुत्सिताः सखायः यस्य सः (जिसके कुत्सित मित्र हों)। वह पुरुष जो असाधु जन सम्पर्की है । (२) जिसका सहायक कुत्सित जन है, कुसंगति वाला पुरुष (३) धर्म से दूर, विषय–परायण ।
कु अथवा कपूय + सखि + टच् = कवासख (कु या कपूय का 'कवा' आदेश) (४) जैसे तैसे धन बढ़ाने वाला ।
'अपाप शक्रस्ततनुष्टिमूहति
तनू शुभ्रं मघवा यः कवासखः'
ऋ. ५.३४.३ नि. ६.१९
जो धर्म से दूर विषय परायण तथा जैसे तैसे धन बढ़ाने वाला है और जो असाधुजन संपर्की है उसे ऐश्वर्यशाली शक्तिशाली इन्द्र बार बार नष्ट करते हैं ।
(५) विद्वान् पुरुषों का मित्र–(दया.) (६) इन्द्र

कवि – क्रान्तदर्शी विद्वान् । क्रम् + इन् = कवि (म् काव्) अथवा कव् + इन् = कवि । कव् धातु का अर्थ गमन है । कवि सदा प्रगतिशील है । वह क्रान्तप्रज्ञ है । अतीत अनागत तथा विप्रकृष्ट विषयों का युगपद् ज्ञान रखने वाला क्रान्त दर्शन कहलाता है । (अतीतानागतविप्रकृष्ट विषयानाम् युगपत् ज्ञानम्)
अर्थ– (१) क्रान्तप्रज्ञ (२) क्रान्त प्रकाश (३) जिसकी प्रज्ञासीमा को पार कर गई हो या जिसका प्रकाशं अत्यधिक हो, (४) अग्नि का वाचक, (५) परमेश्वर भी कवि है ।
'त्वं दूतः कविरसि प्रचेताः'
ऋ. १०.११.१, अ. ५.१२.१, वाज.सं. २९.२५, मै.सं. ४.१३.३, २०१.९. का.सं. १६.२०, तै.ब्रा. ३.६.३.१, नि. ८.५.
हे अग्नि ! तू देवताओं का दूत, क्रान्त प्रज्ञ या क्रान्त प्रकाश तथा प्रकृष्ट ज्ञान वाला है ।
पुनः –
'पिता यज्ञानामसुरो विपश्चितां
विमानमग्निर्वयुनं च वाघताम् ।
आ विवेश रोदसी भूरि वर्पसा
पुरुप्रियो भन्दते धामभिः कविः'
ऋ. ३.३.४
यज्ञों का पालयिता (यज्ञानां पिता), विद्वान् स्तोतांओं के मध्य में प्रज्ञावाला (विपश्चिताम् असुरः), कर्मों का साधन (विमानम्), मेधावी ऋत्विजों प्रज्ञानस्वरूप (वाधतां वयुनञ्च) अग्नि ने पार्थिव वैद्युत आदि अनेक रूपों से (भूरिपर्वसा) द्यौ और पृथिवी में प्रवेश किया (रोदसी आविवेश) । ऐसे अग्नि को अनेक मनोरथों वाला (पुरुप्रियः) क्रान्तदर्शी विद्वान् (कविः) अनेक प्रकार के नामों या स्तोत्रों से (धामभिः) स्तुति करता है ।
अन्य अर्थ – यज्ञों का रक्षक, तत्व वेत्ताओं का प्राणदाता (विपश्चिताम् असुरः) बुद्धिमानों से मान्य (वाघताम् विमानम्) और प्रशस्य (वयुनम्) सर्वनायक ज्ञानस्वरूप परमेश्वर (अग्निः) अनेक रूप से (भूरिवर्पसा) द्यावापृथिवी में अन्तर्यामित या प्रविष्ट है (रोदसी आ विवेश) । वह बहुप्रिय कवि (पुरुप्रियः) अपने तेजों से (धामभिः) वेद का बखान करता है (भन्दते)
पुनः, परमेश्वर के अर्थ में 'कवि' का प्रयोग–
'विश्वा रूपाणि प्रति मुञ्चतेकविः

'प्रासावीत् भद्रं द्विपदे चतुष्पदे'

५.८१.२, वाज.सं. १२.३,तै.सं. ४.१.१०.४, मै.सं. २.७.८: ८४.१४, ३.२.१:१५.१ का.सं. १६.८, श.ब्रा. ६.७.२.४. नि. १२.१३.

क्रान्तदर्शन मेधावी सविता (कविः) सभी रूपों में विराजते हैं (विश्वारूपाणि प्रतिमुञ्चते) तथा द्विपदतथा चतुष्पदों के लिए कल्याण की सृष्टि करते हैं (द्विपदे चतुष्पदे भद्रं प्रासावीत्) । वह सविता वरणीय है और द्युलोक को भी दिखलाते या प्रकाशित करते हैं (सविता वरेण्यं नाकं व्याख्यत्) तथा उषा के उदय के पश्चात् स्वयं उदित होते हैं (उषसः प्रयाणम् अनु विराजति) ।

कविक्रतुः - कान्तप्रज्ञ, सर्वद्रष्टा, सर्वकर्मा परमेश्वर, सविता ।

'कविक्रतुमर्चामि सत्यसवम्'

कविच्छदा - (१) विद्वान् पुरुषों को अन्न वस्त्रादि से आच्छादित करने वाले-इन्द्र और अग्नि (२) वायुवत् बलवान् और अग्निवत् तेजस्वी

'इन्द्रमग्निं कविच्छदा'

ऋ. ३.१२.३, साम. २.२१.

कवितमः - (१) समस्त क्रान्तदर्शी विद्वानों में सर्वश्रेष्ठ परमेश्वर, (२) वरुण, प्रकृष्ट प्रज्ञ देव वरुण ।

'इमामु नु कवितमस्य मायाम्
महीं देवस्य नकि रादधर्ष'

ऋ. ५.८५.६,

प्रकृष्ट प्रज्ञदेव वरुण के इस सर्वविदित महती माया को (इमां महीं मायाम्) कोई भी (नकिः) अभिभूत नहीं कर सकता (आदधर्ष) ।

कवित्वन् - कवि + त्वन् । अर्थ-विद्वत्ता

कविवृधः - विद्वानों को आचार्यवत् बढ़ाने वाला -इन्द्र

'स प्रत्नथा कविवृधः'

ऋ. ८.६३.४, शां.श्रौ.सू. १८.१८.११,

कविशस्तः - (१) कविभिः शस्तः विद्वानों से प्रशंसित् । 'कवि' की व्युत्पत्ति के लिए । .

'कविशस्तो बृहता भानुनागा
हव्या जुषस्व मेधिर'

ऋ. ३.२१.४, मै.सं. ४.१३, ५:२०४.१५, का.सं. १६.२१, ऐ.ब्रा. २.१२.१५, तै.ब्रा. ३.६.७.२,

हे विद्वानों से प्रशंसित यज्ञवान् अग्नि ! महान् प्रकाश से युक्त हो हव्यों का भोगकर ।

(२) विद्वानों से उपदेशप्राप्त

'सत्यो मन्त्रः कविशस्त ऋघावान्'

ऋ. १.१५२.२.

कवीनां कविः क्रान्तदर्शी मेधावी पुरुषों में सर्व श्रेष्ठ- गणपति का विशेष पद ।

'कविः कवीनामुपमः श्रवस्तमम्'

ऋ. २.२३.१, तै.सं. २.३.१४.३, का.सं. १०.१३.

कवीयमानः - (१) क्रान्तदर्शी विद्वान् ।

'कवीयमानः क इह प्रवलोचत्'

ऋ. १.१६४.१८, अ. ९.९.१८

(२) अति विद्वान् कान्तदर्शी होता हुआ ।

कश - (१) एक प्रकार का पक्षी (२) गति, गमन (३) शासन वश ।

'दिवे कशान्'

वाज. सं. २४.२६, मै.सं. ३.१४.७: १७३.११.

'चतुर्युगः त्रिकशः सप्तरश्मिः'

ऋ. २.१८.१.

कशनी - कृशन् + इन् । धनादि से सम्पन्न ।

'स्मदिष्टयः कृशनिनो निरेके'

ऋ. ७.१८.२३

कशप्लक - घुटना

'माते कशप्लकौ दृशन्'

ऋ. ८.३३.१९

कशस् - जल ।

कश्मश - मनमुटाव ।

'विद्वेषं कश्मशं भयम्'

अ. ५.२१.१

आज भी 'कशमकश' का प्रयोग होता है ।

कश्यप - (१) द्रष्टा आत्मा । आरोग, भ्राज, पटर, पंतग, स्वर्णर, ज्योतिषीमान् और विभास ये सात आदिव्य हैं और आठवां कश्यप है जो मेरुदण्ड को नहीं छोड़ता ।

आरोगो भ्राजः पटरः पतंगः स्वर्णरो ज्योतिषीमान् विभास इति सप्त आदित्याः तत्र कश्यपोः अष्टमः स मेरुदण्डं न जहातितै । -तै.ब्रा.

'कश्यस्य स्वर्विदो यावाहुः सयुजाविति'

साम. १.३६१

(२) सर्व प्रकाश सूर्य

'मासान् कश्यमः'

वाज.सं. २४.३७, तै.सं. ५.५.१७.१,

का.सं.(अश्व) ७.७.

(३) कश्यप नामक ऋषि, (४) देदीप्यमान चक्षु वाला तत्वदर्शी ।

'कश्यपस्य त्र्यायुषम्'

अ. ५.२८.७, वाज.सं. ३.६२, वाज.सं.(का.) ३.९.४, शां.गृ.सू. १.२८.९, साम.मं.ब्रा. १.६.८, आप.मं.पा. २.७.२, हि.गृ.सू. १.९.६,

(५) सर्वद्रष्टा (६) विद्युत् का प्रकाश सम्बन्धी विज्ञान ।

'असितस्य ते ब्रह्मणा कश्यपस्य गयस्य च'

अ. १.१४.४

कशा - (१) शासन, (२) प्रभुशक्ति ।

'मधोः कशामजनयन्त देवाः'

अ. ९.१.५

(३) चाबुक । वेद में अश्वाजनी, या अश्वकशा शब्द कशा के लिए प्रयुक्त हुआ है । (४) वाक् के अर्थ भी में कशा का प्रयोग हुआ है, वाक् अर्थ को प्रकाशित करती है (अर्थ प्रकाशयति इति कशा)

व्युत्पत्ति-खे शया-खशया-खशा-कशा (वाक् मुखाकाशे शेते - वाणी मुखरूपी आकाश में सोती है)

अथवा-क्रुश् (क्रोशना) धातु से भी कशा की व्युत्पत्ति की गई है ।

यह अश्व को भय दिखलाती है । काष्ट् + अच् + टाप् = कशा । यह बहुत पतली होती है । कृश् + अच् + टाप् = कशा ।

(५) समस्त जगत् को अपने शासन में रखने वाली ब्रह्मशक्ति (६) पशु को हांकने वाली चाबुक (७) प्रेरक शक्ति ।

'पृथिवी दण्डो अन्तरिक्षं गर्भोद्यौः कशा'

अ. ९.१.२१.

कशावती - (१) वाणी या आज्ञा की स्वामिनी राजसभा, (२) वाणी की स्वामिनी ।

'स्वभीशुः कशावती'

ऋ. ८.६८.१८

कशावन्ता - अर्थप्रकाशक शुभवाणी वाले मित्रावरुण या स्त्री पुरुष ।

'स्मदमीशूकशावन्ता'

ऋ. ८.२५.२४

कशिपु - चटाई ।

'यथा वडं कशिपुने'

अ. ६.१३८.५

कशिपूपबर्हण - कशिपु + उपबर्हण । चादर और सिरहाना जो खाट पर बिछाया जाता है ।

'यत् किशपूपबर्हणमाहरन्ति परिधय एव ते'

अ. ९.६.१०

कशीका - कशा-कशिका-कशीका । (१) नेवली सा. (२) चाबुक -(दया.) ।

'या कशीकेव जङ्गहे'

ऋ. १.१२६.६

जो स्त्री संभोग में नेवली की तरह है-सा.

जो रानी पूर्णतया गृहीत राजकर्म में चाबुक सी है-(दया.)

कशुः - (१) ज्ञानदर्शी, (२) तेजस्वी ।

'यथा चिच्चैद्यः कशुः शतमुष्ट्रानाम्'

ऋ. ८.५.३७.

कशोक - व्यथा ।

'मा त्वा दभन् दुरेवासः कशोकाः'

अ. ५.२.४

कशोजूः - कशांसि उदकानि जव यति गमयति इति कशोजू दया. (१) मेघ को आघात कर छिन्न भिन्न करने वालासूर्य (२) इन्द्र (३) वायु ।

'याभिः महामतिथिग्वं कशोजुवम्
दिवोदासं शम्बहरहत्य आवतम्'

ऋ. १.११२.१४

जिन उपायों से मेघ को आघात कर छिन्न भिन्न करने वाले सूर्य या वायु को (कशोजुवम्) शंबर या सुखशान्ति के नाशक दुष्ट पुरुषों के नाश करने के कार्य में (शम्बरहत्ये) बड़े भारी अतिथि जनों के आश्रय (अतिथिग्वम्) ज्ञान और प्रकाश के देने और धारण करने वाले पुरुष को (दिवो दासम्) प्राप्त होते हो ।

कष्कष - एक प्रकार का रोग कीट जो घिस घिस कर चलता है।

'येवाषासः कष्कषासः'

अ. ५.२३.७

कस्य - (सं) (१) ज्ञानयोग्य, (२) सर्वोपरि शासक, क (३) परमवैद्य, (४) ब्रह्म ।

'कस्येमृजाना अतियन्ति रिप्रम्'

अ. १८.३.१७

कसाम्बु - (१) विकस्वर अम्बु (२) वीर्य ।

'इदं कसाम्बु चयने न चितम्'

अ. १८.४.३७

कसी- (१) ज्ञानदीप्ति, (२) शासन व्यवस्था, कसि (गति और शासन अर्थ में) या कश् धातु से कसी बना है ।

(३) मूर्छा, मोह, समुच्छ्राय अर्थों में प्रयुक्तं ।

'यः शम्बरं पर्यतरत् कसीभिः'

अ. २०.३४.१२

क्रक्षमाण - शत्रु का कर्षण, विनाश या उन्मूलन करता हुआ ।

'क्रक्षमाणम कृपेताम्'

ऋ. ८.७६.११, अ. २०.४२.२

क्रतु - (१) कर्ता, (२) आत्मा ।

'क्रतुं रिहन्ति मधुनाभ्यञ्जते'

ऋ. ९.८.४३, अ. १८.३.१८, साम. १.५६४, २.९६४.

(३) कर्म करने वाला जीवात्मा ।

'क्रतुं पुष्यसि गा इव'

ऋ. ३.४५.३, साम. २.१०.७०

(४) कर्म, (५) गति, (६) प्रज्ञा ।

'क्रतुं दधिक्रा अनुसन्तवीत्वत्'

ऋ. ४.४०.४, वाज.सं. ९.१४, वाज.सं.(का.) १०.३.७, तै.सं. १.७.८.३, मै.सं. १.११.२, १६३.३, का.सं. १३.१४, श.ब्रा. ५.१.५.१९. नि. २.२८.

अश्व अश्वारोही की प्रज्ञा या अपने कर्म या गति के अनुकूल चलता है ।

(६) संकल्प, (८) सन्तान -(दया.) ।

'क्रत्वे दक्षायनोहिनु'

ऋ. ९.३६.३, वाज.सं. ३४.८, तै.सं. ३.३.११.४, मै.सं. ३.१६.४. १८९.११, आश्व.श्रौ.सू. ४.१२.२, शां.श्रौ.सू. ९.२७.२, नि. ११.३०.

संकल्प की सिद्धि के लिएआगे बढ़ा -

हमारी सन्तान के लिए वृद्धिप्रद अन्न प्रदान कर -(दया.)

(९) यज्ञ- (१०) कर्मशील दया. ।

'आनो भद्राः क्रतवो यन्तु विश्वतो
अदब्धासो अपरीतास उद्भिदः'

ऋ. १.८९.१, वाज.सं. २५.१४, का.सं. २६.११,

हमारे भद्र कर्मशील, सर्वत्र कष्ट रहित, अविपरीत धर्मानुकूल कायिक, वाचिक एवं मानसिक पापों को उत्तमत या उद्भेदन करते हुए विद्वान् लोग हमें प्राप्त हों-(दया.) । हमारे कल्याणकारी अग्निष्टोमादि यज्ञ सर्वतः सर्वदा अप्रतिहत एवं शत्रुओं से अप्रतिरुद्ध हों, शत्रुओं का नाश करते हुए आवें ।

'देवो देवान् क्रतुना पर्यभूषत्'

ऋ. २.१२.१, अ. २०.३४.१, तै.सं. १.७.१३.२, मै.सं. ४.१२.३, १८६.४, का.सं. ८.१६, नि. १०.१०.

आधुनिक अर्थ - (१) यज्ञ, (२) विष्णु का एक विशेषण, (३) दस प्रजापतियों में एक, (४) बुद्धि, योग्यता, कुशलता ।

क्रतुप्रा - कर्म और ज्ञान को देने वाला ।

'चित्रस्तेभानुः क्रतुप्रा अंभिष्टिः'

ऋ. १०.१००.१२

क्रतुप्रावा - कर्मों या यज्ञों का प्रवर्तक सूर्य ।

'क्रतुप्रावा जरिता शश्वतामवः'

ऋ. १०.१००.११.

क्रतुमन्ता - (१) स्त्री पुरुष या अश्विद्वय का विशेषण । अर्थ (२) क्रतु अर्थात् यज्ञ करने वाला (३) कार्यकुशल स्त्री पुरुष ।

'यत् तिष्ठथः क्रतुमन्ता नु पृक्षे'

ऋ. १.१८३.२

क्रतुस्थला - (१) क्रतु अर्थात् प्रज्ञा का एक मात्र आश्रय समिति ।

'पुञ्जिकस्थला च क्रतुस्थला चाप्सरसौ'

वाज.सं. १५.१५, तै.सं. ४.४.३.१, मै.सं. २.८.१०, ११४.१४, का.सं. १७.९, श.ब्रा. ८.६.१.१६.

क्रन् - करता हुआ ।

'रतं न क्रन्तो अपसा भुरिजोः'

ऋ. ४.२.१४

क्रन्दत् - युद्ध के लिए ललकारने वाला ।

'क्रन्दते स्वाहा'

वाज.सं. २२.७, तै.सं. ७.१.१९.१ मै.स. ३.१२.३:१६०.१२, का.सं. (अश्व.)१.१०

क्रन्दनुः - (१) आह्वाता -दया. (२) मेघ (३) विद्युत, (४) रोदनशील. प्रकृति, (५) विदुषी स्त्री ।

'प्रक्रन्दनुः नभन्यस्य वेतु'

ऋ. ७.४२.१, कौ.ब्रा. २६.११

क्रन्दसी - द्वि.व. (१) नाना गुणों से युक्त आकाश और पृथिवी ।

'यं क्रन्दसीअवसा तस्तभाने'

ऋ. १०.१२१.६, वाज.सं. ३२.७, वाज.सं.(का.)

२९.३४, तै.सं. ४.१.८.५.

(२) पति पत्नी, (३) गुरुशिष्य (४) परस्पर आह्वान् करन या ललकारने वाले ।

'यं क्रन्दसी संयतीविह्वयेते'

ऋ. २.१२.८, अ. २०.३४.८.

(५) दुःखों के कारण रोने वाले स्त्री पुरुष ।

कनिक्रदत् - गर्जना करता हुआ ।

'कनिक्रदतो वृष्णो अस्यवज्रात्'

ऋ. २.११.९

क्रम - (१) पग ।

'विष्णोः क्रमो ऽसि सपत्नहा'

वाज.सं. १२.५, मै.सं. २.७.८ः ८५.३,४.४.५ः ५५.१४, का.सं. १६.८ , शा.ब्रा. ६.७.२.१३.

(२) क्रम से उत्पन्न होने वाला परिणाम, (३) नाना कर्म

'क्रमान् को अस्याः कतिधा विदुग्धान्'

अ. ८.९.१०.

क्रमजटा - 'अग्निम्ईडे 'इडे अग्निम्' इत्यादि क्रम से पारायण करना क्रमजटा है ।

क्रमति - चलता है । क्रम् नैरुक्त धातु है और सरण अर्थ में प्रयुक्त हुआ है । क्रम् + कि = क्रिमि । क्रिमि सरणशील है ।

क्रमदण्ड - अग्निम्ईडे, ईडे पुरोहितम् , पुरोहितम् ईडे अग्निमीडे पुरोहितम्-इस प्रकार संहिता का पाठ क्रमदण्ड कहलता है ।

क्रमपद - ऋग्वेद के चार पारायणों में एक । संहितानुसार पदपाठ क्रमपद कहलाता है ।

क्रमपार - ऋग्वेद के चतुर्विध पारायणों में एक । जिस क्रम में संहिता पढ़ी गई है उसे क्रमपार कहते हैं ।

क्रमु - वह नाड़ी जिससे आत्मा देह के अंगों के चलने की व्यवस्था करता है ।

'त्वं सिन्धो कुभयागोमतीम् क्रुमुम्'

ऋ. १०.७५.६

क्रवणः - (१) शब्द कर्त्ता-दया. (२) कर्म कुशल पुरुष ।

'अत्रा न हार्दिक्रवणस्य रेजति'

ऋ. ५.४४.९

क्रव्य - आमा मस, कच्चा मांस, । स्वामी दयानन्द के मत से क्रु (गत्यर्थक) + यत् = कव्य है । 'निकृन्तत् क्रूयते प्राप्यते (जो किसी जीव को काटकर प्राप्त किया जाता है वह क्रव्य है) पाणिनि के अनुसार भी यही व्युत्पत्ति है । निरुक्त में निकृत्तानत् जायते' जो काटकर प्राप्त किया जाता है वह क्रव्य है । कृत् (काटना) + यत् क्रव्य (पृषोदरादिवत्) ।

अंग्रेजी का (cruel) शब्द क्रु से सम्बन्ध रखता है ।

क्रव्यवाहनः - (१) मांस ढोने वाला अग्नि, (२) कटे काष्ठादि में लगा अग्नि, (३) क्रव्य नामक हवि का वाहक अग्नि-सा. (४) स्वा. दयानन्द ने क्रविस् का अर्थ भक्षित किया है । वाज.सं. २५.३२) । क्रव्य का अर्थ पकाया मांस है ।

'क्रव्यं विकृत्तात् जायतेनि-
यो अग्निः क्रव्यवाहनः'

ऋ. १०.१६.११, वाज.सं. १९.६५, का.सं.२१.१४, आश्व.श्रौ.सू. २.१९.२९.

क्रव्यात् - क्रव्य + अद् + क्विप् । (१) कच्चे मांस का आहारी, (२) मच्छड़, खटमल आदि ।

'क्रव्याद् यातूनां शयने शयानम्'

अ. ५.२९.८,९.

(३) चिता की अग्नि, (४) मृत्युकारक कारण, ।

(५) प्रजाघात के जन्तु ।

'निष्क्रव्यादं सेधा'

वाज.सं. १.१७, तै.सं. १.१.७.१, का.सं. १.७.श.ब्रा. १.२.१.४, तै.ब्रा. ३.२.७.१, आप.श्रौ.सू. १.२२.२.

'ब्रह्मद्विषे क्रव्यादे घोरचक्षसे
द्वेषोधत्तम् अनवायं किमीदिने'

ऋ. ७.१०४.२, अ. ८.४.२, का.सं. २३.११, नि.६.११.

(६) शव जलाने वाला अग्नि-

(७) कच्चा मांस खाने वाला व्याघ्र आदि हिंसक जन्तु-।

यदि अग्निः क्रव्याद् यदिवा व्याघ्रः इमं गोष्ठं प्रविशति अन्योकः तं माषाज्यं कृत्या प्रहिणोमि दूरम् ।

यहां माषाज्य का अर्थ उर्द की वरी कर शवाग्नि को देने का अर्थ किया गया है, पर पं जयदेव शर्मा ने क्रव्याद् का अर्थ हिंसक व्याघ्र मानकर उसे माषाज्य, अर्थात् घातक वज्र से मारने का

अर्थ किया है ।

अन्य व्युत्पत्ति - क्रव्य + अद् + विट् = क्रव्याद्

(८) कच्चा मांस खाने वाला राक्षस ।

(९) गर्भाशय नष्ट करने वाला एक क्रिमि जो गर्भाशय का मांस खाता है ।

'अग्निष्टं ब्रह्मणासह निष्क्रव्यादमनीनशत्'

ऋ. १०.१६२,२. अ. २०.९६.१२,

(१०) जंगली जीव

क्रव्यादग्निः - (१) मांस खाने वाला श्मशानाग्नि, (२) सन्ताप दायक दुष्ट जन्तु, (३) मृत्यु ।

'क्रव्यादग्निं प्रहिणोमि दूरम् ।'

ऋ. १०.१६.९, अ. १२.२.८, वाज.सं. ३५.१९, वाज.सं.का. ३५.५३,

(४) नर शरीर का मांस खाने वाला शवाग्नि ।

'आरादग्निं क्रव्यादं निरूहन्'

अ. ८.२.९

'शान्तो अग्निः क्रव्याद्'

अ. ३.२१.९

क्रविष् - कृवि हिंसा करणयोः (१) विजय करने योग्य , (२) काटा हुआ मांस ।

'यदश्वस्य कविषोमक्षिकाश'

ऋ. १.१६२.९ वाज.सं. २५.३२, तै.सं. ४.६.८.३, मै.सं. ३.१६.१, १८२.१४, का.सं. (अश्व.) ६.४.

(३) क्रमु + इसि = क्रविष् । अर्थ क्रमणशील -(दया.)

(४) विजय करने योग्य अश्व या राष्ट्र ।

क्रंशति - (१) प्रकाशयति । 'क्रंश्' धातु प्रकाश करना अर्थ में आया है ।

क्रंस - कदम बढ़ाना, पहुंचना, पार करना । अंग्रेजी का cross धातु का पूर्व रूप क्रंस ही है ।

क्रंसते - कदम बढ़ाता है, पहुंचता है ।

'प्रयद् आनड् विश आहर्म्यस्य
उरु क्रंसते अध्वरे यजत्रः'

ऋ. १.१२१.१

जब सत्संग करने या राष्ट्र रूपी यज्ञ की रक्षा करने वाला स्वामी या परमेश्वर से मेल करने वाला मुमुक्षु (यजत्रः) बड़े महल या अन्त पुर के समान प्रजाओं के पालन रूप उत्तम कार्य में प्रतिष्ठा प्राप्त करे और बहुत ऊंचे पद पर कदम बढ़ावे या (मुमुक्षु) अपने प्रवेश योग्य प्राणों पर वश प्राप्त कर ले और महल के बहुत अधिक ऊंचे पद पर कदम बढ़ावें (हर्म्यस्य उरु क्रंसते) ।

क्लथन् - क्लथ (नाश करना) + शतृ = क्लतन् । शत्रुओं का नाश करता हुआ ।

'मारुतः क्लथन्'

वाज.सं. ३९.५.

क्लदीवत् - गँवारों की तरह बकने और सबको कलह लड़ाईऔर दंगा फसाद के लिए उभाड़ने वाला-

'अवस्थस्य क्लदीवतः'

अ. ७.९०.३

क्लन्दा - संसार में जन्म लेने वाली ।

'याः क्लन्दाः तमिषीचयः'

अ. २.२.५

क्लचित् - (१) कहीं, (२) क्वस्वित् (कहां) ।

क्वयि- एक प्रकार का पक्षी ।

'रुरू रौद्रः क्वयिः कुटुरुर्दात्यौहस्ते'

वाज.सं. २४.३९.

क्वस्वित् - (१) क्यों ।

'जङ्घे निर्कृत्यं न्य दधुः क्वस्वित्'

अ. १०.२.२.

(२) कहीं भी ।

'क्वस्वित् तान्या पितरा व आसतुः'

ऋ. १.१६१.१२

उस समय (तान्या) आप लोगों के माता पिता कहीं भी (क्वसित्) रहें ।

(३) कहां ।

'क्वस्विमदस्याः परमं जगाम'

ऋ. ८.१००.१०, तै.ब्रा. २.४.६.११, नि. ११.२८.

इस माध्यमिक वाक् का परम तत्व कहां चला जाता है । अथवा इस वाणी के प्रभाव से उत्पन्न रस को कहां कहां पाया जाता है।

क्षदम - जल ।

'क्षद्मेवार्थेषु तर्तरीथ उग्रा'

ऋ. १०.१०६.७.

क्षण - 'क्षणु' (हिंसार्थक धातु) + अच् = क्षण (प्रकर्षेण हीनः हिंसित कालः) । अर्थ अल्प काल प्रक्ष्णुत काल । क्ष्णु धातु तेजन अर्थ में होने पर भी यहां हिंसा अर्थ में पाया गया है । धातुओं के अनेक अर्थ होते हैं । अथवा, क्षण् (खण्ड खण्ड करना) + अच् = क्षण ।

आधुनिक अर्थ - (१) अल्पतम काल, एक सेकण्ड का ४/५ भाग, (२) फुर्सत, विश्राम

काल, (३) उपयुक्त अवसर (४) सौभाग्य का समय , शुभकाल, शुभ समय, शुभ मुहूर्त, (५) उत्सव, प्रसन्नता, (६) निर्भरता , (७) केन्द्र, मध्य बिन्दु

क्षणिः - क्षण् (नाश करना) + इन् = क्षणि । अर्थ -नाश करने वाला ।

क्षत्ता - (१) क्षतों से त्राण करने वाला ।

'नमः क्षत्तृभ्यः'

वाज.सं. १६.२६, तै.सं. ४.५.४.२, मै.सं. २.९.४, १२४.२ का.सं. १७. १३.

(२) दाता ।

'असिक्षत्तावामस्य देवभूरेः'

ऋ. ६०.१३.२, मै.सं. ४.१०.१, १४३.४, आप.श्रौ.सू. ५.२३.९.

(३) सारथि, (४) इन्द्रियों को सन्मार्ग में चलाने वाला मन, (५) मनुष्यों को सन्मार्ग में चलाने वाला पुरुष ।

'विविक्त्यै क्षत्तारम्'

वाज.सं. ३०.१३, तै.ब्रा. ३.४.१.७.

(६) कोठारी, प्रबन्धक, मैनेजर ।

'यत् क्षत्तारं ह्वयति'

अ. ९.६.(६) १

क्षत्र - क्षद् (निघण्टु के मत से ग्रहणार्थक, माधव के मत से शकलीकरण तथा हिंसा अर्थ वाला तथा सुबोधिनीकार के मत से गति तथा हिंसा अर्थ वाला) + त्र = क्षत्र अर्थ है । (१) धन भोग करने वाले धन रखते हैं, यह दारिद्र्य को मार भगाता है, किसी नाशक पाप से रक्षा करता है (क्षतात् त्रायते) (२) पाप से रक्षा करने वाला (क्षत् + त्रै) (३) क्षति से बचाने वाला ।

'नहि ते क्षत्रम् न सहाने मन्युम्'

ऋ. १.२४.६

पुनः

'सुक्षत्रासो ऽरिशादसः'

ऋ. १.१९.५

आधुनिक अर्थ-शक्ति, राज्य महत्ता, क्षत्रियजाति (४) घर का बुना वस्त्र, (५) छाता (६) ढंकना (७) प्रेरक आत्मा ।

'क्षत्रेणात्मानं परिधापयाथः'

अ. १२.३.५१

'घृतेन नो मधुना क्षत्रमुक्षतम्'

ऋ. १.१५७.२, साम. २.११०९.

(८) सेनाबल (९) बलवीर्य, (१०) राज्य ।

'उपक्षत्रं पृञ्चीत हन्ति राजभिः'

ऋ. १.४०.८

जो राजा अपने क्षत्र या सेनाबल को अच्छी तरह संगठित करता है ।

'अनुक्षत्र मंहना मन्यत द्यौः'

ऋ. ४.१७.१, मै.सं. ४.११.४, १७१.३, का.सं. ६.१०.

(९) सबल , चेतनावान् ।

'केन सत् क्षत्रमुच्यते'

अ. १०.२.२२

(१०) वीर्य के अर्थ में प्रयोग -

'अस्मै क्षत्राणि धारयन्तमग्ने'

अ. ७.७८.२, कौ.सू. १३७.३०.

(११) रक्षण-सामर्थ्य ।

'नहि ते क्षत्रं न सहो न मन्युं
वयश्च नामी पतयन्त आयुः'

ऋ. १.२४.६.

हे प्रभो ! तेरे रक्षण सामर्थ्य, बल और मन्यु को ये उड़ने वाले पक्षी तथा सूर्य, चन्द्र और तारा गण भी प्राप्त कर सकते हैं ।

क्षत्रद्रविण - क्षत्रबलरूपीधन ।

'ग्रीष्मऋतुः क्षत्रं द्रविणम्'

वाज.सं. १०.११, तै.सं. ४.३.३.१, मै.सं. २.७.२०, १०५.४, श.ब्रा. ५.४.१.४.

क्षत्रपिता - कष्टों से बचाने वाला पिता ।

'उत पुत्रः पितरं क्षत्रमीडे'

अ ५.१.८

क्षत्रभृत् - क्षात्रबल को पालन और धारण करने वाला ।

'विराडग्ने क्षत्रभृद् दीदिहीह'

अ. ७.८४.१, वाज.सं. २७.७, वाज.सं.(का.) २९.७, तै.सं. ४.१.७.३, मै.सं. २.१२.५, १४.९.६, का.सं. १८.१६,

क्षत्रयोग- क्षत्रियोचित साधन ।

'जिष्णवे योगाय क्षत्रयोगैर्वोयुनज्मि'

अ. १०.५.२

क्षत्रवनिः - क्षत्र+ वन + कि = क्षत्रवनि, क्षत्रियों को वृत्ति देने वाला ।

'ब्रह्मवनि त्वा क्षत्रवनि रायस्पोपवनि पर्यूहामि'

वाज.सं. ५.२७,६.३, श.ब्रा. ३.६.१.१७.
'ब्रह्मवनि त्वा क्षत्रवनि
'सजातवन्युपदधामि भ्रातृव्यस्य दधाय'
वाज.सं. १.१७,१८, श.ब्रा.१.२.१.७,१०
'ब्रह्मवनिं त्वा क्षत्रवनिं पर्यूहामि'
तै.सं. १.३.१.२, ६.२ , मै.सं.१.२.११, २१.१, १.२.१४, २४.१, ३.८.९, १०८.५, ३.९.३, ११८.३, का.सं. २.१२,३.३, मा.श्रौ.सू. १.८.२. २०, २.२.३.१७,

क्षत्रवर्धन - (१) क्षत्रबल को बढ़ाने वाला ।
'अभिभुं क्षत्रवर्धनम्'
अ.१०.६.२९

क्षत्रश्री - (१) बल वीर्य की शोभा ।
'प्रातर्दनिः क्षत्रश्रीरस्तु श्रेष्ठः'
ऋ. ६.२६.८
(२) समस्त बलों का आश्रय ।
'कदा क्षत्रश्रियं नरं
आ वरुणं करामहे'
'मृडीकायोरुचक्षसम्'
ऋ. १.२५.५
समस्त बलों के आश्रय, सबके नायक, सब कष्टों के वारक, बहुत प्रकार के ज्ञानों और प्रजाजनों के द्रष्टा पुरुष को हम लोग कब राजा रूप में बनावें ।

क्षत्रिया - (१) मित्रावरुण, (२) वीर बलशाली ।
'सिन्धुपती क्षत्रियायातमर्वाक्'
ऋ. ७.६४.२

क्षद् - खिलाना ।
'तस्मै घृतं सुरां मध्वन्नमन्नं क्षदामहे'
अ. १०.६.५

क्षद्मन् - जल, अन्न ।

क्षदस् - (१) अज्ञान-नाश ।
'होतेव क्षदसे प्रियम्'
ऋ. १.२५.१७
यज्ञकर्त्ता विद्वान् के समान अपने हृदय के अज्ञान के नाश के लिए (क्षदसे) उस प्रिय ज्ञान राशि को (प्रियम्) तू प्राप्त करता है ।

क्षप् - (१) रात्रि, (२) शत्रु नाश कारिणी सेना ।
'द्विव इवेदरतिर्मानुषा युगा
क्षपो भासि पुरुवार संयतः'
ऋ. २.२.२.
'वर्धान् यं पूर्वीः क्षपो विरूपाः'
ऋ. १.७०.७.
अन्धेरी रात्रियां (पूर्वी क्षपः) जिस प्रकार उगते सूर्य या प्रकाशवान् अग्नि को बढ़ाती हैं अर्थात् उसके महान् सामर्थ्य को प्रकट करती हैं उसी प्रकार अग्रणी नायक को विविध रूपों वाली (विरूपाः) पूर्व से ही विद्यमान या पूर्व शिक्षित सिद्धहस्त, नाना साधनों से पूर्ण शत्रुनाश कारिणी सेनाएं (पूर्वी क्षपः) बढ़ावें (वर्धानः)
पुनः रात्रि के अर्थ में-
'तिस्रः क्षपः त्रिरहाति व्रजद्भिः'
ऋ. १.११६.४, तै.आ. १.१०.३.
तीन रात और दिन लगातार चलने वाले

क्षपावान् - क्षपा + वतुप् = क्षपावान् (१) रात्रियों का स्वामी चन्द्रमा (२) शत्रुनाशिनी सेना का स्वामी राजा ।
'स हि क्षपावान् अभवत् रयीणाम्'
ऋ. १.७०.५, अ. ७.१०.५
(३) जल क्षेपन शक्तियों से युक्त रात्रिवत्, अन्धकार करने वाला मेघ, (३) रात्रि दिन करने वाला सूर्य (४) किरणों के बीच तेज प्रकाश का प्रक्षेप्ता सूर्य ।
'स हि क्षपावान् सभगः स राजा'
ऋ. ३.५५.१७
पुनः
'नृणां नर्यो नृतमः क्षपावान्'
ऋ. १०.२९.१, अ. २०.७६.१.
(५) समस्त रजो विकारों को नाश करने वाली चितिशक्ति (क्षपा) का स्वामी आत्मा ।
(६) सोते समय भी पहरे दारों के समय मुख्य प्राण ।
(७) रमण कारिणी राजशक्ति का स्वामी,
(८) दोषों का नाशक चेतना शक्ति का स्वामी ।
(९) रात्रि के अन्धकार का नाश करने से रात्रि का स्वामी अग्नि ।
(१०) अज्ञानमयी मोह रात्रि का नाशक परमेश्वर ।
'सहिक्षपावां अग्नी रयीणाम्'
ऋ. १.७०.५
वह रात्रि स्वामी अग्नि या परमेश्वर अपने उपासकों को ऐश्वर्य प्रदान करता है ।

(११) सोमभागी । क्षमा का अर्थ सोम मान कर सायण ने इसका अर्थ सोमभागी किया है, (१२) क्षपा का अर्थ काल रात्रि मानकर श्री जयदेव शर्मा ने इसका अर्थ कालरात्रि का निर्माता परमेश्वर किया है ।

'नृणां नर्यो नृतमः क्षपावान्'

ऋ.१०.२९.१, अ. २०.७६.१

क्षपा – (१) रात्रि, (२) शत्रुनाशिनी सेना, (३) रजोविकारों को नाश करने वाली चितिशक्ति, (४) रमण कारिणी राजशक्ति, (५) दोषों का नाशक चेतनशक्ति, (६) अज्ञानमयी मोह रात्रि, (७) सोम । (८) कालरात्रि

क्षपांवस्ता – (१) रात्रि को अपने तेज से आच्छादित करने वाला–इन्द्र, परमेश्वर (२) राष्ट्र की नाशक शक्तियों को अपने तेज से आच्छादित करने वाला ।

'क्षपां वस्ता जनिता सूर्यस्य'

ऋ. ३.४९.४

क्षम् – (१) पृथिवी ।

'दर्श रथ मधि क्षमि'

ऋ. १.२५.१८

रथ पर चढ़ (रथम् अधि) इस पृथिवी पर (क्षमि) सबके दर्शनीय (दर्शम्) परमेश्वर को...।

(२) क्षमा ।

'ये वृक्णासो अधिक्षमि'

ऋ. ३.८.७

पुनः, पृथिवी के अर्थ में–

'अधिक्षमि प्रतरं दीध्यानः'

ऋ. १०.१०.१, अ. १८.१.१

क्षम्य – (१) क्षमायोग्य, (२) इस पृथिवी पर रहने योग्य (३) क्षमा अर्थात् पृथ्वी से प्राप्त होने वाला क्षेत्र सेना, पशु, हरित आदि का ।

'यः पार्थिवस्य क्षम्यस्य राजा'

ऋ. २.१४.११

'सहि क्षयेण क्षम्यस्य जन्मनः'

ऋ. ७.४६.२

क्षम्यं वसु – पृथिवी का धन ।

'अध्वर्यवो यो दिव्यस्य वस्वो
यः पार्थिवस्य क्षम्यस्य राजा'

ऋ. २.१४.११.

हे अध्वर्युवो ! जो इन्द्र द्युलोक, अन्तरिक्ष तथा पृथिवी के धनों का राजा है ।

क्षमा – (१) सब कुछ सहने वाली पृथिवी

'क्षमां भूमिं ब्रह्मणा वावृधानम्'

अ. १२.१.२९

क्षमाचर – पृथिवी पर विचरने वाला ।

'नीलग्रीवाः शितिकण्ठाः सर्वा अधः क्षमाचरा

वाज.सं. १६.५७, तै.सं. ४.५.११.१.

क्षय – क्षि + अच = क्षय । (१) निवास, (२) ऐश्वर्य, (३) वृष्टि आदि ऐश्वर्य, (४) व्यवहार (५) रोगनाशक सामर्थ्य ।

'सहि क्षयेण क्षम्यस्य जन्मनः'

ऋ. ७.४६.२

(६) निवास स्थान, पृथिवी ।

'त्वा विष्णु बृहत् क्षयः'

ऋ. ८.१५.९, अ. २०.१०६.३

निवास के अर्थ में ।

'अर्यो मानस्य स क्षयः'

ऋ. ८.६३.७

समस्त जगत् का ईश्वर (अर्यः) तथा दर्प, बल और वीर्य का निवास (मानस्यक्षयः) ।

(७) ऐश्वर्य ।

'त्वं हि राधस्पते राध सोमहः क्षयस्यासि विधतः

ऋ. ८.६१.१४

(८) गृह, घर,। 'क्षि' (निवास और गति अर्थ में है) + घ = क्षय क्षियन्ति निवसन्ति अस्मिन् (इसमें रहते हैं निवास करते हैं) ।

'अञ्जन्ति त्वामध्वरे देवयन्तो
वनस्पते मधुना दैव्येन
यदूर्ध्वस्तिष्ठा द्रविणोह धत्ताद्
यद्वा क्षयो मातुरस्या उपस्थे'

ऋ. ३.८.१, मै.सं. ४.१३.१, १९९, का.सं. १५.१२, तै.ब्रा. ३.६.१.१ , नि. ८.१८.

हे खदिर या पलास के यूप (वनस्पते) तुझे अध्वर्युजन (देवयन्तः) देवसम्बन्धी घृत से (दैव्येन मधुना) सिक्त या मृष्ट करते हैं (अञ्जन्ति) जिससे तू सीधा खड़ा रहे (ऊध्वःतिष्ठा) और इस माता पिता पृथिवी की गोद में तेरा निवास हो (मातुः अस्याः उपस्थे क्षयः) । इस प्रकार स्थिर हो तू हमारे लिए धन दे (द्रविण इह धत्तात्) ।

अन्य अर्थ – हे गार्हपत्याग्नि (वनस्पते) ! अपने में देव भाव की कामना करते हुए गृहस्थ लोग (देवयन्तः)तुझे हिंसारहित बलि वैश्वदेव यज्ञ में (त्वां अध्वरे) मिष्टान्न और घृत के साथ प्रकाशित करते हैं (मधुना दैव्येन अञ्जन्ति) क्योंकि यदि तू आहवनीय के रूप में ऊंची (यत् ऊध्वः तिष्ठाः) और यदि इस भूमि पर तेरा निवास होगा अर्थात् दक्षिणाग्नि के रूप में निम्न ज्वालाओं के साथ प्रदीप्त होगा (यद्वा अस्यमातुः उपस्थेक्षयः) तो इन दोनों रूपों में तू हमें धन देगा (इह द्रविणा धत्तात्) ।

क्षयण – गृह बनाने वाला ।

'नमः किंशिलाय च क्षयणाय च'

वाज.सं. १६.४३, तै.सं. ४.५.९.१, मै.सं. २.९.८, १२६.७, का.सं. १७.१५.

क्षयद्वीरः – (१) शत्रुओं या अधीन रहने वाले वीरों का स्वामी, ।

'क्षयद्वीरः स साधते'

ऋ. ८.१९.१०.

(२) क्षयन्तः शत्रूणां नाश कर्त्ता रो वीराः यस्य सेनाध्यक्षः-(दया.) । वह सेनापति जिसके वीर शत्रुओं के नाशक हो ।

'क्षयद्वीरं पूषणं सुम्नैरीमहे'

ऋ. १.१०६.४

(३) दोषनाशक वीर पुरुषों का स्वामी (४) शत्रुओं का नाशकारी, (५) ऐश्वर्य् युक्त वीर पुरुषों का स्वामी, (६) रुद्र का एक विशेषण ।

'क्षयद्वीराय प्रभरामहे मतीः'

ऋ. १.११४.१, वाज.सं. १६.४८, तै.सं. ४.५.१०.१, मै.सं. २.९.९, १२७.९, का.सं. १७.१६.

क्षयन् – क्षि (निवासकरना) + शतृ = क्षयत् । प्र. ए.व. में क्षयन् । अर्थ – निवास करता हुआ या करने वाला ।

'प्र तत् ते अद्य शिपिविष्ट नाम
अर्यः शंसामि वयुनानि विद्वान्
तं त्वा गृणामि तवसमतव्यान्
क्षयन्तमस्य रजसः पराके ।'

ऋ. ७.१००.५, साम. २.९७६, तै.सं .२.२.१२.५, मै.सं. ४.१०.१, १४४.६, का.सं. ६.१०, नि. ५.९.

हे रश्मियों से आविष्ट विष्णुदेव (शिपिविष्ट) तेरा व शिपिविष्ट नाम श्रेष्ठ है (तत् ते नाम अर्यः) यह स्मरण कर तथा तेरे प्रज्ञानों एवं गुणों को जानता हुआ मैं (वयुनानि विद्वान्) आज तेरी स्तुति करता हूँ (अद्य प्रशंसामि) । जो तू सर्वगुण सम्पन्न ईश्वर है उस तुझ महान् तथा इस अन्तरिक्ष से भी दूर देश में बसने वाले को (तंत्वा तवसम् अस्य रजसः पराके क्षयन्तम्) मैं क्षुद्र या अमहान् (अतव्यान्) स्तुतियों से प्रणाम करता हूँ (गृणामि) ।

अन्य अर्थ – हे तेजः स्वरूप विष्णु परमेश्वर (शिपिविष्टः), विज्ञानों को जानता हुआ वाचस्पति मैं (वयुनानि) आज मैं तेरे उस प्रसिद्ध ऊं नाम को जपता हूँ (अद्य तत् ते प्रशंसामि) और इस जगत् से दूर पृथक् रहते हुए (अस्य रजसः पराके क्षयन्तम्) महाशक्तिशाली उस तुझको (तवसं तम्) अल्पशक्तिवाला मैं (अतव्यान्) भजता हूँ (गृणामि) ।

अथवा, हे परमेश्वर ! तू ईश्वर है (अर्यः) । अतः मैं विज्ञानों को जानता हुआ उस ओम् नाम को भजता हूँ ।

क्षरन्ती – बहती हुई ।

'बाढे अश्विना त्रेधाक्षरन्ती'

ऋ. १.१८१.७

क्स – संज्ञाप्रयोजक प्रत्यय । नाम बनाने के लिए इस प्रत्यय का प्रयोग होता है । जो गाह् + क्स के योग से बना है ।

काकः – धृष्टता आदि दोषों के कारण को कुत्सित समझा जाय वह काक है (धाष्ट्र्यादि दोष समुच्चयेन यः कुत्स्यते स काकः) । काक शब्द पक्षियों आदि के शब्द की अनुकृति है (काक इति शब्दानुकृतिः) । 'का' 'का' करने से काक कहलाया । पक्षियों का नाम करण प्रायः शब्दानुकृति से पाया जाता है । (तदिदं शकुनिषु बहुलम्) । परन्तु औपमन्यव इस सिद्धान्त का पोषण नहीं करते क्योकि हंस आदि नामों में शब्दानुकृति नहीं है ।

(२) अतः काकः अपकालयि तव्यः अपसारितव्यः (काक को भगाना चाहिए) इस अर्थ में काक शब्द बना है । काक जिस किसी पदार्थ को छूता है वह अपवित्र हो जाता है । अतः उसे लोग भगा देते हैं (यतं यत् स्पृशति

तत् तत् उपहन्ति) । काल + कन् = काक आधुनिक अर्थ - काग, धृष्ट या दुष्ट पुरुष, लंगड़ा, पानी में सिर्फ सिर डालकर ही स्नान करने वाला ।

काकं वीरः - कांक + वीर (१) काका आदि का नाना पक्षियों का भरण पोषण करने वाला वट वृक्ष आदि (२) क्षुद्र या छोटे जनों का पालक पुरुष

'मा काकम्बीरमुद् वृहो वनस्पति'

ऋ. ६.४८.१७

काकुद - (१) सब में श्रेष्ठ, (२) समस्त दिशाओं में व्याप परमेश्वर ।

'उर्वीरापो न काकुदः'

ऋ. १.८.७, अ. २०.७१.३

(३) तालु (काकुदं तालु इति आचक्षते)

'अनु क्षरन्ति काकुदम्'

ऋ. ८.६९.१२, अ. २०.९२.९, मै.सं. ४.७.८, १०४.१२, नि. ५.२७.

कोकुवा या जिह्वा इसी तालु में वर्णोच्चारण के लिए बार बार आता है । अतः यह 'तालु' का पर्याय हुआ (जिह्वा कोकुवा सा अस्मिन् धीयते) । कोकुवा -धारण अर्थात् कोकुवा के रहने का स्थान 'काकुद' बना ।

(४) या जिह्वा तालु पर वर्णों को प्रेरित करती है । अतः कोकुवानुद् काकुद बन गया।

(५) अथवा शब्दार्थक षङ्लुगन्त 'कु' धातु से 'द' प्रत्यय लगा कर काकुद हुआ । तालु पर ही जिह्वा के लगने से वर्णोच्चारण होता है ।

काचित्करः - अति सुख कारी । 'कम्' सुख वाचक है । कस्यचित् करः काचित्करः ।

'प्रियं काचित्करं हविः'

ऋ. १०.८६.१३, अ.२०. १२६. १३, नि. १२.९.

कस्यचित् का अर्थ है सुख का संघ (चित्) । अर्थ हुआ सुखकारक

काट - (१) गढ़ा ।

'श्लोण या काटमर्दति'

अ. १२.४.३

(२) कटन्ति सर्वा विद्याः यस्मिन् स अध्यापकः -(दया.)

(३) कूप आदि -गिर जाने का विषमस्थान ।

'इन्द्रं कुत्सो वृत्रहणं शचीपतिं काटे निवाढ़ ऋषि रह्वदूतये'

ऋ. १.१०६.६

कूप आदि गहरे स्थान में (काटे) गिरे हुए (निबाढ़ः) कुत्स ऋषि ने शचीपति वृत्रहा इन्द्र को रक्षा के लिए बुलाया (कुत्सः ऋषि इन्द्रं वृत्रहणं शचीपतिम् ऊतये अह्वत्) ।

अन्य अर्थ- विद्युत् वेग से जाने वाली होकर कूप आदि गहरे स्थान में गिरता हुआ मेघों को छिन्नभिन्न करनेवाले शक्ति या समस्त कर्मों के पालक जलों के भीतर उनको फाड़ने में समर्थ तेज को प्रकट करता है । अथवा, विद्युत् आदि विद्याओं को प्रकट करने वाला (कुत्सः) निरन्तर ज्ञानवान् होकर यन्त्रार्थों और सत्यसिद्धातों का साक्षात् करने वाला, कूप आदि गिर जाने के विषम स्थान में (काटे) अज्ञानान्धकार और वाणियों के पालक, विद्या ज्ञान और धन के स्वामी परमेश्वर, आचार्य और नायक पुरुष, को रक्षा तथा ज्ञान आदि की वृद्धि के लिए पुकारता है ।

काट्य - (१) 'कट' अर्थात् चटाई आदि बनाने में प्रवीण

'नमः काट्याय च गह्वरेष्ठाय च'

वाज.सं. १६.४४, तै.सं. ४.५.९.१, मै.सं. २.९.८, १२६.१२, का. सं. १७.१५

काण - (१) कुत्सित शब्दकारी, कुत्सित दर्शन, (३) काना, (४) अविक्रान्त दर्शन

'नमः काट्याय च नीप्याय च'

वाज.सं. १६.३७, तै.सं. ४.५.७.१, का.सं. १७.१५. (औपमन्यव के मत से) (५) अपूर्ण दर्शन (जो पूरा न देखे) (६) अणु दर्शन (कम देखने वाला), (७) निर्धन, ।

क्रम् + घञ् = क्राम = काण । अथवा -(८) कण (कम करना) अणूभाव तथा शब्द का कम करना शब्दाणूभाव है । किसी पदार्थ मात्रा के अणूभाव में भी कण धातु का प्रयोग होता है जैस अन्न का कण देखने की शक्ति में कम होने के कारण काण शब्द बना है ।

कण (कण होना) + घञ् = काण ।

काण्ड - काण्ड, गिरह ।

'काण्डात् काण्डात् प्ररोहन्ती'

वाज.सं. १३.२०, तै.सं. ४.२.९.२, ५.२.८.३, मै.सं.

२.७.१५, ९८.१३, ३.२.६: २४.१९, का.सं. १६.१६, २०.६, श.ब्रा. ७.४.२.१४, तै.आ. १०.१.७, आप.श्रौ.सू. १६.२४.१, मा.श्रौ.सू. ६.१७, शां.गृ.सू. ६.६.९, महा.ना.उप. ४.३.

काण्डिनी - काण्ड या पोरुओं वाली ओषधि ।
'*अंशुमतीः काण्डिनीर्या विशाखाः*'
अ. ८.७.४

काण्व - (१) काण्व मेधातिथि नामक ऋषि-सा. (२) मेधावी -(दया.)
'*इत्था धीवन्तमद्रिवः*
काण्वं मेध्यातिथिम्'
'ऋ. ८.२.४०.
हे वज्रधारी इन्द्र या राजन्! (अद्रिवः) इस प्रकार या सत्यवक्ता (इत्था) कर्मशील या बुद्धिमान् (धीवन्तय) काण्व मेधातिथिको या मेधावी तथा संगति के योग्य अतिथि को (काण्वं मेधातिथिम्) ।
(३) कण्व का पुत्र ।

काणा - (१) चक्षुहीन गौ, (२) निरुक्त व्याकरणादि व्याख्या के बिना वेदवाणी ।
'*काणयादीयते स्वम्*'
अ. १२.४.३
(३) दुर्भिक्ष आदि देवता के विशेषण के रूप में प्रयुक्त अर्थ है - कुत्सित दर्शना, कुत्सित दीखने वाली, (४) एक आंख वाला ।
'*अरायि काणेविकटे*'
ऋ. १०.१५५.१, नि. ६.३०
हे अदानशीले ! दुर्भिक्षादि देवते ! हे कुत्सित दर्शने और हे विकृताङ्गि या कुब्जे ।

काण्वायन - कण्व या विद्वान् जनों के अधीन ।
'*सुदेवाः स्थ काण्वायनाः*'
ऋ. ८.५५.४

आणुका - (१) कान्तकानि कमनीयानि प्रियाणि । अर्थ प्रिय, कामुक, इच्छुक, प्रेमी । कान्त + क = काणुकः । कृत + क काणुकः । यहां कान्त और कृत का काणु आदेश हुआ है ।
(२) सम्यक् प्रकार से किया गया पदार्थ 'काणुक' है-कमनीय हो जाता है । (३) सोमरस तैयार किए जाने पर काणुक कहलाता है (४) जिस बर्तन में सोमरस रखा जाता है वह भी काणुक है (५) सुन्दर, पवित्र, निर्मल (६) इन्द्र का विशेषण भी है
'*एकया प्रतिधापिबत्*
साकं सरांसि त्रिंशतम् ।
इन्द्रः सोमस्य काणुका ।'
ऋ. ८.७७.४, नि. ५.११.
एक ही प्रणिधान में या झोंके में इन्द्र सोमरस के तीस सुन्दर बर्तनों को पी जाता है ।
अथवा, सूर्य एक ही टिकाव से पक्ष के तीस दिन रात में आई प्रदीप्त निर्मल रश्मियों को पीता है ।
अथवा, सूर्य चन्द्रमा की रश्मियों को इच्छा भर पीता है (काणुका अपिबत्)
पुनः- कान्तकानि, क्रान्तकानि, कणेधात इतिवा, कणेहत, कान्ति हतः, इच्छा कृतकानि इतिवा .
इन्द्रः सोमस्य कान्त इति वा
कान्तियुक्त, दूरगत, कृतव, कृत्रिम्,सूर्य का विशेषण, कन्नी काटना, कान्ति, इच्छा-प्रतिघात ।

कान्दाविष - कन्दो का विष ।
'*कान्दाविषम् कनक्नकम्*'
अ. १०.४.२२

कानीतः - तेजस्वीपुरुष ।
'*पृथुश्रवसि कानीतेऽस्या व्युष्पददे*'
ऋ. ८.४६.२१

कानीन - दीप्ति का पुत्र ।
'*सिलाचीनाम कानीनः*'
अ. ५.५.८

काबव - हिसंक जन्तु ।
'*श्रवस्युं शुष्मं काबवम्*'
अ. ३.९.३

काभूः - (१) जलमयी पृथिवी, (२) कौन कारण ? (३) पृष्ठ भूमि ।
'*कया भुवा नि दधे धेनुरूधः*'
ऋ. ३.५५.१३, १०.२७.१४.

काम - (१) करन्तिमान, (२) सर्वसंकल्पमय ईश्वर ।
'*कामो जज्ञेप्रथमः*'
अ. ९.२.१९
(३) सृष्टि उत्पन्न करने की इच्छा (४) समष्टि संकल्प ।
'*कामस्तदग्रे समवर्तताधि*'

ऋ. १०.१२९.४, अ. १९.५२.१, तै.ब्रा. २.४.१.१०, ८.९.४, तै.आ. १. २३.१, नृसिंहपू.ता.उप. १.१.

(५) इच्छा ।

'सो अस्य कामं विधतो न रोषति
मनो दानाय चोदयन्'

ऋ. ८.९९.४, अ. २०.५८.२.

वह परमात्मा इस परिचर्या करने वाले भक्त की इच्छा को, अपने मन को दान के लिए प्रेरित करता हुआ भंग नहीं करता ।

कामकातिः - अपनी नाना अभिलाषाओं को कहने वाला ।

'अवृत्रन् कामकातयः'

ऋ. ८.९२.१४, तै.सं. १.४.४६.१, आप. मं.पा. २.११.७.

कामज्येष्ठः - संकल्प के कारण ज्येष्ठ और श्रेष्ठ पुरुष ।

'कामज्येष्ठा इह मादयध्वम्'

अ. ९.२.८

काम धारण - अभिलाषा को पूर्ण करने का सामर्थ्य ।

'संज्ञानमसि कामधरणम्'

वाज.सं. १२.४६, तै.सं. ४.२.४.१, मै.सं. २.७.११, ८९.६, का.सं. १६.११, श.ब्रा. ७.१.१.८, तै.ब्रा. १.२.१.१७.

कामप्रः - (१) मनोरथों का पूर्ण करने वाला ।

'कामप्रश्छन्दसा सह'

अ. ११.७.८

'कामप्रेण स कल्पते'

अ. १०.९.४

'कामप्रेणेव मनसा चरन्ता'

ऋ. १.१५८.२

एक दूसरे के मन की अभिलाषा को पूर्ण करने वाले मन से परस्पर आचरण करते हुए ।

काममूता - काम से युक्त ।

'काममूता बहु एतत् रपामि'

ऋ. १०.१०.११, अ. १८.१.१२.

कामशल्या - जिसमें काम का शल्य लगाया गया हो ।

'आधीपर्णाम् कामशल्याम्'

अ. ३.२५.२

काम्य - (१) एक पक्षी विशेष, (२) कामना वाला पुरुष, (३) एक राजा का नाम (ग्रिफिथ के अनुसार) (४) कामान्ध, (५) श्येन नामक पक्षी, (६) चक्रवाक् (७) कबूतर (८) चटकेरा ।

'यं वा त्वा कुष्ठ काम्यः'

अ. १९.३९.९

(९) अत्यन्त सुन्दर, उत्तम ।

'ऊर्ध्वा नः सन्तु कोम्या वनानि'

ऋ. १.१७१.३

(१०) कमनीय ।

'भरन्ती मे अप्या काम्यानि'

ऋ. १०.९५.१०, नि. ११.३६.

अन्तरिक्ष में उत्पन्न हमारे कमनीय जलों को लाती हुई माध्यमिका वाक् उर्वशी ।

कामिना - एक दूसरे के प्रति प्रेम अभिलाषा वाले कुमार कुमारी

'कामिना सं च वक्षथः'

अ. २.३०.२

कामी - कामना करने वाला । इन्द्र का विशेषण ।

'कामीहि वीरः सदमस्य पीतिं
जुहोत वृष्णे तदिदेष वष्टि ।'

ऋ. २.१४.१

वह तेजस्वी पुरुष कामनावान् है । सदा वह अन्न रस का सेवन चांहता है । अतः इसी अन्न को बलवीर्य् सम्पन्न बनाने के लिए या (सायण के अनुसार) इन्द्र के लिए अर्पित करो ।

काम्पील वासिनी - (१) सुन्दर सुखप्रद शोभा जनक वस्त्रों से ढकी सुन्दरी स्त्री, (२) सुखों से बांधने वाले पति को अपने ऊपर बसाने में समर्थ स्त्री (३) सुखों से बांधने वाले राष्ट्रपति को अपने ऊपर बसाने में समर्थ पृथिवी, (४) काम्पील नगर में होने वाली सुभगा, सुरूपा, विदग्धा स्त्री-उव्वट । काम्पील नगेरहि सुभगा सुरुपा विदग्धा स्त्रियो भवन्ति, (५) काम्पील नामक वस्त्र-विशेष को धारण करने वाली स्त्री- सा. । काम्पील शब्देग वस्त्र विशेष उच्यते तत् वस्त्रम् आच्छदयति इति काम्पीलवासिनी (६) श्रृंगार के लिए विचित्र वस्त्र पहने हुई-स्त्री सा. । (७) कं सुखं पीलयति बध्नाति इति कम्पील स्वार्थे अण् । तं वासयितुं शीलमस्याः लक्ष्मी-दया. (८) कं प्रजापतिं पीड़यति । लत्वं छान्दसम् । (९) सुखेन बध्नाति

आश्लिष्यति यः स काम्पीलः (पृषोदरादित्वात् साधुः) तं वासयति तदधीनं वा वसति या सा काम्पील वासिनी स्त्री । तत्सादृश्पाच्च राज्यलक्ष्मीः ।

'ससस्त्यश्वकः सुभद्रिवां काम्पीलवासिनीम्'

वाज.सं. २३.१८

कायमानः – (१) चाहता हुआ, कान्तिमान् । कामयमान =कायमानः । म का लोप छान्दस है । (२) चायमानः (पश्यन्)-देखता हुआ) = कायमानः । यहां भी च का क छान्दस है । चायृ धातु पूजा और निशामन अर्थ में आया है (चाय पूजानिशामनयोः) चाय + शानच् = चायमान = कायमान, (३) अनुगच्छन् (अनुगमन करता हुआ) (४) प्रशस्त पदार्थों का निर्माता ।

'कायमानो वना त्वं
यन्मातृरजगन्नपः'

ऋ. ३.९.२, साम. १.५.३, नि. ४.१४, मा.श्रौ.सू. ३.८.१.

हे अग्ने ! जब तू वनों को देखता या उनकी इच्छा करता हुआ अपनी उत्पत्ति के कारण माता स्वरूप जल एवं काष्ठों के पास जाता है ।

कार – (१) परमेश्वरीय नाना शिल्प, (२) कर्त्ता, विश्व निर्माता परमेश्वर ।

'पश्वमन्त्रासो अभिकारमर्चन्'

ऋ. ४.१.१४

(२) क्रिया-सामर्थ्य ।

'चकर्थ कारमेभ्यः पृतनासु प्रवन्तवे'

ऋ. १.१३१.५, अ. २०.७५.३

(३) कार्य कुशल पुरुष

'याभिः भरे कारमंशाय जिन्वथः'

ऋ. १.११२.१

हे अश्विनो ! स्त्रीपुरुषों के या राजा प्रजा वर्गों ! आप दोनों जिन रक्षाओं के निमित्त या जिन रक्षा साधनों से युक्त होकर (याभिः) संग्राम में (भरे) अपने भाग के लिए (अंशाय) कार्य कुशल पुरुष को (कारम्) सुप्रसन्न करते हो (जिन्वधः)। (४) व्यवहार ।

काराधुनिः – (१) शब्दो को कंपाता हुआ -दया. (२) नक्कारा, (३) शब्दध्वनि करने वाला मेघ

'काराधुनीव चितयत् सहस्रैः'

ऋ. १.१८०.८

कारि – नकल उतारने वाला ।

'हसाय कारिम्'

वाज.सं. ३०.६, ३०.२०, तै.ब्रा. ३.४.१.२.

कारिन् – (१) कार्य कर्त्ता, (२) भृत्य ।

'भगस्येव कारिणो यामनिग्मन्'

ऋ. ३.५४.१४

(३) सर्वकर्त्ता-इन्द्र, परमेश्वर ।

'हुवे भरं न कारिणाम्'

ऋ. ८.६६.१, साम. १.२३७, २.३७.

कारुः – कृ + उण = कारु ('अचोञ्णिति' से वृद्धि) । अर्थ है (१) करने वाला, कर्त्ता, (२) स्तुति करने वाला -सा. (३) कर्म निष्ठ ।

'आते कारो शृणवामा वचांसि'

ऋ. ३.३३.१०, नि. २.२७.

हे स्तुति करने वाले (विश्वामित्र) हम तेरी बातों को ध्यान से सुनते हैं । (४) चाटुकार, खुशामदी ।

'कारुरहं ततो भिषक्
उपलप्रक्षिणी नना'

ऋ. ९.११२.३, नि. ६.६.

मैं चाटुकारिता से जीवन बिताता था । पिता या पुत्र वैद्य थे, माता या लड़की पिसाई कर जीविका चलाती थी ।

कारुधायाः – (१) समस्त विश्व के विधायक जगदुत्पादक सामर्थ्यों, स्तुतिकर्त्ता विद्वानों और शिल्पियों को भी धारण करने वाला ।

'अथा भवः पूर्व्यः कारुधायाः'

ऋ. ३.३२.१०

(२) विद्वानों, एवं शिल्पियों का धारण पोषण करने वाला ।

'त्वमसि प्रदिवः कारुधायाः'

ऋ. ६.४४.१२.

(३) विद्वान् स्तोता, तथा शिल्पियों का पालक पोषक-इन्द्र, ईश्वर,

'ब्रह्मण्यतो वीर कारुधायः'

ऋ. ६.२१.८

कारू – कृ + उण् = कारु । द्विवचन में कारू । अर्थ (१) स्तुति करने वाले (२) अग्नि और आदित्य, (३) अनेक कर्म करने वाले अग्नि और वायु ।

'दैव्या होतारा प्रथमा सुवाचा

मिमाना यज्ञं मनुष्यो यजध्यै
प्रचोदयन्ता विदथेषु कारू
प्राचीनं ज्योतिः प्रदिशा दिशन्ता ।'

ऋ. १०.११०.७, अ. ५.१२.७, वाज.सं. २९.३२, मै.सं. ४.१३.३, २०२.७, का.सं. १६.२०, तै.ब्रा. ३.६.३.३, नि. ८.१२.

देवताओं के होता अग्नि और आदित्य (दैव्या होतारा), जो मनुष्य होताओं से प्रथम अर्थात् मुख्य या बढ़कर है (प्रथमा) और जो सुस्तुत अर्थात् सुन्दर स्तुतियों से युक्त हैं (सुवाचा) मनुष्य या स्वर्ग या यष्टा की पूजा के निमित्त (मनुषः यजध्यै) प्रेरणा करते हुए (प्रचोदयन्ता) अतएव यज्ञ का निर्माण करते हुए (यज्ञं मिमाना) यज्ञों में (विदथेषु) स्तुति करने वाले (कारू) आहवनीय अग्नि को प्रदिश्यमान मन्त्र से (ज्योतिः प्रदिशा) प्रदिशत करते हुए (दिशन्ता) स्वभाव से ही यज्ञ में सहायता पहुँचाते हैं । अग्नि एवं आदित्य ही विश्व के सम्पूर्ण यज्ञों के प्रेरक एवं विधायक हैं ।

अन्य अर्थ - मनुष्य जीवन के लिए मुख्य (प्रथमा) वाणी आदि इन्द्रियों को उत्तम बनाने वाले (सुवाचा) प्रत्येक मनुष्य के यज्ञ कार्य के लिए यज्ञ के निर्माता (मनुष्यः यजध्यै यज्ञं मिमाना) यज्ञों में (विदथेषु) शुभ कर्मों की ओर प्रेरित करने वाले (प्रचोदयन्ता) अनेक कर्मों को सिद्ध करने वाले (कारू) और वेदोक्तविधि के अनुसार प्राचीन ज्योति ही अर्थात् पूर्व की ओर हो (प्रदिशा प्राचीनं ज्योतिः दिशन्ता) दिव्यगुण-सम्पन्न सुख दाता अग्नि और वायु हमारे इस यज्ञ को सम्पन्न करें (दैव्या होतारा) ।

कारोतर - (१) कार + उ + तर = कारोतर । व्यवहारान् कुर्वतः शिल्पिनः तरन्ति येन (जिससे शिल्पी तर्क के साथ पार करते हैं) -दया. (२) जल बरसाने वाला छनना ।

(३) हृदय और फुसफुसों का जोड़ा जो अश्व के खुरों के आकार के हैं और रक्त शोधक छनना हैं ।

'कारोतरात् शफादश्वस्य वृष्णः
शतं कुम्भान् असिञ्च तं सुरायाः'

ऋ. १. ११६.७

हे दोनों नायक पुरुषों ! घोड़े के खुर के आकार के बने मेघ के समान जल नीचे बरसाने वाले 'कारोतर' अर्थात् छनने से (वृष्णः कारोतरात्) जल के समान सुख, शान्ति और आनन्द देने वाली विद्यारूप रस के सैकड़ो कलश सेचन करो अर्थात् उसे विद्या स्नातक और व्रतस्नातक करो ।

अथवा, देह में हृदय और फुसफुसों का जोड़ा अश्व के खुरों के आकार का होने से रक्त शोधक छनना है (कारोतर) । उससे रक्त के सहस्रों कुम्भ अर्थात् कोष्ठ या सेतों से सेचित किए जाते हैं । अथवा, वर्षणशील मेघ के संघ से जल के सैकड़ो घड़े मानों छलनी से सहस्र धारा के रूप में बरसते हैं । (४) कूप, (५) उत्तम शिल्पी, (६) क्रियानिष्ठ पुरुष ।

'कारोतरेण दधतोगवां त्वचि'

वाज.सं. १९.८२, मै.सं. ३.११.९, १५३.६, का.सं. ३८.३, ब्रा. २.६.४.२.

(७) छनना,(८) सार और असार पदार्थों का विवेचक ।

'रूपं कारोतरो भिषक्'

वाज.सं. १९.१६

कार्पाण - कृपाण, तलवार आदि शस्त्रास्त्रों से होने वाला संग्राम ।

'कार्पाणे शूर वज्रिवः'

ऋ. १०.२२.१०

कार्मार - (१) शिल्पी , कारीगर, ।

'कार्मारो अश्मभिर्द्युभिः'

ऋ. ९.११२.२

(२) स्वर्ण कार, सोनार । जैसे चमकते हीरे से (द्युभिः अश्मभिः) सोनार (कामरिः) धनी सेठ को (हिरण्यन्तम्) चाहता है (इच्छति) ।

कार्ष्मज् - संघर्षण, शत्रुपीड़न का कार्य ।

'कार्ष्मन् वाजी न्यक्रमीत्'

ऋ. ९.३६.१

कार्ष्म - काठ का पीढा ।

'आ वां रथं दुहिता सूर्यस्य
कार्ष्मे वा तिष्ठ दर्वता जयन्ती'

ऋ. १.११६.१७

सूर्य की उषा के समान, उत्तम तेजस्विनी बाप की बेटी, काठ के पीढ़े के समान उच्च घोड़े से जुते रथ पर विराजे ।

कार्षि – कृषि कराने में समर्थ ।
'*कार्षिरसि समुद्रस्य त्वा क्षित्या उन्नयामि*'
वाज.सं. ६.२८, श.ब्रा. ३.९.३.२७.

कार्ष्णी – (१) कृष्ण गौ, (२) कृषि की जाने योग्य भूमि, ।
(३) तमोमयी प्रकृति ।
'*कः कार्ष्णर्याः पयः*'
अ. २०.१३०.४

कार्षीवणः – कृषि + वन । अर्थ । (१) कृषि करने वाला, (२) शूद्र, कर्मकर –
'*कार्षीवणा अन्नविदो न विद्यया*'
अ. ६.११६.१

काल – (१) काल, (२) सर्वज्ञ, (३) सर्व व्यापक महान् परमेश्वर (४) कलारूप इञ्जिन ।
'*कालो अश्वो वहति सप्तरश्मिः*'
अ. १९.५३.१
(४) कल (गति, संख्या अर्थ में) + णिच् + घञ् = काल । अर्थ- काल जो सभी जीवों को क्षय की ओर ले जाता है (स हि सर्वाणि भूतानि कालपति क्षयं नयति) ।
आधुनिक अर्थ- समय, मृत्यु, महाकाल, यम, कृष्ण ।
'*कालोमृत्यौ महाकाले समय यम कृष्णयो*'

कालकर्ण – द्रर्भिक्ष । कालं सुकालं कृनाति इति काल कर्ण (जो सुकाल को नष्ट करता और दुष्काल लाता है) ।

कालका – (१) यथा काल ऋतु के अनुसार फल प्राप्त करने वाला, (२) एक पक्षी ।
'*गोधा कालका दार्वघाटस्ते वनस्पतीनां*'
वाज.सं. २४.३५, तै.सं. ५.५.१५.१, मै.सं. ३.१४.१६, १७५.१२, का .सं.(अश्व). ७.५

कालकाञ्जाः – (१) कालकाञ्ज नामक तारे जो मृगशिरा नक्षत्र मण्डल में होते हैं ।
(२) चेतनाशील कञ्जपद्म, सहस्र कमल सूर्य ।
(३) मूर्धागत मस्तिष्क शक्ति के पत्रवत् हैं, ।
(४) मूर्धास्थल में विराजमान तीन प्राण की शक्तियां- चक्षु, वाणी और श्रौत्र ।
(५) कालकाञ्जा वै नामासुरा आसन् , ते सुवर्गा पलोकाय अग्निमचित्वत ।
तै.ब्रा. स इन्द्र इष्टकमावृहत् । ते अवाकीर्यन्त, ये अवाकीर्यन्त ऊर्णनाभयोऽभवन् , द्वावुदपतताम् तौ दिव्यौ श्वानाभवताम्
मृगशिरा नक्षत्र के तारे नेविला या मूलमेघ या नीहारिका से आवृत हैं । इन्हे ही तैत्तिरीय ब्राह्मण में 'ऊर्णनाभि' कहा है । उन में दोश्वा (कुत्ते) 'कैनिसमेजर' और कैनिस माइनर कहलाते हैं ।
(६) अध्यात्म में चेतनामय देह में कान, आंख, मुख, कालकाञ्ज हैं और इनके साथ दो प्राण-दो श्वान है,
(७) कालकाञ्ज नामक तीन असुर सत्कर्मवश देवता बनकर द्युलोक में है ।

कालयति – नाशं नयति (नष्ट करता है) काल के नाम धातु में लट् के प्र.पु.ए.व. का रूप ।

काव्य – (१) विद्वान् कवि का पुत्र या शिष्य, (२) कान्तदर्शी तेजस्वी राजा ।
'*आ गा आजदुशना काव्यः सचा*'
ऋ. १.८३.५, अ. २०.२५.५.
विद्वान् पुरुष का पुत्र या शिष्य सुशिक्षित तेजस्वी, सब प्रजा की हितकामना वाला पुरुष (उशनां) वेद वाणियों को (गाः) प्रकाशित करता है (आजत्) ।
अथवा, क्रान्तदर्शी, तेजस्वी राज्यलक्ष्मी का इच्छुक राजा भूमियों को प्राप्त करता है ।

काशि – (१) मुट्ठी ।
'*आप इव काशिना संगृभीताः*'
ऋ. ७.१०४.८, अ. ८.४.८.
काश् (प्रकाशन अर्थ में) + इन् = काशिन् । अर्थ मुष्टि। जो प्रकाशित किया जाय (प्रकाश्यः त इति काशिः)

'*उताभये पुरुहूत श्रवोभिः*
एकोदृढमवदो वृत्रहा सन् ।
इमे चिदिन्द्र रोदसी अपारे
यत्संगृभ्णा मघवन् काशिरित्ते'

ऋ. ३.३०.५
हे इन्द्र ! हे देवों से रक्षार्थ आहूत इन्द्र ! हे इन्द्र पुरूहूत) तू एक होता हुआ भी वृत्र का वध करने वाला हुआ (एकः सन् वृत्रहा) । जो तूने अभय होने के सम्बन्ध में देवताओं को वचन दिया है (अभये अवदः) वह सत्य ही है(दृढम्) और हे इन्द्र (मघवन्) जो तूने एक दूसरे से दूर स्थित इन द्यौ और पृथिवी को धारण किया है (यत्

अपारे इमे चित् रोदसी संगृभ्णा) इससे तेरी मुट्ठी अवश्य ही बड़ी मालूम पड़ती है (ते काशिः)।

अन्य अर्थ – और हे निर्वाचित राजन् (पुरुहूत), तू अद्वितीय दुर्जनघाती होता हुआ (एकः वृत्रहासन्) आत्मयज्ञों से (श्रवोभिः) अभय राष्ट्र में (अभये) अभयवाणी का उच्चारण करता है (दृढां अवदः)। हे राजन् (इन्द्र), जो तू इन अपार अन्तरिक्ष और पृथिवी का (यत् इमेचित् अपारे रोदसी) संग्रह करता है (संगृभ्णाः) धनपते तेरी मुट्ठी (काशिः) महान् है।

काव्य उशना– (१) मेधावी पुरुषों द्वारा शिक्षित पुत्र या शिष्य काव्य है और सर्ववशीकार में समर्थ उशना है। अतः अर्थ हुआ– वशीकार में समर्थ मेधावी पुरुषों द्वारा शिक्षित पुत्र या शिष्य, (२) गर्जन कारी मेघ से सम्पन्न, कान्तिमान, विद्युत्

काष्ठा – (१) दिशा, (२) दूर दूर देश की सीमा (३) क + आस्या –परम सुखदायी स्थिति, (४) गाष्ठा–काष्ठा। वेदवाणियों में परमस्थिति।

'अर्वन्तोन काष्ठां नक्षमाणाः'

ऋ. ७.९३.३, मै.सं. ४.११.१, १५९.१०, तै.ब्रा. ३.६.१२.१.

(५) क्रान्त्वा स्थिताः भवन्ति (जल जाकर–चलकर जलाशय में स्थिर होता है अतः काष्ठा कहलाता है)। अर्थ–जल।

'काष्ठानां मध्ये निहितं शरीरम्'

ऋ. १.३२.१०, नि. २.१६.

जलों के मध्य में निहित शरीर, क्रान्त्वा स्थिताः काष्ठाः = काष्ठा। (क्रान्त्वा का 'का' और स्थित्वा का 'स्था')

पुनः

'अधूनोत काष्ठा अव शम्बरं भेत्'

ऋ. १.५९.६, नि. ७.२३.

(६) उपदिशा, (७) आदित्य, क्योकि आदित्य अपनी परिधि में घूमकर स्थित है, (८) संग्राम प्रदेश क्योंकि यह कुछ दूर जाकर सीमित होता है, (९) स्थावर जल–तालाब, समुद्र आदि का खड़ा जल इधर उधर से बहकर स्थिर होता है (१०) चल जल भी काष्ठा है।

संग्राम के अर्थ में प्रयोग–

'काष्ठाया मध्ये द्रुघणं शयानम्'

ऋ. १०.१०२.९, नि. ९.२४.

(संग्राम के बीच पड़े हुए मुद्गर को...)

कास – (१) कास रोग, खांसी।

'मुञ्च शीर्षक्त्या उत कास एनम्'

अ. १.१२.३

पुनः–

'सह काशा वेपयः'

अ. ५.२२.१०

(२) चकास्ति इति कासा। प्रकाशमान। अर्थ–चितिशक्ति कौशिक ने इसका अर्थ कास रोग किया है और सायण ने भी। कौशिक ने इस सूक्त को सूर्योपस्थान के लिए भी लिखा है। पर श्री जय देव शर्मा ने इसे आत्मध्यान या ब्रह्मोपासना का मन्त्र माना है। चितिशक्ति की तीन साधनाएं हैं– मन की गति के अनुकूल उसे यथाभिमत विषय पर लाना, पृथिवी या मूल भाग में किसी अधिष्ठान में स्थिर करना और अन्त में परमात्मा के विशाल गुणों में लगा देना।

'एवा त्वं कासे प्रपत'

अ. ६.१०५.१–३

कासिका – खांसी।

'चस्य तक्मा कासिका हेतिरेकम्'

अ. ११.२.२२

पुनः–

'स्वप्ना कासिकया सह'

अ. ५.२२.१२

काहाबाह – कड़कड़ाने वाला रोग।

'काहाबाहं तवोदरात्'

अ. ९.८.११

क्याम्बू – (१) काई, (२) ज्ञान बल का धारक, (३) चितिशक्ति।

'क्याम्बूरत्र रोहतु'

अ. १८.३.६, तै.आ. ६.४.१.

क्राण – (१) सम्पन्न, (२) साधना करने वाला।

'उषर्बुधः स्वस्मिन् अञ्जसि क्राणस्य स्वस्मिन्नञ्जसि'

ऋ. १.१३२.२

(३) कुर्वाणः (करता हुआ)। कृ + शानच् = क्राणः (यण्)

'मन्दन्तु त्वामिन्दु मतिभिः सुते'

सुनीथासो वसूयवः ।
गोभिः क्राणा अनूषतः ।'

ऋ. १.१३४.२, नि. ४.१०.

हे इन्द्र ! सुन्दर स्तुति करने वाले (सुनीथासः) धनार्थी (वसीयवः) मेधावियों के द्वारा सोमरस के अभिसुत होने (पर सुते) तुझे अभिमुख करते हुए (त्वां क्राणा) स्तोत्रों से (गोभिः) स्तुति करते हैं (अनूषत)

अन्य अर्थ - हे परमेश्वर ! सुनीति पर चलने वाले विद्वान् (सुनीथासः) सबके निवासक आपकी कामना करते हुए (वसूयवः) संसार में ज्ञानपूर्वक वेदों से प्रतिपादित कर्मों को करते हुए (सुते मतिभिः गोभिः क्राणाः) आपकी स्तुति करते हैं (त्वाम् अनूषत) ।

क्राणा - (१) उत्पन्न करती हुई ।

'क्राणा यदानशे भगम्'

ऋ. ५.७.८

(२) पु. बनाने वाला ।

'क्राणा सिन्धूनां कलशाँ अवीवशत्'

ऋ. ९.८६.१९

(३) कृ + आनच् = क्राणा (आकारादेश) । अर्थ -कर्त्ता ।

'क्राणा रुद्रेभिः वसुभिः पुरोहितः'

ऋ. १.५८.३

वसुओं और रुद्रों द्वारा वश जाकर पुरोहित कर्त्ता जीवात्मा ।

क्रामति - क्रम् (पादविक्षेप करना) का 'क्रमः परस्मैपदेषु' से दीर्घ होता है । अर्थ है- 'पादौ विक्षिपति' (डेगों को डालता है) ।

क्षा - (१) पृथिवी ।

'अजोनक्षां दाधार पृथिवीम्'

ऋ. १.६७.५

पुनः

'विश्वासुक्षासु जोगुवे'

ऋ. १.१२७.१०, ५.६४.२.

समस्त भूमियों और चित्तभूमियों में (विश्वासु क्षासु) प्राप्त होने वाले परमेश्वर के लिए ।

(२) निवासस्थान-

'जातस्य च जायमानस्य च क्षाम्'

ऋ. १.९६.७

जन्म लिए हुए तथा जन्म लेने वाले के निवासभूत (क्षाम्) अग्नि को ....।

क्षातिः - शत्रु को नाश करने वाली शक्ति ।

'शूरस्येव प्रसितिः क्षातिरग्ने'

ऋ. ६.६.५

क्षामणिस्था - (१) परम रक्षा-सामर्थ्य या परमाश्रय में विद्यमान ।

'हिरण्ययं शकुनं क्षामणि स्थाम्'

ऋ. ९.८५.११

क्षामबुध्न - (१) खोखला आकाश (२) कृश निर्बल राज्य प्रबन्ध, (३) बंधा मोर्चा, गढ़ या आधार ।

'अक्षोदयत् शवसा क्षामबुध्नम्'

ऋ. ४.१९.४, तै.ब्रा. २.४.५.२.

क्षामा - (१) अन्धकार ।

'क्षामा भिन्दन्तो अरुणीरप व्रन्'

ऋ. ४.२.६, वाज.सं. १९.६९, अ. १८.३.२१, तै.सं. २.६.१२.४

(२) विनाशकारिणी नीच प्रवृत्ति, (३) भूमि (४) आकाश और भूमि ।

'क्षामेव नः समजतं रजांसि'

ऋ. २.३९.७

क्ष्मा - क्ष्मा (विधूनन अर्थ में) + णिच् + क्विप् = क्ष्मा (य का लोप) । पृथ्वी विधूननशील है ।

'या ते दिद्युदवसृष्टा दिवस्परि
क्ष्मया चरति परि सा वृणक्तु नः।
सहस्रं ते स्वपिवात भेषजा
मा नस्तोकेषु तनयेवु रीरिषः ।'

ऋ. ७.४६.३, नि. १०.७.

हे रुद्र! जो तेरे ज्वरादि व्याधिरूपी आयुध (याते दिद्युत्) द्युलोक से छोड़ेजाकर (दिवस्परि अवसृष्टा) पृथ्वी में उत्पन्न अन्नपानादि से मिश्रित हो सर्वत्र विराजमान है (क्ष्मया चरति) वे अनुग्रह कर हमें छोड़ दे (नः परिवृणक्तु) और हे स्वाप्तवचन या वातावरण में आविष्ट या वातावरण का धारण कर्त्ता (स्वपिवात) तेरी सहस्त्रों ओषधियां (ते सहस्त्रभेषजा) हमारे पुत्र पुत्री रूपी सन्तानों में (नः तोकेषु तनयेषु) हिंसा न करें (मा रीरिषुः)

किः - वृ + इ = कि । अर्थ है (१) कर्त्ता

'अयं यो होता किरु स यमस्य'

ऋ. १०.५२.३, नि. ६.३५.

वह पृथ्वी स्थानीय अग्नि भगवान् आदित्य का

(यमस्य) कर्ता है (किः) ।

अथवा, यह हव्य साधक अग्नि शुद्ध वायु का कर्त्ता है (यमस्य किः उ) ।

किंकर – रथ के पीछे खड़ा होने वाला चाकर ।

'अन्तर्देशाः किंकराः'

अ.८.८.२२

कथा करूं, ऐसा कहने वाला भृत्य (किं कर वाणि) किंकर है ।

किकिदीवी – (१) कि कि आदि विशेष वेदना सूचक ध्वनि करने वाला रोग, (२) हिचकी आदि कफ जनक रोग ।

(३) ज्ञानपूर्वक प्रयोग किया गया भोजन ।

'चाषेण किकि दीविना'

ऋ. १०.९७.१३, वाज.सं. १२.८७, मै.सं. २.७.१३, ९४.७, का.सं. १६.१३.

किकिरा – (१) व्यवस्थाओं की छोटी बातें (२) सर्वत्र विस्तारित ।

'आ रिख किकिरा कृणु'

ऋ. ६.५३.७,८

कितव – (१) किं तव अस्ति (जुआरी जुए के दाव में धन लगाने के लिए पूछता है – तेरे पास क्या है ?) इसी का द्योतक अर्थ शब्दानुकृति से 'कितव' बना । जुआ खेलने के समय जुआड़ी अन्य जुआड़यों से प्रायः पूछता है कि क्या तेरा दाव आया ? अतः इस शब्द का अर्थ है- जुआड़ी । (२) 'कृतवान्' अर्थ में भी कितव शब्द का निर्वचन किया गया है । एक जुआड़ी दूसरे जुआड़ी को समझाता है कि वह द्यूत के द्वारा काफी कर चुका (कृतवान्) अर्थात् काफी धन कमा सका । कृतवान् से ही 'कितव' बना है ।

(३) 'श्वघ्नी कितवो भवति' । जुआड़ी अपने धन का नाश करता है अतः वह श्वघ्नी है । (स्वं धनं हन्ति) । स्व+ हन् + णिनि = श्वघ्नी । अथवा परस्वानां हन्ता (पराया धन लेने वाला) कितव है ।

'धूर्तोऽक्षदेवी कितवोऽक्ष धूर्तोद्यूत्कृत्समः'
-अमरकोश

'जाया तप्यते कितवस्य हीना'

ऋ. १०.३४.१०

जुआड़ी की स्त्री दुरवस्था को प्राप्त कर दुःख झेलती है ।

आधुनिक अर्थ-धूर्त, गुण्डा, असत्य वादी, वञ्चक, ठग, धतूर का पौधा, एक प्रकार का सुगन्धिकारक द्रव्य

किन्त्व – तुझे क्या चाहिए ।

'किन्त्वो वदति किन्त्वः'

वाज.सं. २०.२८

किमीदिन् – किमिदं किमिदं कारिन् ।

(यह क्या यह क्या करने वाला) पिशुन को बराबर यह चिन्ता रहती है कि कहां क्या हो रहा है । अतः वह किमीदिन् कहलाया । अर्थ-

(१) पिशुन ।

'द्वेषो धत्तमनवायं किमीदिने'

ऋ. ७.१०४.२, अ. ८.४.२, का.सं. २३.११, नि. ६.११.

पिशुओं के प्रति निरन्तर द्वेष भाव रखो ।

(२) कमीना-दया. ।

किम्पूरुष – अल्प शक्ति और व्यवसाय वाला पर्वत वासी जन । पुरुष प्रमाण से भी छोटे कद वाला । इसे देख कहा जाता है । किम् पुरुषः ? क्या आदमी है ।

'पर्वतेभ्यः किम्पूरुषम्'

वाज.सं. ३०.१६, तै.ब्रा. ३.४.१०.१२.

कियत् – अल्पज्ञानी, अल्पशक्ति ।

'इदं मे अग्ने कियते पावक'

ऋ. ४.५.६

कियती – कितनी

'यावतीः किमती श्चेमाः'

ऋ. ८.७.१३.

कियात्या समया – कितने काल तक

'कियात्या यत् समयाभवति
'या व्युषुः या च नूनं व्युच्छान्'

ऋ. १. ११३. १०

जो उषाएं प्रकट हुईं और जो अभी तक प्रकट हो रही हैं वे सब कितने काल ही तक रहती हैं ।

कियाम्बु – कितना जल है अर्थात् (१) अथाह जल वाला, समुद्र, (२) ज्ञान-सागर ।

'कियाम्ब्वत्र रोहतु पाकदूर्वा व्यल्कशा'

ऋ. १०.१६.१३

किंयुः - किसविशेष कामना को करता हुआ
'किंयुः विप्रो नद्यो जोहवीति'
ऋ. ३.३३.४

कियेधस् - (१) कियद्धा किं यद् अपि उदकम् अपरिमाणं धारयति- (अपरिमाण जल धारण करता है) (२) क्रममाणधा-कममाणः धारयति- अर्थात्, आक्रमण करता हुआ दूसरे के बल को धारण करता है या रोकता है, (३) सर्वधारण समर्थ (सब कुछ धारण करने में समर्थ) मेघ या इन्द्र का हेतुगर्भ विशेषण है।

(४) कितने गुणों का धारण करने वाला-दया. (५) सर्वोपरि होता हुआ उनका धारण करने वाला।

व्युत्पत्ति- कियत् + धा (धरण करना) + विच् = कियेधस्। क्रममाण + धा + विच् = कियेधस्। किम् + वतुप् = कियत् (कितना)

'किभिदध्या बोधः
'अस्मा इदुप्रभरा तूतुजानो
वृत्राय वज्रमीशानः कियेधाः।
गोर्न पर्व वि रदा तिरश्चा
इष्यन्नर्णांस्यपां चरध्यै'

ऋ. १.६१.१२, अ. २०.३५.१२, मै.सं.४.१२.३, १८३.१०, का.सं. ८.१६, नि. ६.२०.

हे इन्द्र! यह वृत्र या मेघ बहुत जल धारण करने वाला है (कियेधाः), इस पर तू शीघ्र वज्र चला (अस्मै तूतुजानःवज्रं प्रभर), क्योंकि हम लोगों का स्वामी तू (ईशानः) वृष्टि जलों की कामना करता हुआ (अर्णांसि इष्यन्) जलों को बहाने के लिए (अपां चरध्यै) मेघ या वृत्र के जोड़ों को (पर्व) तिर्यग्गामी वज्र से (तिरश्चा) विदीर्ण कर (विरद) जैसे मांस बेचने वाले पशुओं का मांस काटते हैं (गोः न) --सा.।

स्वामी दयानन्द का अर्थ- हे राजन्! आशुकारी (तूतुजानः) भूमिपति (ईशानः) कितने एक गुणों को धारण करने वाले आप (किमेधाः) इस दुष्ट शत्रु के लिए (अस्मै वृत्राय) शीघ्र खण्ड का प्रहार कर (वज्रं प्रहर) और तिरछी चाल से जाते हुए (तिरश्चा इष्यन्) जैसे सूर्य अन्तरिक्ष के जलों की प्राप्ति के लिए (अपां अर्णाधि चरध्यै) मेघ के जोड़ों को तोड़ देता है (गोः पर्वन) एवं शत्रु की संघ शक्ति को छिन्न भिन्न कीजिए (विरद)।

(६) न जाने कितने बल पराक्रम ऐश्वर्य को धारण करने वाला

ऋ. १.६१.१२, अ. २०.३५.१२, मै.सं.४.१२.३, १८३.१०, का.सं. ८.१६, नि. ६.२०.

किरणः - कृ (विक्षेप) अर्थ वाला + ल्युट् = किरण। (१) किरणों वाला सूर्य, (२) शत्रु को उखाड़ देने में समर्थ सैन्य।
'एवेदनुद्यून् किरणः समेजात्'
ऋ. १०.२७.५
(३) सूर्य की किरण।

किरणौ - (द्वि.व.) (१) पीस पीसकर फेंकने वाले चक्की के दो पाट, (२) आकाश और पृथिवी
'विततौ किरणौ द्वौ'
अ. २०.१३३.१, गो.ब्रा. २.६.१३, आश्व.श्रौ.सू. ८.३.१८, शां.श्रौ.सू. १२.२२.११, वै.सू. ३२.२१.

किरात - (१) तुच्छ कर देने वाला किरात् जो पर्वतों की गुहाओं में रहता है।
'गुहाभ्यः किरातम्'
वाज.सं. ३०.१६, तै.ब्रा. ३.४.१.१२.
कि + रात (दान) = किरात।

किरिक - नाना पदार्थों को कारीगरी से पैदा करने वाला।
'नमोवः किरिकेभ्यो देवानां हृदयेभ्यः'
वाज.सं. १६.४६, तै.सं. ४.५.९.२, का.सं. १७.१६, श.ब्रा. ९.१.१.२२, २३.

किर्मिर - (१) चित्र विचित्र, (२) काले पर श्वेतचित्र
'नक्षत्रेभ्यः किर्मिरम्'
वाज.सं. ३०.२१, तै.ब्रा. ३.४.१.१७.

किल - विज्ञानातिशय के लिए पृथक् अव्यय (विद्या प्रकर्षे) जैसे - एवं किल एनदासीत् युद्धम् (यह युद्ध इस प्रकार से हुआ) यहां किल शब्द युद्ध की पूर्ण जानकारी बतलाया है। यह निश्चयार्थक अव्यय है। अर्थ-अवश्य ही, निश्चय ही।
'अन्या किलत्वां कक्ष्येवयुक्तं
परिष्वजाते लिबुजेव वृक्षम्'
ऋ.१०.१०.१३, आ. १८.१.१५, नि. ६.२८.

यमी यम से कहती है-हे यम! मुझे ऐसा लगता है कि अवश्य ही किसी अन्य स्त्री से हिल मिल

गया है जैसे जीन कसने की रस्सी से घोड़ा और और वृक्ष से लता ।

आज भी इसका प्रयोग समचमुच, निश्चय, जैसे वे कहते हैं या कहा गया है, अधिकृत वार्ता, एक दिखाऊ कार्य, आशा या सम्भावना, असंतोस या घृणा का भी द्योतक है । कभी कभी कारण अर्थ में भी प्रयुक्त ।

किलास – (१) एक प्रकार का कुष्ट ।

'इदं रजनि रजय किलासम् पलितं च यत्'

अ. १.२३.१, तै.ब्रा. २.४.४.१,

(२) श्वेत् वर्ण का पदार्थ

'चन्द्रमसे किलासम्'

वाज.सं. ३०.२१,

किलास्य – किल + आस्य (१) निश्चित मुख वाला –(दया.) (२) निश्चित् रूप से प्रमुख, (३) स्थिर वाणी वाला, (४) देह में प्राणों को प्रयोग करने वाला, आत्मा, (५) राष्ट्र में अधीन भृत्यो को , युद्ध में सैनिकों को या यन्त्रों में वायुवों को प्रयोग करने वाला ।

'यद् युयुज्रे किलास्यः'

ऋ. ५.५३.१

किल्विष – (१) किल्भिदम् सुकृत कर्मणोभयम् (पुण्य को भेदन करने वाला अर्थात् भय), (२) अथवा कीर्त्तिम् अस्य भिनत्ति (इसकी कीर्त्ति को जो छिन्न भिन्न करता है वह पाप) । आज भी पाप अर्थ में ही इसका प्रयोग है ।

'पाप किल्विषकल्मषम्' –अमरकोश

(१) पाप, अपराध, (२) रोग ।

किल्विषस्पृत् – पापाचरण, अज्ञानादि का नाश करने वाला ।

'किल्विषस्पृत् पितुषणिर्ह्येषाम्'

ऋ. १०.७१.१०,

किंशल – छोटी बजरी का प्रयोग जानने वाला ।

'नमः किंशलाय च क्षयणाय च'

वाज.सं. १६.४३, तै.सं. ४.५.९.१, मै.सं. २.९.८, १२६.७, का.सं. १७.१५

किंशुक – किम् शुकः (क्या यह शुक है ? पलाश के हरे पत्ते और लाल फूल से यह ऐसा संदेह होता है अतः यह किंशुक कहलाया) । अर्थ (१) प्रकाश, (२) पलाश का वृक्ष, (३) सेमर का वृक्ष ।

'सुकिंशुकं शल्मलिंविश्वरूपम्

ऋ. १०.८५.२०, अ. १४.१, ६१. नि. १२.८.

सुप्रकाश या पलाश के बने, या सेमर के बने चित्रविचित्ररथ को

व्युत्पत्ति– नैरु क्त धातु क्रंश् (प्रकाशनार्थक) + उकञ् = किंशुक (क्रंश् का किंश्) काश (दीप्ति अर्थ में) + उकञ् = किंशुक ।

किशोर – कच्ची उम्र का बालक ।

'ततः किशोराः म्रियन्ते'

अ. १२.४.७

क्रिमि – रोग कीटाणु ।

'क्रिमे र्विश्वस्य तर्हणी'

अ. २.३१.१

व्युत्पत्ति – (१) क्रव्ये मेद्यति (क्रव्य अर्थात् कच्चे मांस में जो उत्पन्न होता है) । क्रव्य + मिद् + डि = क्रिमि (क्रव्य का क्रि), (२) क्रम् (चलना) + कि = क्रिमि जो (चलता है) सम्प्रसारण से क्र का कृ (क्रिमितमि सति स्तम्नामत इञ्च) (३) क्राम् (पाद विक्षेप अर्थ में) + कि = क्रिमि । आधुनिक अर्थ–कीड़ा ।

क्रिवि – (१) कूप

'आ व इन्द्रं क्रिविं यथा वाजयन्तः शतक्रतुम्'

ऋ. १.३०.१, साम. १.२१४.

अन्न की कामना करने वाले किसान जैसे कूप के पास जाते हैं (२) काटने वाला, काटने में समर्थ कृवि (काटना) + क्विन् = क्रिवि (ऋ. का रेफ) । लोक में भी 'कृवि' काटना अर्थ में आया है । (३) हिंसाशील ।

'अध त्विषीमाँ अभ्योजसा क्रिविम् युधाभवत'

ऋ. २.२२.२, साम. २.८.३८.

क्रिविर्दत् – विकर्त्तन समर्था दन्ताः यस्य सः (जिसके दाँत काटने में समर्थ हो) । कृवि + क्विन् = क्रिवि (निगम में क्रि का आदेश) । कृणोति हिंसति अनेन इति क्रिविः (रेफ का आगम और समास होने पर दन्त का दत्) ।

क्रिविर्दती – विकर्त्तनसमर्थाः दन्ताः यस्य स क्रिविर्दती (जिसके दाँत कांटने में समर्थ हो) कृवि + क्विन् (करण में) = क्रिवि (निगम में क्रि आदेश) । लोक में भी 'कृवि' धातु हिंसा अर्थ में आया है । कृणोति हिनस्ति अनेन इति क्रिवि (इससे हिंसा करता है) । रेफ का आगम

और दन्त का दत् होकर क्रिविर्दत हुआ है । क्रिविर्दत् + ङीष् = क्रिविर्दती । अर्थ है- आयुध विशेष जिसके दाँत हो ।

'यूयं न उग्रा मरुतः सुचेतुना
रिष्टग्रामाः सुमतिं पिपर्तन ।
यत्रा वो दिद्युद्रदति क्रिविर्दती
रिणाति पश्वः सुधितेव बर्हणा'

ऋ. १.१६६.६.

हे उग्र मरुतो ! सुन्दर बुद्धि वाले (सुचेतुनाः) तथा सदा साथ रहने वाले (अरिष्टग्रामाः) आप (यूयम्) हमारी बुद्धि पूर्ण करें (नः सुमतिं पिपर्तन) जब आप को (यत्रा) काटने वाली हेति, (क्रिविर्दती दिद्युत्) मेघ समूह को उस तरह से काटती है (रदति) तथा पशुओं को मारती है (पश्वः रिणाति) जैसे सम्यक् प्रकार से प्रयुक्त बढ़ी हुई हिंसा भावना से पशुओं को काटता है (सुधिता बर्हणा इव) । हवा प्रचन्ड झोंकों से बादल अस्तव्यस्त हो जाते हैं तथा पशु पक्षी मरते हैं । उस समय यदि मनुष्य बुद्धि से काम न ले तो उसे भी दुःख हो ।

अन्य अर्थ - संघ शक्ति से सम्पन्न तेजस्वी विद्वानो (अरिष्टग्रामाः उग्राः मरुतः), आप हमारी शिक्षा को विज्ञान से पूर्ण करें (यूयं नः सुमतिं सुचेतुना पिपर्तन) जिस विज्ञान में (यत्र) तुम्हारे कांटने वाले दांतों वाली विद्युत् (वः क्रिविर्दती दिद्युत्) खोदने का काम करती है (रदति) तथा बहुत मात्रा में सुस्थापित की हुई (बर्हणा सुधिता) पशुओं की तरह ले जाती है (पश्वः इव रिणाति) -दया.

क्लिब - भरसक सामर्थ्य और प्रभुता के साधे हुए लोक की प्राप्ति ।

'क्लिबेस्मर'

वाज.सं. ४०.१५,

क्षि - (१) बसना ।

'मत्स्यं न दीन उदनि क्षियन्तम्'

ऋ. १०.६८.८, अ. २०.१६.८, १०.१२.

(२) रहना ।

'उप क्षयेम शरणा बृहन्ता'

अ. १९.१५.४

क्षिणाति - (१) प्रकाश आकीर्ण करता है, (२) जल प्रच्युत करता है ।

'आसीनं ऊर्ध्वामुपसि क्षिणाति'

ऋ. १०.२७.१३, नि. ६.६.

अन्तरिक्ष लोक या अपने मंडल में स्थित (उपसि आसीनः) आदित्य प्रकाश को जगत् में आकीर्ण करता या जल प्रच्युत करता है (क्षिणाति) ।

क्षितायुः - क्षित + आयुः । वह रोगी जिनकी जीवन शक्ति नष्ट हो गई हो ।

'यदि क्षितायुर्यदि वा परेतः'

ऋ. १०.१६१.२, अ. ३.११.२, २०.९६.७.

क्षिति - (१) क्षय करने वाली ।

'ब्रह्मंज्यस्य क्षिति हिंसा'

अ. १२.५ (३) १६.

(२) क्षि + क्तिन् = क्षिति । जिस पर रहा जाय पृथिवी । अर्थ है-प्रजाजन, (३) शत्रु, (४) लोग ।

'उतस्मैनं वस्त्रमथिं न तायुम्
अनुक्रोशन्ति क्षितयो भरेषु ।'

ऋ. ४.३८.५, नि. ४.२४.

और इस दधिक्रावा इन्द्र को (एनम्) देखकर युद्धों में बैरी चिल्लाने लगते हैं जैसे वस्त्र लेकर भागने वाले चोर को देखकर लोग चिल्लाते हैं (वस्त्रमथिं तायुं न क्षितयः अनुक्रोशन्ति) -सा. । और युद्ध में वस्त्र तक चुरा लेने वाले चोर की तरह (भरेषु वस्त्रमथिं तायुं न) जिस राजा को बैरी या प्रजाजन कोसते हैं (क्षितयः अनुक्रोशन्ति) -(दया.)

(५) जिसमें रहा जाय-गृह । वेद में 'मनुष्य' अर्थ में प्रयुक्त है । पृथिवी मृत्युलोक है और इस पर रहने वाले मर्त्य हैं । रूढ़ अर्थ में यह शब्द मनुष्य का वाचक है ।

आधुनिक अर्थ - पृथ्वी, गृह, नाश, हानि, प्रत्यय ।

क्षितीणां वृषभः - (१) मनुष्यो में सर्वश्रेष्ठ, (२) इन्द्र, (३) मनुष्यों को जल देने वाला सूर्य ।

'जुहोतन वृषभाय क्षितीनाम्'

ऋ. ७.९८.१, अ. २०.८७.१

क्षिप् - (१) अंगुली, (२) शत्रुओं को उखाड़ फेंकने वाली सेना ।

'दशक्षिपो युजते बाहू अद्रिम्'

ऋ. ५.४३.४,

(३) पाप वासनाओं को फेंकने वाला शुद्धजन ।

'क्षिपो मृजन्ति परि गोभिरावृतम्'
ऋ. ९.८६.२७

क्षिप्र – संक्षिप्त, विक्षिप्त या विकर्ष का उलटा (निकर्षः संक्षिप्ते)। अर्थ है-थोड़े में शीघ्र, त्वरित् (तुरत) । क्षिप् + र = क्षिप्र । क्षिप्र धातु क्षेपण अर्थ में आया है ।

क्षिपणि – (१) शत्रु नाशक सेना
'एष स्यवाजी क्षिपणिं तुरण्यते'
वाज.सं. ९.१४, तै.सं. १.७.८.३, मै.सं. १.११.२, १६३.१, का.सं . १३.१४, श.ब्रा. ५.१.५.१९.
(२) क्षिप् (प्रहार करना) + ल्युट् = क्षेपण = क्षिपण = क्षिपणिः । अर्थ –चाबुक की मार ।
'उतस्य वाजी क्षिपणिं तुरण्यति'
ऋ. ४.४०.४, नि. २.२८.

क्षिपणुः – (१) प्रेरक गुरु, (२) व्याधा ।
'मृगा इव क्षिपणोरीषमाणाः'
ऋ. ४.५८.६, वाज.सं. १७.९४, का.सं. ४०.७, आप.श्रौ.सू. १७.१८.१.
(३) हिंसक

क्षिप्त – वह रोग जिसमें रोगी वेदना से हाथ पैर पटकता है ।

क्षिप्तभेषजी – पीपल ओषधि जो क्षिप्त रोग की दवा है ।
'पिप्पली क्षिप्तभेषजी'
अ. ६.१०९.१,

क्षिप्रधन्वा – वोग से धनुष चलाने वाला ।
'तिग्मायुधः क्षिप्रधन्वा समत्सु'
ऋ. ९.९०.३, साम. २.७५.

क्षिप्रश्येन – वेग से झटकने वाला बाज ।
'क्षिप्रश्येनाय वर्तिका'
वाज. सं. २४.३०, तै.सं. ५.५.११.१, मै.सं. ३.१४.११, १७४.८, का.सं.(अश्व) ७.१

क्षिपा – (स्त्री) इन्द्रिय
'हिन्वति धीरा दशभिः क्षिणभिः'
ऋ. ९.५७.५७

क्ष्विङ्का – (स्त्री) चील, नाना शब्द करने वाली ।
'आमादः क्ष्विङ्कास्तमदन्त्वेनीः'
ऋ. १०.८७.७, अ. ८.३.७.

क्षिप्ता – (स्त्री) परास्त की हुई सेना ।
'हतेमसन्न वक्षति
क्षिप्ता जूर्णिर्न वक्षति'
ऋ. १.१२९.८
वह सेना आप ही आप विनाश को प्राप्त हो । (हताईम् असत्) । वह परास्त होकर (क्षिप्ता) हम तक न पहुँचे (न वक्षति) और लौटकर अपने देश भी न पहुँचे ।

क्षिप्रेषुः – (१) तीव्र वेग से बाण चलाने में चतुर-रुद्र का विशेषण ।
'क्षिप्रेषवे देवाय स्वधाव्ने'
ऋ. ७.४६.१, तै.ब्रा. २.८.६.८, नि. १०.६.
शीघ्रगामी, बाण चलाने वाले, अन्न वाले रुद्रदेव को इन स्तुतियों को अर्पित करें ।

क्षियत् – क्षि (रहना) + शतृ = क्षियत् अर्थ (१) रहता हुआ ।
'मत्स्यं न दीन ऊदनि क्षियन्तम्'
ऋ. १०.६८.८, अ. २०.१६.८, नि. १०.१२.
मछुआ जैस सूखे जल में मछली देखता है ।
(२) अन्तरिक्षों में रहने वाला ।
'सहदानुं पुरुहूत क्षियन्तम्
अहस्तमिन्द्रं सं पिणक कुणारुम्'
ऋ. ३.३०.८, वाज. सं. १८.६९, नि. ६.१
हे इन्द्र ! तू उदक दाता अन्तरिक्ष में रहने वाले मेघ का (सप्तदानुं क्षियन्तम् कुणारुम्) बिनाहाथ का कर (अहस्तम्) चूर्ण चूर्ण कर दे (संपिणक)

क्षियन् – रहता हुआ ।
'सूर्यं न दस्रा तमसि क्षियन्तम्'
ऋ. १.११७.५

कीकटाः – अनार्य देश निवासी ।
'किं ते कृण्वन्ति कीकटेषु गावः'
ऋ. ३.५३.१४, नि. ६.३२.
हे इन्द्र ! जो गायें अनार्य देश निवासियों के पास हैं वे कौन उपकार करती हैं ?
(२) अनार्यों का वासस्थान, (३) नास्तिक अनीश्वरवादियों का वासस्थान, (४) कृपण, (५) नास्तिक जो वैदिक कर्म को करते देख-यह क्या किया, इस प्रकार उपेक्षा भाव से बोलता है वह कीकट है (किं कृताः वा किं क्रियाः किं कृताः वा किं क्रियाः-क्यों उत्पादित किए गए या यज्ञ आदि कर्म क्यो किए जाँय ऐसा कहने वाला आलोचक - critic) । अथवा-'किमर्थम् उत्पादिताः असदाचाराः' या यज्ञादि कर्मों का

विरोधी। Critic शब्द का मूलशब्द कीकट ही जान पड़ता है। यज्ञादि कर्मों की आलोचना या निन्दा करने वाले पहले से ही होते आये हैं और आज भी हैं। 'कर्मकीट' शब्द का मेल भी कृकट से है।

पाली में कीकट शब्द का पर्याय उस स्थान के अर्थ में मिलता है जहां बैल काटे जाते हैं। ऐसे स्थान को आज भी 'टिकटी' कहते हैं।

कीजः - अद्भुत, इन्द्र, परमेश्वर
'यो वा कीजो हिरण्ययः'
ऋ. ८.६६.३,

कीनारा - (द्वि.व.) एक वचन में 'कीनार'। अर्थ है- दो किसान
'कीनारेव स्वेदमासिष्विदाना'
ऋ. १०.१०६.१०

कीनाशः - (१) जीवात्मा, (२) कर्मफलों का काटने हार।
'श्रमेणानड्वान् कीलालं
कीनाशश्चाभि गच्छतः'
अ. ४.११.१०
(३) किसान।
'शुनं कीनाशा अभियन्तु वाहैः'
ऋ. ४.५७.८, अ. ३.१७.५, वाज.सं. १२.६९, तै.सं. ४.२.५.६, मै.सं. २.७.१२, ९२.१, का.सं. १६.१२, श.ब्रा. ७.२.२.९.

कीरिन् ,कीरी - (१) शत्रु को उखाड़ फेंकने वाला बल।
'स कीरिणा चित् सनिता धनानि'
ऋ. १.१००.९
वह शत्रु को उखाड़ फेंकने वाले बल से ही (कीरिणाचित्) ऐश्वर्यों को प्राप्त करता है (धनानि सनिता)।
(२) विक्षेपक, (३) स्तोता।
'उत्समा कीरिणा नृतुः'
ऋ. ५.५२.१२.
(४) स्तुतिशील
'यस्त्वा हृदा कीरिणा मन्यमानः'
ऋ. ५.४.१०, तै.सं. १.४.४६.७, आश्व.श्रौ.सू. २.१०.९,

कीरिः - (१) स्तुति कर्त्ता (२) उत्तम कार्य करने वाला।
'कीरिं चिद्धयवथ स्वेभिरेवैः'
ऋ. १०.६७.११, अ. २०.९१.११.
(३) ज्ञानवान् पुरुष।
'धत्तं रयिं स्तुवने कीरये चित्'
ऋ. ७.९७.१०, अ. २०.१७.१२, ८७.७, तै.ब्रा. २.५.६.३, अ. २०.३४.६.
(४) विक्षिप्तचित्र (५) क्रियाशील शिल्पी
'यो ब्रह्मणो बाधमानस्य कीरैः'
ऋ. २.१२.६, अ. २०.३४.६
(६) कृ + इ = कीरिं (बाहुलक से दीर्घ)
'किरति विविधया वाचा इति स्तोता'
नि. ३.१६
स्तुति करने वाला भक्त।
'कीरेश्चित् मन्त्रं मनसा वनोषितम्'
अपनी स्तुति करने वाले भक्त के नाना प्रकार के मन से विचारित मन्त्र या मनन संकल्प को भी स्वीकार करता है।

कीरिचोदनः - विद्यार्थियों तथा स्तोताओं को उपदेश देने वाला।
'सखायं कीरिचोदनम्'
ऋ. ६.४५.१९

कीवत् - कियत्। किम् + वतुप = कीवत्। वेद में 'इदं-किमोरीश् की' (पा. ६.३.९०) से किम् का की हो जाता है। अर्थ है कितना परिमाण। आङ् के साथ कीवत् का प्रयोग बहुत दूर देश के अर्थ में हुआ है।

कीकसा - (ब.व.) (१) गौ के गले की मोहर।
'बृहस्पतिः ककुद् बृहतीः कीकसाः'
अ. ९.७.५.
(२) हड्डी।
'की कशाभ्यो अनूक्यात्'
ऋ. १०.१६३.२, अ. २.३३.२, २०.९६.१८,
(३) पसली,।
'यः कीकसाः प्रश्रृणाति'
अ. ७.७६.३
(४) उपदेशक्रिया, (५) कूल्हे की पहली मोहरी,
'विश्वेषां देवानां प्रथमा कीकसा।'
वाज.सं. २५.६, मै.सं. ३.१५.६, १७९.७.

कीलाल - कल (गत्यर्थक), कील (बन्धन खण्डन अर्थ में)

कलयति कल्पते वा तत् ज्ञानम् कीलालम् कीलयति बध्नाति खण्डयति, खण्डयति बध्यते वा तत् कीलालम् प्रबन्धः शत्रुच्छेदकं बलम् धन्नम् वा ।

अर्थ-(१) शत्रुच्छेदक बल (२) अन्न, (३) फल, (४) भोग्य पदार्थ (५) मनन करने योग्य, धारण करने योग्य ज्ञान ।

'कीलालमश्विभ्यांमधुदुहे'

वाज.सं. २०.६५, मै.सं. ३.११.३, १४४.१२, तै.ब्रा. २.६.१२.४.

(६) अन्न या ओषधि का सारभाग, ।

(७) शराब ।

'कीलालाम सुराकारम्'

वाज.सं. ३०.११, तै.ब्रा. ३.४.१.९.

कीर्तेन्य - कीर्तन या स्तुति करने योग्य, ।

'कीर्तेन्यं मघवानामबिभ्रत्'

ऋ. १.१०३.४

कीलालय - (१) कीलाल अर्थात् अमृत रस पान करने वाला, (२) शत्रुच्छेदन में समर्थबल की रक्षा करने वाला । (३) नाशवान्, स्वतः उच्छेद्य संसार का रक्षक, (४) उत्तम अन्नाहारी या अन्न रक्षक ।

'कीलालये सोमपृष्ठायवेधसे'

ऋ. १०.९१.१४, वाज.सं. २०.७८, मै.सं. ३.११.४, १४६.१४, का.सं.३८.९, तै.ब्रा. १.४.२.२, आप.श्रौ.सू. १९.३.२.

कीलालोध्नी - कीलाल अर्थात् अमृतमय रस को गाय की तरह अपनी थनों से बराबर धारण करने वाली भूमि ।

'कीलालोध्नी पयस्वती'

अ. १२.१.५९

कीस्तः - (१) मेधावी, नि. ३.१५. (२) कीर्तन, भजन स्तुति करनेवाला, ।

(३) विद्यादि का उपदेष्टा,

'द्विता यदीं कीस्तासो अभिद्यवो
नमस्यन्त उपवोचन्त भृगवः
मथ्नन्तो दाशा भृगवः'

ऋ. १.१२७.७

पाप-संकल्पो को भून डालने वाले (भृगवः) तेजस्वी पुरुष यज्ञ में चरु आदि देने के लिए जिस प्रकार (यत्) इस प्रत्यक्ष भौतिक अग्नि का मन्थन करते हैं (ईम् मथ्नन्तः) ।

(४) विद्वान् ।

'वियद्वाचं कीस्तासो भरन्ते'

ऋ. ६.६७.१०

क्रीड् - जिस पर क्रीड़ा की जाय । विमान या रथ का विशेषण ।

'क्रीडं वः शर्धो मारुतम्
अनर्वाणं रथेशुभम्'

ऋ. १.३७.१, तै.सं. ४.३.१३.६, मै.सं .४.१०.५, १५५.४, का.सं. २१.१३,

हे कण्वो ! (अथवा अपने तेज और बल से शत्रुओं की आखों को चकाचौंध करने वाला) वीर पुरुषो ! आप लोगों का मारुतबल या शत्रु को मारने वाला सामूहिक बल (मारुतः शर्धः) जिसके मुकाबले पर कोई न आ सके यां जो बिना अश्व का है और जो रथ या नाग के बल पर अधिक शोभाप्रद है (रथे शुभम्) उसका अच्छी तरह से वर्णन करो ।

क्रीड - (पु.) इन्द्रियोपभोग्य विषयों में रमण करता हुआ ।

'क्रीडन्ति क्रीडा विदथेषु घृष्वयः'

ऋ. १.१६६.२

क्रीडन्तौ शिशू - (१) खेलते हुए सूर्य और चन्द्र रूप शिशु, (२) परमात्मा और आत्मा ।

'शिशू क्रीडन्तौ परियातोऽर्णवम्'

ऋ. १०.८५.१८, अ. १३.२.२१, ७.८१.१.१४.१.३३, मै.सं. ४.१२.२, १८१.३, तै.ब्रा. २.७.१२.२, ८.९.३

क्रीडय - मस्तों या वीर सैनिकों का विशेषण । अर्थ-क्रीडा के व्यसनी । एंक वचन में क्रीडि रूप है ।

'ते क्रीडयः धुनयो भ्राजदृष्टयः'

ऋ. १.८७.३, तै.सं. ४.३.१३.७, मै.सं. ४.११.२, १६८.५.

युद्ध क्रीड़ा के व्यसनी, शत्रुओं या वृक्षों को धुन डालने वाले (धुनयः) चमचमाते अस्त्र शास्त्रों से सुसज्जित (भ्राजदृष्टयः) मरुद्गण या सैनिक ।

क्रीड़ी - (१) क्रीड़ा शील ।

'क्रीडी च शाकी चो जेषी'

वाज.सं. १७.८५, वाज.सं. (का.) १७.७.७, आप.श्रौ.सू. १७.१६.१८.

(२) आनन्द विनोद करने वाला ।

'मड्द्यः क्रीडिभ्यः संसृष्टान्'
वाज.सं. २४.१६, वाज.सं. (का.) २६.२०, मै.सं. ३.१३.१४, १७१.६. आप.श्रौ.सू. २०.१४.१०

क्रीडु - क्रीड़ा कारी बालक ।
'क्रीडुर्मखो न मंहयुः'
ऋ. ९.२०.७, साम. २.३२४.

क्लीब - (१) नपुंसक ।
'क्लीबं कृध्योपशिनम्'
अ. ६.१३८.२
(२) शक्तिहीन (३) उदासीन ।
'पाप्मने क्लीबम्'
वाज.सं. ३०.५, तै.ब्रा. ३.४.१.१.

क्लीबरूप - नपुंसक ।
'क्लीबरूपान्स्तिरीटिनः'
अ. ८.६.७

क्षीर - (१) दुग्ध (२) रेतस् ।
'शीर्ष्णः क्षीरं दुह्रते गावौ अस्य'
ऋ. १.१६४.७, अ. ९.९.५.
इस सूर्य की किरणें सिर अर्थात् ऊपर की ओर भी मेघ द्वारा जल वर्षण करती हैं ।
'यत् पयः तत् रेतस्'
(२) जल ।
'क्षीरेण स्नातः कुयवस्म योषे'
ऋ. १.१०४.३
(३) क्षर (च्योतनार्थक) + अ = क्षीर (उपधा का इकार) । अथवा - घस् (अदन्, खाना) + घस् (अदन्, खाना), + ईदन् = क्षीर (घस् के अ का लोप, घ का 'खरिच' सूत्र से क् और क्स् का क्ष)। ईरन् प्रत्यय संज्ञाज्ञापक है । अर्थ है-यह क्षरता है या खाया जाता है ।

क्षीरपाक - (१) क्षीर में पकाया अन्न (२) पानी से सेचित पकने वाला अन्न ।
'शतं महिषान् क्षीरपाक मोदनम्
वराहमिद्र एमुषम् ।'
ऋ. ८.७७.१०, मै.सं. ३.८.३, ९५.१४.
इन्द्र ने सैकड़ों बड़े बड़े यज्ञों (शतंमहिषान्) चरु आदि से सिद्ध होने वाले ओदन तथा श्रेष्ठ वराह रूपी धन दिया-सा. । अन्य-अर्थ सेनापति ने चोरों के निवास स्थान पर्वतों को जीता (एमुषम् वराहम्) तथा अनेक प्रशस्त पदार्थों (शतं महिषान्) एवं दूध में पकाए चावल को दिया ।

क्षीरश्रीः - दूध के समान कान्तिवाला ।
'शुक्रः क्षीरश्रीः'
वाज.सं. ८.५७

क्षीरवान चरु- क्षीरमय चरु, वीर्य या बल से युक्त । क्षीर का अर्थ-पयः, रेतस है ।
'यत् पयस्तत् रेतस्'
गो.ब्रा. ३०२.६,
'अपूपवान् क्षीरवान् चरुः'
अ. १८.४.१६, २४,

कु - (१) कुत्सित अर्थ ।
'यवानो यतिस्वभिः कुभिः'
अ. २०.१३०.७
(२) क्व, कहां ।
'देवी हनत् कुहनत्'
अ. २०.१३२.११

कुक्षि - (१) कोख (२) कोखों के बीच रुधिर से भरा स्थान ।
'हृदान् कुक्षिभ्याम्'
वाज.सं. २५.८
(३) पेट, (४) खजाना ।
'इन्द्रस्य कुक्षिरसि सोमधानः'
अ. ७.१११.१.
(५) कुषि + क्सि = कुक्षि । अर्थ-सूर्यलोक, (६) जो सभी पदार्थों से रस खींचता है ।
'यः कुलिः सोमपातमः'
ऋ. १.८.७, अ. २०.७१.३.
जो सूर्य के समान समस्त पदार्थों से रस भाग अपने भीतर ले लेने में समर्थ है ।

कुक्षिल - (१) बड़ी बड़ी कोखों वाला, (२) मोटा ताजा ।
'कुसूला ये च कुक्षिलाः'
अ. ८.६.१०

कुक्कुट - (१) मुर्गा (२) चोरडाकुओं को नाश करने वाला ।
'कुक्कुटोऽसि मधुजिह्वः'
वाज.सं. १.१६, श.ब्रा. १.१.४.१८.

कुकुन्ध - कुत्सिल मांस हड्डी आदि मलिन पदार्थों को धारण करने वाला ।
'ये कुकुन्धाः कुकूरभाः'
अ. ८.६.११

कुकूनना- निरन्तर विद्याध्ययन करने वाली

विनयशील प्रजा ।

'कुकूननानां त्वा पत्मन् आधूनोमि'

वाज.सं. ८.४८, श.ब्रा. ११.५.९.८.

कुकूरभ - (१) कुत्सित पदार्थों को खरेजने वाला, (२) गन्दे शब्द बोलने वाला ।

'ये कुकून्धाः कुकूरभाः'

अ. ८.६.११

कुचर - (१) कुत्सित चरण, कुत्सित गमनः हिंम्रत्वात् (जिसका आना कुत्सित हो) अथवा (२) कुत्सितं चरति (वध आदि कुत्सित कर्म करता है) इति कुचरः (३) क्व अयं न चराति (कहां यह नहीं जाता है) । इस अर्थ में यह शब्द देवता का वाचक है ।

आधुनिक अर्थ- मन्द गति से चलने वाला, रेंगने वाला, दुष्ट, नीच प्रकृति वाला,

'मृगोन भीमः कुचरो गिरिष्ठाः
रावत आजगन्था परस्याः ।
सृकं संशाय पविमिन्द्र तिग्मं
वि शत्रून् ताढि विमृधो नुदस्व ।'

ऋ. १०.१८०.२, अ. ७.८४.३, साम. २.१२२३, वाज.सं. १८.७१, तै.सं. १.६.१२.४, मै.सं. ४.१२.३, १८३.१४, का.सं. ८.१६.

हे इन्द्र ! तू हिंसक होने के कारण कुत्सित गति का, या कुत्सित चरण या सर्वत्रगामी है (कुचरः) । पर्वत निवासी (गिरिष्ठाः) तथा सिंह या व्याघ्र के समान भयङ्कर (मृगः न भीमः) द्युलोक के भी उस पार के स्थान से (परस्याः परावतः) आ (आजगन्था) और सरणशील (सृकम्) तीक्ष्ण (तिग्मम्) वज्र को (पविम्) सम्यक् प्रकार से तेज करे (संशाय) शत्रुओं को विशेष प्रकार से ताड़ित करे (विताढि) तथा हिंसक एवं युद्ध करने वालों को (मृधः) विशेष रूप से तिरस्कृत कर (विनुदस्व) ।

कुट - (१) कृत, साधु या असाधु सार्वभौमिक कर्म । पृषोदरादि शब्दों के समान 'कृत' का 'कुट' हो गया है ।

(२) अथवा कुट् (करना) + क (कर्म में) = कुट । अर्थ है जो किया जाय ।

आधुनिक अर्थ- जल धरने का पात्र, गढ़, कीला, हथौड़ा, वृक्ष, घर, पर्वत, । पाली में 'कृत' को 'कट' कहते हैं

'हविषा जारो अपां
घपिपर्ति पपुरिर्नरा ।
पिता कुटस्य चर्षणिः ।'

ऋ. १.४६.४, नि. ५.२४.

हे अश्विनीद्वय (नरा) सर्वभूतान्तर्गत जलों का (अपाम्) शोषयिता या प्राण भाव से स्थित या अपने ताप से जल शोषण कर्त्ता (जारः) समय आने पर पूरा करने वाला या प्रीणयिता (पपुरिः) सम्पूर्ण जगत् का पालक (पिता) अच्छे बुरे कर्मों का द्रष्टा (कुटस्य चर्षणिः) सूर्य हमारे दिए हवि से देवों को प्रसन्न करता है (हविषा पिपर्ति) अतः आप सूर्योदय के समय आवें - सा.

स्वा. दयानन्द का अर्थ - सांसारिक कार्यभार को चलाने वाले द्यावापृथिवी (नरा) तुम में से एक आदित्य जल शोषक (अपां जारः) पालक या तप्त करने वाला (पपुरिः) पितृस्थानीय (पिता) तथा प्रत्येक कृतकार्य का द्रष्टा है (कुटस्य चर्षणिः) । वह जल से (हविषा) सब का पालन या तृप्ति करता है (पिपर्ति) ।

कुटरु - कुटस नामक मुर्गा पक्षी, कुक्कुट ।

'अग्नये कुटरूवालभते'

वाज.सं. २४.२३.

'क्वयिः कुटरुर्दात्यौहस्ते वाजिनाम्'

वाज.सं. २४.३९, तै.सं. ५.५.१७.१.

कुटस्य चर्षणिः - सभी अच्छे बुरे किए कर्मों का द्रष्टासूर्य ।

'पिता कुटस्य चर्षणिः'

ऋ. १.४६.४, नि. ५.२४.

कुणप - मुर्दा का मांस, लोथ, लाश ।

'पौरुषेयेऽधि कुणपे'

अ. ११.९.१०

कुण्डपाय्यः - (१) कुण्ड अर्थात् रमण करने वाले प्राणों द्वारा पान करने योग्य ज्ञान रस ।

(२) सोमरस ।

'प्रणपात् कुण्डपाय्यः'

ऋ. ८.१७.१३, अ. २०.५.७, साम. २.७७, तै.ब्रा. २.४.५.१.

(३) कुण्डों के जलादि से पालन करने योग्य राष्ट्र रूप ऐश्वर्य (४) दाह कारी तथा रक्षण करने वाला सामर्थ्य ।

कुणारु - (१) परिक्वणन शील । क्वण् + आरुक् =

कुणारु (व का सम्प्रसारण द्वारा उ)। क्वण धातु का अर्थ शब्द करना है। अर्थ है-मेघ। मेघ गर्जता है अतः वह कुणारु है। कुणारु से ही कुडारु, कुलाडु, क्लाउड (cloud) बना है।

'सहदानुं पुरुहूत क्षियन्तम्
अहस्तमिन्द्रं संपिणक् कुणारुम्
अभिवृत्रं वर्धमानं पियारुम्
अपादमिन्द्र तवसा जघन्थ।'

ऋ. ३.३०.८, वाज.सं. १८.६९, श.ब्रा. ९.५.२४, आश्व.श्रौ.सू. ३.८.१.

हे पुरुहूत इन्द्र! तू उदक दाता (सहदानुम्), अन्तरिक्ष लोक में रहने वाले (क्षियन्तम्) मेघ को (कुणारुम्) बिना हाथ का कर (हस्तम्) चूर्ण चूर्ण कर दे (संपिणक्) और इस हिंसनशील चारों ओर से बढ़ने वाले वृत्र को (पियारुम् अभिवर्धमानं वृत्रम्) पैर से रहित कर (अपादम्) बल से (तवसा) मार (जघन्थ)।

अन्य अर्थ – हे निर्वाचित राजन् (पुरुहूत इन्द्र), अन्तरिक्ष में निवास करने वाले जलदाता मेघ को (क्षियन्तम् सहदानुं कुणारुम्) जैसे सूर्य छिन्न-भिन्न करता है वैसे ही तू राष्ट्र में रहने वाले दानवों के साथी दुर्जन को हस्त रहित कर नष्ट कर (अहस्तं संपिण्क)। और हे राजन्, बढ़ते हुए देवजनों के हिंसक पापी को (वर्द्धमानं पियारूं वृत्रम्) पाद-रहित कर अपने सामर्थ्य से नष्ट कर।

(२) शब्दायमान् -दया. (३) वृत्र का विशेषण वचन बोलने वाला दुष्ट पुरुष

कुण्डृणाच्या – (१) दाह करने वाली प्रकृति या गति, (२) चाल करने वाला कुटिल (३) कुटिल गति

'पताति कुण्डृणाच्या दूरं वातो वनादधि'

ऋ. १.२९.६, अ. २०.७४.६.

(४) एक पशु विशेष, (५) कामानल से पीड़त हो पुरुष के पास जाने वाली स्त्री

'रोहित कुण्डृणाची गोलत्तिका
तेऽप्सरसां मृत्यवेऽ सितः'

वाज.सं. २४.३७, तै.सं. ५.५.१६.१, मै.सं. ३.१४.१८, १७६.६, का.सं.(अश्व.) ७.६.

वायु वन से निकलकर भी बहुत दूर तक कुटिल गति से चला जाता है।

कुतश्चित् – कहीं से।

'इत आजातो अमुतः कुतश्चित्'

ऋ. १.१७९.४.

कुत्स – (१) कृन्त् + स = कुत्स, अथवा (२) कृ + स = कुत्स। यह एक संदिग्ध पद है। अर्थ है-(१) एक ऋषि का नाम, (२) वज्र, (३) वेदज्ञविद्वान्

ऋष अर्थ होने पर स्तोनां कर्त्ता (स्तोत्रों का रचने वाला) अर्थ में कृ + स से कुत्स बना।

वज्र अर्थ में कृन्त् + स वाली व्युत्पत्ति ग्राह्य है क्योंकि वज्र काटता है या छेदता है (कृन्तति)। औपमन्यव ने इस शब्द का अर्थ ऋषि किया है। इन्द्र स्तुति शत्रुओं के वध के लिए ही की जाती है। अतः स्तोम भी वध -निमित्त ही हुए। (४) दुर्ग ने इस शब्द का अर्थ कृषीवल (कृषक) किया है। वस्तुतः 'कुत्स' किसान शब्द का रूप जान पड़ता है।

(५) परमात्मा का स्तोता-दया.

'तव त्य इन्द्र सख्येषु वह्नयः
ऋतं मन्वाना व्यदर्दिरुर्वलम्।
यत्र दशस्यन् उषसोरिणन्नपः
कुत्साय मन्मन्नह्यश्च दंसयः'

ऋ. १०.१३८.१

हे इन्द्र! तेरे इन सखारूप अश्वों ने (इन्द्र तवत्य सख्येषु वह्नयः) इसमें जल है, ऐसा समझते हुए (ऋतं मन्वाना) मेघ को (वलम्) विदीर्ण किया (व्यदर्दिरुः) जिसके विदीर्ण होने पर (यत्र) माध्यमिक देव उषा (उषसः) मेघ में स्थित जलों को देती है (अह्यःअपः दशस्यन्) और वे जल पृथिवी पर आते हैं (रिणन्)। कृषक के लिए कृषि कर्मों को सफल करने के निमित्त आवश्यक समझ कर (दंसयः मन्मन्) तेरे अश्व ऐसा करते हैं। -दुर्ग

अन्य अर्थ- हे सूर्य! (इन्द्र) जिस समय (यत्र) तुम मनुष्यों के लिए (जनाय) उषा काल को प्रदान करते हुए (उषसः दशस्यन्) और ओसजल को ले जाते हुए (अपः ऋणन्) परमात्मा के स्तोता के लिए (कुत्साय) आत्ममननों (मन्मन्) एवं पाप नाशक श्रेष्ठ कर्मों को जतलाते हुए उदय लेते हो (अह्यः दंसयश्च) उस समय तेरे सख्य में विद्यमान् (तव सख्येषु) वे नेता विद्वान् (ते वह्नयः) सत्य स्वरूप प्रभु का मनन करते हुए

(ऋतं मन्वानाः) आन्तरिक शत्रु बल को (वलम्) विदीर्ण करते हैं (व्यदर्दिरुः) । (६) एक राजा, (७) शत्रुनाशकारी वीर या सैन्य बल ।

'त्वंह त्यदिनद्र कुत्समावः'

ऋ. ७.१९.२, अ. २०.३७.२

कुत्सपुत्रः- (१) कुत्स का पुत्र, (२) दुष्टों को काटने वाला और बहुतों की रक्षा करने वाला बल ।

'अवो यत् दस्युहत्ये कुत्सपुत्रम्'

ऋ. १०.१०५.११,

कुत्सवत्स - दुष्टों को बसाने वाला ।

'प्रावो यत् दस्यु हत्ये कुत्सवत्सम्'

ऋ. १०.१०५.११

कुनखी - बुरे मैले नखों वाला ।

'श्यावदता कुनखिना'

अ. ७.६५.३

कुनन्नमा - कुनं क्वणं ध्वनिं कर्त्तु नमति प्रह्वीभवति या जिह्वा । ध्वनि करने के लिए जो अड़ती है वह जिह्वा ।

'पिनष्टि स्मा कुनन्नमा'

ऋ. १०.१३६.७

कुपप - (१) गोपनीय-दया. (२) सब का पालक, (३) राष्ट्र रक्षक ।

'आसाच्यं कुपपं वर्धनं पितुः'

ऋ. १.१४०.३

कुप्य - (१) खजाना, (२) हौदा, (३) झूला, ।

'शतंकुप्याः हिरण्ययाः'

अ. २०.१३१.७

कुपायुः - कुप धातु से युच् प्रत्यय । क्रोध करने वाला ।

'अकुप्यन्तः कुपायकुः'

अ. २०.१३०.८

कुपूय - कु + पू + क्यप् = कपूय (कु. का क)। कुत्सितं सत् पूयते (कुत्सित होने के कारण पवित्र किया जाता है । 'केपि' का अर्थ भी कुपूय है । पाप कर्म में रत ।

कुब्ज - (१) कुबड़ा, (२) कुत्सित मार्ग में चलने वाला, । 'कुञ्' या कुब्ज + अच् = उब्ज । कुञ् धातु कौटिल्य अर्थ में आता है ।

'उत्सादेभ्यः कुब्जम्'

वाज.सं. ३०.१०, तै.ब्रा. ३.४.१.६.

आधुनिक अर्थ - कुबड़ा, कुटिल, टेढ़ी तलवार ।

कुभत्यु - आत्मनः कुम्भनम् उन्दनम् इच्छुः -दया. (१) जल का इच्छुक जल, (२) धनार्थी ।

'घन्दस्तुभः कुभन्यवः'

ऋ. ५.५२.१२

कुभा - (१) वह नाड़ी जाल जिससे देह की त्वचा का निर्माण होता है , (२) एक नदी जिसे आज काबुल नदी कहते हैं ।

'त्वं सिन्धो कुभया गोमतीं क्रुमुम्'

ऋ. १०.७५.६

(३) कुत्सितप्रकाशा -(दया.) । ऐसी भूमि जिस पर कान्ति, दीप्ति न्यून या कष्ट दायी रूप में पड़ती है ।

'मा वो रसानितभा कुभा क्रुमुः'

ऋ. ५.५३.९

कुम्ब - (१) सिर का एक आभूषण जिसे स्त्रियां धारण करती हैं ।

'कुम्बं चाधि निदध्मसि

अ. ६.१३८.३

कुम्भ - कुम् + भ (१) पृथ्वी को भी पोषण करने से समर्थ, (२) वीर्य शौर्य आदि से पूर्ण ।

'कुम्भो वनिष्ठुर्जनिता शचीभिः'

वाज.सं. १९.८७, मै.सं. ३.११.९, १५३.१५, का.सं. ३८.३, तै.ब्रा. २.६.४.३.

(३) जल कलश । (४) सबको आवरण करने वाला आकाशमय ब्रह्माण्ड ।

'पूर्ण कुम्भोऽधिकाल आहितः'

अ. १९.५३.३

कुम्भमुष्क - घोड़े के समान अण्डकोश वाला ।

'कुम्भमुष्का अयाशवः'

अ. ८.६.१५

कुम्भिनी - (१) कहारी (२) नदी, (३) जलाधिकारिणी ।

'उदकं कुम्भिनीरिव'

ऋ. १.१९१.१४.

कुम्भी - (१) छोटी कलशी, (२) जलाधार या धान्याधार कलश ।

'कुम्भीभ्याम्भृणौ सुते'

वाज.सं. १९.२७

(३) घट के समान गोलाकार पात्र ।

'वेद्यै कुम्भी सुराधानी'

वाज. सं. १९.१६

(४) भोजन बनाने के लिए पात्र -डेगची ।

'द्रोणकलशाःकुम्भ्यः'

अ. ९.६.१७

(४) हांड़ी ।

'उखा कुम्भी वेद्यां मा व्यथिष्टाः'

अ. १.२.३.२३

कुम्भीका - घड़े के समान पेट बढ़ा देने वाला जलोदर रोग ।

'कुम्भीका दूषीकाः पीयकान्'

अ. १६.६.८.

कुम्भे आभृत - कुम्भ में रखा जल ।

'शमुयाः कुम्भ आभृताः'

अ. १.६.४.

कुमार - कु + मार । (१) बुरी तरह शत्रुओं को मारने वाला, (२ ब्रह्मचारी ।

कुमारकः - (१) कुमार, (२) कुत्सित उपाय से मारने वाला ।

'नहि वो अस्त्यर्भकः
देवासो न कुमारकः'

ऋ. ८.३०.१, शा.श्रौ.सू. १०.११.८.

(३) नौजवान् कुमार ।

'अर्भको न कुमारकः'

ऋ. ८.६९.१५, अ. २०.९२.१२

कुमार देष्णः - (१) कुत्सित भावों के नाशक शिष्यो को ज्ञान देने वाला गुरु, (२) कुमारों, वीरों को धन पुरस्कार देने वाला (३) कुत्सि व्यवहारों को नाशक वीरों को धनादि देने वाला ।

'कुमार देष्णा जयतः पुनर्हणः'

ऋ. १०.३४.७

कुमारिका - कुसारिका या बन्ध्य कर्कोटिका नामक सर्प की एक जड़ी ।

'कैरातिका कुमारिका'

अ. १०.४.१४

कुमारिणा - नवयुवक सन्तान वाले मातापिता ।

'पुत्रिणा ता कुमारिणा'

ऋ. ८.३१.८, आप.मं.पा. १.११.१०.

कुमारी - (१) नवयौवन कन्या, (२) रहस्य न जानने वाली मुग्ध बुद्धि ।

'न वै कुमारि तत् तथा'

अ. २०.१३३.१-६.

कुमारीपुत्र - कुमारी दशा में व्यभिचार से उत्पन्न कानीन बच्चा

'प्रमदे कुमारी पुत्रम्'

वाज.सं. ३०.६

कुमुद - क + मुद् + अच् । कमल

'आण्डीकं कुमुदं सं तनोति'

अ. ४.३४.५

कुयव - (१) कुत्सित अन्न, (२) निन्दित संगी या (३) द्वेषी पुरुष ।

'प्रपित्वे अह्नः कुयवं सहस्रा'

ऋ. ४.१६.१२

(४) कुत्सित यव आदि धान्य (५) क्षुद्र जाति का और उत्तम जाति का शालि आदि धान्य

'कुयवं च अक्षितं च मे

वाज.सं. १८.१०, मै.सं. २.११.४, १४२, १, का.सं. १८.९.

(६) पृथ्वी से यव आदि पैदा करने वाला मेघ, ।

(७) कुत्सित अन्न खाने वाला ।

'शुष्णं पिप्रुं कुयवं वृत्रमिन्द्र'

ऋ. १.१०३.८

(८) कुत्सित संगति वाला पुरुष ।

'दासं यत् शुष्णं कुयवं न्यस्मा'

ऋ. ७.१९.२, अ. २०.३७.२

कुयवाक् - कुत्सित वाणी बोलने वाला ।

'नि दुर्योणे कुयवाचं मृधिश्चेत्'

ऋ. १.१७४.७

कुरीर - (न) क्रियत इति कुरीरम् मैथुनं वा इति दयानन्दः उणादिभाष्ये । अर्थ (१) कर्तव्य कर्म, (२) मैथुन

'कुरीरं छन्द ओपशः'

ऋ. १०.८५.८, अ. १४.१.८.

(३) कुरीर नाम का सिर का आभूषण ।

'अथो कुरीरिणं कृधि'

अ. ६.१३८.२

(४) सींग ।

कुरीरिन् - (१) कुरीर नामक सिर का आभूषण धारण करने वाला ।

'अथो कुरीरिणं कृधि'

अ. ६.१३८.२

(२) कुरीर अर्थात् सींग वाला पशु ।

'अजेवा यां कुरीरिणि'

अ. ५.३१.२

कुरु – (१) शत्रून कृन्तति इति कुरु (जो शत्रुओं को काटता है) । कृत् + कु = करुः (कृत् के ऋ का उ और निपातन से त् का लोप) । कृत् धातु का अर्थ छेदना है । अर्थ है– (१) योद्धा

(२) क्रूर अर्थ में भी कुरु है । कृत् + रक् = क्रूर (कृत् का क्रूर आदेश) । कृतः क्रू च । क्रूर से ही कुरु हुआ है

आधुनिक अर्थ – (१) वर्त्तमान दिल्ली से उत्तर स्थित देश का नाम जसे कुरुक्षेत्र कहते हैं, (२) कुरुदेश का राजा, (३) पुरोहित, (४) भात यह शब्द अत्यन्त प्राचीन है । उत्तर कुरु उस देश का नाम है जहां आर्य पहले निवास करते थे । वहां के निवासी उत्तराः कुरवः कहे गये हैं । आज भी कृषि कर्म आरम्भ करने के पूर्व कुरुखेत की पूजा की जाती है । कुरुक्षेत्र उस क्षेत्र का नाम है जिसमें खेती की जाती है । कुरु का अर्थ कृषि करने वाला भी है । 'कृ + कु' से भी कुरु बन सकता है ।

कुरुंग – (१) कर्म करने वाले समाज जीवों को प्राप्त –उनमें व्यापक –इन्द्र, प्रभु ।

'कुरंगस्य दिविष्टिषु'

ऋ. ८.४.१९, नि. ६.२२.

(३) एक राजा का नाम । वे कुरुओं के पास पुत्र रूप से गए अर्थात् उनके वंश में मिल गए (कुरून् राज्ञः प्रति पुत्र त्वेन पुत्रत्वेनगतः) । या कुरुङ्ग राजा कुरुक्षेत्र को जीतने गए (कुरुन् देशान् जेतुंगतः) या शत्रुओं के कुलों को पराजित करने नित्य जाते हैं (शत्रुकुलान् विजेतुम् नित्यमेवगच्छन्ति) ।

कुरुम् + गम् + खच् = कुरुङ्ग (मुम और टि का लोप) क्रूरान् शत्रून् गच्छतीति कुरुङ्ग कुरुन् + गम् + उ = कुरुङ्ग ।

शत्रुकुलं प्रति गच्छति इति कुरुङ्ग कुल + गम् । + उ= कुरुंग ।

कुरुतन – कुरुत (करो) । यहां 'न' का उपजन अनर्थक है । इसी प्रकार कर्तन का अर्थ 'कुरु त', यातन का अर्थ 'यात' है । 'न व्यर्थ बढ़ा हुआ है ।

'कुरुतनेत्यनर्थ का उपजनाः भवन्ति ।'

कुरुपिशंगिता – स्वयं अपने कर्मों से उत्पादित रूपों को अपने में धारण करने वाला ।

'श्वावित् कारु पिशङ्गिला'

वाज.सं. २३.५६

कुरुरु – कुत्सित शब्द करने वाला, चिटचिटाने वाला, बुरी तरह से रुलाने वाला कीट ।

'अथो कुरुरुमतृहन्'

अ. २.३१.२

कुरुश्रवण – कुरु, करु ऐसा कर ऐसाकर ऐसी नाना प्रेरणाओं को सुनने वाला पुरुष, (२) क्रियाशील पुरुषों से श्रवणणीय आज्ञा वाला ।

'कुरुश्रवण ददतोमघानि'

ऋ. १०.३२.९

कुरूटिनी – कुत्सित कठोर शब्द या प्रतिघात करने वाली ।

'वाहिनी विश्वरूपा कुरूटिनी'

अ. १०.१.१५

कुरूरु – चील ।

'यावती भृङ्गाः जत्वकुरुरवः'

अ. ९.२.२२.

कुर्कुर – कुत्ता ।

'कुर्कुराविव कूजन्तौ'

अ. ७.९५.२

कुर्वती – क्रियाशीलता ।

'कुर्वतींकुर्वतीमेवाप्रियस्य
भ्रातृव्यस्य श्रियमा दत्ते'

अ. ९.५.३२

कुर्वन्ऋतुः – (१) क्रियाशील वर्षा करने वाली वर्षाऋतु ।

'योऽजं पञ्चौदनं दक्षिणाज्योतिषं ददाति
यो वै कुर्वन्तं नामर्तुं वेद'

अ. ९.५.३२

कुल – कुष् (निष्कर्ष अर्थात् वाहर निकलना) + क = कुल । ष् का ल् पृषोदरादि के तुल्य । विकुष्यत इति कुलम् । जब परिवार बढ़ जाता है तो परिवार के कुछ लोग एक स्थान से निकलकर अन्यत्र चले जाते हैं । इस चले जाने का ही नाम विकोषण या निष्कोषण है । इस प्रकार कुष् शब्द से कुल बना । आज भी Colony शब्द उस प्रदेश के लिए प्रयुक्त होता है जहां किसी देश विदेश की जनता जाकर बस जाती

है। यह शब्द कुल से ही बना है। यहां अनेक कुलों के लोग बसते हैं (कुलानि)।
अथवा कुल् (संस्थान फैलाना) + क = कुल (जो फैलते हैं वे कुल हैं)।
कुलपः कुल + पा + अच्। कुल का पालक पुत्र, शिष्य
'कुलपा न व्राजपतिं चरन्तम्'
ऋ. १०.१७९.२, अ. ७.७२.२

कुलपा - (स्त्री) (१) कुल का पालन करने वाली, बहुत से कार्यों का पालन करने वाली।
'एषा ते कुलपा राजन्'
अ. १.१४.३

कुल्फ - पैर का टखना, ठेहुना।
'अष्ठीवन्तौ परिकुल्फौ च देहत्'
ऋ. ७.५०.२

कुड्मल - (१) कुल्मल नामक पद्म ओषधि जिससे विष दूर होता है। (२) प्राणी के मल से उत्पन्न।
'अपाष्ठात् श्रृंगात् कुल्मलात्'
अ. ४.६.५
(३) कुड्मल, कोमलफूल की कली।
'शल्य इव कुल्मलं यथा'
अ. २.३०.३

कुल्यः - नहरों के प्रबन्ध में या बनाने में लगा पुरुष।
'नमः कुल्याय च सरस्याय च नमः'
वाज.सं. १६.३७, का.सं. १७.१५

कुलाय - (१) गृह।
'कुलसिनी घृतवती पुरन्धिः'
वाज.सं. १४.२, मै.सं. २.८.१,१०६.९, का.सं. १७.१, श.ब्रा. ८.२.१.५,१५.
(२) घोसला।
'कुलायेऽधिकुलायम्'
अ. ९.३.२०
'वेददित् पश्यन् मनसः कुलायम्'
अ. १४.१.५७
(३) कुटुम्ब।
"कुलायन् कृण्वन् कौरव्यः'
अ. २०.१२७, ८, शां.श्रौ.सू. १२.१७.१.२.

कुलायिनी - (१) गृहवाली स्त्री या प्रजा, (२) शरीर रुपी गृहवाली चितिशक्ति।
'कुलायिनी घृतवतीपुरन्धिः'
वाज.सं. १४.२, मै.सं. २.८.१, १०६.९, का.सं. १७.१, श.ब्रा. ८.२.१.५,१५.

कुलायी - (१) गृहोपयोगी, (२) नानाद्रव्यों से समृद्ध, (३) सर्वाश्रय प्रद।
'कुलायिनं घृतवन्तं सवित्रे'
ऋ. ६.१५.१६, तै.सं. ३.५.११.२ मै.सं. ४.१०.४, १५२.५, कासं. १५.१२, ऐ.ब्रा. १.२८.२८.

कुलाल - कुम्हार।
'नमः कुलालेभ्यः कमरिभ्यश्च वो नमः'
वाज.सं. १६.२७, तै.सं. ४.५.४.२. मै.सं. २.९.५:१२४.६, का.सं. १७.१३.

कुलाययत् - (१) घर या स्थान घेर कर संघ बनाकर रहने वाला, कुत्सित रूप प्राप्त कराने वाला विष (३) अंहाकारादि वृत्त को उत्पन्न करने वाला
'कुलालयत् विश्वयत् मा न आगन्'
ऋ. ७.५०.१

कुल्माष - सजातीय अन्न संघों में जो अन्न सीदन करे या भ्रष्ट हो जाय उसे कुल्माष कहते हैं (कुल्माषाः कुलेषु सीदन्ति-सजातीयान्नसंघेषु भ्रष्टाः भवन्ति सीदन्ति इति कुल्माषाः)
कुल + माष् (ण्यन्त) + अच् = कुल्माष। अर्थ है-(१) निकृष्ट अन्न। (२) अर्द्ध स्विन्ना श्चगोधूमः अन्ये च चणकादयः, कल्माष इति कथ्यन्ते। अधपका गेहूं चना और यव आदि अन्न। कुल + सद् = कुल्सद् = कुल्पाष।
आज भी जिस आम के फल में पत्थर आदि गिरने से दोष आ जाता है उसे कुलवांसी कहते हैं। कुल्मासांश्चिदाहर' (कुत्सित अन्न ही ला) आधुनिक अर्थ- (१) लप्सी (gruel) (४) कुत्सित अन्न, (३) कुत्सित।

कुल्या - (१) धारा।
'घृतस्य कुल्या उपऋतस्य पथ्या अनु'
वाज.सं. ६.१२,
(२) नहर।
'मेदसः कुल्या उप तान् स्रवन्तु
वाज.सं. ३५.२०,
(३) छोटी-छोटी नाली।
'सोमास इन्द्रं कुल्या इव ह्रदम्'
ऋ. १०.४३.७, अ. २०.१७.७.
(४) छोटी छोटी जलधारा।
'ह्रदं कुल्या इवाशत'

ऋ. ३.४५.३, साम. २.१०७०.

'अस्नस्ते मध्ये कुल्यायाः'

अ. ५.१९.३

(५) नहर, नदी ।

'कुल्योपसेचनम्'

अ. ११.३.१३

धारा के अर्थ में- ।

'तेभ्यो घृतस्य मे कुल्यैतु'

अ. १८.४.५७, ३.७२, तै.आ. ६.१२.१

कुलिश - (१) वज्र । कूल + शत (शातन अर्थ में) + ड = कुलिश ('कू' का 'कु', इ का आगम) । इसका कूल (किनारा) तीक्ष्ण होने के कारण काटते हैं ।

स्कन्दस्वामी ने इसका अर्थ 'कुलपर्वतान् श्यति पक्षच्छेदेन तनूकरोति' (कुल पर्वतों का पंख काटकर जो छोटा बना दे वह) इति कुलिशः- ऐसा कहा है । उनके अनुसार -कुल + शा (तनूकरण) + क क्ष कुलिश हुआ है । आतोऽनुपसर्गे कः से क प्रत्यय ।

वेद में कुलिश पुल्लिंग में प्रयुक्त हुआ है । परन्तु इस समय इसका प्रयोग नपुंसक में है ।

'अहन् वृत्रं वृत्रतरं व्यंसम्
इन्द्रो वज्रेण महता वधेन
स्कन्धांसीव कुलिशेनाविवृक्ण
अहिःशयत उपपृक् पृथिव्याः ।'

ऋ. १.३२.५, मै.सं. ४.१२.३ः १८५.९,१०, तै.ब्रा. २.५.४.३.

कुलिशी - अस्त्र शास्त्र से युक्त या अस्त्र शस्त्र से राष्ट्र की रक्षा करने वाली प्रजा ।

कुलीक - कुलीक नामक पक्षी ।

'कुलीका देवजामिभ्यः'

वाज.सं. २४.२४,

कुलीपय - (१) मुर्गायी नामक जन्तु ।

'मित्राय कुलीपयान्'

वाज.सं. २४.२१

(२) एक जलजन्तु, (३) कुलीपय की तरह बनी नौका ।

'नाक्रो मकरः कुलीपयः'

वाज.सं. २४.३५

कुलुङ्गः - कुरंग जाति का मृग ।

'साध्येभ्यः कुलुङ्गान्'

वाज.सं. २४.२७, मै.सं. ३.१४.९ः १७४.४.

कुलुञ्च - कुलों का अध्यक्ष ।

'कुलुञ्चानां पतये नमः'

वाज.सं. १६.२२ तै.सं.४.५.३.७; मै.सं. २.९.३; १२३.७; का.सं. १७.१२.

कुवल - बेर का पौधा, (२) शत्रु की भूमिका को घेर देने वाला सेवादल ।

'कुवलैर्भेषजं मधु'

वाज.सं. २१.२९

(३) भूमि में उगा कांटेदार वृक्ष ।

'कुवलैरुतानि'

वाज.सं. १९.८९ .

(४) कोमल बेर का फल ।

'धानानां रूप कुवलम्'

वाज.सं. १९.२२.

कुवित् - (१) बहुत, बहुत बार ।

'उक्थेभिः कुविदागमत्'

अ. २०.२४.४

(२) खूब । कुवित् से ही खूब बना है ।

'कुवित्सोमस्यापामिति'

ऋ. १०.११९.१-१३

(३) बहुत, महान् ।

'कुवित् नो अग्निः उचथस्य वीरसत्'

ऋ. १.१४३.६

विनीत विद्यार्थी (अग्निः) हमारे (नः) बहुत से उत्तम वचनों या आज्ञा वचनों का (उचथस्य) पालक या प्राप्त करने का इच्छुक हो (वीः असत्)

(४) बहु कृत्वः (अनेकबार), कई बार, अत्यन्त-दया. ।

'तां आरुद्रस्य मीढुषो विवासे
कुविन्नंसन्ते मरुतः पुनर्नः
यत्सस्वर्ता जिहीडिरे यदाविः
अव तदेन ईमहे तुराणाम्'

ऋ. ७.५८.५.

मैं उन मनोरथों को बरसाने वाले रुद्र के पुत्र मारुतों की अभिमुख हो परिचर्या करता हूं (तान मीढुषः रुद्रस्य मरुतः आ विवासे) क्योंकि वे अनेकों बार (कुवित्) हमें जल दान द्वारा अनुगृहीत करते हैं (न पुनः नंसन्ते) और जिस छिपे (यत् सस्वर्ता) तथा प्रकट (आविः) पाप से (एनः) लोग लज्जित होते हैं (जिहीडिरे) उन

दोनों प्रकार के पापों को शीघ्रगामी मरुतों के अनुग्रह से हम दूर कर देते हैं (तुराणाम् अव) अतः हम उनसे याचना करते हैं (ईमहे) - सा.। स्वा. दयानन्द का अर्थ- हम उन दुःखभंजक परमात्मा के सेवक (तान् रुद्रस्य मीढुषः) मनुष्यों की सेवा करते हैं (अविवासे) जो सेवा करने पर हमारे प्रति अत्यन्त नम्र हो जाते हैं (नः पुनः कुवित् नंसन्ते), परन्तु जो गुप्त या प्रकट पाप के द्वारा (यत् सस्वर्ता यत् आविः) हमारा निरादर करते हैं (जिहीडिरे) हम उन हिंसकों को (तुराणाम्) उस पाप को (एनः) दूर करते हैं (अव ईमहे)।

'कुवित् तिसृभ्य आ वरम्'

ऋ. २.५.५.

कुवित्स - (१) कुत्सित ज्ञान वाला अल्प ज्ञानी, जीव, (२) बहुतों देहों का नाश करने वाला, (३) बहुत जन्म लेले कर देहों को त्यागने वाला जीव।

'कुवित्सस्य प्र हि व्रजं
गोमते दस्युहा गमत्'

ऋ. ६.४५.२४, अ. २०.७८.३, साम. २.१०१८.

(४) विवेक पूर्वक बहुत धनका विभाग करने वाला, (५) न्यायकर्त्ता विवेकी पुरुष, (६) बहुत से भोग्य पदार्थों का भोक्ता जीव

कुबेर - (१) पृथ्वी में गड़े खजाने का मालिक (२) कुबेर नामक देवता।

कुत्वेर वैश्रवण - तिरोधा विराट् का पुत्र।

'तस्याः कुबेरो वैश्रवणो वत्स आसीत्'

अ. ८.१० (५) १०

कुशर - (१) छोटी जाति के सरकण्डे के समान विषैला जीव।

'शरासः कुशरासः'

ऋ. १.१९१.३.

कुशवर्तक - (१) कुश के समान रहने वाला (२) नित्य वर्तमान परमात्मा, (३) संसार में सोया पड़ा व्यवहारी जीव। कु + श + वर्तक

'अहल कुशवर्तक'

अ. २०.१३१.६

कुशिक - कोषतेः शब्द कर्मणः, क्रंश तेर्ना स्यात् (शब्दार्थक कुष् या क्रंश् धातु से सिद्ध)। अर्थ प्रकाशयति कर्मणः, साधु विकोशयिता अर्थानाम् (१) वाग्मी, (२) ऐश्वर्य वान्, धनी (३) तेजस्वी, (४) ज्ञानी पुरुष।

'कुशिकासो अवस्यवः'

ऋ. ३.४२.९, अ. २०.२४.९

(५) कुशिक नामक ऋषि जिसके पुत्र विश्वामित्र थे।

'अवस्युरह्वे कुशिकस्य सूनुः'

ऋ. ३.३३.५.

मैं कुशीक पुत्र अपनी रक्षा का इच्छुक पुकारता है। (६) एक राजा का नाम (कुशिको राजा वभूव)।

व्युत्पत्ति - क्रुश् (बोलना या आह्वान् करना) या कंश (प्रकाशित करना) + ईहक् (कर्त्ता में) = क्रुशिक = कुशिक्। पृषोदरादिवत् र् का लोप। अथवा क्रश् = ईशक् = क्रशिक = कुशिक (क्रंश् का कुश)। (७) कुशिक धर्मों का प्रकाशक या सदा साधु कर्म करने का उपदेश देने वाला। ('साधूनाम धर्माणाम् प्रकाशयिता' अथवा 'साधु एव क्रियताम् इति क्रोशति स्म')।

(८) या साधुओं को अर्थ देने वाला (साधुषु अर्थानां विक्रोशयिता) (९) या कुश् + ईशक् = कुशिक (दान देने कि निमित्त जो सदा कुश् लेकर प्रस्तुत है अर्थात् दान शील) (१०) स्वामी दयानन्द ने उत्तम वाणी वाला या विद्वान् अर्थ माना है। (११) कुश + ठक् = कुशिक। विद्या से प्रकाशित या हित की बातों को प्रकाशित करने वाला। कुश धातु प्रकाशित करना अर्थ में है।

कुशिकस्य सूनुः - (१) कुशिक का पुत्र विश्वामित्र, (२) निष्कर्ष रूप में विद्याओं के द्वारा उपदेश करने वाले विद्वान् पुरुष का पुत्रवत् शिष्य, (३) शस्त्रास्त्रकुशल सैन्यबल का संचालक पुरुष (४) कोशस्थ आत्मा का ज्ञाता।

'अवस्यु रह्वे कुशिकस्य सूनुः'

ऋ. ३.३३.५, नि. २.२५.

कुशिकाः - (१) कुशिक वंश वाले, (२) उद्बोधक राजपुरुष।

'उपप्रेत कुशिकाश्चेतयध्वम्'

ऋ. ३.५३.११, नि. ७.२.

ऐ कुशिक वंश वालो, या उद्बोधक राजपुरुषों! सावधानचित्त होओ। व्युत्पत्ति के लिए।

कुशिकासः - (१) कुशिक वंश वाले, (२) सत्य का उपदेश करने वाले विद्वान्, (३) शत्रु को ललकारने वाले वीरजन।
'गीर्भी रण्यं कुशिककासो हवामहे'
ऋ. ३.२६.१

कुष्ठ - (१) कूट नामक ओषधि।
'कुष्ठस्य नलदस्य च'
अ. ६.१०२.३
(२) कौ पृथिव्या तिष्ठतीति कुष्ठः (कु + स्था + क)। अर्थ-कुष्ठ नामक वनस्पति जो हिमवान् पर्वत पर होता है पृथ्वी पर स्थित सभी ओषधियां कुष्ट ही हैं। जल-भेद से, अग्नि भेद से रस भेद से सूर्य के भिन्न-भिन्न प्रकार के आतपभेद से, मास भेद से, ऋतुभेद से, वायु, पृथिवी आदि भेद से कुष्ट के नामभेद हो सकते हैं।

कुष्ठा - (१) जाँघ और चूतड़ दोनों के बीच का गहरा भाग।
'बलं कुष्ठाभ्याम्'
वाज.सं. २५.६, मै.सं. ३.१५.३, १७८.९.
(२) त्वचा के कुत्सित रोग
'संकुष्ठा अगुः'
अ. १९.५७.२

कुष्ठिका - (१) गौ के खुरों के ऊपर पीछे की ओर लगी हुई उंगली।
'अप्सरसः कुष्ठिकाः'
अ. ९.७.१०
(२) प्रजापति की कुष्टी।
'ते कुष्ठिकाः सरमायै'
अ. ९.४.१६

कुसुम्भ - कीटों की विष वाली थैली।
'भिनद्मि ते कुसुम्भम्'
अ. २.३२.६

कुसुम्भकः - (१) बहने वाला, (२) विषमय छोटा नकुल, (३) छोटा नेवला।
'इयन्तकः कुसुम्भकः'
ऋ. १.१९१.१५.

कुसिन्ध - शरीर।
'देवः कुसिन्धे अध्या दधौ'
अ. १०.२.५

कुसूल - कुसि + ऊलच् = कुसूल कुसेरुवच् इत्यतः उणादिरुलच।
(१) कुत्सित रूप में दूसरे के साथ लगाने वाला, बिना मतलब दूसरों के सिर हो जाने वाला।
(२) गाली गलौज करने वाला।
'कुसूला ये च कुक्षिलाः'
अ. ८.६.१०

कुह - (१) कहाँ (अव्यय)।
'यं स्मा पृच्छन्ति कुह सेति घोरम्'
अ. २०.३४.५
(२) विद्वान् पुरुष।
'एतं पृच्छ कुहं पृच्छ'
अ. २०.१३०.५
कहां के अर्थ में-
'कुहाभिपित्वं करतः कुहोषतुः'
ऋ. १०.४०.२२, नि. ३.१५.
कहां स्नानभोजनादि करते हो और कहां रहते हो?

कुहचित् - कहां।

कुहया- कहां है ऐसी जिज्ञासा।
'कुहया कुहयाकृते
ऋ. ८.२४.३०

कुहयाकृतिः - कुहया + कृति। आत्मा या प्रभु कहां है इस प्रकार की जिज्ञासा करने वाली बुद्धि।
'कुहया कुहयाकृते'
ऋ. ८.२४.३०

कुहस्वित् - (अ.) कहां।
'कुहस्वित् दोषा कुह वस्तोरश्विना'
ऋ. १०.४०.२, नि. ३.१५.
(रात कहां बितायी)।

कुहाक् - आश्चर्यमय।
'कुहाकं पक्वकं पृच्छे'
अ . २०.१३०.६

कुहू - (१) उत्तरा अमावास्या, (२) अन्तंरगसभा।
'कुहूं देवीं सुकृतं विद्मना पसम्'
अ. ७.४७.१, मै.सं. ४.१२.६, १९५.८, का.सं. १३.१६.
व्युत्पत्ति - गुह् + कु + ऊङ् = कुहू। अर्थ है- (३) देव पत्नी जो गुह्य बातों को गुप्त रखती है अर्थात् बहुत गम्भीर रहती है, (४) अथवा देव पत्नी को देखकर पूछा जाता है कि यह किस

कुल की है–क्व + यू = कुहू। Queen शब्द का मूल 'क्या क्व यू' या 'कुहू' ही है ! (५) अमावस्या, (६) नष्ट कला। अमावस्या के अन्तिम दोपहर जब कला का सम्पूर्णतः क्षय हो जाता है कुहू है।

सा दृष्टेन्दुः सिनीवाली सा नष्टेन्दु कला 'कुहू'
–अमर कोश

चतुर्दशी का अन्तिम प्रहर और अमावस्या के आठ प्रहर चन्द्रमा का क्षयकाल है। इन नौ प्रहरों में पहले के दो पहर चन्द्रमा की सूक्ष्मता के लिए प्रसिद्ध हैं और अन्तिम दो प्रहरों में चन्द्रमा की सम्पूर्ण कलाओं का क्षय हो जाता है। अतः अमावास्या का प्रथम प्रहर जिसमें कला की सूक्ष्मता रहती है 'सिनीवाली' नाम से प्रसिद्ध है और अमावास्या के अन्तिम दो प्रहर जब कला का सम्पूर्णतः क्षय हो जाता है, 'कुहू' कहा जाता है बीच वाले पांच प्रहर 'दर्श' नाम से प्रसिद्ध है।

(६) देवपत्नी जहां कहीं भी हो बुलायी जाती है (क्व + ह्वञ् = कुहू)। या यह देवी किस कुल में आहुत हव्य को ग्रहण करती है–क्व + हु = कुहू

(८) गम्भीर पत्नी।

'कुहूं देवीं सुकृतं विद्मनापसम्
'अस्मिन् यज्ञे सुहवा जोहवीमि'

अ. ७.४७.१

मैं शोभन कार्य करने वाली (सुकृतं) कर्म को जानने वाली, सुन्दर आह्वान वाली अमावास्या को (सुहवां कुहूम्) इस यज्ञ में बुलाता हूँ। (अस्मिन् यज्ञे जोहवीमि)।

अन्य अर्थ – मैं साधु कर्म कारिणी (अहं सुवृतं) अपने कर्त्तव्यों को जानने वाली (विद्मनापसम्) आदरपूर्व बुलाने के योग्य (सुहवाम्) गम्भीर पत्नी को (कुहूम्) इस गृहस्थ यज्ञ में स्वीकार करता हूँ (अस्मिन् यज्ञे जोहवीमि)।

क्रुङ् – (१) हंस (२) अतिसूक्ष्म आत्मा (३) ज्ञानी, योगी (४) परमहंस।

'अद्भ्यः क्षीरं व्यपिबत्
क्रुङ्ङाङ्गिरसो धिया'

वाज.सं. १९.७३, मै.सं. ३.११.६:१४८.१२, का.सं. ३८.१, तै.ब्रा. २.६.२.२

क्रुञ्च – क्रौञ्च, सारस।

'इन्द्राग्निभ्यां क्रुञ्चान्'

वाज.सं. २४.२२, मै.सं. ३.१४.३, १७३.३.

क्रुध्मी – क्रोधयुक्त।

'शुभ्रो वः शुष्मः क्रुध्मी मनांसि'

ऋ. ७.५६.८

क्रुमुः – (१) क्रमिता –दया. (२) ऊंची तरंगें फेकने वाला नद, (३) एक नदी का नाम।

'मा वो रसानितभा कुभा क्रुमुः
मा वः सिन्धुः निरीरमत्'

ऋ. ५.५३.९

क्षु – अन्न।

'पुण्यं भक्षीमहि क्षवम्'

अ. १९.८.५.

क्षुणुवानः – देता हुआ।

'वाचं क्षुणुवानो दमयन् सपत्नान्'

अ. ५.२०.१

क्षुद्र – (१) क्षुद्र नामक सूक्त जिसमें अति सूक्ष्म ब्रह्म विवेचन किया गया है।

'क्षुद्रेभ्यः स्वाहा'

अ. १९.२२.६, २३.२१

(२) न. जल।

'अवतरमव क्षुद्रमिवस्रवेत्'

ऋ. १.१२९.६, नि. १०.४२.

इन्द्र अत्यन्त निकृष्ट को (अवतरम्) जल की तरह (क्षुद्रमिव) अपने स्थान से गिरा दे (अवस्रवेत्)। क्षुद् + रा = क्षुद्र। क्षुधा अर्थात् भूख देने वाला जल (३) छोटा, नीच।

क्षुद्रपृषती – छोटी छोटी छींट वाली पोषाक वाली स्त्री।

'पृषती क्षुद्रपृषती

वाज.सं. २४.२, मै.सं. ३.१३.३, १६९.४, का.सं. (अश्व) ९.२.

क्षुध्यत् – क्षुधापीड़त, भूखा। क्षुध् + शतृ = क्षुध्यत्।

'इन्द्र क्षुध्यद्भ्यो वय आसुतिं दाः'

ऋ. १.१०४.७

हे परमेश्वर ! क्षुधापीड़तों को अन्न और पान करने योग्य दुग्ध आदि दे।

क्षुधामार – (१) भूख के कारण मारने वाला, (२) मृत्यु, (३) भस्मक नामक रोग।

'क्षुधामारं तृष्णामारम्'
अ. ४.१७.६

क्षुभ् – शोभा या उत्साह पूर्वक संचालन की रीति ।
'क्षुभामर्तमनुयातं वधस्नैः'
ऋ. ५.४१.१३

क्षुमत् – (१) क्षु + मतुप् । अन्न वाला स्थान ।
'आयूथेव क्षुमति पश्वो अख्यत्'
ऋ. ४.२.१८, अ. १८.३.२३
(२) अन्नयुक्त
'क्षमन्तो याभिर्मदेय'
ऋ. १.३०.१३, अ. २०.१२२.१, साम. १.१५३.२, २.४३४, तै.सं. १.७.१३.५, २.२.१२.८, ४.१४.४, मै.सं. ४.१२.४, १८९.६ का.सं. ८.१७.
हम अन्नयुक्त हों जिन ऐश्वर्यवती प्रजाओं या स्त्रियों के साथ राष्ट्र में सुखपूर्वक रहे ।
'त्वं वाजस्य क्षुमतो राय ईशिषे'
ऋ. २.१.१०

क्षुमती – मन्त्रमय शब्दों से युक्त वेदवाणी
'सो चिन्नु भद्राक्षुमती यशस्वती'
ऋ. १०.११.३, अ. १८.१.२०

क्षुम्पम् – (न.) क्षुभ् + ण्यत् = क्षौम्य (छूते ही टूट जाने योग्य) क्षौम्य से पृषोदरादिवत् क्षुम्य हो गया है (औ का उ, भ का प, य का लोप, म का आगम) । क्षुभ् धातु संचलन या शीर्ण होने के अर्थ में है (स्पष्ट मात्रं क्षुभ्यते) ।
अथवा –क्षुभ् + प = क्षुम्य । अर्थ– (१) सांप का छाता जो बरसात के दिनों में लकड़ी आदि में उत्पन्न हो जाता है और जिस का आकार छाते का सा है ।
'कदा मर्तमराधसं पदा क्षुम्पमिव स्फुरत्'
ऋ. १.८४.८, अ. २०.६३.५, साम. २.६९३, नि. ५.१७.
इन्द्र कब आराधना न करने वाले मनुष्य को सांप के छाते के समान नष्ट कर देंगे ।

क्षुर – छुरा ।
'क्षुरो न भुरिजोरिव'
अ. २०.१२७.४ शां.श्रौ.सू. १२.१५.१.१.
'आयमगन् सविता क्षुरेण'
अ. ६.६८.१, कौ.सू. ५३.१७.

क्षुरपविः – (१) तीक्ष्ण धारवाला चक्र ।
'तं मरुतः क्षुरपविना व्ययुः'
नि. ५.५.
उस वृत्र को मरुतों ने तीक्ष्ण धार वाले चक्रनेमि से क्षीण भिन्न किया । (२) छुरे की धार के समान तीक्ष्ण
'क्षुरपविरीक्षमाणा'
अ. १२.५.२०

क्षुरभृष्टि – छुरे की धार से सम्पन्न ।
'तीक्ष्णेन क्षुरभृष्टिना'
अ. १२.५.६६

क्षुरा – (१) उत्तम शब्द, (२) धर्मशब्द ।
'अंसेष्वेताः पविषु क्षुरा अधि'
ऋ. १.१६६.१०

क्षुरोभ्रजः – (१) छुरा कर्म,. (२) आदित्य ।
'क्षुरोभ्रजश्छन्दः'
वाज.सं. १५.४, तै.सं. ४.३.१२.३, मै.सं. २.८.७, १११.१५, का.सं. १७.६, श.ब्रा. ८.५.२.४.

क्षुल्लक – छोटा मोटा कीटों का सहचर (२) कीटों का छोटा छोटा बच्चा ।
'अथो ये क्षुल्लका इव'
अ. २.३२.५, ५.२३.१२

कूचिदर्थी – कहीं भी अभ्यर्थना करने योग्य परमेश्वर ।
'सुवेदं कूचिदर्थिनम्'
ऋ. ४.७६

कूटा – कूटनीति वाली वशा ।
'कूटयास्य संशीर्यन्ते'
अ. १२.४.३

कूदी – कांटेदार बेड़ी या कड़ी ।
'कूद्यं पदयोपनीम्'
अ. ५.१९.१२

कूप – कु + पा + हु = कूप (बाहुलक भाव से कु का कू) । अर्थ–(१) कुआं । कुत्सितं पानं यस्य (रस्सी आदि से जल निकालने के कारण कुएं का जल कुत्सित समझा जाता है) ।
अथवा – यत्सम्बन्धात् उदकार्थिनः कुप्यन्ति । कूप रहने पर डोरी आदि न रहने के कारण प्यास नहीं बुझने से जलार्थी कुपित हो जाते हैं अतः कूप है) । कुप् + क = कूप (बाहुलक से दीर्घ) । शाकटायन के मत से 'कु' धातु से 'प' जोड़कर कूप बना है । कुवन्ति शब्दायन्ते मण्डूकाः अस्मिन् इति कूपः (इसमें मेढ़क बोलते हैं अतः

कूप हैं) ।

पाणिनि ने 'कुत्सिताः ईषत् वा आपः अस्मिन्' (कुत्सित या अल्प जल है इसमें ऐसी व्युत्पत्ति की है) । कु + आप = कूप । समासान्त 'अ' प्रत्यय जोड़कर दीर्घ निदेश ।

कूप्य – कूप + यत् = कूप्य । कूपों पर नियत पुरुष ।

'नमः कूप्याय चावट्याय च ।'

वाज.स. १६.३८, तै.सं. ४.५७.२, का.सं. १७.१५.

कूप्या – कूप का जल ।

'कूप्याभ्यः स्वाहा'

वाज.सं. २२.२५, तै.सं. ७.४.१३.१, का.सं. (अश्व.) ४.२, तै.ब्रा. ३.८.१७.१५, आप.श्रौ.सू. २०.११.१७.

कूर्मः – (१) क्रिया उत्पन्न करने में समर्थ सूर्य, (२) द्यौ और पृथिवी रूप विराट् कूर्म-कच्छप ।

'द्यावापृथिवीयः कूर्म'

वाज.सं. २४.३४, मै.सं. ३.१४.१५, १७५.१०.

कूल – (१) रुज् + घञ् (कर्मवाच्य में)= गुर् + घञ् = कूल । अर्थ है-तट, किनारा

(२) क्रोधः निरुणद्धि जलप्रवाहम् (जो जल प्रवाह को रोकता है) । रुज् (भंग करना) धातु को विपरीत कर अर्थात् जुर् बनाकर कूल शब्द बना है । उ को ऊ और ज् का क् तथा (का ल) रूज्यते भज्यते इति कूलम् (जो जल से तोड़ दिया जाय वह कूल है)

कूल्य – तटों पर आश्रय बनाकर रहने वाला ।

'नमस्तीर्थ्यार्य च कूल्याय च'

वाज.सं. १६.४२, तै.सं. ४.५.८.२, का.सं. १७.१५.

कूल्बज् – कु + उल्वज, उच्यति समवति इति उल्वः । कु सम्बन्धी उल्वः कूल्बः । तस्मात् जातः कूल्वजः । पृथिवीवासिसमुदायोद्भूत नेतृपुरुषः ।

अर्थ – पृथ्वीं वासीजन समुदाय से उत्पन्न पुरुष ।

'कृत्या कूल्बजमावृता'

अ. १२.५.५३.

कूश्म – (१) शासक, पदाधिकारी, (२) अग्नि के बल से फेंके जाने वाला गोला और अग्निमय पदार्थ, (३) शासनबल ।

'कूश्मान् शकपिण्डैः'

वाज.सं. २५.७, वाज.सं.(का.) २७.१०, मै.सं. ३.१५.९, १८०.६.

कुष्ठ – कु + स्थ । भूमि पर विराजने वाला ।

'कूष्ठोदेवावश्विना'

ऋ. ५.७४.१

क्रूर – (१) कृत् (छेदन भेदन करना) + छ = क्रूर (कृतेश्छः क्रू च) । छेदन भेदन सामर्थ्य ।

'नहि ते अग्ने तन्व क्रूरमानंशमर्त्यः'

ऋ. ६.४९.१, का.सं. ३५.१४, तै.ब्रा. २.२२३, तै.आ. ६.१०.१, आप.श्रौ.सू. १४.२९.३, कौ.सू. ४६.१४.

(२) कृत् (कृन्तन) + रक् = क्रूर । ('कृतः छः क्रू च' से कृत् का क्रू) । अर्थ-काटने वाला, हिंसा करने वाला । (३) कृती + ऊरन् = क्रूर आधुनिक अर्थ – क्रूर ।

कृ – कृञ् हिंसायाम् (स्वादिः) । स्वादिभ्यः श्नुः। हिंसा करना, मारना

'परुषानमून् परुषाह्वः कृणोतु'

अ. ८.८.४

कृकदाशुः – (१) कृका हिंसा तां दाशति प्रयत्छति इति कृकदाथुः । हिंसाकारी प्रयोग करने वाला, (२) कृकलाश- गिरगिट, (३) उल्लू के समान धूर्त कपटी पुरुष ।

'जम्भया कृकदाश्वम्'

ऋ. १.२९.७, अ. २०.७४.७.

(४) कृक (हिंसा) + दाशृ + उण् = कृकदाश । हिसां और आघात करने वाला डाकू ।

कृकलास – सरत, गिरगिट ।

'कृकलासः पिप्पका शकुनिस्ते शरव्यायैः'

वाज.स. २४.४०, तै.सं. ५.५.१९.१, तै.सं. ३.१४.२१, १७७.५, का.सं.(अश्व.) ७.९.

कृकवाकु – (१) मयूर आदि सुन्दर पालतू पक्षी ।

'यां ते चक्रुः कृकवाकौ'

अ. ५.३१.२

(२) कण्ठ से सुन्दर वाणी बोलने वाला विद्वान् । (३) मुर्गा ।

'कृकवाकुः सावित्रः'

वाज.सं. २४.३५, तै.सं .५.५.१८.१, मै.सं. ३.१४.१५, १७५.९, का.सं. (अश्व.) ७.८.

'महानग्नी कृकवाकुम्'

अ. २०.१३६.१०, शा .श्रौ.सू. १२.२४.२.५.

(४) सवितुः कालम् असौवदति (यह सविता

का काल बतलाता है) । अतः कृकवाकु सावित्र कहलाया । इसका पूर्वपद 'कृक' शब्दानुकरण है और उत्तरपद वाकु वच् (बोलना) + उण् से बना है । वच् के अ की वृद्धि च् का कू । कृफं वक्ति (कृक जैसा शब्द बोलता है । अतः यह कृकवाकु है । अर्थ कुक्कुट मुर्गा।

आधुनिक अर्थ- ताम्रचूड़ कुक्कुट, चरणायुध, मयूर, छिपकिली ।

कृकाट - गौ के गले की पेटी

‘प्रजापतिश्च परमेष्टी च श्रृंगे शिरो
अग्निर्ललाटं यमः कृकाटम्’

अ. ९.७.१

ककाटिका - गले की घंटी ।

‘ककाटिकां प्रथमो यः ललाटम्’

अ. १०.२.८

कृच्छ्रेश्रित् - (१) संकटग्रस्त ।

‘कृच्छ्रेश्रितः शक्तीवन्तो गभीराः’

ऋ. ६.७५.९, वाज.सं. २९.४६, तै.सं.४.६.६.३, मै.सं. ३.१६.३, १८६.१३, का.सं.(अश्व). ६.१.

(२) संकट में प्रजाओं द्वारा आश्रय लेने योग्य

कृणवन् - करिष्यन्ति (करेंगे) । कृ (करना) के लृट् प्र.पु. ब. व. का रूप। लृट् लङ् भाव । शप् आर्ष है ।

कृण्वन् - कृ + शतृ - कृण्वन् । अर्थ-करता हुआ ।

‘गातुं कृण्वन् उषसो जनाय ।’

ऋ. ४.५१.१

कृण्वन्ति - कुर्वन्ति (करते हैं) ।

कृणवाम - करते हैं ।

‘तस्मा अर्चाम कृणवाम निष्कृतिम्’

ऋ. १०.१६५.१, अ. ६.२७.१, मा.श्रौ.सू. ९.१.५.

उप पाप से निवृत्ति पाने के लिए अर्चना करते हैं

कृणु - कृणुहि, कुरु । कर । कृ धातु के लोट् म.पु.ए.व. का रूप ।

कृणुते - कुरुते (करता है) कृ के लट् प्र.पु.ए.व. का रूप ।

‘साते जीवातुरुत तस्य विद्धि
मा स्मैतादृगप गूहः समर्ये ।
आविः स्वः कृणुते गूहते बुसं
स पादुरस्य निर्णिजो न मुच्यते ।’

ऋ. १०.२७.२४.

हे अन्तरात्मन् , तेरी वह आदित्यात्मिका देवता जीवन का हेतु है (ते सा जीवातुः) अतः उसके उपकारों को जान (तस्य विद्धि) । इस मृत्यु के साथ होने वाले संग्राम में (समर्ये) उसके ऐसे उपकार को मत भूल (एतादृक मा स्मापगूहः) क्योकि कौन कब कैसे पड़ेगा वही जानता है । इस आदित्य का गमन (अस्य पादुः) कभी विराम नहीं लेता या श्रम से मुक्त नहीं होता (निर्णिजः न मुच्यते) और यह आदित्य सदा जगत् को प्रकाशित करता है (स्वः आविःकुरुते) तथा अपनी रश्मियों से जल से (वुसम्) वही छिपाता है । (गूहते) ।

कृणोति - कृ (करना) के लट् प्र.पु.ए.व. में । अर्थ है-करता है ।

‘त्वष्टा दुहित्रे वहतुं कृणोति
इतीदं विश्वंभुवनं समेति ।
यमस्य माता पर्युह्यमाना
महो जाया विवस्वतो ननाश ।’

ऋ. १०.१७.१, अ. ३.३१.५, १८.१.५३, नि. १२.११.

विश्वकर्मा (त्वष्टा) अपनी दुहिता सरण्यू का विवाह करते हैं (दुहित्रे बहतुं कृणोति) । इस कारण से (इति) यह समस्त भूतजात (विश्वं भुवनम्) विवाह देखने के निमित्त एकत्र होता है (समेति) । वह यम की भाविनी माता (यमस्य माता) विवाहित हो (पर्युह्यमाना) यम और यमी को उत्पन्न कर महान् आदित्य की भार्या अदृश्य हो गई (महः विवस्वतः जाया ननाश) तथा उत्तर कुरु जली गई ।

पौराणिक कथा - सरण्यू अपने सदृश एक स्त्री बनाकर विवस्वान् के समीप से पिता के घर भाग गई । पिता ने जब उसे अपने घर से पुनः पति के पास भेजा तब वह पति के यहां न जाकर बड़वा का रूप धारण कर उत्तरकरु देश में चली गई। विवस्वान् भी अश्व का रूप धारण कर खोजते खोजते बड़वा रूपिणी सरण्यू से जा मिले और दोनों के संभोग से जो रेत निकला उसे सरण्यू ने नाक से ही खींचा और जो पुत्र उत्पन्न हुए वे 'नासत्या' या अश्विना कहलाए ।

आध्यात्मिक अर्थ - अन्धकारमय उषा का मध्यम भाग त्वष्टा है । उसने ज्योतिरूपिणी दुहिता का का विवाह आदित्य से किया । यह

ज्योति या समस्त विश्व अपने अपने कार्य में मग्न हो गया । मध्यम देवयम की माता वह ज्योति महान् आदित्य की भार्या समझी गई । प्रभात होते ही सूर्य की ज्योति सूर्य से छिटकर दूर भाग गई । आदित्य की जाया रात्रि, सूर्योदय होते ही अन्तर्हित हो जाती है ।

कृत - (१) जुआ खेले जाने वाला एक प्रकार का पाशा, (२) किया कर्म, (३) अधिकार ।

'प्रतिदीव्ने दधत आकृतानि ।'

ऋ. १०.३४.६

(४) चनुः सख्यायुक्तः अक्ष विसय अपः

'ये वै चत्वारः स्तोसाः कृतं तत्
अथ ये पञ्चकत्यिः सः'

तै.ब्रा. १.५.११

कृत के लाभ से द्यूत में विजय होती है । कृत नामक पाशा । एक से लेकर पांच तक के पाशे अय कहलाते हैं उनमें चार की कृत से जो पांच फांसे हैं वे कलि हैं ।

'चतुरः चित् ददमानात् विभीयादा निधातोः'

ऋ. १.४१.९, नि. ३.१६.

(५) क्रियाशक्ति ।

'अन्तर्हस्रं कृतं मम'

अ. ७.५०.२

(६) पुरुषार्थ -(७) धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, कर्म और कर्मफल (८) कर्म, कृत्य, ।

'प्रवाच्यन्तत् वृषणा कृतं वाम्'

ऋ. १.११७.८.

हे मनोरथ बरसाने वाले अश्विद्वय ! तुम दोनों का वह कृत्य सचमुच प्रसनीय है ।

(९) पूर्व पुरुषों का उपार्जित धन ।

'कृतं न श्वघ्नी वि चिनोति देवने'

ऋ. १०.४३.५, अ. २०.१७.५, नि. ५.२२.

परधन हारी धूर्त या जुड़ी (श्वघ्नी) जैसे (न) पूर्व पुरुषों का अर्जित धन (कृतम्) द्यूत में (देवने) ढूंढ़ता है (विचिनोति) ।

(१०) विजय-जैसे जुड़ी जूआरी में विजय को देखता है ।

कृतद्विष्टा - द्वेष किए हुई स्त्री

'यथो कृतद्विष्टासः'

अ. ७.११३.१

कृतध्वज् - हाथ में ध्वजा या झण्डा लिए हुए ।

'यत्रानरः समयन्ते कृतध्वजः'

ऋ. ७.८३.२

कृतद्वसू - (द्वि.व.) कृतवसू-वे पति पत्नी जिन्होंने उत्तम धन, गृह , बल वीर्यादि प्राप्त किया हो ।

'वीतिहोत्रा कृतद्वसू'

ऋ. ८.३१.९, आप.मं.पा. १.११.११.

कृतव्यधनी - बाण आदि शस्त्र से मारने वाले को ताड़ने वाली शक्ति ।

'कृतव्यधनि विध्यतम्'

अ. ५.१४.९

कृतब्रह्मा - (१) जिसने बहुत अन्न, सम्पदा एवं धन का सम्पादन किया हो ।

'कृतब्रह्मेन्द्रो वृद्धमहाः'

ऋ. ६.२०.३

(२) जिसने वेदादि में परिश्रम किया हो, (३) धनादि में समृद्ध ।

'कृतब्रह्मा समर्यो भवति'

ऋ. ७.७०.६

'कृतब्रह्मा शूशुवत् रातहव्य इत्'

ऋ. २.२५.१, मै.सं. ४.१४.१०, २३०.१५, तै.ब्रा. २.८.५.२.

कृतवीर्य - वीर्यवान् ।

'जरदष्टिः कृतवीर्यो विहायाः'

अ. १७.१.२७

कृतागाः - कृतागस् जिसने आग से अर्थात् पाप से अपराध किया हो अपराधी ।

'कृतागसो देवपीयोरराधसः'

अ. १२.५.६०

कृत्रिम रोधस् - (१) भिन्न-भिन्न निमित्तों से उत्पन्न रुकावट (२) कृत्रिम रोक, (३) मर्यादा ।

'रिणग्रोधांसि कृत्रिमाण्येषाम्'

ऋ. २.१५.८

कृलु - (१) संसार का कर्त्ता -इन्द्र, परमेश्वर ।

'ज्येष्ठ राजं भरे कलुम्'

ऋ. ८.१६.३, अ. २०.४४.३.

(२) कृ +लु कृलु । अर्थ करने वाला ।

'सुरूपकृत्लमूतये'

ऋ. १.४.१

(३) पोरू पोरू काटने वाला (४) श्येनी, वाजपक्षिणी ।

'श्वघ्नीव कृलुः विजआमिनाना'

ऋ. १.९२.१०

पशुओं को मारने वाली भेड़िया के समान या बाजपक्षिणी जैसे इधर उधर उड़ने वाले पक्षियों को नष्ट करती है उसी प्रकार भंय से उद्विग्न प्राणियों को काल धर्म से विनाश करती हुई उषा..

(४) कतरने वाला, नाश कारी ।

'ज्येष्ठराजं भरे कृत्नुम्'

अ. २०.४४.३.

कृत्वः - कर्त्ता । सायण और तैत्तिरीय ब्राह्मण ने 'शश्वत्कृत्वः' को एक पद माना है ।

'शश्वत्कृत्व ईड्याय प्र जभ्रुः'

ऋ. ३.५४.१, ऐ.ब्रा. १.२८.६

कृत्वन् - ऋग्वेद के समय का एक देश

कृत्वरी - विनाश कारी विधि ।

'अरसाः सन्तु कृत्वरीः'

अ. ४.१८.१

कृत्व्यः - (१) समस्त कर्मों का कर्त्ता ।

'अग्ने वाजी न कृत्व्यः'

ऋ. ६.२.८

(२) कर्म करने वाला ।

'ऋभुर्न कृत्व्यं मदम्'

ऋ. १०.१४४.२

(३) कृत्वी का अर्थ है कर्म, कर्मसुसाधुः (कर्मों में साधु पुरुष ।

(४) कर्त्तव्य कर्म-

'यद्ध प्रभासि कृत्व्याँ अनुद्यून्'

ऋ. १.१२१.७

जिस प्रकार सूर्य प्रतिदिन अन्धकारों को दूर करने वाले प्रकाशों से चमकता है, उसी प्रकार हे विद्वान् पुरुष ! आप भी अपने कर्त्तव्य कर्मों से दिनानुदिन चमकें (कृत्व्यान् अनु) ।

कर्त्तव्य के अर्थ में -

'त्व रथमेतशंकृत्व्ये धनेत्वम्'

कृत्य - षड्यन्त्र, साजिश, हिंसा कारिणी शक्ति, जोग टोना ।

'कृत्ये कृत्याकृतं पुनः'

अ. ५.१४.१०

कृत्या - (१) मन्त्र से होने वाला टोना । तन्त्र ग्रन्थों के अनुसार कृत्या का स्वरूप बताना मुश्किल है । (२) क्रिया से उत्पन्न हुई पिशाची

'यः कृत्याकृन्मूलकृत् यातुधानाः'

अ. ४.२८.६

उपर्युक्त ऋचा का अर्थ करते हुए सायण ने लिखा है- क्रियया निर्वृत्तया पिशाच्या छिनत्ति इति कृत्याकृत् (३) मन्त्र और औषध से शत्रु को पीड़ा देने वाली कृत्या

'यो देवाः कृत्या कृत्वा
हराद् अविदुषो गृहम्'

अ. ४.१८.२

(४) कृत्या को जमीन में गाड़ा भी जाता है । (कृ निखननार्थ गच्छत्) (५) अभिचार कर्मों से उत्पादित पिशाची (अभिचार कर्मभिः उत्पादिताः पिशाच्य)

'शं नोऽभिचाराः शमु सन्तु कृत्याः'

अ. १९.९.९.

कृत्या के चार भेद हैं-(१)आङ्गिरिसी, (२) आसुरी, (३) स्वयंकृता (४) अन्याभृता, अर्थात् अंगिरा ऋषि द्वारा प्रयुक्त ।

अंगिरा ऋषि का अंगिरस कल्पसूत्र भी है ।

(५) असुरों द्वारा की गई ।

(६) स्वयं प्रयोग करने पर भी भूल चूक से अपने ही पर उलट कर आ जाने वाली, (७) दूसरों से प्रयुक्त ।

'याः कृत्या आंङ्गिरिसीर्याः
कृत्या आसुरीः याः कृत्याः स्वयंकृताः
याउचान्योभिराभृताः ।'

अ. ८.५.९

(८) शत्रु से प्रयुक्त गुप्त हत्या का घातक प्रयोग ।

'अपकृत्यामपो रपः'

वाज.सं. ३५.११, श.ब्रा. १३.८.४.४.

(९) संहारकारी क्रिया, टोना ।

'याः कृत्या आङ्गिरिसीः'

ऋ. ८.५.९

कृत्याकृत् - कृत्या अर्थात् घातक प्रयोग या जादू टोना करने वाला ।

'कृत्याकृते दुष्कृते विद्युतं देवहेतिम्'

ऋ. १०.१.२३.

'शतं कृत्याकृतश्चये'

अ. १९.३४.२

कृत्यादूषण - घातक गुप्त प्रयोगों का नाशक ।

'कृत्यादूषण एवायम्'

अ. १९.३४.४

कृत्यादूषणी - दुष्ट प्ररुषों के दुष्ट घातक अपचारों से उत्पन्न पीड़ाओं का नाश करने वाली ओषधि ।

'कृत्यादूषणीश्चया'

अ. ८.७.१०

कृत्यादूषि - (१) कृत्या अर्थात् राक्षसी भावों की विनाशक सेनाओं का नाशक (२) वह यन्त्र या मणि जिससे किसी के किए जोग टोन का नाश हो ।

'कृत्यादूषिरयं मणिः'

अ. २.४.६

कृत्यासक्तिः - (१) उचित पति-प्रेम रूप कार्य में स्त्री की प्रवृत्ति ।

'कृत्यासक्तिर्व्यज्यते'

ऋ. १०.८५.२८, अ. १४.१.२६. आप.मं.पा. १.६.८.

(२) कृत्या + आसक्ति । कृति शक्ति रूप पानी का प्रेम ।

'नीललोहितं भवति
कृत्या शक्तिर्व्यज्यते'

ऋ. १०.८५.२८, अ. १४.१.२६, आ.मं.पा. १.६.८.

कृत्रिम - मनुष्यों के द्वारा शिल्प साधनों से निर्मित्त ।

'सहि श्रवस्युः सदनानि कृत्रिमा'

ऋ. १.५५.६

कृत्वा - (कृत्वन्) । कर्म करना वाला ।

'घृषुः श्येनाय कृत्वने'

ऋ. १०.१४४.३.

कृतिः - (१) काटने वाला तलवार (२) क्रिया कौशल, (३) कर्तव्य ।

'हस्तेषु खादिश्च कृतिश्च सं दधे'

ऋ. १.१६८.३

कृत्ति - कृत् (काटना, छेदना, कर्तन cut) + क्तिन् = कृत्ति । अर्थ है (१) यश, (२) अन्न । यश द्वषी जनों के मर्मों को काटता है (यशो हि द्विषनां मर्माणि कृन्तति) । इसी प्रकार ठीक से उपयोग में नहीं लाया हुआ अन्न आयु क्षीण करता है (अन्नमपि असम्यक् उपयुक्त आयुः एठ कृन्तति) अंग्रेजी का corn शब्द कृत् धातु से ही बना है । (३) कन्या, (४) उपमार्थीय, (५) चर्म । कृत् धातु वेष्टन अर्थ में भी प्रयुक्त है ।

यश के अर्थ में प्रयोग-

'तमु त्वा नूनमसुर प्रचेतसं
राधो भागमिवेमहे ।
महीव कृत्तिःशरणातइन्द्र
प्र ते सुम्नानो अश्नवन्'

ऋ. ८.९०.६, साम. २.७६२.

हे इन्द्र ! अवश्य ही (नूनम्) हम उस बलवान् या प्रज्ञावान् या महाप्राण प्रकृष्ट चेतना वाले तुष्ट में (तम् त्वा उ प्रचेतसम् असुरम्) पैतृक भाग के सदृश धन याचते हैं (भागम् इव रुधः ईमहे) यश के समान (कृत्तिः इव) अन्तरिक्ष रूपी तेरा गृह महान् है (ते शरणा मही) तेरे सुख से (ते सुम्ना) हमें (नः व्याप्त हो (आश्ववम्) ।

दुर्ग के अनुसार - मैं इस लोक तथा उस लोक में सुखों को प्राप्त करूं ।

आधुनिक अर्थ - चर्म, मृग चर्म, भूर्जपत्र, भूर्जपत्र का वृक्ष (६) पशुओं की खाल ।

'कृत्तीदूर्शानिबिभ्रति'

अ. ८.६.११.

कृत्तिका - कृत्तिका नक्षत्र ।

'सुहवमग्ने कृत्तिका रोहिणी च'

अ. १९.७.२

कृत्तिवासस् - (१) कृत्ति वप्सो यस्य (चिथड़ों या चमड़ों को पहनने वाला) । पहले संन्यासी चिछड़े या चर्म धारण करते थे । शिव का नाम भी चर्म धारण करने से कृत्तिवासः है ।

(२) चर्म के समान आच्छादन वस्त्र धारण करने वाला

'पिनाकाहस्तः कृत्तिवासा अवततधन्वा'

मै.स. १.१०.४: १४४.१५, १.१०.२०: १६०.१६.

(३) कृत्ति (चर्म) + वस् + असुन् = कृत्तिवासस् ।

कृत्वी - (१) कर्म । पुनः (२) करने के लिए ।

'तानि भ्रातः अनु वः कृत्वी एमसि'

ऋ. १.१६१.३

उन नाना उत्तम कार्यों को करने के लिए आप प्रजाओं के लिए (वः) हम प्राप्त होते हैं (आ इमसि)

कृदर - (१) सकल पदार्थों को छिन्न भिन्न करने वाला गुण, (२) सकल पदार्थों का विवेक करने वाला गुण (३) उदर की शक्ति, ।

(४) कृत दरम्-कृदरम् (जिस में 'दर' या छिद्र

किया गया है । निधान स्थान-किसी पदार्थ को रखने का स्थान जिसमें छिद्र किया रहता है ।

'समिद्धो अञ्जन् कृदरं मतीनां
घृत मग्ने मधुमत् पिन्वमानः।
वाजी वहन वाजिनं जातवेदो
देवानां वक्षि प्रियमासधस्थम्'

वाज.सं. २९.१,तै.सं. ५.१.११.१, मै.सं. ३.१६.२, १८३.१२, का. सं. (अश्व). ६.२.

हे अग्निदेव, समिद्ध होकर (समिद्धः) बुद्धियों या देवताओं के निवास स्थान (मतीनां कृदरम्) मधुवत् या मधुर घृत को (मधुमत् घृतम्) देवताओं को पहुँचाता हुआ (अञ्जन्) तथा स्वयं पीता हुआ (पिन्वमानः) तू गतिवान् (वाजी) सभी जीवों में विद्यमान् या सभी प्राणियों का ज्ञाता (जातवेदः) हवनीय पदार्थों को देवताओं के निकट ले जाता हुआ (वहन्) देवताओं के समान स्थान वाले (देवानां सधस्थम्) प्रिय अश्व या अन्न को (प्रिय वाजिनम्) भी ले जा (आवक्षि)।

कृध्वायु - कृधु + आयु = कृध्वायु । अल्पायु ।

कृधि - कुरु । कर ।

कृधु - (१) स्वल्प ।

'प्रतीत्येन कृधुनातृपासः'

ऋ. ४.५.१४

(२) छोटी भाग ।

'कृधु स्थूलमुपातसत्'

अ. २०.१३६.१, वाज.सं. २३.२८, शां.श्रौ.सू. १२.२४.२.२.

(३) निकत्तमिव तत् भवति ह्रस्वत्वात् (छोटा होने से कटा सा) । कृती + कु = कृतु = कृधु । त का ध हो गया है । यह बड़े में से कटा हुआ होता है अतः 'कृधु' कहलाया । अर्थ है -ह्रस्व, लघु ।

कृधुवर्णः - छोटे उपकरण वाला, अल्पशक्ति वाला

'मम स्वनात् कृधु कर्णः भयाते'

ऋ. १०.२७.५

कृधुकर्णी - कानों को खुला किये स्त्री ।

'कृधुकर्णी च क्रोशतु'

अ. ११.९.७, १०.७

कृन्त् - काटना ।

'या अकृन्तन् अवयन् याश्च तत्निरे'

ऋ. १४.१.४५

कृन्त - सूत कातना ।

'ग्नास्त्वाकृन्तन्'

मै.सं. १.९.४, १३४.८, का.सं. ९.९, पंच.ब्रा. १.८.९, ला.श्रौ.सू. २.८.२३, आप.श्रौ.सू. १४.१२.४, मा.श्रौ.सू. ५.२.१४.१०, ११.१.१, नि. ३.२१.

हे वस्त्र, तुझे स्त्रियों ने सूत रूप में काता ।

कृन्तत्र - (१) उच्छेद करने योग्य भयानक जंगल ।

'धन्व च यत् कृन्तत्रं च
कतिस्वित् ता वियोजना ।'

ऋ. १०.८६.२०, अ. २०.१२६.२०

(२) जल देने वाला कूप, (३) सुखदायी शरीर को छेदन भेदन करने वाला (४) छिन्नस्थान -सा. (५) करने की प्रेरणा ।

'कृन्तत्रादेषामुपरा उदायन्'

ऋ. १०.२७.२३, नि. २.२२.

इन मेघों के (एषाम्) इन्द्र के द्वारा छिन्न स्थानों से (कृन्तत्र) मेघ के जल (उपरा) निकले (उदायन्) ।

इन वायुओं की (एषाम्) प्रेरणा से (कृन्तत्रात्) अन्तरिक्ष से मेघ बरसते हैं (उपा उदायन्) ।

(६) उत्कृत्त प्रदेश, (७) विकृत्त (छिन्न, कटा हुआ, छेदा हुआ) । कृत् (छेदन, कर्त्तन अर्थ में) + कत्रन् = कृन्तत्र (बाहुलक नियम से) (८) मेघों का छिन्न भाग, (९) अन्तरिक्ष-क्योंकि अन्तरिक्ष में ही मेघ छिन्न होता है । -(दया.)

कृप् - कृप् + क्विप् = कृप् । अर्थ (१) कृपा । कृप् कृपतेः वा कल्पतेःवा (कृप् शब्द कृप या कल्प धातु से बना है) कृपण्यति, कृपयति, अर्पयति (पुजा करता है,) (२) सामर्थ्य, (३) अर्चना करने वाला, (४) सामर्थ वाला ।

'अग्निं होतारं मन्ये दास्वन्तं
वसुं सूनं सहसो जातवेदसं विप्रं न जातवेदसम्
यऊर्ध्वया स्वध्वरो देवो देवाच्या कृपा
घृतस्य विभ्राष्टिमनुवष्टि शोचिषा
आजुह्वास्य सर्पिषः'

ऋ. १.१२७.१, अ. २०.६७.३, वाज.सं. १५.४७, का.सं. २६.११, ३९.१५

परुच्छेप कहता है-मैं होम निष्पादक अतिशय दानशील, सभी के निवासहेतु बल के पुत्र

(सहसः सूनुम्). प्राणियों के ज्ञाता, जात प्रज्ञ, जातबल (जातवेदसम्) तथा विप्र के सदृश जातविद्या या मेधावी अग्नि की स्तुति करता हूँ (मन्ये) जो देव शोभन यज्ञ वाले (स्वध्वरः) उत्कृष्ट हवि वहन करने की कल्पना से युक्त (उत्कृष्टया देवाच्या कृपा) चारों ओर से डाले जाने वाले सर्पणशील घृत के (आजुह्वानस्य सर्पिषः घृतस्य) विलेपन से दीप्त आज्य के गिरे हुए स्वल्प भाग को भी (विभ्रष्टिम् अनु) अपनी ज्वाला से खा लेना चाहते हैं (वष्टि) ।

स्वामी दयान्द का अर्थ - मैं यज्ञकर्त्ता, दाता, निवासक, साहसी वीर के पुत्र, प्रजा के प्रत्येक सुख दुःख के जानने वाले (जातवेदसम्) और ब्राह्मण के समान वेदज्ञ क्षत्रिय को (विप्रं जातवेदसम्) अग्रणी अर्थात् राजा मानता हूँ (अग्निं मन्ये) । जो तेजस्वी राजा (यः देवः) देव जनों के रक्षार्थ लगे हुए कर्म या सामर्थ्य से (देवाच्या ऊर्ध्व या कृपा) राज का भली प्रकार पालन करने वाला है (स्वधरः) और जो भली प्रकार तपा कर स्वच्छ किये हुए आहूयमान घृत की दीप्ति से राज में तेजस्विता की कामना करते हैं (विभ्राष्टिम् अनुवष्टि) ।

(५) (क्रि.) समर्थ होगा To cope

'उतस्तामुर्मघवन् अक्रपिष्ट'

ऋ. ७.२०.९

(६) कृपालु ।

'शग्धि यथा रुशमं श्यावकं कृपम् '

ऋ. ८.३.१२

(७) भोग करना ।

'मर्तासश्चिदुर्वशीरकृपन्'

अ. १८.३.२३

(८) सामर्थ्य के अर्थ में-

'हिरण्यपाणिरमिमी सुक्रतुः कृपा स्वः'

अ. ७.१४.२, साम. १.४६४, वाज.सं. ४.२५, तै.सं. १.२.६.१, मै.सं. १.३.१५, १४.६, का.सं. २.६. श.ब्रा. ३.३.२.१२ आश्व.श्रौ.सू. ४.६.३, शां.श्रौ.सू. ५.९.७.

उन तेजस्वी हाथों वाले सुकर्मासविता या परमात्मा ने अपने सामर्थ्य से द्युलोक का निर्माण किया या सायण के अनुसार जो अपने ही सामर्थ्य से आदित्य नामक है.।

कृप - कृप्+ अच्। शारीरिक श्रमवाला, श्रमी पुरुष शूद्र ।

'यद् वा रुमे रुशमे श्यावके कृपे'

ऋ. ८.४.२, अ. २०.१२०.२, साम. २.५८२.

कृपण्यति - बल या अन्न चाहता है ।

'यथा यथा कृपण्यति'

ऋ. ८.३९.४

कृपयन् - कृपायमाणः (कृपा करता हुआ) ।

कृपणा (स्त्री) शरीर में मन्दगति अथवा तुच्छ स्वरूप में विद्यमान ।

'त्वरणाः कृपणाश्चयाः'

अ. ११.८.२८

कृपनीड - महान् कृप अर्थात् कर्म सामर्थ्य और परानुग्रह या दया का परमआश्रय अग्नि ।

'यमासा कृपनीडम्'

ऋ. १०.२०.३

कृपमाण - (१) कल्पना करता हुआ ।

'अश्रूणि कृपमाणस्य'

अ. ५.१९.१३

(२) कृपा और अनुग्रह करने वाला, (३) समर्थ ।

'उतो कविं पुरुभुजा युवं ह
कृपमाणम् अवृणुतम् विचक्षे ।'

ऋ. १.११६.१४

आप दोनों विविध न्याय व्यवहारों को देखने के लिए (विचक्षे) अध्यक्ष पद पर प्रजा पर कृपा और अनुग्रह करने वाले और समर्थ दूरदर्शी विद्वान् प्रज्ञावान् पुरुष को नियुक्त करो ।

कृपीट - सामर्थ्य

'यत्रा कृपीटमनु तद्दहन्ति'

ऋ. १०.२८.८

कृश - (१) तपस्या द्वारा शरीर को कृश करने वाला त्यक्तभोगी (२) निर्बल ।

'यथा संवर्ते अभदो यथा कृशे'

ऋ. ८.५४.२

(३) निर्धन

'यो रध्रस्य चोदिता यः कृशस्य'

ऋ. २.१२.६, अ. २०.३४.६

कृशगुः - (१) दुबले बैलों वाला, (२) भूमि को कर्षण करने वाला, जोतने वाला, हलवाहा ।

'आशारैषी कृशगुरेत्वस्तम्'

अ. ४.१५.६

कृशन - अतिसूक्ष्म, आत्मा ।
'देवानामस्थि कृशनंबभूव'
अ. ४.१०.७
(२) घोड़ों का सफेद आभूषण
'अभिश्यावं न कृशनेभिरश्वम्'
ऋ. १०.६८.११, अ. २०.१६.११
(३) जलों को अति सूक्ष्म करने में समर्थ सूर्य की किरण ।
'अभीवृतं कृशनैः विश्वरूपम्'
ऋ. १.३५.४, मै.सं. ४.१६.६, २२३.१५, तै.ब्रा. २.८.६.१,
जलों को अति सूक्ष्म करने में समर्थ किरणों से व्याप्त, बड़े भारी गतिशील पिण्ड रूप में स्थित सूर्य या रथ में स्थित सूर्य है ।
(४) कृशों का उज्जीवक (५) शत्रुओं का कर्शन करने वाला, (६) शत्रु बल को नीति द्वारा तोड़ने वाला ।
'स्वान भ्राजाङ्घारे बम्भारे हस्त सुहस्त कृशान'
वाज.सं. ४.२७, तै.सं. १.२.७.१, श.ब्रा. ३.३.३.११

कृशानु - (१) अग्नि ।
'या मर्त्याय प्रतिधीयमानमित्
कृशानोरस्तु रसनामुरुष्यथः ।'
ऋ. १.१५५.२, नि. ११.८.
जो तुम दोनों इन्द्र और विष्णु यज्ञशील मनुष्य के लिए (मर्त्याय) यज्ञफल स्वरूप (प्रतिधीयमानम् इत्) भोजन या अन्न को (असनाम्) हवि पहुँचाने वाले (अस्तुः) अग्नि के द्वारा (कृशानोः) प्रस्तुत करते या देते हो (उरुष्यथः)
(२) शत्रुपक्ष को दुर्बल करने वाला सेनापति -(दया.)
'याभिःकृशानुम् असने दुवस्यथः'
ऋ. १.११२.२१
जिन रक्षा साधनों से आप दोनों अग्नि के समान तेजस्वी तथा शत्रुपक्ष को कृश, दर्बल करने वाले सेनापति की (कृशानुम्) शत्रुओं को उखाड़ फेंकने के संग्राम आदि कार्य में (असने) परिचर्या करते हो (दुवस्यथः) ।

कृषस्व - खेती कर ।
'अक्षैर्मादीव्यः कृषिमित् कृषस्वः'
ऋ. १०.३४.१३.
ऐ जुआरी, जुआ न खेल , कृषि ही कर ।

कृष्टपच्य - खेती से प्राप्त होने वाला अनाज ।
'कृष्टपच्याश्च मे अकृष्टपच्याश्च मे'
वाज.सं. १८.१४, तै.सं. ४.७.५.१, मै.सं. २.११.५, १४२.८, का.सं. १८.१०.

कृष्टयोजसा - (१) इन्द्र और वरुण का विशेषण 'कृष्टि' - शत्रु के कर्षण पीड़ा करने वाली सेनाओं से पराक्रम करने वाले इन्द्र और वरुण ।
'पुरोयोधा भवतं कृष्ट योजसा'
ऋ. ७.८२.९

कृष्टि - मनुष्य ।
'अस्माकं द्युम्नमधि पञ्च कृष्टिषु'
ऋ. २.२.१०

कृष्ण- (१) काला, (२) कर्षण करने योग्य दबाने योग्य दुष्ट जन, (३) कृषक, (४) आकर्षण करने योग्य प्रियशिष्य ।
'अन्तः कृष्णान् अरुषैः धमभिःगात्'
ऋ. ३.३१.२१
(५) कालाभेड़ ।
'यमाय कृष्णः'
वाज.सं. २४.३०, मै.सं. ३.१४.११, १७४.७.

कृष्णकर्ण - श्याम कर्ण अश्व ।
'नास्य श्वेतः कृष्णकर्णः'
अ. ५.१७.१५

कृष्णगर्भा - (१) काले अन्धकार को गर्भ में रखने वाली रात्रि, (२) कर्षण अर्थात् प्रजा पीड़न करने वाले शत्रु को अपने गर्भ में रखने वाली शत्रु सेना, (३) तामस भावों को अपनेभीतर रखने वाली दुश्चेष्टा ।
'यः कृष्णगर्भा निरहन् ऋजिश्वना'
ऋ. १.१०१.१, साम. १.३८०.

कृष्णग्रीवः - (१) कालीग्रीवा (गर्दन) वाला ।
'कृष्णग्रीव आग्नेयो रराटे पुरस्तात्'
वाज.सं. २४.१, मै.सं. ३.१३.२, १६८.१०.
(२) गर्दन में काले रंग का चिह्न रखने वाला अग्नि नामक प्रधान अधिकारी ।
'आग्नेयः कृष्णग्रीवः'
वाज.सं. २९.५८,५९, तै.सं. ५.५.२२.१, का.सं. (अश्व). ८.१

‘कृष्णग्रीवः शितिकक्षोऽञ्जिसक्थस्त ऐन्द्राग्नाः’

वाज.सं. २४.४, मै.सं. ३.१३.५, १६९.१०.

कृष्णपविः - (१) काले मार्ग वाला - अग्नि (२) श्याम धारा वाले या शत्रु को काटने वाले शस्त्रास्त्र से युक्त ।

‘कृष्णपविः ओषधीभिः ववक्षे’

ऋ. ७.८.२

कृष्टराधिः - (१) कृषि द्वारा बहुत अन्न धान्यादि से सम्पन्न पुरुष ।

‘कृष्टराधिरुपजीवनीयो भवति य एवं वेद’

अ. ८.१० (४) .१२

कृष्णजंहस् - (१) जिसमें कृष्ण हनन हो काला हनन हो -(दया.) ।

(२) खिंचाव तनाव के मार्ग में स्थित जङ्घा

‘तस्य पत्मन् दक्षुषः कृष्णजंहसः
शुचिजन्मना रज आ व्यध्वनः’

ऋ. १.१४१.७

और तब विपरीत मार्ग से आने वाले (वि. अध्वनः) माता को पीड़ा और संताप देने वाले (दक्षुषः) खिंचाव तनाव के मार्ग में स्थित (कृष्ण जंहसः) शुद्ध जन्म वाले (शुचिजन्मनः) उस जीवात्मा के मार्ग में (पत्मन्) रुधिर या राजस भाव भी आता है (रजः आ अस्थात्) ।

कृष्णम् - (१) सूर्य का आकर्षण करने वाला बल-आकर्षण शक्ति ।

‘कृष्णमन्यत् हरितः संभरन्ति’

ऋ. १.११५.५, आ. २०.१२३.२, वाज.सं. ३३.३८, मै.सं. ४.१४.४, २२०.१०, तै.ब्रा. २.८.७.२.

(२) प्रजाओं का कर्षण पीड़न करने वाला अत्याचारी राजा ।

‘इयानः कृष्णः दशभिः सहस्रैः’

ऋ. ८.९६.१३, अ. २०.१३७.७ का.सं. २८.४, तै.आ. १.६.३.

(३) काला ।

‘अहश्च कृष्णमहरर्जुनञ्च’

ऋ. ६.९.१, ऐ.ब्रा. ५.१५.५, कौ.ब्रा. २३.८, नि. २.२१.

दिन काला भी है और उजला भी अथवा रात काली और दिन उजला होता है ।

कृष्णद्र - गौ का कण्ठ ।

‘विश्वं वायुः स्वर्गोलोकः कष्णद्रम् विधरणी निवेष्यः’

अ. ९.७.४

कृष्ण नियान - आकर्षण शील (२) सर्व भयदुःखों का विलेखन करने वाला ब्रह्म ।

‘कृष्णं नियानं हरयः सुपर्णाः’

ऋ. १.१६४.४७, अ. ६.२२.१, ९.१०.२२, १३.३.९, मै.सं. ४.१२.५, १९३.७, का.सं. ११९.१३, आश्व.शौ.सू. २.१३.७, नि. ७.२४.

(३) कृष्ण अन्तरिक्ष । कृष्णवर्ण ज्योतिश्चन्कं निवमेन गच्छति अत्र) ।

(४) दक्षिणायन गति ।

‘धूमो रात्रिः नवा कृष्णषण्मासा दक्षिणायनम्’

(५) खींचने वाला एव नियमन में समर्थ, (६) नीचे गिराने वाला पाप कर्म ।

(८) माध्यमिक, अन्तरिक्ष । ये रस हरने वाली तथा सुन्दर गति वाली सूर्य की रश्मियां (हरयः सुपर्णाः) सूर्य के दक्षिणायन पथ में अर्थात् माध्यमिक अन्तरिक्ष में (कृष्णं नियानम्) सभी लोकों से जलों को रखती हुई

कृष्णप्रुतौ - चित्ता कर्षण वृत्तिं प्राप्नुनवत्यौ -(दया.) (१) सदा आकर्षण या प्रेम से पूर्ण माता पिता, (२) द्यौ और पृथिवी रुपिणी माताएं ।

‘कृष्णप्रुतौ वेविजे अस्य सक्षितौ’

ऋ. १.१४०.३

जिस प्रकार माता और पिता या द्यौ और पृथिवी उस बालक सूर्य के प्रति सदा आकार्षण या प्रेम से पूर्ण सदा रहा करते हैं और वे उसके साथ सदा रहा करते हैं (अस्य सक्षितौ) बालक और सूर्य के आकर्षणबल से कांप उठते हैं (वेविजे)

(३) आकर्षण बल से प्राप्त द्यौ और पृथिवी -माता पिता ।

(४) शत्रुदल को गिरा देने और प्रजा के आकर्षण करने के गुणों से व्याप्त राज वर्ग और प्रजावर्ग

कृष्णपिंगाक्ष - श्याम और पीले नेत्रों वाला ।

‘राज्यै कृष्णं पिंगाक्षम्’

वाज.सं. ३०.२१, तै.ब्रा. ३.४.१.१७.

कृष्णयोनि - (१) काले अन्धकार का उत्पादक (२) नेत्र शक्ति का लोप करने वाली रात्रि, (३) मेघ (४) पाप युक्त कर्मों उत्पन्न करने वाला, (५) काले कर्म, अत्याचार पापादि को करने वाली प्रजा नाशक शत्रु सेना ।

'स वृत्रहेन्द्र कृष्णयोनीः'
ऋ. २.२०.७

कृष्णवर्तनि – (१) पापों का नाशक व्यवहार वाला, (२) चिन्ताकर्षक मार्ग वाला, (३) आकर्षकशील सूर्यादि लोकों को अपने अपने मार्गों से संचालन करने वाला, (४) मार्ग को काला कर देने वाला–अग्नि ।
'पावकं कृष्ण वर्तनिम् विहायसम्'
ऋ. ८.२३.१९

कृष्णःशकुनिः – (१) काला काक ।
मन को अपनी तरफ आकर्षित करने वाला प्रबल पाप ।
'इदं यत् कृष्णः शकुनिः'
अ. ७.६४.१,२.

कृष्णव्यथिः – (१) सब व्यथाकारी कण्टकों को काला करने वाला अग्नि (२) व्यथादायी शत्रुओं को नष्ट करने वाला । कृष्णा व्यथि ।
'कृष्णव्यथिरस्वदयन्न भूम'
ऋ. २.४.७

कृष्णशकुनेः मुखम् – (१) काले तथा शक्तिशाली पाप का मुख अर्थात् प्रवर्त्तक (२) स्वप्न ।
'मातृष्टानामसि कृष्णशकुनेः मुखम्'
अ. १९.५७.३

कृष्णःश्वा – काला कुत्ता ।
'श्वाकृष्णः कर्णो गर्दभस्तरक्षुस्ते रक्षसाम्'
वाज.सं. २४.४०,

कृष्णसीत – (१) रथ को खींचकर हल के समान भूमि पर रेखा डालने वाला अश्व, (२) हल चलाने वाले कृषक, (३) कर्षण या तपस्या द्वारा कर्मबन्धनों को अन्त कर देने वाला ।
'रघुद्रुवः कृष्णासीतस्य ऊजुवः'
ऋ. १.१४०.४

कृष्णा – काली फन्सी वाली गण्डमाल ।
'कृष्णैका रोहिणी द्वे'
अ. ६.८.३.२
(२) कृष्णवर्णा, अंधेरी, (३) काली रात ।
'आरैगु कृष्ण सदना न्यस्याः'
ऋ. १.११३.१, साम. २.११००. नि. २.२०.
इस उषा को काली रात ने स्थान दिए (४) कृष्ण विष्णु के अवतार का भी द्योतक हैं । कृश् (तनूकरण, छोटा करना) + नक् = कृष्ण । कृश् धातु का कृष् हो गया है । कृष् (आकर्षण करना) + नक् = कृष्ण । अपनी ओर सभी को आकृष्ट करने वाला, सभी जीवों को अपनी ओर खींच लेने वाला कृष्ण ।
'कृष्णः काके पिके वर्णे
विष्णौ व्यासेऽर्जुने कलौ ।
कृष्णा तु नील्यां द्रौपद्यां
पिप्पली द्राक्षयोरपि
कृष्णान्तु मरिचे लोहे-हेम'
(५) कुष्ट और पतित रोग का एक ओषधि विशेष, (६) काश्मर्य, (७) कृष्णा तुलसी (८) कृष्णानील पुनर्भवा (गधपूर्णा) (१०) द्राक्षा, (११) पिप्पली ।
कृष्ण तुलसी जन्तु, भूत, कयि आदि का नाशक है ।
नील पुननर्नवा हृद्रोग, प्रदर, पाण्डु, सोज, श्वास, वात और आम आदि का नाशक है ।
काल जीरा कफ शोथ नाशक हैं । पिप्पली रक्त शोधक है ।
(१२) कर्षण करने वाली पिंगला नाड़ी ।
'कृष्णासु रोहिणीसुचः'
ऋ. ८.९३.१३, आ.सं. २.१.
(१३) कृषि करने योग्य भूमि ।

कृष्णा इषिरा – (१) अपने ग्रह उपग्रहों को खींचने में समर्थ सूर्य के गतिमान धब्बे ।
'आखरे कृष्णा इषिरा अन्नर्तिषुः'
ऋ. १०.९४.५, अ. ६.४९.३, का.सं. ३५.१४

कृष्णाजिन – कृष्ण + अजिन ।
कृष्ण मृगछाला जिसका यज्ञ में प्रयोग होता है ।
'पात्राणीयमेव कृष्णाजिनम्'
अ. ९.६ (१) १७

कृष्णाञ्जिः – काली लंगोट वाला ।
'कृष्णञ्जिरल्पाञ्जिर्महाञ्जिस्त उषस्याः'
वाज.सं. २४.४, मै.सं. ३.१३.५, १६९.१०.

कृष्णात्वच् – (१) काला चमड़ा, (२) काले चमड़े वाला पुरुष, (३) शत्रु काटने वाला देह की त्वचा (४) शत्रु की रक्षा करने वाली सेना, पाप करने वाली निन्दनीय शत्रुजनों की रक्षा करने वाली सेना ।
'त्वचं कृष्णाम् अरन्धयत्'
ऋ. १.१३०.८

कृष्णाध्वा – (१) जिसका मार्ग काला हो-अग्नि (२) चित्ताकर्षक या शत्रु को काट गिरादेने वाले मार्ग पर चलने वाला ।

'कृष्णाध्वा तपूरण्वश्चिकेत'

ऋ. २.४.६

कृष्णायाः पुत्रः – (१) रात्रि का पुत्र दिन या सूर्य, (२) कृषि योग्य पृथ्वी का पुत्र, राजा, (३) सबको आकर्षण करने वाली परम शक्ति परमेश्वरी का पुत्र जीव ।

'कृष्णायाः पुत्रो अजुर्नो रात्र्यवत्सोऽजायत'

अ. १३.३.२६

कृष्णा रजांसि – प्रकाश रहित आकर्षण गुण वाले लोक ।

'कृष्ण रजांसि तविषीः दधानः'

ऋ. १.३५.४, मै.सं. ४.१४.६, २२३.१६, तै.ब्रा. २.८.६.१.

प्रकाश –रहित आकर्षण गुण वाले लोकों को और बड़ी भारी शक्ति को (तविषीम्) धारण करने वाला सूर्य ।

कृषि – खेती ।

'अक्षैर्मादीव्यः कृषिमित् कृषण्व
वित्ते रमस्व बहुमन्यमानः
तत्रगावः कितव तत्र जाया
तन्मे विचष्टे सविता यमर्यः'

ऋ. १०.३४.१३.

हे जुआरी ! जुआ न खेल, खेतीकर, खेती का धन प्रचुर समझ, उसमें मगन रह । उसमें गाएं मिलतीं तथा पतिव्रता स्त्री मिलती हैं ऐसा स्वामी सविता ने मुझ से कहा है ।

कृषि संशित – कृषि विषय में सुशिक्षित ।

'विष्णोः क्रमोसि सपत्नहा कृषि संशितोऽन्नतेजाः

अ. १०.५.३४

कृष्टि – कृष् + क्तिन् । कृषक जन कृष्टय इति मनुष्य नाम । कर्मवन्तो भवन्ति विकृष्ट देहा वा (कृष्टि मनुष्य का नाम है । वह कर्मवान् या विकृष्ट शरीर वाला होता है) ।

कर्ष शब्द कृष् से बना है जो हल जोतने के अर्थ में भी प्रयुक्त होता है । कर्ष सामान्यतः कर्म का द्योतक समझा गया है । मनुष्य कर्मशील है । अतः 'कृष्टि' का रुढ़ि अर्थ मनुष्य है । यों कृषक का ही कृष्टि वाचक है । वि + कृष् + क्त = विकृष्ट । यह देह परि कण्डूयन आदि कर्मों से समर्थ है । ऐसे शरीर वाला कृष्टि है । कृप् + इ (मत्वर्थीय) = कृष्टि । अर्थ (१) शरीर वाला, (२) कर्मवाला, (३) मनुष्य, (४) कषजनं, ।

'मित्र कृष्टीरनिमिषाभिचष्टे'

मित्र हम को सदा दयादृष्टि से देखते हैं

ऋ. ३.५९.१, तै.सं. ३.४.११.५, का.सं. २३.१२, ३५.१९, तै.ब्रा. ३.७.२.४, आप.श्रौ.सू. ९.२.६, मा.श्रौ.सू. ३.२.८, नि.१०.२२.

मित्र हमको सदा दयादृष्टि से देखते हैं ।

आचार्य दुर्ग का मत है कि मनुष्य अपने शरीर को इच्छानुकूल मोड़ सकता है और उसके शरीर को विकर्ष है । पशु आदि शरीर में यह विकर्षण शक्ति नहीं है (संसृष्टा देहाः अन्ये पशवो गवादयः, ते हि न काम कारतो अङ्गानि प्रसारयितुं शक्नुवन्ति स तेषां संकर्षः । मनुष्यस्तु कामतः प्रसारयन्ति अङ्गनि, स तेषां विकर्षो देहस्य) ।

कृष्टिहा – (१) मनुष्यों को मारने वाला (२) सब मनुष्यों तक पहुंचने वाला ।

'प्र कृष्टिहेव शूष'एति रोरुवत्'

ऋ. ९.७१.२

कृष्णिय – (१) चित्ताकर्षक, (२) दुःखों का विनाश करने में समर्थ पुरुष ।

कृष्णी – (१) कृष्ण वर्णा रात्रि, (२) हृदय को आकर्षित करने वाली मनोरमा स्त्री ।

'रिणक्ति कृष्णी ररुषाय पन्थाम्'

ऋ. ७.७१.१

कृष्णे यत्त्रे – (१) प्रकाशमय और अन्धकारमय परस्पर संगत दिन रात्रि (२) एक दूसरे को परस्पर आकर्षित करने वाले एक दूसरे को आत्म समर्पण करने वाले स्त्री पुरुष ।

'अनुकृष्णे वसुधिती जिहाते
उभे सूर्यस्य मंहना यजत्रे'

ऋ. ३.३१. १७,

क्लृप्त – (१) कार्य करने में समर्थ होना

'क्लृप्तं च मे क्लृप्तिश्च मे'

वाज.सं. १८.११, तै.सं. ४.७.२.२, मै.सं.२.११.३, १४१.७, का.सं. १८.८.

क्लृप्ति – सामर्थ्य ।

केतः - ज्ञान, वेदज्ञान ।

'तदयं केतो हृदयं आ विचष्टे'

ऋ. १.२४.१२

वह वेदज्ञान हृदय को सब प्रकार से प्रकाशित करता है । पुनः

'अन्वस्य केतं इषितं सवित्रा'

ऋ. २.३८.५.

केतपू - (१) अज्ञान को पवित्र करने वाला

'दिव्यो गन्धर्वः केतपूः केतं नः'

वाज.सं. ९.१,११.७, ३०.१, वाज.सं. (का.) १०.१.१, तै.सं. १.७.७.१, ४.१.१.२, मै.सं. १.११.१, १६१.७ का.सं. १३.१४.१५,११, श.ब्रा. ५.१.१.१६, ६.३.१.१९ साम.मं.ब्रा. १.१.१.

(२) अपने ज्ञान से सबको पवित्र करने वाला

केतमन्तः (केतमान्) - (१) ज्ञान कराने वाले प्रकाश से युक्त सूर्य की किरणें, (२) ज्ञान- साधनों से युक्त, (३) अज्ञानहारी जीव, (४) किरण रूप अश्व ।

'सूर्यस्याश्वा हरयः केतुमन्तः'

अ. १३.१.२४

केतवेदाः (केतवेदस्) - वह पुरुष जिसने धन या ज्ञान प्राप्त किया हो ।

'अव त्मना भरते केतवेदा

'अव त्मना भरते फेनमुदन्'

ऋ. १.१०४.३

केतसाप् - (१) संकेत मात्र से संघ बनाने में कुशल, (२) संकेत पर चलने वाला ।

'शुष्मासो ये ते अद्रिवो मेहना केतसापः'

ऋ. ५.३८.३

केतु - कि (ज्ञान अर्थ में) + तुन् = केतु । अर्थ- (१) ज्ञापक , जिससे किसी पदार्थ का ज्ञान हो, (२) लक्षण (३) कर्म, (४) कर्त्ता, (५) रश्मि, (६) अश्व, (७) प्रज्ञापक, (८) अन्धकार, (९) सामर्थ्य ।

'एता उत्या उषसः केतुमक्रत
पूर्वे अर्धे रजसो भानुमञ्जते'

ऋ. १.९२.१, साम. २.११०५, नि. १२.७.

जो उषाएं अन्तरिक्ष के पूर्वार्द्ध में सूर्य को व्यक्त करती हैं ।

(१०) प्रज्ञा (११) कर्म योग तथा ज्ञान योग- (दया.)

'महो अर्णः सरस्वती
प्रचेतयति केतुना ।
धियोविश्वाविराजती'

ऋ. १.३.१२, वाज.सं. २०.८६, नि. ११.२७.

माध्यमिका वाक् सरस्वती अपनी प्रज्ञा से महान् जलराशि को बरसाती है तथा संसार के समस्त यज्ञ-सम्बन्धी या कर्म सम्बन्धी ज्ञानों को उत्पन्न करती है । वेदवाणी कर्मयोग तथा ज्ञानयोग से महान् शब्द सागर को बतलाती है और सम्पूर्ण सत्यविद्याओं को प्रकाशित करती है ।

(१२) प्रज्ञापक कर्म । ज्यायसमस्य यतुनस्य केतुना अत्यन्त प्रबुद्ध गमनशील या प्रयत्नशील सूर्य के प्रज्ञापक कर्म से ।

लक्षण या चित्त के अर्थ में -

'नवो नवो भवति जयमानो
अह्नां केतुः उषसामेत्यग्रम्
भागं देवेभ्यविदधात्यायन्
प्रचन्द्रमास्तिरते दीर्घमायुः ।'

ऋ. १०.८५.१९, अ. ७.८१.२, १४.१.२४, तै.सं. २.४.१४.१, मै.सं. ४.१२.२, १८१.६, का.सं. १०.१२, नि. ११.६.

शुक्ल पक्ष में पश्चिम दिशा में उदय लेता हुआ चन्द्रमा प्रतिदिन प्रतिपदा से पूर्णिमा तक एकएक कला बढ़ता हुआ सूर्य के अस्त होने के बाद मास मास (सायण के अनुसार प्रतिदिन) मानों नया जन्म ग्रहण करता है । वह कृष्ण पक्ष के अन्त में एक कला मात्र अवशिष्ट हो प्रातः काल में उदय लेता हुआ मानों दिनों का लक्षण या दिन होने का चिह्न हो (अह्नां केतुः) प्रभातों के आगे ही आता है (उषसाम् अग्रम् एति) । कुछ विद्वानों ने 'अह्नाम् केतुः' का अर्थ दिन का केतु सूर्य किया है । दिन का प्रतीक सूर्य प्रभात के बाद आता है यह भीअर्थ है । यह चन्द्रमा प्रतिदिन ह्रास वृद्धि द्वारा पक्षान्त तक पहुंचते पहुँचते देवताओं के लिए हवि का भाग बनता है । वह चन्द्रमा यज्ञ कर्त्ताओं की आयु बढ़ाता है ।

रश्मि या अश्व के अर्थ में -

'उदुत्यं जातवेदसं देवं वहन्ति केतवः
दृशे विश्वाय सूर्यम्'

ऋ. १.५०.१, अ. १३.२.१६, २०.४७.१३, साम.

१.३१, वाज.सं. ७.४१, ८.४१, ३३.३१, तै.सं. १.२.८.२, ४.४३.१, मै.सं. १.३.३७, ४३.६, श.ब्रा. ४.३.४.९,६.२.२, नि. १२.१५.

रश्मियां या अश्व (केतवः) सभी प्राणियों के दर्शन के निमित्त (विश्वाय दृशे) जिस सूर्य को उदित करते हैं (सूर्यम् उद् वहन्ति) उस जात प्रज्ञया जातधान देवता को (जात वेदसम्) हम प्रणाम करते हैं ।

(१३) ३० विभागों का शासक ३१ वां राजा

'क्रतुरेकत्रिंशः'

वाज.सं. १४.२३, तै.सं. ४.३.८.१, ५.३.३.५, मै.सं. २.८.४, १०९.६, का.सं. १७.४,२०.१३, श.ब्रा. ८.४.१.२१

केतुमत् दुन्दुभिः – (१) झण्डे के सहित नक्कारा , (२) ज्ञानवान् गुरु ।

'केतुमत् दुन्दुभिर्वावदीति'

ऋ. ६.४७.३१, अ. ६.१२६.३, वाज.सं. २९.५७, तै.सं. ४.६.६.७, मै.सं. ३.१६.३, १८७.१२, का.सं. (अश्व). ६.१.

केतुमती – (१) सबके ज्ञापक सूर्य को साथ लिए हुई सायं प्रातः रुपी उषाएं ।

'केतुमती अजरे भूरिं रेतसा'

अ. ८.९.१२, मै.सं. २.१३.१०, १६०.४, का.सं. ३९.१०.

केनि – (१) सुख मय आनन्द रस । (२) ईख । cane का पूर्णरूप केनि ही है ।

केनियः – (१) ज्ञानी पुरुष (२) सुखमय आत्मा के परम रस का पान कराने वाला, (३) मेधावी केनिय इति मेधावि नाम । केनि शब्द यो रूपपदयोः पततेः पाते र्वाङ । के आत्मनि सुख मये पर ब्रह्मणि निपतन्ति गच्छन्ति पान्ति वा रसम् इत केनियाः ।'

केनि + पत् (अथवा पा) + ड = केनिय । सुखमय आनन्द रस का पान करने वाला । अंग्रेजी का cane शब्द इसी केनि का बिगड़ा रूप है ।

'असोयथा केनिपानाम् इनो वृधे'

ऋ. १०.४४.४, अ. २०.९४.४.

केपयः – ब. व. । एक वचन में केपिः । अर्थ – (१) पापी ।

'ईर्मैव ते न्यविशन्त केपयः'

ऋ. १०.४४.६, अ. २०.९४.६, नि. ५.२५.

केपायी (केपयः) इसी लोक में (ईर्मैव) अधोगति प्राप्त कर नीच योनियों में जाते हैं ।

केपिः – (१) कुत्सित आचरण वाला ।

(२) कुत्सित आचरणों में लिप्त ।

केवट – (१) कूप, (२) गढ़ा ।

'माकीं सं शारि केवटे'

ऋ. ६.५४.७

केवर्त – (१) जल के भीतर रहने वाला (२) मल्लाह, (३) जल की आजीविका करने वाला ।

'अवाराय के वर्तम्'

वाज.सं. ३०.१६

के + वृत् + अच् = केवर्त

केवल – (१) असाधारण ऐश्वर्य ।

'त्वं विश्वा दधिषे केवलानि'

ऋ. १०.५४.५

(२) के आनन्दे वलनं स्वरूपावगतिः यस्य स केवलः (आनन्दमात्र प्रतीत होने वाला ब्रह्म केवल है ।

'पतिं मे केवलं कृधि'

ऋ. १०.१४५.२, अ. ३.१८.२.

(३) एक मात्र सुखस्वरूप ।

'अस्माकमस्तु केवलः'

ऋ. १.७.१०, अ. २०.३९.१, ७०.१६ साम. २.९७०., तै.सं. १.६. १२.१, ३.१.११.१ मै.सं. ४.११.४: १७०.१०, ४.१३.१०: २१३.४, का.सं. ८.१७, तै.ब्रा. २.४.३.२.

केवलाघः – (१) पूर्णतः पापी ।

'केवलाघो भवति केवलादी'

ऋ. १०.११७.६, तै.ब्रा. २.८.८.३, नि. ७.३.

अकेले खाने वाला पूर्णपापी है

केवलादी – (१) अकेले भोजन करने वाला ।

केवली – एक मात्र प्रेमिका ।

'मृदुर्निमन्युः केवली'

अ. ३.२५.४.

केवली विट् – अनन्य साधारण प्रजा ।

'यथा न इन्द्रः केवलीर्विशः संमनसस्करत्'

अ. ७.९४.१, तै.सं. ३.२.८.६, का.सं. ३५.७.

केनिका – (१) सुख में बांधने वाली, (२) प्रकृति

'अजागार केविका'

अ. २०.१२९.१७

केश – (१) क्लेश , (२) केश-बाल ।

'केशान् खादन्तआसते'

अ. ५.१९.३

केशदृंहणी – केशों को दृढ़ करने वाली ।

'उतस्थ केशदृंहणीः'

अ. ६.२१.३

केशव – (१) लम्बीकेश वाला, (२) मायावी ।

'गर्भान् खादन्ति केशवाः'

अ. ८.६.२३

केशवर्धनी – केशों को बढ़ाने वाली ओषधि ।

'अथोह केशवर्धनीः'

अ. ६.२१. ३,

'दुहित्रे केशवर्धनीम्'

अ. ६.१३७.१

केशवन्ता – (१) केशयुक्त, किरणयुक्त, सूर्यचन्द्र (२) वायुमेघ ।

'अधि यस्तस्थौ केशवन्ता'

ऋ. १०.१०५.५

केश्य – केश का, केश + यत् ।

'आपस्याः केश्यं मलम्'

अ. १४.२.६८

केशिन् – केश + इनि (प्रशंसा में) = केशिन् । केश का अर्थ रश्मि है । अतः केशिन् का अर्थ (१) रश्मिवान् आदित्य हुआ । (२) काश् (दीप्ति अर्थ में) + घञ् = काश, काश + इन् = काशिन् = केशिन् । अर्थ–स्वयं दीप्त,

(३) प्रकृष्टाः केशाः अस्य (इसके केश प्रकृष्ट हैं–अग्नि) (४) वायु, (५) आदित्य के १२ प्रकारों में एक रश्मियुक्त आदित्य ।

'केश्यग्नि केशीविषं
केशी बिभर्ति रोदसी
केसी विश्व स्वर्दृशे
केशीदं ज्योति रुच्यते ।'

ऋ. १०.१३६.१, नि. १२.२६.

केशी अग्नि को हवियों से पोषता है । या वर्षा के जल से ओषधियों का उत्पादन कर आहुति द्वारा अग्नि का पोषण करता है (केशी अग्नि बिभर्ति) क्योंकि हवन कालविशेष में ही किया जाता है और सूर्य ही काल का स्रष्टा है। केशी ही ग्रीष्म काल में रश्मियों द्वारा खींचे जल को सुरक्षित रख वर्षा काल में बरसता है (केशी विषम्) केशी ही! द्यौ और पृथ्वी को (रोदसी) या उनके निवासी प्राणियों को धारण करता है । यह आदित्य केशी सब कुछ देखता है । (स्वः केशी विश्वं दृशे) और यही केशी अर्थात् सूर्य ज्योति कहा जाता है ।

केशिनः – एक वचन में केशिन् । अर्थ है (१) केश वाले देवता, अग्नि, वायु. आदित्य ।

'त्रयः केशिनः ऋतुथा विचक्षते'

ऋ. १.१६४.४४, अ. ९.१०.२६, नि. १२.२७.

तीन केश वाले देवता–अग्नि, वायु और आदित्य, ऋतु के अनुसार लोक पर अनुग्रह करते हैं (विचक्षते) ।

केशिना हरी – (द्वि.व.) (१) केश वाले घोड़े, (२) प्राण और उदान, (३) सजीव निर्जीव योगमार्ग ।

'इन्द्रमित केशिना हरी'

ऋ. ८.१४.१२, २०.२९.२

केशी – (१) लम्बे बालों, वाला, (२) शरीर में बहुत केशों वाला (३) बालों के तुल्य रश्मियों का धारक सूर्य ।

'यः कृष्णं केश्यसुरः'

अ. ८.६.५

केसरप्रबन्धा– (स्त्री), मोक्षाभिलाषिणी चितिशक्ति

'ये केसर प्राबन्धायाः'

अ. ५.१८.११

क्षेत्रम् – (न) क्षि + त्रन् = क्षेत्रं । अर्थ है – (१) खेत । 'क्षि' बसन्त अर्थ में आया है । क्षेत्र का आश्रय ले धातु तो लोग बसते हैं (तदाश्रयेण हि ग्रामे क्षियन्ति बसन्ति कुटुम्बिनः) (२) शरीर जिसमें आत्मा का निवास है (३) प्रकृति ।

'क्षेत्रस्य पतिना वयं हितेनेव जयामसि'

ऋ. ४.५७.१, तै.सं. १.१.१४.१, मै.सं. ४.११.१, १०६.३, का.सं. ४.१५, नि. १०.१५.

हम जैसे मित्र के साथ संयुक्त जय प्राप्त करते हैं, वैसे क्षेत्रपति के साहाय्य से जय प्राप्त करें ।

क्षेत्रजुष् – (१) खेत का जोतना, (२) खेत में अन्न उपजाना, (३) रणा क्षेत्रों का विजय, (४) भूमि का हितजनक ।

'क्षेत्रजेषे मघवन् श्वित्र्यंगाम्'

ऋ. १.३३.१५

जिस प्रकार खेत को जोतने के लिए (क्षेत्रजेषे)

किसान पृथ्वी के हितकारी बैल को (शिवत्रयं गाम्) खेत में चलाता है और सूर्य खेतों में अन्न उपजाने के लिए भूमि हितकारी किरणों को फेंकता है उसी प्रकार तू रणक्षेत्रों के विजय के लिए भूमि के हितचिन्तक प्रबन्ध और शासन में समर्थ नर पुंगव को भेज ।

क्षेत्रवित् – (१) क्षेत्र + विद् + क्विप् । क्षेत्र को जानने वाला, (२) कृषि विद्या का ज्ञाता, (३) देह या प्रकृति का ज्ञाता ।

'अक्षेत्रवित् क्षेत्रविदं ह्यप्राट्'

ऋ. १०.३२.७.

क्षेत्रवित्तरः – क्षेत्रवित् + तर = (१) देह रूप निवास स्थान को प्राप्त करने वाला, (२) प्रकृति तत्व को भली प्रकार जानने वाला ।

'क्षेत्रवित्तरो मनुष्यो वि वोमदे'

ऋ. १०.२५.८

क्षेत्रस्यपतिः – (१) क्षेत्रपति, खेती करने वाला । (२) आत्मा, (३) पुरुष, (४) निवास करने योग्य गृह, बीजवपन करने योग्य क्षेत्र या गृहपत्नी का स्वामी ।

'क्षेत्रस्य पतिना वयम्'

ऋ. ४.५७.१, तै.सं. १.१.१४.१, मै.सं. ४.११.१.१६०.३, का.सं. ४.१५, आश्व.श्रौ.सू. ९.११.१४, नि. १०.१५.

क्षेषत् – दीर्घ जीवन प्राप्त करता हुआ ।

'अग्ने स क्षेषत् ऋतपा ऋतेजाः'

ऋ. ६.३.१, मै.सं. ४.४.१५, २४०.३

क्षेष्यम् – सुख से निवास करने की इच्छा करता हुआ ।

'प्रियंधुः क्षेष्यन्तो न मित्रम्'

ऋ. २.४.३ अ.

क्षेत्रिय – (१) वर्तमान देह में रखने वाला आत्मा ।

'वि क्षेत्रियस्य मुच्चताम्'

अ. २.८.१; ३.७.४

(२) क्षेत्र या देह में उत्पन्न होने वाला, (३) माता पिता से प्राप्त होने वाल क्षय आदि रोग ।

'क्षेत्रियात् त्वा निर्ऋत्या'

अ. २.१०.१

क्षेत्रियनाशिनीवीरुत् – (१) देहस्थ आत्मा के देह बन्धन का नाश करने वाली, सब विरुद्धभावों की विनाशिका चितिशक्ति या ब्रह्म विद्या रूप ब्रह्मवल्ली ।

'वीरुत् क्षेत्रियनाशनी'

अ. २.८.२

(२) क्षेत्र में उत्पन्न अन्न को नष्ट करने वाली घास ।

क्षेप्नु – धनुष चलाने वाला धनुर्धारी ।

'गौरो न क्षेप्नो रविजे ज्यायाः'

ऋ. १०.५१.६

क्षेम – (१) प्राप्त वस्तु की सुरक्षा ।

'योगं प्रपद्ये क्षेमं च'

अ. १९.८.२

(२) क्षेम, ।

(३) कल्याण (४) प्रजा रक्षण, सामर्थ्य

'क्षेयस्य च प्रयुजश्च त्वमीशिषे शचीपते'

ऋ. ८.३७.५

(५) रक्षण कार्य करने योग्य धन और जीवन

'तं क्षेमस्य क्षितयः कृण्वतत्राम्'

ऋ. १.१००.७

ऐसे वीर पुरुष को ही पृथिवी निवासी प्रजाजन (क्षितयः) अपने रक्षण कार्य करने योग्य धन और जीवन का कार्य करने योग्य धन और जीवन का (क्षेमस्य) पालक तथा रक्षक नियुक्त करते हैं (त्राम् कृण्वत) ।

कल्याण अर्थ में–

'दाधार क्षेमम् ओको न रण्वः

ऋ. १.६६.३

जो अग्रणी नायक घर के समान सुखदायी होकर प्रजा कल्याण करता है ।

क्षेमकामः – कल्याण कामना वाला

'क्षेमकामासः सदसो न युञ्जते'

ऋ. १०.९४.१२

क्षेमयन् – रक्षा करने और सुखशान्ति देने वाला सूर्य ।

'ऋतस्य त्वासदसि क्षेमयन्तम्'

ऋ. ३.७.२

क्षेम्य – (१) प्रजाओं का क्षेम करने में कुशल ।

'नमो याम्याय च क्षेम्याय च'

वाज.सं. १६.३३, तै.सं. ४.५.६,१, मै.सं. २.९.६, १२५.५, का.सं . १७.१४.

(२) सबका कुशल मंगल करने वाला ।

'क्षेम्यस्तिष्ठन् प्रतरणः सुवीरः'

अ. १२.२.४९

क्षेम्याधू – रक्षण कारी और धारण करने में समर्थ आश्रय
'यमर्धं ते मघवन् क्षेम्याधूः'
ऋ. १०.२८.५

क्षेत्रसाति – (१) खेतों का न्यायोचित विभाग, (२) रणक्षेत्र की प्राप्ति ।
'क्षेत्रसाता वृत्रहत्येषु पूरुम्'
ऋ. ७.१९.३, अ. २०.३७.३
(३) क्षेत्रों की प्राप्ति ।

क्षेत्रसाधस् – क्षेत्र + साध् (साधना दमन करना) + असुन् = क्षेत्र साधस् अर्थ है – (१) जो खेत को साधे या ठीक करे बैल, अनड्वान् (२) वेद में यह शब्द अग्नि का भी पर्यायवाची है . जैसे– दमूना क्षेत्र साधाः
दमूना अग्नि का नाम है जो दम धातु से बना है । लोक में भी दमुनस् या दम्नस् अग्निवाचक है, (३) शरीर को साधन सम्पन्न करने वाला अग्रणी–परमेश्वर ।
'अग्नि वः पूर्व्यं गिरा
देवमीडे वसूनाम्
सपर्यन्तःपुरुप्रियम्
मित्रं न क्षेत्रसाधसम्'
ऋ. ८.३१.१४, तै.सं. १.८.२२.३, मै.सं. २.१३.७:१५६.१०,
हे मित्र, वरुण और अर्यमा ! आपकी सेवा करते हम सनातन पितरों सर्वप्रिय मित्र की तरह शरीर को साधना सम्पन्न बनाने वाले अग्रणी परमेश्वर को पूजते हैं ।
(४) देह पर वश करने में कुशल (५) युद्ध क्षेत्र या क्षेत्र के साधना उत्पन्न करने वाला वीर या कृषक ।
'देवत्रा क्षेत्रसाधसः'
ऋ. ३.८.७

कैरात – करैत सर्प, काला नाग, कीरा ।
'कैरात पृश्न उपतृण्य बभ्रो'
अ. ५.१३.५

कैरातिका – किरात वर्ग की कुमारिका नामक सर्प की एक जड़ी ।
'कैरातिका कुमारिका'
अ. १०.४.१४

क्षैत्रजित्य – (१) भूमि विजय करना (२) देह या बन्धन जीतना
'वैश्वानरं क्षैत्रजित्याय देवाः'
वाज.सं. ३३.६०, तै.ब्रा. २.४.६.८.

क्षैत्रपत्य – (१) क्षेत्रपतियों किसानों का कर्म, (२) खेतों, भूमियों, अन्नों जीवों के कर्म
'मन्धातारं क्षैत्रपत्येषु आवतम्'
ऋ. १.११२.१३
ज्ञान को धारण करने वाले मेधावी को और किसानों के कर्मों को प्राप्त करते हो ।

क्षैतवत् – (१) पृथिवी, (२) पार्थिव
'त्वंहि क्षैतवत् यशो अग्ने
मित्रो न पत्यसे'
ऋ. ६.२.१, साम. १.८४,

कोक – (१) भेड़या । (२) उल्लू, (३) उल्लू या भेड़िया के स्वभाव का छली और निर्दयी ।
'पलालानुपलालौ शर्कुं कोकम्
मलिम्लुचम् पलीजकम्'
अ. ८.६.२
(४) भेड़या के स्वभाव का कीट ।
'गृध्रः कोकश्च ते हताः'
अ. ५.२३.४

कोकयातु – (१) उलूक या वृक के समान प्रजा को कष्ट देने वाला ।
'जहि श्वयातुम् उत कोकयातुम्'
ऋ. ७.१०४.२२, अ. ८.४.२२.
(२) भेड़िए के समान चाल चलने वाला, (३) पीछे से आक्रमण करने वाला ।

कोकुवा – जिह्वा (जीभ) । कोकूय माना वर्णान् उदति (वर्णो का उच्चारण करते समय जीभ वर्णों को चेष्टा विशेष से तालु करने से प्रेरित करती है अतः इसका नाम कोकुवा हुआ) ।
कोकूय और नुद् धातुओं के योग से काकुद शब्द बना है । कु धातु का अर्थ शब्द करना है । इससे यङ् प्रत्यय कर, उ का उवङ् कर कोकुव बना । कोकुव + टाप् = कोकुवा (कोकूयते पुनः पुनः शब्द करोति बार–बार शब्द करती है ।

कोकूयति – कु (शब्द करना) से यङ् प्रत्यय का लट् के प्रथम पुरुष एक वचन का रूप । अर्थ है– बार–बार शब्द करता है ।

क्नोपयति – स्नेहयति (स्निग्ध करता है) । इसके

विपरीत न क्नोपयति का अर्थ है-विरुक्षीकरोति (विरुक्ष करता है, भस्म कर देता है)

अक्नोपन अग्नि का नाम है । यह स्थौलाष्ठीवि ऋषि का मत है । क्नुप् धातु स्नेहन अर्थ में है ।

कोशः - कुष् (निष्कर्षण अर्थात् निकालना) + घञ् = कोश । अर्थ (१) जो निकाला जाय, अन्तर्गत पदार्थ का बाहर निकाला जाना (२) कूप में निबद्ध एकपत्थर का आवरण, (३) चर्मकोशष (४) द्रव्यकोश भण्डार (५) खड्ग रखने का एक पदार्थ-म्यान ।

(६) अक्षयकोश, (७) ज्ञान का भण्डार परमप्रभु ।

'यस्मात् कोशात् उदभराम वेदम्'

अ. १९.७२.१, कौ.सू. १३९.२६.

(८) मेघ, (९) उपदेश करने वाला शब्द मय और वेद मय ज्ञान कोश -परमेश्वर ।

'कोशन सिक्तम् अवतं न वंसगः'

ऋ. १.१३०.२

(१०) जलगर्भित मेघ ।

'दिवः कोशमचुच्यवुः'

ऋ. ५.५३.६, तै.सं. २.४.८.१, मै.सं. २.४.७:४४.१८, का.सं. ११.९

'वृष्णः कोशः पवते मध्वऊर्मिः'

ऋ. २.१६.५

आधुनिक अर्थ - (१) तरल पदार्थ रखने का एक पात्र विशेष, (२) कटोरा, (३) बक्सा, कटोरा रखने का एक पात्र, (४) बक्स में बनाया गया खींचने के लिए एक पदार्थ- drawer (५) खड्ग रखने का म्यान (६) आवरण, (७) भण्डार, खजाना (८)द्रव्य, (९) स्वर्ण या रजत् (१०) शब्द कोश, (११) फूल की कली, (१२) फल की गुठली, (१३) रेशम के कीड़े का घर जिससे रेशम निकलता है (१४) गर्भाशय (१५) अण्डा, (१६) अण्डकोश, (१७) पुरुष लिंग, (१८) वर्तुल पदार्थ, गेंद (१९) दर्शन शास्त्र में वर्णित अन्नमय कोश आदि ।

कोशकारी - कोशसञ्चय करने वाली स्त्री या नीति ।

'निर्ऋत्यै कोशकारीम्'

वाज.सं. ३०.१४, तै.ब्रा. ३.४.१.१०

कोश्य - (१) कोश में रखने योग्य शस्त्र, (२) ऐश्वर्य

'वसिष्ठहनुःशिङ्गीनि कोश्याभ्याम्'

वाज.सं. ३९.८

क्रोड - (१) गोद, (२) पेट का अगला भाग, (३) नाभिस्थान ।

'इन्द्रस्य क्रोडः'

वाज.सं. २५.८, वाज.सं. (का.) २७.११, तै.सं. ५.७.१६.१, मै.सं. ३.१५.७, १७९.११, का.सं. (अश्व). १३.६.

'क्रोड आसीज्ञामिशंसस्य'

अ. ९.४.१५

क्रोश - सैन्यबल और जनसमूह को निमन्त्रण देकर बुलाना ।

'क्रोशाय तूणवध्मम्'

वाज.सं. ३०.१९, तै.ब्रा. ३.४.१.१३.

क्रोशानि - क्रुश् (शब्द करना) के लट् प्र.पु. ए . व. का रूप । शब्द करता है पुकारता है ।

क्लोमन् - (न) (१) कलेजे का खण्ड

'वल्मीकान् क्लोमभिः'

वाज.सं. २५.८, तै.सं. ५.७.१६.१, मै.सं. ३.१५.७, १७९.१२, का.सं. (अश्व). १३.६.

'उदरात् ते क्लोम्नः'

अ. ९.८.१२

क्लोमा (१) कण्ठनाड़ी, (२) दुष्ट प्ररुषों का नाश ।

'यकृत्क्लोमानं वरुणो भिषज्यन्'

वाज.सं. १९.८५, मै.सं. ३.११.९, १५३.१२, का.सं. ३८.३, तै.ब्रा. २.६.४.३.

क्लोश - (१) क्रोश, (२) भय (३) पक्षियों का कुलाव, (४) आह्वान् (५) जलकार ।

'यदि क्लोशमनुष्वणि'

ऋ. ६.४६.१४

क्रोष्टा - (१) दूर तक बुलाने वाला पुरुष (२) श्रृगाल सियार ।

'क्रोष्टा मायोरिन्द्रस्य गोरमृगः'

वाज.सं. २४.३२, मै.सं. ३.१४.१३, १७५.३

क्षोण - (१) देह में निवास करने वाला आत्मा, (२) गुरु के अधीन रहने वाला अन्तेवासी ब्रह्मचारी ।

(३) क्षि (वसना) + ल्युट् = क्षयण = क्षोण (य का उ आर्ष है) । अर्थ है वासस्थान ।

'महः क्षोणस्य अश्विना कण्वाय'

ऋ. १.११७.८, नि. ६.६.

हे अश्विनो कुमारो ! तुम दोनों ने दृष्टि क्षीण होने के कारण एक ही स्थान पर रहने वाले कण्व तेज और प्रकाश दिया -सा. ।

हे राजा तथा राज पुरुषो ! उत्तम निवास प्रापक मेधावी विद्वान् को तुम लक्ष्मी दो - दया. ।

(४) निवास प्रापक मेधावी विद्वान् -दया. ।

(५) रहने वाला ।

क्षोणि - (१) प्राणी । क्षि (बसना) धातु से सम्पन्न (२) नदी , (३) पृथिवी जिसमें जल रहता है ।

'यं क्षेणी रनुचक्रदे'

ऋ. ८.३.१०, अ. २०.९.४, ४९.७.

क्षोणी - (द्वि.व.) (१) अश्विद्वय का विशेषण । नदी आदि या पृथ्वी , जिसमें जल रहता है, (२) सूर्य और पृथिवी ।

'अपः क्षोणी सचते माहिना वाम्'

ऋ. १.१८०.५

(३) पृथिवी ।

'क्षोणीरिव प्रति नोहर्य तद्वचः'

ऋ. १.५७.४, अ. २०.१५.४, साम. १.३७३.

(४) उत्तम वाणी, (५) उत्तम कर्म ।

'सं क्षोणीभिः क्रतुभिर्न पृंक्ते'

ऋ. १०.९५.९

(६) पृथ्वी निवासी जन ।

'कथा न क्षोणी र्भियसा समारत'

ऋ. १.५४.१

भय के मारे त्रस्त पृथिवी निवासी जन (भियसा क्षोणी) क्यों न एक संग मिलकर तेरी शरण में आवें (समारत) । (७) आकाश और पृथिवी, (८) राजा और प्रजा ।

'क्षोणी शिशुं न मातरा'

ऋ. ८.९९.६, अ. २०.१०५.२, साम. २.९८,८, वाज.सं. ३३.६७

क्ष्णोत्र - शाण जिससे हथियार तेज किया जाता है ।

'क्ष्णोत्रेणेव स्वधितिं संशिशीतम्'

ऋ. २.३९.७

क्षोद् - (१) जल, (२) जल का निरन्तर बहने वाला शान्तिदायक प्रतिरोधी बाधक कारण ।

'अपो न क्षोदो अवृणीतमेषे'

ऋ. १.१८०.४

क्षोदस् - (१) प्रवाह ।

'या भी रसां क्षोद् सोद्नः पिपिन्वथुः'

ऋ. १.११२.१२

(२) सर्जन शक्ति का अक्षय भण्डार ।

'सिन्धुर्न क्षोदः क ईं वराते'

ऋ. १.६५.६

परमेश्वर सिन्ध के समान सर्जन शक्ति का अक्षय भण्डार है । उस प्रभु को कौन पूरा जान सकता है ।

कौरम - कुरुष भवः साधुः वा कौरवः । कुर्वन्ति इति कुरवः । कौ पृथिव्या रमत इतिवा । कुरून् युद्ध कर्तॄन् माति मन्यते वा यःसः कौरुमः । कुरु युद्ध कर्त्ता सैनिक कुरुओं में उत्पन्न या साधु कौरव हैं । जो करते है वे कुरु हैं । अथवा कु (पृथ्वी) में जो रमण करता है वह कुरु है । अथवा करुओं युद्ध कर्त्ताओं को तो काटता या मारता है वह कौरुम् है ।

अर्थ है - (१) युद्ध कर्त्ता सैनिक (१) कौ + रम + अच् = कौरम् । पृत्वी पर रमण करने वाला (३) पृथ्वी पर युद्ध क्रीड़ा करने वाला

'षष्टिं सहस्रा नवतिं च कौरम आ रुशमेषु दद्महे

अ. २०.१२७.१, आश्व.श्रौ.सू. ८.३.१०, शां.श्रौ.सू. १२.१४.१. १.

कौरयाण - (१) कृतयान - कुरयाण-कौरयाण । कृतम् मानम् येन (जिसने आक्रमण किया है,) । कृत का कुर आदेश पृषोदरादिवत् हुआ है । कुरयाण + अण= कौरयाण, (कुरयाण के अर्थ में ही अण् प्रत्यय) । कृ धातु से कौर बना है यह भाष्यकार कानिर्णय है । (२) कौरयाण से ही कोरान बना है । बहुत से गांवों के नाम में भी यह शब्द प्रयुक्त है । जैसे-कोरान सरैयां । (आक्रमण कारी सेना विश्राम स्थान पड़ाव) । आक्रमण कारी सेना (३) दुर्ग ने कृतयान का अर्थ संस्कृत मान लिया है (४) स्वामी दयानन्द ने कृतयान् का अर्थ सत्व को गति देने वाला किया है ।

'यं मेदुरिन्द्रो मरुतः
पाकस्थामा कौरयाणः
विश्वेषां त्मना शोभिष्ठम्
उपेव दिविधावमानम् ।'

ऋ. ८.३.२१.

मेधातिथि कहते हैं-इन्द्र और मरुतों ने जो दान मुझे दिया वैसा ही हमेशा शत्रुओं पर आक्रमण

करने वाले पाकस्थान पर आक्रमण करने वाले पाकस्थामा नामक राजा ने दिया (इन्द्रःमरुतः मं मे दु तत् कौरयाणः पाकस्थामा) वह दान सभी धनों में स्वंय अत्यन्त शोभायमान (विश्वेषां त्मनाशोभिष्ठम्) आकाश में नित्य धावने वाले सूर्य के समान हैं (दिवि उपधावया नम् इव) अन्य अर्थ – महाबली (पाकस्थामा) सबको गति देना वाला (कौरयाणः) और सबके जीवनाधार वायु का स्वामी परमेश्वर (मरुतः इन्द्रः) जिस अग्नि, सूर्य, वृष्टि आदि पदार्थ-समूह को मुझे देने वाला है (यं मे दुः) उस प्रभु ने मुझे सबके मध्य में स्वंय प्रकाश मान (विश्वेषां त्मना शोभिष्टम्) तथा द्युलोक में (दिवि) दौड़ने वाले (धावमानम्) सूर्य को प्रदान किया है । (५) क्रियावान्, (६) सब पदार्थों में व्यापक सबको चलाने वाला, (७) कर्त्ता जीवों (कौर) का प्राप्तव्य (याण) परमेश्वर ।

'पाकस्थामा कौरयाणः'

ऋ. ८.३.२१

कौरव्य – कर्मकुशल पुरुषों में श्रेष्ठ ।

'कुलायं कृण्वन् कौरव्यः'

अ. २०.१२७,८, शां.श्रौ.सू. १२.१७.१.२.

कौलाल – कुलाल अर्थात् घड़ा बनाने वाले कुम्भकार का अनुकरण ।

'तपसे कौलालम्'

वाज.सं. ३०.७

कौलीक – बया नामक पक्षी ।

'त्वष्ट्रे कौलीकम्'

वाज.सं. २४.२४, मै.सं. ३.१४.५, १७३.७.

कौशिक – (१) सब पदार्थों का यथार्थ उपदेश करने वाला परमेश्वर या गुरु, (२) पञ्च कोशों में विराजमान जीव ।

'आतू न इन्द्र कौशिक
मन्दासान् सुतं पिब ।'

ऋ. १.१०.११

हे इन्द्र ! सर्वान्दकारक हे समस्त पदार्थों का यथार्थ उपदेश करने वाला परमेश्वर या गुरु, तू प्रयत्न से उत्पन्न किए ज्ञान रस का औषधि रस के समान पान कर श्रवण कर, अथवा हे पञ्च कोशों में विराज मान जीव (कौशिक) तू प्रकाश युक्त हो ब्रह्म रस का पान कर । (३) कुशिक का पुत्र, विश्वामित्र

कौशीतकि आरण्यक – ऋग्वेद के आठ स्थानों में एक ।

कौशीतकि ब्राह्मण – ऋग्वेद के आठ स्थानों में एक

ख

ख – (न) खन् + उ = ख । खन्यते अवदीर्यते (जो खनाजाय या अंवदीर्ण हो जाय) । अर्थ है (१) इन्द्रिय, (२) आकाश, (३) जल निकालने का स्थान, (४) बिल ।

'अदर्द रुत्सम् असृजो विखानि'

ऋ. ५.३२.१, साम. १.३१५, नि. १०.९

हे इन्द्र! तूने मेघ को बार बार विदीर्ण कर उसमें जल निकालने का स्थान बनाया ।

(५) खुदी हुई नहर, जलमार्ग ।

'वज्रेण खानि अतृणत् नदीनाम्'

ऋ. २.१५.३, तै.सं. २.३.१४.५.

आधु० अर्थ-(१)आकाश (२) इन्द्रिय (३) स्वर्ग (४) नगर (५) क्षेत्र (६) अनुस्वार (७) बिन्दु (८) शून्य (९) छिद्र (१०) व्रण (११)आनन्द (१२) कहानी (१३) कर्म (१४) ज्ञान, (१५) ब्रह्मन् ।

खच्छः – ख + छद् + उ = खच्छद = खच्छ (दवा लोप) खम् आकाशम् छादयति, (आकाश को आच्छादित करता है अर्थात् जिसमें आकाश हो) । खच्छद से खच्छ और खच्छ से कच्छ हुआ है । अर्थ है-(१) कटाह, (२) मुख सम्पुट कच्छ के अर्थ के लिए देखिए कच्छ । कम् उदकम् आच्छादयति इति कच्छ ।

खज – ख + जन् + उ = खज । अर्थ (१) संग्राम, (२) ख अर्थात् इन्द्रियों से उत्पन्नं ज्ञान, (३) आकाशस्थ ब्राह्माण्ड ।

खजकृत् – (१) नाना संग्रामों को करने वाला इन्द्र परमेश्वर ।

'स युध्मः सत्वा खजकृत् समद्वा'

ऋ. ६.१८.२, का.सं. ८.१७.

(२) संग्राम करने में कुशल ।

'युध्मो अनर्वा खजकृत समद्वा'

ऋ. ७.२०.३

(३) ख + ज + कृत् । इन्द्रियों के बीच प्रकट होने वाला, (४) प्राण शक्तियों को प्रकट करने

वाला, (५) ख अर्थात् आकाश में परमेश्वर उत्पन्न जगत् का रचयिता परमेश्वर (६) संग्राम करने वाला राजा ।

'अलर्षि युध्म खजकृत् पुरन्दर'

ऋ. ८.१.७, साम. १.२७१

खजङ्करः – (१) शत्रुओं का नाश करने वाला, (२) इन्द्रियों से उत्पन्न ज्ञानों का कर्त्ता आत्मा, (३) आकाशस्थ ब्रह्माण्डों का स्रष्टा परमेश्वर ।

'कर्मन् कर्मन् शतमूर्तिः खजंकरः'

ऋ. १.१०२.६

हे इन्द्र या परमेश्वर या राजा ! तू कर्म कर्म में सैकड़ो ज्ञान और रक्षण सामर्थ्य और पराक्रमों वाला, शत्रुओं का संग्राम करने वाला है या इन्द्रियों से उत्पन्न ज्ञान का कर्त्ता या आकाशस्थ ब्राह्माण्डों का स्रष्टा है ।

खड्ग – (१) गैंडा नामक पशु (२) तलवार ।

'खड्गो वैश्वदेवः'

वाज.सं. २४.४०, वाज.सं. (का). २६.४४, मै.सं. ३.१४.२१, १७७. ४.

खडूर – दूर आकाश ।

'खडूरेऽधिचङ्क्रमाम्'

अ. ११.९.१६

खण्ड – खड् (भेदन अर्थ में) + ड = खण्ड (जो भेदन करता है अलग करता है) । आङ् + खड् + अलच् = आखण्डल (जो मेघों को खण्डित करता है–इन्द्र) ।

'आखण्डल प्र हूयसे'

ऋ. ८.१७.१२, अ. २०.५.६, साम. २.७६, नि. ३.१०.

आधुनिक अर्थ– टूट, दरार, खण्ड, भाग, हिस्सा टुकड़ा, अध्याय, समूह, टुकड़ी, खाँड (गुड़), गृह का एक भाग जिसमें बैल वगैरह रहते है, नष्ट भ्रष्ट गृह ।

खण्वखा – (स्त्री) (१) एक प्रकार की मण्डूक की जाति, (२) इड़ा नाड़ी (३) कण्वम् आत्मानं खनत्ति इति कण्वखाः । छान्दसः खकारः । अर्थ– आत्मा को खोद लेने वाली, (४) खण्वे छिद्रे खजाति गच्छति सा खण्वखा ब्रह्मरन्ध्रगामिनी ।

'खण्वखाइ इ खैमखाइ इ मध्ये तदुरि'

अ. ४.१५.१५

खदिर – (१) खैर नाम का वृक्ष ।

'अश्वत्थः खदिरा दधि'

अ. ३. ६.१

(२) शत्रुहिंसक सेना ।

'अभिव्ययस्व खदिरस्य सारम्'

ऋ. ३.५३.१९

(३) सदा स्थिरता से विद्यमान ।

(४) नित्य ।

'अश्वत्थः खदिरो धवः'

अ. २०.१३१.१४

(५) शत्रु पर प्रहार करने वाला वीर ।

'खादामून खदिरा जिरम्'

अ. ८.८.३

(६) खैर के अर्थ में–

"अश्वत्थात् खदिरात् धवात्'

अ. ५.५.५

खनः – (१) शरीर के रस धातुओं को खन डालने वाला रोग ।

'म्रोको मनोहा खनो निर्दाह आत्मदूषिस्तनूदूषिः

अ. १६.१.३

खनिः –सेंध खोदने वाला ।

'म्रोकं खनिं तनूदूषिम्'

अ. १६.१.७

खनित्रिम – (१) खोदकर कूप से निकाला जल, (१) खोदने से उत्पन्न होने वाला जल ।

'शंनः खनित्रिमा आपः'

अ. १.६.४

(३) खान आदि की रक्षक प्रज, (४) कृषि से या कूप आदि खोद कर जीने वाला ।

'खनित्रिमा उत वा याः स्वयंजाः'

ऋ. ७.४९.२

खनित्रिमा – (स्त्री) (१) भूमि में मांद आदि बनाकर रहने वाली साहिल आदि जन्तु ।

'याः काश्चेमाः खनित्रिमाः'

अ. ५.१३.९

खनित्रिमा आपः – (ब.व.) खोदकर निकाले हुए जल ।

'शंते खनित्रिमा आपः

अ. १९.२.२.

खर – ख + र । खं सुखं राति इति खर । सुखप्रद प्रभु ।

'ऋभू नपात् खरमज्ञा खरज्ञुः

ऋ. १०.१०६.७

खरज्ञु - तीव्र गति से व्यापने वाला वायु ।

खर्गला - उल्लुनी, मादा उल्लू ।

'प्र या जिगाति खर्गलेव नक्तम्'

ऋ. ७.१०४.१७, अ. ८.४.१७,

खर्विका - छोटे छोटे रूप वाली शस्त्र शक्ति

'खर्विकां सर्ववासिनीम्'

अ. ११.९.१६ .

खल - (१) खल् (भ्रष्ट होना) + घ = खल । भ्रंशन्ति योद्धारः यत्र (जहां पर योद्धा भ्रष्ट होते हैं) । (२) स्खल् (हिंसा अर्थ में) + घ = खल । हिंस्यन्ते हि तत्र परस्परेण (वहां एक दूसरे से मारा जाता है) ।(३) खलिहान जिसमें कृषक धान्य आदि की दौनी करते हैं (चूर्ण्यमानानि धान्यानि भ्रश्यन्ति) । खलिहान में धान्य चूर्ण हो कर फैल जाता है व्याप्त होता है (विप्र कीर्णैः धान्यैः व्याप्तः भवति) ।

आधुनिक अर्थ - खलिहान (खल धान्य), पृथ्वी, मिट्टी, स्थान, धूलि की ढेर, तेल का जमाव, दुष्टजन, औषध आदि कूटने के लिए एक पात्र विशेष ।

खलज - खल अर्थात् दुष्ट जनों से उत्पन्न ।

'खलजाः शकधूमजाः'

अ. ८.६.१५

खलतिणक्ष - संचलनार्थस्य खलते स्खलतेरिति औणादिको निपातः स्खवल सञ्चलति इति खलतिः उपचारात् स्खलनविज्ञः ।

'स्खलनं ग्रहगतिभ्रंशोव ' - (दया.)

अर्थ (१) जो स्खलन करता है, चलता है, (२) स्खलनविज्ञ नक्षत्रों में ग्रहों का संचलन जानने वाला, (३) स्खलन ग्रहगति का भ्रष्ट होगा

'दिवे खलतिम्'

वाज.सं. ३०.२१, तै.ब्रा. ३.४.१.१७.

खल्य - खलिहान में धान्य आदि को स्वच्छ करने में कुशल ।

'नम उर्वर्याय च खल्याय च'

वाज.सं. १६.३३, तै.सं. ४.५.६.१, मै.सं. २.९.६, १२५.६, का.सं . १७.१४.

खल्व - चना ।

'मुद्राश्च मे खल्वाश्च मे'

वाज.सं. १८.१२, तै.सं. ४.७.४.२, मै.सं. २.११.४, १४२.४, का.सं. १८.९.

'दृषदा खल्वाँ इव'

अ. २.३१.१, ५.२३.८.

खलु - (१) प्रतिषेधार्थक अव्यय, जैसे खलु कृत्वा (नहीं करना चाहिए) । खलु कृतम् (नहीं किया) (२) पाद पूरक अव्यय जैसे एवं खलु तद् ब्रभूव (वह बात इस प्रकार हुई) (३) निश्चयार्थक जैसे अहं खलु गमिष्यामि (मैं जरूर जाऊंगा) ।

आधुनिक अर्थ - (१) निश्चय, सचमुच, अवश्य, (२) प्रार्थना एवं अनुनय विनय में प्रयुक्त (३) विचिकित्सा, (४) प्रतिषेधक अर्थ में (५) तर्क वितर्क में (६) विषाद या वैराग्य सूचक, (७) वाक्यालङ्कार में वाक्य की सुन्दरता बढ़ाने के लिए ।

खा - (१) नदी, (२) खुदी हुई वापी, (३) तड़ाग ।

'ऋध्याम ते वरुणे खामृतस्य'

ऋ. २.२८.५, मै.सं. ४.१४.९, २२८.१३.

खन् (खोदना) + ड = ख, ख + टाप् = खा ।

खादयः - (ब.व.) ए.व. में खादि । पैर में पहनने के लिए जूता जैसा पदार्थ ।

'अंसेषु व ऋष्टयः पत्सु खादयः'

ऋ. ५.५४.११

'असेष्वा वः प्रपथेषु खादय'

ऋ. १.१६६.९

खादिः - खाद (खाना) + कि = खादि, (१) खाने का पदार्थ, खाद्य भोजन (२) हस्त त्राण, (३) काटने वाली तलवार, (४) भूख ।

'हस्तेषु खादिश्च कृतिश्च संदधे'

ऋ. १.१६८.३

खादिहस्तः - जिस के हाथों में वज्र तलवार आदि हो ।

'त्वेषं गणं तवसं खादिहस्तम्'

ऋ. ५.५८.२

खादी (खादिन्) - (१) खाने वाला, (२) सशस्त्र सेनादल का स्वामी ।

'ध्रावो न स्तृभिः चितयन्त खादिनः'

ऋ. २.३४.२

(३) शस्त्रधारी ।

'आयं हस्तेन खादिनम्
शिशुं जातं न बिभ्रति'

ऋ. ६.१६.४०, तै.सं. ३.५.११.४, मै.सं. ४.१०.३, १४८.७, का.सं. १५.१२, ऐ.ब्रा. १.१६.१५, कौ.ब्रा. ८.१, आश्व.श्रौ.सू. २.१६.७, शां.श्रौ.सू. ३.१३.१७.

खादो अर्णाः -(१) खाने पीने योग्य अन्त वाली नदी, (२) भक्षण योग्य अन्न जल से समृद्ध उपदेष्टा ।

'धन्वर्णसो नद्यः खादो अर्णाः'

ऋ. ५.४५.२.

खालत्य - (न) गंजापन ।

'जराखालत्यं पालित्यम्'

अ. ११.८.१९

खिद्र - (न) (१) दैन्य -दया., (२) दीन प्रजा ।

'खिद्रं बिभर्षि पृथिवि'

ऋ. ५.८४.१, तै.सं. २.२.१२.२, मै.सं. ४.१२.२, १८१.१, का.सं. १०.१२, आप. मं. पा. २.१८.९, नि. ११.३७.

(३) खिद् + र = खिद्र । छेदने वाला ।

'बडित्था पर्वतानाम्
खिद्रं बिभर्षि पृथिवि ।'

ऋ. ५.८४.१,

हे पृथिवि, अर्थात् विद्युत् । तू मेघों को छेदने वाला बल रखती है (पर्वतानां खिद्रम्) -सा. हे विद्युत । सचमुच (वट्) तू मेघों को छेदने वाली शक्ति खिद्रम्) रखती है । -(दया.)

खिद्वान् - शत्रुओं को खेदजनक ।

'कस्ते भागः किं वयो दुध्र खिद्वः'

ऋ. ६.२२.४, अ. २०.३६.४

खिल्य - (१) अंश (२) शत्रु आदि से न टूटने वाला

'अभिन्ने खिल्ये निदधाति देवयुम्'

ऋ. ९.२८.२, अ. ४.२१.२. तै.ब्रा. २.८.८.११.

खिल - बाड़ा, बयान, गौओं के रहने का स्थान ।

'एता एना व्याकरं खिलेगाविष्ठिता इव'

अ. ७.११५.४

खिल्या - विहार योग्य भूमि ।

'उतखिल्या उर्वराणां भवन्ति'

ऋ. १०.१४२.३

खील - कील ।

'षष्टिश्च खीला अविचाचलाये'

अ. १०.८.४

खुद - प्रसन्न और सुखी करना ।

'चोदयत खुदत वाजसात ये'

ऋ. १०.१०१.१२, अ. २०.१३७.२.

खृगल - मोटे खाल वाला अथवा कठोर गले वाला पशु ।

'पिशङ्गे सूत्रे खृगलम्'

अ. ३.९.३

खृगला - (द्वि.व.) खृगल का द्विवचन (१) खोदे हुए को गलाने वाला खृगल है । -(दया.) (२) कन्धों पर लगे कवच ।

'खृगलेविस्रसः पातमस्मान्'

ऋ. २.३९.४

खेणस् - ऐश्वर्य से युक्त ।

'यन्निर्णिजा रेक्णसा प्रावृतस्य'

ऋ. १.१६२.२, वाज.सं. २५.२५, तै.सं. ४.६.८.१, १८१.९ का.सं. (अश्व). ६.४.

खेदा - (१) व्यापार वाली दीप्ति, (२) रज्जुसदृश प्रेरणा जिससे आत्मा इस अन्नमय कोष के चलाता है ।

'खेदया त्रिवृता दिवः'

ऋ. ८.७२.८

खेल - (१) खेल, क्रीड़ा (२) भोग विलास की क्रीड़ा करने वाला ।

'चरित्रंवेरिवाच्छेदि पर्णम्
आजा खेलस्य परितकम्यायाम्'

ऋ. १.११६.१५.

खैमुखा- (१) मेढ़क की एक जाति (२) पिंगला नाड़ी (२) खै स्थैर्ये खदने (भ्वादिः) । हिंसायाञ्च इति शब्द कलप्द्रुमः ततः मन् प्रत्ययः । खैमं स्थैर्य खनाति स्थिरीकरोति इति खैमुखा-पिंगला

'खण्वखा इ खैमखा इ मध्ये तदुरि'

ऋ. ४.१५.१५

खै (स्थैर्य खनन अर्थ में) + मन् = खैम (स्थैर्य)
खैम + खन् + ड + टाप् = खैमुखा

खोदन - (न.) सुख, ऐश्वर्य ।

'महतः साधु खोदनम्'

अ. २०.१३६.१२,१४,१५

ग

गण- (१) गण् + थ = मण । जो बहुत होने के कारण गिना जाता है, वह गण है । सहि गण्यते

बहुसंयोगात्, यह शब्द अत्यन्त महत्वपूर्ण है। आज भी इसका प्रयोग इसी अर्थ में हो रहा है। वेदों में इस का प्रयोग अनेक स्थानों में हुआ है। जैसे-

'गणानां त्वा गणपतिं हवामहे'

ऋ. २.२३ .१

यहां गणपति, गणेश का वाचक है जो देवताओं के स्वामी या मुखिया समझे जाते हैं।

(२) गणों में पढे गए खलिल शान्ति सूक्त आदि।

'गणेभ्यः स्वाहा'

अ. १९.२२.१६

(३) गणनां योग्य प्रमुख (४) प्राण गण।

'आदीं हंसो यथा गणम्'

ऋ. ९.३२.३, साम. २.१२०.

गणक - हिसाब मे चतुर।

'ग्रामण्यं गणकम् अभिक्रोशकं तान्महसे'

वाज.सं. ३०.२०

गणंगणम् - प्रत्येक गण या कटक में,।

'व्रातं व्रातं गणं-गणं सुशस्तिभिः'

ऋ. ३.२६.६, ५.५३.११.

गणपतिः - (१) समस्त गणों, जनों, वर्गों या इन्द्रियगणों का पालक स्वामी इन्द्र (२) गणेश।

'निषुसीद गणपते गणेषु'

ऋ. १०.११२.९

(३) गणों का स्वामी, (४) मुखिया (५) गणनायोग्य प्रमुखों में सबसे प्रमुख।

गणश्रि- समूह रूप में आश्रित, अग्नि ज्वालाओं का विशेषण।

'सोमं पिबमन्दसानो गणश्रिभिः'

ऋ. ५.६०.८, नि. ८.२.

हे आनन्दित करने वाला, सर्वजन हितकारक वैश्वानर अग्नि, समूह रूप में आश्रित ज्वालाओं से (गणश्रिभिः) सोमरस का पान कर (सोमंपिब)

गणश्रीः - (१) गणनीय, दर्शनीय शोभा से युक्त अग्नि, (२) राजा, (३) प्रभु।

'तपुर्जम्भस्य सुद्युतो गणश्रियः'

ऋ. ८.२३.४

गण्या - (१) गणना करने योग्य, पूज्य (२) गण अर्थात् सैन्य दलों या जनों की हितकारिणी।

'इडा येषां गण्या माहिना गीः'

ऋ. ३.७.५

गत - गम् + क्त = गत। अर्थ (१) मृत, (२) चला गया।

'मा गतानामादीधीथाः'

अ. ८.१.८.

गलु - गम् + कलु = गलु।

अर्थ - (१) जुए के पाशों की चाल (२) जुए से प्राप्त हटने वाला अर्थ लाभ, (३) गन्तव्य।

'अक्षाणां गलुमुपलिप्समानाः'

अ. ६.११८.१

गतासु - गतं + आसु। मृत।

'दण्डं हस्तात् आददानो गतासोः'

अ. १८.२.५९

गध्य - (१) ग्रहण करने योग्य पदार्थ

'ऋजा वाजं न गध्यं युयूषन्'

ऋ. ४.१६.११, नि. ५.१५.

(२) सभी प्रकार चाहने योग्य ऐश्वर्य

'अवीर्वाज्य गाध्यस्य सातौ'

ऋ. ६.१०.६

(३) ग्रह् + यत् = गध्य (ग्रह् का गध् आदेश), ग्रहणीय, ग्रहण करने योग्य। यह शब्द सोम का पर्याय है। गृह्यमाण सिश्री भूतहो सोम भक्षयितव्य होता है।

गध्यं, गृहणीय, स्वीकरणीय, खाने लायक के अर्थ में है। ऐसा पदांर्थ जो खाने योग्य हो जाए गध्य है।

'यासि कुत्सेन सरथमवस्युः
तोदो वातस्य हर्योरीशानः
ऋज्रा वाजं न गध्यं युयूषत्
कविर्यदहन् पार्याय भूषात्'

ऋ. ४.१६.११

हे इन्द्र! कुत्स की रक्षा करने का इच्छुक! (अवस्युः) तथा कुत्स के शत्रुओं का हिंसक (तोदः) बलशाली अश्वों का स्वामी (हर्य ईशानः) तू कथंससनामक राजर्षि के पुत्र राजर्षि कुत्स के साथ एक पथ पर आरुढ़ हो (कुत्सेन सरथम्) वायु की गति से (वातस्य) ऋजु अर्थात् सुन्दर या सीधे राजपथ से ऋतुगामी घोड़ों को ग्रहणार्ह सोमरस को (गध्यम्) अन्न की तरह (वाजं न) सेवनेच्छुक (युयूषन्) जाता है (यासि)। वह अन्तर्दशन प्राज्ञ कुत्स भी (कविः)

जिसी दिन (यत् अहन्) आपत्ति को निवारने या शत्रुओं से पार करने की या रक्षा करने की (पर्याय) इच्छा करता है । उसी दिन शत्रुओं को अतिक्रमण करता है (भूषात्) । या हे इन्द्र, क्रान्तदर्शी जिस दिन शत्रुओं का पराजय करना चाहता है, कर डालता है ।

अन्य अर्थ – हे राजन् दूरदर्शी शासक (तोदः) और वायु समान अश्वों का स्वामी (वातस्य हर्योः ईशानः), जो तू (यत्) ग्राह्य बल की तरह (गध्यं वाजं न) सत्याचरण की प्राप्ति की इच्छा रखते हुए (ऋज्रा युयुषन्) तथा आत्म संरक्षण चाहते हुए (अवस्युः) वेदज्ञ ब्राह्मण के साथ (कुत्सेन) एक रथ पर आरूढ हो (सरथम्) जाता है (यासि) वह तू प्रतिदिन (अहन्) जाता है (यासि) वह तू प्रतिदिन (अहन्) दुःख सागर से पार होने के लिए (पार्याय) सामर्थ्यवान् होता है (भूषन्) ।

गध्यति – मिश्रयति, (मिलाता है) ।

गध् – आज भी गध् धातु मिलाना अर्थ में प्रयुक्त होता है । गध् धातु मिश्रीकरण अर्थ में आता है ।

गधित – मिश्रीकृत, मिलाया हुआ । गध् + क्त = गधित ।

गधिता – गध् (मिश्रीकरण) + क्त + टाप् = गधिता (इट् का आगम) । अर्थ है- मिश्रीकृता । पाणिनि के मत से ग्रह् + क्त से गध् होता है, जिसका अर्थ है- गृहीत ।

गन्तम् – प्राप्त करते हो । गम् के लोट् म. पु. द्वि.व. का रूप ।

'अच्छा गिरः सुमतिं गन्तमस्मयू'

ऋ. १.१५१.७.

गन्तोः – गुजरता हुआ, चलता हुआ, बीतता हुआ ।

'मा नोमध्या रीरिषतायुर्गन्तोः'

ऋ. १.८९.९, वाज.सं. २५.२२, मै.सं. ४.१४.२, २१७.१४, का.सं. ३५.१, गो.ब्रा. १.४.१७, श.ब्रा. २.३.३.६, आप.श्रौ.सू. १४.१६.१, आप. मं. पा. २.४.३, हि.गृ.सू. १.४.१३.

गन्ध – गन्ध (अर्दन, पीड़ा देना अर्थ में) । अर्थ तीव्र गन्ध, पीड़ाकर दण्ड ।

'तानोषधे त्वं गन्धेन'

अ. ८.६.१०

गन्धर्व – (१) सूर्यादिलोकों को धारण करने वाला –परमेश्वर ।

'ऊर्ध्वो गन्धर्वो अधिनाके अस्थात्'

ऋ. ९.८५.१२, १०.१२३.७, अ. १३.१.११, साम. २.११९७.

(२) गन्ध आदि में विचरण करने वाली नासिका आदि ।

'अप्सरसां गन्धर्वाणां
मृगाणां चरणे चरन् ।'

ऋ. १०.१३६.६

(३) भूमि आदि लोकों सबको चलाने वाली शक्ति को धारण करने वाला ।

(४) पुरुष ।

'गन्धर्वो अप्सु अप्या च योषा'

ऋ. १०.१०.४, अ. १८.१.४

(५) द्वितीय पति जो नियोग में नियुक्त होता है ।

'नमो गन्धर्वस्य नमसे'

अ. १४.२.३५

(६) वाणी को धारण करने वाला विद्वान् ।

'गन्धर्वः काम्यं वचः'

अ. २०.१२८.३, शां.श्रौ.सू. १२.२०.२.२.

व्युत्पत्ति – गां देववाणीं धारयति इति गन्धर्व (जो देववाणी को धारण करता है वह गन्धर्व है) ।

(७) आर्यसमाजी विद्वान् गन्धर्व का अर्थ ब्रह्मचारी भी करते हैं ।

(८) गन्धर्व नामक एक जाति विशेष । यक्ष, किन्नर, गन्धर्व, देव और असुर मिलकर पञ्चजन माने गए हैं ।

(९) आजकल गायकों की एक जाति गन्धर्व नाम से ख्यात है । आर्य समाजी विद्वान् गन्धर्व को ब्रह्मचारी, पितरको वाणप्रस्थी, और राक्षस को आश्रय धर्म से च्युत समझते हैं ।

(१०) पृथ्वी को धारण या पोषण करने वाला मेघ या वायु भी गन्धर्व है ।

'गन्धर्वस्य ध्रुवे पदे'

ऋ. १.२२.१४.

मेघ और वायु के ध्रुव अर्थात् स्थिर स्थान अन्तरिक्ष में ।

(११) गन्ध से युक्त अंश, (१२) रजोभाव ।

'गन्धर्वो विविद उत्तरः'

ऋ. १०.८५.४०, पा.गृ.सू. १.४.१६, आप.मं.पा. १.३.१, हि गृ.सू. १.२०.२.

गन्धर्व – (१) परमात्म-पालित व्यवस्था, (२) गन्धर्व की पत्नी अप्सरा ।
'ताभ्यो गन्धर्वपत्नीभ्यः'
अ. २.२.५

गन्धर्वाप्सरसः – (१) गन्ध वायु या जल द्वारा लग जाने वाली बीमारियां (२) का भी पुरुष और कामिनी स्त्रियां (३) गन्धर्व और अप्सरायें ।
'गन्धर्वाप्सरसां शतम्'
अ. १९.३६.६.

गन्धारी, गन्धारिन् – (१) गन्धार देश का बासी, (२) दुर्गन्ध वाला ।
'गन्धारीभ्यो मूजवद्भ्यः
अ. ५.२२.१४

गनीगन्ति – गच्छति (जाता है) । गम् धातु का लट् में निपातितरूप है ।

गभः – (१) भग, (२) भाग्यवान् (३) समृद्ध प्रजा ।
'आहन्ति गभे पसः
वाज.सं. २३.२२., शं.ब्रा. १३.२.९.६.

गभस्ति – (१) हाथ ।
'मिम्यक्ष वज्रो नृपते गभस्तौ'
ऋ. १०.४४.२, अ. २०.९४.२
(२) किरण

गभस्तिपूत – (१) गभस्तिना पूतः किरण से पूत या पवित्र किरणें पवित्र करती है । (ते हि स्पर्शेनैव पावयन्ति) ।
'वाचस्पतये पवस्व वृष्णो
अंशुभ्यां गभस्तिपूतः
देवो देवेभ्यः पवस्व
येषां भागोऽसि'
वाज.सं. ७.१, तै.सं. १.४.२.१, ६.४.५.३, मै.सं. १.३.४, ३१.७ .का.सं. ४.१, श.ब्रा. ४.१.१.९
हे सोम ! प्राणात्मा इन्द्र के लिए (वाचस्पतये) अपने को पवित्र कर (पवस्व) तू आदित्य की रश्मियों से पवित्र हो (वृष्णः अंशुभ्याम्) तथा तू अभिसुत होने के पूर्व भी सूर्य की किरणों से पवित्र है (गभस्ति पूतः) । अतः देव समान तू सोम ! देवताओं के निमित्त पवित्र हो (देवः देवेभ्यः पवस्व) जिन देवों का तू भाग है (येषां भागः आसि) । यहां देवेभ्यः से तात्पर्य है- ऋत्विक् यजमानों से जो सोमरस तैयार करते हैं और तैयार किये जाने के कारण सोमरस जिनका भाग है ।
(२) बाहुबल में पवित्र सोम ।
'गभस्तिपूतं भरत श्रुताय'
ऋ. २.१४.८.

गभिषक् – गम्भीर ।
'तेषा हिं धाम गभिषक् समुद्रियम्'
अ. ७.७.१.

गभीर – (१)गम्भीर, (२) सब पर प्रभाव डालने वाला ।
'बृहद् गभीरं तव सोमधाम'
ऋ. १.९१.३
(३) गम्भीर स्वभाव वाला ।
'त आदित्यास उरवो गभीराः'
ऋ. २.२७.३, आश्व.श्रौ.सू. ३.८.१.

गभीरं पदम् – (१) गहरा संकट स्थान, (२) अधःपतन, (३) नरक, (४) गढ़ा ।
'इदं पदम् अजनता गभीरम्'
ऋ. ४.५.५

गंगा – गम् + गन् + टाप् = गंगा । यहां गम् में ण प्रत्यय अन्तर्भूत समझा जाता है । दो अर्थ हैं – (१) गंगा विशिष्ट स्थान को जाती है । (साहि विशिष्टं स्थानं गच्छति) अथवा, (२) विशिष्टं स्थानं गमयति (विशिष्ट स्थान को पहुंचाती है । गंगा नदी सतत वाहिनी है और पवित्र समझी जाती है, यह प्रसिद्धि है । इसका जल पावन और रोग विनाशक है । गंगा नदी
'इमं मे गंगे यमुने सरस्वति'
ऋ. १०.७५.५, तै.आ. १०.१.१३, नि. ९.२६.
(२) शरीर की इडा नाम्नी नाड़ी जो आत्मा को ज्ञान प्राप्त कराती है ।

गम्भन् – धारण करता हुआ ।
'अपां गम्भन् सीद'
वाज.सं. १३.३०. श.ब्रा. ७.५.१.८,

गम्भर – गम्भीर स्थान ।
'बृहन्तेव गम्भरेषु प्रतिष्ठान्'
ऋ. १०.१०६.९

गम्भीरः – (१) गम्भीर, (२) सर्वव्यापक, (३) निगूढ़ परम मेघ, (४) सब का गन्तव्य महान् पुरुष (५) गम्भीर राजा, (६) रात्रि ।

'अति विश्वानि अरुहत् गम्भीरः'

अ. १९.४९.२.

(७) गहरा (८) अपार बल सामर्थ्य वाला इन्द्र परमेश्वर ।

'गम्भीर ऋष्वो असमष्ट काव्यः'

ऋ. २.२१.४

गम्भीरवेपस् – (१) गम्भीर कर्मा, गम्भीर कर्मों वाला (२) गम्भीर यज्ञ, गम्भीर बुद्धि वाला ऋषि ।

'विरुपास इदृषयस्त इद्गम्भीरवेपसः
ते अङ्गिरसः सूनवस्ते अग्नेः परिजज्ञिरे'

ऋ. १०.६२.५,

वे वेद या कर्म के द्रष्टा नाना प्रकार के हैं (ऋषयः विरूपासः इत्) वे गम्भीर या गम्भीर कर्मो हैं (गम्भीर वेपसःइत्) वे अङ्गिरस के पुत्र हैं (ते अङ्गिरसः सूनवः)और वे अग्नि से उत्पन्न (ते अग्नेः परिजज्ञिरे)

अन्य अर्थ – नानादर्शी तत्वदर्शी ही ऋषि कहलाता है (विरूपासः इत् ऋषयः) और वे ही गम्भीर कर्मों वाले या गम्भीर प्रज्ञा वाले होते हैं (तेइत् गम्भीर वेपसः) वे संन्यासी वानप्रस्थाश्रम के पुत्र होते हैं (ते अङ्गिरसः सूनवः) अतः वे वानप्रस्थाश्रम से उत्पन्न होते हैं (ते अग्नेः परि जज्ञिरे) ।

गम्भीर शंसः – (१) गम्भीर समुद्र के समान अगाध और प्रशंसा करने योग्य (२) वेदमय गम्भीर ज्ञान का उपदेष्टा ।

'गंभीर शंसो रजसो विमानः'

ऋ. ७.८७.६.

गमिष्ठ – यात्रा करने में बढ़ा चढ़ा ।

'अच्युतच्युत् समदो गमिष्ठः'

अ. ५.२०.१२

गमिष्ठा – (द्वि.व.) (१) प्राप्त, (२) अतिशय चलने वाले ।

'न संस्कृतं प्रमिमी तो गमिष्ठा'

ऋ. ५.७६.२, सामं. २.११०,३

(३) अश्विद्वय या स्त्री पुरुष का विशेषण । अत्यन्त चलने वाले या चलते हुए ।

'किमङ्गवां प्रत्यवर्तिं गमिष्ठा'

ऋ. १.११८.३, ३.५८.३.

गय – (१)गृह, घर ।

'यः शश्वतो अदाशुषो गयस्य'

ऋ. ७.१९.१, अ. २०.३७.१

(२) विद्युत् का शब्द सम्बन्धी विज्ञान, (३) सर्वाश्रम प्राणस्वरूप प्रभु ।

'असितस्य ते ब्रह्मणा कश्यपस्य गयस्य च'

अ. १.१४.४

(४) धन, (५) प्राण ।

'अरक्षत् दाशुषे गयम्'

ऋ. १.७४.२, सोम. २.७३०.

वह विद्यादि के दानी तथा ईश्वर को आत्मसमर्पण करने वाले के लिए (दाशुषे) धनैश्वर्य तथा प्राण जीवन की भी रक्षा करता है । (गयम् अरक्षत्)

गयसाधनः – (१) घर को चमकाने वाला शिशु (२) प्राणों के वशीकार द्वारा साधना करने योग्य-प्रभु ।

'सृजता गयसाधनम्'

ऋ. ९.१०४.२, साम. २.५०,८.

गयस्फान – (१) गयानां प्राणानां वर्धयिता (प्राणों को बढ़ाने वाला)- (दया.) ।

(२) ऐश्वर्यों और पशुओं को बढ़ाने वाला परमेश्वर सा. ।

'गयस्फानो अमीवहा वसुवित् पुष्टिवर्धनः
सुमित्रः सोमनो भव'

ऋ. १.९१.१२, तै.सं. ४.३.१३.५, मै.सं. ४.१०.४, १५२.११, श.ब्रा. ११.४.३.१९,

(१) गृह, प्राणक्षर धन बढ़ाने वाला

'गयस्फानो गोभिरश्वोभिरिन्दो'

ऋ. ७.५४.२

गरगीर्ण – जहर पीए हुए ।

'गरगीर्णो भवत्यस्थिभूयान्'

अ. ५.१८.१३

गरुत् – (१) स्तुति, (२) उपदेश ।

गरुत्मत् – मरुत् + मतुप् = गरुत्मत् । स्तुतियों वाला (गरण वान् – स्तुतिभिः तद्वान्) (२) रसों का गरण करने वाला (रसानां गरिता) आदित्य, (३) स्तोता, (४) उपदेष्टा, (५) महान् आत्मा (गुरु + आत्मन् = गरुत्मन्) ।

पाली में गुरु को गरु ही कहते हैं और आत्मन् के आ का लोप बहुत्र पाया जाता है ।

'इन्द्रं मित्रं वरुणम् अग्निमाहुः
अथोदिव्यः ससुपर्णो गरुत्मान्

एकं सत् विप्रा बहुधा वदन्ति
अग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः'

ऋ. १.१६४.४६, अ. ९.१०.२८, नि. ७.१८.

अग्नि को ही इन्द्र मित्र और वरुण नाम से तत्ववेत्ता पुकारते हैं । द्युलोक का रहने वाल (दिव्यः) सुन्दर रूप से गिरने वाला (सुपर्णः) स्तुति वाला या रस को वरुण करने वाला आदित्य (गरुत्मान्) भी अग्नि ही है । अग्नि को ही (एकं सत्) मेधावी पुरुष आत्म-तत्ववेत्ता तत्तत् कारण वश अनेक नामों से पुकारते हैं (बहुधा वदन्ति) जैसे अग्नि, यम और मातरिश्वा ।

(६) गरुड़ ।

'सुपर्णस्त्वा गरुत्मान्'

अ. ४.६.३

गर्गर - (१) शब्द करने वाला, (२) स्तुति वाचक, (३) कण्ठ, (४) कण्ठगत प्राण, (५) प्रवक्ता गुरु (६) गड़ गड़ शब्द कारी नगाड़ा ।

'अवस्वरातिगर्गरः'

ऋ. ८.६९.९ अ. २०.९२.६.

गर्गराणां पिता - वेद या ब्रह्मज्ञान के गुरूओं का पालक ।

'अयो पिता महतां गर्गराणाम्'

अ. ९.४.४, तै.सं. ३.३.९.२. का.स. १३.९.

गर्त्त - गुर् + क्त = गूर्ण (उदयत) = गर्त, अथवा गृ + तन् = गर्त । गृ धातु स्तुति करना अर्थ में आया है । अर्थ - (१) रथ । वैदिक युग में रथ का नाम गर्त था । सम्भवत: रथ का निर्माण गर्त सा ही किया जाता है । अंग्रेजी का cart शब्द इसी गर्त्त का अपभ्रंश है । रथ स्तुत्य पदार्थ है ।

(२) श्मशान ।

(३) अक्ष - निर्वापन स्थान ।

रथ के अर्थ में प्रयोग -

'आरोहथो वरुण मित्रगर्तम्'

ऋ. ५.६२.८, मै.स. २.६.९, ६९.१२, का.सं. १५.७, नि. ४.५.

हे वरुण और मित्र ! रथ पर सवार हो ।

(४) श्मशान घाट पर रहने वाला जीव जो मांस खाने के लिए नित्य जीवों की मृत्यु के लिए आशा लगाए रहता है ।

आधुनिक अर्थ - (१) छिद्र, (२) गुहा (३) रिक्त स्थान (४) एक देश का नाम, (५) एक प्रकार का रोग, (६) गढ़ा, (७) कमर के दोनों पुट्ठों के बीच का भाग ।

गर्तसद् - (१) हृदय रूप गुहा में विराजमान्

'स्तुहि श्रुतं गर्तसदम् जनानाम्'

ऋ. २.३३.११, अ. १८.१.४०, तै.सं. ४.५.१०.३, आश्व.गृ.सू. ३.१०.१०, नृसिंह पू.ता.उप. २.४.

(२) रथ पर विराजने वाला ।

गर्तारुह् - (१) गर्त + आङ् + रुह् + क्विप् । गर्त नामक अक्ष निर्वापुन स्थान् पर चढ़ने वाली स्त्री । दक्षिणात्य स्त्री अपने पति के बंधु बांधवों का धन लेने के लिए गर्त नामक अक्ष- निर्वापन स्थानपर चढ़ती है । अपुत्रा और अपतिका स्त्री अपनी सच्चरित्रता सिद्ध कर पति का कुछ धन ले अपने पिता के घर चली जाती है ।

'गर्तारुगिव सनयेधनानाम्'

ऋ. १.१२४.७, नि. ३.५.

गर्त का अर्त श्मसान और रथ भी है ।

(२) सभाध्यक्ष के पद पर विराजने वाला पुरुष, (३) आदित्य के ऊपर विराजती हुई उषा, (४) रथरोही विजिभीषु । (५) रथ पर आरूढ़

गर्तासः - (ब.व.) गर्त + जस् = गर्तासः । बहुवचन का यह रूप छान्दस् ।

गर्तेष्ठाः - श्मशानस्य ।

'गर्तेष्ठाः स्यात्'

वह श्मसानरथ हो । गर्त का अर्थ रथ भी है और अक्ष-निर्वापन स्थान भी ।

गर्दभ - (१) गधा । (२) गर्दभ के समान कठोर भाषी । गद् (शब्द करना) + रभच् = गर्दभ, (३) गर्धया धनतृष्णया भाति इतिवा (तृष्णा से व्याप्त लोभी) (४) गरेण विषेण दभ्नाति हिनस्ति इति वा (विष से मारने वाला)

'समिन्द्र गर्दभं मृण'

ऋ. १.२९.५, अ. २०.७४.५

'शतं मे गर्दभानाम्'

ऋ. ८.५६.३

'न गर्दभं पुरो अश्वान्नयन्ति'

ऋ. ३.५३.२३

गर्दभनादी, गर्दभनादिन् - गधे के समान खें खें कर

हंसने और कोलाहल मचाने वाला

'सायं गर्दभनादिनः'

गर्दभी – गर्दन + ङीष् । गधी, घोड़ी ।

'विनद्धा गर्दभीव'

अ. १०.१.१४

गर्दभौ – (१) द्वि.व.) (१) गर्दभ, अश्व, (२) अति आकांक्षा वाले ।

'सिकतास्विव गर्दभौ'

अ, २०, १३६.२, शां.श्रौ.सू. १२.२४.२.३.

गर्भ – ग्रह के सम्प्रसारण रूप गृह से गृभ् (स्तुति, गिरण या उगलना) + घ (संज्ञा अर्थ में) = गर्भ । गर्भ स्तुत्य होता है या गर्भ से अनर्थक पदार्थ जो उल्व से आवृत रहता है , निकलता है । गृह् + घ = गर्भ । स्त्री का रज पुरुष के वीर्य के अस्थि, स्नायु और मज्जा इन तीन गुणों को ग्रहण करता है और पुरुष वीर्य स्त्री रज के त्वचा, मांस और रुधिर इन तीनों के गुणों को ग्रहण करता है । इन छः गुणों के संयोग से शरीर को 'षाट्कौशिक' अर्थात् छः कोशों का बना कहते हैं ।

या स्त्री पुरुष के परस्पर प्रेम-प्रदर्शन से गर्भधारण होता है । अतः गर्भ ग्रहण करना अर्थ में हुआ (यदा हि .स्त्री गुणगान् । गृह्णाति, गुणाश्च आयाः गृह्यन्तेऽथ गर्भो भवति)

अर्थ – गर्भ ।

'चकार गर्भं सनितुर्निधानम्'

ऋ. ३.३१.२, नि. ३.६.

पालते पोसते बहनोई के लिए पिता पुत्री को गर्भधारण योग्य बनावे (२) सर्वोत्पादन समर्थ वृष्टि जल ।

'अत्रा पिता दुहितुर्गर्भमाधात्'

ऋ. १.१६४.३३, अ. ९.१०.१२, नि. ४.२१.

इस अन्तरिक्ष में द्युलोक नाम से प्रख्यात पर्जन्य नामक मेघ (पिता) दूर निहित पृथ्वी पर (दुहितुः) सर्वोत्पादन समर्थ वृष्टिजल (गर्भम्) बरसाता है (आधात्) ।

(३) अन्तः संचारी प्राण या जीवात्मा भी गर्भ कहलाता है । (४) सबके भीतर गर्भ में बालक के समान प्रसुप्त अग्नि ।

'तनूनपात् उच्यते गर्भआसुरः'

ऋ. ३.२९.११

(५) परस्पर ग्रहण करने-एक दूसरे को पकड़ लेने वाला बल प्रकृति ।

'अतिष्ठत् गर्भो वृजनीष्वन्तः'

ऋ. १.१६४.९, अ. ९.९.९.

(६) २४ विभागध्यक्षों का प्रवर्तक राजा स्वयं २५ वां होकर गर्भ कहलाता है ।

'गर्भाः पञ्चविंश'

वाज.सं. १४.२३, तै.सं. ४.३.८.१, ५.३.३.४, मै.सं. २.८.४,१०९.५, का.सं.१७.४,२०.१३, श.ब्रा. ८.४.१.१९, मा.श्रौ.सू. ६.२.१

गर्भकरण – गर्भ विधायद, ओषधि ।

'तद् गर्भकरणं पिब'

अ. ५.२५.६

गर्भधः – (१) ग्रहण करने या वश करने के लिए सामर्थ्य को धारण करने वाला, (२) गर्भ धारण करने में समर्थ पति, (३) हिरण्यगर्भ को धारण करने वाला परमेश्वर ।

'आ हम जानि गर्भधम्'

वाज.सं. २३.१९, तै.सं. ७.४.१९.१, मै.सं. ३.१२.२०, १६६.१२, का.सं. (अश्व). ४.८, श.ब्रा. १३.२.८.५, तै.ब्रा. ३.९.६.४, मा.श्रौ.सू. ९.२.४.

(४) समस्त संसार को अव्यक्त रूप में धारण करने वाली प्रकृति ।

(५) गर्भधारकं कलत्ररूपम्

गर्भरसा – (१) गर्भरूप, सार रूप वीर्य को धारण करने में समर्थ स्त्री, (२) बीज वपनादिद्वारा गर्भित होने के रस अर्थात् बल को धारण करती हुई पृथिवी, (३) ब्रह्मबीज से गर्भित प्रकृति (४) गर्भजनक वीर्य, गर्भधारक तेज

'सा बीभत्सुः गर्भरसा निविद्धा'

ऋ. १.१६४.८, अ. ९.९.८.

गर्भाद् – गर्भ + अद् + क्विप् = गर्भाद् । अर्थ- गर्भ-विनाशक रोग ।

'गर्भादं कण्वं नाशय'

अ. २.२५.३

गर्भधा – (१) स्त्री, (२) प्रकृति ।

गर्भधिः – (१) गर्भ-धारण करने वाली कपोती, (२) अग्नि को गर्भ में धारण करने वाली पृथ्वी ।

'कपोत इव गर्भधिम्'

ऋ. १.३०.४, अ. २०.४५.१, साम. १.१८३, २.९४९.

जैसे कपोत गर्भधारण करने वाली कपोती के निकट जाता है । (३) गर्भ धारण करने में समर्थ

गमध्यै - गम् + शध्यै । जाने के लिए -गन्तुम् । यहां 'ध्यै' तुम् अर्थ में प्रयुक्त है ।

'ता वां वास्तून्युश्मसि गमध्यै'

ऋ. १.१५४.६, का.सं. ३.३.

गल्दा - गृ (निगलना) अथवा आस्वादनार्थक गल् धातु से द और टाप् प्रत्ययं कर गल्दा बना है । अथवा गलन + धा + गल्दा इसमें गलन अर्थात् रस स्थापित किया जाता है । अर्थ (१) धर्मनी (शरीर नाड़ी) । गल्दया और गल्दा दोनों क्रमशः तृतीयान्त और प्रथमान्त हेतु हुए भी एकार्थवाची है ।

(२) स्तुति । यथा - सोमस्य गल्दया (सोम की स्तुति से या गालन से (गालवेन) ।

सोमस्य आगलनेन उपलक्ष्ययाणा धमनिः गल्दा (सोमरस निगलते समय लक्ष्यमाण धमनि गल्दा है) ।

(३) नाड़ी, (४) ज्ञानयुक्त । इस में गलन (रस) स्थापित किया जाता है ।

(५) आस्वादक ।

'मा त्वा सोमस्य गल्दया
सदा याचन्नहं गिरा ।
भूर्णिं मृगं न सवनेषु चुक्रुधं
क ईशानं याचिषत्'

ऋ. ८.१.२०, नि. ६.२४.

हे इन्द्र ! यज्ञों में (सवनेषु) चुलाए हुए सोम रस से आप्यायित धमनी वाले तुझे (सोमस्य गल्दया त्वा) सदा प्रार्थना करता हुआ (याचन्) तथा स्तुतित से भी युक्त होकर मैं तुझे क्रोधित नहीं करता (गिरा माचुक्रुधम्) जैसे श्रृगाल आदि वन्यजीव घूमते हुए सिंह को क्रोधित नहीं करता (भूर्णिम् मृगं न) और भला कौन अपने स्वामी से याचना नहीं करता (क ईशानम् न याचिषत्) । गल्दा का धमनी अर्थ में प्रयोग

'आ गल्दा धमनीनाम्'

आप.श्रौ.सू. ८.७.१०, मा.श्रौ.सू. १.७.२.१८, नि. ६.२४.

हे इन्द्र ! तुम्हें सोम आविष्ट करे जो धमनियों में प्रविष्ट हो नवीन मद उत्पन्न करते हैं और इस प्रकार धमनियों में जा स्वयं धमनी बन जाते हैं (धमनीनाम् आ गल्दा) ।

आस्वादन अर्थ में-

अन्य अर्थ - हे परमेश्वर ! संगति से सदा वरदान मांगता हुआ मैं (इन्द्र गिरा सदा याचन् अहम्) यज्ञों में ऐश्वर्य के आस्वादन से (सवनेषु सोमस्य गल्दया) सब के धारण कर्त्ता आपको (भूर्णिम्) सिंह के समान (मृगं न) क्रुद्ध न करूं (मा चुक्रुधं) । भला कौन अपने मालिक से याचना नहीं करता ।

गलुन्तः - गडु + तस् + क्विप् = गलुन्तः । (नकार का उपाजन छान्दस है) । अर्थ- (१) गलता हुआ गण्डमाला, (२) गण्डमाला के विकार से हस्तपादादि सन्धियों से उद्भूत गडुओं को जो नष्ट करता है ।

'सु गलुन्तो नशिष्यति'

अ. ६.८३.३

गवय - (१) जंगली पशु, गवय, वीलगौ ।

'गवय मारण्यमनु ते दिशामि'

वाज.सं. १३.४९, तै.सं. ४.२.१०.३, मै.सं. २.७.१७, १०२.१६, का.सं. १६.१७. श.ब्रा. ७.५.२.३४.

'बृहस्पतये गवयान्'

वाज.सं. २४.२८, मै.सं. ३.१४.१०:१७४.५

गव्य - गो + यत् = गव्य (१) गौ से मिलने वाले दूध आदि पदार्थ, २) गोमय, (३) गौ के लिए उपयुक्त (४) गोचरभूमि ।

गवयी - (१) गौ, (२) पृथिवी ।

'ऋषभाय गवयी'

वाज.सं. २४.३०, तै.सं. ५.५.११.१, का.सं. (अश्व). ७.१.

गव्यत् - अपने लिए गौ आदि शुद्ध इन्द्रियों, वाणियों एवं उत्तम स्तुतियों की कामना करता हुआ पुरुष । 'गो' शब्द का अर्थ गौ, पृथ्वी, वाणी, स्तुति आदि है ।

'एतायामोप गव्यन्त इन्द्रम्'

ऋ. १.३३.१, कौ.ब्रा. २१.३, शां.श्रौ.सू. १४.११.८.

हे विद्वान् पुरुषो ! आओ, हम अपनी इन्द्रियों, वाणियों और उत्तम स्तुतियों की कामना करते हुए उस परमेश्वर की शरण को प्राप्त हों ।

(२) स्तुतिशील ।

'नि गव्यता मनसा सेदुरर्कैः'

ऋ. ३.३१.९

गव्यत् मनः – (१) आज्ञा–पालन की इच्छा वाला चित्त, (२) भूमि प्राप्ति की कामना वाला मन, (३) स्तुतिवाणी से युक्त चित्त (४) ज्ञान वाणियों को प्राप्त करने वाला चित्त ।

'ये गव्यता मनसा दध्रमुब्धम्'

ऋ. ४.१.१५

गव्यन्ता – गो समूह वाणी समूह, या इन्द्रियों का दमन करते हुए मिथुन ।

'यद्‌गव्यन्ता द्वा जना'

ऋ. १.१३१.३, अ. २०. ७२.२, ७५.१

गव्यवः – गौ आदि पशु और भूमिओं को चाहने वाले (२) एक वैदिक राजवंश ।

'निगव्यवोऽनवोद्रुह्यवश्च'

ऋ. ७.१८.१४

गव्यंराधः – (१) श्रवण करने योग्य, (२) वाणी द्वारा प्राप्त करने योग्य (३) वाङ्मय ज्ञान सम्पदा, (४) भूमि से उत्पन्न ऐश्वर्य ।

'उद्राधो गव्यं मृजे'

ऋ. ५.५२.१७

गव्यःव्रजः – (१) गवादिपशु, (२) वेदवाणियों से उत्पन्न ज्ञेय ज्ञान ।

'व्रजस्यसाता गव्यस्पनिःसृजः'

ऋ. १.१३१.३ अ. २०.७२.२, ७५.१,

गव्यव भरताः – (१) उत्पन्न भूमि के स्वामी प्रजापालक पुरुष (२) भूमि क्षेत्र, स्त्री की कामना करने वाले भरत अर्थात् पालन पोषण में समर्थ पुरुष, (३) वाणी के इच्छुक शिष्य ।

'अतारियुः भरता गव्यवः सम्
अभक्त विप्रः सुमतिं नदीनाम्'

ऋ. ३.३३.१२

गवांमाता – (१) इन्द्रिय रूप गौओं की उत्पादन करने वाली ।

'माता गवामृतावरी'

ऋ. ४.५२.२, साम. २.१०७६.

(२) किरणों, वाणियों या भूमियों का उत्पादक सूर्य ।

'ऊर्वात् गवां माता जानतीगात्'

ऋ. ५.४५.२

गवां गोपति – सभी वाणियों भूमियों और सूर्यादि लोकों के समान स्वामी–इन्द्र परमेश्वर ।

'गवामसि गोपतिरेक इन्द्र'

ऋ. ७.९८.६, अ. २०.८७.६, मै.सं. ४.१४.५, २२२.१ तै.ब्रा. २.८.२.६.

गवां गोत्रम् – (१) किरणों का समूह (१) किरणों का समूह (२) भूमियों का समूह ।

'गवां गोत्रम् उदसृजोयदङ्गिरः'

ऋ. २.२३.१८, का.सं. ४०.११. आप.श्रौ.शू. १७.२१.७

गवाशिरः – (१) गौ के दूध से मिला (२) भूमि के बल से शत्रुओं का नाशक, (३) आज्ञा या वाणी से नाश करने वाला ।

'यत्ते सोम गवाशिरः'

ऋ. १.१८७.९.

(४) गौ दुग्ध से मिश्रित सोम, (५) पृथ्वी या गौ आदि पशुओं पर आश्रित ऐश्वर्य मय राष्ट्र

'सोमभिमन्द्र गवाशिरम्

ऋ. ३.४२.१, अ. २०.२४.१

(६) किरणों से ताप द्वारा गृहीत जल, (७) गौ, भूमि, मेघ से प्रजाओं द्वारा उपयुक्त ।

'इममिन्द्र गवाशिरम्
यवाशिरं च नः पिबः'

ऋ. ३.४२.७

गंव्या – गो + यत् टाप् = गत्या । अर्थ–गोविकार भूता (तांत) । धनुष में लगाए जाना वाला गौ के चर्म की बनी चीज ।

आज भी गव्या शब्द तांत के अर्थ में प्रयुक्त है । गौ शब्द ज्या के अर्थ में प्रयुक्त है, क्योंकि ज्या ही वाणों को चलाने में साधनभूत है (गमयति इषून्)

गव्याधी – (१) वाणी से युक्त क्रिया (२) जैसी वाणी वैसा कार्य ।

'अयाधिया च गव्यया'

ऋ. ८.९३.१७

गविनी – मूत्र को मूत्राशय तक पहुंचाने वाली गविनी नामक मूत्रवाहिनी नाड़ियां ।

'यदान्त्रेषु गविन्योः'

अ. १.३.६

गविषः – (१) गौ की कामना करने वाला वृषभ, (२) पृथिवी की यात्रा करने वाला पुरुष, (३) भूमि राज्य की आकांक्षा करने वाला ।

'द्रप्सं दविध्वत् गविषोन सत्वा'

ऋ. ४.१३.२

गविष् - गौ + इष् + क्विप् = गविष् (१) वाणी को प्रेरित कर प्रार्थना करने वाला ।

'निरस्य रसं गविषो दुहन्ति ते'

ऋ. १०.७६.७

(२) स्तुतियों या वेदवाणियों को प्रेरित करने वाला, (३) आज्ञा दाता ।

'अगोरुधाय गविषे'

ऋ. ८.२४.२०, अ. २०.६५.५, आश्व गृ.सू. १.१.४

(४) वाणी या वेद को चाहने वाला (५) पृथ्वी को चाहने वाला ।

गविष्टा - गौः इष्टा यस्याः (जिसे भूमि प्राप्त करना इष्ट हो वह सेना) ।

'रथीरभून्मुद्गलानी गविष्टौ'

ऋ. १०.१०२.२

गविष्टि - (१) गौ + इष्टि । गवां पृथिव्या प्राप्तीच्छा यस्मिन् (जिसमें गो आदि की प्राप्ति की इच्छा हो वह गविष्टि है-संग्राम) (२) वाणी, गौ और इन्द्रियों की प्राप्ति ।

'क्रन्ददश्वो गविष्टिषु'

ऋ. १.३६.८

'सहस्रं शंसा उत ये गविष्टौ'

अ. २०.१४३.९

(३) पार्थिव सम्पत्ति ।

'त्वाभिन्नरो वृणतेगविष्टिषु'

ऋ. १०.१४७.२

(४) गौ = सूर्य । इष्टिमेल । सूर्य की रश्मियों का संयोग गविष्टि है ।

(५) गवाम् इन्द्रिय पृथिवी राज्यविद्या प्रकाशानां इष्टयो यस्मिन् स -(दया.)

पृथिवी, पशु सम्पत्ति इन्द्रियों से भोग्य पदार्थों और ज्ञान और वाणी प्रकाश की नाना कामनाओं को प्राप्त कराने वाला संग्राम या प्रति स्पर्द्धा ।

'उभयेभ्यः प्रचिकित्सा गविष्टौ'

ऋ. १.९१.२३, वाज.सं. ३४.२३, वाज. (क.) ३३.१६.

तू पृथिवी, पशु सम्पत्ति, इन्द्रियों से भोग्य पदार्थों और ज्ञान और वाणी प्रकाश की नाना कामनाओं को प्राप्त करने वाले संग्राम या प्रतिस्पर्द्धा में खूब अच्छी प्रकार विचार कर बाधक शत्रुओं और रोगादि दुःख कारणों को दूरकर ।

गविष्ठिर - (१) रश्मियों पर स्थिर पुरुष-सूर्य (२) वेदवाणी के निमित्त स्थिर चित्त होने वाला । शिष्यजन ।

'गविष्ठिरो नमसा स्तोममग्नौ'.

अ. ५.१.१२, वाज.सं. १५.२५, तै.सं. ४.४.४.२ मै.सं. २.१३.७, १५५.१७.

(३) इन्द्रियाधिष्ठित आत्मा, (४) भूमि पर स्थिर रहने वाला कृषक (५) गौ पर स्थिर रहने वाला

'यौ भरद्वाजमवथो यौ गविष्ठिरम्'

अ. ४.२९.५

गवीनिका - मूत्राशय के निकट वर्तिनी गविनी नामक नाड़ी ।

'अथो एति गवीनिके'

अ. ९.८.७

गवीनिके - (द्वि.व.) एक वचन में गवीनिका । योनिभाग के पार्श्वों पर लगी दो नाड़ियां जिनसे मातृबीज आता है ।

'वि योनिं वि गवीनिके'

अ. १.११.५, तै.सं. ३.३.१०; का.सं. १३.९.

गव्ययी - (१) गोचर्य का बना, (२) वाणी के ज्ञान का बना ।

'गव्ययी त्वग्भवति निर्णगव्ययी ।'

ऋ. ९.७०.७

गव्युः - गो + यु (मतुप् के सदृश) = गव्यु । अर्थ (१) गौ वाला, (२) गोधन से युक्त (३) इन्द्र का विशेषण, (४) इन्द्रियों से युक्त (५) वाणी से युक्त (६) पृथ्वी से युक्त ।

'अश्वयुर्गव्यू रथयुर्वसूयुः
इन्द्र इद्रायः क्षयति प्रयन्ता'

ऋ. १.५१.१४, नि. ६.३१.

गव्यूति - गौ + यूति = गव्यूति ।

अर्थ (१) वाणी की गति, (२) इन्द्रियों की पहुंच ।

'असंतापं मे हृदयमुर्वी गव्यूतिः'

अ. १६.३.६

(३) वाणियों का एकीभाव और पृथक् भाव, संकलन विकलन ।

'अग्नेर्गव्यूतिर्घृतआनिषत्ता'

ऋ. १०.८०.६

गव्यूती - गौओं के रहने का स्थान, बाड़ा ।

'परामे यन्ति धीतयो,

'गावो न गव्यूतीरनु'
ऋ. १.२५.१६
जैसे गौवें अपने बाड़े में जाती हैं, वैसे ही बुद्धियां और चेष्ठाएं (धीतयः) दूर तक परमात्मा को लक्ष्य कर चली जाती है ।

गवेषणः – गो + एषण (१) किरणों को प्रेरणा या प्रक्षेप करने वाला सूर्य (२) किरणानाम् इष्टः (किरणों का इष्ट) (३) येः वाणीम् इच्छति (वाणी का इच्छुक) (४) ज्ञान वाणियों को प्रदान करने वाला उपदेष्टा (५) सन्मार्ग में चलने वाला, (६) प्राण वृत्तियों, इन्द्रियों एवं गौओं को गोपाल के समान रक्षा करना वाला ।
'स घा विदे अन्विन्द्रो गवेषणः
बन्धुक्षिद्भ्यो गवेषणः'
ऋ. १.१३२.३
वही गुरु और परमात्मा ज्ञानवान् पुरुष के लिए ज्ञानोप्रदेश के लिए किरणों को प्रेरणा या प्रक्षेप करने वाले सूर्य के समान (गवेषणः इन्द्र इव) बन्धु के समान विद्या सम्बन्ध से अधीन रहने वाले शिष्यों के हितार्थ बन्धुक्षिद्भ्यः) अनुकूल होकर ज्ञान वाणियों का प्रदाता हो रहा है (गवेषणः) ।
(७) भूमि राज्य का अभिलाषी
'नः सत्वा गवेषणः सधृष्णुः'
ऋ. ७.२०.५
(८) पशु, भूमि, उत्तम वाणी आदि का इच्छुक ।
'इमं च नो गवेषणम्'
ऋ. ६.५६.५

गवेषणः रथः – इन्द्रियों को प्रेरण करने में समर्थ रमण करने वाला रथ रूप आत्मा ।
'युजे रथं गवेषणम् हरिभ्याम्'
ऋ. ७.२३.३, अ. २०.१२.३, मै.सं. ४.१०.५, १५५.१४, तै.ब्रा. २.४.१.३

गहन – (न.) (१) वन, (२) संकट, ।
'गहनं यदि नक्षत्'
ऋ. १.१३२.६, वाज.सं. ८.५३. श.ब्रा. ४.६.९, १४, वै.सू. ३४.१, आप.श्रौ.सू. २१.१२.९, मा.श्रौ.सू. ७.२.३.
यदि वन में चला जाय या संकट में पड़ जाय ।

गह्वरेष्ठः – पर्वतों के गह्वारों, गहरे जल और विषम स्थानों का उत्तम परिचित ।
'नमः काट्याय च गह्वरेष्ठाय च'
वाज.सं. १६.४४, तै.सं. ४.५.९.१, मै.सं. २.९.८, १२६.१२, का.सं. १७.१५.

गह्वरेष्ठा – (स्त्री) गह्वर या प्रजा के हृदयों में बसी व्यापक शक्ति ।
'तनूवर्षिष्ठा गह्वरेष्ठा'
वाज.सं. ५.८. श.ब्रा. ३.४.४.२४.

ग्रथी – कुटिला चारी, अज्ञान में बंधा हुआ ।
'न्यक्रतून् ग्रथिनो मृध्रवाचः'
ऋ. ७.६.३

ग्रन्थिनी – समान प्रेम से युक्त ।
'हृदे चक्षुर्न ग्रन्थिनी चरण्युः'
ऋ. १०.९५.६

ग्रन्थिः – गांठ, गिरह ।
'पाशो ग्रन्थिश्च यः कृतः'
अ. ९.३.२

ग्रभः – (१) ग्रहः ग्रभः (ह् का भ् छान्दस है) । ग्रहीतुं योग्यः (ग्रहण करने योग्य) । (२) ग्रहण ।
'नहि ग्रभायारणः सुशेवः'
ऋ ७.४.८, नि. ३.३.
जिससे जल-सम्बन्ध नहीं होता वह सुख कारक होता हुआ भी ग्रहण करने योग्य नहीं होता ।

ग्रभण – ग्रहण ।

ग्रभणवत् – (१) सबके ग्रहण करने योग्य (२) सबको भीतर ग्रहण करने वाला परमेश्वर (३) अग्नि, (४) गृह ।
'आदस्यायु ग्रर्भणवत्
वीडु शर्म न सूनवे'
ऋ. १.१२७.५
इसके बाद (आत्) उसका परम जीवन या उसका प्राप्त होना ही (आयुः) सबके ग्रहण योग्य सब को भीतर लेने वाला (ग्रभणवत्) पुत्र के लिए पिता के समान ही (सूनवे न शर्म) बलवान् दृढ़ आश्रय (वीडु) हो जाता है ।

ग्रसिष्ठः – खाने के लिए अत्यन्त उत्कण्ठित । ग्रस् + इ = ग्रसिष्ट ।
'आदिद्ग्रसिष्ठ ओषधीरजीगः'
ऋ. १.१६३.७, वा.सं. २९.१८. तै.सं. ४.६.७.३, का.सं. (अश्व.) ६.३, नि. ६.८.
हे अश्व ! खाने के लिए अत्यन्त उत्कण्ठित तू तुरत ही अन्नों को खाने लगता है ।

(२) ग्रसितृतमः भक्षयितृतमः (अत्यधिक भोजन करने वाला । (३) उत्तम रीति से ग्रसने वाला, भूखा, भोक्ता ।

ग्रह - एक दूसरे को ग्रहण या स्वीकार करने वाला ।

'अश्विभ्यां चक्षुः अमृतं ग्रह्यभ्याम्'

वाज.सं. १९.८९, मै.सं. ३.११.९,१५४.४, का.सं. ३८.३, तै.ब्रा. २.६.४.४.

ग्लह - (१) ग्रह, (२) इन्द्रियों का व्यापार ।

'ग्लहे कृतानि कृण्वानाम्'

अ. ४.३८.१

ग्लहन - ग्रहण ।

'यो अक्षाणां ग्लहनं शेषणञ्च'

अ. ७.१०९.५

ग्लहा - (१) माध्यमिका वाक् विद्युत् ।

'एजातिग्लहा कन्येवतुन्ना'

अ. ६.२२.३

गांग्य - गंगा वाला प्रदेश जो पीछे कुरुदेश कहलाया ।

'उरु कक्षोन गाङ्गयः'

ऋ. ६.४५.३१

गाङ्गयः कक्षः - (१) गंगा का तट, (२) वेगवती नदी का तट ।

गाणपत्य - सोनासमूह या गण का पति पद

'रुद्रस्य गाणपत्यं मयोभूरेहि'

वाज.सं. ११.१५, श.ब्रा. ६.३.२.७, का.सं. १६.१,१९.२

गात् - उपागमत् (छन्दसि लुङ्-लङ् लिटः) में इ का गा आदेश और अट् का अभाव । उपसर्ग का योग तथा लट् का लुड में प्रयोग आर्ष है । - अर्थ है-जाता है ।

'शासद्वह्निः दुहितुर्नप्त्यङ्गात्'

ऋ. ३.३१.१, ऐ.ब्रा. ६.१८.२,१९.४, नि. ३.४.

पुत्री को दूसरे कुल में भेजने वाला अपुत्र पिता (वह्निः) यह शर्त करता हुआ कि इस कन्या से उत्पन्न पुत्र उसका होगा (शासत्) दुहिता के पुत्र को नाती के रूप में अपनाता है (दुहितुः नप्त्यं गात्) ।

(२) समझता है, अपनाता है ।

गात्र - हस्त , हाथ ।

'यत्ते गात्रात् अग्निना पच्यमानात्'

ऋ. १.१६२.११, वाज.सं. २५.३४, तै.सं. ४.६.८.४, मै.सं. ३.१६.१, १८२.१६, का.सं. (अश्व). ६.५.

गातु - गा + तु (उणादि) = गातु । भाव अर्थ में तु प्रत्यय, गाङ् गत्यर्थक धातु है । अंग्रेजी का Go गा का ही अपभ्रंश है । Gait शब्द गातु से मिलता जुलता है । अर्थ है (१) मार्ग ।

'यदाभ्यो अरदो गातुमिन्द्र'

ऋ. ६.३०.३

हे इन्द्र ! तूने जो इन नदियों के लिए मार्ग या कर्म निश्चित किया ।

(२) कर्म -ज.दे.श. (३) गमन । (४) साम गान करने वाला, (५) विद्या -दया (६) वाणी (७) सुशिक्षा ।

'ऋग्मिभिः ऋग्मी गातुभिः ज्येष्ठः'

ऋ. १.१००.४

वह देव मन्त्रज्ञों के साथ रहकर सबसे अधिक वेदार्थ ज्ञाता है और साम आदि गान करने वालों में से सबसे श्रेष्ठ है ।

गातुम् - (१) सायण ने इसका अर्थ कर्म मान कर गमन किया है, (२) स्वा. दयानन्द ने तुमुन् प्रत्ययान्त मानकर 'आने के लिए ऐसा अर्थ किया है ।

'गातुं यज्ञाय गातुं यज्ञपतये'

मै.सं. ४.१३.१०,२१२.१४,

हम शंयु ऋषि के निकट यह प्रार्थना करते हैं कि यज्ञ का देवों के प्रति गमन हो (गातुं यज्ञपतये) -

हम उस सदाचारी शान्त विद्वान् के अपने यज्ञ में आने की और यज्ञ पति के समीप पधारने की याचना करते हैं -(दया.)

गातुविद् - (१) सन्मार्ग प्राप्त कराने वाला, (२) मार्ग या भूमि प्राप्त करने वाला ।

'अयं यज्ञो गातुविद् नार्थविद् प्रजावित्'

अ. ११.१.१५

'उतात्रये शतदुरेषु गातुवित्'

ऋ. १.५१.३

तीनों प्रकार के दुःखों से मुक्त करने के लिए या राष्ट्र वासी प्रजाजन के हित के लिए (अत्रये) तू सैकड़ो द्वारों भूल भूलैया वाले गढ़ या व्यूहों में

भी या सैकड़ो आवरण वाले मेधावयवों में श्री (शतदुरेषु) मार्ग और भूमि को प्राप्त कराने वाला हो (गातुवित्) ।

(३) वेदवाणी का ज्ञाता ।

'गातुविदं तमीमहे'

ऋ. १.१०५.१५.

गातुवित्तमः -(१) मार्गज्ञान और वाणी के ज्ञाताओं में श्रेष्ठतम, गुरुओं का भी गुरु परमेश्वर ।

'सोमो मीढ्वान् पवते गातुवित्तमः'

ऋ. ९.१०७.७

गातुवित्तरा - (१) अधिक मार्ग जानने वाले मित्रावरुण या स्त्री पुरुष ।

गातूय - नामधातु गातु अर्थात् पृथ्वी के समान सब आश्रयों आश्रय भूत ब्रह्म चर्य, सन्मार्ग और गान योग्य वेदराशि के अभ्यास की इच्छाकरना ।

'ये स्मापुरागातू यन्तीव देवाः'

ऋ. १.१६९.५

गातूयन्ति - गातूप धातु के लट् प्रथमपुरुष बहुवचन का रूप ।

गाथपतिः - (१) गाथा, ज्ञानवाणियों और विद्वानों के परिपालक (२) स्तुति करने वालों का पालक ।

'गाथपतिम् मेघपतिम्
रुद्रं जलाषभेषजम्'

ऋ. १.४३.४,

गाथा, ज्ञान वाणियों और विद्वानों के परिपालक, यज्ञों, यज्ञकर्त्ता धर्मात्मा एवं पवित्र पुरुषों के पालक (मेघपतिम्) सुखकारी ओषधि और दुःख से छुटने के उपाय बतलाने वाले ज्ञानोपदेष्टा विद्वान् परमेश्वर से (जलाषभेषजम्)

गाथ श्रवाः, गाथश्रवस् - जिसका यश और श्रोतव्य ज्ञान का स्वरूप गान करने योग्य है - इन्द्र परमेश्वर ।

'गाथश्रवसं सत्पतिम्'

ऋ. ८.२.३८

गाथा - (१) गाथा, (२) श्लोक , (३) मन्त्र पाठ । गा + थन् + टाप् ।

'गाथयैतिपरिष्कृतम्'

ऋ. १०.८५.६, अ. १४.१.७.

(४) वाणी ।

'युञ्जन्ति हरी इषिरस्य गाथया'

ऋ. ८.९८.९, अ. २०.१००.३, साम. २.६२.

गाथानी - (१) स्तुति-सा. (२) उप देश-(दया.) ।

'गाथान्यः सुरुचो यस्य देवाः
आश्रृण्वन्ति नवमानस्य मर्ताः'

ऋ. १.१९०.१.

जिस सुन्दर बृहस्पति की स्तुतियां देवता और मनुष्य दोनों सुनाते हैं ।

जिस वैदिक ज्ञान प्रदाता तेजस्वी, एवं बहुमान्य विद्वान् के उपदेश को दाता गृहस्थ सदा सुनाते हैं । -(दया.)

(३) उत्तम वेदी वेदादि शास्त्र की कथा या ज्ञान वाणी को दूसरे तक पहूँचाने वाला ।

(४) वेदवाणी को हमतक पहुँचाने वाला बृहस्पति या परमेश्वर ।

गाथान्य, गाथानी - (१) गुणगान करने योग्य (२) गाथा या वेदवाणी में प्रसिद्ध ।

'गाथान्यं समश्रुतम्'

ऋ. ८.९२.२, साम.२.६४.

गाथिन् - गा + थन् + इनि = गाथिन् ।

अर्थ - (१) सामवेदी होता, (२) सामग उद्गता

'इन्द्रमिद् गाथिनो बृहत् इन्द्रमर्केभिरर्किणः
इन्द्रं वाणी रनूषत'

ऋ. १.७.१

हे सामगायको, उद्गाताओ, बृहत् नामक साम से इन्द्र का ही आप अनुष्ठान करें, हे ऋग्वेदी होताओ, (अर्किणः), आप भी ऋग्वेद के मन्त्रों में इन्द्र का ही अनुष्ठान करें । एवं यजुर्वेदी अध्वर्युवो । आप भी यजुर्मयी वाणियों से (वाणीः) इन्द्र की ही स्तुति करें । (असूनत) ।

गाध - (१) बड़ा भारी । गा + ध । गा धातु गत्यर्थक है ।

'अशीमहि गाधमुत प्रतिष्ठाम्'

ऋ. ५.४७.७, अ. १९.११.६, तै.ब्रा. ३.७.९.९. आप. श्रौ.सू. २१ .२०.७.

(२) वैद्युतिक, ऐश्वर्य, (३) ज्ञानैश्वर्य, ।

'तुर्वीतये गाधं तुर्वणिः कः'

ऋ. १.६१.११. अ. २०.३५.११

(५) पार करने योग्य, (६) नदी का वह स्थान जो पार करने योग्य है । जो पार करने योग्य नहीं है उसे आज भी लोग अगाध कहते हैं (७) मुख्य प्रतिष्ठा स्थान, (८) दुर्ग, (९) गढ़

(१०) राजधानी वह शत्रुओं का नाशक (तुर्वणिः) अति शीघ्रता से राष्ट्र भर में फैल जाने जाने के लिए (तुर्वीतये) अप प्रतिष्ठा स्थान या दुर्ग या गढ़ या राजधानी बनाता है गाधम् कः)

(११) प्रतिष्ठा, (१२) ऐश्वर्य वृद्धि ।

'विदागाधं तु चेतुनः'

ऋ. ६.४८.९, साम. १.४१.२, ९७३.

(१३) प्रतिष्ठा का कर्म ।

'यो गाधेषु य आरणेषु हव्यः'

ऋ. ८.७०.८

(१४) थाह ।

'गम्भीरे चित् भवति गाधयस्मै'

ऋ. ६.२४.८

(१५) गहरा जल ।

'प्रव्राजे चित् नद्यो गाधमस्ति'

ऋ. ७.६०.६

गान्धर्वी - वेदमयी वाणी ।

'अग्निर्गान्धिवीं पथ्यामृतस्य'

ऋ. १०.८०.६

गान्धारी - (१) पृथ्वी को धारण करने वाले पर्वत प्रदेश की भेंड़ी, (२) गन्धार देश की भेंडी-सा. (३) पृथ्वी का राज्य धारण करने वाली स्त्री -(दया.) (४) गो पालन करने वाली स्त्री, (५) वाणी को धारण करने वाली चेतना शक्ति,

'सर्वाहमस्मि रोमशा गान्धरीणामिवाविका'

ऋ. १.१२६.७.

मेरे सर्वांग में रोएं हो गए हैं जैसे गन्धार देश भेड़यों में अविका जाति की भेड़ी को । मैं पूर्णतया प्रशस्त रोओं वाली (रोमशा) और पृथ्वी का राज्य धारण करने वाली स्त्रियों में से (गान्धारीणाम्) अधिक रक्षा करने वाली (अविका) हूं -(दया.)

गायत्र - गान अर्थात् भक्ति करने वाले का त्राता परमेश्वर (२) गायत्री छन्द ।

'यद् गायत्रे अधिगायत्र माहितम्'

ऋ. १.१६४.१३, अ. ९.१०.१, ऐ.ब्रा. ३.१२.६, कै.ब्रा. १४.३, गो.ब्रा. २.३.१०.

(३) गै (गाना) + षत्रन् (करण में) = गायत्र । स्तुतित की जाय ।

'गायत्रं त्वो गायति शक्वरीषु'

ऋ. १०.७१.११, नि. १.८.

एक उद्‌गाता शक्ति शाली मन्त्रों में (शक्वरीषु) देवताओं का स्तुतिगान करता है (गायत्रं गायति)

'ता गायत्रेषु गायत'

ऋ. १.२१.२

(४) प्राण गण भी गायत्र है । (५) ब्राह्मण, विद्वान् गण ।

'गायत्रो विद्वान् गण
गायत्रो वै प्राणाः
गायत्रो वै ब्राह्मणः'

(६) गायत्री और गायत्र शब्दो से वैदिक परिभाषा में तीनों लोक, भूलोक प्राण, अग्नि, ब्राह्मण, ब्रह्मवर्चस् तेज, वीर्य, शिर, मुख, अष्टा क्षर छन्द, प्राचीदिशा, वसुपत्नी रथन्तर, सप्ददश स्तोय, यज्ञ, प्राप्तः सवन, पुरुष और उत्तम पदार्थ लिए गए हैं ।

जैसे-

'इमे वै लोकाः गायत्रम्
गायत्रोऽयं भूलोकः'

कौ.सू ८.९.

'गायत्रेऽस्मिन् लोके गायत्रोऽयमग्निरप्यू'

कौ.सू. १४.२

'प्राणो गायत्री प्रजानाम्'

जै. उ. १.३७.७

'अग्निर्वै गायत्री'

श.ब्रा. १९.१.१.५

'गायत्री ब्राह्मणः'

१.२८

'तेजोवैब्रह्मवर्चसी गायत्रम्'

कौ.सू. १९.२९

'वीर्यं गायत्री'

ता. ७.३.१३

'गायत्रं टिशिरः'

श.ब्रा. ८.६.२.६

'अष्टाक्षरागायत्री
चतुर्विंशत्यक्षरा गायत्री'

श.ब्रा. ३.४.१.१०

'गायत्री प्राचीदिक्'

श.ब्रा. ३.४.१.१२

'गायत्री वसूमां पत्नी'

गो. ३२..९

'वसवो गायत्रीं समभरन्'

जै.३.२.८.४

'गायत्रं वै दपन्तरम्
गायत्रः सप्तदशः स्तोमः
गायत्रो यज्ञः
गायत्रं वै प्रातः सवनम्'

गो .उ. ३.१९

'गायत्रो वै पुरुषः'

इस लोक में अग्नि आस्थित है । भूलोक अग्नि पर आस्थित है, ब्राह्मण में ब्रह्म तेज है, पत्नी पुरुष पर आश्रित है, रथन्तर साम गायत्री छन्द पर आश्रित है, प्राणात्मा देह में आश्रित और जीवात्मा परमात्मा में आश्रित है।

गायत्रं छन्दः – (१) प्राणों की रक्षा करने के वाला बल, (२) ब्राह्मणोचित बल ।

'पृथिव्यां विष्णुर्व्यक्रंस्त
गायत्रेण छन्दसा'

वाज.सं. २.२५, श.ब्रा. १.९.३.१०,१२, शां.श्रौ.सू. ४.१२.४.

गायत्रच्छन्दाः – गायत्र प्राण आदि का वाचक है, अतः अर्थ हुआ (१) प्राण –साधना (२) आत्म साधना, (३) ब्रह्मवृत्ति, ब्रह्मचर्य (४) तेज और वीर्य को प्राप्त कराने वाला ब्रह्मचर्य (५) २४ अक्षरों वाले गायत्री छन्द के समान जीवन का प्रारम्भ रूप २४ वर्ष ।

'श्येनोऽसि गायत्रच्छन्दाः'

अ. ६.४८.१, तै.सं. ३.२.१.१, गो.ब्रा. १.५.१२, पंच.ब्रा. १.३८, श.ब्रा. १२.३.४,३ शां.श्रौ.सू. ६.८.१०, का.श्रौ.सू १३.१.११, आप.श्रौ.सू. १२.१७.१५. मा.श्रौ.सू. २.३.६.८.

गायत्र वर्तनि – (१) गायत्री छन्द में विद्यमान स्तुति या उपदेश ।

'इमां गायत्रवर्त्तनिम्
जुषेथां सुष्टुतिं मम'

ऋ. ८.३८.६

(२) ब्राह्मबल पर अपना मार्ग बनाने वाला क्षात्रबल ।

'बृहद् गायत्र वर्तनिं'

वाज.सं. ११.८, तै.सं. ३.१.१०.१, ४.१.१.३, मै.सं. २.७.१, ७४.११, का.सं. १५.११, श.ब्रा. ६.३.१.२०, कौ.सू. ५.७.

गायत्र वेपस् – (१) गान करने वाले की रक्षा करने वाला रूप जिससे प्रकट हो, कत (२) गान करने वाले का रक्षक इन्द्र का विशेषण ।

'स्वाहा गायत्रवेपसे'

ऋ. १.१४२.१२

गायति – गैं (गाना, स्तुति करना) के लट् प्र.पु.ए.व. का रूप ।

'ऋचांत्वः पोषमास्ते पुपुष्वान्
गायत्रं त्वो गायति शक्वरीषु ।
ब्रह्मा त्वो वदति जातिविद्यां
यज्ञस्य मात्रां विमिमीत उत्वः ।'

ऋ. १०.७१.११, नि. १.८.

होता आदि १६ ऋत्विज् होते हैं और सदस्य मिलाकर वे १७ होते हैं । उनमें चार होता, उद्गाता, ब्रह्मा और अध्वर्यु महा ऋत्विज् हैं । इस ऋचा में इन्ही चारों का कर्त्तव्य वर्णित है । एक (त्वः) होता यज्ञ काल में स्वकीय देवताओं की ऋचाओं का (ऋचाम्) यथाविधि कर्मों में उपयोग करता हुआ (पोसं पुपुष्वान्) रहता है (आस्ते) एक उद्गाता (त्वः) शक्तिशाली मन्त्रों से (शक्वरीषु) देवताओं का स्तुति गान करता है (गायत्रं गायति), एक सर्वज्ञ ब्रह्मा तरह तरह के कर्त्तव्य कर्म के सम्बन्ध में ज्ञान देने वाली बात या आत्म–विज्ञान (विद्याम्) कहता है (वदति) और एक अध्वर्यु किस यज्ञ में क्या क्या होना चाहिए, कैसी और किस मात्रा में वेदी बनायी जानी चाहिए इत्यादि कार्य–सम्पादन करता है । (यज्ञ स्य मात्रां विमिमीते)

गायत्रिणः – गायत्र + इनि = गायत्रिण । उद्गाता साम वेद का गान गाने वाला ।

'गायन्ति त्वा गायत्रिणः'

ऋ. १.१०.१, साम. १.३.४२, २.६९,४, तै.सं. १.६.१२.२, कौ.ब्रा. २४.७, पंच.ब्रा. ८.९.१०, आश्व.श्रौ.सू. ७.८.३, शा.श्रौ.सू. १८.६.२, नि. ५.५, महाभारत. १२.२८४.७८.

गायत्री – गै (गाना) + अत्रिन् + ङीप् गायत्री । तया हि

'गीयन्तो स्तूयन्ते देवाः'

ऋग्वेद के आदि मन्त्र अग्नीमीडे से पदार्थ स्तवन प्रारम्भ होता है । एक वैदिक मन्त्र जिसका जप सन्ध्या करने के समय किया जाता है । गायते स्तुति कर्मणः

छन्दोग्योपनिषद् में –
'वाग्वै गायत्री वाग्वा इदं
सर्वं भूतं गायति च'
त्रायते च । (यह वाणी सब भूतों को दर्शाती और हमारी रक्षा करती हैं)
(२) गै + त्रैङ् से बनी गायत्री है । यह गाने वाली की रक्षा करती है ।
(३) अथवा यह छन्द त्रिगमन तीन पदों वाला है । अतः गम् + त्रि के विपर्यय से गायत्री शब्द बना ।
गमत्रि = गायत्री ।
(४) ब्राह्मण कहता है गान करते हुए परमेश्वर के मुख से सबसे पूर्व यही छन्द निकला अतः इसका नाम गायत्री पड़ा ।
गै + पत + रक् = गायत्र, गायत्र + ङीष् = गायत्री ।

गार्दभ – गर्दभ + अण् । अर्थ गधे का ।
'हास्तिनं गार्दभं च यत्'
अ. ६.७२.३.

गार्ष्टेयः – जगत् का प्रसव करने वाला प्रकृति का स्वामी ।
'सं गार्ष्टेयो वृषभो गोभिरानट्'
ऋ. १०.१११.२

गार्हपत्य – (१) गार्हपत्य, (२) प्रजापति (३) भूलोक, (४) स्त्री (५) अन्न (५) कर्म ।
'सोदक्रामत् सा गार्हपत्ये न्यक्रामत्'
अं. ८.१०.२.
'प्रजापतिर्हि गार्हपत्यः'
कौ.पू २७.७.
'अयं वै लोको गार्हपत्यः'
श.ब्रा. ७.१.१.६.
'जाया गार्हपत्यः'
कौ.पू २.१.
(७) गार्हस्थ्य धर्म, (८) गृहपत्नीत्व ।
'अस्मिन् गृहे गार्हपत्यायजागृहि'
ऋ. १०.८५.२७, अ. १४.१.२१, आप.मं.पा. १.९.४.
हे वधू, इस गृह में तू गार्हस्थ्य धर्मपालन करने के लिए या गृह पत्नीत्व के लिए जागृत हो ।
(९) राजा, (१०) गार्हपत्य अग्नि ।
'सुगार्हपत्यो वितपन् अरातिम्'
अ. १२.२.४५, तै.ब्रा. १.२.१.१०, आप.श्रौ.सू. ५.१२.३,

गावौ – (१) एक दूसरे के पास जाने वाले (२) एक दूसरे को प्राप्त स्त्री पुरुष (३) रथ में लगे दो बैल, (४) राजा प्रजा ।
'स्थिरौ गावौ भवतां वीडुरक्षः'
ऋ. ३.५३.१७, आश्व.गृ.सू. २.६.७.
(५) प्राण और अपान ।
'एतौ मे गावौ प्रमरस्य युक्तौ'
ऋ. १०.२७.२०

गाः – गावः (गौएं) । वेद में प्रथमा के बहुवचन में जस् विभक्ति का शस् आदेश हो जाता है ।

ग्ना – गच्छन्ति एताः अर्थात् इन के निकट मैथुन के लिए पुरुष जाते हैं अतः ये ग्नाः हैं गम् + टापू = ग्ना । पृषोदरादिवत् निपात से सिद्ध, अर्थ (१) स्त्री । (२) जल
'समस्मिन् जायमान आसतग्नाः'
ऋ. १०.९५.७, नि. १०.४७
इस पुरुरवा के जन्म लेने पर अर्थात् वर्षा ऋतु के आने पर जल उसे घेर कर खड़े हो गए या देवी स्त्रियां उस घेरकर बैठ गईं ।
(३) ऋतुगामिनी, (४) गमन शील जल, (५) यास्क ने इसका अर्थ देवपत्नी किया है, (६) वेद वाणी ।
छन्दासि वैग्नाः तै.ब्रा. ५.१.७
पुनः –
'ग्नास्त्वा कृन्तन्नपसो ऽतन्वत
वयित्र्योऽवयन् वरुणस्त्वा नयतु
देवि दक्षिणो बृहस्पतये वासः
तेनामृतत्वमशीय
वयो दात्रे भूयान्मयो मह्यं प्रतिग्रहीत्रे ।'
का.सं. ९.९.
यह वासः प्रतिग्रहण तके लिए मंत्र है । हे वस्त्र, स्त्रियों ने तुझे सूत्र रूप में काता(अकृन्तन्), छोटे छोटे कुविन्द के लड़कों ने तुझे ताना (अपसः अतन्वत) कुशल बुनने वाली कुविन्द की लड़कियों ने तुझे बुना (वयित्र्य अवयन्) तदुपरान्त वरुण देवता या जल के स्वामी कृषक (वरुणः) मुझ अध्यात्मा वेत्ता को (बृहस्पतये) दक्षिणा के साथ अन्दर अर्पित करें (आनयतु) और हे देवि दक्षिणे । तुझे इस प्रकार पाकर में अमृतत्व प्राप्त करू (अमृतत्वम् अशीम) तथा

इस दक्षिणा दान से (तेन) दाता यजमान को अन्न या आयु हों (वपः यूयात्) तथा मुझे सुख हो (महयं च मयः)।

ग्नावत् – (१) ग्ना + वतुप् = ग्नावत्। अर्थ- स्त्री युक्त (२) सब पदार्थों को प्राप्त करने की शक्ति वाला।

'ग्नावो नेष्टः पिब ऋतुना'

ऋ. १.१५.३, वाज.सं. २६.२१.

(२) प्रशंसित वाणी वाला, (४) स्तुति वाणियों का स्वामी, (५) विद्वान्।

'तव ग्नावोमित्रमहः सजात्यम्'

ऋ. २.१.५

ग्राभः – शरीर को जकड़ने वाला रोग।

'इदमहं रुशन्तं ग्राभम्'

अ. १४.१.३८

ग्राम – (१) गांव। ग्राम शब्द का अर्थ समूह है। गाँव अनेक भवनों का समूह होने के कारण ग्राम कहलाया।

'यद्ग्रामे यदरण्ये यत्सभायां यदिन्द्रिये।
यदेन श्चकृमा वयमिदं तदवयजामहे स्वाहा'

वाज.सं. ३.४५,२०.१७, मै.सं. १.१०.२, १.१०.२, का.सं. ९.४. श.ब्रा. २. ५.२.५५, १२.९.२.३.

(२) जन समूह।

'स ग्रामेभिः सनिता सरथेभिः'

ऋ. १.१००.१०

(३) संघ।

'यस्य ग्राया यस्यविश्वेरथासः'

ऋ. २.१२.७, अ. २०.३४.७.

ग्रामजित् – (१) शत्रु समूहों का विजेता (२) गावों का विजेता।

'ग्राम जितं गोजितं वज्रबाहुम्'

अ. ६.९७.३, १९.१३.६.

'नियुत्वन्तो ग्रामजितो यथा नरः'

ऋ. ५.५४.८, आश्व. श्रौ.सू. २.१३.७.

ग्रामघोषी – (१) ग्रामों में अपने नाद की घोषणा करता हुआ –दुन्दुभि।

'प्रवेदकृत् वहुधा ग्रामघोषी'

अ. ५.२०.९

ग्रामणी – ग्राम + नी ग्राम का नेता।

'सहस्रदा ग्रामणीर्मारिषन् मनुः'

ऋ. १०.६२.११

ग्रामा – (१) समस्त इन्द्रियगण, (२) जीवगण, (३) लोकगण, (४) सैनिक संघ।

'यस्य ग्रामा यस्यविश्वे रथासः'

ऋ. २.१२.७, अ. २०.३४.७

ग्राम्याः पशवः– (१) समान धर्म का पालन करते हुए आत्मिक मार्ग का दर्शन करते हुए (२) ग्राम्य पशु।

'य ग्राम्याः पशवो विश्वरूपा'

अ. २.३४.४, ३.१०.६, तै.अ. ३.११.११.१२, आश्व.श्रौ.सू. २.२.१७, आप.श्रौ.सू. ६.५.७, मा.श्रौ.सू. १.६.१.१५, साम.मं.ब्रा . २.२.१४, हि.गृ.सू. २.१७.२.

ग्रावग्राभ – (१) यो ग्राव्णः गृह्णाति (प्रशंसा ग्रहण करने वाला) दया (२) यज्ञ के सात ऋत्विजों में एक ग्रावस्तु नामक ऋत्विज् (३) विद्वानों और शस्त्रास्त्र बल को अपने वश में रखने वाला।

'ग्रावग्राभ उत शंस्ता सुविप्रः'

ऋ. १.१६२.५, वाज.सं. २५.२८, तै.सं. ४.६.८.२, मै.सं. ३.१६.१ , १८२.६, का.सं. (अश्व). ६.४.

(४) सोम रस में प्रस्तरों को ग्रहण करने वाला, (२) राष्ट्र में विद्वानों का आदर सत्कार करने वाला, (६) शस्त्रास्त्र।

ग्रावहस्तासः – (ब.व.) (१) सोमरस चुराने के लिए हाथों में ग्रावा धारण करने वाले ऋत्विज्।

'ग्रावहस्त्रासो अध्वरे
यज्ञेषु देवमीडते।'

ऋ. १.१५.७, नि. ८.२.

अहिंसामय यज्ञ में हाथों में ग्रावा धारण किये ऋत्विज् यज्ञों में धन देने वाले देव को पूजते या जांचते हैं (२) वज्र आदि शस्त्रास्त्रों को हाथ में लिए हुए (३) उत्तम स्तुति करने में सिद्ध हस्त

ग्रावा – (१) विद्वान् पुरुष जो उत्तम ज्ञान का उपदेश करता है। (२) पत्थर जिससे सोमरस चलाया जाता है।

'पातु ग्रावा पातु सोमो नो अंहसः'

ऋ. ६.३.२.

ग्रावाणः – क्षत्रिय।

'ग्रावाणो घ्नन्तु रक्षस उपब्दैः'

ऋ. ७.१०४.१७, अ. ८.४.१७.

ग्रावाणा – (द्वि.व.) (१) दो बड़ी शिलाएं, (२) दो महामेघ, (३) उत्तम वचन और उपदेश कहने

वाले ।

'ग्रावाणेव तदिदर्थं जरेथे'

ऋ. २.३९.१, ऐ.ब्रा. १.२१.११.

ग्रावन् – हन् + क्वनिप् = ग्रावन् (हन् का ग्रा) । अर्थ – पत्थर जिसमें सोम रस चुलाया जाता है सोमाभिषवण कर्म में पत्थर पर चोट दी जाती है । (हन्यन्ते हि सोयाभिषवणे) अथवा (२) गृ क्वनिप् = ग्रावन् (जिसकी स्तुति की जाय या जिस पर पीसने से शब्द निकलता है । (३) गृह + क्वनिप् = ग्रावन् (गृह का ग्रा) गृह्यन्ते हि ते सुन्वभिः (सवन करने वाले पत्थर को गहते हैं) ।

'ग्रावभ्यो वाचं वदता वदद्भ्यः'

ऋ. १०.९४.१, नि. ९.९.

ग्रावों के लिए आप भी प्रशंसापूर्ण वचन बोलें । शिलाओं के लिए ही प्रसंग से दृढ़, मधुरभाषी और ग्राह्य सज्जन को ग्रावा कहा जाता है ।

(४) कठोर, विवाह के समय वधू को शिलारोपण करते समय ।

'अश्मेव त्वं स्थिराभव'

का उच्चारण किया जाता है ।

आश्व.गृ.सू. १.७.७. शां.गृ.सू. १.१३.१२, साम.मं. ब्रा. १.२.१., पा.गृ.सू. १.७.१, आप मं.पा. १.५.१, २.२.२, हि.गृ.सू. १.४.१ ,१९.८.

ग्राव सूक्त में यज्ञशिला के व्याज से स्थिर मनुष्यों का वर्णन है ऐसा आर्यसमाजी विद्वानों का मत है । सायण के अनुसार सोम रस उत्पन्न करने के लिए यह शिलाओं का वर्णन है ।

ग्राह्याः पुत्रः – अंगों के शिथिल करने वाली शक्ति का पुत्र स्वप्न ।

'ग्राह्याः पुत्रोऽसि यमस्य करणः'

अ. १६.५.१

ग्राहिः – (१) शरीर को जकड़ लेने वाला रोग ।

'ग्राहिर्जग्राह यदिवैतदेनम्'

ऋ. १०.१६१.१, अ. ३.११.१, २०.९६.६.

(२) हाथ पैर जकड़ देने वाली सुख सम्पद् चाट जाने वाली वृत्ति ।

'परोग्राहिं क्रव्यादः पिशाचान्'

अ. ८.२.१२.

(३) कैदखाना, जेल, कारागृह ।

'ततो यदित्वा ग्राहि रानशे'

अ. ६.११३.१,३.

ग्राही – (१) पकड़ लेने वाली कैद, (२) अविद्या ।

'ग्राह्या बन्धेभ्यः परिपात्वस्मान्'

अ. १९.४५.५

'स ग्राह्याः पाशान् विचृत प्रजानन्'

अ. ६.११२.१,२

(३) ग्रहण करने वाली भोग तृष्णा ।

'दशवृक्ष मुञ्चेमं रक्षसो ग्राह्या अधि'

अ. २.९.१

ग्लावी – जिसे ग्लानि हो जाय ।

'पश्चादोषाय ग्लाविनम्'

वाज.सं. ३०.१७, तै.ब्रा. ३.४.१.१४.

गिर् – गृ + क्विप् = गिर (ऋत इद्धातोः से ऋ का पर) (स्त्री.)

(१) वाणी (२) स्तुति ।

'कदा नः शुश्रुवद् गिरः इन्द्रोअंग'

ऋ. १.८४.८, अ. २०.६३.५, साम. २.६९३, नि. ५.१७.

पुनः–

'तमिद्वर्धन्तु नो गिरः
वत्सं संशिश्वरीरिव य इन्द्रस्य हृदंसनिः'

ऋ. ९.६१.१४, साम. २.६८६., नि. १.१०.

हमारी स्तुतियां (नः गिरः) उस सोम को (तम् इत्) जो (यः) इन्द्र के हृदय को संभक्त करने वाला है । (इन्द्रस्य हृदं सनिः) बढ़ावें (वर्धन्तु) जैसे शिशुवाली माताएं (शिश्वरीः) बालक को बढ़ाती है ।

'तमूषु समना गिरा'

ऋ. ८.४१.२, नि. १०.५

मैं उस वरुण को समना वाणी से स्तुति करता हूँ ।

गिरति – गृणाति शब्द करोति (स्तुति करता है , शब्द करता है) । गृ के लट् में प्रथम पुरुष एक वचन का रूप ।

गिरः (१) अन्न, अन्नो का संग्रह ।

'गिरःछन्दः'

वाज.सं. १५.५, तै.सं. ४.३.१२.२, मै.सं. २.८.७,११२.१, का.सं. १७.६, श.ब्रा. ८.५.२.५.

गिरःयज्ञम् – वाणी का सहयोग

'यज्ञं गिरो जरितुः सुष्टुतिं च'

ऋ. ५.४३.१०

गिरा गिरा – (१) प्रत्येक वाणी में ।

'गिरगिरा च दक्षसे'

ऋ. ६.४८.१, साम. १.३५.२.५३, वाज.सं. २७.४२.मै.सं. २.१३.९, १५९.१०, का.सं. ३९.१२, पंच.ब्रा. ८.६.५, आप.श्रौ.सू. १७.९. १.

(२) अन्तरिक्षस्थ मेघ गर्जनाओं का स्वामी सूर्य (वाणियों या स्तुति कर्त्ता का पालक ।

'पतिर्भव वृत्रहन् सूनृतानाम्
गिरां विश्वायुर्वृषभो वणोधाः'

ऋ. ३.३१.१८

गिरी – गृ + कि = गिरिः । गिरिः समुद्गीर्णः भवति । (भूमि के वमन के सदृश गिरि दीख पड़ता है । उसी प्रकार मेघ भी अन्तरिक्ष के वमन में समान दीख पड़ता है) । अर्थ (१) पर्वत, (२) मेघ ।

*'अरायि काणे विकटे
गिरिं गच्छ सदान्वे'*

ऋ. १०.१५५.१, नि. ६.३०.

हे दुर्भिक्षाधिदेवते । हे विकृतांगि ! हे कुत्सित दर्शने दरिद्रते ! हे सदा नहीं नहीं कहने वाली तू पर्वत पर चली जा । मेघ के अर्थ में–

*'निराविध्यत् गिरिभ्य आ
धारयत् पक्वमोदनम्
इन्द्रो बुन्दं स्वाततम्'*

ऋ. ८.७७.६०, नि. ६.३४.

इन्द्र ने मेघों को लक्ष्य कर (गिरिभ्यः) अच्छी तरह खींचे वज्र को चलाया (स्वाततं बुन्दम् निराविध्यत्) और इस पके भात, खीर या अन्न की उत्पत्ति के लिए आधार भूत जल को स्थिर किया (पक्वम् ओदनम् आधारयत्) ।

गिरिचर – पर्वतों पर रहने वाला ।

'नम उष्णीषिणे गिरिचराय'

वाज.सं. १६.२२, तै.सं. ४.५.३.१, मै.सं. २.९.३, १२३.७. का.सं. १७.१२.

गिरिजा – (१) वाणी में प्रसिद्ध, (२) वेद में प्रसिद्ध परमेश्वर ।

'मरुत्वते गिरिजा एवयामरुत्'

ऋ. ५.८७.१.

गिरित्र – (१) विद्वानों का रक्षक, (२) अपनी व्यवस्था में सबका रक्षक–रुद्र, (३) गिरि का रक्षक या गिरि के रक्षा करने वाला ।

'शिवां गिरित्र तां कुरु'

वाज.सं. १६.३, तै.सं. ४.५.१.२, मै.सं. २.९.२, १२१.२, का.सं. ७.११, नील. उप. ५. श्वे.उप. ३.६.

गिरिभ्रज् – (१) पर्वत से झरने वाली जलधारा ।

'गिरिभ्रजो नोर्मयोमदन्तः'

ऋ. १०.६८.१, अ. २०.१६.१, तै.सं. ३.४.११.३, मै.सं. ४.१२.६, १९७.१, का.सं. २३.१२.

(२) मेघ से भ्रष्ट होने वाली गिरने वाली जलधारा ।

गिरिश – गिरि अर्थात् पर्वत पर शयन करने वाला रुद्र, शिव (२) समस्त वाणियों या आज्ञाओं में स्वयं आज्ञापक एवं व्यवस्थापक रूप से विद्यमान–रुद्र ।

'गिरशाच्छा वदामसि'

वाज.सं. १६.४, तै.सं. ४.५.१.२, मै.सं. २.९.२, १२.१.३. का.सं. १७.११, नील.उप. ६.

गिरिशन्तः – (१) आज्ञा रूप या वाणी में सबको शान्ति दायक, सब पर बरसाने वाले स्वरूप में सबको शान्तिदायक रुद्र ।

*'यामिषुं गिरिशन्त
हस्ते बिभर्ष्यस्तवे'*

वाज.सं. १६.३, तै.सं. ४.५.१.१, मै.सं. २.९.२, १२१.१, का.सं. १७.११, नील.उप. ४.श्वे. उप. ३.६.

गिरिष्ठाः – (१) पर्वत निवासी । यहां इन्द्र का विशेषण है ।

'मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः'

ऋ. १.१५४.२, १०.१८०.२, अ. ७.२६.२, ८४.३, साम. २.१२२३, वाज.सं. ५.२०, १८.७१, तै.सं. १.६.१२.४, मै.सं. का.सं. २.१०,८.१६, श.ब्रा. ३.५.३.२३,९.५. २.५, तै.ब्रा. २.४.३.४, नृसिंह पू.ता.उप. २.४. आश्वश्रौ.सू. २.१०.१४, आप.श्रौ.सू. ११.९.१, नि. १.२०

हे इन्द्र ! तू व्याघ्र सिंह जैसा भयंकर पर्वत निवासी एवं हिंसक होने के कारण कुत्सित गमन या कुत्सित चरण सर्वत्रगामी है (कुचरः) ।

(२) वाणी में कुशल स्थिर

'गिरिष्ठां वृषणं हुवे'

ऋ. ८.९४.१२

गिर्वणस् – गीः + वन (संभजन अर्थ में) = गीर्वणस् (दीर्घ का अभाव छान्दस्य है) गीर्वणीयम्

(गीभिः एवं वनयन्ति) स्तुतियों से इसे लोग भजते हैं । अर्थ है - (१) देव, देवता

'गिर्वणाः देवो भवति
घआमासु पक्वमैरयः
आ सूर्य रोहयोदिवि
धर्मं न सामान्तपता सुवृक्तिभिः
जुष्टं गिर्वणसे बृहत्'

ऋ. ८.८९.७, साम. २.७८१, तै.सं. १.६.१२.२. का.सं. ८.१६, नि. ६.१४.

हे इन्द्र ! परमेश्वर ! अपक्व या अप्राप्त यौवन गौवों में (आमासु) परिणत एवं पूर्ण दूध तूने प्रेरित किया है (पक्वम् ऐरयः) । द्युलोक मे तू ने सूर्य को आरोपित किया (दिवि सूर्यम् आरोहयः) और हे स्नाताओं, तुम सुन्दर (स्तुतियों सुवृक्तिभिः) प्रिय तथा बृहत् धर्म के समान सुप्रयुक्त एवं सुष्टु सामगान को इन्द्र के लिए गाओ (जुष्टं बृहत् धर्मं न समान् निर्वणसे तपत) । अन्य अर्थ, हे परमेश्वर, तू अपक्व ओषधियों में पक्व रस डालता है (आमासु पक्वं ऐरयः), द्युलोक में सूर्य को उदित कराता है, संवत्सर में आने वाले धर्म दिनों की तरह (सामं धर्म च) हे मनुष्यो, तू कायिक, वाचिक तथा मानसिक शुद्धियों के द्वारा (सुवृक्तिभिः) तपश्चरण करो (तपत) और पूज्य देव के लिए प्यारे तथा महान् साम को गाओ (निर्गणसे जष्ट बृहत्) ।

(२) स्तुतियों द्वारा भजन करने योग्य

'अधा हीन्द्रः गिर्वणः'

ऋ. ८.९८.७, अ. २०.१००.१, साम. १.४०६, २.६०, गो.ब्रा. २.४.१७, पंचब्रा. १७.१.५, आश्व.श्रौ.सू. ६.१.२, वै.सू. ३९.७, ४०.४,

(३) वाणी या विशेष शब्द के साथ विभक्त होने वाला अग्नि ।

'तं त्वा गीर्भिः गिर्वणसम्'

ऋ. २.६.३

गिर्वणः - (१) वाणियों द्वारा स्तुति करने योग्य ।

'गिर्वणः पाहि न सुतम्'

अ. २०.६.६.

(२) समस्त वाणियों का सेवन करने वाला ।

'न हि त्वदन्यो गिर्वणः गिरः सधत्'

ऋ. १.५७.४, अ. २०.१५.४, साम. १.३७३.

गिर्वणस्तमः - (१) सबसे अधिक प्रशंसनीय ।

'गिर्वणस्तमो अध्रिगुः'

ऋ. ६.४५.२०

(२) वाणी द्वारा अति स्तुत्य इन्द्र, परमेश्वर ।

'तं गीर्भिर्गिर्वणस्तमः'

ऋ. ८.६८.१०

गिर्वाहस् गिर्वाहाः - (१) गिर् + वह् + असुन् = गिर्वाहस् गीर्भिः वेद वाणीभिय उह्यते (जो वेद वाणियों से प्राप्त होता है) (२) समस्त वाणियों को धारण करने वाला परमेश्वर, (३) जानने योग्य पदार्थों को जानने तथा दिखलाने वाला ।

'स्तोत्रं सधानां पते गिर्वाहो वीर यस्य ते
विभूतिरस्तु सूनृता'

ऋ. १.३०.५, अ. २०.४५.२, साम. २.९५०.

हे समस्त ऐश्वर्यों के स्वामिन् ! हे वीर ! जिस समस्त स्तुति वाणियों को धारण करने वाले उनके योग्य तेरी स्तुति है । उस तेरी ही यह उत्तम सत्य ज्ञान से पूर्ण विविध सम्पदा है ।

(३) वाणियों द्वारा स्तुत्य परमेश्वर ।

'गिर्वाहसं गीर्भि र्यज्ञवृद्धम्'

ऋ. ६.२१.२

'गिर्वाहसं पुरुतमं वसूयुम्'

ऋ. ४.४४.१, अ. २०.१४३.१

(४) वाणियों को देने वाला इन्द्र परमेश्वर ।.

'गिरश्च यास्ते गिर्वाहः'

ऋ. ८.२.३०

(५) समस्त स्तुतियों का पात्र ।

'गिरिश्च गिर्वाहसे सुवृक्ति'

ऋ. १.६१.४, अ. २०.३५.४.

गीयमान- गाया जाता हुआ ।

'न गायत्रं गीयमानम्'

ऋ. ८.२.१४, साम. १.२२५, २.१.५५.

गीः - (१) परमात्मा की उद्गिरण करने वाली शक्ति ।

'गीर्भिरूर्ध्वान् कल्पयित्वा'

अ. १३.१.५४.

गीर्ण - गृ + क्त = गीर्ण ।

'गीर्णं भुवनं तमसापगूढम्'

ऋ. १०.८८.२

ग्रीवा - (स्त्री) निगरण साधना (निगलने की साधना) कण्ट, गर्दन, गृ (उच्चारण करना)

अथवा गृह् (ग्रहण करना) +वन् +टाप् = ग्रीवा । निपातन द्वारा सिद्ध । तया गिलन्ति अन्नम् उससे अन्न निगलते हैं) । तयाहि शब्दो गीर्यते (उससे शब्द उच्चारित होता है) । तयाहि उदकादि गृह्यते (उससे उदक आदि का ग्रहण किया जाता है) ।

'ग्रीवाभ्यस्त उष्णिहाभ्यः'

ऋ. १०.१६३.२, अ. २.३३.२, २०.९६.१८. आप. मं.पा. १.१७.२.

ग्रीष्मः - (१) ग्रीष्म नामक ऋतु ।

'ग्रीष्म इस्मः शरद्धविः'

ऋ. १०.९०.६, अ. १९.६.१०, वाज.सं. ३१.१४, तै.आ. ३.१२.३.

(२) ग्रस्यन्ते अस्मिन् रसाः (इस ऋतु में सूर्य की किरणों से पृथ्वी के रस खींचे जाते हैं) (३) ग्रस् + मक् = ग्रीष्म (ई का आगम्) ।

अथवा गम् + मक् = ग्रीष्म (गमयति क्षयं भूतानि) यह ग्रीष्म जीवों को क्षय को प्राप्त कराता है ।

गुद् - (१) क्रीड़ा शील, (२) व्यसनी पुरुष, (३) गुदा ।

'उत्सक्थ्या अव गुदं धेहि'

वाज.सं. २३.२१, तै.सं. ७.४.१९.१, का.सं. (अश्व). ४.८. श.ब्रा. १३.५.२.३. शां.श्रौ.सू. १६.३.३६, आप.श्रौ.सू. २०.१८.४ .

गुदा - (१) गुदागत स्थूल नाड़ी, (२) आनन्द (३) मधु, (४) ऐश्वर्य , (५) उत्तेजना उत्पन्न करने वाला, (५) गति प्रदान करने वाला संचालक ।

'गुदाः पात्राणि सुदुधा न धेनुः'

वाज.सं. १९.८६, मै.सं. ३.११.९, १५३.१३, का.सं. ३८.३, तै.ब्रा. २.६.४.३.

(७) गुदा नाम की शरीर की नाड़ी जिसके द्वारा मल निकलता है ।

'आन्त्रेभ्यस्ते गुदाभ्यः'

(८) गुदा भाग ।

'गुदा आसन् सिनीवाल्याः'

अ. ९.४.१४

गुरु - घोषित करना ।

'दैवीं वाचं दुन्दुभ आगुरस्व'

अ. ५.२०.४

गुङ्गु - भूमि पर विचरने वाला ।

'अहं गुङ्गुभ्यो अतिथिग्वमिष्करम्'

ऋ. १०.४८.८.

गुङ्गूः - प्रेम वश अव्यक्त अस्फुट शब्द करने वाली अति लज्जाशील स्त्री ।

'या गुङ्गूर्या सिनीवाली'

ऋ. २.३२.८.

गुगु - एक वेद कालीन देश ।

गुग्गुलु , गुल्गुलु - गुगुल नामक ओषधि जिसे राज यक्ष्मा का नाशक कहा है ।

'यं भेषजस्य गुल्गुलोः सुरभिर्गन्धो अश्नुते'

अ. १०.३८.१

'इदं हिरण्यं गुल्गुलु'

अ. २.३६.७

गुल्गुलु - (१) गुग्गुलु जो सुगध और कृमि नाशक है , (२) रसना ।

'गुल्गुलूः पीला नलदी'

अ. ४.३७.३

गुरस्व - उद्यम कर (१) उत्तम अन्न खा और व्यायाम कर ।

'जुषस्वेन्द्रा गुरस्व च'

ऋ. ३.५२.२

गुरुभृत् - पर्वतादि गुरु पदार्थों को धारण करने वाली पृथिवी ।

'मल्वं बिभ्रती गुरुभृत्'

अ. १२१.४८

गुल्म - लता आदि से आवृत देश ।

'ग्लौभिर्गुल्मान्'

वाज.सं. २५.८, मै.सं. ३.१५.७, १७९.१३.

गुल्फ - टखना, घुटने के नीचे का भाग ।

'केन मांसं संभृतं केन गुल्फौ'

अ. १०.२.१

'कस्मान्नु गुल्फावधरावकृण्वन्'

अ. १०.२.२.

गुष्पित - (१) झाड़ झखाड़ के रूप में बड़ा हुआ ।

'व्रततेरिव गुष्पितम्'

ऋ. ८.४०.६, अ. ७.९०.१.

(२) शाखापुञ्ज,.(३) गुप्तबल (४) छिपा हुआ ।

'विषाणे विष्य गुष्पितम्'

अ. ३.७.२

गुः - गच्छन्ति (जाते हैं) ।

'ऋतस्य देवा अनुव्रता गुः'

ऋ. १.६५.३

दिव्य अग्नि आदि से तेजस्वी पदार्थ (देवाः) तथा समस्त प्राकृतिक शक्तियाँ, विद्वान् या विजयेच्छु सत्यस्वरूप सबके प्रवर्त्तक परमेश्वर तथा सत्य ज्ञानमय वेदज्ञान और सबके संचालक सत्य व्यवहार सनातन ऋत के उपदेश किए कर्त्तव्यों का अनुसरण करते हैं ।

गुह – गूढ़ विज्ञान ।

'विश्वायुरग्ने गुहा गुहं गाः'

ऋ. १.६७.३

हे विद्वन् ! बुद्धि में स्थिर हो, गूढ़ विज्ञान को प्राप्त कर । अथवा,

हे परमेश्वर, तू बुद्धि में भी अतिगूढ़ स्थान में परम विचार से प्राप्त होता है ।

गुहत् – गुप्त ।

'आ यद् रविं गुहदवद्यमस्यै'

ऋ. २.१९.५

गुह्य – (१) छिपने में कुशल । (२) गुहा में स्थित, (३) सुगूढ़ ।

'पायो घृतस्य गुह्यस्य नाम'

अ. ७.२९.१, मै.सं. ४.१०.१, १४२.५, का.सं. ४.१६.

(४) गुहा अर्थात् बुद्धि द्वारा जानने योग्य (५) गूढ़ तत्व ।

'परेषु या गुह्येषु व्रतेषु'

ऋ. ३.५४.५, १.११४.२.

गुह्यमानः – सुरक्षित ।

'अग्ने देव पर्णिभिर्गुह्यमानः'

वाज.सं. २.१७, तै.सं. १.१.१३.२, मै.सं. ४.१.१४, २०.५, का.सं. १.१२, ३१.११. तै.ब्रा. ३.३.९.६, श.ब्रा. १.८.३.२२, मा.श्रौ.सू. १.३.४.२६.

गुह्यव्रत – पालन करने योग्य ब्रह्मचर्यव्रत ।

'असि त्रितो गुह्येन व्रतेन'

ऋ. १.१६३.३, वाज.सं. २९.१४. तै.सं. ४.६.७.१, का.सं. ४०.६.

गुहा – (१) ग्रहा, खोह ।

'गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति'

ऋ. १.१६४.४५, अ. ९.१०.२७, श.ब्रा. ४.१.३.१७, तै.ब्रा. २.८.८.६, जै.उप.ब्रा. १.७.३,४०.१.नि. १३.९.

परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरीवाणी के इन चार भेदों में तीन गुहा में छिपी हुई है। वे इधर उधर नहीं होतीं (वा इङ्गयन्ति) ।

(२) महान् एवं सबका आवरण करने वाला आकाश ।

'सगुहा चक्रे तन्वः पराचैः'

अ. ८.९.२

(३) गुह्य ज्ञान, (४) बुद्धि, रूपगृह गुह् (छिपाना) धातु से अच् और टाप प्रत्यय कर गुहा शब्द बना है ।

'अमे देवान् धाद् गुहा निषीदन्'

ऋ. १.६७.३

गुहस्या उत्तम ज्ञान में स्थित विद्वान्, आचार्य, देव या अन्य ज्ञानेच्छु पुरुषों को अपने ज्ञान में (गुहा) धारण करता है । (धात्) (५) हृदय ।

'य ई चिकेत गुहा भवन्तम्'

ऋ. १.६७.७.

(६) आकाश, (७) बुद्धि ।

'गुहा वन्वन्त उपरां अभिष्युः'

ऋ. २.४.९.

गुहासतीगौ – (१) गुप्त स्थान में छिपी हुई गौ, (२) हृदय गुहा में छिपी हुई ज्ञानरश्मि या वेदवाणी

'उद्रा आजद् अंगिरोभ्यः
आविष्कृण्वन् गुहा सतीः'

ऋ. ८.१४.८, अ. २०.२८२, ३९.३, साम. २.९९१, ऐ.ब्रा. ६.७.६, गो. ब्रा. २.५.१३.

गुहासरभम् – गुह्यहृदय , गुफारूप आश्रय स्थान ।

'नाम स्वरीणां सदने गुहा यत्'

ऋ. १०.६८.७, अ. २०. १६.७

गुहाहित – (१) गुफा, या गुप्त स्थानों में रखा धन, (२) बुद्धि मे रखा हुआ ।

'निधिं पणीनां परमं गुहाहितम्'

ऋ. २.२४.६,

(३) अन्तरिक्ष में स्थित ।

'गुहाहितं गुह्यं गूढमप्सु'

ऋ. २.११.५, ३.३९.६, १०.१४८.२.

गूढ –छिपा हुआ ।

गूढ्वीतमः – (१) गहरा अन्धकार (२) शोक मोह आदि

'गूढ्वी तमो ज्योतिषोषा अबोधि'

Digitized by Madhubaṅ Trust, Delhi

ऋ. ७.८०.२

गूर्त – (१) उद्यम, (२) बड़ा Great का पूर्वरूप

गूर्तमनाः – (१) उद्यमुक्त चित्त वाला, (२) ज्ञानोपदेश कर्त्ता ।

'प्रहोता गूर्तमना उराणः'

ऋ. ६.६३.४

गूर्तवचाः – श्रमपूर्वक वेदवाणी का अभ्यासी पुरुष

'इदमित्था रौद्रं गूर्तवचाः'

ऋ. १०.६१.१, ऐ.ब्रा. ५.१३.१२, कौ.ब्रा. २३.८.

गूर्तश्रवाः – (१) जिसके उद्यम का पथ फैला हुआ है ।

'शर्धस्तरो नरां गूर्तश्रवाः'

ऋ. १.१२२.१०

जो अत्यन्त बल शाली है (शर्धस्तरः) और जिसके उद्यम् का यश मनुष्यो में फैला हुआ है (गूर्तश्रयाः) ।

(२) गूर्त निगलितं शास्त्रश्रवणं येन (जिसने सभी शास्त्रों का श्रवण किया हो) (३) गुरु के श्रवण करने योग्य ज्ञान का धारण करने वाला ।

'पुरागूर्तश्रवसं दर्माणम्'

ऋ. १.६१.५, अ. २०.३५.५.

गुरु के श्रवण करने योग्य को धारण करने वाले या अन्यो के प्रति उपदेश करने वाले यशस्वी, नगरों और दुर्गों तोड़ने का या देहबन्धन तोड़ने वाले परमेश्वर को.. (४) ज्ञानोपदेशों का परमगुरु (५) अन्यों के प्रति उपदेश करने वाला (६) प्रशस्तकीर्तिमान्

गूर्तावसु – हाथों मे ऐश्वर्यों लिए हुआ ।

'ईजानमित् द्यौर्गूर्तावसुः'

ऋ. १०.१३२.१

गूर्ताशरद – (१) उद्यम्शील हिंसा कारिणी वीर सेना, (२) बड़ी शरद् ऋतु ।

'पूर्वीरुषसः शरदश्च गूर्ताः'

ऋ. ४.१९.८

गूर्तिः – (स्त्री) (१) उद्यम युक्ता कन्या, (२) उद्यन शील या उपदेशों से युक्त, (३) स्तुतिशील ।

'तं गूर्तयो नेमन्निषः परीणसः'

ऋ. १.१०.४९.२

उद्यम शील उपदेशों से युक्त या स्तुति शील (गूर्तयः) लज्ञा से विनीत (नेमन्) हृदय से पति को चाहने वाली (इषः) शुभनासिका वाली सुन्दर स्त्रियां (परीणसः) जैसे पति को प्राप्त होती है ।

गूर्ध – स्तुति करना ।

'तं गूर्धया स्वर्णरम्'

ऋ. ८.१९.१, साम. १.१०९,२. १०३७.

गृणत् – उपदेशक ।

गृणन् – दुःख निवेधक करता हुआ

'पर्षत् विश्वाति दुरिता गृणन्तम्'

ऋ. ३.२०.४

गृणाति – गिरति, शब्द करोति । गृ धातु के लट् प्र.पु.ए.व. का रूप । गृ धातु स्तुत्यर्थक भी है ।

गृणान – स्तोता, उपदेशक ।

'इन्द्रं ज्यैष्ठ्याय धायसे गृणानाः'

ऋ. ३.५०.३

गृणाना – (१) गृ + शानच् + टाप् । कड़कड़ाती या गड़गड़ाती हुई विद्युत ।

'दिवा गृणाना' विद्युत् सहित उदक समूह से शब्द करती हुई इडा देवी

गृणामि – (१) स्तोमि (स्तुति करता हूँ) । गृ धातु के लट् उत्तम पुरुष ए. व. में । (२) प्रणाम करता हूँ – (३) भजता हूँ –(दया.)

'तं त्वा गृणामि तवसम् अतव्यान्'

ऋ. ७.१००.५, साम. २.९७६, तै.सं. २.२.१२.५, मै.सं. ४.१०.१, १४४.७, का.सं. ६.१०. नि. ५.९.

उस तुझ महान् विष्णु को (तवसम् तम्) मैं क्षुद्र या अल्पशक्ति वाला (अतव्यान्) प्रणाम करता या भजता हूँ (गृणामि) ।

गृणीषा – स्तुति का कार्य ।

'प्रियं प्रियं वो अतिथिं गृणीषणि'

ऋ. ६.१५.६.

गृणीहि – उपदेश कर ।

'अभियज्ञं गृणीहि नः'

ऋ. १.१५.३, वाज.सं. २६.२१.

हे सब पदार्थों को प्राप्त करने की शक्ति वाले । हे सब पदार्थों को शुद्ध करने वाले ! तू यज्ञ, प्रजा पति परमेश्वर को लक्ष्य कर हमें उपेदश कर और सत्य ज्ञान के बल पर आनन्द रस का पान कर, क्योंकि निश्चय से तू ही अति रमण करने योग्य ज्ञान और आत्म तत्व को धारण करने वाला है ।

गृत्स – (१) मेधावी (२) विषय लम्पट या

(३) मेधावी-महीधर।

(४) स्तुतिशील, गृ (स्तुति करना) से सिद्ध, ।

(५)उत्तम बुद्धिमान्।

'गृत्साय चित् तवसे गातु मीषुः'

ऋ. ३.१.२

गृत्सपतिः - मेधावी पुरुषों का प्रमुख नेता

'नभो गृत्सेभ्यो गृत्सपतिभ्यश्च वे नमः'

वाज.सं. १६.२५, तै.सं. ४.५.४.१.

गृत्समद - (१) गृत्स का अर्थ मेधावी और मदन का अर्थात् हर्षालु है। अर्थ-हुआ-गृत्स श्च मदश्च गृत्समदः (जो मेधावी तथा स्तोता होने के साथ हर्षालु भी है)।

(२) एक वैदिक ऋषि (३) आनन्द चाहने वाला, (४) सब की आकांक्षा के पात्र परममेधावी परमेश्वर में ही हर्ष प्राप्त करने वाला योगी।

'एवा ते गृत्समदाः शूरमन्म'

ऋ. २.१९.८

गृत्समदासः - (१) गृत्समदका विशेषण अर्थ (२) ज्ञान और मनन में आनन्द लेने वाले, (२) रथों पर आनन्द से युद्ध करने वाला।

'त्वयायथा गृत्समदासो अग्ने'

ऋ. २.४.९

गृत्सी - (१) लोभकारिणी, (२) विषय विलास में फंसी स्त्री या जनश्रेणी।

'या गृत्स्यः त्रिपञ्चाशीः'

अ. १९.३४.२

गृध् - लालच करना, आकांक्षा करना।

गृध्नु - दूसरे का उत्कर्ष चाहने वाला-(दया.)

'साधुर्न गृध्नु स्तेव शूरः'

ऋ. १.७०.११

वह परमेश्वर साधना करने वाले भक्त के समान ही उसकी उन्नति करने का अभिलाषी होता है।

गृध्र - (१) मंगलाभिलाषी।

'अहानि गृध्राः पर्या व आगुः'

ऋ. १.८८.४.

(२) वेदाध्ययन करता हुआ मंगलाभिलाषी ब्राह्मण (३) गृध्रपक्षी।

गृध्रयातु - (१) गीध के समान चाल चलने वाला।

'सुपर्णयातुम् उत गृध्रयातुम्'

ऋ. ७.१०४.२२, अ. ८.४.२२,

(२) गीध के समान घेरा बांध कर प्रजा को नाचकर खा जाने वाला।

(३) विद्यार्थियों को हृदय से चाहने वाला (४) उपदेश योग्य ज्ञान को धारण करने वाला आचार्य, (५) बृहस्पति का विशेषण (६) धन का आकांक्षी।

'बृहस्पतिस्तर आपश्च गृध्रः'

ऋ. १.१९०.७

गृध्य - गृध् + यत्। मृतात्मा।

'महुर्गृध्यैः प्रवदति'

अ. १२.२.३८

गृध्रौ - लौकान्तर की इच्छा करने वाले आत्मा और मन अथवा आत्मा और प्राण।

'गृध्रौ द्यामिव पेततुः'

अ. ७.९५.१.

गृभ् - (१) गृभ्धातु स्तुतित करना, गिराना या उगलना अर्थ प्रयुक्त है, (गृणाति वा गिरति अवर्थान्)। (२) लेने देने-ग्रहण करने का व्यापार।

'नियो गृभं पौरुषेयीमुवोच'

ऋ. ७.४.३

गृभ - गृह।

'न्युभ्रियन्ते य शसो गृभादा'

ऋ. ७.२१.२

गृभिः - ग्रहण करने वाली।

'वनस्पतीनां गृभि रोषधीनाम्'

ऋ. १२.१.५७.

गृभीतातातिः - हाथ में लिए राष्ट्र का कल्याण।

'गृभीता तातिः येन
यदीं नृभीततातये'

ऋ. ५.७४.४

गृष्टिः - (१) प्रथम प्रसूता गौ।

'केवलीन्द्राय दुदुहे हि गृष्टिः'

अ. ८.९.२४

(२) कृष्टि गौओं के समान इन विषयों और सभी पदार्थों और ज्ञानों तक पहुँचाने वाली या विषयों की और खींच लेने वाली इन्द्रिय या प्रजा।

'अभूर्गृष्टीनाम् अभिशस्तिपा उ'

अ. २.१३.३, १९.२४.६, हि.गृ.सू. १.४.३, आप.मं.पा. २.२.८.

(३) गौ, (४) वेदवाणी जो उपदेश करने वाली

है ।

'गृष्टिःससूव स्थविरं तवागाम्'

ऋ. ४.१८.१०

गृह् – गृह (ग्रहण कर) ।

गृह – गृह + क = गृह । जो ग्रहण करता है अर्थात् जिसमें लोग रहते हैं है या चीजें रखी जाती हैं ।

'यच्चिद्धित्वं गृहे गृहे
उलूखलक युज्यसे'

ऋ. १.२८.५, आप.श्रौ.सू. १६.२६.१, मा.श्रौ.सू. ६.१.७

हे ओखल, यद्यपि तू घर घर में काम में लाया जाता है ।

गृहाः – प्रंसि च भूम्न्येव-अमर । गृह शब्द एक वचन में पुल्लिंग है ।

आधुनिक अर्थ – घर , स्त्री, गृहस्थ का जीवन, राशियों का मेष वृष आदि चिन्ह । गृही का अर्थ गृहवासी होता है ।

गृहपतिः – (१) गृहपालक, (२) गार्हपत्यअग्नि या गृहस्थों के लिए आवश्यक अग्नि, (३) अग्नि का एक विशेषण ।

'दूरे दृशं गृहपतिमथर्युम्'

ऋ. ७.१.१, साम. १.७२, २.७२३, का.सं. ३४.१९.३९.१५, आप.श्रौ.सू. १४.१६.१, मा.श्रौ.सू. ६.२.२. नि. ५.१०.

. दूर ही से दीख पड़ने वाले अर्थात् प्रकाशमान गृहपालक गमनशील अग्नि को ।

(४) गृह अर्थात् जाया का पति ।

'गृहमेधी गृहपतिं मा कृणुः'

अ. १९.३१.१३

गृहपत्नी – गृह की स्वामिनी ।

'गृहान् गच्छ गृहपत्नी यथासः'

ऋ. १०.८५.२६, अ. १४.१.१०,२.७५.

गृहमेधासः – (१) गृह में उत्तम बुद्धि रखने वाले, (२) गृह में यज्ञ करने वाले उत्तम गृहस्थ ।

'गृहमेधास आगत
मरुतो माप भूतन'

ऋ. ७.५९.१०, तै.सं. ४.३.१३.५, मै.सं. ४.१०.५, १५४.१२,

गृहमेधी – (१) गृहस्थ (२) गृहम् + एधी । गृह की बृद्धि करने वाला ।

'गृहमेधी गृहपतिं मा कृणुः'

अ. १९.३१.१३

'सान्तपनश्च गृहमेधी च

वाज.सं. १७.८५, आप.श्रौ.सू. १७.१६.१८.

(३) गृहस्थविद्वान् ।

'मरुद्भ्यो गृहमेधिभ्यः'

वाज.सं. २४.१६, मै.सं. ३.१३.१४, १७१.७, आप.श्रौ.सू. २०.१४.१० .

गृहमेधीय – गृहस्थो से प्राप्त या गृह के निर्वाह योग्य ।

'गृहमेधीयं मरुतो जुषध्वम्'

ऋ. ७.५६.१४, तै.सं. ४.३.१३.६, मै.सं. ४.१०.५, १५४.१५, का.सं. २१.१३.

गृहपः – गृह का पालक ।

'भद्राय गृहपम्'

वाज.सं. ३०.११, तै.ब्रा. ३.४.१.९.

गृहुः – (१) ग्रहण करने वाला, (२) दान का उत्तम पात्र ।

'सइद् भोजो यो गृहवे ददाति'

ऋ. १०.११७.३

गृहेकृता – (द्वि.व.) गृह में एकत्र पति पत्नी रूप से बने स्त्री पुरुष ।

'सुदंससा गृहेकृता'

ऋ. ८.१०.३

गेह – घर में विद्यमान स्त्री ।

'गेहायो पपतिम्'

वाज.सं. ३०.९, तै.ब्रा. ३.४.१.४.

गेहय – गेह + यत् । (१) गृह का भृत्य ।

'नमस्तल्प्याय च गेह्याय च'

वाज.सं. १६.४४, तै.सं. ४.५.९.१, का.सं. १७.१५.

(२) गृहोपयोगी धन ।

'अभक्तं चिद् भजते गेह्यं सः'

ऋ. ३.३०.७

गैरिक्षित – (१) पर्वतादि दुर्ग का निवासी (२) वाणी, आज्ञा, वेद की स्थिर शर्थों की मर्यादा में रहने वाला ।

'गैरिक्षितस्य क्रतुभिर्नुसश्च'

ऋ. ५०.३३.८

ग्रैव्या – ग्रीवा + अण् + टाप् । ग्रीवा में उत्पन्न गण्ड माला ।

'सं यन्ति ग्रैव्या अभि'

अ. ६.२५.२

ग्रैष्म – गर्मी से उत्पन्न होने वाला ज्वर ।

‘ग्रैष्मं नाशय वार्षिकम्’

अ. ५.२२.१३

ग्रैष्मी त्रिष्टुप् – सूर्य के-प्रखर ताप वाले ऋतु के मानस तेज से उत्पन्न त्रिष्टुप् अर्थात् मन, वाणी और कर्म तीनों में हिंसा करने वाला क्षात्रबल ।

‘त्रिष्टुप् ग्रैष्मी’

वाज.सं. १३.५५, तै.सं. ४.३.२.१, मै.सं. २.७.१९, १०४.४, का.सं. १६.१९. श.ब्रा. ८.११.८.

ग्रैष्मौ मासौ – ग्रीष्म ऋतु के दो महीने ।

‘ग्रैष्मौ मासौ गोप्तारावकुर्वन्’

अ. १५.१ (४) ५

गो अग्रा – (१) उत्तम वेद वाणियों से प्रकाशित होने वाली बुद्धि , (२) जिस कर्म या विचार में वेदवाणी मुख्य साक्षी रूप से रहे, (३) उत्तम वाणियों द्वारा आगे आने या प्रकाशित होने वाला विचार, (४) आज्ञा को आगे रख कार्य का किया जाना, (५) जिन कर्मों में इन्द्रियां अग्र ग्रामी हो

‘उतनो धियो गो अग्रा’

ऋ. १.९०.५, आश्वश्रौ.सू. ९.११.१८.

(६) भूमि और सेनापति की आज्ञा को ही मुख्य लक्ष्य रखने वाली, (७) इन्द्रिय, धेनु या पृथिवी जिस में श्रेष्ठ हो – (दया.) (८) उत्तम वाणी तथा गौ आदि पशु सम्पदा का पालन करने वाली स्त्री ।

‘गो अग्रया अश्वावत्या रभेमहि’

ऋ. १.५३.५. अ. २०.२१.५, मै.सं. २.२.६, २०.५. का.सं. १०.१२ .

(९) चक्षु आदि इन्द्रियों को आगे किया हुआ ।

(१) सावधान ।

‘ये स्तोतृभ्यो गो अग्राम् अश्वपेशसम्’

ऋ. २.१.१६, २.१३.

गोः अंघ – (१) गौ का अंग, (२) मास –सा. (३) गौ, वाणी, योगादि उपाय वेदमन्त्र ।

‘उतगोरङ्गैः पुरुधा यजन्त’

अ. ७.५.५

गो अजन – (१) गौ आदि हांकने का डंडा । (२) भूमियों का शासक (३) वाणी के अभ्यास में अप्रगल्भ ।

‘दण्डा इवेद् गोअजनास आसन्’

ऋ. ७.३३.६

गोअर्णस् – (१) सूर्य की किरणों का प्रकाश या जल, (२) ज्ञान-वाणियों का विशद प्रकाश –ज्ञान (३) पृथिवी के ऐश्वर्य की प्राप्ति ।

‘अग्रं गच्छथो विवरे गोअर्णसः’

ऋ. १.११२.१८

(४) पृथ्वी रूप समुद्र ।

‘गो अर्णसि त्वाष्ट्रे अश्व निर्णिजि’

ऋ. १०.७६.३

(५) किरणों और जलों से युक्त सूर्य और मेघ ।

(६) वेदवाणी मय ज्ञान जल ।

‘महो ज्योतिषा शुचता गो अर्णसा’

ऋ. २.३४.१२.

गो ऋजीक – (१) गोदुग्ध आदि से मिश्रित (२) सुन्दर वाणियों से निश्चित धर्ममार्ग ।

‘इमा हिं वां गोऋजीका मधूनि’

ऋ. ३.५८.४

(३) भूमि से सरलता से न्याय धर्म के अनुसार प्राप्त होने वाला ।

‘असाविदेवं गोऋजीकमन्धः’

ऋ. ७.२१.१, साम. १.३१३, मा.श्रौ.सू. ९.१.३.

(३) गोरस दूध आदि से संस्कृत (४) इन्द्रियों को ऋजु, सौम्य सरल बनाने वाला, (५) वाणी से संस्कृत (६) भूमि आदि से सुसम्पन्न ।

‘पिबा तु सोमं गोऋजीकमिन्द्र’

ऋ. ६.२३.७

गोःऋतम् – (१) भूमि से प्राप्त अन्न, (२) वाणी के सत्य ज्ञान से प्राप्त सत्याचरण ।

‘ऋतेन ऋतं नियत भीऽआगोः’

ऋ. ४.८३.९

गो ओपशा – (१) भूमि पर प्रशान्त रूप से विद्यमान् व्यापक शक्ति (२) बैलों के सदा समीप रहने वाला चाबुक ।

‘या ते अष्ट्रा गो ओपशा’

ऋ. ६.५३.९

गोगतिः – (१) इन्द्रियों की चंचलता (२) गौओं के चलने का मार्ग ।

‘स घाघते गोमीद्या गोगतीरिति, ’

अ. २०.१२९.१३.

गोघ्न – गौ आदि पशुओं का हत्यारा ।

‘आरे ते गोघ्नम् उत पूरुषघ्नम्

क्षयद्वीर सुम्नमस्मे ते अस्तु'

ऋ. १.११४.१०

हे वीर पुरुषों को अपने आश्रय में बसाने वाले राजन् या रुद्र ! गाय आदि पशु के हत्यारे (गोघ्नम् उत् पुरुषघ्नम्) हिंसक पुरुष को तू राष्ट्र से दूर कर (आरे) । इस प्रकार हमें और तुझे दोनों को सुख प्राप्त हो ।

गोघात – गौ मारने वाला ।

'अन्तकाय गोघातम्'

वाज.सं. ३०.१८

गोजा – प्रजाओं द्वारा प्रजाओं में विशेष रूप से प्रादुर्भूत ।

'अब्जा गोजा ऋतजा अद्रिजा ऋतं बृहत्'

ऋ. ४.४०.५, वाज.सं. १०.२४, १२.१४, तै.सं. १.८.१५.२, ४.२.१.५, मै.सं. २.६.१२,७१.१५. का.सं. १५.८, १६.८, ऐ.ब्रा. ४.२०.२, श.ब्रा. ५.४.३,२२, ६.७.३.११, तै.आ. १०.१०.२,५०.१, कठ उप. ५.२. महा.ना.उप. ९.३,१७.८, नृसिहं पू.ता.उप. ३. व.पू.ता.उप. २.३, नि. १४.२९.

गोजात – (१) वेदवाणी में निष्णात ।

'गोजाता उतये यज्ञियासः'

ऋ. ७.३५.१४, १०.५३.५, अ. १९.११.४.

(२) वाणी से सुशिक्षित विद्वान् तेजस्वी जन ।

'गोजाता अप्या मृडता च देवाः'

ऋ. ६.५०.११

गोजित् – (१) इन्द्रियों, प्राणों एवं समस्त सूर्यलोक को वश करने वाला परमेश्वर –रोहित ।

'वसुजिति गोजिति संधनाजिति'

अ. १३.१.३७

(२) गौओं, भूमियों, वाणियों या इन्द्रियों को वश करने वाला ।

'गोजिन्नः सोमो रथजित् हिरण्यजित्'

ऋ. ९.७८.४

(३) गमनशील पृथिवी सूर्य आदि को भी जीतने वाला–उनका भी स्वामी इन्द्र, परमेश्वर ।

'अश्वजिते गोजिते अब्जिते भर'

ऋ. २.२१.१

गोजिता – (द्वि.व.) बाहुओं का विशेषण (१) सेनाओं को पीड़त करने वाली भुजाएं, (२) भूमियों को विजय करने वाली, (३) अपने विस्तार और बल सामर्थ्य से वृषभ को जीतने वाली भुजाएं ।

'गोजिता बाहू अमितक्रतुः सिमः'

ऋ. १.१०२.६

मेरी भुजाएं गोजित हैं, तू अनन्तज्ञान और कर्म सामर्थ्य से युक्त है । सब से श्रेष्ठ तथा प्रजाओं को प्रबन्ध व्यवस्था द्वारा और शत्रुओं को वध, बन्धन, सन्धि आदि से बांधने वाला है ।

गोजीरा – (१) वर्तमान लोकों को चलाने वाला वेग ।

'गोजीरया रंहमाणः पुरन्ध्या'

ऋ. ९.११०.३, साम. २.७१५, वाज.सं. २२.१८. ऐ.ब्रा. ८.११.३.

(२) गौ आदि पशुओं को जीवन देने वाली ।

(३) समस्त पृथ्वी लोक को जीवन देने की शक्ति ।

गोतम – (१) वेद वेत्ता ब्राह्मण –(दया) (२) गौतम ऋषि ।

(३) उत्तम किरण

'अकारि त इन्द्र गोतमेभिः'

ऋ. १.६३.९

हे ऐश्वर्यवन् इन्द्र या राजन् ! जिस प्रकार उत्तम किरणों से (गोतमेभिः) अन्न, ऐश्वर्य और नाना सुख उत्पन्न होते हैं । (ब्रह्माणि अकारि)

गोत्र – (१) मेघ (२) गो + त्रै । भूमि को पालन करने वाला पर्वत, (३) ज्ञानयुक्त हितकारी आज्ञा ।

'त्वं गोत्रामङ्गि रोभ्योऽवृणोरप'

ऋ. १.५१.३

प्राणो से युक्त प्राणियों के लिए (अंगिरोभ्यः) तू मेघ को छिन्न भिन्न कर देता है ।

(४) ज्ञान की रश्मियों को रोकने वाला बाधक आवरण ।

'गोत्रा रुजत् अंगिरोभिर्गृणानः'

ऋ. ४.१६.८, अ. २०.७७.८

(५) गौ अर्थात् भूमि में सुरक्षित नाना बीज जो बार बार अंकुरित होते हैं ।

'विश्वायत् गोत्रा सहसा परीवृता'

ऋ. २.१७.१

(६) वेदवाणी का रक्षक आचार्य जिसके नाम पर गोत्र चला है (७) इन्द्रियों का रक्षा साधन, (८) वंश ।

'उद् गोत्राणि ससृजे दंसनावान्'
ऋ. ३.३९.४

गोदत्र – गौ, भूमि, इन्द्रियों या वाणी का दाता ।
'माते गोदत्र निरराम राधसः'
ऋ. ८.२१.६

गोदरिः – (१) गौ अर्थात् भूमि के विदारण कार्य में कुशल कृषक, (२) वाणी के मर्मों को खोल खोल कर बतलाने वाला, (३) भूमि या वाणी का धारक इन्द्र ।
'अर्वद्भिः शक्र गोदरे'
ऋ. ८.९२.११

गोदा – (१) चक्षुरिन्द्रिय व्यवहार प्रदः (आंखों को देखने की शक्ति देने वाला-सूर्य) (२) भूमि या वाणी देने वाला परमेश्वर । अंग्रेजी का God शब्द 'गोद' का ही विकृत रूप है ।
'गोदा इद् रेवतो मदः'
ऋ. १.४.२, अ. २०.५७.२.
सूर्य जिस प्रकार चक्षु आदि को सामर्थ्य प्रदान करता है। उत्तम भूमि तथा पशु आदि का प्रदाता परमेश्वर (५) वेदवाणीप्रद आचार्य (६) वाणी का दाता ईश्वर ।
'अस्मभ्यं सु मघवन् बोधि गोदाः'
ऋ. ३.३०.२१, वाज.सं. (का). २८.१४.
(७) भूमि, वाणी, ज्ञानरश्मि और गौ आदि पशुओं को देने वाला ।

गोधा – (१) वाणी को धारण करने वाली स्त्री (२) इन्द्रियों को धारण करने वाली मनः शक्ति ।
'गोधा परि सनिष्वणत्'
ऋ. ८.६९.९, . २०.९२.६,
(३) वाणादि फेंकने वाली धनुष डोरी को धारण करने वाले चिल्ला को सदा चढ़ाए रखने वाला सैनिक, ।
'गोधा तस्मा अयथं कर्षदेतत्'
ऋ. १०.२८.१०
(४) गौओं का पालक ।
'गोधा कलका दार्वा घाटस्ते वनस्पतीनां'
वाज. सं.. २४.३५, तै.सं. ५.५.१५.१, मै.स. ३.१४.१६, १७५.१२, का.सं.(अश्व). ७.५.
(५) वाणी को धारण करने वाला (६) हाथ पर बांधा धर्म जिसे हस्तघ्न कहते हैं ।

गोधायस् – (१) गौओं को रोकने वाला पणि (२) ज्ञान वाणियों को रोकने वाला अज्ञान, (३) प्रकाश को रोकने वाला अज्ञानावरण ।
'गोधायसं विधनसै रदर्दः'
ऋ. १०.६७.७, अ. २०.९१.७, मै.सं. ४.१४.१०.२३०.१०, तै.ब्रा. २.८.५.१.
(४) गौ का अर्थ वाणी या जल है अतः गोधायस् का अर्थ हुआ- जलों का धारक मेघ -(५) वेदपति-परमात्मा -दया. ।

गोधुक् – (१) गौ दुहने वाला, (२) चिति रूप कामधेनु का दोहन करने वाला अभ्यासी आत्मा, (३) गोरूप आत्मा का दोहन करने वाला ।
'उपद्रव पयसा गोधुगोषम्'
अ. ७.७३.६, ऐ.ब्रा. १.२२.२, आश्व. श्रौ.सू. ४.७.४, शां. श्रौ.सू. ५.१०.१०
(४) गो + दुह् + क्विप् = गोदुह् । प्रथमा एक वचन में गोधुक् । सविता का विशेषण ।
'सुहस्तो गोधुक् उत दोहदेनाम्'
ऋ. १.१६४.२६, अ. ७.७३.७, ९.१०.४, नि. ११.४३.
इस माध्यमिका वाक् रूपी धेनु को दुहने में सधे हाथ वाला ग्वाला रूपी सविता (गोधुक्) दुहे (सविषत्) ।

गोधूम – गेहूं ।
'गोधूमाश्च मे मसूराश्च मे'
वाज.सं. १८.१२, तै.सं. ४.७.४.२, मै.सं. २.११.४, १४२.४, का.सं. १८.९.

गोन्योघाः – (१) वेग से जाने वाले अधीन जन समूह का स्वामी, (२) वाणियों को नम्रता से प्रवाहित करने वाला विद्वान् ।
'इन्दुर्वाजी पवते गोन्योघा'
ऋ. ९.९७.१०, साम. १.५४०, २.३६९, पंच ब्रा. १३.५.६,

गोपति – (१) गौओं का स्वामी, (२) पृथिवी का स्वामी, (३) इन्द्रियों का स्वामी, (४) इन्द्र का एक नाम ।
'यो अश्वानां यो गवां गोपतिर्वशी'
ऋ. १.१०१.४.
(५) किरणों का स्वामी सूर्य ।
(६) समस्त भूमियों ओर आज्ञा 'वाणियों का

स्वामी, (७) वेदवाणियों का पालक विद्वान् ।

'अदेदिष्ट वृत्रहा गोपतिर्गाः'

ऋ. ३.३१.२१

गोपद – (१) यज्ञस्थान-सा. ।

'जिगीषमाणमिषआपदे गोः'

ऋ.१.१६३.७, वाज.सं. २९.१८, तै.सं. ४.६.७.३, का.सं.(अश्व). ६.३.

गोपद या यज्ञ स्थान में सर्वत्र विजय के इच्छुक तुझे (२) पृथ्वी ।

गोपयत्य – वर्ण व्यत्यय से गोपायितव्य का गोपयत्य हो गया है । अर्थ है-(१) गोपायितव्य, रक्षणार्ह, रक्षणीय (२) रक्षणीय (३) जिस धन के लिए आप रक्षक हैं वह धन या आपका रक्षणीय धन ।

'तद्वार्यं वृणीमहे वरिष्ठं गोपयत्यम्
मित्रो यत् पान्ति वरुणो यदर्यमा'

ऋ. ८.२५.१३.

हे स्तोतागण, हम वरणीय (वार्यम्) उस प्रकार के धन वर्णन करते हैं (तत् वृणीमहे) जो सर्वोत्तम (वरिष्ठम्) एवं आपलोगों का रक्षणीय है (गोपयत्यम्) तथा जिस धन को सबके मित्रभूत मित्र, शत्रुओं के वारयिता तथा अर्यमा नामक तीन देवता पालते हैं ।

अन्य अर्थ – हम उस श्रेष्ठतम, अति विस्तृत तथा रक्षा के योग्य ज्ञान का वरण करते हैं (तत् वार्यं वरिष्ठम् गोपयत्यं वृणीमहे) जिसको मित्र, श्रेष्ठ तथा व्यापारी देवजन रक्षा करते हैं (यत् मित्रः वरुणः यत् अर्यमा पान्ति) ।

गोपरीणास् – भूमि का वाणी का महाबल

'इहत्वा गोपरीणासा'

ऋ. ८.४५.२४, अ. २०,२२.३. साम. २.८३

गोपरीणया – गो + परि + इन + असुक् । (१) पृथ्वी का राजा, (२) गोदुग्ध से मिश्रित, (३) पृथ्वी ।

गोपवन – (१) गो + पवन । वाणी द्वारा अपने पवित्र करने वाला, (२) गोप + वन । वाणी के पालक विद्वानों का सेवन करने वाला ।

'यं त्वा गोपवनो गिरा'

ऋ. ८.७४.११

(३) वाणियों ओर इन्द्रियों को वश में करने वाला ।

गोपा – गां पाति इति गोपा (जो गौ का पालन करता है वह गोपा है) । अर्थ (१) गोपायिता, आदित्य, (२) सभी इन्द्रियों का गोपायिता-आत्मा । गो शब्द इन्द्रिय, रश्मि, पृथवी, माध्यमिक वाक् (विद्युत्) और वाणी आदि के अर्थों में प्रयुक्त हुआ है । (३) गांपाति इति गोपाः (जो गौ का पालन करता है वह गोपा है । (४) पृथ्वी का पालक ईश्वर, ।

'इनो विश्वस्य भुवनस्य गोपाः'

ऋ. १.१६४.२१, नि. ३.१२.

समस्त भुवन का रक्षक या इन्द्रियों का स्वामी आत्मा ।

(५) पूषा-पूषा भी आदित्य का ही वाचक है ।

'पूषा त्वे तश्च्यावयतु प्रविद्वान्
अनष्टपशुः भुवनस्य गोपाः
स त्वैतेभ्यः परि ददत् पितृभ्यः
अग्निर्देवेभ्यः सुविदत्रियेभ्यः'

ऋ. १०.१७.३, अ. १८.२.५४, तै.आ. ६.१.१, नि. ७.९.

यह मंत्र मृतक के कान में कहा जाता है । भगवान् आदित्य (पूषा) तुझे इस लोक से उत्तम लोक में ले जाए (त्व इतः प्रच्यावयतु) । वह पूषा अव्यवहित ज्ञान एवं प्रत्यक्षदर्शी (विद्वान्) अतएव अविनश्वर पशु युक्त अर्थात् उसके रहते पशु नष्ट नहीं होते या निरन्तर प्रकाश युक्त (अनष्ट पशुः) तथा सम्पूर्ण प्राणियों का रक्षक (भुवनस्य गोपाः) है । वह तुझे दक्षिणायन चन्द्र लोक से उत्तरायण पितृलोक में ले जाय या वह अग्नि या अग्रणी परमेश्वर तुझे इन पितरों के पास ले जावें (स त्वा एतेभ्यः पितृभ्यः परि ददत्) तथा अग्निदेव सुन्दर ज्ञान या सुन्दर धन वाले देवों के पास तुझे प्रेषित करें (अग्निः सुविदत्रियेभ्यः देवेभ्यः) अर्थात् मृतात्मा देवलोक में जावें ।

(६) किरणों और भूमियों का रक्षक अग्नि ।

गोपाजिह्व – (१) भूमि, वेद और वेदवाणी की रक्षा करने वाली जिह्वा अर्थात् वाणी और आज्ञा को धारण करने वाला ।

'गोपाजिह्वस्य तस्थुषो विरूपा
विश्वे पश्यन्ति मायिनः कृतानि'

ऋ. ३.३८.९

गोपीथः – (१) सोमपान या दुग्धपान ।

'गोपीथाय प्रहूयसे'

ऋ. १.१९.१, साम. १.१६. कौ.सू. १२७.७, नि. १०.३६.

हे अग्ने ! तू सोम रस या दुग्ध के पान के लिए आहूत होता है ।

(२) वाणी का पान या पालन करने वाला ।

'उपहूतो मे गोपा उपहूतो गोपीथः'

अ. १६.२.३.

(३) गो + पीथ । वाणियों का पान करने का कार्य ।

'गोपीथेन् उरुष्यतम्'

ऋ. ५.६५.६

गोपुरोगव – गाय का दूध ।

'घृतमन्नं दुह्रतां गोपुरोगवम्'

अ. ८.७.१२

गोबन्धुः – पृथ्वी, वाणी, इन्द्रिय का बन्धु ।

'गोबन्धवः सुजातास इषे भुजे'

ऋ. ८.२०.८

गोभाक् – (१) इन्द्रियों पर प्रभाव करने वाली ओषधि ।

'गो भाज इत् किलासथ'

ऋ. १०.९७.५, वाज.सं. १२.७९, ३५.४, तै.सं. ४.२.६.२, मै.सं. २.७.१३,९३.१०., का.सं १६.१३.

(२) भूमि, सूर्य और रश्मियों का सेवन करने वाली ओषधि ।

गोभिः सन्नद्धा – स्नायु, श्लेष्मा, या ज्या से लिपटी इषु (वाणः) ।

'गोभिः संनद्धा पततिप्रसूता'

ऋ. ६.७५.११, वाज.सं. २९.४८, तै.सं. ४.६.६.४, मै.सं. ३.१६.३, १८७.२, का.सं. (अश्व). ६.१, नि. २.५,९.१९.

यह इषु स्नायु श्लेष्मा या ज्या से सन्नद्ध है और चलाए जाने पर गिरता है है (प्रसूता पतति) ।

गोमघा – द्वि.व. (१) गौ आदि धन से समृद्ध स्त्री पुरुष–अश्विद्वय ।

'अश्वामघा गोमघा वां हुवमे'

ऋ. ७.७१.१, कौ.ब्रा. २६.११.

गोमघाः – (ब.व.) भूमि के धन ।

'कदा गोमघा हवनानि गच्छाः'

ऋ. ६.३५.३

गोमत् – गोभिः सहितः गोमान् (गौओं के सहित गोमान् है । गो + मतुप् । अर्थ (१) गौओं का स्वामी , (२) सोमलता जिसमें गौ अर्थात् दुग्ध रहता है ।

(३) गो का अर्थ दुग्ध भी है अतः गोमत् का अर्थ दुग्धवान् भी है । (४) भूमि, वाणी एवं पशुओं से युक्त ।

'स नःस्तुतो वीरवत् धातु गोमत्'

ऋ. १०.१९०.८, ७.२३.६, अ. २०.१२.६, वाज.सं. २०.५४. का.सं. ८.१६, गो.ब्रा. २.४.२.

गोमत् रथ – बैलों वाला रथ ।

'आ गोमता नासत्या रथेन'

ऋ. ७.७२.१, ऐ.ब्रा. ५.१६.११, ७.९.२,कौ.ब्रा. २५.२, २६.८, आश्व.श्रौ.सू. ३.८.१, ८.९.२.

गोमत् व्रज – (१) गौवों से युक्त गोष्ठ (२) इन्द्रियों से युक्त गोष्ठ रूप शरीर ।

'अस्माँ अव मघवन् गोमति व्रजे'

ऋ. ८.७०.६, अ. २०.८१.२, ९२.२१, साम. २.२१३, मै.सं. ४.१२.४, १८९.२.

(३) उत्तम वाणियों से युक्त परम प्राप्तव्य ज्ञान मार्ग, (४) भूमियों से युक्त उत्तम राज्य ।

'आ गोमति व्रजे भजात्वं नः'

ऋ. ७.२७.१, साम. १.३१८, तै.सं. १.६.१२.१, मै.सं. ४.१२.३, १८५.१.

'कुवित् सस्य प्रहिव्रजं
गोमन्तं दस्युहा गमत्'

ऋ. ६.४५.२४, अ. २०.७८.३, साम. २.१०१८.

(४) वाणियों से युक्त सबसे आदरपूर्वक प्राप्तव्य गुरु, (५) रश्मि युक्त सूर्य (६) पृथिवी के स्वामी के अधीन रहने वाला ।

'आ देवयुं भजति गोमति व्रजे'

ऋ. ५.३४.५

गोमती – (१) प्रातः प्रभाकिरणों से युक्त उषा, (२) उत्तम पशु सम्पदा, (३) उत्तम इन्द्रिय शक्तियों से युक्त ।

'उषा अद्येह गोमत्यश्वावति विभावरि'

ऋ. १.९२.१४, साम. २.१०८२.

(४) किरणों वाली, (५) वेदवाणियों से युक्त ।

'उपायन उषसां गोमतीनाम्'

ऋ. २.२८.१

(६) उत्तम वाणियों से युक्त स्त्री

'अश्वावतीर्गोमतीर्न उषासः'

ऋ. ७.४१.७, ८०.३, अ. ३.१६.७ वाज.सं.

३४.४०, तै.ब्रा. २.८.९.९. आप.मं.पा. १.१४.७. (७) एक नदी, (८) वह नाड़ी जिससे आत्मा वाणी का उच्चारण करता है या इन्द्रिय शक्तियों को वश करता है ।

'त्वं सिन्धो कुभया गोमतीं क्रुमुम्'

ऋ. १०.७५.६

गोमतीइष् – (१) उत्तम वाणियों से युक्त इच्छा, (२) उत्तम भूमियों से युक्त अन्न, (३) दुग्ध, दधि घृतादि गोरस से युक्त अन्न ।

'उतनो गोमतीरिषः उतसातीरहर्विदा'

अ. ८.५.९

गोमयःवसु – वाङ्मय धन ।

'य उदाजन् पितरो गोमयं वसु'

ऋ. १०.६२.२

गोमातरः – (१) सूर्य, पृथिवी या तीव्र वेग से उत्पन्न होने वाले वायु गण (२) पृथ्वी माता के पुत्र देशभक्त ।

'गोमातरो यत् शुभयन्ते अञ्जिभिः'

ऋ. १.८५.३

जिस प्रकार सूर्य, पृथिवी या तीव्रगति से उत्पन्न होने वाले वायुगण (गोमातरः) प्रकाशित होने वाली विद्युतों से सुशोभित होते हैं (अञ्जिभिः शुभयन्ते)

गोमान् – (१) गो + मतुप् । गौवाला या गौ का स्वामी-ज.दे.श. (२) दुग्ध युक्त सोमरस । गौ का अर्थदुग्ध भी है अतः गोमान् सोम रस का विशेषण हुआ ।

'अनूपे गोमान् गोभिरक्षाः'

ऋ. ९.१०७.९, साम. २.३४८, नि. ५.३.

जल प्राय देश में गोस्वामी गायों के साथ रहता है ।

जल प्राय देश में गौओं के साथ सोमलता रहती है-सा.

(३) भूमि, गौ आदि सम्पदा, उत्तम वाणी और रश्मिरूप अधीन पुरुषों का स्वामी ।

'गोमाँ अग्नेऽविमाँ अश्वीयज्ञः'

ऋ. ४.२.५, तै.सं. १.६.६.४, ७.६.७,३.१.११.१, मै.सं. १.४.३, ५१.२, १.४.८, ५६.८, का.सं. ५.६, ३२.६,

गोमायु – (१) वेद वाणियों को उत्तमरीति से प्रवचन करने वाले में समर्थ, (२) गौ के समान बोलने वाला मेढ़क ।

'गोमायुरेको अजमायुरेकः'

ऋ. ७.१०३.६

गोमीद्या – इन्द्रियों की हिंसामयी प्रवृत्तियाँ ।

'स घाघते गोमीद्या गोगतीरीति'

अ. २०.१२९.१३

गोमृग – (१) नीलगौ, गवय

प्रजापतये च वायवे च गोमृगः'

वाज.सं. २४.३०, मै.सं. ३.१४.११, १७४.७.

(२) गवय के समान भोग्य लक्ष्मी के लिए प्राणपण से लड़ने वाला ।

'अश्व स्तूपरो गोमृगस्ते प्राजापत्याः'

वाज.सं. २४., तै.सं. ५.५.२३.१, मै.सं. ३.१३.२, १६८.१०.का.सं. (अश्व). ८.२.

गोपोष – गौ आदि पशुओं की सम्पत्ति ।

'गोपोषं च मे वीर पोषं च धेहि'

अ. १३.१.१२, आश्व. श्रौ.सू. १.१२.३७. आप. श्रौ.सू. ९.३.१, मा.श्रौ.सू. ३.१.२८.

गोपीथ– गौ आदि पशुओं की संपत्ति ।

गोरभस – (१) गौ के दुग्ध के साथ मिश्रित सोमरस, (२) सेनापति की आज्ञा से वेग से जाने वाला अश्वबल ।

'हरिं यत्ते मन्दिनं दुक्षन् वृधे
गोरभसमद्रिभिर्वाताप्यम्'

ऋ. १.१२१.८

याज्ञिक प्राण के बल से प्राप्त होने योग्य (वाताप्यम्) थका देने वाले, तृप्ति करने वाले (मन्दिनम्) हरे सोमरस को (हरिम्) गोदुग्ध के मिश्रित कर (गोरभसम्) पत्थरों से कूटकर रस प्राप्त करते हैं ।

हे सेनापते, तेरी वृद्धि के लिए (वृधे) वीरगण अति प्रसन्न करने वाले (मन्दिनम्) वेगवान् वायु से प्राप्त होने वाले (वाताप्यम्) अति शीघ्रगामी सेनापति की आज्ञा पर ही वेग से जाने वाले (गोरभसम्) वेगवान् अश्वबल को (हरिम्) मेघों के समान अचल महारथियों के द्वारा (अद्रिभिः) दोहता है ।

गोलत्तिका – (१) एक प्रकार की पशुजाति (२) गोरतिका गौ के स्वभाव की स्त्री । अन्न वस्त्र से ही सन्तोष करने वाली, (४) पशु के समान रतियात्र प्रज्ञा चित्रिणी जाति की स्त्री ।

'रोहित् कृण्डृणोची गोलत्तिका ता अप्सरसाम्'
वाज.सं. २४.३७, तै.सं. ५.५.१६.१, मै.सं. ३.१४.१८, १७६.७, का.सं. (अश्व). ७.६.

गोवयुः - (१) वेद वाणी का शरीर, (२) वाणियों का आच्छादन करने वाला ।
'बृहस्पति गोंव पुषो वलस्य'
ऋ. १०.६८.९, अ. २०.१६.९

गोविद् - गा भूमिं विन्दति येन (जिससे भूमिका का राज्य प्राप्त हो) रथ का विशेषण (२) सूर्यादि लोकों में व्यापक परमाणु, (३) इन्द्रिय रूप अश्वों से युक्त आत्मा (४) सुखकर इन्द्रियों को वश करने वाला शरीर ।
'स घा तं वृषणं रथम्
अधितिष्ठानि गोविदम्'
ऋ. १.८२.४, साम. १.४२४.
(४) ज्ञानमय परमेश्वर ।
(५) पृथिवी या गौ को प्राप्त कराने वाला ।
'गोविदम् वसुविदम्'
अ. २०.१२७.६, शां.श्रौ.सू. १२.१४.१.५.
(६) भक्तों की वाणी जानने वाला परमेश्वर ।
'पूर्भित्तमं मघवन्निन्द्र गोविदम्'
ऋ. ८.५३.१

गोविन्दुः - (१) वेद वाणियों और भूमियों को धारण करने वाला, (२) रश्मियों का धारक सूर्य (३) तेजस्वी ।
'गोविन्दुर्द्रप्स आयुधानि बिभ्रत्'
ऋ. ९.९६.१९; साम. २.५२७.

गोशफ - (१) छोटा सा स्थान (२) गौ का खुर ।
'गोशफे शकुलाविव
अ. २०.१३६.१, वाज.सं. २३.२८. वाज.सं. (का.) २३.३०, शा. श्रौ.सू. १२.२४.२.२. ला.श्रौ.सू. ९.१०.५.

गोशर्य- गौ अर्थात् धनुष की डोरी और शर्य अर्थात् बाण चलाने में कुशल जन, (२) भूमि का हिंसक कृषक जन, (३) गौ आदि पशुओं का हिंसक ।
'याभिर्गोशर्यमावतम्'
ऋ. ८.८.२०
(४) इन्द्र ।
'यथागोशर्ये असनोर्ऋजिश्वनि'
ऋ. ८.४९.१०

गोश्रीत - (१) भूमि पर आश्रित सूर्य द्वारा परिपक्व फलवान् वृक्ष, गोश्रीत से ही गाछ या गाछी शब्द बना है ।
(२) वाणियों द्वारा आश्रय करने या सेवने योग्य । (३) वाणी द्वारा स्तुति करने योग्य ।
'सीदन्तस्ते वयो यथा
गोश्रीते मधौ मदिरे विवक्षणे'
ऋ. ८.२१.५, साम. १.४०७.

गोषखा - (१) गोसखा, (२) समस्त पृथ्वी का मित्र, (२) वाणी का मित्र, विद्वान् ।
'स्तोता मे गोषखा स्यात्'
ऋ. ८.१४.१, अ. २०.२७.१, साम. १.१२२, २.११८४.
(३) इन्द्रियों का मित्र, (४) भूमि का मित्र, (५) गो सम्पदा का मित्र (६) धनुष की डोरी का मित्र अर्थात् शस्त्रादिसम्पन्न ।

गोषणाः - गां सनोति इति गोषणाः । गो + सन् + असुन् = गोषणाः । अर्थ-वेदवाणी को भजने वाला ।
'प्र ते बभ्रू विचक्षण
शंसामि गोषणो नपात्'
ऋ. ४.३२.२२
हे दूरदर्शी तथा वेदवाणी को भजने वाले राजन् (विचक्षण गोषणः), मैं तेरी विद्याधर्म को धारण करने वाली तथा अविद्या एवं अधर्म को हरने वाली अध्यापिका तथा उपदेशिका की प्रार्थना करता हूँ (ते बभ्रू प्रशंसामि) ।

गोषणिः - (१) गौ देने वाली, (२) पृथ्वी या वाणी देने वाली धी-बुद्धि ।
'उत नो गोषणिं धियम्'
ऋ. ६.५३.१०, साम. २.९४,३.

गोष्ठ - (१) वार्त्ता, बातचीत, चर्चा, (२) गोशाला ।
'स्वंगोष्ठमावतम् देवी दुर्ये'
वाज.सं. ५.१७, श.ब्रा. ३.५.३.१८.
(३) वेदवाणी, ज्ञानकथा और आत्मा का निवास स्थान हृदय ।
'निर्वो गोष्ठादजामसि'
अ. २.१४.२
(४) गौ या इन्द्रियों का निवास स्थान देह ।
'आ नो गोष्ठे रयिष्ठां स्थापयाति'
अ. ७.३९.१
गोशाला के अर्थ में-

'गावो गोष्ठादिवेरते'

ऋ. १०.९७.८, वाज.सं. १२.८२, तै.सं. ४.२.६.३, आप.श्रौ. सू. २१.२०.३, मा.श्रौ.सू. ७.२.७.

गोष्ठ्य- गोशालाओं के अध्यक्ष ।

'नमो व्रज्याय च गोष्ठ्याय च'

वाज.सं. १६.४४

गोषाः - (१) गौओं, भूमियों एवं वाणी का दाता, (२) सोम ।

'गोषा इन्दो नृषा असि'

ऋ. ९.२.१०, साम. २.३९५, का.सं. ३५.६.

(२) भूमि का भोक्ता या दाता

'गोषाः शतसा न रंहिः'

ऋ. १०.९५.३

गोषादी - गौओं पर बैठने वाली गुरुसल नामक पक्षी ।

'गोषादी देवानां पत्नीभ्यः'

वाज.सं. २४.२४

गोष्ठान् - (१) गौ आदि पशुओं का स्थान, (२) सत्पुरुषों के गमन करने या बैठने विचारने का स्थान ।

'व्रजं गच्छ गोष्ठानम्'

वाज.सं. १.२५,२६, तै.सं. १.१.९.१, २. मै.सं. १.१.१०, ५.१४.१६, ६.३, ४.१.१०, १२.१६, का.सं. १.९.,३१.३, आप.श्रौ.सू.. २.१.५, मा.श्रौ.सू. १.२.४.१.

गोषु अग्रियः - (१) इन्द्रियों में भी सर्वश्रेष्ठ आत्मा, (२) इन्द्रियों के विकास के भी पूर्व शरीर में व्याप्त होने वाला आत्मा ।

'अग्रेवाचो अग्नियो गोषु गच्छति'

ऋ. ९.८६.१२, साम. २.३८३.

गोषुयुध् - (१) गौओं के लिए युद्ध करने वाला, (२) राष्ट्र, राज्य या पृथिवी के लिए युद्ध करने वाला ।

गोषुयुधः - (ब.व.) (१) भूमियों पर आ पड़ने वाली मेघ की जल धाराएं, (२) रश्मियों या गति दायक शक्तियों के बल पर परस्पर मिलने वाले मात्र से प्राकृतिक परमाणु (३) वाणी मात्र से प्रहार करने वाली स्त्रियां ।

'गोषुयुधो न नि यवं चरन्तीः'

ऋ. १०.३०.१०,

गोषुयोधाः - (ब.व.) (१) भूमि प्राप्त करने के लिए युद्ध करने वाले (२) वेदादि वाणियों के विजयार्थ युद्ध करने वाले ।

'ये अस्माकं पितरो गोषु योधाः'

ऋ. ३.३९.४

गोषेधा - (१) गाय के समान कद में छोटी स्त्री ।

'गोषेधां विधमामुत'

अ. १.१८.४

गोसतमः - गोस + तमः । उत्तम ज्ञानवाणी, गवादि पशुओं और भूमियों का सुख सेवन करने वाला ।

'दिविष्याम पार्ये गोषतमाः'

ऋ. ६.३३.५

गोः अग्रा - (१) दधि दुग्धांदि मुख्य पदार्थ । गो शब्द मधुपर्क का वाचक है । जैसे-अर्हयेत् प्रथमं गवा ।

'सं सुष्टुती नसते सं गोअग्रया'

ऋ. ९.७१.८

गोः अंगाः - गौ, वाणी, योगादि उपाय या वेदमंत्र ।

'उत गोरङ्गैः पुरुधायजन्त'

अ. ७.५.५.

गोःचित् - (१) जगम पृथिवी के पदार्थों का दर्शन, (२) सर्व प्रेरक परम प्रभु का दर्शन, (३) गौ का दर्शन ।

'अरेपसः सचेतसः स्वसरे
मन्युमत्तमाश्चिते गोः'

अ. ७.२२.२, साम. १.४५८, आप.श्रौ.सू. २१.९.१५, मा.श्रौ.सू. ७.२.३.

गोःद्वे शते - (१) दो सौ गौएं, जीवन के दो सौ अयन-प्रति वर्ष दो अयन होने से १०० वर्ष में २०० अयन ।

'द्वे नप्तुः देववतः शते गोः'

ऋ. ७.१८.२२,

गोः निष्षिधम् - (१) वेदवाणी का निर्गमस्थान-परमेश्वर, (२) गतिमान संसार का प्रभव मूल कारण ।

'अन्तर्मतिश्चरति निष्षिधंगोः'

ऋ. ३.५५.८

गोःपद - (१) सूर्य का रूप, (२) वाणी का ज्ञान ।

'महद् विजज्ञे अक्षरं पदे गोः'

ऋ. ३.५५.१

गोःपर्व- (१) पशुओं का जोड़ गांठ ।

(२) मेघों का जोड़-दया. । गौ का अर्थ मेघ भी है ।

'गोर्न पर्व विरदा तिरश्चा'

ऋ. १.६१.१२, अ. २०.३५.१२, मै.सं. ४.१२.३, १८३.११, का.सं. ८.१६, नि. ६.२०.

हे इन्द्र ! तू मेघों को, जैसे हिंसक पशुओं के जोड़ो को काटते हैं (गौः पर्वन) उसी प्रकार काट डाल (विरदा) तिरछी चाल से (तिरश्चा) । अथवा, जैसे सूर्य मेघों के जोड़ों को विदीर्ण करता है (गौः पर्व न) उसी प्रकार हे राजन् , तू दुष्टों को विदीर्ण कर (विरदा) -(दया.)

गोःव्रजः - (१) गौओं की गोशाला, (२) पृथिवी का एकमात्र आश्रय, (२) अतिवेगवती विद्युत् का आश्रय मेघ, (४) पृथ्वी निवासि प्रजा का जीवनाश्रय, (५) वेदवाणी का आश्रय या प्राप्ति मार्ग आचार्य ।

'अलातृणो वल इन्द्र व्रजो गोः'

ऋ. ३.३०.१०, नि. ६.२.

गोः सनिः - (१) गवादि पशुओं को देने वाली भूमि, (२) ज्ञानवाणी को देने वाली वेदवाणी या स्मृति ।

'इडामग्ने पुरुदंसं सनिं गोः'

ऋ. ३.१.२३, ५.११, ६.११, ७.११, १५.७, २२.५, २३.५, साम. १.७६, वाज.सं. १२.५१,तैसं. ४.२.४.३, मै.सं. २.७.११, ९०.१, का.सं. १६.११ , श.ब्रा. ७.१.१.२७, आश्व.श्रौ.सू. ३.५.९, आप.मं.पा. १.७.२

गोः संगति - (१) ज्ञान वाणी की प्राप्त कराने वाला ।

'पृथुज्रयमश्विना संगतिं गोः'

ऋ. ४.४४.१, अ. २०.१४३.१

गोसखासोमः - (१) भूमि का मित्रभूत या किरणों के साथ मित्रवत वाष्प होकर ऊपर जाने वाला जल, (२) वाणी या वचन के अनुसार या भूमि वासी प्रजा का मित्रवत् उपकारक राष्ट्र ।

'तीव्रं सोमं पिबति गोसखायम्'

ऋ. ५.३७.४

(३) दुग्ध मिश्रित सोमरस

गोसनिवाक् - गौ अर्थात् वाणी, ज्ञान, आत्मा, परमेश्वर और वेदवाणी को भजन करने वाली वाक् ।

'गोसनिं वाचमुदेयम्'

अ. ३.२०.१०

गोह - गृह ।

'सदन्तो अद्रिमौशिजस्य गोहे'

ऋ. ४.२१.६

गोहा - गौ आदि पशु समूह का मारने वाला गो हत्यारा ।

'आरे गोहा नृहा वधो वो अस्तु'

ऋ. ७.५६.१७

गोह्रद - (१) गोरस, (२) उत्तम बल दायक रस ।

'उद्वो ह्रदमपिबज्जर्हृषाणः'

ऋ. १०.१०२.४

गौ - (१) ज्ञानेन्द्रिय ।

'गोभिरश्वेभिः वसुभिर्न्यृष्टिः'

ऋ. १०.१०८.७

(२) गम् + डो = गो । डित् प्रत्यय होने से गम् के म् का लोप । यागच्छतीतिगौः (जो चलती है वह गौ है) । अथवा गा + डो = गो । अर्थ पृथिवी, दूरगंता भवति (पृथ्वी दूर तक चली गई है) अथवा अस्यां भूतानि गच्छन्ति (इस पर जीव चलते हैं)

(३) पशु । गच्छति अभिमत देशे संचरणाय, (अभिमत स्थान में पशु चरने जाते हैं) । अथवा गच्छन्ति अस्या रस भाषाय यवसादयः (इसमें रसभाव में परिणत होने के लिए यवस आदि जरते हैं) ।

'गौ र्नादित्ये बली वर्दे
किरणक्रतु भेदयोः
स्त्री तुस्यात् दिशिभाव्यां
भूमौ च सुरभावपि ।
नृ स्त्रियोः स्वर्ग वज्राम्बु
रश्मि दृग्बाण लोमसु
अंशुं दुहन्तो अध्यासते गवि'

ऋ. १०.९४.९, नि. २.५

सोमरस गोचर्य में दुहते हुए जब स्थिर होते हैं । अथवा, ऋत्विक् सोमपात्र में सोमरस निकाल कर रखते हैं ।

(४) गो शब्द ऊपर की ऋचा में गोचर्म या (५) सोमपात्र के अर्त में प्रयुक्त हुआ है ।

गोचर्म में ही सोमरस रखा जाता होगा यहां गो शब्द गो + यत् से बना है । वेद में यत् का

लोप (६) दुग्ध ।

'आ धावता सुहस्त्यः
शुक्रा गृभ्णीत मन्थिना
गोभिः श्रीणीत मत्सरम्'

ऋ. ९.४६.४

ऐ शोभन हस्त वाले ऋत्विजो, आप शीघ्र आवें (आधावत) तथा इन सुन्दर मथनियों को ग्रहण करें । (शुक्रा मन्थिना गृभ्णीत) और दूध से मादक सोम को मिलावें । (गोर्भि मत्सरं श्रृणीत)

गौ के अर्थ में प्रयोग-

'अनूपे गोमान् गोभिरक्षाः'

ऋ. ९.१०७.७, साम. २.३४८, नि. ५.३.

सोमलता (गोमान्) जलप्राय देश में (अनूपे) गौओं के साथ रहता है (गोभिः अक्षाः)-सा. । जल प्राय देश में (अनूपे) गोस्वामी (गोमान्) गायों के साथ निवास करता है (गोभिः अक्षाः) । गौ का अर्थ दुग्ध भी है, अतः गोमान् सोम का विशेषण होकर दुग्धवान् अर्थ में लिया जा सकता है । सोम में दुग्ध सा पदार्थ रहता है । गोपीथ शब्द भी सोम रस के अर्थ में आया है) ।

(७) विद्युन्मयी माध्यमिका वाक् गौ है, मेघ का गर्तक माध्यमिका वाक् गौ है ।

'अयं सशिंक्ते येन गौरभीव्रता
मिमाति मायुं ध्वसनावधिश्रिता'

ऋ. १.१६४.२९, अ. ९.१०.७, तै.ब्रा. २.२.६०. नि. २.९.

(८) मेघ ।

'गौरमीमेत् अनुवत्सं मिषन्तम्'

ऋ. १.१६४.२८, अ. ९.१०.६, ऐ.ब्रा. १.२२.२, आश्व.श्रौ.सू. ४.७.५, नि. ११.४२

मेघ वृष्टिरूपी क्षीर के अभाव में निमीलिताक्ष भूलोकरूपी वत्स को शब्द करता है -(दया) माध्यमिक वाक् सूर्य को बछड़े के समान गौ के लिए तरसते देख भोंकती है -यास्क ।

(९) किरण ।

'यत्रगावो भूरि श्रृंगा अयासः'

ऋ. १.१५४.६, वाज.सं. ६.३, का.सं. ३.३, श.ब्रा. ३.७.१.१५, नि. २.७.

जहां पर अति दीप्तिमती तथा बहुत गति शील (अयासः) किरणें ।

(१) गमनस्वभावा । उषा का विशेषण ।

'प्रतिगावोऽरुषी र्यन्ति मातरः'

ऋ. १.९२.१, साम. २.११०५, नि. १२.७.

तब गमनस्वभाव, आरोचमाणा, सूर्यप्रकाश की निर्मात्री उषाएं सूर्य में ही तीन हो जाती हैं ।

(११) जल ।

'सुगान्पथो अकृणोत् निरजेगाः'

ऋ. ३.३०.१०, नि. ६.२.

तूने जल के निर्गमन के लिए सुगम मार्ग बनाए ।

(१२) आदित्य । गमयति रसान् (रसों को वह अपने प्रति खींचता है) अथवा गच्छति अन्तरिक्षम् (आकाश में चलता है) ।

'उतादः परुषे गवि सूरश्चक्रं
हिरण्ययम् न्यैरयद् रथीतमः'

ऋ. ६.५६.३.

प्रेरक परमात्मा तथा सर्वश्रेष्ठ नेतृत्व शक्ति वाला पर्व वाले या प्रकाश वाले आदित्य के लिए (परुषे गवि सुर्वणमय कालचक्र चलाता है ।

अन्य अर्थ - सर्वप्रेरक तथा रथिक श्रेष्ठ नेतृत्व जिसके सूर्य चन्द्र आदि सभी लोक रथ हैं (रथीतमःसूरः) वह पोषकपरमात्मा उस सुदूरवर्ती अहोरात्रादि पर्वों वाले या प्रकाशमान सूर्य में (परुषे गति) स्वर्ण सदृश चमकीले चक्र को (हिरण्यकं चक्रं) नियम से चला रहे हैं ।

(१३) चर्म, श्लेष्मा ।

'वनस्पते वीड्वङ्गोहिभूयाः
अस्मत्सखा प्रतरणः सुवीरः
गोभि सन्नद्धो असि वीडयस्वा
आ स्थाता ते जयतु जेत्वानि'

ऋ. ६.४७.२६, अ. ६.१२५.१, वाज.सं. २९.५२, तै.सं. ४.६.६.५, मै.सं. ३.१६.३, १८६.७, का.सं. (आश्व). ६.१, साम.मं.ब्रा. १.७.१६, नि. ९.१२.

रथ चर्म से अत्यन्त नद्ध रहता है । (गोभिः सन्नद्ध) तथा चक्के के अरों में श्लष्मा दी जाती है ।

काष्ठ निर्मित रथ, तू दृढ़ अंगों वाला (वनस्पते वीड्वंगः) हमारे अनुकूल (अस्मन्सखा) टीलों, गढ़े तथा रेतीले प्रदेशादिकों को कूदने पालने वाला (प्रतरणः) और सुवीर योद्ध से युक्त हो (सुवीरः हि भूयाः) तू चर्म और सरेश से मजबूत बंधा हुआ है (गोभिः सन्नद्धः असि) अतः युद्ध

में वीरता दिखा (वीडयस्व) जिससे तेरा अधिष्ठाता योद्धा (ते आ स्थाता) जेतव्य शत्रुओं को (जे त्वानि जयतु)

(१४) स्नायु के अर्थ में -

'सुपर्णं वस्ते मृगो अस्या दन्तो
गोभिः सन्नद्धा पतति प्रसूता
यत्रानरः संच विच द्रवन्ति
तत्रास्मभ्यमिषवः शर्म यंसन्'

ऋ. ६.७५.११, वाज.सं. २९.४८, तै.सं. ४.६.६.४, वाज.सं. २९.४८ , मै.सं. ३.१६.३,१८७.२, का.सं. (आश्व). ६.१, नि. ९.१९.

इषु स्नायु से वेष्टित् रहता है, तथा श्लेष्मा से संश्लेषित (गोभिः सन्नद्धा) इषु पंख धारण करता है (सुपर्णं वस्ते), इसका दांत पशु की हड्डी से बना रहता है या यह शत्रु की हड्डी से बना रहता है । या यह शत्रु को ढूंढकर उसी पर पड़ता है (अस्या दन्तो मृगः) यह स्नायु से भली प्रकार बंधा हुआ चलाऐ जाने पर (प्रसूता) शत्रु पर जहां योद्धा कभी समीप जाते गिरता है । और कभी बिखर जाते हैं । (यत्रानरः संद्रवन्ति च विद्रवन्ति च) उस युद्ध में (तत्रा) बाण हमें सहारा प्रदान करे (इषवः शर्म यंसन्) ।

(१४) ज्या के अर्थ में-

'वृक्षे वृक्षे नियतामीमा यद्गौः
ततो वपः प्रपतान् पूरुषादः
अथेदं विश्वं भुवनं भयात
इन्द्राय सुन्वद् ऋषये च शिक्षत्'

ऋ. १०.२७.२२, नि. २.६.

प्रत्येक धनुष में निबद्ध मौर्वी (वृक्षे वृक्षे गौः) इन्द्र की भुजा से आकृष्ट होकर शब्द करती है (मीमयत्), उस शब्द के बाद (ततः) पक्षी के समान चलने वाले बाण पुरुषों को भक्षण करने के निमित्त (पुरुषादः) शत्रुओं पर गिरते हैं (प्रपतान) इस प्रकार से इन्द्र के होने के निमित्त (अथ) यह समस्त भूतजात (इदं विश्वं भुवनम्) इन्द्र के लिए सोमयज्ञ करता हुआ (इन्द्राय सुन्वत्), द्रष्टा या ऋत्विज् को दक्षिणा देता हुआ (ऋषये च शिक्षत्) इन्द्र से डरता है (भयात्)

(१६) स्तोत्र ।

(१७) सुषुम्णा नाम्नी सूर्य की रश्मि । यह रश्मि किरण धारण करती है अतः गन्धर्व है (गंधरति) ।

'अत्राह गोरमन्वत
नाम त्वष्टुरपीच्यम्
इत्था चन्द्रमसो गृहे'

ऋ. १.८४.१५, अ. २०.४१.३, साम. १.१४७, २.२६५, मै.सं. २.१३.६, १५४.११, का.सं. ३९.११, तै.ब्रा. १.५.८.१, नि. ४.२५.

यहां (अत्र) चन्द्रमा के गृह में (चन्द्रमसो गृहे) निश्चय ही (ह) उस आदित्य से निकल कर गए हुए (इत्था त्वष्टुः अपीच्यम्) सुषुम्णा नामक सूर्य रश्मि के अवस्थान को (गोः नाम) आदित्य रश्मियां अपना अवस्थान मानती हैं (अमन्वत)।

(१८) चन्द्रमा ।

अथापि अस्य एको रश्मिः चन्द्रमसं प्रति दीप्यते (सूर्य की रश्मि ही चन्द्रमा में प्रतिफलित होती है) ।

'सुषुम्णःसूर्यरश्मिचन्द्रमा गन्धर्वतस्य नक्षत्राणि अप्सरसो भेकुरयो नाम । स न इदं ब्रह्मं क्षत्रं पातु तस्मे स्वाहा वाट् ताभ्यः स्वाहा ।'

वाज.सं. १८.४०

सभी प्राणियों को सुखद सुषुम्णा नाम्नी सूर्य की रश्मि चन्द्रमा में जाकर चन्द्रमा तथा गन्धर्व कहलाती है । उस चन्द्रमा नामक गन्धर्व के प्रकाशमान नक्षत्र ही अप्सराएं हैं (भेकुरयः नक्षत्राणि रूपी अप्सरसः नाम) । उन नक्षत्ररूपी अप्सराओं को स्वाहा । और वह चन्द्रमा रूपी गन्धर्व हमारे इस ब्राह्मण और क्षत्रिय की रक्षा करें (स न ब्रह्म क्षत्रं पातु) । उस चन्द्रमा रूपी गंधर्व के लिए स्वाहा वषट् (तस्मै स्वाह वषट्) ।

अन्य अर्थ - उत्तम सुख देने वाली सुषुम्णा नामक सूर्य रश्मि को धारण करने वाला चन्द्रमा गन्धर्व है । उस चन्द्रमा से सम्बन्ध रखने वाले नक्षत्र अन्तरिक्ष में घूमने के कारण अप्सरसः हैं जो प्रकाश युक्त होने के कारण भेकुरि कहे जाते हैं । यह चन्द्रमा हमारे ब्रह्म तेज और क्षात्र तेज की रक्षा करें । अपने कार्यों को चलाने के लिए (वाट्) हम उस धनुष का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करे (ताभ्यः स्वाहा) और उन अप्सरा नक्षत्रों का भी पूर्ण ज्ञान प्राप्त करें ।

(१९) ब्रह्मशक्ति, (२०) उषा, (२१) चेतना शक्ति

'पदावत्सं बिभ्रती गौरुदस्थात्'

ऋ. १.१६४.१६, अ. ९.९.१७,१३.१.४१.

(२२) व्यापक ब्रह्मशक्ति

'गौरीर्मिमाय सलिलानितक्षती'

ऋ. १.१६४.४१, अ. ९.१०.२१, तै.ब्रा. २.४.६.११, ऐ. आ. १.५.३. ८, तै.आ. १.९.४,नि. ११.४०.

आधुनिक अर्थ - (१) गौ (२) पशु (३) गौ का दूध आदि, (४) नक्षत्र, (५) आकाश, (६) इन्द्र का वज्र, (७) प्रकाश किरण, (८) मोती (९) स्वर्ग, (१०) बाण, (११) वाणी, (१२) सरस्वती, (१३) माता, (१४) कम्पास का चतुर्थांश, (१५) आंख, (१६) सांढ़, बैल, (१७) शरीर का बाल, (१८) इन्द्रिय (१९) मेषराशि, (२०) सूर्य, (२१) नौ की संख्या, (२२) चन्द्रमा, (२३) अश्व अंग्रेजी का cow शब्द गौ का ही बिगड़ा रूप है ।

गौः चन्द्रमाः - चलने वाला चन्द्रमा ।

'अत्राह गोरमन्वत
ना त्वष्टु रपीच्यम् ।
इत्था चन्द्रमसा गृहे'

ऋ. १.८४.१५.

गौरः - (१) गौर मृग । रुच् + रन् = गौर । रच् का गौ आदेश ।

'यथा गौरो अपाकृतम्'

ऋ. ८.४.३, साम. १.२५२, २.१०७१, आश्व श्रौ.सू. ७.४.४.

जैसे प्यासा गौर मृग जलपूर्ण तालाब को जाता है ।

(२) गौ + र । केवल वाणियों में रमण करने वाला विद्वान् (३) जाज्वल्यमान (४) इन्द्रियों में रमण करने वाला पुरुष प्राण ।

'गौराद् वेदीयां अवपानमिन्द्रः'

ऋ. ७.९८.१, अ. २०.८७.१

(५) खेती को हानि पहुंचाने वाला मृग ।

'गौरं ते शुगृच्छतु'

वाज.सं. १३.४८, मै.सं. २.७.१७,१०२.१४, का.सं. १६.१७, श.ब्रा. ७.५.२.३३.

(६) गौओं के प्रति अनुराग आदि करने वाला वृषभ पशु (७) इन्द्रियों में रमण करने वाला जीव (८) गौ + र । भूमि में रमण करने वाला प्रजाजन, (९) पृथ्वी पर का जलाशय समुद्र, (१०) एक मृगा की जाति ।

'मित्राय गौरान्'

वाज. सं. २४.२८, मै.सं. ३.१४.१०,१७४.५.

(११) गौरवर्ण वाला । आधुनिक अर्थ-श्वेत, गोरा, चमकीला पीतवर्ण लिए हुआ, पवित्र, स्वच्छ, श्वेत तेलहन, एक प्रकार का भैंसा, चन्द्रमा, एक प्रकार का मृग, कमल की पंखुड़ी, सुवर्ण सुनहला रंग ।

गौरगवय - हरिण और नील गौ जाति का एक स्श्वेत पशु ।

'विदद् गौरस्य गवयस्य गोहे'

ऋ. ४.२१.८

गौरमृगः - गोषु वाणीषु भूमिसु । धनेषु वा रमते इति गौरः ।

(१) वाणियों में रमण करने वाला पुरुष, (२) अन्तः करण को शुद्ध करने में समर्थ पुरुष, (३) गौओं और भूमियों में रमण करने और धनादि को खोजने वाला पुरुष, (४) एक जाति का मृग

'क्रोष्टा मायोरिन्द्रस्य गौरमृगः'

वाज.सं. २४.३२; मै.सं. ३.१४.१३, १७५.४.

गार्यः - किरणें ।

'स्वादोरित्था विषूवतो
मध्वः पिबन्ति गौर्यः'

ऋ. १.८४.१०, अ. २०.१०९.१, मै.सं. ४.१४.१४, २३८.५,

सूर्य की किरणें (गौर्यः) स्वादिष्ट तथा सूक्ष्म होकर ऊपर फैलने वाले (विषूवतः) वाप्यमय जल को (मध्वः) पीती हैं (पिबन्ति) ।

गौरी - (१) गौर वर्ण वाली । रुच् (ज्वलनार्थक) + रन् = गौर (रुच् का गौ आदेश) । अर्थ-जो चमके या जाज्वल्यमान हो । गौर + ङीष् = गौरी । अर्थ चमकने वाली ।

(२) रुच् + घञ् + ङीष् = गौरी । दीप्तिमती माध्यमिका वाक् (३) विद्युत्

'गौरीर्मिमाय सलिलानि तक्षती
एकपदी द्विपदी सा चतुष्पदी
अष्टापदी नवपदी बभूवुषी
सहस्राक्षरा परमे व्योमन्'

ऋ. १.१६४.४१, अ. ९.१०.२१, तै.ब्रा. २.४.६.११,

तै.आ. १.९.४, नि. ११.४०.

वृष्टिजल करती हुई माध्यमिका वाक् गौरी है। यह सब कुछ बनाती है। यह काम वह या तो इन्द्र या या वायु के साथ होकर एक ही अधिष्ठान से (एकपदी) या इन्द्र और आदित्य के साथ मेघ और अन्तरिक्ष नामक अधिष्ठान पाकर (द्विपदी) या चारों दिशाओं के ही चार पैर बनाकर (चतुष्पदी) या चारों दिशाओं एवं चारों उपदिशाओं को ही आठ पैर बना (अष्टापदी) या आठों दिशाओं एवं ऊपर की दिशा या सूर्य रूपी नव पैरों से युक्त हो (नवपदी) एकात्मभूता होकर इस उत्कृष्ट व्योम में (परमे व्यामन्) बहुजल युक्त (सहस्राक्षरा) होकर सलिलनिर्माण द्वारा सब कुछ बनाती है।

जल निर्मित कर सारी सृष्टि रची गई है। विद्युत से ही जल बरसता है। अतः गौरी ही जल बरसाने वाली देवी है। वृष्टि द्वारा जल उत्पन्न करती हुई विद्युत् सस्यादि का निर्माण करती है (सलिलानि तक्षती गौरीः मिमाय) वह विद्युत् मेघों में रहने से एक स्थान वाली, आठों दिशाओं में रहने से आठ स्थानों वाली है।

(४) सूर्य की श्वेत किरणें, (५) पृथ्वी पर रमण करने वाली भुजा, (६) ज्ञान वाणियों में रमण करने वाली आत्म साधक प्रजा, (७) पार्वती

आधुनिक अर्थ – (१) पार्वती, (२) अष्ट वर्षीया कन्या, (३) कुमारी कन्या जिसे ऋतु न होती हो, (४) गौरोवर्ण की स्त्री, (५) पृथ्वी, (६) एक पीला रंग (गोचन) (७) वरुण की स्त्री, (८) मल्लिका लता (९) तुलसी का पौधा (१०) मज्जिष्ठा का पौधा (११) हरिद्रा (हल्दी)

ग्लौ – (१) हृदय की एक विशेष नाड़ी जिससे हर्ष क्षय, शोक, पीड़ा आघात एवं संवेदना, का आदि अनुभव किया जाता है।

'ग्लोभिः गुल्मान्'

वाज.सं. २५.८, मै.सं. ३.१५.७, १७.९.१३.

(२) व्रण की पीड़ा।

'ग्लौरितः प्र पतिष्यति'

अ. ६.८३.३

घ

घ, घा – (१) एक अनर्थक पादपूरक अव्यय, (२) 'भी' (अपि) के अर्थ में भी प्रयुक्त। घ का घा आदेश 'ऋचि तु नु घ' (पा ६.३.१३३) से ही जाता है।

'अश्रवं हि भूरिदावत्तरा वां
विजामातु रुत वाघा स्यालात्'

ऋ. १.१०९.२, तै.सं. १.१.१४.१, का.सं. ४.१५, नि. ६.९.

हे इन्द्राग्नी! अथवा, अध्यापक तथा उपदेशक मैं ने तुझे चूंकि क्रीतापति जामाता से या बहन को दान देने वाले साले से भी बढ़कर दानी होते सुना है।

यहां घा का प्रयोग अनर्थक है।

(३) कभी अर्थ में

'स घा वीरो न रिष्यति'

ऋ. १.१८.४

वह वीर कभी नष्ट नहीं होता।

(४) हो, वैसा ही अर्थों में।

'स घेत् अग्ने भवसि सत्समिद्धः'

ऋ. ३.१८.५

घन – (१) शत्रुओं को मारने में समर्थ।

'घनो वृत्राणामभवः'

ऋ. १.४.८, अ. २०.६८.८

(२) हनन करने वाले शतघ्नी भुसण्डी, असि, चाप, बाण आदि अस्त्र।

'वज्रं घना ददीमहि'

ऋ. १.८.३, अ. २०.१७.१९.

(३) घन जिस पर लोहा आदि पीटा जाता है।

'घनेव विष्वक् विजहि अराव्णः'

ऋ. १.३६.१६.

घनाघनः – (१) शत्रुओं का नाश करने वाला।

'घनाघनः क्षोभणः चर्षणीनाम्'

ऋ. १०.१०३.१, अ. १९.१३.२, साम. २.११९९, वाज.सं. १७.३३, तै.सं. ४.६.४.१, मै.सं. २.१०.४, १३५.९, का.सं. १८.५,

घनिघ्नत् – (१) निरन्तर नष्ट करता हुआ।

'विश्वा घनिघ्नत् दुरिता पवस्व'

ऋ. ९.९०.६

घसत् – (१) ग्रस जाने वाला, ग्रास बना डालने

वाला (२) पिवतु घसतु । घस्तृधातु अदन अर्थ में आया है ।

'इतश्च लोपः परस्मैपदेषु'

(पा. ३.४.९७) से इ का लोप

'घसत् त इन्द्र उक्षणः'

ऋ. १०.८६.१३, अ. २०.१२६.१३, नि. १२.९, पा. ३.४.९७, से इ क लोप ।

घर्म - (१) हृ (हरण करना) + मक् = हर्म- घर्म, अथवा दीप्तिर्थक) + मक् = घर्म । अर्थ-हरण शील या दीप्ति करने वाला आदित्य (रसानां हर्ता हरणः वा.)

'सृक्वाणं घर्ममभि वावशाना'

ऋ. १६४.२८, अ. ९.१०.१६, नि. ११.४२.

नीचे गिरते सूर्य की बार बार कामना करती हुई यास्क ।

चलते हुए रस हरण शील भूलोक को प्यार करती हुई माध्यमिका वाक् -(दया.) (२) घरण (घड़े के आकार की कड़ाही) (३) प्रवर्ग नामक कर्म में लाए जाने वाला महावीर पात्र जिसमें दूध औंटा जाता है । (प्रवर्ग्याख्यकर्मोपयुक्त महावीर पात्रम्) ।

'नाशिरं दुह्रे न तपन्ति घर्मम्'

ऋ. ३.५३.१४, नि. ६.३२.

वे कीकट (अनार्य देश वासी) न तो सोममिश्रण योग्य दूध (आशिरम्) दुहते हैं और न महावीर पात्र या यज्ञकुण्ड को दुग्ध से दीप्त ही करते हैं (४) घाम, धूप, ।

'घर्मस्तेदेभिर्द्रविणं व्यानट्'

ऋ. १०.६७.७, अ. २०.९१.७, मै.सं. ४.१४.१०.२३०.११, तै.ब्रा. २.८.५.२.

(५) विद्युत् ।

'अभीद्धो घर्मस्तदु षु प्र वोचम्'

ऋ. १.१६४.२६, अ. ७.३७.७, ९.१०.४, नि. ११.४३.

अभिदीप्त मध्यमस्थानीय विद्युत् (अभीद्धः घर्मः) जल बरसावे इसीलिए मैं (तद् उ) यह स्तुति करता हूँ। (६) प्रशस्त यज्ञ करने वाला -(दया.)

आधुनिक अर्थ - (१) गर्मी धूप, (२) ग्रीष्म ऋतु, (३) स्वेद, पसीना (४) कड़ाही जिसका मुख घड़े के समान होता है ।

घर्मसद् - (१) यज्ञगत हवि, (२) यज्ञवासी मेधावी पितर, (३) तपस्वीगुरुजन । (४) सूर्य लोक में रहने वाले पितर

'सत्यैः कव्यैः पितृभिः धर्मसद्भिः'

ऋ. १०.१५.९, अ. १८.३.४७, मै.सं. ४.१०.६, १५८.१, तै.ब्रा. २ .६.१६.२.

पितृ दैवत्य कव्यों से तथा यज्ञगत हवियों से या यज्ञवासी, मेधावी पितरों से या सूर्यलोक वासी पितरों से या तपस्वी गुरुजनों के साथ हमारे निकट आइए ।

(५) तेजः सम्पन्न यज्ञ में बैठने वाला ।

घर्मस्तुभ्ः - (१) यज्ञ की स्तुति करने वाला (२) तेज की स्तुति या उपासना करने वाला

'घर्मस्तुभे दिव आपृष्ठयज्वने'

ऋ. ५.५४.१

घर्महोमः - (१) प्रदीप्त यज्ञ, (२) युद्ध यज्ञ

'घर्मः समिद्धोअग्निनायं होमः सहस्रहः'

अ. ८.८.१७

घर्मस्वरस् - (१) बहते जलों से पूर्ण नदी (२) अतिदीप्त उज्ज्वल स्वर से प्रसन्नता युक्त ।

'घर्मस्वरसो नद्यो अपव्रन्'

ऋ. ४.५५.६

घर्मस्वेद - पसीना बहाने वाला ।

'घर्मस्वेदेभिर्द्रविणं व्यानट्'

ऋ. १०.६७.७, अ. २०.९१.७, मै.सं. ४.१४.१०, २३०.११, तै.ब्रा. २.८.५.२.

घर्मस्वेदिन्- (१) घर्म अर्थात् घाम या यज्ञ के परिश्रम से जिसे पसीना हो । (२) घाम से जिसे स्वेद हुआ हो, (३) दीप्त आगमन वाला, (४) यज्ञ में भाग लेने वाला, (५) यज्ञ में जाने वाला ।

घर्मा- (द्वि.व.) (१) तेजस्वी अश्विद्वय (२) तेजस्वी पति पत्नी ।

'घर्मेव मधु जठरे सनेरू'

ऋ. १०.१०६.८

घर्म्येष्ठा- (१) तेजस्वी रूपों में स्थित अश्विद्वया या स्त्रीपुरुष ।

'वाजेवोच्चा वयसा घर्म्येष्ठा'

ऋ. १०.१०६.५

घ्रन् - (१) घाम (२) ग्रीष्म काल (३) प्रचण्ड सूर्य ।

'न घ्रंस्तताप न हिमो जघान'

अ. ७.१८.२.

घ्रंसः- ग्रह् + घ्रंस = ष् (ग् का घ, नुम् का आगम, ह् का पृषोदरादिवत्)। अस्मिन् अवश्याया रसाः आदित्येन गृह्यन्ते (दिन में आदित्य के द्वारा ओस के रस गृहीत किए जाते हैं) । अर्थ है- (१) दिन । (२) दाहक गर्मी ।

'हिमेनाग्नि घ्रंसमावारयेथाम्'

ऋ. १.११६.८, नि. ६.३६.

हे अश्विद्वय ! या सूर्य और पृथिवी तुम दोनों ने ग्रीष्म में ठंडे जल से अग्नि की तरह दाहक गर्मी को शान्त किया ।

'हिमं घ्रंस च रोहितः'

अ. १३.१.४६

आधुनिक अर्थ - (१) दिन (२) हानिप्रद सूर्य ।

'यो अस्मै घ्रंस उतवाय ऊधनि
सोमं सुनोति भवत द्युमांअह'

ऋ. ५.३४.३, नि. ६.१९.

जो इस इन्द्र के लिए दिन में या जो रात में सोमरस अभि सुत करता है ।

घा - निश्चय ही, ही ।

'न घा त्वद् रिग् अपवेति मे मनः'

ऋ. १०.४३.२, अ. २०.१७.२

'न घा वसु र्नियमते'

ऋ. ६.४५.२३, अ. २०.७८.२, साम. २.१०१.७

घातुक - जीवन का नाशक मृत्यु ।

'वत्सांश्च घातुको वृकः'

अ. १२.४.७

घास - (१) घास (२) भोजन करना ।

'होता यक्षदश्विनौ छागस्य हविज आत्तामद्य मध्यतो भेद उद्भृतं पुरा द्वेषोभ्यः पुरा पौरुषेय्या गृभो घस्ता नूनं घासे अज्राणां यवस प्रथमानां सुमत्क्षराणां शतरुद्रयाणामग्निष्वात्तानां पीवोपवसनानां पार्श्वतः श्रोणितः शितामत उत्सादतोऽङ्गादङ्गादवत्तानां करत एवाश्विना जुषेतां हविः'

वाज.सं. २१.४३, मै.सं. ४.१३.७, २०८.३, तै.ब्रा. ३.६.११.१.

घासि - (१) घास, (२) भोजन के अन्न ।

'यच्चपपौ यच्चघासिं जघास'

ऋ. १.१६२.४, वाज.सं. २५.३८, तै.सं. ४.६.९.१, मै.सं. ३.१६.१, १८३.९, का.सं. (आश्व). ६.५.

घ्रात - गन्धादि को भोग करा अनुभवी, सुगन्ध प्रेमी

'गन्धाय स्वाहा घ्रातायस्वाहा'

वाज.सं. २२.७, तै.सं. ७.१.१९.१, मै.सं. ३.१२.३, १६०.१३, का.सं. (आश्व.) १.१०.

घृ - क्षरण, सिञ्चन तथा दीप्ति अर्थों में प्रयुक्त धातु । घृ + क्त से घृत शब्द बना है, यह ढरकता है (क्षरति) । जल का पर्यायवाची भी घृत शब्द है क्योकि जल पृथ्वी सींचता है ।

घृण - चमकने वाला ।

'आयो घृणे न ततृषाणो अजरः'

ऋ. ६.१५.५, वाज.सं. १७.१०, तै.सं. ४.६.१.२, मै.सं. २.१०.१, १३१.१६, का.सं. १७.१७.

घृणा- घृ (क्षरण) धातु से सम्पन्न, (१) दीप्ति का क्षरण, (२) दीप्ति ।

'परींघृणा चरति तित्विषेशवः'

ऋ. १.५२.६

तब दीप्ति सर्वत्र फैलती है (घृणा परिचरिति) और उस प्रबल बल (शवः) भी प्रकाश के लिए होता है अर्थात् चमकता है (तविषे) ।

घृणिः - (१) घृ (क्षरण, दीप्ति और सिञ्चन अर्थों में) + निन् = घृणि । घृणु से भी घृणि बना है । निघण्टु में घृणि का पाठ दीप्ति कर्मों में है । इस का अर्थ क्रोध भी है ।

(२) घर्षण, संघर्ष, (३) परस्पर प्रतिस्पर्धा ।

'घृषौ मीढ़ ऋचीषम'

ऋ. ६.४६.४

(४) सूर्य ।

'शं वातः शं हिते घृणिः'

वाज.सं. ३५.८, श.ब्रा. १३.८.३.५, तै.आ. ६.७.३, ९.२.

'घृणीव छाया मरपा अशीया'

ऋ. २.३३.६

घृणीवान् - (१) सूर्य, (२) सूर्यवत् तेजस्वी ।

'उष्ट्रो घृणीवान्वार्ध्रीनसस्ते मत्यै'

वाज.सं. २४.३९, मै.सं. ३.१४.२०, १७७.१.

घृतनिर्णिक् - (१) जल को पवित्र करने वाला -अग्नि ।

'घृतनिर्णिक् ब्रह्मणे गातुमेरय'

ऋ. १०.१२२.२, कौ.ब्रा. २२.९.

(२) दीप्ति युक्त स्वरूप वाला, (३) जल बरसाने वाला, (४) जलों में तेजस्वी विद्युत (५) सेवन करने योग्य वीर्य को पुष्ट करने वाला, वीर्य को

पुष्ट करने वाला, परिपक्व वीर्य वाला पुरुष, (६) दीप्ति स्वरूप या घृत से अति पवित्र स्वरूप वाला अग्नि, परमेश्वर ।

'शोचिष्केशो घृतनिर्णिक् पावकः'

ऋ. ३.१७.१, तै.ब्रा. १.२.१.११, आप.श्रौ.सू. ५.६.३.

'दीदा या निध्मो घृतनिर्णिगप्सु'

ऋ. २.३५.४, तै.सं. २.५.१२.२, मै.सं. ४.१२.४, १८८.६.

घृतपदी – (१) तेजोमय स्वरूप वाली, ज्ञानमयी, पद पद पर घृत के समान पुष्टिकारक एवं बुद्धि वर्द्धक पदार्थ को उत्पन्न करने वाली-इडा, (२) कामधेनु, (३) बुद्धि ।

'घृतपदी शक्वरी सोम पृष्ठा'

ऋ. खि. ९.८६.१, अ. ७.२७.१

घृतप्रतीक – (१) घी को प्राप्त होकर चमकने वाला अग्नि, (२) ज्ञान का प्रकाशक तेजस्वी, (३) अविछिन्न धारा से बरसने वाला ।

'घृतप्रतीकं व ऋतस्य धूर्षदम्
अग्निं मित्रं न समिधान ऋञ्जते'

ऋ. १.१४३.७, तै.ब्रा. १.२.१.१२, आप.श्रौ.सू. ५.६.३.

घृतप्रतीका – (१) स्नेह से सबकी उत्तम प्रतीत होने वाली स्त्री, (२) उषा (३) प्रज्ञा ।

'घृतप्रतीकामुषसं न देवीम्'

ऋ. ७.८५.१

घृतप्रसत्तः – (१) घृत में तीव्र हुआ अग्नि, (२) अर्घ्य, पाद्य, आचमनीय आदि जलों द्वारा उत्तम पद पर प्रतिष्ठित ।

'घृत प्रसत्तो असुरः सुशेवः'

ऋ. ५.१५.१

घृतप्रुष् – (१) घृत दुग्धादि के साथ अन्नादि सेवन करने वाला (२) विधिपूर्वक सेवन करने वाला (२) विधि पूर्वक जलों और ज्ञान द्वारा स्नात् स्नातक विद्वान्, (३) जलों का सेचन करने वाला ।

'वरे यवो न मर्या घृतप्रुषः'

ऋ. १०.७८.४

(४) घृतेन तेजसा पुट् पूर्णः

(घृत से युक्त – (दया.) (५) उदक बरसाने वाला, (६) दीप्तियुक्त ज्ञान ।

'घृतप्रुषा मनसा हव्यमुन्दन्'

ऋ. २.३.२, वाज.सं. २०.४६, मै.सं. ३.११.१, १४१.१, का.सं. ३८. ६, तै.ब्रा. २.६.८.४.

घृतप्वः – घृत अर्थात् तेज से पवित्र करने वाले सूर्य आदि पदार्थ । एक वचन में घृतम् ।

'घृतेन नो घृतप्वः पुनन्तु

ऋ. १०.१७.१०, अ. ६.५१.२, वाज.सं. ४.२, तै.सं. १.२.१.१, मै.सं. १.२.१, १०.१, ३.६.२, ६१.८, का.सं. २.१, श.ब्रा. ३.१.२.११.

घृतपू – (१) घृत, जल या स्नेह से पवित्र करने वाला, (तेजोमय ज्ञान से पवित्र करने वाला) ।

घृतपृचा – स्नेहपूर्वक एक दूसरे से सम्बद्ध द्यावापृथिवी ।

'घृतश्रिया घृतपृचा घृतावृधा'

ऋ. ६.७०.४, ऐ.ब्रा. ५.२.९.

घृतपृष्ठ – (१) अत्यन्त प्रदीप्त तेजो मय, (२) जलमय प्रकृति तत्व, (३) जल को पीठ पर लिए भूलोक (४) मेघ, (५) विद्युत् रूप अग्नि –(दया.)

'तृतीयोभ्राता घृतपृष्ठो अस्य'

ऋ. १.१६४.१, अ. ९.९.१, नि. ४.२६.

घृतेनस्पृष्टः (घृत से छुलाया हुआ) अथवा आहुति लक्षणं घृतं पृष्टे यस्य (आहुतिरूप घृत जिसके पृष्ट पर हो । अर्थ है–अग्नि जो पृथिवी पर रहता है–आहिताग्नि ।

इस आदित्य का तृतीय भ्राता पृथ्वी स्थायी अग्नि है ।

घृतपृष्ठाः स्वर्गाः – (१) घृतवान् पुष्टि कारक पदार्थ, (२) जल पूर्ण तल वाले सुखमय प्रदेश, (३) घृतपृष्ठ स्वर्ग ।

'प्रतीमां लोका घृतपृष्ठाः स्वर्गाः'

अ. १८.४.५

घृतम् – घृ (क्षरणदीप्तयोः) गृधृ (सेचने) + क्त = घृत । जिघर्ति सञ्चलति दीप्यतेवा तत् घृतम् (जो महकता है, सञ्चारण करता है या दीप्त होता है वह घृत है । अर्थ (१) घृत (२) उदक् (३) सर्पिः (४) प्रदीप्त–दया. (५) अन्न का रस, (६) रेतस् का सेचन, (७) उल्व, (८) अन्तरिक्ष का जल ।

'घृताची नाम वा असि'

अ. १९.४८.६

घृत के अर्थ में ।

'तुभ्यं श्चोतन्त्यधिगो शचीवः

स्तोकासो अग्ने मेदसो घृतस्य ।'

ऋ. ३.२१.४, मै.सं. ४.१३.५, २०४.१४. का.सं. १६.२१, ऐ.ब्रा. २.१२.१४, तै.ब्रा. ३.६.७.२.

हे कर्मिष्ठ, सतत गमनशील अग्ने ! तेरे लिए मेदा और घृत के कण टपक रहे हैं ।

जल के अर्थ में -

'घृतं दुहाते सुकृते शुचिव्रते'

ऋ. ६.७०.२.

सुन्दर कर्मों वाली द्यौ और पृथिवी यजमान के लिए सुन्दर निर्मित शस्यादि समृद्धि के हेतु जल देता है (घृतं दुहाते) । पुनः-

'घृतस्य नाम गुह्यं यदस्ति'

ऋ. ४.५८.१, वाज.सं. १७.८९, मै.सं. १.६.२, ८७.१४, का.सं. ४०.७, तै.आ. १०.१०.२, आप.श्रौ.सू. ५.१७.४, महा.ना.उप. ९.१२.

जिन औषधियों में जल का गुप्त रूप से वास है ।

आधुनिक अर्थ- घी, मक्खन, जल ।

घृतयोनि - क्षरण शील संसार का उत्पत्ति स्थान-विष्णु ।

'घृतं घृतयोनेपिब'

ऋ. ७.२६.३, वाज.सं. ५.३८.४१, वाज.सं. (का.) २.६.८, तै.सं. १.३.४.१, मै.सं. १.२.१३, २२.९, १.२.१४, २३.४, का.सं. ३.१,२, श.ब्रा. ३.६.३.१५, ४.३, ४.५.१.१६, आश्व.श्रौ.सू. ५.१९.३, शां श्रौ.सू. ८.४.३.

घृतयोनी - (द्वि.व) (१) जल और स्निग्ध पदार्थ से उत्पन्न होने वाले वैद्युत् और पार्थिव अग्नि, (२) तेज या दीप्ति के आश्रय पर रहने वाले ।

'सम्राजा या घृतयोनी'

ऋ. ५.६८.२, साम. २.४९४.

घृतवत् - घृत + वतुप् त्र घृतवत्। घृत से युक्त ।

'सिन्धुभ्योहव्यं घृतवज्जुहोत'

ऋ. ७.४७.३

उन नदियों के लिए घृतमिश्रित हव्य हो (घृतवत् हव्य जुहोत) ।

घृत की व्युत्पत्ति के लिए ।

घृतवत् योनिः - (१) घृतयुक्त यज्ञ स्थान, (२) जल युक्त मेघ का आश्रय स्थान, (३) क्षरणशील जलमय समुद्र ।

'आयोनिमग्निः घृतवन्त मस्थात्'

ऋ. ३.५.७

घृतवती - (१) घृतमयी इष्टका (यज्ञ) (२) प्रकाश, वायु और घृत से युक्त शाला ।

'ऊर्जस्वती घृतवती पयस्वती'

अ. ३.१२.२.

'स्तोमपृष्ठा घृवती सीद'

वाज.सं. १४.४, १५.३, तै.सं. ४.३.४.२, मै.सं. २.८.१, १०७.३, २.८.७, १११.११, का.सं. १७.१, ६, श.ब्रा. ८.२.१.७.

घृतवर्तनिः - (१) जल से सींचे मार्ग पर चलने वाला, (२) तेजो स्निग्ध मार्ग से जाने वाला, (३) उत्तम व्यवहारवान् ।

'घृतवर्तनिः पविभी रुचानः'

ऋ. ७.६९.१, मै.सं. ४.१४.१०, २२९.१२, तै.ब्रा. २.८.७.७.

घृतवान् चरुः - (१) घृत से युक्त चरु । घृत का अर्थ घी, अन्न का रस देवव्रत, रेतस् का ,सेचन, उल्व, अन्तरि का जल है ।

'अन्नस्य घृतमेव रसस्तेजः
संपत्कामो जुहोमि स्वाहा'

साम.मं ब्रा. २.६.१५

'देवव्रतं वै घृतम्
रेतःसिक्तिर्वैघृतम्'

कौ.सू. १९.४

'उल्वं घृतम्'

श.ब्रा. ६.६.२.१.

'घृतमन्तरिक्षस्य रूपम्'

श.ब्रा. ७.४.१.३

'अपूपवान् घृतवान् चरूरेह'

अ. १८.४.१९

घृतश्रीः - (१) घृत या पाक का सेवक करने वाला अग्नि, (२) दीप्तिमयी कान्ति से युक्त ।

'तुविष्वणसं सुयजं घृतश्रियम्'

ऋ. ५.८.३, तै.सं. ३.३.११, २, तै.ब्रा. १.६४, शा.ब्रा. १२.४.४.२, मा.श्रौ.सू. ५.१.२.१७.

घृचश्चुत् - (१) घृत चुलाने वाला पात्र ।

'स्रुचा देवं घृतश्चुता'

ऋ. ५.१४.३, तै.सं. ४.३.१३.८, मै.सं. ४.१०.१, १४३.९.

(२) घृत आदिपुष्टिकारक पदार्थों का देने वाला ।

'ते गुहासो घृतश्चुतः स्योनाः'
ऋ. १०.१८.१२, अ. १८.३.५१,
(३) जल बरसाने वाला ।
'हविर्भरन्ति अमृतं घृतश्चुतः'
ऋ. ९.७४.६
(४) जल बरसाने वाला, (५) तेज, प्रताप को दिखलाने वाला ।
'घृतश्चुतं स्वारमस्वार्ष्टाम्'
ऋ. २.११.७
(६) घृत से सींचा अग्नि, (७) तेज से युक्त विप्र या विद्वान् ।

घृत श्रिया - (द्वि.व.) (१) द्यावापृथिवी का विशेषण (२) जल, तेज से शोभित, (३) स्नेह और ज्ञान से शोभित ।

घृतसद् - घृतादि पदार्थों के अधिकार में स्थित ।
'अप्सुषदं त्वा घृतसदम् व्योमसदम्'
वाज.सं. ९.२, श.ब्रा. ५.१.२.५.

घृतस्ताव - (१) अमृतरूप परमात्मा की स्तुति करता हुआ, (२) घृत द्वार आहुत अग्नि ।
'तस्मिन् घृतस्तावो मृष्ट्वा'
अ. १२.२.१७

घृतस्नाः - (१) जल या तेज से स्नान करने वाला नित्य शुद्ध तेजस्वी ।
'उतवायो घृतस्नाः'
ऋ. ८.४६.४८

घृतस्नु - तेजोमय ज्ञान और बल वीर्य को प्रदान करने वाली ।
'इमा गिर आदित्योभ्यो घृतस्नूः'
ऋ. २.२७.१, वाज.सं. ३४.५४. का.सं. ११.१२, आश्व.श्रौ.सू. ३.८.१, नि. १२.३६.

घृतस्नुवा - स्नेह में नहाने वाले परस्पर स्नेही ।
'घृतस्नुवा रोहिता धुरिधिष्व'
ऋ. ३.६.६.

घृतस्नू - (द्वि.व.) (१) प्रकाश में स्नान करने वाले द्यावाभूमी, रोदसी (२) मातापिता ।
'अर्चामि वां वर्धायायो घृतस्नू'
ऋ. १०.१२.१, अ. १८.१.३१.
(३) घृत + ष्नु + क्विप् + ऊङ् = घृतस्नू । ष्नु धातु का अर्थ प्रस्र वण करता है ।
अथवा-घृत + षणु + उ + ऊङ् । अर्थ है -घृतप्रस्राविणी (घृत चुलाने वाली)
(४) तेज और बल का प्रस्रवण करने वाले
'घृतस्नू बर्हिरासदे'
ऋ. ३.४१.९, आ. २०.२३.९.
(५) तेज का संचार करने वाले प्राण अपान वायु ।
'अत्या वृधस्नू घृतस्नू'
ऋ. ४.२.३,

घृतस्य जूतिः - (१) तेज स्वरूप परमेश्वर की परम ज्ञान मय ज्योति- (२) घृत की ज्योति ।
'घृतस्य जूतिः समाना सदेवा'
अ. १९.५८.१

घृतस्य धारा - (१) घृत की धारा (२) जल की धारा ।
'घृतस्य धाराः समिधोनसन्तः'
ऋ. ४.५८.८, वाज.सं. १७.९६, का.सं. ४०.७, आप.श्रौ.सू. १७.१८.१, नि. ७.१७.

घृतस्य मातरः - (१) घृत के समान स्नेहमय प्रेम के उत्पन्न करने वाली माताएं, (२) गौवें ।
'गावो घृतस्य मातरः'
अ. ६.९.३, वै.सू. ३४.९. का.श्रौ.सू. १३.३.२१, आप.श्रौ.सू. २१.२०.३, मा.श्रौ.सू. ७.२.७

घृतस्य योनिः - घृत अर्थात् वर्षा रूप में झरने योग्य, सेचने योग्य या जल का आश्रयभूत अन्तरिक्ष ।
'घृतस्य योनौ स्रवथे मधूनाम्'
ऋ. ३.१.७.

घृतह्रदा - जिनके उदर में घृत हो ।
'घृतह्रदा मधुकूलाः सुरोदका'
अ. ४.३४.६.

घृताची - घृत + अञ्च + क्विन् ङीष् = घृताची ।
अर्थ जल का निर्माण ।
'धियं घृताची साधन्ता'
ऋ. १.२.७, साम. २.१९७, वाज.सं. ३३.५७, ऐ.आ. १.१.४.५.
जल निर्माण करने वाले (घृताचीम्) कर्म को (धियम्) करने वाले ।
(२) सेचति अपने भूमिं पर्जन्य (इससे मेघ पृथिवी को सींचता है) ।
क्षरति मेघात् (मेघ से जल गिरता है)
दीप्तं वा स्वेन तेजसा (यह अपने तेज से दीप्त रहता है) ।
परमात्मा की जल दात्री, जीवन दात्री, तेजो दात्री

शक्ति घृताची है । यथा -मेघ, (३) शूर्य, (४) वायु (५) प्राणप्रद शक्ति (६) रात्रि ।

'घृताचीनाम वा असि'

अ. १०.४.२४, १९.४८.६

(६) एक अप्सरा का नाम (८) सर्वत्र पुष्टि कारक पदार्थों को प्राप्त करने वाली शक्ति ।

'विश्वाची च घृताची चाप्सरसौ'

वाज.सं. १५.१८, तै.सं. ४.४.३.२, मै.सं. २.८.१०:११५.३, का.सं. १७.९, श.ब्रा. ८.६.१.१९.

घृताचीं धियं साधन्ता - (द्वि.व.) (१) जलनिर्माण कर्म को सिद्ध करने वाले मित्र और वरुण, (२) उद्गन तथा ओषजन वायु जिनके मेल से जल निर्माण होता है ।

घृताची हरितः - (१) तेजोयुक्त भरजल युक्त किरणें, रश्मियां या दिशाएं ।

'अयुक्त सप्त हरितः सधस्थात्
'या ईं वहन्ति सूर्यं घृताचीः

ऋ. ७.६०.३

घृतान्नः - (१) अग्नि, (२) जिसका घृत ही अन्न् है, (३) घृत युक्त अन्न का भोजन करने वाला ।

'तपुर्मूर्धा घृतान्नः पावकः'

ऋ. ७.३.१, साम. २.५६९, का.सं. ३५.१, आप.श्रौ.सू. १४.१७.१

घृतावृधा - (द्वि.व.)स्नेह से बढ़ने और एक दूसरे को बढ़ाने वाला ।

घृतासुति - (१) घृतम् आसूयते येन -(दया.) (२) जलवर्षी मेघ, (३) स्नेह पुष्टिकार और अन्न तेजोयुक्त पदार्थों और ओज का प्रदान करने वाला विष्णु ।

'भवामित्रोन शेव्यो घृतासुतिः'

ऋ. १.१५६.१, तै.ब्रा. २.४.३.८, आश्व.श्रौ.सू. ८.१२.७.

घृतासुती - (द्वि.व.) । घृत अर्थात् जल को बरसाने वाले दो आदित्य ।

'तासम्राजाधृतासुती'

ऋ. १.१३६.१, २.४१.६, साम. २.२६२.

वे दोनों संदीप्त, जल बरसाने वाले

(२) जल का आसेचन करने वाले सूर्य चन्द्र या सूर्य विद्युत् (३) घृत युक्त अन्न का सेवन करने वाले स्त्री पुरुष (४) क्षरण शील शुक्र की आसुति अर्थात् उत्तम पुरुष या प्रजा उत्पन्न करने वाले ।

(५) इन्द्राविष्णू का विशेषण (६) तेज और अन्न आदि उत्पन्न करने वाले

'घृतासुती द्रविणं धत्तमस्ते'

ऋ. ६.६९.६

घृताहवन - (१) जिसमें घृत तथा जल आदि चारों ओर से देते हैं, (२) जलों या तेजो-वर्धक साधनों की आहुति लेने वाला अग्नि, (३) जलों को ग्रहण करने वाला सूर्य ।

'घृतावहन दीदिवः
प्रतिष्म रिषतोदह'

ऋ. १.१२.५.

हे घृत या जलों या तेजों वर्धक साधनों की आहुति लेने वाले अग्नि या सूर्य! हे दीप्यमान! हे तेजस्विन्, तू दुष्ट पुरुषों वाले हिंसक शत्रुओं को एक एक कर जला डाल ।

घृष्वि - (१) दीप्ति युक्त पदार्थों को घर्षण कर विद्युतादि उत्पन्न करने वाला, (२) घर्षण से उत्पन्न होने वाला अग्नि, (३) प्रजाओं में संघर्ष, स्पर्धा उत्पन्न करने वाला ।

'रत्नं भर शशमानाय घृष्वे'

ऋ. ४.२.१३.

(४) परस्पर संघर्ष से उत्पन्न होने वाला बल ।

(५) वह पदार्थ जिससे घर्षण करते हैं ।

'प्रवः शर्धाय घृष्वये
त्वेष द्युम्नाय सुष्मिणे ।
देवत्तं ब्रह्म गायत'

ऋ. १.३७.४

हे विद्वान् पुरुषो, आप लोग परस्पर संघर्ष प्रतिस्पर्धा से उत्पन्न होने वाले बल की वृष्टि करने और उज्ज्वल यश प्राप्त करने के लिए परमेश्वर द्वारा दिए महान् वेदमय ज्ञान वचन का गान करें ।

(५) संघर्ष या स्पर्धा करने वाला ।

'मदन्ति वीरा विदथेषु घृष्वयः'

ऋ. १.८५.१.

(६) संघर्षण करने वाला, स्पर्धा करने वाला- इन्द्र (७) घर्षण द्वारा उत्पन्न होने वाला विद्युत्

'उग्रस्ययूनः स्थविरस्य घृष्वेः'

ऋ. ३.४६.१, मै.सं. ४.१४.१४, २३८.७.

घृष्विराधसः - (ब.व.) एक दूसरे से बढ़ने वाले, (२) सम्बद्ध धनैश्वर्य से सम्पन्न (३) जिनका एकत्र धन हो-(दया)।

'ओषु घृष्विराधसः'

ऋ. ७.५९.५

घृषु - (१) शत्रुबल को नष्ट करने वाला (२) घर्षण उत्पन्न करने वाला वायु।

'घृषुं पावकं वनिनं विचर्षणिम्
रुद्रस्य सूनुं हवसागृणीमसि'

ऋ. १.६४.१२

हम लोग शत्रुबल नाशक, अग्निवत् तेजस्वी, भोग्य ऐश्वर्य या वेतन प्राप्त करने वाले, विविध मनुष्यों से बने हुए, शत्रुदल को रुलाने वाले संग्राम के वीर सेनापति के पुत्र के समान देने योग्य वेतन, स्वीकार योग्य उपहार तथा भक्ष्य भोज्य आदि द्वारा आदर करें।

अथवा घर्षण करने वाले (घृषुम्) पवित्र कारक-सब पदार्थों को पृथक् पृथक् करने वाले, तीव्र प्राण रूप से जीव के प्रेरक और परमेश्वर के पुत्र के समान अथवा कारण रूप वायु उत्पन्न कर उसके ग्राह्य रूप से उपदेश करें (हवसा गृणीमसि)। (३) दीप्तियुक्त।

'घृषुः श्येनाय कृत्वने'

ऋ. १०.१४४.३

(४) बड़ा।

'घृषुं वाये विनिदुः सखायम्'

ऋ. १०.२७.६

घृतेश्रित - (१) घृत अर्थात् स्निग्ध पदार्थ पर आश्रित अग्नि, (२) जल के रूप में स्थित मेघ, (३) निषेक योग्य वीर्य आश्रित पुरुष।

'घृते श्रितो घृतम्वस्य धाम'

ऋ. २.३.११, वाज.सं. १७.८८, तै.आ. १०.१०.२, आश्व.श्रौ.सू. ५.१९.३, महा.ना.उप. ९.११.

घोर - (१) कष्टदायी आक्रमण।

'द्विशो दिशो अग्ने परिपाहि घोरात्'

अ. १८.४.९

(२) पाप।

'यत्त आत्मनितन्वां घोरमस्ति'

अ. १.१८.३

(३) घोर, सबका हनन करने वाला, भयानक काम।

'यं स्मा पृच्छन्ति कुह सेति घोरम्'

ऋ. २.१२.५, अ. २०.३४.५.

घोरचक्षस् - घोर + चक्ष (व्यक्तवाणी बोलना) + असुन् = घोरचक्षस्। बाहुलक नियम से यहां चक्ष् का ख्याञ् आदेश नहीं हुआ है। चक्ष्धातु दर्शन अर्थ में भी आया है। अर्थ है- (१) भयंकर वाणी वाला।

घोरवर्पस् - भयानक रूप धारण करने वाला।

'ये शुभ्रा घोरवर्पसः'

ऋ. १.१९.५

घोरा - दुष्कर संग्राम करने वाली।

'हये जाये मनसा तिष्ठ घोरे'

ऋ. १०.९५.१, श.ब्रा. ११.५.१.६.

घोषः - घुष् + घञ् = घोष। घुष्यते इति घोषः घोषित किया जाए। अर्थ -(१) शब्द, वचन, स्तुति।

'श्लोकं घोषं भावेन्द्राय सोमिनः'

ऋ. १०.९४.१, नि. ९.९.

हे ऋत्विजो, आप इन्द्र के लिए श्रवणीय स्तुतिपूर्ण वचन बोलें।

(२) निवास स्थान।

'अयामि घोष इन्द्र देवजामिः'

ऋ. ७.२३.२, अ. २०.१२.२.

(३) शोर, (४) झोपड़ी।

'वने ये कुर्वते घोषम्'

अ. ८.६.११

घोषबुद्धा - विजयघोष से जगकर।

'आश्रृण्वती नाथिता घोषबुद्धा'

अ. ५.२०.५

घोषा - घुष् (घोषणा करना) + अच् + टाप् = घोषा। अर्थ (१) घोषणा (२) स्तुति।

'इन्द्रे घोषा असृक्षत'

ऋ. ८.६३.७

इन्द्र के लिए स्तुतियाँ की गईं।

घोषि - उत्तम शब्द से युक्त।

'अर्चामि ते सुमतिं घोष्यर्वाक्'

ऋ. ४.४.८, तै.सं. १.२.१४.३, मै.सं. ४.११.५, १७३.८, का.सं. ६.११, आश्व.श्रौ.सू. ४.१.२,३.

घोषिणी - घोषणा करने वाली सेना।

'नमस्ते घोषिणीभ्यः'

अ. ११.२.३१